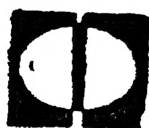


सहचर है समय

(रामदरश मिश्र की आत्मकथा)



किताब घर
दरियागंज, नई दिल्ली

सहचर है समय

रामदरश मिश्र

ISBN—81-7016-072-3

प्रकाशक
किताबघर
24 4866, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

आवरण
इमरोज़

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क
शाहदरा, दिल्ली-110032

SAHCHAR HAI SAMAY
(Ramdarash Mishra's Autobiography in Hindi)

परिवार के नये यात्री

मेहा, आशी, वर्षा, स्वाती, उत्सव और शुभ्रा को

साशीष

कथा आत्मकथा की

आत्मकथा लिखने का निश्चय करके मैंने आत्मकथा नहीं लिखी। हुआ यह कि बार-बार मेरे पास मेरे जीवन-परिचय के लिए पाठकों और शोध-छात्रों के पत्र आने लगे। दो-एक बार तो मैंने लिखकर भेज दिया किंतु बार-बार लिख भेजना असुविधाकारी लगने लगा। अतः मैंने 'जहां मैं खडा हूं' एक लम्बा लेख लिखा, जिसमें मेरे बचपन की कुछ घटनाओं और जीवन-परिवेश का चित्र है। यह निबंध मेरे निबंध-संग्रह 'कितने बजे हैं' में संगृहीत हुआ। फिर मेरे मन में उठा—'क्यों न बचपन के जीवन और उसके परिवेश को लेकर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जाये?' लिखने लगा और लिखने के क्रम में ही यह इच्छा उभरती गई कि मैं अपनी पूरी जीवन-यात्रा ही क्यों न लिपिबद्ध कर दूं! यानी पूरी आत्मकथा लिख डालूं!

'आत्मकथा? क्या है तुममें जो लोग तुम्हारी आत्मकथा पढ़ेंगे?' मैंने अपने से ही यह प्रश्न किया। बात तो ठीक है। मैं तो सामान्य जीवन जीने वाला एक सामान्य साहित्य-यात्री हूं, मुझमें ऐसा विशेष क्या है जो लोगों को मेरी आत्मकथा पढ़ने के लिए प्रेरित करेगा। भीतर से ही उत्तर आया—'लेकिन तुम्हारी कहानी अपनी ही कहानी कहां है? यह तो उस परिवेश की भी कहानी है जिसमें तुम जिये हो। और माना कि तुम सामान्य हो लेकिन अनन्त सामान्य लोग सामान्य लोगों की सामान्य जिंदगी में ही तो अपने को पाते हैं। वे तुम्हारे जीवन की चमत्कारी घटना से चमत्कृत भले न हों, तुम्हारे सामान्य सुख-दुख को अपना सुख-दुख अनुभव कर उसमें अवश्य डूबेंगे।'

'जहां मैं खड़ा हूं' लोगों द्वारा बहुत पसंद किया गया, इसलिए अगले खंड लिखने का उत्साह मन में भर आया और बचपन के जीवन पर आधारित इस प्रथम खंड के बाद तीन खंड और लिखे—'रोशनी की पगडंडियां', 'टूटते-बनते दिन' और 'उत्तर-पथ'। इन खंडों की कथा गांव छोड़ने के बाद की है। इनमें क्रमशः हरसी से लेकर वाराणसी तक, वाराणसी से लेकर अहमदाबाद तक और फिर दिल्ली से लेकर दिल्ली तक के मेरे जीवन-प्रसंगों और विविध परिवेशों का चित्रण है।

आलोचकों और पाठकों ने मेरी आत्मकथा को बहुत प्यार दिया, और बहुत-से लोगों ने इसे उपन्यास भी माना। यह उपन्यास है कि नहीं यह अलग चर्चा का विषय है किंतु मैंने औपन्यासिक कौशल का प्रयोग अवश्य किया है। इसमें तमाम तथ्यों का नीरस विवरण न प्रस्तुत कर मैंने उनका चुनाव किया है और रचा भी है। परिवेश को और उसके साथ अपनी तथा चरित्रों की भावात्मक तथा वैचारिक टकराहटों को भी उभारने का प्रयत्न किया है।

चारो खंड अलग-अलग प्रकाशित हुए। अब सबका समवेत रूप 'सहचर है समय' के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत है। यह समवेत रूप शायद एक अलग स्वाद दे सके।

जहां मैं खड़ा हूं

1

मैं पीछे मुड़कर दूर एक बालक को देख रहा हूं जो धूल में लोट-लोटकर अपने कपड़े फाड़ फाड़कर रो रहा है। उसने एक छोटा-सा, प्यारा-सा कुत्ता पाला था, घरवालों ने यह कुत्ता दूसरे गांव के एक आदमी को दे दिया। वह बालक उस कुत्ते को गोद में छिपाये भाग रहा है और उसकी गोद से उसे जबर्दस्ती छीनकर उस आदमी को दे दिया जाता है। वह बालक प्रतिरोध में किसी को काट लेता है, किसी पर ढेले मारता है, किसी को अनाप-शनाप बकता है लेकिन उसका कुत्ता छीन लिया जाता है। जब कुछ नहीं होता तो अपने कपड़े चीथ-चीथकर धूल में लोट रहा है। मैं देख रहा हूं कि वह बच्चा धीरे-धीरे सरकता हुआ मेरी ही ओर आ रहा है और मुझमें समा गया है। जी हां, वह मैं ही था और अब तक वह हूं।

तब कुत्ता पाला था, अब सपने पालता हूं, अपने लिए, समाज के लिए, देश के लिए; वे छीन लिये जाते हैं, छीनकर किसी और को दे दिये जाते हैं, या तोड़ दिये जाते हैं—अपनों द्वारा भी और दूसरों द्वारा भी। और एक यातना, एक आक्रोश लिये हुए मैं तड़पता हूं। मन ही मन कोंचता हूं अपने को भी और छीनने वालों को भी। यही मेरी जीवन-कथा है और यही कथा है मेरे लेखन की भी। लेकिन न जाने क्या है कि मैं टूटा नहीं, बिखरा नहीं, मिट-मिटकर बनता हूं, गिर-गिरकर उठता गया हूं, भटक-भटककर रास्ते पर आ गया हूं। कहते हैं, मैं जिस रात (15 अगस्त, श्रावण पूर्णिमा, 1924 की रात) को पैदा हुआ वह बहुत भयावनी थी और प्रसूतिगृह में तमाम कीड़े-मकोड़े भर गये थे। इन कीड़ों को देहात में जमुआ कहते हैं और विश्वास है कि ये नवजात शिशु की जान लेने के लिए आते हैं। मां को कहां सुध रही होगी, पड़ोस की एक फूआ ने यह देखा तो घबरा गयीं और मुझे उठाकर दूसरे कमरे में भागीं। यानी मैं पैदा होते ही मौत के मुंह में चला गया था और उसे फांदकर निकल आया। मेरी जीवन-यात्रा में कीड़े-मकोड़े भी खूब मिले लेकिन मुझे उनसे बचाने वाली शक्तियां भी मिलती ही गयीं। कीड़े-मकोड़े तो सबको मिलते हैं, किसी-किसी को तो साफ ही कर जाते हैं, उनकी जिजीविषा, उनके जीवन-मूल्य सभी को चट कर जाते हैं लेकिन मुझे जिजीविषा मिली है, जीवन के प्रति अगाध विश्वास, निष्ठा और मूल्य मिला है तो इसीलिए कि कीड़े-मकोड़ों के बावजूद जीवनदायक कोई न कोई शक्ति, कोई न कोई रस मुझे देर-सबेर मिलता ही रहा है। इसलिए जीवन के प्रति आस्था को खंडित करने वाले साहित्य में

मेरी आस्था जम नहीं पाती और अपने लेखन में मैं जीवन-आस्था को जिलाये रखने की कोशिश करता हूं।

जब कभी मैं सोचता हूं कि मुझे यह जीवन-रस कहां से मिला है तो सबसे पहले मेरी दृष्टि चली जाती है अपने परिवेश पर। होश संभालते ही मैंने अपने चारों ओर एक छोटी-सी दुनिया देखी—परिवार की, मित्रों की, गाव की, खेतो की, खलिहानों की, बाग-बगीचों की और यह दुनिया धीरे-धीरे बडी होती गयी। डुमरी बीहड़ कछार में बसा हुआ एक गांव—जो मेरा गाव है। इसके एक ओर राप्ती बहती है, एक ओर गोर्रा। दोनों ने इस गांव को और इस जैसे सैकडों गांवों को अपनी कुंडली मे लपेट रखा है। इसके चारों ओर दस मील तक कोई पक्की सडक या रेल नही थी, अब भी नही है। उत्तर में दस मील पैदल चलकर आपको चौरीचौरा या सरदारनगर या कुसुम्ही स्टेशन मिलेगा, दक्षिण मे दस मील पर गगहा में पक्की सड़क मिलेगी, पूरब में दस मील पर रुद्रपुर मे पक्की सड़क मिलेगी। हा, पश्चिम में पक्की सडक पाने के लिए आपको छः मील ही चलना पड़ेगा। अब उत्तर मे कुछ सुविधाएं हो गयी है। बचपन मे लगता था कि यह अपने-आपमे बड़ा संसार है जो लगातार बाढ़ की मार से घायल हो रहा है। हा, मुझे याद है—हर साल बाढ़ आती थी, हरे-भरे खेत बह जाते थे। बाढ़ के लौट जाने पर बचता था—रेत का विस्तार, असीम सूनापन और लोगो की आखो मे भयावह स्तब्धता, 'अब क्या होगा, अब जीवन कैसे बीतेगा' का एक मौन प्रश्न। फिर चलता था क़र्ज का दौर; पैसे वालों के यहा खेतो के, गहनो के बधक चढ़ने का क्रम; उपवास पर उपवास की शृंखला और अभावजन्य सारी यातनाओ का दौर।

मैं अभी भी देख रहा हू—अपने घर को, पड़ोस के घर को, गांव को···पानी बरस रहा है, खूब बरस रहा है, झपटी चल रही है, चौवाई बह रही है, घरो मे निकलना मुश्किल हो रहा है, गलियो मे रास्तो पर घुटने-घुटने-भर पानी बह रहा है, खेतो मे काम करना मुश्किल हो रहा है, घर चू रहा है, सामान यहां से वहा हो रहा है, लोग इधर से सरककर उधर हो रहे है लेकिन बचाव का रास्ता नही दीखता। छत चलनी हो गयी है।

···एक दीवार गिर गयी है। पिताजी कही जाते-जाते रुक गये है, खामोश है, उनकी आंखों मे गिरी हुई दीवार का सारा मलबा प्रतिबिंबित हो रहा है। मा (कंवलपाती) क्रोध मे है। बड़बड़ाती है—"घर छवा दिया होता तो दीवार नही न भीगती। दस दिन से पानी चू-चूकर दीवार मे समस रहा है। अपने तो जाकर पड़ोसी के दरवाजे पर सो जायेंगे और सबका क्या होगा?" मै और मझले भाई (रामनवल मिश्र) भयभीत-से यह कांड देख रहे है। मां की मुखर बेचैनी और पिता की मौन निरुपायता दोनों का दर्द हमारी आंखों मे उतर आया है।

हम लोग फिर चौंकते है, पड़ोस के मकान की दीवार अरराकर टूटती है। लगता है एक-एक कर तमाम घरो की दीवारें टूटती जा रही है। दीवारों के टूटने की एक लय-सी बन गयी है। दोपहर हो गयी है लेकिन चूल्हे की ऊष्मा किसी के घर मे नहीं व्यापी है, वे उदास पड़े हैं, एक ठंडा सन्नाटा चारों ओर फैला है, हवा हों-हों करके बह

रही है। सामने के बांस लपक-लपककर जमीन छू रहे हैं, पीपल का पेड़ हहरा रहा है, सामने की पोखरी में बारिश बज रही है, लोग अपने-अपने घरों में झुकती हुई छत को रोकने के लिए थूनियां लगा रहे हैं, नंगे शरीरों पर ठंडक के कारण कांटों की तरह रोयें खड़े हो गये हैं, लोग फटी हुई धोती का एक छोर खोलकर ओढ ले रहे हैं।

बाढ़ आयेगी। आयेगी क्या, आ रही है। चूल्हे का अभी से यह हाल है, आगे क्या होगा? आंखों में निरुपायता कस गयी है, एक खाली भविष्य आगे दहाड़ रहा है।

पानी···पानी···पानी···पानी···दिन तो कट जाते हैं, रात कैसे कटे? आंखों मे नींद है, लेकिन चारों ओर मे चूती हुई पानी की बूंदें छन्न-छन्न शरीर पर गिरती हैं, पानी का शोर रात के सन्नाटे में और गहरा और भयानक हो गया है, गिरती हुई दीवारो की अरराहट लयबद्ध हो गयी है। "सांप", किसी घर से आवाज आती है। वैसे सापों की क्या कमी? खपरैलों पर ये 'तिनितिति' करते हुए रात-भर रेंगते ही रहते हैं। कभी धन्नियो से लटके दिखाई पड जाते हैं। कभी फर्श पर उतर आते हैं, कभी किसी को काट लेते है। रास्तों पर भी फैल जाते हैं। कोई कितना बचेगा! हां, गांव मे किसी को सांप ने काट लिया है। कुछ लोग ओसौनी ओढे घबराये-मे आते हैं, "चन्नर बाबा हो! अरे जल्दी चलिए, हमारी बिटिया को सांप ने काट लिया है।" मेरे पिताजी, यानी रामचन्द्रजी, यानी गांव के चन्नर बाबा सांप का मंत्र जानते हैं, उनके सिर पर तमाम देवता भी आते है और जिसके सिर पर इतने देवता आते हों वह खुद देवता से किस बात मे कम होगा! सचमुच पिताजी देवता थे—सीधे, निश्छल, हर आदमी की सेवा के लिए तैयार। घरो में आग लगने पर वे उसमें कूद पडते थे, सांप का विष झाडने के लिए कहां-कहां जाते थे! किसी की दवा लानी हो तो वे जाते थे, किसी को बाजार से कुछ मंगाना हो तो ला देते थे, किसी का शादी-ब्याह हो, वे हफ्तों पहले तैयारी करते थे और सहायता के लिए प्रस्तुत होते थे किसी का शव हो, उसे उठाने के लिए सबसे पहले तैयार रहते थे, किसी हरिजन या दूसरे को जरूरत पडती तो खलिहान से चुपके से अनाज दे देते थे, घरवालो से छिपाकर किसी को कुछ भी दे देते थे। उन्हें लोग ठगते भी खूब थे। राक्षस देवताओं की प्रशंसा कर उनसे वरदान मांगकर उन्हें ठगते ही आये है। सो पिताजी तुरन्त भागते-भागते गये, रात-भर मंत्र पढते रहे, बच्ची जी गयी, उनकी जय-जयकार हुई।

आखिर बाढ आ ही गयी। सब कुछ डूब गया। क्या बढिया फसल थी—जवानी में झूमते हुए धान, मक्के, अरहर, सांवां, कोदो, टागुन सब देखते-देखते डूब गये और आदिगंत पानी का विस्तार। उछलती हुई लहरें, शोर करती हुई लहरें, लहरें-लहरें··हवाओं का बजता हुआ वेग जैसे सब कुछ ठहर गया हो। एक भरा-पूरा दिखाई पडता संसार जैसे आंखों के आगे से छिन गया हो···

हां, यथार्थ का यह बिंब हमारे परिवेश का बिंब है जिसमे मैं हूं, जो मुझमे है। फिर सिलसिला शुरू होता है यातनाओ का। फागुन तक घर-घर उपवास का सिलसिला। उधार-कर्ज का सिलसिला। गांव में कुछ ही घर ऐसे थे (कुछ अधिक खेत वालों के थे, कुछ धूर्तों के थे) जो रोटी के सवाल से मुक्त थे, नहीं तो सभी घर रोटी के सवाल से

जूझते थे। एक अजीब अपमान, झिड़की, आत्महीनता से पीड़ित ये लोग दिन ढोते थे। आंखों में एक सीलन-भरा सन्नाटा अंटा होता था। तिस पर मालगुजारी के लिए कुर्क अमीन का दौरा, लगान के लिए जमींदार के सिपाहियों का उत्पात, दारोगा जी का आतंक, कर्ज की वसूली के तकाजे, सरकारी चंदे, पटवारी जी की भेंट, कुलगुरुजी का आगमन, लड़की की बिदाई, तर-त्योहार, अतिथि-सत्कार, मृत्यु-सबंधी औपचारिकता, धरम-करम, न जाने कितनी जोंकें थीं जो इन्हें चूसती थी। मैंने न जाने कितने दर्द देखे हैं, भोगे हैं इस परिवेश के। अभावों की कितनी ही आवाजें मैंने सुनी है। न जाने इनके कितने बिंब मेरे भीतर बसे हुए हैं—निजी संदर्भों के भी और सामाजिक संदर्भों के भी। कुर्क अमीन आया है। जो लोग मालगुजारी नही दे सके हैं वे भाग रहे हैं, अपने बैल उनके यहां बांध रहे है जो मालगुजारी दे चुके हैं। लेकिन कब तक चलेगा और किस-किस के साथ चलेगा। दो-चार आदमियों के यहां कितने गोरू-बैल बांधे जायेगे। लोग हाथ जोड़े कुर्क अमीन के आगे खड़े हैं, मुहलत मांग रहे है, डांट-फटकार सह रहे है, उनके बैल लाकर इकट्ठे कर दिये गये हैं, लोग घर की रही-सही लेई-पूंजी ले-लेकर दूकानदारों के यहां भाग रहे हैं, जुर्माना देकर बैल छुड़ाये जाते हैं। वह देखिए, लाठी लेकर जमींदार के सिपाही खोज रहे हैं और लोग लुक-छिपकर भाग रहे है। कुलगुरुजी को भी आना था, घोड़ी टिकटिकाते हुए आ गये, अब कीजिये उनका स्वागत-सत्कार और दीजिए बिदाई। कोई नया-नया रिश्तेदार रिश्तेदारी करने आ गया है, इसे भी यही वक्त सूझा। घर पर कुछ खाने को होगा नहीं; सोचा, चलो दूसरों के भरोसे ही जियो। अब इसके लिए बढ़िया चावल लाओ, दाल लाओ, गेहूं का आटा लाओ, घी लाओ, या तो उधार लाओ या खरीदकर लाओ। घर मे क्या रखा है! घर में मुश्किल से एक वक्त आधा पेट खाना मिल रहा है। लड़कियां बथुए का साग खोंटकर लाती है, साग में दो-चार दाना कोदो-सांवां का भात मिलाकर खा लिया जाता है और दो लोटा पानी पी लिया जाता है। कभी शकरकन्दी से, कभी मक्के के भूजा से काम चल जाता है। भइयादूज के दिन पटवारी भइया एक-एक दोनिया चीनी बांटते है और दो-दो रुपये की भेंट लेते है, बंधा हुआ है। कोई नही देगा तो वह जाने। ऐसे ही हर जोंक अपने हिस्से का खून चूसती है। इस बात का खयाल किये बिना कि इसके शरीर मे खून बनता भी है या नहीं।

अभावग्रस्त चेहरों की लाइनें ही लाइनें। आंखों में सूनापन, तन पर फटे कपड़े। हरिजन तो भागकर चंपारण चले जाते हैं, वहां धान की कटाई करने लेकिन निम्न-मध्यवर्गीय लोग कहां जायें? काफी घरों के लोग बाहर कमाते है—कलकत्ते में, रंगून मे, सिंगापुर में। लोग बाहर से आने वाले मनीआर्डर का इंतजार करते है—पेट भरने के लिए, कर्ज भरने के लिए। दो-चार लोग तराई में भीख मागने चले जाते हैं, कुछ लोग चेलान, कुछ लोग पुरोहिताई करने निकल जाते हैं। अभाव की एक अजीब गंध बाहर-भीतर फैली है।

मैं बाहर-भीतर की एक गंध की गहराई से गुजरा हूं लेकिन तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है जो ज्यादा महत्त्व का है। अभाव के कीड़े-मकोड़ों के दंश से तड़पते

कछार के जीवन में कहीं बहुत बड़ी जीवनी-शक्ति थी, रस का कोई भीतरी अक्षय स्रोत था जिससे यह जीवन टूटकर भी नहीं टूटता था, रिसकर भी नहीं रीतता था। बाढ़ हर साल आती थी, हर साल लोग उसी उत्साह से खेत बोते थे—कर्ज लेकर। उसी उत्साह से राप्ती से निकलने वाले भगड़ा नाले का मुंह बांधते थे, और एक दिन भगड़ा नाला उफनकर बांध तोड़ देता था और 'हा हा हा हा हा' करता हुआ गांव के पास फैलता हुआ उसे चारों ओर से घेर लेता था। उधर गोर्रा नदी से आने वाले नाले गांव के दूर वाले खेतों को निगल लेते थे। एक समुद्र फैल जाता था। जवानी में ठाठें मारती हुई फसलें देखते-देखते डूब जाती थीं लेकिन लोग पानी को चीर-चीरकर नाले पर से फसलें काट-काटकर लाते थे, पशुओं के लिए। दो-एक लोग डूबते थे लेकिन उससे यह यात्रा बद नही होती थी। नागपंचमी का त्योहार उसी उत्साह से मनाया जाता था, खेत तो डूबे होते थे, किसी के बड़े दरवाजे पर ही खेल जम जाता था। गुड़िया पीटने के लिए लड़कों को डंडे चाहिए। लड़के या उनके बड़े आधे मील दूर स्थित डीह पर जाकर डंडे काटते थे। मेंहदी भी चाहिए, लोग मालियों के गांव से लाते थे। लड़कियां अपने पुराने कपड़े ही धो-धोकर धानी रंग मे रंग लेती थीं और अकुंठ स्वर से कजली गाती हुई खेत की भूमि तक आती थी। गुड़ियां पानी में फेंकती थीं और सब कुछ नियमित चलता था। तीज, जियुतिया, पिड़िया आदि त्योहार औरतों के भीतर एक शक्ति भर देते थे।

बाढ हटते ही भूमि नहा-धोकर उभर आती थी और नये बीज डालने का उत्साह चारों ओर भर जाता था। शरद अपनी ताजगी लिए आता था, हवा में, धूप में, रातों में, जमीन में एक अद्भुत जीवन-गंध भर जाती थी, खेतों के जुतने से मिट्टी अपने भीतर की महक लुटाने लगती थी। जल निथरने लगते थे, बाट चालू हो जाते थे, फिर दशहरा, दीवाली, कार्तिक पूर्णिमा के त्योहार तरह-तरह की छवि लिये आते थे, जीवन हंस पड़ता था, अपने अभावो मे भी गाने लगता था, अकेलेपन के बाहर आकर समूह के माले में गुथ उठता था। छोटी-छोटी लौ की तरह नये अंकुर चारों ओर जल उठते थे, भविष्य का एक सपना आंखों में पलने लगता था। धीरे-धीरे हरियाली की बाढ़-सी आ जाती थी, फिर फूलों का समुद्र लहराने लगता था। सरसों-तीसी, मटर के पीले, नीले, लाल फूल और फूल ही फूल। ये फूल जीने के लिए न जाने कितना कुछ दे जाते थे, भीतर कितना भर जाता था इनसे! प्रकृति की अक्षय सुंदरता कछार की अपनी निधि है। प्रकृति लेती है, तो देती भी है।

धीरे-धीरे हवा फिर रुख बदलती थी। झर-झर-झर-झर पत्ते झरने लगते थे, फसलों में एक खास किस्म की पकी हुई गहराई उभरने लगती थी जैसे रंगों की उडान एक गहरी आभा से झुक जाती थी। एक अजीब रूमानी ख्वाब से मन भर जाता था। दिगंतों तक मन उड़ता था। भूखे-नगे लोग फाग गाने में मस्त हो जाते थे। रात-रात-भर फाग गाते थे, दोपहर को गाते थे, दरवाजे पर गाते थे, चौराहों पर जमा देते थे, खेतों में गाते थे, रास्तों में गाते थे, कबीर गाते थे, रंग खेलकर आते-जाते लोगों से रास्ते भरे रहते थे—फटे-फटे कपड़ों पर रंग। कितना उन्माद होता था फागुन में और कितना

उन्माद था उस समय के लोगों में ! घर-फूंक मस्ती वाले लोग। खेती-बारी की चिंता न कर गांव में, दूसरे गांवों में, संबंधियों के यहां फाग की स्पर्धा करते लोग घूमते थे। मेरे पिता जी भी इनमें थे। हम लोग भी फागुन को खूब जीते थे, इतना जीते थे कि आसपास के अभाव का पता ही नहीं चलता था। फिर चैत आता था, खेत कटते थे, खलिहानों में गांव की सामूहिक जिन्दगी का अपना सौन्दर्य निखरता था, फिर शादी-ब्याह में सामाजिकता उभरती थी। अब तो गांव ऊपर से संपन्न हो गये हैं किंतु भीतर से कितने दरिद्र और भाग्यहीन हो गये हैं इसे गांव के पिछले रूप के अनुभव से गुजरने वाला आदमी ही जानता है। हां, मैं जानता हूं। इसलिए अब जब कभी गांव जाता हूं तो प्रकृति तो उसी पुरानी सहचरी की तरह लगती है—अक्षय गंधा, अक्षय रूपवती, अक्षय रसमती लेकिन गांव के लोग वैसे नहीं लगते। उनके संबंध, उनके मूल्य टूट गये हैं, फक्कड़पन बनियागिरी में बदल गया है, त्योहारों और पर्वों का उल्लास पैसे और राजनीति की हलचल में खो गया है। अब उसमें जीवन देने की ताकत नहीं रह गई है। लेकिन मैं तो उस गांव की बात कर रहा हूं जिसमें यह शक्ति थी और जहां से मैंने जीने की शक्ति, जीवन के प्रति आस्था और मूल्य प्राप्त किये हैं, प्रकृति से जूझने की शक्ति और उमसे रस ग्रहण करने की सहृदयता पायी है। यही मेरी ठोस जमीन है, जो मुझमे, मेरे लेखन में रही है या मैं और मेरा लेखन जिस पर रहा है।

इस जमीन में ही मेरे अनुभव बने हैं, मेरी दृष्टि बनी है और बना है वह देसीपन जो मुझे चमकीले से चमकीले विदेशी आकर्षण के प्रति आतुर नहीं होने देता। इस जमीन के अनेक आयाम हैं—परिवार, गांव, स्कूल, खेती-बारी। परिवार सबसे बुनियादी आयाम है। ऊपर आप मेरे माता-पिता के दर्शन कर चुके हैं। पिताजी बाबा की इकलौती संतान थे—एकदम सैलानी। उनका लाड-प्यार में पला बचपन। अच्छा खाना, अच्छा पहनना, घूमना-घुमाना, मेले करना, बाजार करना, रिश्ते में घूमना, बारात करना, चौताल और रामायण गाना यह उनकी दिनचर्या थी। शादी होने के बाद भी उनको जिम्मेदारी का बोध नहीं हुआ। बाबा एक जमींदार के यहां काम करते थे, किसी चीज की कमी नहीं थी। वे स्वयं बहुत शक्तिशाली लठैत थे। लोग उनके प्रताप मे थर्राते थे लेकिन वह बहादुर थे, दुष्ट नहीं। उनकी उदारता भी उनकी शक्ति की तरह ही विख्यात थी। अब वे बूढ़े हो चले थे और धीरे-धीरे गृहस्थी का सारा भार पिताजी पर पड़ने लगा और वे धीरे-धीरे इसका अहसास करने लगे। लेकिन एक तो उनकी सैलानी वृत्ति, दूसरे उनका भोलापन। घर का काम-काज वे ठीक से संभाल नहीं सकते थे और लोग उन्हें आसानी से बहकाकर सैलानीपन की ओर उन्मुख भी कर देते थे लेकिन घर की आवश्यकताओं की पूर्ति तो होनी ही थी, इसलिए कर्ज लेने पडते थे, खेत रेहन चढ़ने लगे, मां के गहने बिकने लगे। सुना था बड़ी बहन की शादी में बहुत बड़ी बारात आयी थी—बीसियों हाथी-घोड़े आये थे और साथ ही कई बीघे खेत भी रेहन चढ़ गये थे। जब मैंने होश संभाला तो घर अभावों की सख्त गिरफ्त में आ चुका था। बाबा एकदम लाचार हो चुके थे। लेकिन मेरी मां बहुत कर्मठ थीं। सुना है कि उन्होंने दादी के सास-सुलभ अत्याचारों को भी बहुत धैर्य से सहा था और बुआ को लेकर पिताजी के

भी व्यवहार को सहजता से बर्दाश्त किया था। उसने इस उगते हुए अभाव के बीच घर को संभाले रखा। उसमें कर्म और संगीत का अद्भुत संतुलन था। उसने एक ओर अपने कर्म, अपने स्वाभिमान, अपने संघर्ष से घर को शक्ति दी, गौरव दिया, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व के सांस्कृतिक आयाम द्वारा गांव की औरतों का नेतृत्व प्राप्त किया—चाहे पूजा-पाठ हो, चाहे शादी-ब्याह हो, चाहे पर्व-त्योहार हो, हर जगह मां का नेतृत्व था। वह बहुत अच्छा गाती थी, उसे सांस्कृतिक अनुष्ठानों के विधि-विधानों का ज्ञान था, लोक-कथाओं की ज्ञाता थी। उसका व्यक्तित्व शारीरिक रूप से जितना सुन्दर था उतना ही मानसिक रूप से भी। पिताजी अकेले और अभावग्रस्त होने के कारण दब्बू बन गये थे; मां में ऊर्जा थी, वह अभावों में भी तनी हुई थी, किसी की धौंस बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। हम लोग चाहे बाहर से लड़-झगड़कर आते हों, चाहे अभाव से जूझते हों, मां ही शरणस्थली थी। मां पिताजी के अकर्मठ, सैलानी और दब्बू स्वभाव से चिढ़ती थी, उन्हें बार-बार कोंचती थी और फिर कहा-सुनी होती थी। सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में दोनों ही 'चेंपियन' थे लेकिन एक में संतुलन था, एक में असंतुलन। लेकिन ममतामय व्यक्तित्व दोनों का था। मैं नहीं कह सकता कि दोनों में से किसने मेरे भावुक व्यक्तित्व को अधिक प्रभावित किया। कविता, संगीत, कथा, मस्ती आदि के संस्कार मैंने किससे अधिक ग्रहण किये, इसकी व्याख्या करना आसान नहीं है। पिताजी ज्यादा भावुक थे—बात-बात में तरल हो जाने वाले। पल में ही उत्तेजित, पल में ही आर्द्र, एकदम बच्चे थे। वे खुद घूमते थे, गाते-बजाते थे और हम लोगों को भी खूब स्वतन्त्रता दे रखी थी। अपने साथ हमें मेले ले जाते थे, रिश्तेदारों के यहां ले जाते थे, गवाते थे। हम कहीं उनका आतंक अनुभव नहीं करते थे वरन् उनसे मित्र का-सा खुलापन और स्नेह पाते थे। मुझे जीवन को देखने का इतना अवसर शायद उनकी दी हुई स्वतंत्रता के कारण ही मिला और सारे अभाव के बावजूद जो एक अकुंठ मस्ती मिली थी उसका भी कारण वह स्वतन्त्रता ही थी। इसमें मां का भी गहरा योगदान था। मां हमारे अस्तित्व को अपने ठोस हाथों द्वारा संवार-सहेज रही थी और हमें अभावजन्य हीनता का अनुभव करने से बचा रही थी।

मैंने ऊपर बार-बार 'हम' का प्रयोग किया है। हम माने मैं और मझले भाई रामनवल मिश्र। हम दोनों में ढाई-तीन साल का अंतर था लेकिन हम लोग भाई के साथ-साथ हमजोली भी थे, साथ-साथ पढ़ना, गाना-बजाना, खेलना-कूदना, आपस में मारपीट भी करना। लेकिन बड़े भइया रामअवध मिश्र हम दोनों से अलग थे। मझले भाई और बड़े भइया की उम्र मे भी छः-सात साल का फासला है। एक ओर उम्र का फासला, दूसरी ओर स्वभाव का फासला। बड़े भइया जब दर्जा सात में थे तो मैं पढ़ाई शुरू कर रहा था। उन्हें न कभी खेलते देखा, न गाते-बजाते, न घूमते-घामते। घर से स्कूल, स्कूल से घर, घर से खेत और खेत से घर। एकदम जैसे संन्यासी—ठीक पिताजी के प्रतिकूल। वे ऐसा कैसे हो गये? कह नहीं सकता। उनकी कर्मठता मां की देन कही जा सकती है लेकिन खेल-कूद, गाने-बजाने में इतनी उदासीनता उन्हें कहां से मिली? शायद पिताजी के स्वभाव की प्रतिक्रिया

थी, शायद अभाव और उससे जूझने की चेतना का दबाव था। वे पिताजी से अकसर टकरा जाते थे और हम लोगों को उनके प्रभाव से निकालना चाहते थे। हम लोग उनसे बहुत डरते थे। हम लोग खेलते हों या गाते-बजाते हों, उनकी उपस्थिति का आभास पाकर आतंकित हो उठते थे, छिपकर भाग जाते थे या उनसे पिटते थे। वे चाहते थे कि हम लोग पढ़ें और सादगी से रहें, घर के काम-काज में मन लगायें। हम लोग सादगी से तो रहते ही थे, सादगी से न रहने का कोई कारण ही नहीं था, पढ़ते-लिखते भी थे और घर के अनेक कार्य भी करते थे लेकिन सादगी से उनका तात्पर्य था गाना-बजाना न करना, मेले-हटियों में न घूमना, रिश्तेदारी करने न जाना आदि-आदि। लेकिन हम दोनों उनकी सादगी की परिभाषा का उल्लघन करते रहते थे फिर भी थोड़ा अंतर था। मझले भाई ज्यादा रंगीन तबीयत के थे और लापरवाह भी। शौक करना उन्हें पसंद था इसलिए वे भइया के कोप-भाजन ज्यादा बनते थे। मै छोटा था, पढ़ने मे भी उनमे तेज था (तेज वे भी थे), उनसे अधिक संतुलित और संयत था और शौक-शृंगार मे मेरी रुचि नही थी इसलिए भइया शुरू मे ही मुझे बहुत मानते थे। उनके साथ यह अजीब विरोधाभास दिखाई पड़ता है कि वे बाहर से जितने रूखे है, भीतर से उतने ही स्नेहशील; अपने लिए सन्यासी है लेकिन परिवार के लोगों तथा अन्यों के लिए सर्वस्व दाता। आज तक उनके मन में अपने बाल-बच्चो के प्रति कोई पक्षपात का भाव नही आया बल्कि उलटे हम लोगों के बाल-बच्चों को अधिक चाहते है। मैं कह नही सकता कि मेरे व्यक्तित्व ने उनके व्यक्तित्व से कुछ ग्रहण किया या नही किन्तु इतना निश्चित कह सकता हूं कि मेरे व्यक्तित्व के विकसित होने में उनकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने उर्दू मिडिल पास करने के बाद पढ़ाई छोड़ दी। उनके सामने पढ़ने से ज्यादा जरूरी था परिवार को अभाव रूपी सुरसा के मुह से निकालना, उसे गौरव देना, हम लोगो की पढ़ाई के लिए मार्ग प्रशस्त करना। मेरे कवि व्यक्तित्व को भी भाई साहब से बहुत प्रोत्साहन मिला। वे साहित्य के बहुत प्रेमी है और जब उन्होने सुना कि मैं कविताए करता हू तो बहुत प्रसन्न हुए। प्यार से उन्हें सुनते थे और चाहते थे कि मैं बहुत बडा साहित्यकार बनू। यह भी एक विचित्रता ही है कि मैं पिताजी को प्यार करता था और भाई साहब का आदर।

बचपन की दुनिया छोटी थी लेकिन बहुत सघन। दुनिया क्या थी—परिवार, गांव, स्कूल, कुछ आसपास के गाव, खेत-खलिहान, ऋतुएं, मौसम, बाग-बगीचे, बस। लेकिन इन्हें कितनी गहराई से जिया था! घर के हर सुख-दुःख को भोगा था, गाव के हर घर के आर-पार झाका था, हर आदमी को भीतर तक देखा था, हर ऋतु और हर मौसम को भरपूर जिया था, खेतो मे काम किया था, बगीचों की मौसमी महक से लेकर उनके फलो तक को भोगा और पहचाना था, हर पेड का नाम था और उसके साथ अपना व्यक्तिगत रिश्ता था। हर रास्ते, नाले, पोखर, डीह, देवी-देवता के साथ एक अपनापा बन गया था। स्कूल का जीवन भी पूरे मन से जिया था। पढ़ना-लिखना, मारना-मार खाना, खेलना-कूदना, स्कूल से भागना ये सभी सुख लिये थे। वह एक छोटे से दायरे में पूरा जीवन था, वह आज के विस्तृत परिवेश के खण्डित जीवन से कितना

अलग था ! इसलिए जितना सघन जीवन-अनुभव तब बना था उतना सघन बाद में नहीं बन सका। यही वजह है कि मैं सघन अनुभवं बिंबों के लिए गांव लौट जाता हूं। वह अपनी ठोस जमीन है, वह जिसे नहीं प्राप्त है वह जीवन-यथार्थ के नाम पर अरूप सार्वभौमता के संसार मे भटकने के लिए अभिशप्त हो जाता है।

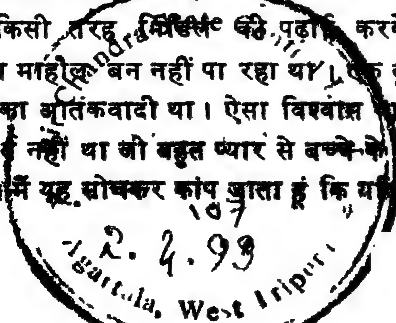
मैं बचपन से ही बहुत भावुक रहा हू। भावुकता ने मुझे जहा थोड़ी-थोड़ी बात में आहत हो उठने की कमजोरी दी है, वही उसने मुझे जीवन का रस भी दिया है। अभावों-भरे मेरे बचपन में इतना उल्लास, इतनी अकुंठ उद्दामता कहा से आयी ? मुझे लगता है मेरी भावुकता ने ही दी। प्रकृति के सौन्दर्य का रस यही ग्रहण करती थी, अपने भीतर बहुत कुछ होने का एहसास यही भरती थी। यह मन मे अदृश्य का एक सपना बुनती थी। मै अपने भीतर कुछ बन जाता था। शायद एक कविता बचपन मे ही मेरे भीतर थी जो मेरी भावुकता का ही परिणाम थी। वह कई बार फूटने-फूटने को हुई, लेकिन फूटी नही, भीतर ही भीतर गूजती रही और फूटी तब जब मैं दर्जा छः मे था। इस भावुकता ने मुझे अकसर रुलाया है, तड़पाया है। चाहे किसी आत्मीय के वियोग का अवसर रहा हो, चाहे अपनी कोई नाकामयाबी रही हो, चाहे कोई अपमान का क्षण रहा हो चाहे मार्मिक कथा या कविता सुनने का क्षण रहा हो, मैं रो पड़ता था। मुझे याद है बचपन मे एक बार मा मायके जा रही थी। पहली बार मैं मा से अलग हो रहा था। मै रात-भर झर-झर झर-झर रोता रहा। मा तीन मास मायके रही और मै कह नही सकता कि मैंने वे दिन कैसे काटे। पिताजी साथ थे लेकिन मा के बिना मैं अपने को अनाथ अनुभव करने लगा था। मा जब लौटी तो मैं उसकी गोद मे गिरकर पता नही कितनी देर तक रोता रहा और मेरा दयनीय हुलिया देखकर मा भी रोती रही और पिताजी को उनकी बदइंतजामी पर कोसती रही। मा कुछ बहुत करुण लोककथाएं सुनाती थी···बिना मा के बच्चो की कथाएं, मा की दुर्दशा की कथाएं, निष्कासित रानी की कथाएं, रानी या बच्चो के फूल या पेड बन जाने की कथाए और मैं सुन-सुनकर रोता था। पता नही मां ने इन कथाओ द्वारा मेरे मन का कितना विस्तार किया, अपने से बाहर के जगत् के साथ तादात्म्य अनुभव करने का कितना दर्द भर दिया। पिताजी भी रामायण गाते थे और वे राम-वनवास या लक्ष्मण-मूर्च्छा वाला प्रसग सुनाते थे तो मेरा मन तरल होकर आंखों के रास्ते बहने लगता था।

जब-जब कोई मुझे अपशब्द कहता था मै अव्यवस्थित हो उठता था। कई-कई दिन तक वह शब्द मुझे कोचता था। ये अपशब्द चाहे मास्टर साहब के हों, चाहे घर के बडे-बूढों के, चाहे अन्यो के, मुझे परेशान कर देते थे। कई बार प्रतिकार की भावना पैदा होती थी, और कुछ न कर पाने पर अपने को उधेड़ता रहता था। प्राइमरी स्कूल मे एक मास्टर थे पंडित रामचन्द्र तिवारी। वे बहुत मारते थे। अपने भतीजे को स्कूल मे उठा-उठाकर पटकते थे। यह देखकर मन हाहाकार कर उठता था और इच्छा होती थी कि मास्टर का हाथ तोड़ दिया जाय। वे बहुत निर्ममता से छात्रों को पीटते थे। एक बार हम लोगों की भी खूब पिटाई की थी। दर्जा दो के कोर्स में मन्नन द्विवेदी की बाल कवितावली थी। उन्होंने कोई कविता याद करने को कहा था, किसी को याद नहीं

थी। फिर क्या था, उन्होंने प्रलय ढा दिया। सारे लड़कों को धुआंधार पीटना शुरू किया, फिर सबको जमीन पर सुला दिया और कहा, "सूरज की ओर देखो" और डंडे से सबके तलवों मे मारना शुरू किया। हाहाकार मच गया। आखिर एक वरिष्ठ अध्यापक को चिल्लाकर कहना पडा, "अरे जल्लाद, मार ही डालेगा क्या ?" उसके बाद बात की बात में मैंने कवितावली तो याद कर ली लेकिन इस अन्यायी दृश्य को कभी भुला नही पाया, आज भी नहीं। आज भी मन विचलित हो जाता है। पता नही मैंने कितना भावुक मन पाया है कि आज भी रास्ते में किसी को पिटते देखता है तो वह विचलित हो जाता है। काफी देर तक अस्थिर रहता है। किसी से कहा-सुनी हो जाये तो रात को नीद नही आती और मन घूम-घूमकर इसी बात पर आ जाता है कि झगडा क्यों हुआ ? किसकी गलती थी ? उसने मुझे ऐसा क्यों कहा ? भावुकता बचपन में ही मेरे गले पड़ी सो पड़ी रह गयी। लाख कोशिशों के बावजूद मैं मोटी चमडी का नहीं हो पाया। मैं ऐसे क्षणों में कोई कार्य नही कर सकता, सो भी नहीं सकता। लिखने-पढ़ने के लिए भी सामान्य मनःस्थिति मेरे लिए बहुत जरूरी होती है। सुख और दुःख दोनों का अतिरेक मुझे अप्रकृतिस्थ कर देता है। और यह पगली आज तक मुझसे नहीं छूटी, अब क्या छूटेगी !

2

स्कूल, परिवार, गांव, प्रकृति, हाट-बाजार, पर्व-त्योहार सभी एक-दूसरे में गुंथे हुए थे। वह दुनिया अलग-अलग नही थी, एक थी, संश्लिष्ट थी, संपूर्ण थी। तब गांव में पढ़ाई-लिखाई का रिवाज कहां था, बस, शुरू हो रहा था। दर्जा चार पास कर लेना भी कम बात नहीं थी। मिडिल पास करना तो बडी बात समझी जाती थी क्योंकि मिडिल पास करके लोग नार्मल कर लेते थे और कही मुदर्रिस हो जाते थे। यदि कोई बी० ए० हो जाय तो सारे जवार में उसके नाम का डंका बज उठता था, उसके नाम से पूरा गांव धन्य हो उठता था। लेकिन ऐसा हो पाना संभव कहां हो पाता था ! प्राइमरी और मिडिल स्कूल तो दो-एक कोस की दूरी में मिल जाते थे लेकिन हाई स्कूल तो शहर में ही होते थे और विश्वविद्यालय ? उसकी तो बात ही न पूछिए। पूरे उत्तरप्रदेश में तब चार विश्वविद्यालय थे। जिस जवार में गरीबी ठाठें मारती हो, उस जवार के किस आदमी में इतनी हिम्मत थी कि इतनी दूर जाकर अंगरेजी पढ़े। बस, लोग किसी तरह मिडिल की पढ़ाई करके नोकरी खोजते थे। इसलिए देहात में पढ़ाई का माहौल बन नहीं पा रहा था। एक दूसरी बात भी थी, वह यह कि अध्यापन का तरीका आतंकवादी था। ऐसा विश्वास था कि डंडे से ही ज्ञान का ताला खुलता है। वह धैर्य नहीं था जो बहुत प्यार से बच्चे के भीतर निहित क्षमता को खींच-कर बाहर लाता। मैं यह सोचकर कांप जाता हूं कि यदि मां ने मुझे पढ़ाना शुरू न किया



होता तो मेरा क्या होता ? मैं यह स्वीकार कर लूं कि मैं प्रत्युत्पन्न मति व्यक्ति कभी नहीं रहा। बहुत शीघ्र किसी बात को पकड़कर उसका जवाब दे देने की क्षमता मुझमें नही रही। मैं बहुत हड़बड़ी में या भीड़-भाड़ में, सभा-सोसायटी में, मजमे में अपनी शक्ति का परिचय नही दे सकता। इसीलिए मैं इनसे बहुत घबराता हूं। मैं वहां किसी को प्रभावित नही कर पाता। मैं अकेले मे निश्चिन्त बैठकर सोचता हू तो मेरे भीतर की शक्ति मुझसे संवाद करती है और तब सोचता हूं कि भीड़ मे पूछे गए प्रश्न का यदि यह उत्तर मैंने दिया होता तो कितना अच्छा रहा होता लेकिन अवसर चूकने पर पछताने से क्या फायदा ! और अवसर चूकते रहना मेरी नियति बन गयी है। तो बचपन के शुरू मे मेरी प्रतिभा कितनी थी इसका सही-सही विवेचन तो नही कर सकता लेकिन इतना कह सकता हूं कि जो थी वह बहुत तेजी से खुलने को तैयार नही थी। कुछ याद है, कुछ मा की जबानी सुना था कि कई लोगों—जैसे भइया, बड़ी बहन और कुछ और लोगों ने घर पर मुझे अक्षर-ज्ञान देने की कोशिश की लेकिन मेरी मंथर बुद्धि उनकी गति से ऊपर आने को तैयार नही हुई। वे लोग बार-बार झल्लाये, डांटा-डपटा, मारा-पीटा और अंत मे पटरी उठाकर फेंक दी और बारी-बारी सबने ऐलान कर दिया कि पढ़ना-लिखना इस मूर्ख के वश का नही है।

एक तो वैसे ही मेरी मंथर बुद्धि रूठी बैठी थी, दूसरे अध्यापन का यह हड़बडी-भरा तरीका, फिर डांट-डपट, मार-पीट—मेरा मन पढ़ाई-लिखाई से बिदक गया और मैंने चैन की सांस ली, यानी ली होगी।

मां यह सब देखती रही। न जाने क्यो उसे और लोगों के निर्णय पर विश्वास नही हुआ। न जाने उसकी आंखों ने मेरे भीतर क्या देख लिया था, पहचान लिया था कि उसने एक दिन घोषणा की, "तुम्हें मैं पढ़ाऊंगी।" मा पढ़ी-लिखी नही थी, बस साक्षर थी यानी वर्णमाला का उसे ज्ञान था। कोई आयोजन नही, कोई भूमिका नही। जाड़े के दिन थे। हम लोग सवेरे कौड़े क पास बैठे थे। मां ने उसी कौड़े की बुझी हुई राख निकाली, उसे मेरे सामने फैला दिया। बोली—"लिखो बेटा—क।" मेरी बद्धमूल जडता क्या इतनी आसानी से 'क' लिख सकती थी लेकिन मां ने मेरी अंगुली पकड़ ली, उसे 'क' पर घुमाने लगी। कोई हडबड़ी नही थी, कोई दबाव नही था। पढ़ाई का कोई अलग से वातावरण नही बनाया गया था इसलिए मैं मां के साथ कौड़ा तापने की-सी सहजता से उसके साथ 'क' लिखने लगा। मा को लगा जैसे मेरे भीतर बंधी हुई कोई गांठ खुल रही हो, उसके स्पर्श की आंच से जड़ता धीरे-धीरे पिघल रही हो और भीतर सोयी हुई या अवरुद्ध चेतना अपनी ऊष्मा फेंक रही हो। मां बहुत विश्वास से मुस्कराई थी और पता नही क्या चमत्कार हुआ कि सात-आठ दिन में पूरी वर्णमाला मैं सीख गया। उसके बाद मेरे अध्ययन की यात्रा सहजभाव से चल पड़ी। फिर मेरा नाम लिखाया गया। नाम लिखाने मेरी पट्टीदारी के एक चाचा गये थे। जब मेरी जन्म-तिथि लिखाई गयी तो मैंने बहुत झगड़ा किया। जन्म-तिथि लिखाई गयी 31 जनवरी, 1925। मैं बार-बार जोर देकर चिल्लाया कि गलत है यह तिथि। मेरी जन्म-तिथि 15 अगस्त, 1924 है लेकिन किसी ने मेरे कहे पर ध्यान नहीं दिया।

मुझे बहुत अजीब लगा कि मेरी असली जन्म-तिथि छोड़कर नकली जन्म-तिथि लिखी गयी थी। स्कूल में प्रवेश पाने के प्रथम दिन ही झूठ का एक धक्का जो लगा वह बाद में और व्यापक तथा गहरा होकर लगता ही रहा। जितना ऊंचा विद्यालय, उतना ही बड़ा झूठ; जितनी बड़ी डिग्री, उतना ही बड़ा झूठ; जितना ऊंचा आदमी, उतना ही बड़ा झूठ, लेकिन तब मैं तिलमिलाकर रह गया था। बाद में उसका सही अर्थ समझा, उसका लाभ समझा और अब जब अवकाश प्राप्त करने का समय आ गया है तब इस छः महीने की कमी का लाभ तो समझ में आता ही है किन्तु यह देखकर तकलीफ होती है कि मेरी असली और नकली जन्म-तिथि में केवल छः महीने की ही दूरी क्यों है जबकि मेरे अनेक सहकर्मी मित्र कई-कई साल का फासला लिए बैठे हैं।

मैं पढ़ने में अच्छा था। हमेशा क्लास में मानीटर भी रहा। लेकिन कई बार मैं भटका भी। जब-जब किसी गलत मास्टर के पाले पड़ गया और उसने प्यार और शान्ति से समझाने के स्थान पर आतंकवादी रुख अख्तियार किया मेरी बुद्धि निष्क्रिय हो गयी और पढ़ने से जी उदासीन हो गया। पंडित रामचंद्र त्रिपाठी को मैं कभी नहीं भूल सकता।

हम लोगों के सौभाग्य की बात थी कि प्राइमरी और मिडिल स्कूल हमारे गांव के पास के गांव बिशुनपुरा में था। दोनों गांवों की दूरी चार-पांच फर्लांग की होगी। पंडित रामचंद्र त्रिपाठी हमारे गांव के पास के गांव गोपालापुर के निवासी थे। वे किसी और स्कूल में पढ़ाते थे। जब उनका तबादला बिशुनपुरा के स्कूल में हो रहा था तब स्कूल में आतंक छा गया कि यह मास्टर तो बहुत निर्दय है, चैले से मारता है। तब मैं दर्जा एक में था। दुर्भाग्य से वे हम लोगों की क्लास के मास्टर बनकर आये। मन्नन द्विवेदी की कविता याद न कर पाने के संदर्भ में उन्होंने पूरी क्लास को जिस बेरहमी से पीटा उसकी चर्चा ऊपर कर चुका हूं। एक दूसरा प्रसंग याद आ रहा है। शायद दर्जा दो की बात थी। तब वे दर्जा दो को पढ़ाने लगे थे। उन्होंने कोई हिसाब समझाया। मेरी समझ में नहीं आया। मैं कह चुका हूं न कि हड़बड़ी या आतंक में समझाया हुआ काम मेरी समझ में नहीं आता। वे पूछते थे, "समझ गये?" हम लोग कहते थे, "हां।" जब वे सवाल लगवाते थे तो हम सभी लोग गलत कर देते थे, इस पर वे पिटाई करते थे। मेरी भी काफी पिटाई हुई। पिटाई का सिलसिला जारी था कि छुट्टी की घंटी बज गयी। किसी तरह जान बची। लेकिन मेरा मन पढ़ाई से विरक्त हो गया। ठान लिया कि पढ़ने नहीं जाऊंगा। विरक्ति का यह दूसरा दौर था। एक दौर शायद जब 'ब' में पढ़ता था तब आया था। याद नहीं कि क्यों आया था लेकिन इतना याद है कि आया था और मैं मां के समझाने पर भी कई दिन तक स्कूल नहीं गया था। तब लड़कों की पूरी फौज मुझे पकड़ने के लिए भेजी गयी थी। लड़के मुझे टांगकर स्कूल ले जाने लगे तो मैंने किसी का नया कोट चींथ दिया, किसी की टोपी फाड़ दी, किसी को काट लिया, किसी को बस्ते से मार दिया और सब लड़के मुझे छोड़कर खाली हाथ लौट गये। होता यह था कि यदि कोई लड़का किसी कारण किसी दिन स्कूल नहीं जा सका तो दूसरे दिन जाने से डरता था। मास्टर से पीटे जाने के भय से वह दूसरे दिन स्कूल जाने से घबराता

था और यदि उसका अभिभावक साथ लेकर गया तो चला जाता था नहीं तो भय के मारे कई-कई दिन तक वह गैरहाजिर हो जाता था और जितना ही अधिक गैरहाजिर होता था, उतना ही अधिक भय बढ़ता था और धीरे-धीरे स्कूल जाने से जी चुराने लगता था। कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ होगा। गैरहाजिर रहने के बाद मैं हमेशा पिताजी को साथ लेकर स्कूल जाया करता था। लगता है उस बार वे नहीं जा सके होंगे और मेरे अनुपस्थित रहने का सिलसिला लम्बा होकर स्कूल के प्रति विरक्ति में बदल गया।

इस बार पंडित रामचंद्र त्रिपाठी की पिटाई से दूसरे दिन स्कूल जाने की हिम्मत नहीं हुई। मैं छुट्टी मार गया और जब एक दिन मार गया तो लगातार छुट्टी मारनी ही थी। तीसरे दिन गाव के रघुवर नाई के यहां बाल कटवाने गया तो वहीं सहपाठी कपिलदेव भी मिल गये और मालूम पड़ा कि वे भी छुट्टी मार रहे हैं। उनका भी मन रह-रहकर स्कूल से उचट जाता था, यद्यपि वे भी पढ़ने में तेज थे बल्कि हम दोनो शुरू से ही एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। हम लोग बाल कटवा ही रहे थे कि संतू (संतप्रसाद) आ गये। उन्होंने आते ही कहा कि मैं स्कूल से आ रहा हू, मास्टर साहब ने तुम दोनों को बुलाने के लिए भेजा है। तुम लोगो के घर गया तो मालूम हुआ कि तुम लोग यहा हो।

मुझे विश्वास नहीं हुआ कि संतू स्कूल गये होगे और उन्हें मास्टर साहब ने या पंडित जी ने हमे बुलाने के लिए भेजा होगा। संतू हमारे गाव के एक बहुत हट्टे-कट्टे, लंबे-चौडे, बदमाशियो मे आगे रहने वाले और पढाई-लिखाई मे माशाअल्लाह छात्र का नाम था। यह भला स्कूल क्यों गया होगा और पंडित जी इसे भला क्यों भेजेंगे ? फिर भी हम अपने घर जाकर स्कूल के लिए तैयार हुए। अपना-अपना बस्ता लिया और चल पड़े संतू के साथ स्कूल को। कुछ दूर जाने पर संतू ने एक रुपया जमीन पर से उठा लिया और कहा कि खोया हुआ एक रुपया मिला। मुझे पहले तो लगा कि हाय, मैं चूक गया, यदि मैं आगे होता तो यह रुपया मुझी को मिला होता लेकिन जल्दी ही समझ मे आ गया कि यह रुपया संतू अपने घर से चुराकर लाये होगे और खुद ही चुपके से जमीन पर फेंककर उठा लिया होगा। यह सच निकला। कुछ दूर जाने के बाद एक बगीचा पड़ता था। वहा जाकर मैंने पीछे मुडकर देखा—संतू गायब थे। कहां गये संतू, कहां गये संतू ? कुछ देर बाद वे एक पेड की आड़ से निकले। अब मैं पूरी तरह समझ गया कि संतू स्कूल से भागे हुए है और हम लोगों को इन्होने अपना साथी बनाया है। अब हालत बड़ी विचित्र थी। घर जा नहीं सकता था, स्कूल जा नहीं सकता था। दिन काटना था, स्कूल छूटने तक। बस, संतू हम लोगों का लेकर रानापार और बिशुनपुरा गांव की गलियों में घूमते रहे। पास रुपया था—कभी अमरूद खरीदते थे, कभी गुड़ खरीदते थे, कभी गट्टा खरीदते थे, कभी बताशा और कुछ हम लोगों को देकर बाकी कचुर-कुचुर कचुर-कुचुर खाते थे और थूक देते थे। हम लोग जब स्कूल के किसी छात्र को या जान-पहचान के आदमी को देखते थे तो छिपकर गली-गली भागते थे। इस भाग-दौड़ में मेरा बस्ता दुगुना लंबा हो गया था। उसे बार-बार समेटता था

और वह बार-बार वही रूप धारण कर लेता था। बरसात के दिन थे। उमस और धूप से हम परेशान हो गये थे। छुट्टी के समय की प्रतीक्षा कर रहे थे; वह समय आने का नाम ही नहीं ले रहा था। हम लोग स्कूल के सामने वाले बगीचे में गये। वहां से उचक-कर देख रहे थे कि छुट्टी हुई क्या? और बहुत देर बाद छुट्टी का अनुभव हुआ जब देखा कि बच्चे स्कूल से निकल-निकलकर भाग रहे हैं। फिर मैं और कपिलदेव घर की ओर चल दिये और संतू बस्ता लेने स्कूल की ओर। रास्ते में कुछ लड़कों ने पूछा, "अरे, तुम लोग कहां से आ रहे हो?" "स्कूल से।" मैंने कहा। "वहां दिखाई तो नहीं पड़े?" और मैं चुपचाप आगे बढ़ गया। झूठ का बचाव मैं देर तक नहीं कर पाता, एक या दो ही आघात मे मेरा झूठ ढह जाता है। यह इसलिए नहीं होता कि आघात करने वाले का निशाना अचूक होता है बल्कि झूठ मेरे भीतर के 'मैं' का हिस्सा नहीं बन पाता, यह 'मैं' ही उसे तेजी से बाहर ढकेल देता है। बाद में सुना कि संतू स्कूल में गये और ज्यों ही बस्ता लेने के लिए कमरे में लपके हेडमास्टर बाबू साहब की नजर उन पर पड़ी और 'पकड़ो-पकड़ो' चिल्लाये। संतू कमरे की खिड़की में से कूदकर पीछे की ओर भागे। स्कूल के पीछे दो बड़ी-बड़ी गड़हियां थीं। एक पतला-सा नाला उन्हें मिलाता था। उस नाले में जलकुंभी पाट दी गयी थी ताकि आने-जाने के लिए रास्ता बन जाए। संतू उस जलकुंभी में कूदे और फंस गये। किसी तरह कूदते-फांदते निकले और भागे।

उसके दूसरे दिन स्कूल जाने का कोई सवाल ही नहीं था। कई दिन के बाद स्कूल जाने पर क्या हालत होगी, यह मैं जानता था। पंडित रामचंद्र की मार की कल्पना से रोआं थर्रा उठता था। पिताजी मेरे साथ जाने को तैयार नही हुए और मैं अकेले स्कूल जाने को राजी नही हुआ। बाबा गालियां देने लगे, मोहल्ले के लोग समझाने लगे कि पढ़ाई के क्या-क्या फायदे होते हैं। उपदेश, लालच, डांट-फटकार किसी का मेरे ऊपर असर नहीं हुआ, पढ़ाई से मन एकदम भाग खड़ा हुआ।

पिताजी झल्लाये—"चल बेवकूफ, नहीं पढ़ेगा तो घास काट, खेत निरा, खाद फेंक, खेत गोड़···।" ये सब काम तो अपनी उम्र की औकात मुताबिक पढ़ने के साथ ही करता था किन्तु पिताजी ने इन सब कामों को मेरे अखिल जीवन का लक्ष्य बनाकर प्रस्तुत किया था और पढ़ाई से एकदम बिदका हुआ मेरा मन बड़े उत्साह और हल्केपन से इस लक्ष्य को स्वीकार कर बैठा और मैं हाथ में खुरपी लिए पिताजी के पीछे-पीछे खेत की ओर चल पड़ा।

पंडित रामचंद्र तिवारी मेरे गांव के एक दरवाजे पर बैठे हुए थे। उन्हें देखते ही मुझे डर लगा लेकिन मन में एक गाली देकर कहा, "अब तुम मेरा क्या कर लोगे, अब तो मैं खेत की ओर चला।" पिताजी डांटते-फटकारते आगे-आगे चल रहे थे। पंडित जी ने पिताजी को संबोधित किया—"क्या है मिसिर जी! किस बात पर नाराज हो रहे हैं?"

"अरे, यही अभागा पढ़ेगा नहीं, घास छीलेगा। हम लोग कोशिश करके हार गये। स्कूल नहीं जा रहा है। जब हम लोगों की तरह घास-पात की जिन्दगी बितायेगा, तब अकल ठिकाने आयेगी।"

"अरे सुनिये-सुनिये मिसिर जी, किसने कहा कि यह घास छीलेगा ? अरे, यह तो बहुत होनहार लड़का है। यह तो बहुत बड़ा आदमी बनेगा। यहां आ बचवा।"

मैं डरता-डरता उनके पास गया। उन्होंने कहा, "जाओ बेटे, यह खुरपी-सुरपी घर पर रख दो, तुम्हारे हाथ में खुरपी नहीं कलम अच्छी लगेगी।" और उन्होंने मेरे कान में मंत्र फूंकने की तरह कुछ कहा और पिताजी से कहा, "जाइए मिसिर, अब इसे मैंने मंत्र दे दिया है, अब यह कल से स्कूल आयेगा और पढ़ेगा।"

पिताजी के साथ मैं घर लौट गया। मन हलका हो गया था। पंडित जी का जो भय मेरे मन पर पत्थर की तरह जमा हुआ था वह उन्हीं के स्नेह की आंच से पिघलकर बह गया। अब कल से स्कूल जाने में कोई झिझक नहीं अनुभव हो रही थी। मैं हिसाब की किताब लेकर बैठा। हल किये गये प्रश्नों के उदाहरण दिये गये थे, उन्हें देखा। हिसाब भी मेरा ठीक था ही बल्कि काफी अच्छा था। एकांत में वह हिसाब समझ में आ गया जो पंडित जी की पिटाई के कारण मेरे भीतर घबराया घूम रहा था।

भइया तब बड़हलगंज में उर्दू मिडिल कर रहे थे। जब घर आते थे मैं हिसाब लेकर उनके सामने बैठ जाता था, वे भी बुला-बुलाकर पढ़ाते थे। वे सभी विषयों में बहुत तेज थे। उन्होंने चक्रवर्ती के हिसाब समझाने शुरू किये और मैंने धीरे-धीरे हिसाब में काफी दक्षता प्राप्त कर ली। फिर तो हिसाब मेरा साथी हो गया। फिर पढ़ाई से मेरा जी नहीं उचटा, लगातार पढ़ाई में मेरी पैठ गहरी होती गयी और मैं मानीटरी करता रहा। स्कूल के नाम पर पिटाई का ही दृश्य क्यों पहले मेरे मन में आया और आ रहा है ? शायद इसलिए कि यह व्यक्तिगत दर्द न बनकर एक सामाजिक दर्द बन गया था। मैं पिटाई के गलत प्रयोग से पढ़ाई छोड़ते-छोड़ते बचा, लेकिन कितने लोगों को पढ़ाई से ऐसी अरुचि हुई कि वे फिर पटरी पर नहीं चढ़े।

याद है कि स्कूल बच्चों के शोर से बजबजाया करता था। 'हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए' के सामूहिक प्रार्थना गीत से शुरू होने वाला दिन गिनती और पहाड़ों के समवेत शोर मे गूजता रहता और उसी के बीच-बीच सप्प-सप्प या धम्म-धम्म पीटे जाने की आवाजे और लड़कों के चीखने-चिल्लाने की तेज आकस्मिक ध्वनियां उठती रहतीं। रोने-चीखने की एक खंडित लय स्कूल में तनी रहती। कोई-कोई मास्टर जी तो लात, जूता, लाठी सबका प्रयोग करते थे। कमजोर बच्चों के लिए स्कूल जाना एक खौफ था। वे सुबह निकलते तो देवी-देवता मनाते चलते थे। रानापार गांव में मदनेश जी के घर के आगे एक बरम बाबा की पींढ़ी थी। वहां पहुंचकर हमारे गांव के कई बच्चे हाथ जोड़कर खड़े हो जाते—"हे बरम बाबा, आज मैं मार न खाऊं, दुहाई बरम बाबा की।" लेकिन मार तो खानी ही थी। कई दुष्ट लड़के शाम को घर लौटते समय बरम बाबा की पीढ़ी की पटरी से पिटाई शुरू कर देते—"लो बरम बाबा सरऊ, मैंने कहा था कि पिटाई न हो सो आज सबसे अधिक पिटाई हुई। लो, तुम भी पिटाई का मजा चख लो।" एक दिन एक लड़का स्कूल में इतनी बुरी तरह पिटा कि शाम को बरम बाबा की पीढ़ी पर पेशाब करने लगा। जिस दिन पिटाई न हो उस दिन को ये

लड़के जीवन का कोई शुभ दिन मानते थे। मैं अपने गांव या दूसरे गांव के कितने ही छात्रों को जानता हूं, पिटाई के कारण विद्या से जिनका वास्ता टूट गया और वे या तो अपने पुश्तैनी काम में लग गये या घर छोड़कर भाग गये या जरायमपेशे में पड़ गये। मार के साथ-साथ मास्टरों के ताने भी कम मारक नहीं थे। किसी को पीटते समय मास्टर कहता था, "सरऊ बाप तो हल जोतता है, ये पढ़ने चले हैं।" "ससुर तेली-तमोली पढ़ने चले हैं, पता नहीं कोल्हू कौन चलायेगा!" "अरे जाओ-जाओ, तुम भी बाप की तरह भीख मांगो, पढ़ाई-लिखाई तुम्हारे वश की नहीं···" आदि-आदि···।

कभी-कभी सोचता हूं कि क्या विद्यालयी तौर-तरीके और पुलिस के तौर-तरीके में कोई बहुत अंतर था? एक घटना याद आ रही है। संतू का चाकू खो गया। खो गया या उसने खो देने का नाटक किया। तब गंगा पंडित हमारे कक्षा-शिक्षक थे। संतू ने उनसे सवाल दागा। पंडितजी ने कहा, जिसने लिया हो दे दे। किसी ने नहीं दिया। बस, क्या था, उन्होंने कक्षा की सामूहिक पिटाई शुरू कर दी। काफी देर तक बच्चे बारी-बारी से पिटते रहे और चाकू नहीं मिला। उस बचपन में भी मेरा मन इस अन्याय के विरुद्ध तिलमिला कर रह गया था कि चोरी का पता लगाने का यह कौन-सा तरीका है? क्या यह पुलिस द्वारा की जाने वाली गांव के गांव की सामूहिक पिटाई से भिन्न है? घर लौटते समय मैंने रास्ते में लडकों को इकट्ठा किया और कहा कि हमें इस प्रकार के अत्याचार का विरोध करना चाहिए। मैं अपने पिताजी से कहूंगा, वे लाठी लेकर आयेंगे। तुम लोग भी अपने-अपने घर कहो, वे लोग भी लाठी लेकर आवें और मास्टर को इस अत्याचार के लिए दंडित करें। या हम लोग शाम को अरहर के खेत मे छिप जायें और जब मास्टर घर लौटें तो घेरकर उनकी पिटाई कर दी जाय। सब लोग सहमत हो गये लेकिन दूसरे दिन एक लड़के ने जाकर उनसे कह दिया। और फिर जब मुझसे जवाब-तलब हुआ तो मेरी हालत देखने लायक थी।

एक दूसरा दृश्य याद आ रहा है। हमारे स्कूल के एक कमरे के द्वार पर मधु-मक्खियों ने छत्ता लगा रखा था। पता नहीं, किस विद्यार्थी ने उसे छेड़ दिया या उससे छत्ता छिड़ गया, मधुमक्खियां तिलमिला उठीं। संयोग से उस समय मैं ही दरवाजे से निकल रहा था। भ्रमवश मधुमक्खियों ने मुझी को आक्रमणकारी समझ लिया और मुझी पर टूट पड़ीं। किसी तरह छिपकर जान बचायी। मधुमक्खियों से तो बच गया, अब बारी थी पंडित जी की। उन्होंने पूछा—"मधुमक्खियों को क्यों छेड़ा?" मैंने कहा—"मैंने नहीं छेड़ा, कोई और छेड़कर भाग गया था।" मेरे लाख सफाई देने पर भी पंडित जी के दिमाग की मैल नहीं गयी और मधुमक्खियों से पीड़ित मेरे शरीर को बेंत से पीड़ित कर दिया। मैं तिलमिलाकर रह गया। इच्छा हुई इस बदतमीज मास्टर के मुंह पर ईंट मार कर इसकी नाक तोड़ दूं और भाग चलूं। शूर्पनखा की तरह कटी नाक लिए घूमे। लेकिन क्या मैं यह कर सकता था? एक छोटे दरजे के विद्यार्थी की कितनी छोटी औकात होती है कि उसकी सही बात को भी कोई सही नहीं मानता और उसे वह अपने को गलत कहने वाले के खिलाफ कुछ कर भी नहीं सकता, सिवा मार खाकर अहकने के। मैं पढ़ने में बहुत अच्छा था। जब मुझे वक्त-बेवक्त मास्टरों की सनक का दंड भोगना

पड़ता था तो फिर उनका क्या पूछना जो पढ़ने में मंदबुद्धि थे और छोटे पेशे वाले घरों से आते थे।

मास्टरों के आने का कोई निश्चित समय नहीं होता था। कुछ ऐसे थे जो बाहर के थे, स्कूल पर ही रहते थे। वे तो समय से आते थे किन्तु जो आसपास के गांवों के थे उनमे से अधिकांश देर से आते थे और सच पूछिए तो उनके देर मे आने से छात्र खुश ही होते थे। विशेषकर जो मरकहे मास्टर थे उनके लिए तो लड़के ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि वे देर से आयें या बीमार पड़ जायें। लड़के रास्तों की ओर देखते रहते और जब दूर कोई मास्टर आता हुआ दिखाई पड़ता तो एक साथ चिल्ला उठते—पंडित जी या मुंशी जी या बाबू साहब आ रहे हैं। और सब भाग-भागकर अपनी जगह बैठ जाते और फैला हुआ कोलाहल एकाएक सिमट जाता। आज भी जब गांव जाता हूं तो देखता हूं कि स्कूल का समय हो गया है लेकिन हमारे गांव के मास्टर साहब अभी खाद-गोबर, खेती-बारी में उलझे हुए है। ग्यारह-बारह बजे बहुत इतमीनान से तैयार होकर निकलते है। इससे भयानक दृश्य भी देखा है जो तब से लेकर अब तक फैला हुआ है। मास्टर साहब ने छुट्टी के दिन बच्चों को घर बुलाया है पढ़ने के लिए लेकिन पढ़ाने के स्थान पर उन्हें अपने गृह कार्य मे लगा दिया है और तिस पर तुर्रा यह कि मास्टरनी उन्हें गालियां दे रही है—"हरामखोर, कामचोरी करता है ! अरे मामा लोगो, ठीक से काम करो नही तो सबको फेल करवा दूगी।" यह दृश्य बहुत सामान्य तो नही है किन्तु है। बेचारे छोटे तबके के बच्चे कुछ प्रतिरोध नही कर पाते।

मुझे याद है, तब मैं शायद दर्जा एक में था। हम लोग स्कूल पहुंच गये थे। खेल रहे थे। कोई भी मास्टर स्कूल मे नहीं आया था। डिप्टी साहब (पं० शेषमणि त्रिपाठी) बिना किसी सूचना के स्कूल पर पहुंच गये। अजीब दृश्य था। डिप्टी साहब मेरी क्लास में आये, मुआइना किया। मुझसे पूछा कि आधे में कितना मिला दिया जाय कि पूरा हो जाय। मेरे लिए इसका उत्तर कठिन नही था, बता दिया। उन्होने कुछ और पूछा, सही-सही बता दिया गया। इस प्रकार पंडित जी की अनुपस्थिति की जो तिक्तता डिप्टी साहब के मन में थी वह कुछ कम हुई। यानी हम लोगों ने तो पंडित जी की लाज रख ली लेकिन पंडित जी स्वयं अपनी लाज गंवाने पर तुले थे तो हम क्या करते। आसपास के मास्टरों के पास आदमी भेजे गये तब कहीं वे लोग आये। तब साढ़े ग्यारह, बारह बज गये थे। डिप्टी साहब की झाड और मास्टर जी लोगों की गिडगिड़ाहट देखकर मुझे विचित्र लगा था। शायद अच्छा भी लगा था कि अच्छा हुआ डिप्टी साहब के सामने इन श्रीमान् जी का सारा मरकहापन नाक रगड रहा था। तब मैं इन सारे दृश्यों के बीच खड़ा था और शायद यह सब देखना-सुनना और झेलना कुछ सहज-सा हो गया था किन्तु बाद में जब चीजों की व्याख्या करने की, व्यक्तिगत प्रसंगों को एक बृहद् सामाजिक परिदृश्य के अंग रूप में समझने की क्षमता विकसित हुई तो इन सारे अतीत प्रसंगों के प्रति तिक्तता भरती गयी, क्योंकि तब हमारे घरों के बच्चे स्कूल जाने लगे थे और शिक्षा की उन्ही विसगतियों के शिकार होने लगे थे, जिनके हम लोग थे। यानी वह परंपरा चली आ रही थी और मैं उन्हें वस्तुगत ढंग से समझने लगा था। यह परंपरा तब

से अब तक, गांव से लेकर शहर तक किसी-न-किसी रूप में एक लय की तरह विद्यमान है। काफी दिनों से यह दृश्य भूल गया था किन्तु उस दिन पी०जी०डी०ए०वी०कालेज में पढ़ा रहा था (कालेज स्कूल के ही एक विंग में चलता था), तब स्कूल की ओर से एकाएक किसी लड़के के चिल्लाने की आवाज आयी। देखा, लड़का नीचे गिर गया था और एक मास्टर साहब लगातार सपासप उस पर बेंत बरसा रहे थे। लड़का घिघिया रहा था। मैं पढ़ाते-पढ़ाते रुक गया। मन तीता हो गया। लगा, उस लड़के की चिल्लाहट मेरे भीतर भर गयी। तीस साल पहले का अपना स्कूल याद आ गया। मास्टर साहब से छूटकर लड़का उठ खड़ा हुआ। पहले तो रोने के क्रम में खड़ा रहा फिर गुस्से मे आ गया। बोला—"अभी जाता हूं पुलिस स्टेशन, तुम्हारे ऊपर पुलिस केस करूंगा।" न जाने क्यों, मुझे अच्छा लगा। तब हम लोग यह नही कह सकते थे किन्तु अब के बालकों मे प्रतिरोध करने की कुछ चेतना तो आ गयी है लेकिन क्या कह दिया उस लड़के ने? पुलिस स्टेशन? पुलिस स्टेशन क्या बचाव की कोई जगह है? पुलिस के सिपाहियों द्वारा लोगों को धुआंधार पिटते देखा है। क्या यह लड़का मास्टर साहब से पिटकर पुलिस स्टेशन जायेगा न्याय मागने? मै मुस्करा पड़ा। अनजाने इस लड़के ने स्कूल और थाने को एक साथ जोड़ दिया था।

मैं यह सब क्या कह गया? क्या मेरा ऐसा कोई दर्द है जो स्कूल का नाम आते ही फूट पड़ा और मैं उन गुरुओं के प्रति तिक्त हो उठा जिन्होंने मुझे गढा, शिक्षा की नींव बनाई और बहुत-से संस्कार दिये? हां, दर्द तो उभर आया लेकिन ह न उभरा होता यदि केवल मेरा रहा होता। यह दर्द आप सबका है, एक बनती हुई पीढी का है और उनका भी है जो बनते-बनते टूट जाते है, बिखर जाते है, बरबाद हो जाते है। लेकिन यह क पहलू है। कुछ ऐसी बातें है और इतनी बाते हैं कि स्कूल-जीवन की यादे आज भी मुझे तरोताजा कर जाती है। आखिर मेरा सब कुछ वहीं तो बना है। जहा मार खाई है, वहां प्यार भी तो मिला है; जहां मास्टरों की कामचोरी देखी है, वहा उनका निःस्वार्थ परिश्रम भी तो देखा है। आज जब शहरों मे मास्टर क्लास में इसलिए ठीक से नहीं समझाते कि लड़के उनसे ट्यूशन करायें और वे अलग-अलग या ग्रुपों में छात्रों को घर बुलाकर पैसा झाड़ने मे लगे होते हैं तब उस समय के ये मास्टर छात्रों को रात में भी पढ़ाते थे। दूर के मास्टर तो स्कूल पर ठहरने के कारण रात को बुलाते ही थे, पास के मास्टर भी कुछ दिनो के लिए स्कूल मे ठहर जाते थे ताकि रात को बच्चो को पढ़ा सकें। उन्हें पैसे की धुन नही थी। धुन थी कि उनके विद्यार्थी अच्छे अंकों से और अच्छी संख्या में पास हों। वे सचमुच अपने विद्यार्थियों की सफलता पर गर्व करते थे। वे पीटते भी थे तो इसीलिए कि बच्चे तेज हों, कोई मैल लेकर नही पीटते थे। यह और बात है कि पीट-पीटकर तेज बनाने के स्थान पर उन्हे पढ़ाई से ही विरक्त कर देते थे। रात की पढ़ाई का क्या दृश्य हुआ करता था। बीच मे एक या दो लालटेन और चारों ओर अंडाकार बैठे हुए हम लोग। हज-हज-हज-हज ''शोर उठता था। सभी लोग बोल-बोलकर पढ़ते थे और याद करते थे। अब आश्चर्य होता है कि यह सब कैसे हो जाता था। अब तो कमरे मे अकेले पढ़ रहे है, कोई कही से आवाज कर दे तो ध्यान टूट जाता

है। पढ़ते-पढ़ते नींद आ गयी तो अचानक पीठ पर प्रहार होता था। मास्टर साहब सोने से जगाने के लिए यही उपाय अपनाते थे। यह सोचकर भी बड़ा अजीब लगता है कि तब नींद से लड़कर पढ़ते रहना भी अध्ययन का प्रतिमान बन गया था। किशोरावस्था, दिन-भर की थकान, रात को स्वस्थ नींद आ जाये तो कोई अपराध है क्या ? हां, तब अपराध ही था लेकिन मास्टर के प्रहार से जागने के बाद विद्यार्थी के पल्ले क्या पड़ता था ? वह जोर-जोर से बोलकर पढने का अभिनय करने लगता था और धीरे-धीरे फिर नींद से बोझिल होकर किताब पर झुक आता था। मेरे साथ भी प्रायः यह होता था लेकिन मैं पढ़ने में अच्छा था, सब कुछ मुझे यों ही याद रहता था इसलिए सोने के लिए मैं कभी-कभी ही मूल्य चुकाता था। इस दबाव में सोना इतना मूल्यवान् हो उठता था कि इच्छा होती थी कब परीक्षा समाप्त होगी और कब रात को जी भर सोया जाएगा। रात की पढाई का क्रम दर्जा चार से लेकर दर्जा सात तक चलता रहा।

कह चुका हूं, स्कूल गांव से बहुत दूर नहीं था—इसलिए रात को स्कूल पहुंचना बहुत कठिन काम नही था लेकिन काफी दूर-दूर के गांवों के भी लडके आते थे या कुछ दिनों के लिए स्कूल मे या बिशुनपुरा गांव मे किसी के यहां ठहर जाते थे। गांव के हम कई मित्र थे। कपिलदेव थे, दीनानाथ थे, ब्रजनाथ भगवती थे, छेदीराय थे, काशीनाथ थे, जोखू तेली थे और रामनिधि थे। हम सभी लगभग साथ ही जाते थे। मेरे गांव से बिशुनपुरा जाने के दो रास्ते थे। एक रास्ता सीधा था, एक रानापार होकर जाता था। लेकिन दोनों रास्तों के बीच मे न जाने कितने भूत-प्रेत-चुडैल रहते थे। एक रास्ते में बड़ा बगीचा था जिसके कोनहवा पेड पर एक नट रहता था, उसके बाद राजा का पेड पडता था, उस पर एक भयानक प्रेत था, उसके बाद मलगा नाला था जिसमें अनंत बुड़वा और गड़ंत थे, उसके बाद कब्रिस्तान था जो मृतक आत्माओं का जंगल ही था। रानापार होकर जाने वाले रास्ते में भी खतरे थे। रास्ते के पास छोटा बाग पडता था जिसमें मलगड़ही नाम का पोखरा था। उसके पास बांस की कोठी थी। पोखरे में कई बुडवा थे, बांस की कोठी में तमाम चुड़ैलें थो और एक पेड़ पर भी कोई भगवती निवास करती थी। लोग बातें करते थे कि रात को बगीचे में सारी चुडैलें नाचती हैं। छम्म-छम्म की आवाजें आती हैं और कुछ प्रेत सारंगी तथा तबला बजाते हैं। रात-भर रास मचता है। कइयों का दावा था कि उन्होंने देखा है या सुना है। खुद पिताजी ने भी इस तरह के तमाम दृश्यों का साक्षात्कार किया था। रास्ते में और भी स्थान ऐसे थे जहां भूतों का डेरा था। हम लोग रात को स्कूल जाते डरते थे। आगे कौन चले इस पर बहस होती थी। बारी-बारी से हम लोग दल का नेतृत्व करते थे, एक आदमी हनुमान चालीसा पढ़ता था :

भूत पिशाच निकट नहिं आवै
महावीर जब नाम सुनावै

एक आदमी को गायत्री मंत्र आता था, वह उसे बुदबुदाता था—कभी-कभी सांप का भी डर सताता था तो हम लोग 'जय राजा जनमेजय' कह उठते थे।

हम लोगों का डर एक घटना से और गाढ़ा हो गया था। तब हम दर्जा पांच में थे। कनइल गांव से कुछ विद्यार्थी पढ़ने आते थे। कनइल बिशुनपुरा से दो कोस की दूरी

पर था। रास्ते में एक लम्बा-सा वीरान पड़ता था। वीरान में एक समेल था। उस पर एक बहुत जाबिल नट था। उसके बाद रानी की बारी पड़ती थी जो बहुत भुतही थी। उस रात हनुमान नाम का एक लड़का स्कूल पर आते ही अनाप-शनाप बकने लगा। लड़कों ने मास्टर साहब से शिकायत की। मास्टर साहब ने बुलाया, वह नहीं आया। मास्टर साहब झल्लाये हुए उसके पास गये, वह उन्हें देखकर हि-हि-हि-हि हंसने लगा और सिर मटका-मटकाकर उछलने लगा। उसकी आंखों में एक अजीब तरह का खोयापन अंटा पड़ा था। हनुमान बहुत शरीफ लड़का था। मास्टर साहब कुछ देर तक परेशान रहे फिर उन्हें कुछ शक हुआ। उन्होंने लड़कों को हुक्म दिया कि इसे पकड़ कर लिटा दो। स्कूल के तीन-चार पहलवान लडकों ने हनुमान को पकड़कर लिटा दिया। चारों ओर शोर हो गया कि हनुमान को भूत पकड़े है। हनुमान की दोनों बांहों को दो पहलवान दबाये थे और वह बार-बार दोनों को उठा देता था। मास्टर लोग जुट गये थे और बिकाऊ पंडित ने डांटकर पूछा—"बोल, तू कौन है?" हनुमान शरारत की हंसी हंसकर चुप हो गया।

"बोल, तू कौन है?" बार-बार बिकाऊ पंडित पूछते थे और हनुमान हि-हि हंसकर चुप हो जाता था।

"अच्छा तो देख तू भी क्या याद करेगा?" कहकर बिकाऊ पंडित महाविद्या का जाप करने लगे। कुछ देर बाद हनुमान चिल्लाया "नहीं-नहीं, मुझे जलाओ नही।"

"तो बता, तू कौन है?"

मंत्र बंद होते ही वह हें-हें करके हंसने लगता था।

"तो तू नहीं बतायेगा? तो ले।" फिर मंत्र जाप शुरू होता था।

"अरे मुझे मारो मत, बताता हूं, बताता हूं।"

"हां बता।"

फिर वही 'हें-हें' की हंसी।

"तू बड़ा शैतान मालूम पड़ता है। बहुत ढीठ और कमीना है तू। तू शराफत से नहीं मानेगा।" और पंडित जी लगातार मंत्र जाप करते चले गये। हनुमान चिल्लाता रहा। बहुत देर बाद हनुमान तड़पने लगा—"बताता हूं, मैं समेल पर का नट हूं।"

"तूने इसे क्यों पकड़ा?"

"इसने मेरी ओर मुंह करके पेशाब किया।"

"पेशाब करना कोई जुर्म है?"

"हां, है।"

"चोप, शैतान कहीं का!" पंडित जी गरजे, "इसे छोड़कर भाग।"

"हें ऊं ऊं! नही जाता।"

"नहीं जाता? जायेगा तो तेरा बाप।" कहकर वे फिर मंत्र पढ़ने लगे। हम लोग पंडित जी के आत्मविश्वास पर मुग्ध थे। वे मंत्र पढ़ते जाते थे, हनुमान चीखता जाता था। नट हनुमान को छोड़कर जाने का वायदा करके मंत्र को रोक लेता था और फिर बेशर्मी से नहीं कर देता था। इस बार पंडित जी नहीं रुके। मंत्र पढ़ते ही गये। हनुमान

अपने ऊपर लदे चार-चार छात्रों को उठा-उठाकर फेंकने की कोशिश करता रहा। चिल्लाता रहा—"छोड़ दूंगा, छोड़ दूंगा। अरे मार डाला रे, अरे बस कर, मैं जा रहा हूं, अरे मत जला, जा रहा हूं।" लेकिन पंडित जी धुआंधार मंत्र जाप करते जा रहे थे और थोड़ी देर में हनुमान धीरे-धीरे शांत हो गया। उसका चेहरा एक ओर को लुढ़क गया जैसे बहुत थककर शिथिल हो गया हो।

"हूं।" पंडितजी ने एक हुंकार भरी, "पाजी शैतान, बहुत ही कमीना था। बच्चो, इसे नहलाओ।"

हनुमान को नहलाया गया। वह आराम मे सो गया लेकिन हम लोगों को डर के मारे नीद नहीं आयी। डर था कि फिर न कहीं हनुमान उठकर चीखने-चिल्लाने लगे।

उस घटना मे हम लोग और भी भयभीत थे इसलिए रात को स्कूल जाते समय बहुत डर लगता था। और जब कोई लड़का पढ़ता था 'भूत पिशाच निकट नहिं आवै, महावीर जब नाम सुनावै' तो मेरे मन में एक आशंका बनी होती थी। जब खुद हनुमान को नट पकड सकता है तो इस नाम की महिमा कहां रही ? फिर भी डूबते को तिनके का सहारा था। एक रात हम लोग जा रहे थे। फागुन का महीना था। चारों ओर अरहर के सघन जंगल थे। भत-प्रेत का डर तो था ही, अरहर के जंगल में जानवरों की आशंका भी सिर उठाये रहती थी। हम लोग अपने उसी क्रम से डरते-ठमकते आगे बढ़ रहे थे कि अरहर के बीच में कुछ आहट हुई। हम लोग चौंककर खड़े हो गए। आगे-आगे मैं ही था। मैंने कहा—"कोई भागना मत। चलो, आगे चलते हैं।" डरते-डरते थोडा और आगे बढ़े, तब तक खांसने की एक विचित्र आवाज आयी। जब तक मैं पहचानूं यह आवाज कैसी है, किस प्राणी की है, तब तक मेरे पीछे भगदड़ मच गयी। "अरे भागो मत" कहता हुआ मैं भी भागने लगा। पीछे से किसी के पुकारने की आवाज आयी, फिर तो निश्चय हो गया कि भूत पुकार रहा है और एक-दूसरे पर गिरते-पड़ते हम लोग गाव में पहुंच गये। वहां पहुंचकर सुस्ताने लगे तब तक वह खांसी हम लोगों के सामने आ गई।

"अरे, तुम लोग भागे काहे को रे, यह तो मैं था। मैंने तुम लोगों को बुलाया भी लेकिन तुम लोग भागते ही चले आये।"

अब हम लोगो को मालूम हुआ कि ये मुरली भाई थे—संतू के चाचा। हम लोग हंसने लगे लेकिन अब अकेले स्कूल जाने की हिम्मत नही हो रही थी। फिर ब्रजनाथ के पिताजी हम लोगों को स्कूल छोड़ आये।

स्कूल में एक और डरावनी घटना घटती थी। मेरे दो सहपाठियों को मृगी आती थी। मृगी आते ही उनका ऐसा बुरा हाल होता था कि उन्हें देखकर हम सहम जाते थे। उनकी फटी हुई आंखें, कांपते हुए हाथ-पाव, मुंह से छूटता हुआ फेंचकुर यह सब हम लोगों को बड़ा डरावना लगता था, भूत का-सा भय चारों ओर व्याप्त हो जाता था। इसलिए रात को उनके पास सोने में लड़के डरते थे।

बचपन का यह भूतवादी संस्कार मन में कुछ ऐसा बैठ गया कि आज भी भूत

के सपने आते हैं। मैंने आज तक भूत का साक्षात्कार नहीं किया और मेरे बौद्धिक मन को भूत तो क्या ईश्वर की ही सत्ता में विश्वास नहीं है फिर भी अवचेतन में पड़ा हुआ बचपन का भूतवाद संस्कार चेतन के शिथिल होते ही जाग उठता है। मेरे पिताजी आविष्ट होते थे, उन पर गांव के दीक्षित बाबा (ब्रह्म बाबा), डीह राजा, शीतला माई आदि सवार होते थे। यानी उनका आविष्ट होना मेरे बाल मन पर यह प्रभाव जमाने के लिए काफी था कि देवी-देवता, भूत-प्रेत होते है। वे तरह-तरह की स्वानुभूत प्रेत घटनाएं भी सुनाया करते थे। वे कई भूतों से युद्ध कर चुके थे। मेरी सौतेली मां चेचक से मरकर शीतलादेवी की जमात में शामिल हो गयी थी, वे उन पर सवार होती थीं। दीक्षित बाबा उन पर सवार होते थे। वे बहुत चमत्कारी देवता है। एक बार पिताजी चार बजे सवेरे कहीं से लौट रहे थे कि घंटहवा पीपल के नीचे भूतों से पाला पड़ गया। वे सब घेरकर खड़े हो गये और सुरती मांगने लगे। उन्हें लगा कि आज जान गयी कि उन्होंने दीक्षित बाबा का स्मरण किया। तब तक देखते क्या हैं कि सोने की खड़ाऊं पहने हुए, हाथ में सोने का डंडा लिए हुए एक देव मूर्ति उड़ती हुई आई और आवाज लगायी—"कौन है रे जो मेरे भक्त को सता रहा है?" भूतों में भगदड़ मच गयी। वे यह कहानी प्रायः सुनाते थे और घंटहवा पीपल का डरावना माहौल और भी डरावना हो उठता था। घंटहवा पीपल भगड़ा नाले के पास स्थित था। वहां मृतक आत्माओं के घंट बंधते थे। हमेशा उसकी डालों में दो-चार घंट लटके ही रहते थे। एक तरह से वह श्मशान भूमि था। भगड़ा नाले में न जाने कितने बुड़वे रहते थे। उधर बुड़वे, इधर घंटहवा के नीचे प्रेत। वह माहौल अजीब भयकारी था और हम लोग उधर दिन को भी अकेले निकलने में डरते थे। लेकिन यह भी विडम्बना थी कि वह जगह ऐसी थी जहां न चाहने पर भी कभी-कभी जाना ही पड़ता था। अपने खेत थे उधर। खेत देखने के लिए तो जाना ही पड़ता था। लेकिन फसलों के मौसम में उतना डर नहीं लगता था। फसलों की हरियाली और गुंजान उस माहौल के डरावने सन्नाटे को काफी कुछ काट देता था, तिस पर आसपास के खेतों में काफी लोग दिखाई पड़ते थे। किन्तु फसल-विहीन दिनों में या अरहर की फसल होने के दिनों में और बरसात में वह माहौल भयंकर हो उठता था। बरसात के दिनों की भयंकरता सबसे अधिक होती थी किन्तु बरसात में ही उधर जाने की अनिवार्यता सबसे ज्यादा हो उठती थी। बाढ़ के दिनों में जब सारा कुछ डूब जाता था तब ऊंचाई पर स्थित होने के कारण घंटहवा पीपल के आसपास की जमीन सूखी पड़ी होती थी और लोगों को फारिग होने उधर ही जाना पड़ता था। मुर्दे वहीं फुंकते थे। मुर्दे वैसे तो राप्ती नदी के तट पर फुंकते थे किन्तु बाढ़ के दिनों में तो राप्ती गांव के पास ही बहने लगती थी, इसलिए इस पीपल के नीचे ही फूंके जाते थे। मेरे सामने मेरे ही घर के दो मुर्दे फूंके गए थे—बाबा का और दादी का। उनके फूंके जाने का दृश्य मेरे बाल मन में एक डरावना बिंब बनकर जम गया था। कई मन लकड़ी के नीचे लाश को दबाना, उसमें आग लगाना, जल कर लाश का विकृत हो उठना, फिर बांस से पानी में ढकेला जाना और बड़े-बड़े कछुओं द्वारा लाश के अवशेष को ले भागना···। न जाने क्यों लाश मेरे लिए लाश न लगकर एक जीवित

व्यक्ति लगती थी और लगता था कि उसकी दुर्दशा की जा रही है और न जाने कब उस व्यक्ति में मैं शामिल हो जाता। और कुल मिलाकर यह पूरा परिदृश्य मुझे भीतर तक दहला जाता। अब घंटहवा पीपल नहीं है, न जाने कब का उजड़ चुका है लेकिन उसने जो भय पैदा किया वह जीवित है बल्कि कई गुना बढ़ गया है। हां, परिदृश्य बदल गया है—पूरे समाज और देश में जगह-जगह घंटहवा पीपल दीख रहे हैं जिन पर मरे हुए मूल्यों, संवेदनाओं और सम्बन्धों के घंटे टंगे हुए हैं और नीचे जातिवाद, क्षेत्रवाद, स्वार्थ, हिंसा के भयानक भूत अट्टहास करते हुए तांडव कर रहे हैं और तमाम जीवित इंसानों की भूखी-प्यासी और डरी आंखों की हंसी छिन गयी है। पीपल का भूत तो अरूप है और मेरे अवचेतन में है किन्तु ये भूत तो ठोस है और जीते-जागते इंसानों के सिर पर हैं।

मैं भय की बात करते-करते कहां चला गया ? लेकिन गया कहां, अभी तो उसी के बीच हूं। मनोवैज्ञानिकों के लिए वह एक आंतरिक बुनियादी सत्य हो सकता है किन्तु मेरे लिए तो वह अपने छोटे से लेकर बड़े समाज तक, भीतर से लेकर बाहर तक, मन की भूख से लेकर पेट की भूख तक, स्कूल की पिटाई से लेकर पुलिस की पिटाई तक फैला हुआ एक जीवित सत्य है जो अपने आधार के अनुरूप रूप धारण करता रहता है किन्तु वह समूचा जीवन नहीं है—न मेरा, न किसी का। उसके साथ जुड़े हुए न जाने कितने और संदर्भ हैं जिन्होंने जीवन की और वास्तविकताओं को खोला है। मुझे लगता है जीवन सुख या दुःख का कोई सीधा हिसाब नहीं है यानी यह तय नहीं है कि सुविधाओं या असुविधाओं के इन अंकों के जोड़ या गुणनफल के रूप में सुख या दुःख की शक्ति या अशक्ति की इतनी ही संख्या बनेगी। यदि ऐसा होता तो मैं पता नहीं कब का समाप्त हो गया होता और लाड़-प्यार और सुविधाओं में पले कितने लड़के क्या कुछ नहीं बन गये होते ! मेरे पास क्या था—एक अभावग्रस्त टूटा-फूटा घर, कर्ज में डूबे मा-बाप और नौकरी के लिए दर-दर भटकते और बीमार पड़ते बड़े भाई। पास में न किताब होती थी, न फीस-माफी होने पर भी गेम-फीस के पैसे। मुझे याद है कि एक बार एक पैसे फीस की अदायगी नहीं हो पायी थी। शिक्षक ने घर भेज दिया। पिताजी के पास पैसा नहीं था। मैं जिद पर आ गया और उन्होंने खरहर लेकर खदेड़ दिया। मैं भाग चला। जब कभी यह घटना याद करता हूं तो पिताजी की मजबूरी पर दिल भर आता है। अब सोचता हूं तब क्या था अपने पास—नंगे पाव, फटे-पुराने कपड़े, आधा पेट मोटा-सोटा भोजन। कभी-कभी सोचता हूं कैसा लगता रहा हूंगा उस समय। उस समय की फोटो होती तो अपने उस रूप को निहारता। लेकिन फोटो होती कैसे ? खैर, छोड़िए। हां, कह रहा था, क्या था अपने पास लेकिन बहुत कुछ तो था। अपने अभावों के बीच जीने की उमंग थी, हंसी थी, खेल था, खेतों, खलिहानों, मौसमों, पर्वों, मेलों, हटियों से गहरा भीतरी लगाव था, विद्या के प्रति अनुराग था, क्या नहीं था ! (और सच बात तो यह है कि उस समय अपने अभावों का इतना बोध भी नहीं रहा होगा जितना अब है)। याद हैं गर्मियों के दिन। मार्च लगते ही स्कूल का समय बदल जाता था यानी पूरे दिन का स्कूल सुबह से दोपहर तक हो जाता था। वैसे तो मुझे सारे ही

महीने प्रिय रहे हैं किन्तु फागुन और चैत मुझे बेहद प्यारे लगते रहे हैं। फागुन की बात फिर कभी करूंगा, फिलहाल चैत की बात। चैत में फसलें कटकर खलिहान में आना शुरू हो जाती हैं और साथ ही फसलों की दवाई प्रारम्भ हो जाती है। हम खलिहान में ही सोते थे। चैत की रात और खासकर चांदनी रात का क्या कहना ? खलिहान के दोनों ओर पाकड़ के दो बड़े-बड़े पेड़ थे, अब भी हैं। एक के नीचे डीह राजा का स्थान है, एक के नीचे बरम बाबा का। दोनों ओर देवत्व का पहरा। नवरात्र में देवताओं की सवारियां निकलती है। रात को कोई ओझा-सोरवा पचरा गा रहा है और रात उसकी लय में कांप रही है। कहीं नगाड़ा बज रहा है, कहीं औरतें देवी का गीत गा रही हैं। उधर वंशी भाई चैता का राग छेड़ देते है—वाह-वाह, क्या दर्द है गीत में और कंठ में भी। नवरात्र की थरथराहट में एक थरथराहट और मिल जाती है। लगता है प्रेम और पूजा की रागिनियां आपस में लिपटी हुई दूर सिवानों तक चांदनी में बही जा रही हैं। थोड़ी देर के लिए एक चुप्पी छाती है तो पाकड़ पर से कोयल पुकार उठती है—कुऊ—कुऊ—। खलिहान में दो-दो, चार-चार की संख्या में लोग यहां-वहां एकत्र होकर गप-शप कर रहे हैं, सुख-दुःख का आदान-प्रदान कर रहे है, गा रहे हैं, वाह-वाह कर रहे हैं। ठंडी-ठंडी हवा बह रही है और बगीचे में से तरह तरह के पेड़ों के फूलों की गंध मतवाली-सी घूम रही है और धीरे-धीरे एक अलमस्त नीद का आलम छा जाता है। चैत की खुमार-भरी ठंडक का आनंद ही और होता है, वह अब कहां मिलता है. लेकिन उन दिनों इतना बटोर लिया था कि अब तक समाप्त नहीं होता। उसी अलमस्त नीद मे से उठकर लोग खलिहान में मुंह लगाये पशुओं को खदेड़ते थे। रात-भर एक तरह से जागृति पहरा देती थी। अलमस्त नींद से उठ-उठकर पशुओं को खदेड़ना बड़ा अखरता था किन्तु खलिहान में सोने का मतलब केवल अलमस्त नींद लेना नही होता, कर्त्तव्य की चेतना भी उससे जुडी होती है। सवेरे-सवेरे और भी खुमारी-भरी नींद आती थी। ब्रह्म-मुहूर्त की पछिया हवा में एक अजीब मादक ठंड होती थी लेकिन ठीक उसी समय दंवरी नाधने के लिए जागना पड़ता था। जागते ही पाकड़ों के लाल-लाल पत्ते आंखों मे भर जाते थे। पाकड़ की डाल-डाल पर गुंथे हुए लाल पत्तों की सघन भीड़ अपनी आभा मेरी आंखों मे भर देती थी और कटे हुए खेतों का खुलापन सामने बिछा होता था जिसमें सवेरे-सवेरे छोटे-छोटे बच्चे गिरी हुई बालें बीन रहे होते। मैं भी बीनता था। बीनने के बाद जो अन्न बनता था उसके पैसे निजी पैसे होते थे इसलिए इस कार्य में बच्चो को सुख मिलता था। हां, रामनवमी का मेला पास आ रहा है न, उसके लिए कुछ इतजाम होना ही चाहिए।

तरकुलही का मेला चैत का एक खास आकर्षण होता था। यह मेला रामनवमी से शुरू होकर पूर्णमासी के बाद तक चलता था। और कलकत्ते तक से दुकानें आती थीं। इस मेले के लिए पहले से बड़ी तैयारियां होती थीं। साल-भर का मिर्च-मसाला यहीं से खरीदा जाता था। तरकुलही देवी की तमाम मनौतियां इन्हीं दिनों पूर्ण की जाती थीं, धार्मिकता के नाम पर घर की बहू-बेटियों को मेला करने की छूट होती थी। बच्चे मिठाइयां खरीदने के लिए खेतों में से बालें बीन-बीन कर पैसों का जुगाड़ कर लेते थे।

इस मेले में जाने का अपूर्व उल्लास होता था। गांव से छः-सात मील की दूरी पर स्थित इस मेले में पहुंचने के लिए दो बजे रात को ही हम लोग चल देते थे। रात को काफी अच्छी ठंडक होती थी। उस ठंडक में थोड़ा-थोड़ा सिहरते हुए हम लोग सुबह-सुबह तरकुलही देवी के मेले में पहुंच जाते थे।

तब मेरे लिए वही परदेश होता था। गांव से बाहर की सारी दुनिया परदेश ही लगती थी और मेले में जाने का भाव परदेश में जाने का भाव होता था और कितनी ऐसी नयी चीजों का साक्षात्कार करता था जो हमारे गांव में नहीं थीं। गांव से दो मील की दूरी पर नदी है। नदी से तो पुरानी पहचान है ही। यद्यपि वह हमारे गांव के पास नही बहती है (वैसे मन होता कि काश, गांव से सटकर बहती तो कितना मजा आता, गर्मी की दोपहरियों में घंटों नहाता, नाव खेता, घाट पर बैठकर आते-जाते हुए तमाम रंग-बिरंगे लोगों को देखता) किन्तु बाढ़ के दिनों में तो गांव के बाहर का सारा जगत् नदी ही बन जाता। वहां चौधरी साहब की छावनी दिखती जिसमे पानी का पाइप लगा होता और पानी अपने-आप फूटकर उनके खेतों में फैलता होता। वहीं एक बगीचा था जिसे गदुरहिया बारी (बाग) कहते थे। उसके पेड़ों की डालियों से अनंत गादुर उलटे लटके होते, वह अद्भुत दृश्य होता। फिर राजी आता, वहां अपने इलाके के सबसे बड़े जमीदार बाबू चन्द्रभानसिंह की कोठी दिखाई पड़ती—चांदनी के श्वेत विस्तार के बीच सोये हुए वैभव की तरह लेकिन भिनसार की उस बेला मे एक खुशबू जागकर कोलाहल मचाती रहती, वह खुशबू थी कटहल और महुए की। सड़क के दोनों ओर दो फलांग तक बाबू साहब के कटहलों के पेड़ थे जो अपनी मादक सुगंध से रात के उस अंतिम पहर को उन्मत्त बना देते। दूर से ही मालूम पड़ता कि कटहल के पेड़ों की पंक्ति आ रही है। फिर आसपास के कटे खेतों के बीच महुए के पेड़ खड़े होते, उनकी सुगंध कटहल की सुगंध से मिलकर न जाने कैसा-कैसा उन्मत्त आह्लाद मन में भर देती।

फिर जंगल पड़ता। जंगल क आते ही मेरी चेतना कुछ और हो जाती, कल्पना जाग्रत् हो जाती और वह जंगल के भीतर शेर चीता, सूअर, भालू और न जाने क्या-क्या देखने लगती और एक रोमांच से पुलकित हो जाती। जगल के भी कई रंग थे—एक जंगल था साखू के बड़े-बड़े पेड़ों का, एक था छोटे-छोटे बिखरे पेड़ों और झाड़ियों का। दो मील का रास्ता जंगल में से ही गुजरता था। एक ओर परेन नदी (एक बड़ा नाला कहिए) बहती थी, दूसरी ओर जंगल था। दोनों के बीच से रास्ता जाता था। नदी जंगली होने के कारण अद्भुत काली थी। उसमें तेज बहाव नहीं था, एक गहरा ठहराव हर जगह लक्षित होता था। लोग कहते थे कि इसमें कई जमकातर (पाताल तक की गहराई वाले जल-गर्त) है। एक बार जो उनकी लपेट में पड़ता है बाहर नहीं निकल सकता। और मैं जगह-जगह देखने की कोशिश करता कि जमकातर कहां-कहां हो सकते हैं। नदी के किनारे फैले हुए छोटे-छोटे पेड़ और सघन जंगली झाड़ियां परेन को और भी भयानक रूप प्रदान करते थे। इनके पत्ते झड़-झड़कर परेन में गिरते थे और सड़ते थे। परेन के पानी से एक दुर्गंध उठती रहती लेकिन मेले के समय लोग इसी में दातुन-कुल्ला करते, नहाते और इसे पीते भी।

मेले में पहुंचने का बोध बहुत रोमांचकारी होता। काफी विस्तार में फैला हुआ मेला। पहुंचते ही सबसे पहले सुनाई, फिर दिखाई पड़ता हरिजनों का नृत्य—डह-डह, डग-डग, डह-डह, डग-डग—हुडुक्क, झाल और मृदंग के ताल पर नचनिया नाचता होता। नीचे किसी मनौती मानने वाली स्त्री का आंचल बिछा होता, उस पर घूम-घूमकर नचनिया थिरकता होता। सामने परेन नदी, एक ओर देवी तरकुलही का मंदिर जिसमें मिट्टी के हाथी-घोड़े पर सवार देवी मूर्तियां, बीच में नाच और पास ही रक्त-रंजित भूमि पर तड़पते हुए या तड़प कर शांत हो गये हुए बकरों के मुंड। मुझे तो देवी के मंदिर के पास आकर मातृत्व की शांत वत्सलता के स्थान पर उनके कोप का भय अधिक अनुभव होता। लगता कि वे मां नहीं, शासिका हैं।

छनछनाती हुई कड़ाहियां, रंग-बिरंगे कपड़े पहने घूमते लड़के-लड़कियां, मर्द-औरत, जमींदार-किसान, शोहदे-गुंडे, शरीफ, चर्खी, बाइस्कोप, नौटंकी, तरह-तरह की दूकानें, छुरियां लेकर घूमतीं और किसी से उलझी ईरानी लड़कियां, यह सब मेरे लिए एक नया संसार होता। वहां से सरदार साहब के मिल की चिमनी दिखाई पड़ती जिसे नजदीक से देखने की हसरत मन में होती। गाड़ी की सीटी सुनाई पड़ती और सोचता कैसी होती है रेलगाडी, काश, कभी उस पर चढ़ पाता।

धीरे-धीरे धूप तेज होती, हवा गरम होती-होती उद्विग्न होकर बहने लगती। धूल-धक्कड़, धूप की चिपचिपाहट और गर्मी से भरे हुए मेले में वारदातें होतीं—कहीं कोई भूला हुआ बच्चा रो रहा है, कहीं कोई लड़की रो रही है, कहीं कोई किताब बेचने वाला मुसकराकर गा रहा है:

चलेली बहुअरि मेला करे
झगरि-घरे
सासु-ससुरक कहलो न मानें
मरदाक बतिया कइली
एंड़ी के तरे

या

फैसन में रहे फूंकि
अपने बाप की कमइया

उस समय आर्य समाज का बड़ा जोर था और आर्य समाजी नैतिकता से प्रेरित ये गीत बहुत अच्छे लगते थे। धीरे-धीरे मेला घूमने का उत्साह थकावट और उदासी में बदल जाता था। थककर चूर पांव जब गांव की ओर लौटते थे तो उनसे चला नहीं जाता था लेकिन फिर अगले साल के मेले की प्रतीक्षा उसी उत्सुकता से होती थी।

मैं कहां-से-कहां चला गया। बात करने जा रहा था स्कूल जीवन की और चला गया मेले की ओर। मगर मैं करूं क्या? मैंने कहा था न कि यह एक वर्तुल जिन्दगी थी जिसमें तमाम चीजें एक-दूसरे में समाई हुई थीं, जिन्दगी खानों में बंटी हुई नहीं थी। लीजिए साहब, मैं फिर आ गया स्कूल की ओर। सवेरे-सवेरे दंवरी नध जाती थी। कुछ देर तक मैं भी हांकता था। पिताजी होते, हलवाहा होता, मैं होता, मझले भाई

रामनवलजी होते। हम दोनों पढ़ते थे—एक साल आगे-पीछे की कक्षाओं में थे। हम लोग दंवरी का काम छोड़कर घर जाते, कुछ बासी खाना होता, बड़े चाव से खाते, फिर स्कूल चले जाते। स्कूल दोपहर को छूटता। बच्चे घर की ओर भागते। बलबलाती हुई धूप में नंगे पांव भागते हुए पहले हम लोग पकरडीहा के आम के एक पेड़ के नीचे थोड़ा ठहरते। यह पेड़ राजा नाम के एक व्यक्ति का था और उस पर टिकोरे लदे होते। ढेलों, डंडों की बौछार उस पेड़ पर शुरू हो जाती। उधर मालिक पक्ष से लाठी लेकर कोई दौड़ा लेता, हम लोग जल्दी-जल्दी कुछ टिकोरे बीन-बान कर भाग खड़े होते और बड़की बारी (जो हमारे गांव का आमों का बाग था) में ही आकर रुकते। यहां आकर आश्वस्त और निर्भय हो जाते। यह तो अपने गांव का बगीचा है, यहां हमारा कोई क्या कर लेगा ?

इस बगीचे में एक पड़ाव पड़ता। भूख लगी होती लेकिन उससे पहले चिक्का खेलना जरूरी होता। यह रोज का कार्यक्रम था। जिस दिन कुछ बच्चे उत्साह में न होते उस दिन मैं उदास हो जाता और हाथ जोड़कर उन्हें खेलने के लिए राजी करता। दो घंटे तक खेलते। प्यास लगती तो पास के कुएं पर जाकर पानी पी लेते। मन में अद्भुत स्फूर्ति और उत्साह होता, भूख गायब रहती, खेल समाप्त होने के बाद ही भूख लगती। नंगे पांव, नंगे सिर हम घरों को भागते और खा-पीकर थोड़ा आराम करते, फिर खलिहान की ओर निकल जाते, दंवरी में नधने के लिए। जिस दिन छुट्टी होती, उस दिन हम लोग कई मित्र एकत्र होकर दोपहर में ताश खेलते। ताश खेलना यों ही वर्जित मान लिया गया है और बड़े चाहे स्वयं कितना ही ताश खेलते हों यह उनका नैतिक कर्त्तव्य है कि छोटों को खेलने से रोकें और ताश खेलने से उत्पन्न होने वाले दोषों के प्रति सचेत करें। किन्तु मुझे ताश खेलने मे कोई बुराई नही दिखाई पड़ती थी क्योंकि मैं पढता भी था, घर का काम भी करता था और खेलता भी था। ताश को भी खेल में ही शुमार करता था लेकिन बच्चों की क्या मजाल जो बड़े लोगों के नैतिक निषेधों का निषेध करे और उन्हें अपना पक्ष समझायें। इसलिए हम लोग बगीचे में या किसी के भुसौले मे या वीरान जगह पर छिपकर ताश खेलते थे।

वैसे खेलों की क्या कमी थी, बस मन मे हुलास चाहिए और हुलास अपने मन मे बहुत था। चिक्का-कबड्डी, ओल्हापाती, गुल्ली-डंडा, गोली, चिल्होरिया रवे-रवे आदि आउटडोर खेलों से लेकर ताश, बाघागोट्टी, लपकी-झपकी आदि इनडोर खेलों तक अपनी रुचि और सक्रिय भागीदारी थी। इसके अतिरिक्त कुश्ती मे भी खूब दिलचस्पी थी। मैं अपने समकालीनों से प्रायः लडाया जाता। पहलवानों की तरह देह के पालन-पोषण के लिए कुछ प्राप्त हो, ऐसा तो कभी नही हुआ, रूखा-सूखा खाकर पलने वाली देह मे केवल उमंग थी, मिट्टी के स्पर्श से प्राप्त होने वाली ताकत थी और गृहकार्यों से प्राप्त परुषता थी। इस बल पर हम पहलवान बने फिरते थे और अपने साथियों से लडा दिये जाते थे। कभी उन्हें पटकते थे, कभी पटका जाते थे। पटका जाने पर मैं रोता था। हार की पीड़ा मुझे बहुत सालती थी, सालती है। लेकिन उसी क्षेत्र की हार सालती है जिसमें अपनी रुचि हो, गति हो, अधिकार हो, बाकी की चिंता नहीं करता, हंस-

कर टाल जाता हूं। मेरा पेशा अध्यापन का है। लोग कहते हैं—मुझे अब तक क्या-से-क्या हो जाना चाहिए था, कम-से-कम प्रोफेसर तो हो ही जाना चाहिए था लेकिन नहीं हुआ तो कोई अफसोस नहीं सालता। रीडरशिप और प्रोफेसरशिप के कई-कई इंटरव्यू दिये, कई-कई बार असफल हुआ लेकिन इस हार से मैं आहत नहीं हुआ क्योंकि कैरियर के प्रति मेरी गहरी रुचि कभी नहीं रही। लेकिन जब साहित्य-रचना के क्षेत्र में अपनी उपेक्षा, अपने प्राप्य की प्राप्ति में असफलता अनुभव करता हूं तो गहरी पीड़ा होती है क्योंकि साहित्य-रचना मेरे आंतरिक धर्म से जुड़ी है। वह मेरी गहरी और मूल आकांक्षा तथा साधना है। उस समय एक बार पहलवान बनने की इच्छा हुई थी। बाकायदा अखाड़े में जाता था, लड़ता था, दांव सीखता था और कान तोड़वाने के लिए कान पर घिस्से मारता तथा मरवाता था लेकिन कमबख्त काम नहीं टूटे। आज यह सोच-सोचकर राहत मिलती है कि अच्छा हुआ कान नहीं टूटे। टूटे होते तो मैं कैसा दिखता? मैं विद्वानों और कवियों की सभा तथा अपनी कक्षाओं में कैसा लगता?

कान तो नहीं ही टूटे, मैं दांव-पेच भी नहीं सीख पाया। लगता है मैं किसी भी क्षेत्र में दांव-पेच नहीं सीख सका, नहीं सीख सकता। कुश्ती में अपनी ताकत का प्रयोग करता रहा और जिस किसी को पकड़ता उसे मरोड़कर गिरा देता। वह व्यक्ति निकलने के लिए और दांव-पेच लगाने के लिए तडपता लेकिन मैं निकलने न देता और फिर वह व्यक्ति दुबारा नहीं लड़ता, वह मुझे अनाड़ी समझता और सचमुच ही मैं अनाड़ी रह गया। साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में कितने नये-नये दांव-पेच पैदा हुए। बिना अपनी ताकत के ही खिलाड़ी लोग दांव-पेच लगाते रहे और दूसरों को चित करते रहे, लगातार नये-नये पैंतरे सीखते रहे, और मैं बुद्धू की तरह अपनी मिट्टी से पाई हुई ताकत का ही लगातार इस्तेमाल करता रहा, उसी के भीतर से रूप की सादी भंगिमा उभारता रहा, और अनाड़ी कहलाता रहा। अपनी नीयत और अनुभूति के विपरीत कुछ कर गुजरने का हौसला शायद मुझे कभी रास नहीं आया और जो मुझे रास नहीं आया वह दूसरों को रास आने की खातिर कर गुजरूं, ऐसी जवांमर्दी का कायल मैं कभी नहीं हो सकता।

3

स्कूल की पढ़ाई, गृहकार्य, खेलकूद, पहलवानी की बात करते-करते साहित्य की बात चल पड़ी तो जरूर साहित्य को कहीं इनके बीच ही होना चाहिए। और जब साहित्य इनके बीच है तो यह बात भी समझ में आती है कि क्यों मेरे साहित्य में तमाम रूप-रंगों, कथ्यों और शाब्दिक भंगिमाओं की कल्पना की जरूरत कम पड़ी। मेरे लिए तो मुख्य रचनात्मक समस्या यह रही कि अपने आसपास के जगत् की अनुभूत सच्चाइयों, गहरी जान-पहचान में उभरे अनंत पात्रों और उनकी जीती-जागती भाषा को कैसे सहेजूं,

उनका कैसे रचनात्मक इस्तेमाल करूं ? मेरे लिए साहित्य एक सचेत अवस्था में पूरी तैयारी के साथ किया गया सफर नहीं था, बल्कि बचपन की अबोध अवस्था में ही उपजा हुआ एक अज्ञात बेचैनी था जिसे आसपास का जगत् उत्तेजित करता लगता था। मुझे मां और बाप से भावुकता मिली थी। गाता, बजाता था, सैलानी मुद्रा में खेतों में घूमता था। मुझे बचपन से ही प्रकृति अच्छी लगती थी, उसके विविध रंगों का बोध मेरी चेतना पर अपनी छाप छोडता था। भीतर कुछ था कि मैं बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में गीत लिखने के लिए बेचैन हो उठता था। जब भी कोई गीत सुनता, मन कहता, क्या तुम ऐसा गीत नहीं लिख सकते ?' और मैंने कई बार कोशिश की। एकाध पंक्ति उभरी, फिर नहीं उभरी। [कुछ लोगों ने नुस्खा सुझाया कि बगीचे में एकांत में बैठकर सोचो, अपने-आप कविता आ जायेगी। वह भी किया। नहीं आयी। फिर प्रयास छोड दिया, लेकिन मन के भीतर तड़प की यात्रा चलती रही। लोक-गीतों की पंक्तियां मेरे भीतर बजती रहीं और बार-बार चुनौती भी देती रही कि काश, मैं भी ऐसा लिख पाता ! लोक-परिवेश के विविध रूप-रग मेरे भीतर उतरते रहे और मैं उनके भीतर उतरता रहा।

एक बार मैंने बंधुवर शमशेर जी से बातचीत में कहा था, "समझ में नहीं आता कि चित्रकार हुसेन चलते तो कार पर हैं लेकिन पांव नंगे होते हैं।" शमशेर जी ने जो उत्तर दिया वह शहरी लोगों के लिए भले ही चमत्कारी लगे, मेरे लिए तो मजाक ही लगा। उन्होंने कहा था कि "वे अपने पांवों की खुली अंगुलियों से जमीन का स्पर्श कर उसकी सवेदना ग्रहण करते हैं।" पता नहीं हुसेन शहर की कांक्रीट की सड़कों पर पांवों की अगुलियों से कौन-सी संवेदना ग्रहण करते हैं और यदि करते हैं तो कितनी प्राप्ति होती होगी। आखिर अन्य सारी इन्द्रियों को बन्द रखकर केवल पांव को खुला रखकर संवेदना बटोरने के पीछे क्या तर्क हो सकता है ! हुसेन बड़े चित्रकार हैं, उनमें संवेदनाओं की कमी नहीं है, अतः मैं नहीं मानता कि वे पांव से संवेदना ग्रहण करने के लिए नंगे पांव चलते हैं (यह शमशेर जी की प्रतिभा का विश्लेषण हो सकता है)। बड़े लोगों की बड़ी बातें होती हैं। उन बड़ी बातों में ही एक बात यह भी है कि चलेंगे कार में लेकिन पांव में जूता या चप्पल नहीं पहनेंगे। कपड़ों, बालों, दाढ़ी आदि का एक खास फैशन ये बना लेते है। नंगे पांव चलना भी इनके लिए एक फैशन है।

लेकिन नंग-धड़ंग रहना हम लोगों के लिए फैशन नहीं था, वह अपनी नियति थी, मजबूरी थी। और यदि हुसेन नंगे पांवों की अंगूलियों से संवेदना ग्रहण करते हैं तो हम लोग अनेक नंगी इन्द्रियों से बाह्य जगत् की संवेदना की चोट ग्रहण करते थे। अंग-अंग खुला था और बिना किसी वर्जना के प्रकृति और समाज के जीवन-यथार्थ की सीधी टकराहटें झेल रहा था। आंख, कान, जिह्वा, नाक, हाथ, पांव सभी गतिशील थे और उनकी गति का रास्ता अपने पूरे परिवेश से होकर गुजरता था। इसलिए आंखों को पता था कि सुख-दुःख से भरी आंखों और चेहरों के कितने रंग होते हैं। विभिन्न ऋतुओं और स्थानों पर धरती के कितने रंग होते हैं, विभिन्न मौसमों में पानी और वनस्पतियों के कितने रंग होते हैं। नाक जानती थी कि मिट्टी की गंध की कितनी पर्तें होती हैं।

हाथ-पांव कठोर-कोमल कर्मों के स्पर्श से परिचित थे।

बाढ़ आती थी। बाढ़ के आने के परिणाम से हम लोग अपरिचित हों ऐसा तो नहीं, लेकिन जब बाढ़ आ ही जाती थी तो रो-रोकर झींकने के स्थान पर उसका साक्षात्कार करते थे। भगड़ा नाले का बांध टूटते ही रात में गांव एक हाहाकार में डूब जाता और पिताजी वेदना से कहते—"बांध टूट गया है।" बाढ़ का पानी गांव के भीतर नहीं आता था। राहत के लिए इतना भी कम नहीं था। सवेरे उठकर देखते थे कि गरम-गरम मटमैला पानी हाहाकार करता हुआ बाहर के पोखरों, तालों, तलैयों को डुबोता हुआ खेतों में फैल रहा है। हम लोग खेतों की ओर चल पड़ते थे। बाढ़ की धारा के तेज स्पर्श का अपना एक आनंद था। उस आनंद के साथ एक आश्वस्ति मिली हुई थी कि ये समतल जाने-पहचाने खेत हैं, हम डूबेंगे नहीं। और तैरना भी तो आता है। तैर कर बाढ़ से बचने की शिक्षा भी बाढ़ के पानी ने ही दी। गांव के बाहर एक समतल जगह पर पिताजी मुझे तैरना सिखाते थे। बहुत-से लोग सीख रहे थे। और बड़ी मुश्किल से मैं तैरना सीख पाया और जब सीख पाया तो मेरी उमंग की सीमा नहीं रही। बहुत मजा आने लगा। रामेश्वर भाई के घर के पास से एक छोटा-सा नाला बहता था जो पोखरी में मिल जाता था। मैं मझले भाई के साथ वहीं तैरने लगा। पानी तेज था तो भी हम लोग इस पार से उस पार, उस पार से इस पार होने लगे। सावधानी बरत रहे थे कि पोखरी की ओर न जाने पायें लेकिन सावधानी के बावजूद पानी की तेज धार एक बार मुझे पोखरी की ओर ढकेल ले गयी। मझले भाई खिलाड़ी थे। वे धारा से थोड़ा अलग हटकर तैरने लगे और उसकी पकड़ से छूट गये। मैं धारा के ठीक विपरीत तैर कर किनारे आने की कोशिश करने लगा लेकिन मेरे छोटे-छोटे हाथों की अपेक्षा धारा की विशाल पकड़ बलवान थी। अतः मैं लगातार पोखरी की ओर ठिला हुआ जाने लगा। मैं तो बदहवास हो गया। रामेश्वर भाई के दरवाजे पर बैठी एक बूढ़ी औरत चिल्ला उठी—"अरे लड़का डूबा।" वहीं काम कर रहा संतू नामक उनका हलवाहा चौंका, मुझे देखा और छपाक से पानी में कूद पड़ा। तैर कर आया और झपट कर मेरी कलाई पकड़ी और धुआंधार हाथ-पांव मारता हुआ मुझे किनारे खींच ले गया। बच्चा था तब उससे कुछ कह नहीं सका, जब समझदार हुआ और उसके प्रति कृतज्ञता का मुझे अहसास हुआ तब संतू जवानी में ही दुनिया से जा चुका था। यह घटना न संतू को याद रही होगी (क्योंकि यह उसके लिए एक मामूली काम था) न और किसी को लेकिन मुझे याद है। लगता है संतू उस समय न रहा होता तो शायद मैं भी न रहा होता और वह एक छोटी-सी अनजान घटना एक बड़ी घटना बन गयी होती। मैं भीतर ही भीतर संतू के प्रति एक कृतज्ञता का बोझ लिए जी रहा हूं।

बाढ़ तो कछार के जीवन का एक अंग बन गयी थी। कितने दृश्य मेरे अनुभव बनकर मेरी जिन्दगी में पड़े हैं। गांव और स्कूल के बीच लगभग आधा मील की दूरी है। बाढ़ के दिनों में लंगोटा पहन लेते थे और बस्ते के साथ पहनने के कपड़े सिर पर लाद लेते थे और बिला नागा स्कूल जाते थे। कहां-कहां कम पानी है, इसका पता हमें होता था। इसलिए पानी हल कर हम लोग उसे पार कर लेते थे। बाजार गांव के जीवन का

एक अहम हिस्सा होता है, उसे लगना ही होता है। अतः पानी में डूब जाने के बाद गांव के भीतर बाजार लगता था। स्कूल के बाद हम बाजार में पहुंचते थे। बरसात के दिनों में बर्रे के झुंड गुड़ और मिठाइयों की दूकानों के ऊपर उड़ते रहते थे और उन्हीं में मिल जाती थीं हम लोगों की कई जोड़ी ललचायी आंखें। भूख लगी होती थी मगर खायें क्या ? पैसे तो पास होते नहीं थे और हमारे अभिभावकों के पास ही क्या होते थे जो हम लोग मांगते। तमाम लोग घर का खर्च चलाने के लिए गेहूं, जौ, चावल आदि खरीदने आये होते। इसके लिए न जाने वे क्या-क्या बेचकर जोगाड़ करते थे। कहीं से कर्ज लेते थे, कहीं जेवर बंधक रखते थे। कहीं खेत रेहन पर चढ़ाते थे। इन्हीं अभिभावकों में से मेरे पिताजी भी थे। कुछ लोग कुछ खरीद पाने में समर्थ हो जाते थे, बाकी लोग यों ही घूमते थे और खाली हाथ लौट जाते थे।

अभावों का एक बजबजाता सन्नाटा चारों ओर फैला होता लेकिन उसी में कजली के गीत उभरते थे, नागपंचमी का त्योहार अपने पूरे उल्लास के साथ उमड़ता था। चिक्का-कबड्डी, कथा-कहानी, गीत-संगीत सभी बदस्तूर चलते रहते। बाढ़ न आयी हो तो बगीचों में, अन्यथा घरों मे ही झूलों की बहार आयी होती।

जिस साल बाढ़ न आयी होती उस साल फसलों का क्या कहना ? रिमझिम-रिमझिम बादल बरसते होते, पुरवा हवा चलती होती और धान-कोदों के, मक्का-बाजरे आदि के खेत अपनी अलग-अलग तरह की हरियालियां उड़ाते झूमते होते। सोहनी चलती होती, मजूरनों के कंठों से कजली के गीत उड़ते होते। हम लोग भी खेतों में निराई करते। खेतों में से निकली हुई घास का गट्ठर लाकर मलगड़ही के किनारे पटक देते। उसे धोते और फिर मलगड़ही में कूद पड़ते। घंटों नहाते। पत्थर फेंक-फेंककर डूब-डूबकर उसे खोजने का खेल खेलते। कितनी तृप्तिदायक घड़ी होती थी वह ! उसके आगे-पीछे अभावों से लदा भूत-भविष्य नही होता था। केवल वर्तमान होता था, जो अपने पूरे होने के सुखमय बोध के साथ हमारे भीतर भर जाता था। नहाकर पानी से भरी पगडंडियों पर छप-छप पांव रखते घास के साथ घर पहुंचते थे। उन घासों की गंध और हरियाली का दबाव अभी तक महसूस होता है।

मक्के के खेतों का अनुभव ही अलग था। मचान पर चढ़ना-उतरना और वहीं से वर्षा का आनंद लेना कितना बड़ा सुख था ! मक्के के खेतों में ककड़ी की लताएं फैली होती। ककड़ी और फूट की महक उठती रहती। तोड़कर लाते, मचान पर बैठकर खाते। हवा के झोंकों के साथ फसलें बजती रहतीं। घाम-छाह का मनोहर खेल चलता रहता। कभी-कभी जब भादों की चौवाई बहती तो रुकने का नाम ही नहीं लेती। मचान पर बैठे-बैठे उसके गीले झोंके झेलते रहते और नंगे बदन थर-थर थर-थर कांपते रहते। रोम-रोम जैसे पावस के ग्रहण के लिए खुला रहता।

एक घटना याद आ रही है। एक बार डीह पर के खेत में मक्का बोया गया था। डीह भी एक विचित्र स्थान है। वहां से कितने ही मिथ जुड़े हुए हैं। वह कई गांवों के बीच सुनसान में स्थित एक टीला है। उस टीले पर एक छोटा-सा झंखाड़ था। टीले पर ही दीक्षित बाबा का थान है। दीक्षित बाबा बहुत बड़े बरम (ब्रह्म) माने जाते

थे। वे रक्षक थे—यानी भयनाशक। टीले के नीचे एक पोखरा था। और जहां पोखरा हो वहां बुड़वों का अस्तित्व न हो, असंभव है। पोखरे के पास सेमल का एक वृक्ष था जो भूत-घर होने के लिए कुख्यात था। उस पोखरे से लेकर कई गांवों के बीच की दूरी तमाम भूत-कथाओं से भरी थी। डीह पर ही एक बावड़ी थी, ठीक मुक्तिबोध के ब्रह्म राक्षस की बावड़ी जैसी। इसलिए दीक्षित बाबा के होने के बावजूद मुझे डर लगता था। यहीं मेरे बाबा ने रात को बनैले सूअर को मारा था और अनेक घटनाएं घटी थीं।

मैं अकेला मचान पर बैठा-बैठा डरता रहता। अगर ऊपर से कोई बडा पंछी उड जाता तो मैं सिहर जाता—लगता यम का दूत किसी प्राणी का प्राण चोंच में दबाये हुए उडा चला जा रहा है। ऐसी अनेक कहानियां सुनी थी इसलिए लगता कि सारी कहानियां मेरे आसपास साकार हो रही हैं।

'पूऊ' ! मैं कांप गया।

फिर दूसरे किस्म की बोली आयी। मैं हिल उठा। लगा कि आज मैं जान में फंसा। मैं दीक्षित बाबा को मनाने लगा—"दोहाई दीक्षित बाबा की, इस आयी हुई मुसीबत को टालो।"

तब तक पास हंसने की आवाज आयी। मैं एकदम चौंक पड़ा और लगा जैसे सन्न से मेरे प्राण उड़ जाएंगे।

"अरे ई त हम हईं रे।"

मैंने देखा—टीमल भाई थे। टीमल नामी शैतान थे। मैं उनसे बहुत डरता था। लेकिन आज उन्हें देखकर लगा कि कोई देवता आ गया है।

"आइए टीमल भाई, आइए बैठिये, मचान पर आ जाइए।"

और वे आ गए।

"अरे तुम्हारी कांकरि तो खूब फली है रे।"

"हां-हां, टीमल भाई, खाइए न।" और मैं मचान पर से उतरकर अच्छी-अच्छी कांकरें तोड़ लाया। टीमल भाई ने छककर खाया। थोड़ी देर बाद कहा, "अच्छा, अब चलता हूं रे।"

"अरे जल्दी क्या है, बैठिये न। और कांकरि खाइए न।"

"अरे नहीं, अब बहुत हो गया। अब कल फिर।"

"हां, कल फिर आइएगा, आते रहिए। और हां, जरा घर से किसी को भेज दीजिएगा।"

"अच्छा, तू डरता है क्या रे ?" उसने भांप लिया।

मैंने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"दुत मरदवा, डरने की कौन-सी बात है। अरे, वह सेमल देखते हो न। उस पर का नट अपने को बहुत जाबिल समझता था। एक दिन रात को मैं आ रहा था। साला सुरती मांगने लगा। मैंने कहा—'भाग साले।' वह लड़ पड़ा। मैंने भी उसे इतना पटक-पटककर मारा कि वह भाग खड़ा हुआ। फिर मैंने उससे कहा—'देख, आज से डुमरी गांव के किसी आदमी से मत उलझना और तू यह भी जानता है कि दीक्षित बाबा

हमारे गांव के देवता हैं, उनका सुमिरन कोई कर लेगा न तो वे अपनी छड़ी से तेरी खाल खींच लेंगे।' "

मैं हल-हल हल-हल कांपने लगा। टीमल ने देखा तो हंस पड़ा, "अरे, तुम तो दीक्षित बाबा की गोद में बैठे हुए हो, किस साले भूत-परेत की हिम्मत है कि यहां आयेगा। डर लगे तो गाना गाओ। हां।"

टीमल भाई चले गये और मैं दीक्षित बाबा की गोद में होकर आश्वस्त नहीं था। लगता था जैसे इतनी सारी बुरी शक्तियों के बीच में दीक्षित बाबा अकेले पड़ गये हैं। वे कहां-कहां जायेंगे, किसे-किसे बचायेंगे? यदि यह सही होता तो उनके आसपास इतनी अपशक्तियों को होने की हिम्मत कैसे होती?

टीमल भाई रोज आने लगे। जैसे मैं उनका इंतजार कर रहा होऊं। छककर कांकरि खाते और अब तो मैं उन्हें भुट्टे भी देने लगा। जैसे सहअस्तित्व का प्रश्न बन गया। टीमल को कुछ खाने को और मुझे भूत से बचने के लिए एक नर भूत चाहिए था।

क्या यह स्थिति आज हमारी जिन्दगी का सत्य नहीं बन गयी है? हम एक नकली भय मे बचने के लिए असली भूतों से समझौता कर लेते हैं। समाज, राजनीति, धर्म सभी जगह तो एक टीमल है जो पहले भय को बढ़ाता है फिर सहायता देने के बहाने साथियों को खाता-पीता है। कहीं नेता बाहरी हमले का भय दिखाकर जनता को डराता है, फिर कहता है कोई बात नहीं, हम तो हैं ही। फिर देश को खाता है। ज्योतिषी, तांत्रिक आदि ग्रहों का भय दिखाते हैं; फिर कहते हैं कोई बात नहीं, हम तो है ही ग्रहों को शान्त करने वाले। फिर वे जजमान को जी भर खाते हैं। वैद्य, हकीम, डाक्टर, वकील सभी पहले केस को सीरियस बनाते हैं फिर केस वाले को खाते हैं।

बरसात की रातें गांव में बहुत डरावनी होती हैं। शाम से ही एक मोटा अंधेरा चारो ओर बिछ जाता है जिसके नीचे मेंढकों की मोटी टर्राहट और झींगुरों की नुकीली झनकार के ताने-बाने पर अंधेरा एक अप्रिय संगीत बुनता रहता है। पानी बरसता होता है तब तो रात और भी भयावनी हो जाती है। कछार के गांव में तो बरसात की रात अधिक ही भयानक होती थी। कुछ ही घर ऐसे रहे होंगे जो चूते नहीं रहे होंगे। चूती हुई छत के नीचे खाट को यहां से वहां और वहां से यहां सरकाते रहने में ही रात बीत जाती थी। भखे, नंगे बदन पर छत से टपकती बूंद छन्न-छन्न लगती थी। पानी की छुवन के कितने रूप-रंग होते हैं, कितनी अलग-अलग संवेदनाएं होती हैं, इसकी पहचान मुझे बचपन में ही हो गयी थी। फिर सांपों का बोलना, सांप के मुंह में फंसे चूहे या मेंढक का रिरियाना, किसी सांप काटे आदमी के घरवालों का चिल्लाना, दीवारों का अरराकर गिरना, कहीं किसी चोर का कूदते-फांदते भागना, कितना कुछ होता था रात के साये में। बरसात की रात हमारे लिए एक विचित्र संक्रांत बिंब बनकर आती थी। इस ख्याल से भादों का महीना बड़ा ही भयावना होता था। भय की सीमा इतनी बढ़ जाती थी कि क्वार की आहट मिलते ही मन हलका हो उठता था। नदियां अल्हड़ता से उड़ते हुए अपने आंचल समेटकर सौम्य-शांत बन जाती थीं, आकाश में बादलों का

उत्पात थम जाता और धरती नहाकर निकली हुई-सी साफ-सुथरी सामने बिछ जाती थी। मक्के की बालों की रंगत धूप में अलगनी पर टंग जाती थी और रामलीलाओं की प्रतीक्षा में घड़ियां महकने लगती थीं। और त्योहारों का सिलसिला शुरू होता था। दशहरा, दीवाली, भइया-दूज, गोवर्धन-पूजा, कार्तिक पूर्णिमा, पिड़िया आदि अनेक त्योहारों के उल्लास से लदी-फदी शरद ऋतु धरती की हरी-भरी फसलों के अपार विस्तार में समा जाती थी और लगता था कि मेरा मन इन ऋतुओं का पर्याय बन गया है।

हर ऋतु का अपना संगीत था, अपनी लय थी, अपनी महक थी और अपनी पीड़ा थी। किन्तु शरद और बसंत की लय का जवाब नहीं है। भोर होने से काफी पहले हम लोग बैलों का सानी-पानी कर देते थे। फिर सवेरे-सवेरे हलवाहे के साथ हेंगा या बीज लेकर खेत में पहुंचते थे। शरद की भोर में इन जुते हुए खेतों की खुशबू और चारों ओर फैलती जीवन की उष्मा का क्या कहना? धूप कड़ी होने से पहले ही 'हर हर महादेव' का नारा लगता था तो ज्ञात होता था कि खेत की बुवाई हो गयी। यह नारा चारों ओर एक लय बनकर फैल जाता था। लेकिन क्वार की धूप का अपना दंश भी तो कम नहीं। न जाने कितने लोग मलेरिया की पकड़ में आ जाते थे। बिना दर्द के सुन्दरता कैसी? शरद के आते ही आज भी मेरी आंखों में धूप में रस्मी पर टंगी मक्के की लाल-लाल बालियां भर उठती हैं, अलगनी पर सूखते घराऊ रेशमी कपड़ों की एक खास तरह की गंध मेरे घ्राण में भर जाती है और रामलीला से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक के त्योहारों का संगीतात्मक कोलाहल मेरे भीतर बज उठता है। त्योहार अभावों से भरे सामाजिक जीवन में जीवनी-शक्ति फूंक देते थे। दशहरा, दीवाली, भइया-दूज, गोवर्धन-पूजा जैसे बड़े त्योहार, पिड़िया जैसे औरतों के छोटे त्योहार—सबसे हम लोगों का बहुत गहरा अपनापन था। हम जैसे इन त्योहारो का इतजार करते थे, इनकी प्रतीक्षा संघर्षों और अभावों से लगातार चोट खाती देह में मरहम की तरह पुतती रहती थी और एक हलकी खरोंच लिए दिन हंसते-हंसते बीत जाते थे।

इन त्योहारों से जुड़े हुए कितने चेहरे थे—अपनी मां, पिता, भाई, बहन और गांव के हमजोली, चाचा-चाची, दादा-दादी। चेहरों का समूह था और हर चेहरा अपने में अलग था। हर एक की अपनी खास पहचान थी। विभिन्न संदर्भों में विभिन्न चेहरों की अहमियत बढ़ जाती थी और उनके साथ हमारे आनंद का रूप बदल जाता था। पड़ोस की एक चाची थीं, वे अंधी थीं। भइया-दूज के दिन सरापने का रिवाज था। हमारे यहां भइया-दूज और गोवर्धन-पूजा एक ही दिन होता था। दोनों पर्याय हैं। ये चाची सरापने में माहिर थीं। ये उस दिन की कप्तान हुआ करती थीं। सरापने का मतलब था सारे घरों के मुखिया लोगों की मौत की मनौती मानना। विश्वास था कि इसका उलटा असर होता है। गोबर बटोर-बटोरकर एक जगह गोवर्धन की शक्ल बनायी जाती। वहां मोहल्ले की सारी औरतें और बच्चे एकत्र होते। औरतें सराप का गीत गातीं और पूजा करतीं। इसके बाद गोवर्धन को काटने का रिवाज होता। गोवर्धन से गोबर काटकर गोला बनाकर खलिहान की राशि में डालते हैं। विश्वास है कि इससे

राशि में बरकत होती है। जो सबसे पहले गोवर्धन काट लेगा, उसे अधिक बरकत मिलेगी। पूजा की सामग्री में और तमाम चीजों के साथ झरबेर और भटकटैया का कांटा भी होता है। चाची खास आकर्षण की चीज होती थीं। पूजा गीत पूरा भी नहीं हो पाता था कि कोई लड़का लपककर गोवर्धन काट लेता था और कांटा चाची के आगे फेंक देता था। फिर तो गीत छोड़-छाड़कर औरतें गोबर पर टूट पड़ती थीं और चाची ज्यों ही गोबर पर झपट्टा मारतीं, कांटा उनके हाथ में आ जाता और फिर तो वहीं बैठकर काफी देर तक हाथ उठा-उठाकर उस लड़के के परिवार वालों को सरापतीं जिसका नाम बता दिया जाता। सब लोग चले जाते लेकिन वे नहीं। वे काफी देर तक कांटों की चुभन लिए गालियां देती रहती और हंसी का प्रवाह बहता रहता। लेकिन मुझे लगता है कि चाची के सरापने में मंगल-कामना की जगह कांटे की चुभन से उत्पन्न तिक्तता भी शामिल हो जाती। लोग सराप की रस्मी आवाज को सुनकर मजा लेते रहते किन्तु उस सराप के पीछे निहित उस अंधी चाची के कंटक-चुभन की पीड़ा को नहीं पहचान पाते। मेरे बाल मन को हर त्योहार के उल्लास के पीछे सन्निहित कुछ अमानवीय कृत्यों की पीड़ा सालती रही है। और अब तो त्योहार अपने सहज उल्लास छोड़कर प्रतिशोध-शोधन के निमित्त बनते जा रहे है। तब प्रतिशोध नहीं था, महज एक आह्लाद था किन्तु उस आह्लाद के लिए हम किसी को चोट पहुंचा रहे हैं यह सोचने-समझने की जरूरत न थी और न सजगता। वह सब एक सहज आवेग में होता था किन्तु अब तो खूब सोच-समझकर पूरी योजना के साथ प्रतिशोध की तैयारियां होती है।

जाड़े का अपना रंग था। वह रंग हमारा रंग बन जाता था। हमारे गांव के चारों ओर खेतों का विस्तार धीरे-धीरे बचपन पार करता हुआ जब जवानी पर आता था तो अनेक रंगों के बुदबुदों से गुथी हरियाली का समुद्र बन जाता था। उसमें हम बहते थे, डूबते थे, उतराते थे। रातें भीगे भारी लिहाफ-सी गांवों को ढक लेती थीं। पुआल पर पसरकर लोग रजाई के नाम पर गुदड़ी ओढ लेते थे और किस्से-कहानियां कहते-कहते सो जाते थे। धीरे-धीरे रात कटती थी, धूप खिलती थी और धीरे-धीरे उष्म होकर गुनगुने जल की तरह पूरे वातावरण को धोकर चमका देती थी। हमारी रग-रग गाय के धारोष्ण दूध की तरह धूप पीती थी और देखते-देखते प्रकृति और मानव-मन की सारी चुप्पी टूटकर एक मुखर गति बन जाती थी। हमारे पास पहनने को सूती कपड़े होते थे। पांव में जूते नहीं थे और रात को स्कूल में कंबल ओढते थे लेकिन तब तो इस अभाव की कोई कल्पना ही नही होती थी। जितना था वही बहुत कुछ लगता था।

जाड़े के महीने में गांव में अभाव का अपना जलवा होता है। लोग धुएं के धक्के को आंखों में झेलते हुए भी आग की गर्मी को सीने से चिपकाये रहना चाहते हैं। सहज री में देश-जहान की न जाने कितनी बातें उठती-गिरती रहती थीं, कितने सुख-दुःख, कितनी निन्दा-प्रशंसा के स्वर बिखरते रहते थे। न जाने कितनी जानकारियां अलाव के माध्यम से गांव में फैलती थीं। अनेक गांवों के बीच डीह पड़ता है। अपने खेतों की

रखवाली के सिलसिले में कई गांवों के लोग वहां अलाव के आस-पास एकत्र होते थे और भकुरहा के हजारी पांडे की लंतरानियां, किस्से, कहानियां और कविताएं आंच की गरमी में उठती रहती थीं। मैं उनकी प्रतिभा से चकित हो जाता था। कहां-कहां से ये इतनी सामग्रियां लाते हैं। ठेठ गांव के अपढ़ आदमी, गांव की ही सीमा में रहने वाले। निश्चय ही ये चीजें उनके भीतर ही बनती होंगी। आज लगता है कितना बड़ा कलाकार पांडे के भीतर था और उचित माहौल के अभाव में एक सीमा मे बन्दी बनकर रह गया। मुझे लगता है कि मेरे भीतर सोये हुए सर्जक को अनजाने ही हजारी पांडे भी छेड़ने थे, उकसाते थे। गांव में न जाने कितनी ऐमी प्रतिभाएं है जो अपने को ठीक से पहचाने बिना ही चली जाती है या पहचानती है तो उन्हें विकसित होने का अवसर नही मिलता।

बिकाऊ पंडित की बात पहले कर चुका हूं। एक दूसरी प्रतिभा पं० गणेशदत्त मिश्र 'मदनेश' थे। मदनेश जी हमारे गांव के पास के गांव रानापार के थे। उनके बारे में सुनता था कि वे कवि है, पंडित हैं लेकिन कभी उनके संपर्क में नही आया था। एक बार उन्हें कुछ निकट से पहचानने का अवसर मिला था। जब मैं दर्जा चार मे था तो वे एक दिन टहलते हुए स्कूल में आ गये और मास्टर साहब के आग्रह पर कोर्स मे लगी मैथिलीशरण गुप्त की कविता 'नर हो न निराश करो मन को' पढ़ाने लगे। उस तरह कविता का पढ़ाना पहली बार देखा था और उनकी उस समय की तन्मयता और रसज्ञता की छवि आज तक मन पर अंकित है।

दर्जा छः मे रहा हूगा। एक सहपाठी ने बताया कि उसके गांव का अमुक लडका तो कविता करता है। न जाने क्या हुआ कि मेरे भीतर एक ललकार-सी उठी। मै बोल उठा, मैं भी कविता लिख सकता हूं। कई वर्षों से मैं जिस सर्जनात्मक दबाव का अनुभव कर रहा था, वह उस दिन एक ललकार पाकर अभिव्यक्त हो उठा। उसी दिन बिशुनपुरा के बगीचे में कांग्रेस की सभा थी, उसी को केंद्र मे रखकर एक राष्ट्रीय कविता लिख मारी। और फिर सिलसिला निकल चला। एक बेचैनी का आलम मेरे भीतर तारी हो गया। किताबें पढ़ने के साथ-साथ कविता लिखने के लिए अनमनी मुद्रा में रहने लगा। जब कई कविताएं लिख चुका तो किसी ने सुझाव दिया कि ये कविताएं 'मदनेश' जी को दिखाऊं। मैं संकोच के साथ उनके पास गया। उस समय वे खेत में थे। उन्हें खोजता हुआ खेत में पहुंचा। जाकर उन्हें अपना परिचय दिया। आने का उद्देश्य बताया। जब वे मेरी कविताएं देख रहे थे तो मैं डर रहा था कि कहीं वे उन्हें उठाकर फेंक न दें और कहें कि ले जाओ अपना कूडा-करकट। लेकिन देखा उनकी बाछें खिलती गयी और पढ़कर बोले—"अच्छा, बहुत अच्छा। बहुत अच्छी प्रतिभा है तुम्हारे भीतर। बहुत अच्छा लिखोगे।" मैंने राहत की सांस ली। वे मेरे साथ ही अपने घर आये और सुकवि की कई प्रतियां दीं और बोले—"ये कविताएं पढ़ो, इनसे तुम्हें कुछ मिलेगा।"

मदनेश जी सनेही स्कूल के कवि थे। उन्हीं की परंपरा में मजी हुई घनाक्षरी और सवैये लिखे हैं जिनका केन्द्रीय स्वर प्रकृति और प्रेम है। और अन्य छंदों में देश

और समाज-सुधार सम्बन्धी कविताएं भी लिखी हैं।

मैं कविताएं लिखता गया, उन्हें दिखाता गया, वे सुधारते गये। मुझे छंद का ज्ञान होता गया और शुरू के तीन-चार वर्षों में ही मैं अनेक वर्णिक और मात्रिक छंदों का ज्ञाता तथा प्रयोक्ता बन गया।

अजीब नशा होता है कविता का भी। दिन-रात कविता का नशा मुझ पर सवार रहता था। हम रात को स्कूल में पढ़ने जाते थे तो सारे लड़के जब अपना कोर्स याद करते मैं कंबल में छिपकर कविताएं लिखता था। यह तो अच्छा था कि मेरी स्मरण-शक्ति अच्छी थी और क्लास मे ही सारी चीजें ग्रहण कर लेता था और पढ़ाई-लिखाई में मै सबसे आगे था, नही तो कविता का नशा तो मुझे बरबाद ही कर बैठा होता यानी फेल कर बैठा होता। पढ़ने मे अच्छा था अतः मास्टर लोग मुझे बहुत मानते थे। इसलिए जब उन्होंने जाना कि मैं कविताएं लिखता हूं तो पढ़ाई-लिखाई के नाम पर मुझे डाटा नही, वल्कि प्रोत्साहन दिया।

उन दिनों के काव्य-सृजन में एक अद्भुत मिठास अनुभव करता था। आसपास के परिचित विषयों, प्रकृति की छवियों और कुछ कैशोर भावों की खुशबू मन में उतरती थी जा छन्द में ढल जाने के लिए तड़पती थी और मुझे तड़पाती थी। मैंने सन् '37 में हिन्दी मिडिल पास किया, '38 मे उर्दू मिडिल पास किया। इसी अवधि में ढेर सारी कविताएं लिखी और एक राष्ट्रीय नाटक भी लिखा। कुछ कविताएं गोरखपुर से निकलने वाली पत्रिका 'ब्राह्मण' में छपी। उस छपने के सुख की अनुभूति अनुपम थी। मैं अपने भीतर फूला-फूला फिरता था और समझता था कि लोग मुझे महत्त्व देने लगे हैं, मैं स्कूल और गाव के लोगों की दृष्टि में कुछ विशिष्ट हो गया हूं। रचना वैशिष्ट्य देती है, अस्मिता देती है, इसका अनुभव तभी होना शुरू हो गया था।

4

गृह-कार्य, पढ़ाई और मस्ती का जो संयोग हम लोगों के जीवन में था वह अब गांवों के सम्पन्न वातावरण में दुर्लभ होता जा रहा है। मैं और मझले भाई रामनवल जी स्वभाव में अन्तर होते हुए भी हमजोली थे, साथ-साथ सुख-दुःख भोगना, काम करना, खेलना-कूदना, गाना-बजाना, मेला-हटिया करना हम लोगों का जीवन-कार्यक्रम था। हमारे साथ गांव के अनेक मित्र थे जो परिवार के सदस्य की तरह ही थे और जो बड़े होने पर पारिवारिक राजनीति के कारण शत्रु बन गए। हम लोग मौसम से लड़ते भी थे और उसके साथी भी थे। जाड़े के मौसम में अभाव और सन्नाटे से लड़ते भी थे और खेतों की हरियालियों के बीच बहते भी थे, सपने भी देखते थे। तीसी, मटर, सरसों के रंग-बिरंगे फूलों के प्रवाह में बहकर आंखें अघाती नहीं थीं। खेतों के काम से बहुत सुबह नंगे पांव ही निकल पड़ते थे। पांवों की उंगलियां ठंडी भीगी जमीन के स्पर्श से

परपरा उठती थीं; सूती कपड़ों से ढके शरीर अपने को सिकोड़कर आगे लुढ़कने लगते थे। लेकिन यह कोई निर्जीव व्यापार नहीं था, विराट् समाज की सामूहिक जिन्दगी की हलचल के बीच तकलीफ कुछ अजनबी नहीं लगती थी। चार बजे औरतें बरतन मलने लगती थीं। मां चक्की पर बैठकर उसकी घुर-घुर की आवाज के साथ करुण गीत गाने लगती थी जिसकी उदास पंक्तियां थम-थमकर फूटती थीं और भीगी रात के सन्नाटे को और भी भारी कर जाती थीं। सिंचाई का काम शुरू हो जाना था, लोग एक-दूसरे को आवाज देते थे और नंगे पांव, सूती कपड़ों में लिपटे गड़ही के पास के बोदर पर खड़े होकर सिंचाई के लिए पानी निकालते थे—छपा छप'''छपा छप। जाड़े की इस उदास भोर में जीवन का संगीत बजने लगता था। हम भी उस संगीत के एक अग बन जाते थे और ज्यों-ज्यों जाड़े की धूप उभरने लगती, हमारी इंद्रियां खुलने लगतीं और रग-रग में एक सुखद गरमाहट पसर जाती। कितना प्यारा अनुभव होता था इस धूप का ! यदि जाड़े की रात की पिछली घड़ी की ठंडक और शीत की परपराहट से इंद्रियां तिलमिलाती न होतीं तो यह धूप भी इतनी प्यारी न लगती। धूप चढ़ने के बाद अपने-अपने घरों के अगवारे-पिछवाड़े निकल आए उन लोगों को देखता जो रोगी थे। उनकी पीली दुबली देहें धूप में जमी होतीं, उनकी बांहों में गंदी ताबीजें पड़ी होतीं और वे अपने गंदे कपड़ों से चीलर निकाल रहे होते। लगता था कि वे धूप का आनंद नहीं ले रहे हैं बल्कि धूप में अपने को सहने योग्य बना रहे हैं। मुझे लगता था हमारे समाज के तमाम सुविधाभोगी लोग ऐसे ही रोगी हैं जो धूप का आनंद लेने के लिए तैयारी नहीं करते, जो धूप की गुनगुनाहट तक पहुंचने के लिए शीत की कटकटाहट से नहीं गुजरते बल्कि धूप को एक बने-बनाए माल की तरह पा लेते हैं और जैसे रजाई और गरम कपड़ों से लदे हुए जाड़े की रात काटते हैं उसी प्रकार धूप में आकर धूप काटते हैं। धूप और शीत उनके लिए अलग-अलग दो बिन्दु हैं, एक प्रक्रिया से जुड़ी हुई माला की रेखा नहीं। धूप के अनेक रंग होते हैं, अनेक स्पर्श होते हैं, अनेक प्रभाव होते हैं। इनकी पहचान वही करता है जो धूप को विभिन्न मौसमों की छांह से जुड़ा हुआ देखता है।

मौसम के शीत और धूप की बात करते-करते हमारे जीवन की धूप-छाह उभर आयी। हमारी पारिवारिक जिन्दगी मे गांव की तमाम जिन्दगियों की तरह अभाव का सीलन-भरा सर्द मौसम जमा हुआ था। यों हमारी मानसिकता इस प्रकार की थी कि हम उसी में धूप की कल्पना कर लेते थे किन्तु कल्पना तो कल्पना ही होती है न, ठोस स्थितियों से उत्पन्न धूप की अनुभूति ही और होती है। बड़े भइया रामअवध मिश्र घर की सीलन को काटने के लिए कितने बेचैन थे, इसकी मात्र कल्पना कर सकता हूं। उर्दू मिडिल पास करने के बाद नौकरी की तलाश शुरू हुई। रांची गए, कुछ दिन तक भाग्य की आजमाइश की। फिर घोर बीमार होकर लौट आए। घर पर सामान्य देहाती दवाएं होती रहीं। बच गये। पथ्य के लिए कोई पौष्टिक चीज मिलना कहां मुमकिन था। बेड़े में फली हुई भिण्डी तोड़-तोड़कर खाते थे और उसी भिण्डी ने उनकी रक्षा की।

स्वस्थ हुए तो स्कूल मास्टरी के लिए गए, कई बार गए। नहीं लिए गए। फिर

फुफेरे भाई बब्बन तिवारी उन्हें अपने साथ कलकत्ता ले गये। छः-सात महीना वहां का दंड भोगने के बाद घर लौट आये—बीमार-बीमार से। घर के लिए कुछ न कर पाने की असहायता उनकी आंखों से झांकती रहती। वे जाल में पड़े पंछी की तरह तडफड़ाते, जाल टूटने के आसार नजर नहीं आते थे। कुछ दिनों के लिए गन्ने के सीजन में सरदार नगर की गन्ना मिल में उन्हें कार्य मिल गया। वह एक बड़ा सहारा बना। अपने लिए कम-से-कम खर्च करके घर के लिए बचत करते थे जिमसे उनका दुर्बल शरीर और भी दुर्बल हो गया किन्तु मन घर के लिए कुछ पाने के भाव से थोड़ा स्वस्थ हो गया।

याद है वह साल। वह घोर अकाल का वर्ष था। कछार में न पशुओं के लिए चारा था न मनुष्यों के लिए भोजन। लोग बांगर पर जाकर अरहर के खेतो में झरे हुए पत्ते बटोरते थे या जगल के पेड़ों के पत्ते तोड़ते थे और तिजहर के समय मोटरी बांधे हुए उदास-उदास भूखे पेट घर लौटते थे। सरदार नगर मिल मे गधक मिला चोटा (जो पशुओ के काम आता था) एक पैसा कनस्तर मिलता था। लोग कई-कई मील से वहां जाते थे और कनस्तर उठा-उठाकर लाते थे तथा रोटी के साथ या शकरकंदी के साथ खाते थे या शर्बत बनाकर पीते थे। सरदार नगर मिल से लेकर कछार के गांवों तक लोगो की कतार लगी हुई थी। भइया इसी विषम वर्ष मे वहां नौकरी करते थे। वे हर शनिवार को घर आते थे और अपने साथ गुड़ या राब लाते थे। लेकिन सीजन आफ होते ही फिर वे बेकार हो गये और फिर नौकरी की तलाश में भटकने लगे। कुछ दिनों के लिए गांव के चचेरे भाई कल्पनाथ मिश्र (जो बस्ती में ठेकेदारी का काम करते थे) के साथ काम किया किंतु सफलता वहां भी नहीं मिली।

बरही के बाबू चन्द्रभान सिंह हमारे जवार के बहुत नामी और प्रतिष्ठित जमीदार थे। उनके यहां मेरे बाबा काम कर चुके थे। वे कई बार पिताजी से कह चुके थे कि अपने बेटे को मेरे यहां भेज दो। भाई साहब को पता नही उनके यहां की नौकरी से भीतर-भीतर कैसी चिढ थी कि सुन-सुनकर अनसुनी कर देते थे।

गाव में एक ज्योतिषी आया। उसने भइया की कुडली देखी। उसने बहुत निर्भय भाव मे घोषणा की कि यह लड़का दुनिया में चारो ओर घूम आएगा, कुछ नहीं पाएगा; आखिर गांव के पास ही इसे कुछ मिलेगा। और जब बाबू चन्द्रभान सिंह ने फिर पिता जी से कहा तो भइया उनके यहां काम करने को तैयार हो गये।

उनकी नियुक्ति बाबू साहब की छावनी लक्ष्मीगज मे हुई। वहां एक मुशी जी तहसीलदारी का काम करते थे, उनकी देखरेख मे वे भी काम सीखने लगे। भइया बताते हैं कि शुरू-शुरू में उन्हें दरबारी लोगो का कितना उपहास, उपेक्षा और बेरुखी बर्दाश्त करनी पड़ी। यही नही उनके गंवई किसानी सादे संस्कार को दरबारी सभ्यता और चाल-ढाल से शुरू में लगातार चोट लगती रही, वे तिलमिलाते रहे, चुपचाप सभी कुछ देखते और सहते रहे लेकिन धीरे-धीरे सब सामान्य होता गया। याद नही है कि तहसीलदार मुंशी जी मर गये या काम छोड़ दिया, उनके हटते ही भइया तहसीलदार बन गये और एक दिन जब पिताजी लक्ष्मीगंज से लौटे तो उनकी कमर में कई सौ रुपये बंधे थे। चांदी के वे रुपये कमर से निकालकर एक बड़े से लोटे में (जिसे साथ ही लाए थे)

जब वे उड़ेलने लगे तो खनखनाहट के संगीत से घर बज उठा। घर में पहली बार लक्ष्मी की इतनी उष्मा अनुभव हुई थी। लगा था जैसे सीलन-भरा अभाव का सन्नाटा जगह-जगह से दरक उठा है और घर की आंखों में स्वाभिमान की एक आंच उग आई है। लगा जैसे एक उजास फूट पड़ा हो।

भइया ने धीरे-धीरे रेहन रखे अपने सारे खेत छुड़ाए। एक बड़े मकान की योजना बनायी। घर कपड़े-लत्तों, अरतन-बरतन से भर गया। मकान के लिए एक लाख ईंटें पकनी थीं। पिताजी गाड़ीवानों के साथ चौरी-चौरा जाते थे, वहां से कोयला आता था. कभी आधी रात को, कभी अलख सुबह। बड़की बारी में भट्ठा लगना था। वहीं कोयला गिर रहा था। उसकी रखवाली का सवाल था। हम (मैं और मझले भाई) रात को बगीचे में सोते थे। जहां कोयला गिर रहा था, वहीं कोनहवां पेड था, जिस पर भूत रहते थे। उसी पेड़ के पास हम सोते थे। मैं तो मारे डर के शाम से ही मुह ढक लेता था। गर्मी के दिन थे किन्तु आम की फसल नहीं आयी थी, इसलिए रात को बगीचा सुनसान पड़ा रहता था। ऐसे में यदि कुछ आहट होती थी तो मैं पत्ते की तरह काप उठता था। और यदि कोई आदमी गाता हुआ रास्ते से निकलता था तो मन को राहत मिल जाती थी। महीना बीत गया लेकिन कोनहवा पेड़ से उतरकर कोई भूत हमारे पास नहीं आया। इसलिए यह धारणा दृढ़ बनी कि कहीं कोई भूत-वूत नहीं है, केवल भ्रम फैलाया गया है। भूत होता तो जरूर किसी-न-किसी रात हमारे पास आता और उससे मुठभेड़ होती। भट्ठा लगा। मकान बनना शुरू हुआ। दुमंजिला मकान बना। मकान बनने की प्रक्रिया मे बड़ी रौनक थी। झुंड की झुंड मजदूरनें मिस्तरी। हर रोज जैसे मेला लगा होता। हम उस निर्माण-प्रक्रिया में शरीक थे, द्रष्टा मात्र नहीं थे। जैसे घर की ईंट-ईंट पर, चूना-गारे पर हमारे हाथों के निशान थे; हमारी आंखों की छाया अंकित थी, हमारी खुशियों की आहट थी। एक जर्जर मकान के खण्डहर पर एक नया मकान बनने का उल्लास जीवन का नया उल्लास था। वह जीवन का एक नया छन्द था। देखते-देखते हमारे घर का रुतबा बढ़ गया। वैसे अपने अभाव में भी पिताजी अपने जवार और गांव में अपनी अनेक विशेषताओं के कारण बहुत प्रिय थे किंतु इस नयी परिस्थिति में हमारा घर अपनी सम्पन्नता के कारण आदर पाने लगा। भइया अपने जवार के सबसे बड़े और ताकतवर जमीदार के यहां नौकर थे, वे गांव के लोगों की तरह-तरह से सहायता करते थे और जमीदार के भय से गांव के लोग हमारे घर के साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं करते थे।

मिडिल का इम्तहान देकर मै लक्ष्मीगंज गया। फागुन का महीना था। फागुन के नाम में ही कुछ ऐसा है कि मुझ नशा हो जाता है। दरअसल वह नशा नाम का नहीं, फागुन के दृश्यों का है। मैं पहली बार ट्रेन पर सवार हुआ था। ट्रेन की यात्रा का वह सुख अवर्णनीय था। उसकी रफ्तार के साथ उसकी बनती हुई एक खास तरह की आवाज मुझमें सुखद कौतूहल भर रही थी। उजेली रात थी। बाहर कभी-कभी गाड़ी कुछ जंगलों को पार करती थी तो सनाक-सनाक की आवाज आती थी। उसकी रफ्तार देखकर मैं अपने साथ के आदमी से पूछ बैठता था—"आ गया लक्ष्मीगंज ?" "अरे नहीं भाई, अभी

तो गाड़ी कई स्टेशनों पर ठहरेगी, तब आएगा लक्ष्मीगंज।" ट्रेन की सवारी मुझे इतनी अच्छी लगी कि बाद में मैं बार-बार ट्रेन की सवारी के अवसर की प्रतीक्षा करता रहता और उसमें बैठे-बैठे उसमें से उतरने का मन ही नहीं होता और आज इसके विपरीत हो गया है। ट्रेन की यात्रा मुझे उबाती है, थकाती है क्योंकि तब मेरे लिए ट्रेन की यात्रा महज यात्रा थी, अब कहीं पहुंचने की जल्दी होती है, वह मात्र साधन बन गई है। दूसरे कामों की भीड़ में वह सहज यात्रा-सुख कहीं खो गया है।

हां, तो वह फागुन का महीना था। जब लक्ष्मीगंज स्टेशन पर पहुंचा तो लगा एक जगमगाती हुई चहल-पहल मेरे आगे साकार हो गयी है। मिल की रोशनी फैली थी और उसका एक अद्भुत संगीत बज रहा था। एक खास तरह की गंध हवा में व्याप्त थी। झुंड-की-झुंड गन्ने की गाड़ियां मिल की ओर सरक रही थीं। गाड़ीवान गा रहे थे।

मैं बच्चा बाबू की हवेली में पहुंचा तो दस बज रहे थे। मुझे डर था कि सभी लोग खा-पीकर सो गए होंगे। लेकिन यहां तो ऐसा लगा जैसे अभी शाम हुई है। पूरे कस्बे की तरह यह हवेली भी अपने पूरे उन्मेष के साथ जाग रही थी। अभी भोजन बनना शुरू हुआ था और कुछ सिपाही गप्पमज कर रहे थे; कुछ भइया की सेवा कर रहे थे; कुछ उनसे पूरे दिन की उपलब्धियों का हिसाब दे रहे थे; कुछ बाजार से सामान लाने को भेजे जा रहे थे। ऐसा लगता था कि हवेली और मिल दोनों ही प्रतिस्पर्धा किए हुए हों लेकिन आखिर एक बिजली से नहायी हुई जगमगाती दुनिया थी, एक लालटेनों की रोशनी में जागती हुई दुनिया। मैं पहुंचा तो भइया बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दूसरे ही दिन से मेरे खाने-पीने, जलपान आदि का विशेष प्रबंध किया। मैं वहां लोगों से विशेष अतिथि का व्यवहार पाने लगा।

स्टेशन, हवेली, बाजार और मिल ये चार विशेष आकर्षण थे उस कस्बे में। मैं कभी घूमता हुआ स्टेशन चला जाता, कभी बाजार में घूमता, कभी मिल की ओर चला जाता और गन्ने से लदी गाड़ियों की लंबी कतार का ठहराव देखता, गाड़ीवानों के चेहरों में अपना चेहरा देखने की कोशिश करता और वहां से कारखाने को देखता, उसकी चिमनी से उठते हुए धुएं को देखता, उसके भीतर से उठती हुई एक खास तरह की गंध का नजदीक से अनुभव करता। किंतु मेरे लिए एक आकर्षण और था—जाना-पहचाना हुआ आकर्षण—चारों ओर दूर-दूर तक फैली हुई फसलों का आकर्षण। गेहूं के खेत, गन्ने के खेत, अरहर के खेत, तीसी सरसों के खेत और फूलों का बेहिसाब विस्तार। यानी इस कस्बे के नाना नये दृश्यों के बीच अपना गांव जीवित था। मैं उनके बीच निकल जाता और घंटों घूमता। धूसर माथे वाले, गरीबी में बुझी आंखों वाले फटेहाल किसान उन खेतों के बीच दिखाई पड़ते, तो लगता मैं अपने गांव में ही हूं और ये किसान रोज-रोज हवेली की ओर जाते दिखाई पड़ते या जमींदार के सिपाहियों द्वारा पकड़कर ले जाये जाते दिखाई पड़ते तो लगता उनकी आंखों का अवसाद दर्दनाक हो गया है। फसलें उगा-कर हवेली की ओर जाना ही इनकी नियति है।

मैं उस दिन भइया के साथ घूमने के लिए खेतों की ओर निकल पड़ा। खेतों में

फागुनी सौंदर्य अपने पूरे उभार पर था। अल्हड़ फागुनी हवा सबका आंचल उड़ाती हुई मस्ती से न जाने कहां चली जा रही थी। रास्ते में खड़ा एक सेमल का बड़ा पेड़ अपनी निष्पत्र डालियों पर लाल-लाल फूलों का विद्रोह संभाले खडा था। तमाम फूल नीचे फैले हुए थे। मैं गुनगुना उठा—"डारन पे डोलत अंगारन के पुज हैं।" "वाह-वाह!" भइया कह उठे। फिर पूछा—"तुम्हारी कविना कैसी चल रही है?"

"ठीक चल रही है लगातार लिख रहा हूं।"

"मुझे कविता बहुत अच्छी लगती है। मैं चाहता हूं तुम भी एक बड़े कवि बनो। मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता हूं, तुम घर का नाम रोशन करो।" और वे चंदबरदाई की एक कविता पढने लगे।

"मैं नहीं जानता भइया कि मैं नाम रोशन करूंगा या नहीं लेकिन मुझे लगता है कि मेरे भीतर ऐसा कुछ है जो कविता बनकर बाहर आना चाहता है। खाने-पीने, कपड़े पहनने की जरूरतों से अलग एक जरूरत मेरे मन को महसूस होती है। मैं फसलें और ऋतुएं देखता हूं तो बहुत अच्छा लगता है। आदमी का दुःख-दर्द देखता हूं तो अपना लगता है; अन्याय होता देखता हू तो मन को चोट पहुंचती है, गुस्सा आता है। यही सब है जो कविता के जरिए बाहर आना चाहता है।"

खेतों में काम कर रहे लोग आंख पर हाथ रख-रखकर हम लोगों को देखते थे फिर धीरे-धीरे खेत से निकलकर आते थे और झुककर भइया को प्रणाम करते थे।• मैं समझ नहीं पा रहा था कि लोग श्रद्धावश प्रणाम कर रहे हैं या आतंकवश। भइया उनसे बहुत प्रेम से उनका हाल-चाल पूछते थे। किसान तरल होकर कहते थे, सब दया है मालिक की। जब से आप आये हैं मालिक, हम लोग जी गये हैं। मैं समझ गया कि ये सब श्रद्धावश प्रणाम कर रहे हैं और भइया का मानवीय दर्द सामंती वातावरण में जिन्दा है। तभी कुछ अच्छा पहने-ओढ़े एक जवान सामने से गुजरा। उसके साथ उसका बाप था शायद। बाप ने झुककर प्रणाम किया लेकिन लड़के ने प्रणाम नहीं किया। भइया ने उसे तनी आंखों से देखा। बूढ़े मे पूछा—"यह तुम्हारा बेटा है मंगरू?"

"हां मालिक, कलकत्ते चला गया था। कुछ दिन हुए आया है।"

"ठीक है, ठीक है, जाओ," कहकर भइया आगे बढ़ गये। हम लोग खेतों में घूमते-घामते कस्बे के बाजार में आ गये। फागुन की शाम उतर रही थी। फागुन के इस गुनगुने माहौल में बाजार में बहुत रौनक थी। एक आदमी तमाम घड़ों में रंग भरकर रखे हुए था। वह कोई कुली पकड़ लाता था। उसके सिर पर घड़ा रखकर पीछे-पीछे चलता था। थोड़ी दूर चलने पर पीछे से घड़े पर डंडा मारता था। घड़ा फूट जाता था और कुली रंग में नहा उठता था और आसपास के लोग मजा ले रहे थे। कपड़ों की दूकान पर भीड़ थी, मिठाई की दूकान पर भीड थी, गाड़ी से उतरकर जाने वाली दुल्हनों और रंगे हुए पाहुनों की लाइन लगी थी। कभी-कभी कोयल भी बोल उठती थी। मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। भइया भी काफी प्रसन्न थे। वैसे मेरा खयाल है कि मौसमों और ऋतुओं के साथ गहरा रागात्मक लगाव उन्हें कभी नहीं रहा, लेकिन रहा जरूर। हम प्रसन्नचित्त हवेली पर लौटे। वहां पहले से ही कई किसान पकड़कर लाये गये थे लगान

के लिए। भइया के सामने एक-एक करके पेश किये जा रहे थे और उनकी शिकायत की जा रही थी कि यह साला पकड़ में ही नहीं आ रहा था, यह रोज आने को कहकर नहीं आता था। ये डेहरी में छिपा हुआ था। इसका कई साल का लगान बाकी है। सारे किसान हाथ जोड़े भइया के आगे खड़े थे और काप रहे थे। उनके शरीर या तो नंगे थे या वे फटी-पुरानी बनियान पहने थे।

"क्यो रे किसनवां, तू बुलाने पर आता क्यों नहीं ?"

किसनवां हाथ जोडे कापता खडा रहा।

"अरे बोल भाई !"

"हुजूर, गरीबी जो न कराये। लगान देने के लिए पैसे नही है तो क्या करे ? मिल जाने पर सिपाही पीटेंगे और पीटने के बाद भी मेरे पास से क्या निकलेगा ?"

'भाई, आखिर लगान तो देनी ही होगी। कब तक भागते फिरोगे ? हां, यह बताओ तुम्हे कितनी मोहलत चाहिए ? एक महीना, दो महीने।" भइया बोले।

"हुजूर ? बडे दयालु है। मुझे दो महीने की मोहलत दे दीजिए, कोई-न-कोई प्रबन्ध करूगा।" वह आशीष देता चला गया।

"और तू रे घमडिया, डेहरी मे क्यो छिपा था ?"

"क्या करें माई-बाप ? घर में कई दिन से उपवास हो रहा है। जब मालूम हुआ कि सिपाही लोग पहुच गए तो बीवी ने डेहरी मे छिपा दिया। अब इस भूखे शरीर में मार खाने की हिम्मत नही रही सरकार।" वह घिघियाता बोला।

मैंने देखा उसके शरीर पर कुछ नीली-नीली चोटें थी, एकाध जगह छिल भी गया था। मैने पूछा, "कही गिर गए थे क्या ?"

"अरे नही बबुआ, ये सिपाही लोग डेहरी मे लाठी डालकर उसके हूरे से मुझे कोंचते रहे।"

"अरे, यह तो बडा राक्षसी कार्य है !" मै बोला।

भइया ने मेरी ओर देखा, मुस्करा पडे और सिपाहियो से कहा, "तुम लोग असामियो को केवल पकडकर लाया करो, बाकी काम मेरे जिम्मे छोड़ दो।" और उस किसान से कहा, "अच्छा जाओ। अभी अपने घर के खाने-पीने का इंतजाम करो फिर इंतजाम करके लगान दे जाना।" और उन्होने अपनी जेब से एक रुपया निकालकर उसकी ओर बढ़ा दिया।

वह किसान पिहककर रोने लगा।

"क्या हुआ ?"

"हुजूर देवता हैं, ऐसा तो कभी नही हुआ था। पहले वे तहसीलदार साहब तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ लेते थे और बेइज्जत करते थे अलग। सरकार देवता है। भगवान् आपको बरकत दे। लगान जुटते ही मैं आ जाऊंगा सरकार, डेहरी में नहीं छिपूंगा।" वह चला गया। मैंने देखा सिपाहियों के चेहरों पर एक अप्रसन्नता का भाव था। वे बड़ी मुश्किल से पकड़कर लाये थे लेकिन बाबा तो सबको छोड़ रहे है। यह तो मजा नहीं आया।

"और सिटहला, तू क्यों नहीं आ रहा था ?"

"बाबा, पूरी लगान जुट नहीं पा रही थी। बीवी की हंसुली बंधक रखी तब भी पूरा नहीं पड़ा। कई साल की बाकी है न।"

"कितने का इंतजाम किया है, निकाल।"

उसने अपने गंदे चीमड़ हाथों से अपनी टेंट खोली और कांपते हाथों से रुपये भइया के सामने कर दिए।

भइया ने हिसाब देखा। "तुम्हारी लगान तीन साल से बाकी है। कुल पंद्रह रुपये हुए। अरे, ये तो दस ही रुपये हैं।"

"हां हुजूर, दो साल का कर लीजिए, एक साल का बाकी लगा दीजिए।"

भइया सोचते रहे। फिर उन्होंने रसीद बनाई और उसे थमाते हुए बोले, "ले जाओ, यह तीनों साल की रसीद है।"

"लेकिन हुजूर···।"

"ठीक है, ठीक है, मैंने अपनी फर्खतियावन नहीं ली है और पिछले सालों की लगान में भी थोड़ी छूट कर दी है। अब तुम्हारा हिसाब साफ हो गया। आगे से साल-साल पर दिया करो, जिससे तुम्हें भारी न पड़े।"

सिटहला प्रणाम की मुद्रा में झुककर टेढ़ा हो गया और उसकी बूढ़ी सूनी आंखों में आंसू छलछला उठे।

मुझे लगा कि फागुन की मदमस्त शाम मानवीय करुणा और गरीबों के आशीष से भीगकर और भी मोहक और प्यारी हो गयी है। भइया भी बहुत प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ रहे थे।

"बाबा ?" एक सिपाही बोला।

"क्या है रामराज ?"

"अब ऐसे नहीं चलेगा।"

"कैसे नहीं चलेगा ?"

"हम लोग असामियों को कैसे पकड़ के लायें ?"

"क्यों, हुआ क्या ?"

"अरे सोनबरसा में आज हम असामियों को पकड़ने गये और दो-एक को पकड़ा तो मंगरू का लड़का लड़ पड़ा। ऊ साला कलकत्ता से कमाकर आया है न, सूट-बूट पहनता है और अरबी झाड़ता है। आज तो उसे छोड़ दिया नहीं तो लाठी से थूरकर रख दिया होता। अब आपसे आडर लेना चाहते हैं। आप जो कहें वह हम लोग करें।"

"हां, वह साला आज रास्ते में मुझे मिला था। उसे तो न जाने कितने मन शराब का नशा हो गया दिखाई पड़ता है। उसने मुझे पैलागी तक नहीं की, मेरी ओर देखा भी नहीं।"

मैंने देखा भइया का प्रसन्न चेहरा वक्र होता जा रहा है।

"तो क्या हुकुम है बाबा ?"

"उसे कल तुम लोग पकड़ के यहीं ले आओ। तुम लोग नहीं, मैं उस साले से

निबटूंगा। साले को धूप में मुर्गा बनाकर पीठ पर जूते लगाऊंगा तो उसकी सारी कलकतिया अकड़ निकल जाएगी। कुत्ता साला ! इतना गुमान कि बाबू चन्द्रभान सिंह के तहसीलदार को प्रणाम नहीं करेंगे।"

मैंने देखा भइया का मुह क्रोध से तमतमा उठा था और सिपाही मजा आने के भाव स प्रसन्न हो रहे थे।

मैं भइया को बहुत आदर देता था। लगता था कि ये जो कुछ करेंगे सही करेंगे, गलती कर ही नहीं सकते। आज उस कलकतिया युवक ने भइया को प्रणाम नहीं किया और अत्यन्त बेरुखी से इनके पास से चला गया। यह मुझे अच्छा नहीं लगा था। मुझे यह उसकी बदतमीजी लगी थी (तब मुझे उस बदतमीजी मे नये किसान की उठती हुई विद्रोह-भंगिमा का बोध कहां हुआ था और हो भी कैसे सकता था) लेकिन भइया का निर्णय मेरे भीतर नहीं उतर पा रहा था। जो व्यक्ति अभाव और अपमान की इतनी मार खाकर अपने परिवार का पेट पालने के योग्य हुआ हो, जिसमे इतनी संवेदना भरी हुई है कि पिछली परंपरा के विरुद्ध किसानों को लगान-वसूली में इतनी छूट दे रहा है जिस पर किसानों की दीन-हीन आंखों मे बरसा हुआ आशीष बिछ रहा है वह मात्र प्रणाम न पाने मे इतना अपमानित और उद्विग्न अनुभव करने लगेगा। कल आने वाले दृश्य से मैं घबरा रहा था। मैंने स्कूलों मे बच्चों को मुर्गा बनकर पिटते देखा है। उसके विकट रूप की कल्पना यहां कर रहा था। चाहता था, भइया से कहूं लेकिन कहने की हिम्मत नहीं हो रही थी। रात को सोया तो सोचा कि आखिर सामंती दरबार मे रहकर भइया उससे समग्रतः निस्संग कैसे रह सकते है।

होली नजदीक आ रही थी। उसकी गहमागहमी बढ़ती जा रही थी। हवेली में उसकी तैयारियां हो रही थी। बाबू चन्द्रभान सिंह आ रहे थे इसलिए तैयारी मे ज्यादा मुस्तैदी दिखाई जा रही थी और मालिक के होने से हवेली की रौनक तो बढ़ ही जाती है। नौकरों में आपस मे चुहल तो होती ही रहती थी। इस समय होली के स्पर्श ने उसे एक नया रंग दे दिया था। मिल और खेतों मे काम करने वाले मजदूर और किसान भी रंगे हुए नजर आने लगे। उनके फटे-पुराने कपड़ों पर रंगों की पच्चीकारी अद्भुत समां बांधे हुए थी।

यह वह समय था जब गांवों और कस्बों मे होली अपनी पूरी जवानी के साथ आती थी जो साल-भर के क्लेश, भेद-भाव, व्यावसायिक संकीर्णता को अपने प्रवाह में डुबा देती थी और हर छोटा-बड़ा, बच्चा-बूढा, जवान प्रकृति की तरह ही होलीमय दिखाई पड़ता था। लक्ष्मीगंज में मैं इस होली के अवसर पर था। यहां एक संपन्न वातावरण था। किसी चीज की कमी नहीं थी। इंतजाम का सारा सूत्र और अर्थ भइया के हाथ में था और मैं उनका सर्वाधिक प्रिय आत्मीय। लेकिन मुझे अपना गांव याद आ रहा था—अभावों वाला गांव जहां मैं केवल रामदरश था, हवेली के तहसीलदार का भाई नहीं। हवेली के इस संपन्न वातावरण में मैं एक सम्मानित व्यक्ति का भाई था जिसे कुछ भी करने की छूट नहीं थी, केवल प्यार और सम्मान पाने की नियति झेलनी थी। यहां मैं द्रष्टा था किंतु गांव में भोक्ता और कर्ता था—होली के बहाव में बहने वाला,

उसके लिए काफी कुछ करने वाला एक ऐसा व्यक्ति था जिस पर मान-सम्मान का कोई दबाव नही था, जो सैकड़ों लोगों की तरह एक खुला व्यक्ति था और जो खुलकर कुछ भी कर सकता था। ऐसा लगता है कि हम लोगो को साल-भर होली की प्रतीक्षा रहती थी। फागुन लगते ही होली की गहरी आहट बाहर और भीतर बज उठती थी और हम फागुन को लिए-दिए ही उठते थे, सोते थे, खेतो मे काम करते थे, स्कूल जाते थे। गाना-बजाना, सम्मति गाडना, रातो को साथियो के साथ-साथ छिप-छिप सम्मति बटोरना, खेतो मे बदलते हुए रगो के बीच मुग्ध भाव से खडे रहना, कोयल को चिढ़ाना, घ्राण मे एक नये प्रकार की गध का अनुभव कर मस्त-मस्त फिरना, भाभियो द्वारा छिपकर फेंके गए पानी की बौछार मे आहत होकर उन्हे छेडने के लिए मौका ढूढते फिरना, कबीर गाना···न जाने कितने व्यापारो मे जीवन गूज उठता था। फगुनहट के साथ पत्ते उडते, आचल उडते, फनले फडफडाती और एक अजीब रूमानी धुध से भरी क्षितिज तक की दिशाएं आखो मे भर जाती।

हा, वह गाव याद आ रहा था। हवेली के इस सम्पन्न माहौल मे अपना वह खुला अभावग्रस्त माहौल याद आ रहा था। कुछ भी हो, जहा एक गहरे अपनेपन की सृष्टि होती है बचपन का वह माहौल कुछ और ही होता है। मुझे तर-त्योहार और सुदर मौसमो के समय उसके बीच न होने की एक गहरी तडप होती है। मैं इस साल गाव की होली मे शरीक नही हो पाऊगा, इसका मुझे दुःख था।

लेकिन गाव मे होली होगी कहा? इस वर्ष तो वहा प्लेग आया है, तभी तो भइया ने परीक्षा के बाद लक्ष्मीगज बुला लिया था। प्लेग गाव मे आता रहता है। वह फागुन मे क्यो आता है इस बात पर मुझे बहुत गुस्सा आता था। साल-भर तो प्लेग की सीलन होती ही है, जब फागुन मे उससे मुक्ति की सभावना उभरती है तो वह स्वय क्यो आ जाता है? कई बार ऐसा हुआ है। तीन-चार बार तो हुआ ही है। दो बार तो मैं गाव मे ही रहा। चूहे गिरने शुरू हो गए है, इस सूचना के साथ गाव मे आतक फैल जाता। लो, होली तो गई ही, कितनी जानें जाएगी। आज जो लोग होली खेलने के उत्साह मे जी रहे है, पता नही कल उनमे से कितने होगे, कितने एकाएक चले जाएगे। इच्छा होती आज सबसे मिल लिया जाए, सहमी आखो मे आखे डालकर देख लिया जाए, पता नही कल कौन नही होगा?

मटर कट गयी होती। नही कटी होती तो काट ली जाती। आखिर चूहे गिर रहे है, घर तो छोडना ही पडेगा। वैसे घर और खेत मे कितना अतर है? फिर भी थोडा अतर तो हो ही जाएगा। घर मे चूहे है, वे कम्बख्त मर-मरकर प्लेग की गभीरता का अहसास कराते रहेगे। खेत मे ऐसा कम-से-कम होगा। और गांव की गंदगी, सीलन और घुटन से निकलकर खेतो मे जाने से ताजा हवा मिलेगी, सीलन नही रहेगी। गदगी नही होगी, इसलिए प्लेग के कीडे कम पैदा होगे।

"कौन कहता है प्लेग के कीड़े? नास्तिक हो क्या? ये कीड़े-ऊड़े क्या होते है?" किसी नए पढ़े-लिखे आदमी से कोई बुजुर्ग उलझ जाता, "यह सब तो शीतला माई का कोप है। जब पाप ज्यादा हो जाता है तब शीतला माई का प्रकोप होता है।

गांव-गांव मे पाप बढ़ गए हैं तो क्या करें शीतला माई ? अरे भाई, शीतला माई को सफाई पसंद है, वे धार-कपूर चाहती है, वे दौडते-दौड़ते थक जाती है, उन्हें ठडा पानी पिलाओ ।"

हल्ला होता, गांव में छपहरा आया है। प्लेग का टीका लग रहा है। गाव में भगदड मच गयी है। बहुत-से लोग तो खुशी-खुशी लगवा लेते है। बहुत-से लोग खासकर बच्चे डरकर भाग जाते है या छिप जाते है। वे पकडकर लाए जाते है। दो आदमी पकडते है और फिर घुप्प।

कई सयाने लोग प्रतिवाद करते है। बटुकी बावा का स्वर सबसे ऊचा है, "नही, हम नही लगवाएगे। ई छपहरा-छपहरी का करेगे, जिस पर शीतला माई का कोप होगा उसे कोई नही बचा पाएगा और जिसको वे बचाना चाहेगी कोई नही मार पाएगा।"

"गवर्नमेट का आर्डर है सबको टीका लगवाना ही होगा, नही तो लोग बीमार हो-होकर कीटाणु फैलाते ही जाएगे। वे खुद तो मरेगे ही, औरो को भी मारेगे।"

"गौरमेट का आडर देवी-देवता के आडर मे बडा नही होता छपहरा साहब! पाप हुआ है तो देवी के आडर से ही ताउन का कोप हुआ है। उहे बात है नयी-नयी दुल्हन नया-नया गीत।" बटुकी बाबा जोर-जोर मे बोलते है और वहा से चले जाते है। उनके साथ कुछ डरपोक किस्म के लोग भी है जो डर को दवी के तर्क का जामा पहनाते है।

"आप लोग इन्हे मनाइये न!"

"हम क्या मनाए? झगडा करे इनसे? जाने दीजिए।"

चूहे गिर रहे है। चमरौटी का बेलास मर गया। मेरे बाल मन मे एक जिज्ञासा उठती थी कि चाहे ताउन हो, चाहे हैजा हो, चाहे लू हो, चाहे मलेरिया हो, मौत की शुरुआत चमरौटी से ही क्यो होती है? और सबसे ज्यादा मौतें वही क्यों होती है और वहा मौत होने पर बभनौटी मे कोई हलचल क्यो नहीं मचती?

इस बार हलचल मची। इसलिए नही कि किसी को बेलास के प्रति गहरी पीड़ा थी। (पीड़ा रही होगी तो उसे जिसका वह हलवाहा था कि उसका हल अब कौन जोतेगा।) हलचल इस बात की थी कि अब मौत शुरू हो गई है। अब घर छोडना चाहिए। दूसरे दिन गाव छोडने की उतावली देखी गई। लोग अपने-अपने खेतो मे झोंपडे खडे करने लगे। सयोग से उत्तर पट्टी के तमाम लोगो के मटर के खेत एक साथ थे और व कट चुके थे। सबके झोपड़े साथ-साथ पड रहे थे। इसी तरह सारे टोलो के लोग उत्तर, पूरब, पश्चिम की दिशा मे अपने-अपने खेतो मे झोपडे डाल रहे थे और सामान ढो-ढोकर ला रहे थे। दो-तीन दिन मे ही गांव वीरान हो गया। घरो मे ताले लटक रहे थे लेकिन चमरौटी उसी तरह आबाद थी। वे कहां जायें? बेचारो का अपना कोई खेत तो था नही, कहा जायें? और जहां वे है, वही बहुत मुश्किल से झोंपडा डाल पाते है, अब नया झोंपड़ा कहा से लाएं?

पश्चिम की ओर गांव, पूरब की ओर छोटकी बारी, बीच में हम लोगो के

झोंपड़े। गांव में सन्नाटा भांय-भांय कर रहा था। छोटकी बारी में भूत, चुड़ैल, उसके पोखरे में बुड़वा रहते हैं। और चारों ओर जैसे यमराज के दूत घूमते नजर आते थे। भय का अजीब माहौल था। रात को बच्चे झोंपड़ों में से निकलने से डरते थे।

मुझे बहुत कोफ्त हो रही थी और मेरे जैसे तमाम लोगों को भी। फागुन में प्लेग क्यों आ गया ? आना ही था तो किसी और महीनों में आया होता। फागुन के पंद्रह दिन और बाकी हैं। न सम्मति गड़ी, न कहीं चौताल हो रहा है, न कोई रंग खेल रहा है, न भाभियां छिपकर पानी फेंक रही है। रास्ते वीरान हैं। रात का सन्नाटा···छोटकी बारी से आम की मंजरियों की हल्की-हल्की गंध आ रही थी। आम बहुत अधिक नहीं बौरे थे। लगता था कि अब किसी डाल से कोयल बोल उठेगी—कुऊ···। मुर्रेओ, मुर्रेओ।

"हाय, डायन मुवाख बोल उठी" मां बड़बड़ायी और सो गयी लेकिन मैं डर से कांपता रहा। मुवाख की आवाज बड़ी अशुभ होती है और भयानक भी। कोई मरेगा। कुछ कुत्ते एकाएक रो उठे—पु ऊं ऊं ऊं। और एक के बाद एक पुंआते चले गए और आधी रात के सन्नाटे मे दर्दनाक आवाजो का एक कोरस तड़प उठा। झोंपड़े के बाहर दो बिल्लियां लड़ते-लडते गुर्राने लगी और अजीब आवाज मे रोने लगी।

"क्या होगा भगवान् ? गांव की रक्षा करना।" फिर मां बड़बड़ायी। एकाएक कुछ लोगो के रोने की आवाज आई।

"कौन रो रहा है ?" घर के सब लोग जाग गए थे।

पड़ोस के लोग भी शायद जाग रहे थे।

"दक्खिन टोले का कोई मर गया।"

"कौन मर गया ?"

"पता नहीं।"

"हे भगवान् !" मां ने उसांस भरी और चुप हो गयी। मुझे रात बड़ी डरावनी लगने लगी।

मैंने मझले भाई को जगाने के लिए हिलाया (मैं उन्हीं के बगल में सोया हुआ था), वे नहीं जगे, फिर हिलाया, वे नही जगे।

"मां !" मैंने धीरे से पुकारा।

"क्या है रे ?"

"डर लग रहा है मां।"

"अच्छा, इधर आओ, सो जाओ।"

और मैं मां की बगल में जाकर उससे दुबककर सो गया।

मैं सोचता रहा, एक ही गांव और पता नहीं चल रहा है कौन मरा। मृतक के घरवालों के रोने की आवाज इस डरे हुए सन्नाटे में भटक रही है और कोई जग नहीं रहा है। दूसरा वक्त होता तो मालूम होता कि कौन बीमार है, किसकी मृत्यु हुई है और लोग रात में ही उठ-उठकर वहां चले जाते लेकिन यह समय तो बड़ा ही अजीब लग रहा है। मुझे लगा कि छोटकी बारी की बंसवारी से चुड़ैलों की सांय-सांय का संगीत उठ रहा है और मरे हुए व्यक्ति के घरवालों के रुदन से टकरा रहा है।

मुरंओ···मुरंओ···फिर मुवाख बोल रही है और रात का सन्नाटा दरक उठता है।

सबेरे उठकर पता किया जाता है कि कौन मरा है। लाश के साथ पूरा गांव इकट्ठा नहीं होता, आस-पास के दस-पांच आदमी लाश उठाकर नदी की ओर चले जाते।

बटुकी बाबा मर गये। उन्होंने टीका लगवाने का विरोध किया था। पाप बढ़ता है तो शीतला माई को कोप करना ही पड़ता है। लगता है सबसे पहले शीतला माई की दृष्टि बटुकी बाबा पर ही गयी।

गांव की ओर देखने में डर लगता था। हर घर पर ताला लटका था, गलियां वीरान थीं, फिर भी आदमी को कुएं तक तो जाना ही पड़ता था, पानी तो पीना ही है न। आस-पास के कई-कई लोग मिलकर जाते थे ताकि कोई डर न जाये। डर ही तो मूल रोग है। डर गये तो गये काम से। कोई बच्चों को गांव की ओर नहीं भेजता था इसलिए हम उधर से निश्चित थे। खेतों की ओर निकल जाते थे। प्लेग आया है तो क्या ? प्रकृति तो अपनी उसी मस्ती में है। फसलें झूम रही थीं, फलों में फागुन का रंग उभर आया था लेकिन प्रकृति की मस्ती अकेले क्या करेगी अगर उसमें आदमी की मस्ती नही मिलती तो ! डरा हुआ आदमी प्रकृति की मस्ती में क्या पाएगा ? वही फागुन की मस्तानी धूल-भरी हवा थी लेकिन लगता था कि इसमें अपने बड़े-बड़े बाल खोले सैकड़ों चुड़ैलें चिल्लाती हुई उडी जा रही हैं और क्षितिज के उस पार तक उनकी चिल्लाहट की एक चौड़ी पट्टी बन गई है। कभी कल्पना होती—नहीं, ये चुड़ैलें नहीं हैं, शीतला माई की सवारी जा रही है। सातों बहनों का रथ हवा में उड़ा जा रहा है। शीतला माई से डरने की बात नही है, वे तो रक्षक हैं, माई है। लेकिन इस समय तो वे जान ले रही हैं, रक्षक कहां से है और लाख समझाने पर भी उनका भयकारी रूप ही मन में आता और वही फगुनहट मे फैल जाता। शीतला माई का एक बिंब मन में अटा पड़ा था। मेरे पिताजी के सिर शीतला माई आती थी और बहुत-से देवता आते थे। मां बताती है कि तुम्हारी पहली मां (पिताजी की दो शादियां थी) ताउन में ही मरी थीं। वे शीतला माई की जमात में शामिल हो गयी थी। एक रात की बात है कि सबके सोने पर दलबल के साथ शीतला माई इसी कुएं पर आयी। बहुत प्यासी थीं। कुएं से पानी भरा जाने लगा। सातों बहनें पानी पीने लगी, फिर दूसरी देवियों ने पिया। तुम्हारे पिताजी जगे थे, यह सब देख रहे थे। किसी देवी की नजर इन पर पड़ गयी और उसने शीतला माई से कुछ कहकर तुम्हारे पिताजी की ओर इशारा किया और कहा, "इस आदमजात ने हमें देख लिया है।" शीतला माई को क्रोध आ गया। सातों बहनें आगे बढ़ीं, साथ में देवियों का दल था। क्या दृश्य था ! मइया के बड़े-बड़े लहराते केश, सफेद साड़ी, लहराता हुआ आंचल, बड़ी-बड़ी आंखें जिनमें इस समय गुस्सा भरा था।

"उठा ले चलो इस ढीठ आदमी को, इसने हमें देख लिया है। अब यह जिन्दा नहीं रह सकता।" तुम्हारे पिताजी ने डर के मारे आंखें बंद कर ली और हलहल कापने लगे थे। तभी एक आवाज सुनकर चौंके। कोई कह रहा था, "इन्हें क्षमा कर दीजिये

मइया। ये मेरे वो हैं।"

तुम्हारे पिताजी ने धीरे से आंख खोलकर देखा—वे तुम्हारी पहली मां थी।

मइया मुस्कराईं, "अच्छा तो ये तुम्हारे वो है। चलो क्षमा किया और वरदान भी दे रही हूं कि जब-जब यह मुझे पुकारेगा मै इसके भीतर उतरूगी।" और वे सबके साथ एकाएक उड गयी।

"पिताजी सपना देख रहे थे, मां !"

"नहीं रे, जगे हुए थे। सब कुछ अपनी आखों देख रहे थे।"

उस समय मैंने बिना किसी शका के विश्वास कर लिया था क्योंकि देवी-देवताओं में तब मेरी भी गहरी आस्था थी। मै दीक्षित बाबा को हर सोमवार को जल चढाता था, अन्य देवी-देवताओ की भी पूजा करता था, मुसीबत मे उनका सुमिरन करता था, कभी-कभी यथाशक्य व्रत भी रखता था। उस समय अपना विवेक क्या था ? बस, परंपरा से जो थमा दिया गया था उसे थामे हुए था।

पटापट मौते हो रही थी। उसे गिलटी निकली है, अरे उसे भी निकली है, अरे उसे भी निकली है। यह खबर यहा से वहा और वहा से यहा पहुचती रहती और मृत्यु का ताता लगा रहता। कभी-कभी कोई टिप्पणी भी सुनने मे आती, "अरे ई साला चोर गांव मे चोरी करने गया था। वहीं डर गया। आदत कहा जाती है। सोचा, चलो खूब एकात है, कोई देखेगा नहीं, जितना चाहो माल समेट लो। बस, हो गये उसी मे शीतला माई को प्यारे।"

"अरे भाई, लेकिन और लोगों ने कौन-सी चोरी की थी ? वे क्यो मर रहे है ? बेकार की बाते नही बकते। तुमने देखा था उसे चोरी करते हुए ?"

"अरे उसके लिए कौन-सी नई बात है, मगर छोडो।"

यह क्या ? बादल छाने लगे। फागुन मे बादल ? और पानी बरसने लगा। लोग घबरा गये। प्लेग मे बरसात। अब खैर नही। सीलन···सीलन और सीलन तो प्लेग की ताकत है। टिपटिप टिपटिप·· दिन-रात पानी टपकने लगा। सूखी फगुनहट सावन की झपटी मे बदल गयी। प्लेग की इस मानवीय वीरानी मे भी जो फसले हस रही थी और जीवन की गहरी आहट बिखेर रही थी, वे अब पानी से भीगकर लथपथ हो गयी थी। उनके हसते फूलो की आभा झड़ गयी थी, फूल खुद भी झड़ने लगे थे। रास्ते कीचड़ बन गये थे, खलिहान म पड़े हुए मटर के डांठ कीचड़ का ढेर लग रहे थे। प्लेग की मुसीबत म बुझी आखो मे फसलो की समृद्धि जीवन की एक आभा दे रही थी, वह भी अब समाप्त हो गयी।

गिल्टिया·· गिल्टिया, गिल्टियां, मौतें, चीख-चिल्लाहटे, मुवाख की रिरियाहट ···लगता था जैसे साक्षात् मौत अपने पूरे साज-बाज के साथ चारो ओर घूम रही है। किसका वश था इस पर ! जवान पति को गिलटी निकली है, पत्नी आंखों मे अथाह सन्नाटा भरे गिल्टी सेक रही है। वह चाहती है कि गिलटी अपने मे खीच ले लेकिन वह कुछ नही कर सकती। किसी भी क्षण उसके सामने से उसकी भरी-पूरी दुनिया सन्न से उड़ सकती है। एक मां या बाप अपने किशोर बालक के सामने बैठा है। बालक गिलटी

से कराह रहा है, वह कभी भी उड़ सकता है। ऐसे कितने ही व्यक्ति अपने आत्मीयों के सामने उनके एकाएक उड़ जाने की अकथ व्यथा लिए बैठे हैं। कैसा लगता है हंसते-खेलते आदमी का एकाएक चले जाना ! न उससे कुछ कहा जा सका, न सुना जा सका। कितने-कितने अरमान थे उसे लेकर, कितना-कितना प्यारा अतीत था उससे जुड़ा हुआ।

मेरे पिताजी दुनियावी दृष्टि से बहुत असफल व्यक्ति थे—बहुत भोले और भावुक। इसलिए जब कुछ कहीं दुखद घटित होता था तो सोचते-विचारते नहीं थे, सीधे उसमें जुड़ जाते थे। चाहे कहीं आग लगी हो, चाहे कोई पानी में डूब रहा हो, चाहे कोई मरा हो, चाहे बीमार हो, पिताजी सबसे पहले पहुंच जाते थे और अपने भले-बुरे का ख्याल किए बिना दर्द में शरीक हो जाते थे। प्लेग में मोहल्ले में कोई मरता था तो वहां तो शव का कंधा देने वालों में पहले होते ही थे, दूसरे मोहल्ले में भी पहुंच जाते थे। घर का कोई टोकता तो कहते, "अरे, जिसे मरना होगा मरेगा ही, हम अपना फर्ज क्यों न निभाएं और मुझे क्या होगा, मुझ पर तो देवी की कृपा की छाया है।"

बादलों की सीलन-भरी छांह में गली-गली मौत घूमती रहती, घूरती रहती और इसी में होली आयी। होली नहीं जली, लोगों ने अपने घरों में ही या आस-पास सूखे गुलाल से होली खेल ली और कुछ गा-बजा लिया। उसी में कहीं से एक चीख उठी थी और कोई चला गया था।

तमाम लोगों के साथ एक और लाश—एक बड़ी लाश—वसंतोत्सव की लाश। त्योहार की मौत मुझे बहुत बुरी लगती है। वह न जाने कितने लोगों की सामूहिक खुशियों की मौत होती है और होली की मौत से उपजे विषाद की तो कोई सीमा ही नहीं होती। हम स्कूल जाते रहे। स्कूल रानापार गांव से बाहर बाबू साहब की छावनी में चलता था इसलिए वहां से कहीं और जाने का सवाल ही नहीं उठता था। होली के बाद बादल छंट गये थे और धूप निकलने लगी थी। खेतों की सिकुड़न धीरे-धीरे खुलने लगी थी। एक दिन स्कूल से घर पहुंचा तो देखा मोहल्ले के लोग पिताजी को घेरकर बैठे हुए हैं। अगियारी जगी हुई है। आग में धूप-कपूर की महक उठ रही है। पिताजी ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठे हैं। एकाएक वे आविष्ट हो गये। जोर-जोर से झूमने लगे और हाथ से आग इधर-उधर छीटने लगे।

"कौन है देवता, आप कौन है ?" लोग हाथ जोड़े पूछ रहे थे।

पिताजी बोल नहीं रहे थे। और भी गुस्से से झूमते हुए आग छीटने लगे। लगता था कि देवता बहुत गुस्से में है।

मां पूछ रही थी, "कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें देवता, अपना नाम तो बताएं।"

"शीतला हईं रे शीतला।" कहकर पिताजी और उग्र हो गए।

सभी लोग हाथ जोड़कर झुक गए, "दोहाई माता की, रक्षा करो। हम लोग आपके बालक हैं। बालक को माता नहीं बचाएगी तो कौन बचाएगा ! दोहाई मइया की।" बड़े-बूढ़े अपनी वाक्चातुरी का परिचय दे रहे थे।

"हूं-हूं," पिताजी मुस्कराए। मुझे वह मुस्कराहट देखकर बड़ा डर लगा।

"माता के साथ दुनिया जब अन्याय करेगी तो माता को दुःख नहीं होगा रे ! माता कोप नहीं करेगी तो बच्चे बिगड़ेंगे कि नहीं ? मेरे बच्चे पापी होते जा रहे हैं, उन्हें दण्ड तो देना ही पड़ता है।" पिताजी बोले और रुक-रुककर झूम रहे थे।

"मइया, आपके बेटे अपने पाप का फल बहुत भोग चुके। अब क्षमा करो मइया, अपने कोप का अवरा-खवरा समेटो।"

मइया बहुत देर तक अपने बच्चों से मनुहार कराती रहीं और अंत में बोलीं, "अच्छा, दो-चार दिन में जा रही हूं। तुम सब पूजा-पाठ का प्रबंध करो।"

पिताजी थोडा रुके फिर अभुवाने लगे और बारी-बारी से यह क्रम चलता रहा। कभी दीक्षित बाबा आए, कभी डीह बाबा आए, कभी काली माई आयीं और सभी अपनी-अपनी पूजा की फरमाइश कर गांव के स्वस्थ होने की सूचना देते रहे।

और एक रात अद्भुत दृश्य था। सारे गांव के लोग काली माई के थान की ओर जुलूस में चल रहे थे। लूकें जली हुई थी। काली माई के थान पर दो-तीन ओझैत पचरा गा रहे थे जो बहुत करुण लगता था। गोड़इत नगाड़ा बजा रहा था। वहां पहुंचकर औरतें धार-कपूर चढ़ा रही थी। काली के स्थान पर पूजा-पाठ कर जुलूस और दक्षिण की ओर बढ़ा और सीवान पर जाकर रुक गया। देवी-देवताओं की जय-जयकार हो रही थी। ऐसा विश्वास था कि प्लेग को अपने सीवान से दूसरे के सीवान में खदेड़ दिया गया है। जुलूस फिर धीरे-धीरे लौट आया।

और दूसरे दिन लोग गांव में जाकर अपने घरों के ताले खोलकर सफाई करने लगे। लोग बच्चों को साथ नहीं ले जा रहे थे। मैं कल्पना करता था कि दरवाजा खोलते ही एक भयानक सूनापन एकदम झांय करके खुल पड़ेगा और बच्चे डर जाएंगे। इसीलिए बड़े लोग ही सफाई-वफाई के काम में लगे थे।

दूसरे दिन से लोग अपने घरों को लौटने लगे और उजड़ा हुआ गांव फिर आबाद हो गया। मृत्यु का दंश आत्मीयों को सालता रहा किन्तु धीरे-धीरे जिंदगी की ऊष्मा में सब कुछ खो गया लेकिन···लेकिन कुछ ऐसी मौतें भी हुईं जो अपने किसी आत्मीय को उजाड़ गईं और ऐसा उजाड़ गईं कि रास्ते पर भटकने के सिवा और कोई चारा नहीं रहा। यह कहानी फिर कभी। फिलहाल इतना ही कि जिन्दगी फिर अपनी राह मे चलने लगी थी।

प्लेग की गिरफ्त में जब गांव आता था तो प्रायः लोग अपने बच्चों को नाते-रिश्ते में भेज देते थे। कई बार तो मैंने गांव में प्लेग का वातावरण भोगा था और कई बार बाहर भेज दिया गया था। एक बार मैं फूआ के यहां बसावनपुर भेजा गया था। तब शायद तीन में या पांच में पढ़ता था। वह भी होली का ही मौसम था। होली के मौसम में घर से दूर एकाएक भागना पड़ा था। बाबा ने कहा था, "तुम लोग चलो, मैं होली के नये कपड़े लेकर आऊंगा।" इसी उम्मीद में हम (मैं और रामनवल जी) फटे-पुराने कपड़े पहनकर ही फूआ के यहां चले गये थे। फूआ का गांव हमारे गांव से दो मील के फासले पर था। होली का मौसम, पहला प्रवास, मन भर-भर आता था। लगता था

घर से कितनी दूर चला आया हूं। मैं वहीं बैठा-बैठा अपने गांव की ओर देखता था। क्षितिज के पास के पेडों को निहारता था। उधर से उडकर आते पंछियों को देखता था। मझले भाई समझाते, "वो देखो, वे पेड देख रहे हो न। उनके पीछे अमारी है और अमारी के पीछे अपना गाव है।"

"हम घर कब लौटेंगे भइया ?"

"जल्दी ही चलेंगे।" वे मुझे समझाते और मेरी आखों मे आसू देखकर मुझे अपने से चिपटा लेते और उनकी भी आखे भर आती। पास मे राप्ती बहती थी। कितनी बडी दूरी बना रखी है इस नदी ने मेरे और मेरे गांव के बीच। सोचता था, कब इसे पार करूगा और कब अपने गाव पहुच जाऊगा। लेकिन सच बात तो यह थी कि नदी नहीं, समय दूरी बना हुआ था। न जाने कितने दिन प्लेग गाव मे रहेगा। जब तक रहेगा हमे यहा रहना ही होगा। नदी की दूरी तो मूर्त थी लेकिन समय की दूरी अमूर्त और अदृश्य।

राप्ती की घाटी मे फैले हुए खेतो का अपना सौंदर्य था। एक अद्भुत गदराई हरियाली यहा एक पर एक लोट रही थी, पानी मे निर्मलता का घनत्व था और मुझे अच्छा लग रहा था क्योकि मुझे अपने ताल वाले खेतो की याद आ रही थी और यह याद इस अच्छा लगने को थोड़ा अवसाद से भर देती थी।

मन उचटा-उचटा था और होली करीब आ गयी थी। दो-चार दिन के फासले पर। बाबा की राह देख रहा था। मन के इस उचाट मे घर से कोई आ जाता तो कितना अच्छा लगता और बाबा को तो मेरे नये कपड़ो के साथ आना था। वे नहीं आए और होली बीत गयी। फूआ के यहा सम्पन्नता थी किंतु वह सम्पन्नता मेरे मन के अभाव को न भर सकी। मैने फटे-पुराने कपड़ो मे ही होली मनाई। घर से बाहर की यह पहली होली थी। सब कुछ हुआ लेकिन लगा कि कुछ रह गया, कुछ खाली-खाली रह गया। होली के बीस-पच्चीस दिन बाद हम लोग गाव लौटे तो गाव दूने वेग से मुझमे समा गया था। लगा, कितने दिनो से यह आत्मीय छूटा हुआ था और मुझे पुकार रहा था। और बचपन मे ही फिर एक बार मैं प्लेग के कारण बाहर (लक्ष्मीगज) होली मना रहा था। समृद्ध वातावरण मे बहुत गहमागहमी थी लेकिन मुझे बुरी तरह अपना गाव याद आ रहा था।

5

होली बीत गयी। मैं भइया के पास बहुत मजे मे था। मन मे गांव लौटने की बेचैनी अनुभव कर रहा था। गाव की चिट्ठी का इन्तजार कर रहा था—कब प्लेग हटे और मैं कब गाव लौटूं लेकिन प्लेग का कोप ज्यादा लंबा हो गया। आधा चैत बीत गया। नवरात्र शुरू हो गया। बाबू चन्द्रभान सिंह चले गये थे, बच्चा बाबू (उनके

सुपुत्र) आ रहे थे। हवेली के वातावरण में काफी सरगर्मी थी। मैंने अनुभव किया कि बड़े मालिक के आने पर इतनी सरगर्मी नहीं थी जितनी छोटे मालिक के आने पर। बच्चा बाबू हमारे जवार के जीवित मिथ थे। उनके बारे में अनेक कहानियां और घटनाएं सुनी थीं। वे बहुत झक्की मिजाज के मालिक थे—क्रूरता और उदारता दोनों की कोई सीमा नहीं थी। मैं मन ही मन सोच रहा था कि पता नहीं मेरे साथ कैसा व्यवहार करेंगे? बाबू चन्द्रभान सिंह की निगाहों से मैंने अनुभव किया था कि वे मुझे यहां अवांछित व्यक्ति समझते थे। उनकी बातचीत मे भी लगा था। उनकी उस भलमनसाहत मे जैसे एक कामकाजी बनिया छिपा था जो बिना प्रयोजन अपने धन का खर्च सह नहीं सकता था। अतः जब तक वे लक्ष्मीगंज मे रहे, मैं उनकी निगाहों से बचता रहा। चले गये तो मैंने राहत की सास ली। मैं बचपन से ही अपने अस्तित्व की वांछनीयता और अवांछनीयता के प्रति बहुत संवेदनशील रहा हूं। मुझे जहां अपनी उपस्थिति अवांछनीय लगती है वहां मैं जाना नहीं चाहता। जिस कार्य से मैं छोटा अनुभव करने लगता हूं उससे बचता हूं। इस मामले में मै ज्यादा ही संवेदनशील हूं। इसलिए दुनिया की दृष्टि मे मान्य बड़े आदमी, बडी जगह आदि मे बचता हूं। मैं सभा-सोसाइटियों में कभी भी आगे नहीं बैठना चाहता, पीछे किसी कोने में अपनी जगह चुनता हूं, किसी नेता, अफसर, मिनिस्टर या श्रीमान् से नहीं मिलता। हां, इनमें से जिनसे मैं अपनापन या समभाव अनुभव करता हूं, वहां जाता हूं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता है। मेरे कई सहपाठी दिल्ली में नेता होकर आये लेकिन मैं उनमे कभी नहीं मिला क्योंकि मुझे लगता है कि आज किसी भी दुनियावी अर्थ में बड़ा होने की प्रक्रिया आत्मीयता और सहजता के स्थान पर निर्ममता और कृत्रिमता की होती है और जो व्यक्ति इनसे गुजरकर आया हो उससे मैं पुरानी आत्मीयता और सहजता की उम्मीद कैसे कर सकता हूं! मेरी आकांक्षाएं मेरी शक्ति और परिश्रम से छोटी हैं, उनकी पूर्ति के लिए मुझे इन्तजार ही करना पडता है किंतु पूरी हो जाती हैं। फिर दूसरों के आगे बेशर्मी से हें-हें करते जाना और उनकी झूठी तारीफें करते रहने की लंबी प्रक्रिया से गुजरते रहना मेरे लिए बेमानी है। मुझे किसी चीज की जल्दी नहीं पड़ी होती। 'आज नहीं तो कल हो जाएगा और नहीं होगा तो क्या हो जायेगा, बहुत कुछ तो मिला है।' का भाव मुझे स्थविर बनाये रहता है।

हां, तो मैं बाबू चद्रभान सिंह की बात कर रहा था। मेरे ऊपर वे अपनी छाप छोडकर चले गये थे। बच्चा बाबू आये तो मैं उनसे बचना चाहता था किंतु उनके आने के कुछ घंटे बाद ही मेरा बुलावा आया। मैं उनके पास गया। वे आरामकुर्सी पर पसरे हुए थे—काली थुलथुल देह, मुंह पर चेचक के गहरे दाग, एक आंख में फुल्ली। उन्हें देखकर मुझे डर लगा।

"आइए कपिवर जी! कपि की ममता पूंछ पर।" वे बोले और एक कुर्सी की ओर इशारा करके कहा—"बैठिये।"

मैं संकोच में खड़ा रहा। देखा—तमाम नौकर नीचे बैठे हुए हैं। भइया तथा अन्य उच्चपदस्थ लोग पास पड़े तख्ते पर बैठे हुए हैं। मैंने तख्ते के कोने पर बैठना चाहा तो बच्चा बाबू बोले, "अरे भाई, वहां नहीं, इस कुर्सी पर बैठिये।"

मैं खडा हो गया और कहा, "मुझसे बड़े लोग तख्ते पर बैठे है, मुझे कुर्सी पर बैठने मे सकोच हो रहा है।"

बच्चा बाबू हंसे, "वे लोग मेरे कर्मचारी है, आप मेरे यहा के अतिथि है, कवि अतिथि।"

भइया मुस्करा रहे थे। उनकी मुस्कान मे सतोष की गहरी तृप्ति थी। उन्हें बच्चा बाबू द्वारा दिया गया मेरा सम्मान देखकर बहुत प्रसन्नता हो रही थी। उन्होने इशारा किया। मै जाकर कुर्सी पर बैठ गया।

"हा भाई कपि जी, सुना है कि आप वहुत बडे कवि है। आपने चौबे जी पर कोई कविता बनायी है, जरा सुनाइए।"

"नही बाबू साहब, वह तो मजाक है।"

"अरे, जो जिस लायक होगा उस पर वैसी ही कविता न बनेगी! चौबे जी पर महाकाव्य नही बनेगा।"

चौबे जी बेचारे सकुचाये-से बैठे थे और सारे दरबारी हुलसित हो रहे थे।

चौबे जी कही और नोकरी करते थे किंतु बच्चा बाबू के यहा ही रहते थे। वे बात-बात मे पिहकारी मारकर हसते थे। एक लबी ई·· करते थे। मैने उन पर दो पक्तिया जोडी थी जिनकी उस दरबार मे बडी चर्चा थी। मैने सकुचाते-सकुचाते वे पक्तिया बच्चा बाबू को सुना दी :

मिलते है कितने लोग यहा
जब बाते होती नयी-नयी
चौबे जी पिहकारी भरते
सीटी सी वे करते है ई·· ···

दरबारी हसना चाहते थे लेकिन बच्चा बाबू को चुप दखकर उनकी हंसी दब गयी। चौबे जी चुप बैठे थे।

मै घबरा गया कि शायद बच्चा बाबू को अच्छा नही लगा, इसलिए वे चुप है। वे चौबे जी की ओर देख रहे थे। मुश्किल मे आधा मिनट तक यह नाटक चला, फिर बच्चा बाबू ठठाकर हस पडे और दरबारी भी हस पडे। मै भी हस पडा।

"क्यो चौबे जी, आ गये न कविता की पकड मे! अरे भाई, जहा न जाये रवि वहा जाये कवि!"

चौबे जी खिलखिलाते हुए बोले, "सरकार, इस लडके ने तो मुझे कही का न छोडा। मेरे पास अपनी कही जा सकने वाली यह हसी ही तो थी, इसे भी इस लडके ने मजाक का विषय बना दिया।"

"मजाक? यह क्या कहते है चौबे जी! अरे, इस लडके ने आपकी हसी को कविता मे बाध दिया। आपको कवि का अहसानमद होना चाहिए। जानते है कविता कितनी बडी चीज होती है?"

"सब जानता हूं सरकार, लेकिन आपके दरबारी मेरा मजाक उड़ाते है, मैं अब

यहां नहीं रहूंगा।" कहकर चौबे जी उठे और चल दिये। मुझे अपने ऊपर बहुत ग्लानि हो रही थी कि मेरे कारण चौबे जी मजाक का पात्र बन गये थे। सोचा कि यहां से चलकर उनसे क्षमा मांगूगा।

"रामअवध, कवि जी को मुझे दे दो।"

"आपके ही है सरकार, लेकिन अभी तो इसे पढ़ाऊंगा। जब जी भरकर पढ़ लेगा तो आप जो हुक्म देंगे, मानूंगा।"

"ठीक है, ठीक है, मैं एक कवि-सम्मेलन कराना चाहता हूं। कब ठीक रहेगा ?"

"आप जब कहें बबुआ।"

"दशहरे में ठीक रहेगा। मैं चाहता हूं एक बड़ा कवि-सम्मेलन हो, देश के बड़े-बड़े कवि आयें, कितना खर्चा पडेगा ?" मुझसे पूछा।

"मुझे इन सब चीजों का अनुभव नहीं है बाबू साहब।"

"अच्छा, अच्छा, अभी तो समय है। रामअवध, तुम मुझे याद दिलाना। इस बार दशहरा के अवसर पर कई-कई कार्यक्रम धूमधाम से होने चाहिए।"

"जी बबुआ।"

"अच्छा कवि जी, मैंने एक कवि-सम्मेलन में यह समस्या सुनी थी, आप भी उसकी पूर्ति कीजिए। समस्या है—कांखे बने न बने बिनु कांखे।"

"मैं कोशिश करूंगा।"

"ठीक है।"

"कैसा चल रहा है रामअवध ?"

"सब ठीक चल रहा बबुआ।"

"आप बहुत दानी हो गये हैं।"

"दानी ! मैं समझा नहीं बबुआ।"

"अरे भाई, असामी पकड़कर लाये जाते हैं, आप छोड देते है और उनकी पूरी लगान न लेकर आधा, तीहा ले लेते है। इस तरह की तहसीलदारी से रियासत बिला जायेगी।"

बच्चा बाबू की आंखों में मालिकाना ठसक पैदा हो गयी थी।

"बबुआ, आप बैठकर हिसाब देख लीजिए। आप देख लीजिए कि मेरे तहसीलदार होने के बाद रियासत की आमदनी बढ़ी या घटी है। मेरे पहले कई किसानों के यहां कई-कई साल का लगान बकाया पड़ा था। एक पैसे की वसूली नहीं हो पा रही थी। वह सारी जकड़न तोड़ने के लिए कुछ छूट देनी ही पड़ती है, नहीं तो वह जकड़न और बढ़ती जाती है और वसूली नही हो पाती।"

"अरे भाई, सख्ती से काम लो। तुम तो उन्हें छोड़ देते हो।"

"सरकार, यह बकाया उन दिनों का है जब असामियों से खूब सख्ती की जाती थी लेकिन उनकी चमड़ी उधेड़ी जा सकती है, चमड़ी उधेड़ने से पैसा तो नहीं न आयेगा। मैं चाहता हूं कि वे डर से भागें नहीं। उनके पास पैसा होगा तो प्यार से सहलाकर उनसे लिया जा सकता है, नहीं तो सिपाही दौड़ते रहेंगे, वे छिपते रहेंगे, पकड़कर लाये

जाते रहेंगे, पिटते रहेंगे, मुर्गा बनाये जाते रहेंगे और अंत में निकलेगा कुछ नहीं।"

"तुम भूलते हो कि ये किसान बहुत धूर्त होते हैं। प्यार से कभी भी देने वाले नहीं हैं। लातों के भूत बातों से नहीं मानते। सख्ती करना सीखो। तभी यह जिम्मेदारी निभा पाओगे।"

"जी बबुआ, लेकिन आप हिसाब तो देख ही लीजिएगा और देख लीजिएगा कि मेरे व्यवहार से रियासत की आमदनी घटी है कि बढ़ी है।"

"अरे बबुआ कह रहे हैं तो किसी आधार पर ही न कह रहे है। वे मालिक है। जैसा कहेंगे, करना पड़ेगा। किसान के बारे में अभी तुम नहीं जानते हो रामअवध।"

मैनेजर कुंज बिहारी गुप्त बोले। बच्चा बाबू ने कुंज बिहारी की ओर नजर घुमायी। थोड़ी देर घूरते रहे। कुंज बिहारी कांपने लगे।

"तुमसे कुछ पूछा है ? तुम मुझसे अधिक समझदार बन गये हो ?"

"नही बबुआ, आपके आगे मेरी क्या बिसात ?"

"तो तुम बीच में क्यों बोले ? मैं जब इन्हें कोई बात समझा रहा था तो क्या मेरी बात काफी नही थी ? मेरे समझाने में कोई कमी थी क्या कि तुम समझाने के लिए बीच में कूद पड़े ?"

"नही बबुआ, गलती हो गयी।"

"भाग यहां से। चले हैं लिफाफा फाडकर मैनेजर बनने। जिन्दगी बीत गयी दरबार में रहते, दरबारी कायदा-कानून नहीं मालूम हुआ।"

कुंज बिहारी उठकर चले गए। नही उठते तो पिटते।

जब से मैं यहां आया कुंज बिहारी नाम के प्राणी को कुछ करते नहीं देखा। पतली फंसी धोती. सिल्कन कमीज, बढ़िया पंप का जूता, सिर मे खुशबूदार तेल, हाथ में मूठदार छडी, होंठों मे पान। उनका दुर्बल गोरा शरीर श्रृंगार मे डूबा ही रहता। रात को किसी नौकर से सिर में तेल मालिश कराना, देह दबवाना और हलकी-फुलकी कहानियां सुनना। इनका काम था श्रृंगार करना और घूमना और जब बाबू साहब सपत्नीक आते थे तो जनानखाने की सारी व्यवस्था करना। वह तब सक्रिय हो जाता—"रामअवध, यह मंगा दो। रामअवध, वह मंगा दो।" इस आदमी से मुझे अजीब चिढ़ थी। वह मेरे भइया का अपमान करता प्रतीत होता था या यों कहें कि भइया को जो सम्मान मिलना चाहिए था वह उसकी उपेक्षा करता था। भइया संकेत कर चुके थे कि यह बाबू साहब से मेरे खिलाफ लगाता-बुझाता भी है। इसलिए आज बच्चा बाबू ने जब इसे डांटा तो मुझे अच्छा लगा। एक ओर बच्चा बाबू की डिक्टेटरशिप मेरे भीतर उभरी, दूसरी ओर कुंज बिहारी जैसे चापलूसों के प्रति उनका रोषमय रूप प्रीतिकर लगा। चापलूसों को अगर इसी तरह भरी सभा में लताड़ दिया जाए तो यह रोग कुछ कम हो सकता है। उनके बारे में पहले की सुनी-सुनाई कई घटनाएं साकार हो गयीं।

वे एक बार अपने बगीचे में काम कर रहे थे। मेरे गांव के ही एक व्यक्ति उनके साथ थे। उन्होंने कहा, "बाबू साहब, अगर इस बगीचे के रास्तों पर उजरकी दूब लगा दी जाय तो बहुत सुंदर लगेगा।" बाबू साहब काम करते-करते रुक गए और अपनी जेब

में से रुपये निकालकर देते हुए कहा, "लो, ले आओ उजरकी दूब।"

"मैं कहां से ले आऊं बबुआ ?" कहकर वे कांपने लगे।

"तब तुमने कहा क्यों अमुक के साले।" और उन्होंने अपने हाथ की कुदाल फेंककर मारी। कुदाल लगी नहीं और वे व्यक्ति भाग चले और फिर भाग ही गये।

मैं यह सोच ही रहा था कि बच्चा बाबू उठ खड़े हुए और कहा, "अच्छा कवि जी, फिर कल मिलेंगे," और भइया को संबोधित कर कहा "रामअवध, देखना, कवि जी को कोई तकलीफ न हो।"

जब मालिक नहीं होते तो इस दरबार में काफी खुलापन रहता। मुक्त भाव से लोग बोलते-बतियाते और हंसी-मजाक करने, एक-एक नाटक होता। भइया भी बहुत मजाकिया हे। वे हंसी-मजाक के नाटक मे बहुत रस लेते। लेकिन एक अंतर था। कुज बिहारी के इर्द-गिर्द जो महफिल जमती उसमे अश्लील कथायें होतीं, भइया के पास जो महफिल जमती उसमें दूसरी प्रकार के हंसी-मजाक होते। यों भइया बहुत व्यस्त व्यक्ति थे, वे आधी-आधी रात तक हिसाब-किताब लिखते रहते, फिर भी थकते नहीं और हंसी-मजाक के लिए समय निकाल लेते। जब मालिक लोग आते तो कोई 'इनोसेंट' मजाक उन तक भी पहुंच जाता और वे भी उसमे शरीक हो जाते। तब दरबार मालिक और नौकर के बीच की तनाव-भूमि न रहकर कुछ देर के लिए मित्र-समारोह बन जाता।

एक दिन गम्मज हो रहा था कि टहलते हुए बच्चा बाबू आ गये। सब लोग हड़बड़ाकर उठ गये।

"बैठो-बैठो।" कहते हुए वे एक कुर्सी पर बैठ गये।

"हां भाई, गोरख कहां है ?"

"गोरख खाना बनाने जा रहे हैं बबुआ।"

"बुला लाओ।"

लोग समझ गये कि बबुआ मजाक के मूड मे हैं।

गोरख आये तो बाबू साहब ने पूछा, "कैसे हो गोरख ?"

"आप गोरख का क्या हाल पूछते हैं बबुआ, अपने ही गांव के लोग उनके दुश्मन हुए है।" भइया ने कहा।

"अच्छा ! क्या हुआ ?"

"अरे बबुआ, बिसुनाथ के मारे इनकी शादी ही नहीं हो पा रही है।" भइया ने कहा।

"अरे, ई तो बड़ा गडबड है। बिसुनाथ को बुलाओ।"

बिसुनाथ और गोरख दोनों मेरे ही गांव के थे। बिसुनाथ मिल मे काम करते थे और बगल के एक मकान में रहते थे। गोरख बाबू साहब के यहां रसोइया थे। पैंतालीस साल के हो गए थे, शादी नहीं हुई थी। वे शादी के लिए बेहाल थे, लोग उनकी इस कमजोरी का फायदा उठाकर उनका मजाक बनाते थे, उन्हें ठगते भी थे।

बिसुनाथ पकड़कर लाए गये।

"बिसुनाथ पडित, आपके खिलाफ बहुत बड़ा अभियोग लगा है कि आप हमारे

रसोइया की शादी नहीं होने दे रहे हैं।"

"मैंने क्या किया है बबुआ ?"

"अरे तुमने क्या नहीं किया है ? बबुआ, रामअवध चाचा से पूछिए कि यह मेरी शादी काटता है कि नहीं। यहां पर कई लोगों ने मेरी शादी की बात चलाई लेकिन बिसुनाथ ने काट दी।"

"तुम्हें कैसे मालूम ?"

"अरे बबुआ, उन्हीं लोगों ने बताया कि बिसुनाथ शादी काट दे रहे हैं। कह रहे हैं कि इसका घर दोखी है।"

"यह तो बहुत बुरी बात है बिसुनाथ पंडित ! सच ही कहा गया है कि पट्टीदार पट्टीदार का भला नहीं देख सकता।"

"अरे एतने नहीं सरकार, ई मेरे खिलाफ टोना-टोटका करते हैं।"

"नाहीं बाबू साहब, मुझे टोना-टोटका आता ही नहीं।"

"ई झूठ बोलते हैं बबुआ ! रामअवध चाचा से पूछ लें, इनके यहां कपूर की डली पकड़ी गयी है। उस कपूर पर ये भूत-प्रेत सिद्ध करते हैं और मेरे खिलाफ लगा देते हैं। ये अयना देखकर मेरी छाया उसमें भर लेते हैं और फिर उस अयने पर जोग-टोट करते हैं।"

"हां बबुआ, गोरख ठीक कह रहे हैं। बिसुनाथ के यहां कपूर की एक बहुत बड़ी डली पायी गयी और मैंने भी कई बार देखा कि ये गोरख की ओर अयना देखा-देखाकर कुछ कर रहे हैं।" किसी ने कहा।

बच्चा बाबू बहुत चिन्ता में पड़े दिखाई पड़े। कुछ देर बाद बोले, "रामअवध, यह दरबार की इज्जत का सवाल है। बिसुनाथ पंडित ने गोरख की नहीं, इस दरबार की तौहीन की है। एक बाहरी आदमी हमारे दरबार में घुमकर हमारे दरबार के आदमी की तौहीन करे, यह तुम लोगों के लिए डूब मरने की बात है।"

"अरे बबुआ, तौहीन की बात करते हैं, ई मेरी जान लेकर रहेगा।" गोरख गुस्से से कांपने लगा था।

"बिसुनाथ पंडित को सजा मिलनी ही चाहिए। चाहे जैसे हो, इन्हें गोरख की शादी करानी ही होगी। और रामअवध, कल तांत्रिक जी को बुलाकर बिसुनाथ के झाड़-फूंक को गोरख के ऊपर से उतरवाना होगा। अपने आदमी का खयाल तुम लोगों को रखना चाहिए।"

"जी बबुआ।"

"अच्छा गोरख पंडित, तुम जाओ, खाना बनाओ, मैं देखता हूं कि आगे कोई कैसे तुम्हारी शादी काटता है।"

"अच्छा सरकार।" कहकर गोरख बिसुनाथ को घूरता चला गया।

सभी लोग ठठाकर हंस पड़े।

"बड़ा गधा है गोरखा।" बच्चा बाबू ने टिप्पणी जड़ी।

"अरे बबुआ ! क्या बतायें, बिसुनाथ दाढ़ी बनाने के बाद फिटकरी का इस्तेमाल

करते हैं। उसी को कपूर समझ बैठा है। पगला गया है शादी के लिए। रोज शाम को बन-ठन के निकलता है किसी-न-किसी बाजार की ओर, और कोई-न-कोई व्यक्ति बर-देखुआ बनकर इसे छेड़ देता है।"

बच्चा बाबू हंस रहे थे।

"बबुआ, ई सब तो ठीक है, लेकिन सभी लोगों ने हमारे खिलाफ इस मूरख को कर दिया न, तो मेरी खैर नहीं। मजाक मेरे लिए घातक बन जायेगा। इसका बदला गांव पर लेगा। वहां मेरा खेत-वेत कटवा लेगा।" बिसुनाथ कुछ व्यथा से बोले।

कुछ ही देर बाद बाबू साहब उठे और दूसरी ओर चल गए। मुझे यह देखकर अच्छा लगा कि बाबू साहब मजाकिया किस्म के आदमी हैं। इनके बारे में यही सुना था कि ये बड़े गुस्सैल है और कोई इनमे बोलने की हिम्मत नही करता। लेकिन यहां तो जब से मिले हैं कुछ और ही रूप दिखाई पड रहा है। यह सब सोच ही रहा था कि दूसरी ओर से बाबू साहब के चीखने-चिल्लाने की आवाज आयी। भइया उधर की ओर भागे। साथ-साथ मैं भी गया। देखा, बच्चा बाबू एक आदमी को जूतों से पीट रहे थे। वह जवान आदमी मार खाकर भी भागने की कोशिश नहीं कर रहा था। भागना भी शायद जुर्म होता क्योंकि बाबू साहब को उसके पीछे मारने के लिए भागना पड़ता। काफी लोग इकट्ठे हो गये थे लेकिन किसी की हिम्मत नहीं हो रही थी कि उसे छुड़ाये। उसका पिटना देखकर मैं बहुत परेशान हो आया था और बाबू साहब के प्रति गुस्सा उमड़ आया था लेकिन मेरी क्या मजाल कि बोल पाता। बाबू साहब के नौकर का छोटा भाई, मेरी हस्ती ही क्या थी? शायद बहुत-से लोग मेरे भाव से गुजर रहे थे लेकिन सभी अपने को बन्द किए हुए बैठे थे।

एकाएक उसका बाप रोता-गिड़गिड़ाता हुआ आया और बाबू साहब के पैरों पर लोट गया। और किसी को हिम्मत हो या न हो बाप को तो होगी ही। बाबू साहब उसे पैरों से ठेलते हुए उसके बेटे को पीटते रहे और थूक के साथ गालियां उगलते रहे, "साला, हरामजादा, आज दोपहर तक के लिए छुट्टी मांगकर गया था, अब आ रहा है, वह भी बुलाने पर।"

"सरकार, दोपहर को तो पहुंचे ही थे। पहुना-बोहुना आए हुए हैं। जब से आये उनकी खातिर-बात में लगे हुए हैं।" बाप बोला।

"पहुना-बोहुना आए हुए है तो ड्यूटी छोड़ दोगे क्या? बड़े लाट साहब के पहुना आए हुए हैं।"

"सरकार, लाट साहब के पहुना लाट साहब होते हैं और गरीबों के पहुना गरीब। आखिर पहुना तो सबके पहुना ही होते हैं।"

"भाग साला, जबान लड़ाता है? भाग, नहीं तो इसी के साथ तेरी भी धुनाई शुरू हो जाएगी।" और वे बेटे को धुनते रहे।

"उसकी धुनाई तो मेरी ही धुनाई है सरकार। बेटे का दरद बाप का ही दरद होता है। जो बाप अपने बेटे का दरद नहीं समझता वह भी कोई बाप है क्या सरकार!"

बाबू साहब के हाथ रुक गए। उन्होंने आग्नेय नेत्रों से बाप को देखा और लगा

जैसे उनकी खैर नहीं है लेकिन उन्होंने जूता नीचे गिरा दिया और पांव में डालकर धीरे-धीरे कुर्सी पर आकर बैठ गए। कुछ दूर पर स्थित झोंपडी में से औरतों के रोने-चीखने की आवाज आ रही थी। बाबू साहब अन्दर चले गये थे। दुलहिन ने उन्हें बुलाया था और हम उठकर दूसरी ओर आ गए।

भइया से मैंने धीरे से पूछा था कि माजरा क्या है ? उन्होंने बताया था कि यह बाबू साहब का खास खवास है—मोहन नाम है इसका। यह दो दिन की छुट्टी लेकर गवना कराने गया था। आज दोपहर को लौटा है और शाम तक इनके काम पर नही लौटा, उसकी सजा भुगत रहा था।

बाबू साहब अजब व्यक्ति हैं। उनका अजब होना मेरे भीतर अंट नही रहा था। औरते रो रही थी। मुझे महसूस हो रहा था, उनमें एक स्वर उसकी दुलहिन का भी है. वह क्या सोच रही होगी ? आज उसकी सुहागरात है, उसके मन में न जाने कितने सपने होंगे, उसकी आखो मे अपने पति का कितना प्यारा रूप अंकित होगा और इस जमीदार ने तो जूतो और डडों से पीट-पीटकर उसकी देह क्षत-विक्षत कर दी। पूरी देह में हल्दी पोते रात-भर कराहेगा और उसकी दुलहिन बगल मे बैठी रोएगी। उसके आंसुओं के रास्ते उसके सारे सपने चू-चूकर उसे खाली कर देंगे। आखिर क्यों ? क्या अपराध था इस आदमी का ? यही न कि मालिक के यहां चार घंटे बाद पहुंचा।

मेरा किशोर मन तब ऐसे दृश्यों की समाजशास्त्रीय विवेचना तो नही कर सकता था किन्तु आहत जरूर होता था। ऐसे दृश्य मुझे बहुत सालते थे। इस दृश्य ने मुझे अपने गाव के अनेक दृश्यों के बीच खड़ा कर दिया। किसी का हलवाहा काम पर नहीं आया, वह उसे पीट रहा है। किसी हरिजन ने बेगार नही किया तो उसका मालिक उसे पीट रहा है। हरिजनों के तो मालिक ही मालिक होते थे क्योंकि उनकी अपनी जमीन तो होती नहीं थी, वे किसी न किसी की जमीन में बसे होते थे। छोटी-छोटी भूलों पर उन्हें उजाडने की धमकी दी जाती थी। किसी का सूअर किसी के खेत मे पड़ गया, किसी न किसी के पेड से पत्ता तोड़ लिया, किसी ने आम के सीजन में आम उठा लिया, किसी ने भूख लगने पर किसी के खेत में से दो-चार छीमियां तोड़ ली, किसी ने चुपके-चुपके किसी की गडही से मछली मार ली तो उसकी खैर नहीं। यदि किसी कारण कोई समर्थ ब्राह्मण उससे असंतुष्ट है तो इतनी-सी बात के लिए उसकी धुनाई कर देता था। मैंने बांस की कइन से कितनों को सपासप पिटते देखा है और तिलमिलाकर रह गया हूं। ऐसा नहीं है कि मैं इस सामंती ब्राह्मण संस्कार से मुक्त रहा हूं। इस संस्कार से मुक्त होने के लिए विचार के स्तर पर बहुत आत्म-संघर्ष करना पड़ता है जो उस समय सम्भव नही था किन्तु संवेदना के स्तर पर मैं उनकी तकलीफ से आहत अवश्य होता था। यों मेरा भी ब्राह्मण और मालिक संस्कार कभी-कभी जोर मारता था (और अब एकदम समाप्त हो गया है, यह मैं नहीं कह सकता) और किसी हरिजन के किसी व्यवहार को अपने प्रति अपमानजनक पाकर मैं क्षुब्ध हो उठता था और उसे पीटने की भी इच्छा हो आती थी। हरिजन होकर उसने मेरे साथ यह सलूक किया यह सोचकर मैं तिलमिला उठता था किन्तु वह क्षणिक होता था और मैंने किसी को पीटा

हो, मुझे याद नहीं। मेरे पिताजी भी गांव वालों से भिन्न प्राणी थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और अछूत में कोई भेद नही था। जब वे सम्पन्न हुए तो घरवालों के चोरी-छिपे न जाने कितने हरिजनो को पैसे दिए, अनाज दिये और घर आकर कह देते थे कि पैसे रास्ते में गिर गये। वे सच्च अर्थों मे सार्वजनिक व्यक्ति थे। साप का विष झाडने के लिए, आग बुझाने के लिए, या किसी अन्य प्राकृतिक या सामाजिक आपदा में बभनौटी और चमरौटी दोनो मे समान रूप से अपनी सेवाए अर्पित करते थे। इसलिए उनसे कोई डरता नही था। इसका यह परिणाम होता था कि एक ओर हरिजन बस्ती के लोग उन्हे प्यार करते थे, दूसरी ओर मेरा खेत काटने के लिए या अन्य सारे काम करने के लिए आने से मना कर देते थे। यह अद्भुत विरोधाभास था। मा डाटती थी, "दुनिया-भर के लोगो को मजूर मिलते है, तुम्ही को क्यो नही मिलते?"

पिताजी झल्लाकर कहते, "क्या बताऊं, मेरा आगछ (नियति) ही ऐसा है कि जिसका भला करो, वही धोखा देता है।"

मा बडबडाती, "जाओ और सटो। जब देखो तब उनका काम करने के लिए तैयार रहते हो। और वे है कि अपना काम कराकर अंगूठा दिखा देते है।"

ऐसा नही कि मा के मन मे हरिजनों के प्रति दुर्भाव था, वह भी बहुत सहृदय थी किंतु अपने घरेलू काम के प्रति बहुत चौकस। इसलिए जब घर का कोई काम बिगडता था तो पिताजी से लडती थी। पिताजी अपनी सैलानी प्रकृति के कारण आज का काम कल पर टालने के आदी थे और मा कल का काम भी आज ही निबटाना चाहती थी। दोनो मे कहा-सुनी होती, पिताजी झल्लाकर वहां से उठ जाते और मा बिगडते हुए काम को देखकर माथा पीटकर रह जाती।

ऊपर मैंने विरोधाभास की बात कही है किन्तु सचमुच वह विरोध नही, विरोधाभास ही था। वास्तव मे हरिजन पिताजी से डरते नही थे लेकिन गाव के बहुत-से क्रूर लोगो से डरते थे। वे पिताजी के काम पर आना चाहकर भी नही आ पाते थे क्योंकि यहा नही आयेंगे तो कुछ नहीं बिगडेगा, किन्तु दूसरो के यहा नही जायेंगे तो उनकी धुनाई हो जायेगी, उनके झोपडो मे आग लगा दी जायेगी, जमीन मे से उजाड दिया जायेगा या और तरह की यातनाए दी जायेंगी। इसलिए हमारे काम पर तभी आते थे जब किसी क्रूर आदमी के काम मे टकराहट न हो। इसलिए हमारा हर काम पिछडा होता था—खेत की बोवाई, निराई, सिचाई, कटाई, दवाई सभी बाद मे होती थी। सारे गाव का खलिहान खाली हो गया है तो हमारे खलिहान मे दवाई के लिए डाठ पड़ा हुआ है। बरसात करीब है और मा सिर पीट रही है कि सारा अनाज खलिहान मे सड़ जायेगा। यह पिछडापन ही हमारे घर की अपनी पहचान थी। कोई भी काम पिछड़ा हुआ पडा हो, लोग समझ लेते थे कि यह चन्नर बाबा का होगा। मन्दिल (भूसा रखने का मन्दिर) टेढ़ा-मेढा दिखाई पडे, खेत बीड़र जमे हो, वे घास-पात से अंटे पड़े हों या फसल के दिनों में खेत परती पड़े हों या बरसात के दिनो मे खपरैल उजड़े हुए हों, तो समझ लीजिए कि ये सब चन्नर बाबा के है।

"क्या सोच रहे हो?" भइया ने ध्यान भंग किया।

मैं ध्यान से उबरा। देखा भइया का चेहरा उदास था। "मुझे कुछ अच्छा नही लग रहा है।" मैंने कहा।

"क्या ?"

"यही सब, जो कुछ हुआ है।"

'हा, यह सब तो इस दुनिया का सामान्य रूप है भाई।"

"बहुत क्रूर व्यक्ति है बच्चा बाबू, इनसे अच्छे तो इनके पिताजी है।"

"हा, सो तो ठीक है लेकिन बच्चा बाबू गुस्से मे जितने आगे है दया मे उतने ही पानी। वे बना भी सकते है, बिगाड भी सकते है। इनके पिताजी न बनाते है, न बिगाडते है।"

"क्या मतलब ?"

'मतलब यह कि बच्चा बाबू किसी को कुछ भी दे सकते है। उन्हे धन का बिलकुल लोभ नही है। वे अपने लिए भी धन खर्च करते है और दूसरो के लिए भी। वे सही अर्थों मे राजा है। प्रजा इनके साथ ज्यादा लगाव अनुभव करती है। जिस खवास को उन्होने मारा है उसे कई बीघे जमीन दे रखी है और लडकी या लडके के शादी-ब्याह मे जो मागो, दे देते हैं। देखना, कल-परसो मे खवास के प्रति कितनी करुणा बरसाते हैं।"

"सो तो ठीक है भइया, लेकिन आदमी को पहले आदमी तो समझना चाहिए। इतना पिटकर यह उनकी करुणा पा ही गया तो क्या हो गया ? जो घाव उसे लग गया है, वह उनकी करुणा से कम तो नही हो जायेगा ?"

"तुम तो जानते हो, भाई कि भूख की मार सबसे बडी होती है। ये मार खाकर भी यदि मालिक से कुछ पा जाते है तो खुश रहते है। अगर इनका सम्मान करो और भूखा रखो तो उसे पसद नही करेंगे।"

"तो क्या सभव नही है कि इन्हे भूखा भी न रखा जाय और इन्हे पीटकर इनका अपमान भी न किया जाय ?"

"नही, यह सभव नही है। अभी तो सभव नही दिखाई पड रहा है। कभी सभव होगा, मैं नही जानता। इस माहौल मे यही सब होता रहेगा। जो खिलायगा, वह सब कुछ करेगा।"

मैं चुप हो गया। मैं समझ नही पाया कि भइया की अपनी सोच क्या है ? रात को सोया तो यह दृश्य रह-रहकर उभरता रहा।

सवेरे फिर बच्चा बाबू ने बुलाया, "कहो कविराज, समस्या की पूर्ति की ?"

वे बहुत प्रसन्न मूड मे थे।

"नही बाबू साहब, अभी तो समय नही मिला।"

खवास का बाप आया, हाथ जोडकर बोला, "बबुआ, मोहना को तो बोखार आ रहा है। हुकुम हो तो मैं ही आज खिदमत मे रहू।"

"बोखार आ रहा है ? अरे, साला इतना कमजोर हो गया है कि चार थप्पड मे ही बोखार खा गया। जाओ, डाक्टर साहब के पास जाओ, उसकी दवा कराओ। यहा का काम चल जायेगा। रामअवध, इसे पचीस रुपये दे दो।"

भइया ने टेंट से पचीस रुपये निकाले और उसे दे दिये।

खवास का बाप जैसे एहसान से लद गया और झुककर सलाम बोलते हुए जाने लगा। "और सुन।" वह खड़ा हो गया, "तेरे पहुना-बहुना होंगे ही। यहां से कटहल लेता जा तरकारी के लिए। कुछ आलू-वालू भी ले ले। अनाज न हो तो अनाज भी लेता जा। और देख, भीतर चला जा, दुलहिन ने मोहना की बीवी के लिए एक साड़ी रखी है, ले ले।"

मोहना का बाप जैसे दया के बोझ से लद गया। वह बार-बार झुक-झुककर सलाम करता रहा और आंखों में कृतज्ञता का भार लिए वहां से चला गया।

भइया ने अर्थपूर्ण दृष्टि से मुझे देखा। मैं मुस्कराया।

"हां तो कपि जी, आप यहां है ही, इस नवरात्र में कोई कवि-सम्मेलन कर दिया जाय तो कैसा रहेगा?"

"ठीक है; जैसी आपकी मर्जी।"

"रामअवध, मैं सोचता हूं कि रामनवमी के दिन यहां कुछ धूमधाम हो जाय।"

"ठीक है बबुआ।"

"एक ओर दंगल हो, एक ओर कवि-सम्मेलन, एक ओर नौटंकी हो, एक ओर कीर्तन।"

"लेकिन एक ही दिन कैसे होगा?" भइया बोले।

"अरे, रहे बुद्धू के बुद्धू! अरे, कई दिनों तक यह कार्यक्रम चलेगा। एक दिन एक प्रोग्राम।"

"लेकिन रामनवमी एकदम करीब आ गयी।"

"तो पूर्णमासी के आसपास रख लेते हैं।"

"बबुआ, पैसे तो बहुत लगेंगे, इतनी जल्दी इंतजाम कैसे होगा?"

"तो तुम किस मर्ज की दवा हो? लगान-वसूली का टाइम है ही। बस, इतना याद रखो कि यह काम होना है।"

फिर वह काम हुआ। दूसरे दिन से ही बाबू साहब के मुस्टंडे सिपाही लाठी लेकर गांव की ओर चल पड़े और घसीट-घसीटकर किसान दरबार में हाजिर किये जाने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया। भइया की सारी मानवता जैसे बाबू साहब के सामने मुर्गा बनी खड़ी थी और भइया के आगे सारे किसान मुर्गा बने खड़े थे। भइया के सामने बाबू साहब का आदेश था कि किसी भी प्रकार पैसा तो वसूल करना ही है। सो पैसा वसूल हो रहा था। कोई कुछ बेच रहा था, कोई कुछ। जिनके पास अच्छी फसल थी, उनके लिए कोई समस्या नहीं थी, किंतु जिनकी थोड़ी-सी फसल लेनदारों द्वारा खलिहान में से उठा ली गयी हो, वे क्या करें? रहा-सहा अनाज भी बेचकर लगान दे रहे थे। जिनके पास कुछ भी नहीं था, मार खा रहे थे या अरतन-बरतन बेचकर लगान चुका रहे थे।

मैंने भइया से कहा, "यह क्या हो रहा है?"

"मैं भी नहीं समझ पा रहा हूं कि यह सब मैं क्या कर रहा हूं लेकिन यहां रहना

है तो यह सब करना ही पड़ता है।"

"फिर भी ?"

"फिर भी-विर भी कुछ नहीं, कोई और रास्ता मेरे सामने नहीं है।"

"क्या कवि-सम्मेलन और कीर्तन किसानों के खून से चिपचिपाते हुए पैसे पर ही होंगे ? कुश्ती और नौटंकी हो, तो कुछ अजब नहीं लगता।"

"कुछ भी नही होगा," भइया ने कहा और सचमुच उत्सव के लिए नियत दिन से पूर्व एक दिन देखा कि बच्चा बाबू छावनी से जाने की तैयारी कर रहे है। और दूसरे दिन चले गये। मुझे लगा कि किसानों के हाहाकार के बाद और उत्सव के पहले का एक सन्नाटा चारों ओर पसर गया है लेकिन शीघ्र ही सहजता का स्वर उग आया। भइया की तनावपूर्ण मुद्रा में असामियों के लिए आत्मीय भाव फिर तैर आया। रामनवमी का त्योहार आ गया और उसके साथ ही गांव से यह संदेश आया कि प्लेग हट गया है। मैं गाव लौटने की कल्पना से भीतर-भीतर महक आया और एक रात भइया और उनके साथी रामनारायण लाल के साथ गाड़ी पर सवार हो गया। गाड़ी पर सवारी का यह दूसरा अवसर था इसलिए घर लौटने के उत्साह के साथ गाड़ी पर चढ़ने का उत्साह भी शामिल था। गाड़ी चली जा रही थी और मेरा जी होता था कि गाड़ी चलती रहे। सरदार नगर उतरकर हम लोग तरकुलहा के मेले मे पहुंचे। रामनारायण लाल रंगीले जीव थे उनकी रंगीली बातें और रसीले गाने सुनकर मुझे विश्वास नहीं होता था कि यह भइया के बहुत अच्छे दोस्त है, मगर थे, और कौन जाने, भइया के संन्यासी हृदय के भीतर भी कही एक रामनारायण लाल रहा हो। तरकुलहा पहुंचकर वे लोग रुक गये और मैं घर लौट गया। घर लौटा तो गाव पूरे वेग से मुझमें समा गया। चैत को गांव प्लेग के बाद एक नयापन लिये लगा लेकिन मै मन ही मन सोच रहा था, 'पता नही इस बार कौन-कौन चला गया है और उससे मुलाकात न हो।'

6

कुछ भी क्रम से याद नहीं है, सब कुछ एक चक्र के रूप में ही मन में आता है—घूमता हुआ, एक-दूसरे में गड्ड-मड्ड होता हुआ। यों तो मेरे साथ गांव के और स्कूल के बहुत-से लड़के थे किंतु मित्र के रूप मे कुछ ही याद आ रहे है जो या तो अब रहे नहीं या बड़े होकर कई कारणों से विमुख हो गये। यों मेरा स्वभाव बडी भीड़ से सटने का नहीं रहा है। तमाम लोगों से सटा भी कैसे जा सकता है! उनके बीच रहा जा सकता है, उनके साथ सुख-दुःख जिया जा सकता है किंतु सटने का अर्थ होता है अंतरंग होना। अंतरंगता यदि नाटक नही है तो सचमुच उसका दायरा सीमित होता है जिसमे हम अपने, कुछ बहुत अपने लगने वाले लोगों के सामने अपने को खोल देना चाहते हैं जिनके बिना हम अधूरा-अधूरा अनुभव करते हैं। भावना और दर्शन के स्तर पर पूरा देश और पूरा विश्व अपना

हो सकता है किंतु अंतरंग अनुभव के स्तर पर एक छोटा-सा संसार ही हमारा अपना हो पाता है और उसी संसार के सुख-दुःख की गहन प्रतीति बड़ी होकर देश के और संसार के सुख-दुःख की प्रतिनिधि बन जाती है। लेकिन यह भी सही है कि हम छोटे-से अंतरंग संसार की सृष्टि बाहरी जगत् के साथ अपने लगाव से ही करते हैं इसलिए वह निरंतर बड़ा होता रहता है और बदलता भी रहता है। अनुभव के आधार पर बना हुआ हमारा अपना संसार ज्यों-ज्यों बड़ा होता रहता है, त्यों-त्यों हमारा अपना जीवन और हमारी रचनात्मकता समृद्ध होती रहती है और बड़े संसार की प्रातिनिधिकता की शक्ति प्राप्त करती रहती है।

मित्रता का आधार होता है समान स्तर और समान मानसिकता। एक-दूसरे से मिलने में यदि हमारे मन में अमीर-गरीब या बड़ी जाति-छोटी जाति आदि का भाव उभर जाता हो तो मैत्री नहीं बन पाती। छोटे या बड़े की भावना तो मैत्री के लिए दीवार है। इसी प्रकार यदि हमारी मानसिकता में बहुत अंतर हुआ—यानी एक अत्यत क्रूर हुआ, दूसरा अत्यंत सहृदय; एक खुली प्रकृति का हुआ, दूसरा बंद प्रकृति का; एक लंपट हुआ, दूसरा सदाचारी तो मैत्री नहीं बन पाती, साथ बन जाता है। मानसिकता के समान होने का अर्थ एक-दूसरे का पर्याय होना नहीं है बल्कि बुनियादी मानवीय भावनाओं का उपस्थित होना है। लेकिन मैत्री या अंतरंगता के लिए एक तीसरी और बहुत जरूरी चीज होती है—एक साथ रह पाने की परिस्थिति। साथ रह पाने की स्थिति यानी एक परिवेश ही हमें एक-दूसरे से जोड़ता है, परिचित कराता है और तभी हम अपने स्तर और मानसिकता की अनुकूलता या प्रतिकूलता के मुताबिक एक-दूसरे के अंतरंग बनते है या विमुख हो जाते है।

हम लोगों का परिवेश एक ही था—गांव का परिवेश, स्कूल का परिवेश। हम एक-दूसरे के साथ पढ़ने जाते थे, खेलते-कूदते थे, खेतों की ओर जाते थे, यानी परिवेश की सामान्यता हमें एक-दूसरे से मिलाती रहती थी। स्तर भी एक ही था—गरीबी का स्तर। बस, सवाल मानसिकता का था। मेरी मानसिकता भी अजीब है। वह एक ओर समाज का अंग बनना चाहती है, दूसरी ओर कहीं बहुत निजी हो उठती है। इसलिए मैं किसी से मिलता-जुलता हूं तो अपनी मस्ती से। किसी काम से या दोस्ती बनाये रखने के लिए मैं लगातार किसी से मिलता रहूं, यह मुझसे नहीं हो पाता। शायद तब भी नहीं हो पाता था। एक तरह से लड़कों की भीड़ में भी अकेला था। लड़कों की एक जमात थी, जुड़ी रहती थी, तरह-तरह के राग-रग करती थी किंतु मुझे शामिल नहीं किया जाता था, मैं पहुंचता तो वे कुछ ठंडे पड़ जाते थे। शायद वे मेरी मानसिकता से मेल न खा पाने के कारण मुझसे कटे रहते थे। फिर भी मेरे मित्रों की एक छोटी-सी दुनिया थी जिसमें शामिल थे दीनानाथ, ब्रजनाथ, छेदीराय, काशीनाथ, कपिलदेव। ये मेरे सहपाठी भी थे और मित्र भी। कपिलदेव तो काफी दूर तक मेरे सहपाठी रहे और हम दोनों बहुत ही अभिन्न रहे; पढ़ने-लिखने में प्रतिस्पर्धी भी किंतु बाद में वे राजनीति की ओर गये तो चलते ही गये। भौगोलिक दूरियों ने तो हमें अलग किया ही किंतु उनकी राजनीति ने और घरेलू राजनीति ने शायद ज्यादा दूरी पैदा कर दी। दीनानाथ गरीबी से मर गये।

काशीनाथ रंगून से भगदड़ पड़ने के समय रास्ते में पैदल चलते-चलते बीमारी से मर गये। ये दोनों मित्र बहुत याद आते हैं; अक्सर सपनों में आते हैं, बातें करते हैं और सपने में लगता है कि ये मरे नहीं थे, खो गये थे, लौट आये है। सपना टूटने पर मन अवसाद से भर जाता है। छेदीराय विदूषक थे और हैं। गांव जाने पर कभी-कभी मिल जाते हैं। ब्रजनाथ गोरखपुर में पढ़ा रहे हैं और उनकी सारी प्रतिभा घरेलू परिस्थितियों की चोट से ठंडी पड गयी। वे और रामलला अपने समय के बहुत अच्छे विद्यार्थी थे किंतु रामलला को हाई स्कूल के बाद नौकरी करनी पड़ गयी और ब्रजनाथ ने किसी तरह अपनी पढ़ाई जारी तो रखी किंतु घर की विषम स्थितियों और गरीबी के दबाव में उनकी प्रतिभा विकसित नही हो पायी और अंत में वे हाई स्कूल के शिक्षक बनकर रह गये।

ऐसा नहीं है कि मेरे मित्रों की मानसिकता ठीक मेरी ही मानसिकता जैसी थी, फिर भी हम मित्र थे क्योंकि अनेक भिन्नताओं के बावजूद हममें एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझने और शरीक होने की तडप थी। ये सभी लड़के मेरी अपेक्षा अधिक बहिर्मुखी थे। मुझमे बचपन से ही संकोच बहुत रहा, शायद यह जन्मजात था जिसे अभावग्रस्त स्थितियों ने अधिक गहरा दिया था। शायद मुझमें भले-बुरे की विचारशक्ति भी थी जो शुरू से ही मुझे दूसरों का माल हडप लेने या तोड़ देने, दूसरों का अकारण नुकसान कर देने, किसी अशक्त को सताने आदि की क्रिया मे रत होने नहीं देती थी। लड़कों की जमात प्रायः अपने भीड-निर्णय मे मुझे शरीक नही पाती थी, इसलिए कटी रहती थी।

एक घटना याद आ रही है। बाढ़ आयी थी। लोमडी, सियार आदि जानवर गाव में घुसकर झुंड-झाड़ियो में छिप गये थे। एक लोमडी के पीछे कुत्ते पड़ गये। मेरे कुछ साथी कुत्तों को ललकारते हुए लोमड़ी के पीछे दौड़ने लगे। मैं उन्हें रोकता हुआ उनके पीछे-पीछे भागने लगा। लेकिन हिंसा के सामूहिक आनंद में कोई भी मेरी बात नही सुन रहा था और अंत मे लोमडी को कुत्तों ने पकड लिया और बेरहमी से चीथने लगे। मैं उदास-उदास लौटा तो मेरे पडोसी बुजुर्ग मुझे डाटने लगे, "शरम नही आती तुम्हें! लोमडी ने क्या बिगाड़ा था? क्यों उसे कुत्तों से मरवा दिया?" मैंने उन्हें समझाया कि मैंने नही मरवाया। वे अपनी स्वभावगत शैली में भड़क उठे, "तुम झूठ बोलते हो, मैंने खुद देखा है तुम्हें कुत्तो के साथ भागते हुए।" "आपने देखा है तो सही देखा है लेकिन मैं लडकों को मना करता हुआ उनके पीछे-पीछे भाग रहा था।" लेकिन वे नही माने और अपनी धुन मे गरजते रहे। मै भी गरजने लगा। बड़े लोगों ने डाटा कि बडे लोगो का लिहाज करना चाहिए। इस तरह बहस करना बदतमीजी है। सबको अपने खिलाफ देखकर मैं भीतर-भीतर कुढ़ता वहां से हट गया और बड़े लोगों के बडप्पन से आहत होकर इधर-उधर घूमता रहा। रात को सोया तो नीद नही आयी। एक ओर कुत्तों द्वारा चीथी जाती हुई लोमडी का दृश्य आगे आता था, दूसरी ओर बड़े लोगो के झूठ द्वारा चींथा जाता हुआ सत्य। कई दिन तक मैं अपने मित्रों से नहीं बोला लेकिन आखिर कब तक यह अनबोला चलता। एक दूसरी बात भी थी—वह यह कि लड़के प्रायः रूमानी रंग के थे। वे उस छोटी उम्र में भी लड़कियों की चर्चा किया करते थे।

मुझमें यौन भावना की जागृति बहुत बाद में हुई। लड़के मुझे नीरस या संयत समझते थे इसलिए वे अपने बहुत-से क्रिया-कलापों में मुझे शरीक करने में उत्साह नहीं अनुभव करते थे बल्कि मुझसे कटते थे। हां, जहां पढ़ाई-लिखाई की बात हो या खेल-कूद हो वहां तो मेरा होना जरूरी होता था। मैं मोटा-झोटा था, गदगदा-सा। खाता-पीता भी जमकर था—अपनी उम्र के लड़कों से मेरी कुश्तियां भी होती थीं। किसी ने मेरा नाम दधिबल रख दिया था। मैं कल्पना करता हूं कि मैं अपनी अरूमानी प्रकृति और उपर्युक्त हुलिया के कारण कैसा दीखता रहा हूंगा। जब लड़के (विशेषतया मुझसे थोड़े-से जूनियर लड़के) खेल खेल रहे होते और मैं पहुंच जाता तो एकाएक हल्ला होता, "आइल दधिबलवा, आइल दधिबलवा।" और वे भाग खड़े होते। मै दो-एक को दबोच लेता या खड़ा-खड़ा हंसता रहता। एक दिन स्कूल से दोपहर की छुट्टी मे घर लौटकर भूजा भुजाने के लिए घुड़साल जा रहा था कि छेदीराय के मकान के उस ओर से आवाज आयी, "आइल दधिबलवा।" मैंने देखा—रामलला हैं और कई लड़के उनके साथ है। मैं भूखा था इसलिए काफी गुस्से में था। मकान के इस ओर खड़ा हो गया और ललकारा। दोनों ओर से पत्थरबाजी होने लगी। मेरा एक पत्थर रामलला को लगा और उनका सिर फट गया। वे चिल्लाते हुए घर की ओर भागे और मैं स्कूल की ओर भाग गया। तब से यह नारा कम पड़ गया।

लड़के लड़कियों की बातें करते थे, उनके संबंध की बाते करते थे किंतु मेरे मन में लड़की का कोई अलग से बिंब नहीं उभरता था। वे अलग जाति की है, यह मुझे महसूस नहीं होता था। इसलिए जब कभी उनसे कहा-सुनी होती, मैं उनका लिहाज नहीं करता। वे गाली देती तो गाली सुनती और रोती हुई घर जाती और मै निश्चिन्त घूमता रहता। जब उनके घर से उलाहने आते तो मां या पिताजी भी मुझसे पूछते, "तुमने उन्हें क्यों गाली दी है?" मैं कहता, "उन्होंने क्यों गाली दी है?" "बेटे, वे लड़कियां है, उन्हें गाली नहीं देते।" "और लड़के उनकी गाली सुनने के लिए है। मैं नहीं सुनता उनकी गाली-वाली। हां, उनसे कह दीजिए मुझसे न लगा करें।" न जाने क्यो मुझे लड़कियों के संपर्क में एक घुटन महसूस होती थी, शायद इसलिए कि वे अपने को कुछ अतिरिक्त महत्त्व देती थी और मैं सर्वत्र एक खुले व्यवहार का आकांक्षी रहा हूं। यह अजीब बात है कि मैं अपने व्यवहार और लेखन में नारी-शोषण का कट्टर विरोधी रहा हूं, किंतु उनसे कभी मेरी अंतरंगता स्थापित नही हो पाती। कारण सामाजिक है। वे जिस माहौल में पैदा होती है, पलती है, संस्कार पाती हैं, वह उन्हें खुलने नही देता। नारी स्वभावतः अपने में बंद होती रहती है, यह माहौल उन्हें और बंद कर देता है। किंतु बंद रहना तो मानव-स्वभाव नही है। वह खुलना भी चाहता है। खुलना और बंद होना (खुलकर भी बंद रहने की कोशिश करना या बंद रहकर खुलने को कोशिश करना) नारी का स्वभाव है। वह खुलते-खुलते कब बंद हो जायेगी, वह कुछ कहते-कहते कब उसी का विरोध करने का आभास देने लगेगी, वह प्रेम का संकेत देकर अपनी ओर बढ़ने वाले को कब फटकार लगा देगी, वह अनुरक्त होते-होते कब विरक्ति से मुंह बिचका लेगी, जानना मुश्किल है। जिन्हें यह सब जानने की फुरसत हो या जिन्होंने इसमें

विशेषज्ञता प्राप्त कर ली हो या जिनका स्वभाव ही खट्टा-मीठा सहकर भी प्रकृतिस्थ बने रहने का नाटक करने का है, वे यह सब करें और वे करते भी है। वे प्रेम या कई-कई प्रेमों की प्रक्रिया से गुजरते है और सही-सलामत रहने है, दूसरे पक्ष की सलामती खतरे मे पडती रहती है, यह और बात है।

लेखक के तौर पर मानसिकता की इन पेचीदगियो का सामना करता हू, उनसे गुजरता हू लेकिन व्यक्ति के तौर पर इनका सामना नही कर पाता। मै महिला मित्र नही बना सका। जब भी किसी के सपर्क मे आया, कुछ ही दिनो बाद एक अस्वाभाविकता-सी महसूस होने लगी। उनकी अतिरिक्त नारीयता के दिखावे मे मै अप्रकृतिस्थ हो उठा और अपनी राह लगा। हा, जिन महिलाओ मे मन का खुलापन दिखाई पडा वहा मै ठहरा। लगा कि यहा नारी-पुरुष नही; हा, अकुठ व्यक्ति आसपास है। यहा मै मा, बहन, बेटी, चाची, दादी आदि के प्रसग मे स्त्री की चर्चा नही कर रहा हू, केवल सम-वयस्क साथी या प्रेमिका के रूप मे कर रहा हू।

प्रेम की बात फिर कभी होगी, यहा तो मुझे केवल इतना ही कहना था कि मैं अपने स्वभाव के कारण मित्रो की भीड नही जमा कर सका, चाहे वे पुरुष रहे हों चाहे स्त्रिया। आज तक वह नियति झेल रहा हू। अब भी कुछ चुने हुए मित्र ही है। जब कभी किसी समारोह मे या काफी हाउस आदि मे पहुच जाता हू और अपने किसी मित्र को नही पाता हू तो मेरे लिए समय काटना कठिन हो जाता है। लोग है कि यों ही एक-दूसरे मे घटो बाते करते रह जाते है, पता नही कहा-कहा से प्रसग ढूढ लाते है और बिना किसी सपृक्ति के सपृक्ति का नाटक करते रहते हैं।

मेरे साथियो मे और कई लोग थे—सतप्रसाद, रामनिधि, जोखू तेली। तब सभी केवल साथी थे, सहपाठी थे। हम किसी के भविष्य से परिचित नही थे। सभी शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ दूर चलकर रुक गये और बिखर गये। अब मै इनका सहपाठी और साथी नही रहा, आदरणीय हो गया हू। कितनी तकलीफदेह बात होती है साथियो के बीच आदरणीय बन जाना। मै इनके बीच इनका होकर जीना चाहता हू किंतु वे मुझे उस रूप मे स्वीकार नही कर पाते। मुझे अभी भी लगता है, सतू ने अपने मोटे गुजटे से मुझे मार दिया है, सिर से खून बह रहा है और उसकी मा अपने उद्दड बेटे के बचाव के लिए मुझे पैसा दिखा रही है, "ए बाबू, घर मत कहना कि सतू ने मारा है, ई पइसा ले लो, कह देना गिर गया था।" और मै पैसा फेककर रोता हुआ घर चला जाता हू। और दोनो घरवालो मे खूब तकरार होती है। मुझे याद है कि हम लोग खेत मे रात को रामलीला का खेल खेल रहे होते है। मै राम बनता हू और ब्रजनाथ को लक्ष्मण बनाता हू। रामनिधि लक्ष्मण बनना चाहते है किन्तु मै उन्हे कुछ और बनाना चाहता हू। मुझ पर तो उनका वश चलता नही है, वे ब्रजनाथ पर पिल पडते है और पकड़कर मारने लगते है। मुझसे नही रहा जाता और मै रामनिधि को पीटना शुरू करता हूं और दूसरे दिन रामनिधि मेरे बेडे में जाकर मेरा नीबू का पेड काट आते है। याद आता है, रात को स्कूल जाते समय दीनानाथ के घर पर मेरे पाव के तलवे मे बिच्छू काट लेता है और रामनिधि अपने मुह से उसके विष को चूस रहे होते है। ब्रजनाथ बहुत कमजोर बालक

थे, इसलिए जिसका जी चाहता था उन्हें पीट देता था और मैं यदि वहां होता तो मेरा खून खौल जाता और पीटने वाले पर मैं पिल पड़ता। मुझे याद आ रहा है, संतू किसी बात पर जोखू तेली को खदेड़ रहे है और जोखू तेली घडरोज की तरह भाग रहे है। याद है, केशव ने खेत में मुझे पटक दिया है और मारने वाले है कि मझले भाई आ जाते हैं और वे केशव को पटक देते हैं और मैं गुस्से से केशव की आख निकालने लगना हूं। याद है, बहुत बचपन में मैं एक मूठवाली काली छडी को घोडा बनाकर खेल रहा हूं। साथ में दीनानाथ भी हैं। किमी बात में कहा-सुनी होती है। वे मेरी बाह में दांत गडा देते हैं और मैं चीख उठता हू। ज्यों ही वे दांत हटाते हैं मैं अपनी काली छडी की मूठ उसके सिर पर दे मारता हूं और वे फटा हुआ सिर लिये चिल्लाते हुए घर की ओर भागते है तथा मेरे बाबा और दीनानाथ की मां मे खूब गाली-गलौज होती है लेकिन एक दिन बाद फिर हम लोग माथ खेलने लगते है। दीनानाथ बहुत गरीब थे लेकिन एक तरह से वे हम लोगो से अधिक समृद्ध थे खाने-पीने के मामले में। उनके पिता और भाई तराई मे घूमते थे और वहां से काफी अनाज-पानी लेकर महीनों बाद लौटते थे। लेकिन हम लोग दीनानाथ की मा और पिता से बहुत स्नेह पाते थे। दीनानाथ खाना खा रहे होते,तो उनकी मां हमसे भी खाने का आग्रह करती बल्कि जबरदस्ती खिलाती। उनके पिता सदानंद अपनी गरीबी मे भी बहुत हंसोड़, मजाकिया और मस्त थे। दीनानाथ को भी यह मस्ती मिली थी। सात पास करने के बाद वे पाच कोस दूर सरदार मिल में नौकरी करने लगे। प्रायः रोज आने-जाने लगे। क्षय रोग हुआ और वे दुनिया से चले गये। उनका जाना आज तक एक सदमे की तरह मुझमे शेष है। फिर तो धीरे-धीरे उनका पूरा परिवार ही उजड गया। मिडिल स्कूल मे मौलवी साहब ने रामनिधि को किसी बात पर इतना पीटा कि वे घर छोडकर भाग गये और बहुत दिनो बाद उनका पता चला। संतप्रसाद पढ़ने में असफल थे। धीरे-धीरे उनके परिवार की समृद्धि उडती गई और बचपन का निहायत बरिबंड और उद्दंड लडका रोजी-रोटी की जुगाड़ मे असहाय घूमने लगा। जोखू तेली थोड़ा-बहुत पढकर अपने पुश्तैनी पेशे मे लग गये।

छेदीराय थोड़े समृद्ध परिवार के थे लेकिन पढ़ नही पाये और धीरे-धीरे उनकी माली हालत गिरती गई और नौकरी-चाकरी की तलाश मे परदेश निकल गये। छेदीराय बहुत बडे विदूषक थे। एक-एक गप्प सुनाया करते थे और मजाकिया हरकतें करते थे। छः-सात साल की अवस्था तक तो वे नंगे घूमते रहे। बाद मे दूसरों को नगा करते रहे। लेकिन उनके नंगा करने में एक मासूम आनन्द था। मुझे लगता है कि यदि उन्हें अवसर मिला होता और वे पढ सके होते तो वे अच्छे गल्पबाज और व्यंग्यकार हुए होते या नाटक या फिल्म में अच्छे कामेडियन हुए होते। मेरे घर के पिछवाडे नरेश भाई का अमरूद का पेड़ था। बच्चे उस पर निशाना साधते ही रहते थे और नरेश की मां बडी चिडचिड़ी थी, आहट सुनते ही घर में से निकलकर गालियां देती बच्चों को खदेड देती थीं। एक थे सगम शुक्ल। वे दोनों पांव से विकलाग थे। घिसटकर हाथ के बल चलते थे। छेदीराय ने उनसे कहा, "बाबा, अमरूद खाना चाहिए।" "लेकिन कैसे ?" संगम ने कहा। "आप पेड़ पर चढ़ जाइये।" "अरे, तू पागल हो गया है क्या ? मैं कैसे

चढ़ सकता हूं ?" "आप चढ़ सकते हैं, मैं आपको कंधे पर उठा रहा हूं, आप डाल पकड़ लीजिये और उस पर बैठकर खाइये और नीचे फेंकिये।" संगम राजी हो गये। छेदी ने उन्हें चढ़ा दिया। नरेश भाई की मां को आहट मिल गई। वे घर में से गाली देती हुई निकलीं। छेदीराय तो भाग लिये। संगम क्या करें ? वे डाल पर से लटक गये। लेकिन नीचे कूदें तो कैसे ? गादुर की तरह वे डाल पर लटके हुए थे। नरेश की मां ने उन्हें देखा तो विस्मय से चिल्ला पड़ीं, "अरे मरकीनवना संगमवा, तू कैसे चढ़ गया ?"

"अरे पहले मुझे उतरवाइये, फिर बताता हूं।" संगम दयनीय मुद्रा में घिघिया रहे थे। उधर से कोई जा रहा था, उसने संगम को उतारा और उन्होंने कहानी बताई तो नरेश की मां छेदीराय की सात पुश्तों का नाम ले-लेकर गालियां देने लगीं और छेदीराय कहीं छिपकर हंस रहे थे।

बचपन के मित्रों की दुनिया बड़ी सघन थी। उनके साथ होना, उनका टूटना-बिखरना और उनसे अलग होना सभी कुछ तो जीवित है मेरे भीतर।

मेरे गांव में आजादी के आंदोलन की भी हलचल थी। हम लोग प्रायः प्रभात फेरियों में शरीक होते थे। कांग्रेस की या आर्य समाज की सभाओं में जाते थे। मेरे पिताजी, नरेश भाई, पोलई हरिजन गांव के सुराजी आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता थे। और भी कई लोग रहे होंगे जो ठीक से याद नहीं आ रहे हैं। हां, दूसरे गांवों के कई छोटे-छोटे नेता हमारे गांव में आते थे, मिल बैठते थे, योजनाएं बनाते थे और किसी सभा-सोसाइटी में जाते थे। गांव में कुछ खाते-पीते लोग या तो सरकार के पिट्ठू थे या तटस्थ थे। वे गाव के इन सुराजियों पर फब्तियां कसते थे और अपने स्वार्थ साधन में चुस्ती से लगे रहते थे। नरेश भाई विचित्र व्यक्तित्व के स्वामी थे। लंबे काले शरीर के नरेश भाई हिंदी लिखते थे, उर्दू लिखते थे, बंगला लिखते थे, संस्कृत भी बांचते थे। वे पंडिताई भी करते थे और गृहस्थी का सारा काम भी जानते थे। गुस्से में आते थे तो कुल्हाड़ी से घर का सारा बरतन-बरतन तोड़ डालते थे और फिर सबको लादकर चौरी-चौरा बनवाने के लिये ले जाते थे। खिलखिलाते थे तो लगता था बच्चा खिलखिला रहा है। चेहरे पर एकदम मासूम आभा फैल जाती थी। क्रोध में आततायी और खुशी में बच्चा होने की कहावत उन्हें देखकर साकार हो उठती थी। वे भयानक कृपण थे। लड़की की शादी में चीनी में नमक मिलाकर बरातियों को खिला दिया था किंतु उदार इतने कि सुराजी काम के लिये अपने बड़े-से-बड़े काम का हर्ज कर बैठते थे। उनकी लंबी काया हाथ में तिरंगा झंडा लिये चलती तो लगता कोई पेड़ चल रहा है और हम उनके पीछे-पीछे गीत गाते चलते रहते :

हम चरखे से लेबें सुराज
हमार कोई का करिहैं

या

मोरे चरखे का टूटे न ताग
चरखवा चालू रहे।

पोलई हरिजन भी बहुधंधी व्यक्ति थे लेकिन सुराजी कामों के लिए उनके पास समय था। वे गांव के गोड़इत थे। गोड़इत के नाते वे गांव-भर के नौकर थे। डुग्गी पीटना, चौकीदार बनकर थाने जाना, कहीं कोई संदेश ले जाना, होली और रामनवमी के दिनों में नगाड़ा बजाना आदि उनके सार्वजनिक काम थे। वे किसी के हलवाहे भी थे और उनकी एक नाच-मंडली भी थी जिसमें वे मृदंग बजाते थे। बहुत मशहूर मृदंगिया थे। लबे-से साफे की पूंछ उनकी छोटी काया के पीछे लटकती रहती और जब वे मृदंग बजाते हुए घूमते तो उस पूछ का नर्तन देख-देखकर हम बच्चे बहुत खुश होते थे। ये पोलई उर्फ पोलादन अपना काम-धाम छोड़कर सुराजी कामों में भाग लेते थे। कभी-कभी उन्हें अपने किसी क्रूर और सरहग मालिक से ताड़ित भी होना पड़ता था, "सरऊ, सुराजी बने हुए है, सुराज लेगे! राजा बनेंगे! तब पता नही हल कौन जोतेगा ?" पोलई मार-गाली सह लेते थे लेकिन सुराजी कार्यों से हाथ नही खीचते थे।

तब मैं इतना विश्लेषण-क्षम कहां था कि सुराज का वास्तविक अर्थ समझता लेकिन जब एक आर्य समाजी गाता था :

> भारत मे होइहें सुरजवा हो मन रजना लाल
> गोहुवां क रोटिया रहरिया क दलिया
> घिव डारि करबें भोजनियां हो
> मन रजना लाल

तो समझ में आता था कि सुराज का मतलब है हर आदमी को ढंग का खाने-पीने को मिले। यह क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि हम पराधीन है और पराधीनता क्या होती है :

> कवन सुख समझूं मैं तोर सरकार, कवन सुख समझू
> मरि-मरि किसान लोगवा अन्न उपजावे लें
> बइठल खाला ओही मेमिनियां क भतार
> कवन सुख समझूं मैं···

किसान अन्न उपजाते है तथा अंगरेज और उनके दलाल जमीदार बैठे खाते है। यही तो पराधीनता है। गानेवाले ने कैसे साफ शब्दो में पराधीनता की व्याख्या कर दी है। मेरे बाल मन में पराधीनता और स्वतंत्रता की एक तस्वीर उभर जाती थी। जब पोलई को झंडा लिये सुराजी आंदोलन में भाग लेते देखता तो लगता कि जब सुराज होगा तब पोलई पोलई नही रहेगे. चमरौटी चमरौटी नहीं रहेगी। ये गोबरहा नहीं खायेंगे, मरे जानवर का मांस नही खायेंगे, मरे सूअर नही खायेंगे, चूहे नहीं खायेंगे और छोटे-बड़े जमीदारो की मार नही खायेंगे। इनके पास भी एक छोटा-मोटा साफ-सुथरा घर होगा, इनके पास भी कुछ खेत होंगे, इनके बच्चे भी पढ़ेंगे, लिखेंगे और इनकी बहू-बेटियों की इज्जत इज्जत मानी जाएगी। दिनई, कोदई, दुखई, बेलास, संतू, भगेलू, झिलमिट, फेंकू सभी हरिजनों की दीनहीन आकृति—अपमानित होती हुई आकृति मेरे

मन में उतर आती और सुराज के पार एक नये स्वस्थ सुदर रूप मे उभर जाती। कब आएगा वह दिन ? अभी तो हरिजन क्या ब्राह्मण और ठाकुर ही गरीबी और जहालत के बोझ से दबे हुए है। फिर भी इन्हे हरिजनो से ऊचा स्थान तो प्राप्त है, हरिजनो की बहू-बेटियो मे खेलने की सुविधा तो इन्हे है।

हा, हरिजनो की बहू-बेटिया गाव मे काम करती थी, खेत काटती थी, मिट्टी ढोती थी, सोहनी करती थी और बहुत-से काम करती थी। गाव के मनचले लोग उन्हें छेडते थे। और न जाने क्या-क्या करते थे। कुछ हरिजन औरते तो स्वभाववश या मजबूरीवश हसकर इन चीजो को स्वीकार कर लेती थी और एक उपहास के साथ इनकी चर्चा गाव मे गूजती रहती थी और मनचले लोग इस चर्चा का लाभ उठाया करते थे किंतु कोई तेजस्वी लडकी या औरत जब अपने साथ हुए दुर्व्यवहार से फनफना उठती थी तो एक तमाशा खडा हो जाता था। यदि व्यक्ति जोरदार हुआ तो उसकी फनफनाहट आतक के नीचे कुचल दी जाती थी, यदि व्यक्ति गरीब हुआ तो कुछ कहा-सुनी के साथ मामला रफा-दफा हो जाता था। इन सब कामो के लिए हरिजन लोग ब्राह्मणो को दडित करे, अभी यह स्थिति नही आयी थी। हरिजनो या पिछडी हुई जातियो की कई औरतो का कुछ ऐसा चरित्र होता था कि गाव मे वे किसी न किसी रूप मे चर्चा का विषय बनी होती थी। ऐसा लगता है कि हरिजनो या पिछडी हुई जातियो की औरतो की कैसी भी चर्चा करना कोई अजीबोगरीब बात नही थी। बडी आसानी और सुविधा से किसी भी प्रसग मे इनकी चर्चा की जा सकती थी। दूर गाव से एक हरिजन हमारे गाव मे बसने के लिए आया। वह बेटिहा गाव से आया था अतः वह सारे गाव का साला या ससुर हो गया और उसकी जवान सुन्दर बेटिया बहुत आसानी से सबकी सालिया बन गईं। बस क्या था ? उनसे मजाक होने लगा और फिर धीरे-धीरे वे लडकिया साली की नियति झेलने के लिए अभिशप्त हो गयी। एक की जिन्दगी मे तो इतने उतार-चढाव आये कि वह अत मे न जाने क्या हो गयी। एक थी रहकली गडेरिन। वह स्वभाव से बहुत खुली हुई और मजाकिया थी। उसका इस्तेमाल अतिथियों का या स्वय गाव वालो का मनोरजन करने के लिए होता था—यानी उससे कहा जाता तो फरुवाही (अहीरो का नृत्य) करती, तरह-तरह के मजाक करती और हसती रहती। मुझे वह औरत कम, पुरुष ज्यादा लगती। वह स्वय मनोरजन का साधन बनने मे अपनी सार्थकता समझने लगी थी। एक नाइन बहू के रूप मे आयी। बहुत सुदर थी लेकिन नाइन थी। सुदरता लेकर घर मे बैठ तो सकती नही थी। गाव मे काम पडता था। मजाक का पद तो था ही अत: गाव के तमाम मनचले लोग राल टपकाते हुए उससे शाब्दिक छडछाड किया करते। इससे ज्यादा की छेडछाड तो तब तक सभव नही है जब तक दूसरा पक्ष भी सहमत नही हो या पुरुष पक्ष जबरदस्ती न करने लगे। नाइन, धोबिन, कहारिन, चमारिन सबको गाव वालो के शब्दो से अपमानित होते देखा था। यह बात और थी कि वे सब परपरा से इस छेडछाड की अभ्यस्त होने के कारण इसे अपमान मानना भूल बैठी थी या अपमान मानने का बोध ही पैदा नही हुआ था। कभी-कभी उनके साथ बड़ी जातियो के लोगो के बलात्कार के सदर्भ उभरते और वे उससे छटपटातीं

तो वे संदर्भ हंसी-मजाक के साथ दबा दिये जाते। हां, यदि उनकी ही जाति का कोई व्यक्ति औरत की रजामंदी से भी उसके साथ आशनाई करता हुआ पकड़ा जाता तो उसकी पिटाई होती, थानेदार आते और उनके हुजूर में स्त्री और पुरुष दोनों अपमानित-से बैठे होते। सिपाही लोग औरत पर वीभत्स नजरें फेंकते रहते और रह-रहकर पुरुष की पिटाई होती रहती। मेरे किशोर मन में सुराज-आंदोलन यह सपना उठाता कि सुराज मिलने पर यह सब नहीं होगा।

औरत का एक पक्ष और मेरे सामने आता रहता। वह ब्राह्मणों के यहां भी दिखाई पड़ता और हरिजन या पिछड़ी जातियों के यहां भी। वह था उनकी पिटाई। औरत को पीटना पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार हो गया है। इस पिटाई के पीछे कुछ ठोस कारण भी हो सकते हैं किन्तु मुख्य कारण यह है कि पुरुषों को घुट्टी में पिलाया जाता है कि औरत दाब से, मारने-पीटने से ठीक रहती है, नियंत्रण न होने से बिगड़ जाती है। और तब पति और पत्नी में सीधे खुले संवाद तो हो नहीं पाते थे। रात को छिपकर वे मिलते थे। काम किया और अलग हो गये। काम-धाम से आने के बाद मां ने या बहन ने बहू की शिकायत की और पति का जूता या डंडा या थप्पड़ उठ गया। पति समझदार रहा तो बचा गया। लेकिन कब तक बचाएगा ? रोज-रोज की शिकायत से तंग आकर या मां-बहन द्वारा 'जोरू का गुलाम' खिताब पाकर खून खौल ही उठेगा और पत्नी की धुनाई शुरू हो जाएगी। पत्नी को अपना पक्ष स्पष्ट करने की भी छूट नहीं होती थी। छोटी जातियों में स्त्रियां इतनी दयनीय नहीं होतीं। वे बाहर निकलती हैं, पति के साथ खेत-खलिहानों में काम करती हैं, उनमें स्वावलंबिता की एक शक्ति होती है। उनमें पति को छोड़कर दूसरा पति कर लेने की भी प्रथा है। इसलिए पति द्वारा कुछ कहे जाने पर सीधे टकरा जाती हैं। साथ ही किसी और से इश्क भी लड़ा सकती हैं या इश्क लड़ाने का संदेह पैदा कर सकती हैं इसलिए पति को गुस्सा होने के अवसर मिलते ही रहते हैं और गुस्सा सहज ही पिटाई में बदल जाता है। औरत हाथा-पाई कर तो सकती है, करती भी है लेकिन अपनी शारीरिक अशक्ति के कारण पिट जाना ही उसकी नियति है। मैंने ऐसे दर्दनाक दृश्य बचपन में भी बहुत देखे थे। छोटी जातियों की औरतें तो सताई जाने पर पति को छोड़-छाड़ देती थीं और किसी और का पल्ला थाम लेती थीं परंतु ब्राह्मणों के घरों की औरतें घिसट-घिसटकर मरने के लिए अभिशप्त थीं। गांव की दो औरतें ऐसी थीं जो रात को प्रायः मेरे घर आकर बैठ जाती थीं। मैं सवेरे उठकर देखता था और अचंभे से मां से पूछता था, ये कौन हैं ? मां बताती और उनकी दुर्दशा का बयान करती। कुछ तो मैं भी जानता था, कुछ मां बताती। दरअसल वे औरतें मेरी मां के मायके की होती थीं। इसलिए घर की दुर्दशा से तंग आकर मेरे यहां कुछ दिनों के लिए बैठ जाती थीं। उनके साथ होनेवाले अमानवीय अत्याचार को सुनकर न जाने कैसा लगता। उन पर उनके घरवालों द्वारा तरह-तरह के लांछन लगाए जाते लेकिन मुझे तो वे औरतें मेरी मां की तरह की करुणा, प्यार और ममता से भरी देवियां ही लगतीं।

ऐसे अवसर पर मैं देखता—मां की आंखें प्रायः गीली हो ही आती थीं। मैं

पूछता, "क्यों रोती है मां ?" "बेटे, जब-जब ये मेरे घर आती हैं मुझे तुम्हारी बड़ी बहन याद आ जाती है।"

नारी-यातना की अनुभूति ने मुझे कुछ ऐसा झकझोरा था कि बेटी की विदाई का गीत सुनते-सुनते मैं रोने लगता था। अपने पास-पड़ोस मे जब शादी के गीत उठते थे तो मैं चुपचाप कही पड़ा-पड़ा सुनता रहता था और जब

सातवी भंवरिया ए बाबा
हम नाही रहली तुहार

जैसी पंक्तियां आती थी, मेरे आंसू झरने लगते थे। मेरी बहन या और अभिशप्त औरतें मेरी आंखों के सामने आ जाती थीं। किसी की बेटी विदा हो रही है। भीतर मां रो रही है, बाहर पिता रो रहे है, डोली का बांस पकड़े भइया रो रहे है, सखियां रो रही है—लड़की पराई हो रही है।

भीतरे जे मइया रोवे
बहरे बबइया रोवे
डोलिया क बांस धइले भइया रोवे
बहिनी पराई भइली

मैंने विदा होती लड़कियों का और उनके परिवार-जनों का करुण क्रंदन देखा था, उसके प्रवाह मे पड़कर रोया था। लोकगीत उठकर उसी दर्द को छू लेते थे और दर्द झनझनाकर बह चलता था।

लोकगीत मुझे बहुत प्रिय रहे है। ये सीधे अनुभव से फूटते हैं और हाहाकार करते हुए भीतर तक पैठ जाते हैं। इनके लिए किसी भी प्रकार के बाहरी सहारे की जरूरत नहीं होती है। मैं इसलिए लोकनत्यों का बहुत शौकीन रहा हूं। उत्तरप्रदेश, बिहार इस मायने में बहुत पिछड़े हुए प्रदेश माने जा सकते हैं कि ऊंची कही जाने वाली जातियों का न कोई जातीय नृत्य है न नाटक। वे लोकनृत्यो और नाटकों का रस तो लेते हैं किंतु उनमें स्वय भागीदार नहीं होते। उन्हें छोटी जातियों का क्रिया-व्यापार मानते है। इसीलिए स्कूलो में या कुछ परिवारों में बच्चों के लिए सख्त हिदायत होती थी कि वे ये सब न देखें। हम दर्जा छः में थे। रात को स्कूल मे पढ़ने गए थे। वहा से हम सभी बच्चे चुपके से एक राम मंडली द्वारा प्रस्तुत नाटक देखने चले गये थे। सवेरे मास्टर जी के हाथों हमारी खूब पिटाई हुई थी। पिट तो गये लेकिन पिटने का तर्क समझ में न आया। मेरे भइया भी इन सब चीजों से उदासीन थे और उदासीन करना चाहते थे लेकिन मेरा मन रमता था। मुझे आश्चर्य होता था कि जिन लोकगीतों को सुनकर मेरा मन पनपना उठता था, उन्हें सुनकर लोग मजा लेते थे और सच बात तो यह है कि नर्तक भी मनोरंजन पैदा करने के लिए गंभीर त्रासदियों में भी अश्लीलता या मजाक का पुट दे दिया करते थे। भिखारी ठाकुर का 'विदेशिया' उन दिनों खूब जोम पर था। हर नाटक-मंडली यह नाटक प्रस्तुत करती थी। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के तमाम लोग कमाने के लिए बंका, रंगून, सिंगापुर, कलकत्ता, अहमदाबाद,

बंबई जाते रहे हैं। उनकी औरतें घर के भीतर कई-कई साल तक अकेलेपन की यातना झेलती रही हैं। यही समस्या और यही दर्द इस नाटक में उठाया गया है किंतु नाटक के फूहड़पन मे यह स्वर दब जाता था और लोग अपने ही घरों के दर्द से झनझना उठने की जगह पर नचनिया की कमर की लोच और फूहड़ सवादो का मजा लेते थे। फिर भी रह-रहकर दर्द उभरता था और मेरे जैसे लोगों को छू लेता था। मुझे याद है 'पियवा नशइल' का नाटक। विदूषक की भोडी भंगिमाओ के बावजूद अपने नशेडी पति से विनय करती हुई पत्नी का दर्द मुझे झकझोर जाता था। पति पत्नी के शरीर पर से पड़े कपड़े उतार रहा होता। साडी के बाद साडी; साडी के बाद साडी उतर रही होती और पत्नी अपने छोटे-से बच्चे को साथ लेकर पति से अनुनय करती होती :

बिकि गइलें सगरो गहनवां, बसनवा से
अब काहे दहियो उघारे पियवा नशइल
लइका नदान रोवे भुखिया के मारे देख
गउवा क लोग ताना मारे पियवा नशइल ।

एक गीत और लहराता हुआ माहौल में गूजता। कई नर्तक सखियो के रूप मे नाचते-लहराते हुए आते और एक लहर की तरह गीत उठता-गिरता :

बाबा मोर रहतें त बगिया लगवतें
लोढन फुलवा जइती न ए यार गोइयां
बाबा मोर रहते न सगड़ी खनवतें
भरन पनियां जइती न ए यार गोइया

और यह गीत चलता रहता। बाबा होते तो न जाने क्या-क्या करते ? बाबा अब नहीं हैं; सारी साध उनके बिना अधूरी है। एक पितृहीन लड़की अपनी टूटी हुई साधों और अपने पर लदे अभावो के साथ खड़ी हो जाती। जिसके बाबा है उन लड़कियों का जब बुरा हाल है तो जिनके नही है उनका क्या हाल होगा ? ज्यों-ज्यों मेरी समझ बढ़ती गई, दर्द के ये अनुभव उतने ही चुभते गए और आज भी कम नहीं चुभते है।

कहां हैं ये लोकगीत ? गांव जाता हूं तो खोजता हूं इन्हें, नहीं पाता हू। शादी-ब्याह में, मेले-हटियों में तीज-त्योहारों पर नाच-गान में गूंजने वाले लोकगीत कहां गये ? अब तो उनकी जगह पर बाढ के गंदे पानी की तरह सिनेमा के उछलते हुए गाने गांवों में प्रवेश कर गए है और बजबजा रहे हैं। गीत अपनी धरती को छोडकर गायब हो गए हैं और बाहर से आयातित गीत अमरबेलि की तरह इस धरती के जीवन पर फैलकर उसका खून चूस रहे है और मुझे हरिजनों की नृत्य-मंडली द्वारा गाया जाने वाला मंगलाचरण याद आ रहा है :

पहिले सुमिरीं हम धरती माता हो जी के
दूसरे सिरिय भगवान मइया सरिधा

पहले धरती मां को स्मरण करने वाले वे लोकगीत कहां हैं ?

7

मेरा गांव न जाने कितने स्तरों पर मुझमें है, न जाने कितने स्तरों पर उसने मेरा निर्माण किया है, न जाने उसके वर्तमान और अतीत की कितनी जीवनधाराएं मुझमें जाने-अनजाने अपना वेग और प्रभाव छोड़ती गयी हैं। न जाने उसके जीवन के बीहड़ जंगल में जीवंत चरित्रों के कितने पेड़ खड़े थे जो मेरे अनुभवों में और मेरे रचना-जगत् में समाते गए हैं। मेरा गाव उस पूरे जवार में अपने विचित्र चरित्रों के कारण बहुत सुख्यात या कुख्यात था। अभावों से भरी और प्राकृतिक सुषमा से लदी धरती ने न जाने कितने जीवंत चरित्रों की सृष्टि की थी। कुछ का सुना था, बाकी का साक्षात्कार किया था। आज जब उन्हें याद कर रहा हूं तो वे मेरे अनुभव मे उतरे हुए चरित्र के रूप में ही नहीं आ रहे हैं बल्कि विभिन्न पीढ़ियों के मूल्यबोध और जीवन-पद्धति के प्रस्तोता के रूप में भी उजागर हो रहे है और मेरे अपने समय की कई पीढियों के आमने-सामने होकर उनके जीवन-मूल्यों और चेतना के स्वरूप का मूल्यांकन कर रहे हैं। वे अपढ़ गरीब थे। आज की पढ़ी-लिखी पीढी की दृष्टि में वे उजड्ड थे. गंवार थे लेकिन क्या वे जीवन-विवेक-शून्य भी थे ? क्या अज्ञानी भी थे ? मुझे ऐसा नहीं लगता। लगता है कि वे कहीं ज्यादा विवेकवान थे। जीवन को सही ढंग से जीने की समझ उनमें कहीं ज्यादा थी, उनमें एक निर्भीकता थी जो उजड्ड होते हुए भी कहीं अधिक मानवीय थी। वे कुंठा, संत्रास, अकेलापन, टूटन ढोने वाले आधुनिक सभ्य पुरुष नही थे। वे भीतर से बाहर तक धधकती हुई शलाका की तरह जीने वाले लोग थे।

एक थे सूरप्रसाद मिसिर। वे अंधे नही थे, शूर थे। बहुत बड़े लठैंत थे। मेरे बाबा भी बहुत बडे लठैंत थे। एक बार दोनों मे लाठी बजड गयी। मेरे बाबा की लाठी उनके सिर पर लगी। सिर फट गया और वे बेहोश होकर गिर पड़े। उनकी पट्टीदारी के लोगों ने उन्हें पालकी में लादा और चल थाने की ओर। कुछ दूर जाने के बाद सूर-प्रसाद को होश आया। उन्होंने पूछा, "मुझे कहां लिये जा रहे हो ?" "थाने।" पट्टी-दारों ने कहा। सूरप्रसाद उठ बैठे, "रोको-रोको।" "क्या हुआ ?" पट्टीदारों ने कहा।

"अरे बेवकूफो और डरपोको ! हम दो भाई लड़े। संजोग था कि उसकी लाठी मुझे लग गयी। मेरी भी तो लाठी उसे लग सकती थी, तब क्या होता ? चलो, चलो, वापस चलो।" और वे घर लौट आये। मेरे बाबा भी उनसे मिलने गये, उनकी दवा-दारू हुई। अच्छे हो गये। यह मानवीय मूल्य की ही बात नही थी, स्वाभिमान की भी बात थी। बहादुरों में स्वाभिमान न हो तो बहादुरी किस काम की। आगे बढ़कर झगड़ा शुरू करना और पिट जाने पर थाने की शरण जाना कायरों और मूल्यहीनों का काम है। कहते हैं, सूरप्रसाद एक बार अपनी ससुराल गये। वे पहुंचे तो अंधेरा हो चला था। उनके ससुर दरवाजे पर बैठे थे। उन्होंने पूछा, "कौन हो ?" "तुम्हारा दामाद।" उत्तर मिला। किसी का दामाद होना इतना आसान होता है क्या ? दामाद जितना ही प्यारा होता है, नकली दामाद बनने वाला उतनी ही बड़ी गाली। बस, क्या था, सूर के

ससुर उतर पड़े बरामदे से और दोनों में गुत्थमगुत्था हो गया। जब खूब पटका-पटकी हो चुकी तो आसपास के लोग आए और जब लालटेन की रोशनी में देखा तो चिल्ला उठे, "अरे, यह तो सूर पहुना हैं, इस घर के दामाद।" "अरे मैंने झूठ थोड़े ही कहा था। मैंने भी तो दामाद ही कहा था। ये लड़ पड़े।" सूर ने कहा और उनके ससुर ने पश्चात्ताप मे सिर पीट लिया। उनका दोष नहीं था। वे बहुत दिनों बाद सिंगापुर से लौटे थे, दामाद को पहचानते नहीं थे। दोनों धूल झाड़कर प्रकृतिस्थ हो गये, किसी को किसी से शिकायत नहीं रही, कोई ग्रंथि नही बनी।

सूर को मैंने नही देखा था लेकिन वृषभान मिश्र को तो देखा था और खूब देखा था बल्कि भोगा था। बहुत बरिबंड किस्म के व्यक्ति थे—बहुत हट्टे-कट्टे, ऊंचे कद वाले। उनका अस्तित्व बहुत ही आतककारी था। संयोग या दुर्योग हमारा कोला उनके कोले से सटा हुआ था। वे बढ़कर हमारे कोले पर अधिकार जमाते जा रहे थे। पिताजी और उन्हें कई बार झगड़ते देखा था। कई बार तो हमारे कोले का छप्पर उजाड़कर उन्हें फेंकते हुए देखा था—ऐसे फेंकते थे जैसे होली में खरपतवार फेंक रहे हों। पिताजी अकेले थे। हम लोग छोटे-छोटे थे इसलिए उनकी कमजोरी भांपकर अक्सर लोग उन्हें दबा लेना चाहते थे। वृषभान चाचा तो स्वभाव से ही आतंककारी थे। वे किमी से टकरा सकते थे, टकरा जाते थे। उन्ही से सटा हुआ घर चंद्रबली चाचा का था। दोनो पट्टीदार थे। चंद्रबली चाचा भी अपने समय के बीहड़ व्यक्ति थे। बाद में कोढ़ी हो गये थे और दरवाजे पर बैठे-बैठे आने-जाने वालों को गाली दिया करते थे। इसलिए इन दोनों चाचाओं के आतंक से उनके दरवाजे पर से गुजरना बहुत भयकारी व्यापार था। मेरे मन में भिरखू चाचा (वृषभान चाचा) की एक अनिष्टकारी मूर्ति बैठी हुई थी। मेरे पिताजी में और उनमें झगड़े होते ही रहते थे। सात-आठ दिन पहले भी हुआ था कि बाबू चंद्रभान सिंह ने पिताजी को बुला भेजा। उन्हें इस बात का रोष था कि पिताजी भाई साहब को उनके यहां नौकरी के लिए क्यों नहीं भेजते? वृषभान चाचा ने चंद्रभान सिंह के नौकर को पिताजी से बात करते और पिताजी को उदास होते देखा तो पूछा, "क्या बात है?" पिताजी ने वास्तविकता बता दी। भिरखू चाचा ने कहा, "फिकर की बात नही, मैं तुम्हारे साथ चलूंगा।" वे सीना फुलाए हुए गये। बाबू चंद्रभान सिंह ने पिताजी से कहा, "क्यों नहीं अपने बेटे को भेजते हो?" पिताजी के मुंह से निकल पड़ा, "बेटा अपने बस में न हो तो मैं क्या करूं? लोग अपने बेटों को नहीं बस में करते है, मुझी को दबाते हैं।"

ये शब्द मुंह से निकलने के बाद पिताजी को इसके अंजाम का भय हुआ। दरअसल उन दिनों बाबू चंद्रभान सिंह और उनके पुत्र बच्चा बाबू में अनबन चल रही थी। बाबू चंद्रभान सिंह का चेहरा तन आया। पिताजी ने डरकर भिरखू चाचा की ओर देखा, उन्होंने छाती ठोंककर इशारा किया कि डरो मत, मैं हूं, कुछ होगा तो देखा जाएगा। कुछ हुआ नहीं। बाबू साहब बहुत समझदार और गंभीर व्यक्ति थे। समझ गये और उदास होकर कहा, "ठीक कहते हो रामचंदर पंडित!" पिताजी लौट आये। यह सुनकर भिरखू चाचा के प्रति मेरे मन में एक दूसरा भाव पैदा हो गया—आदर का

भाव। उन्होंने लोगों को गालियां दीं, तोड़ा-फोड़ा, नंगई की लेकिन किसी के लिए घातक सिद्ध नही हुए जैसाकि उन्हीं की और बाद की पीढ़ी के कुछ बहुत चतुर लोग अपनी भलमनसाहत और खानदानी इज्जत के भीतर से सिद्ध हुए। भिरखू चाचा ने औरों का कम बिगाड़ा होगा, अपना ज्यादा बिगाड़ा। चतुर लोगो ने अपना बनाया और दूसरों का बिगाडा।

भिरखू चाचा जो करते सीधे करते थे और तुरंत करते थे। वे भीतर मैल नहीं जमा करते थे और न ही मौका पाकर घात करते थे। एक घटना याद आ रही है। उन्ही के एक सगे पट्टीदार थे बद्री चाचा। उनके पुत्र दूधनाथ की शादी थी। उन्होंने किसी से कहा, "क्या किया जाए, भिरखू को बारात मे चलने से मना कर नही सकते और वे चलेंगे तो इज्जत जरूर बिगाड़ेंगे।" भिरखू चाचा ने सुन लिया और बारात में गये। मरजाद के दिन दस बजे के आसपास बारात के मंडप में नाच-गाना हो रहा था। उस समय कहार, बाजे वाले आदि खाना बनाने के लिए पानी-वानी का इंतजाम करने गांव की ओर आ-जा रहे थे। भिरखू चाचा गांव की ओर गये और उधर से बदहवास-से जल्दी-जल्दी बारात की ओर आने लगे और रास्ते में जो भी बाराती मिलता उससे कहते, "भाग चले के, भाग चले के।" लोग पूछते, "क्यों?" वे उसके मुंह पर थप्पड़ मारकर कहते, "अरे जल्दी भागते हो कि 'क्यों' पूछते हो!" बस, क्या था, एक दूसरे से कहता, "भाग चले के", दूसरा तीसरे से कहता। लोग भागते हुए बारात की ओर गये। वहा चिल्लाये, "भाग चले के।" भगदड़ मच गयी। जो जिस अवस्था में था, उसी अवस्था में भागने लगा। तबलची, सारंगिया तबला-सारगी बांधे हुए भाग चले, नचनिया पेशवाज पहने भाग चला। सबको भागते देखा तो गांव वालों को बड़ी परेशानी हुई। वे भागने वालो के पीछे भागने लगे। गांव वालों को अपनी ओर आते देखकर बारातियों का डर साकार हो गया। वे और जोर से भागने लगे। आखिर तीन मील जाने के बाद गाव वालों ने बारातियों को पकड़ा और पूछा, "अरे महाराज, आप लोग भाग क्यों रहे हैं?" अब सवाल होने लगा कि भागने के लिए कहा किसने? होते-होते पता चला कि भिरखू चाचा ने शुरुआत की थी। भिरखू चाचा ने छाती ठोंककर कहा, "हां, मैंने कहा था। तुम्ही ने तो कहा था कि भिरखू बिगाड़ते हैं सो मैंने बिगाड़ दिया।"

भिरखू चाचा किसी का क्या लेते? ऐसे आदमी किसी का क्या लेते हैं? खाली हाथ आते है, खाली हाथ चले जाते हैं। जो कुछ नंगई करनी होती है खुलेआम करते है लेकिन उन्ही की पीढ़ी के कुछ लोग ऐसे भी थे जो सम्मानित थे। उनका बेंवत भिरखू चाचा से अधिक नहीं था लेकिन संपन्न थे क्योंकि वे सूद पर रुपया चलाते थे, खेत रेहन रखते थे और खुद थोड़े-से खेतों के मालिक होकर भी खेत-संपन्न हो गये थे। यह भाग्य की बात नहीं होती, प्रकृति की बात होती है। वे लोग भोले-भाले लोगों को जमकर कर्ज देते हैं, उनके दोस्त भी बनते हैं। उनके सैलानी कामों की सराहना करके उन्हें कमाई-धमाई के काम-धाम से उदासीन रखते हैं और उन्हें कर्ज दे-देकर उनके खेत हड़पते रहते हैं। मेरे पिताजी को भी ठगने वाले कई पट्टीदार थे। बाद में जब दूसरे घरों के लोग कमाई-धमाई में जुटे और अपने-अपने खेत छुड़ा लिए तो वे लोग अपनी असली

औकात पर आ गये और वे तथा उनके वंशज खोखले हो गए । लेकिन उनकी परम्परा मे गाव के दूसरे घर तैयार हो गये और अन्य नये हथकडो से गाव के निरीहो को लूटते रहे और गाव के बडे आदमी और शरीफ कहलाते रहे ।

एक और पागल मुझे याद आ रहा है—कन्नू भाई । अजीब-अजीब लोग थे, अजीब-अजीब तरह का पागलपन था । एक दिन देखा कि कन्नू भाई का बाछा गली-गली भाग रहा है और वे उसके पीछे-पीछे दौड लगा रहे है और खूटा फेंक-फेंककर उसे मार रहे है । यह खेल बहुत देर तक चलता रहा । मैं समझ नही पाया कि वे अपने ही बाछे को क्यो खदेडकर मार रहे है । बाद मे पता लगा कि उनका बाछा पगहा तुडाकर खेत मे बबूल की छाह मे जाकर विश्राम कर रहा था । ये उसके पास गये और उसके कान मे कहा, "अरे भाई ! तू यहा कैसे आ गया; चल, घर चल ।" लेकिन बाछा क्या समझे ? वे उसे कुछ देर तक समझाते रहे और बार-बार यही कहते रहे, "चल, घर चल ।" जब वह नही उठा तो आखिरी चेतावनी दी, "अब तू नही चलेगा तो देख ले ।" बाछा बैठा पगुराता रहा । फिर क्या था, उन्होने खूटा (जो साथ लेते गये थे) खीचकर उसे मारा । बाछा भागा और कन्नू ने उसे खदेड लिया और खूटा खीच-खीचकर मारने के साथ कहते रहे, "ईहे मत चल, ईहे मत चल ।" कन्नू भाई को अपने भाइयो को डाटते, गाली देते, चीखते-चिल्लाते सुनता था लेकिन वे अपने छोटे भाइयो के लिए अपने को समर्पित कर गए थे । एक को तो पढाया-लिखाया, दूसरा नही पढ सका तो वे क्या करते ? उनके भीतर अपने घर और पडोस के लिए बडी हमदर्दी थी । लेकिन उनका छोटा भाई जब गाव छोडकर तराई मे जा बसा तो अपने छोटे से भाई को बरबाद कर गया । वह बहुत शात, शरीफ और मुलायम स्वभाव का था लेकिन अपने छोटे भाई के लिए ऐसा काटा बो गया कि वह अफसोस से मर गया । वह अपनी जायदाद, मकान का आधा हिस्सा छोटे भाई के दुश्मनो को ही बेच गया ।

इन लोगो मे बाद की पीढी के थे बेचू भाई । ये अलग तरह के औलिया थे । ये गाव की अद्‌भुत रौनक थे । इनकी कल्पनाशीलता, वाक्‌चातुरी और फक्कडपन का अपना रग था । ये पान चबाते या सुपारी चबाते या पान चबाने का अभिनय करते आते थे और कभी कहते, "बना करे कोई, है बाबू रामअवध जैसा कोई बडा आदमी इस जवार मे ?" मझले भाई से अक्सर उनकी टकराहट हो जाती—कभी खेत की मेड को लेकर, कभी पोखरी की मिट्‌टी को लेकर और उस झगडे या टकराहट के दो दिन बाद आते और कहते "भाई ! कोई कितना बने, रामनवल जैसा वीर आदमी इस गाव मे कोई नही है ।" हम लोग हसते, वे भी हसते । फिर न जाने कहा-कहा की हाकने लगते । वे बूढे, जवान, बच्चे सबमे समा जाते । उनकी वाक्‌चातुरी का रग कई बार देखा था । एक बार वे स्कूली बच्चो से सवाल-जवाब कर रहे थे कि बच्चो ने उनसे पूछ लिया, "बाबा, आप इस कविता का अर्थ बताइये :

> इहि बिरिया नहि और की तू करिया वह सोधि
> पाहन नाव चढ़ाइ जिनि कीन्हे पार पयोधि ।"

पूछने वालों में शेषनाथ नामक लड़का भी था जिसका रंग काला था । बेचू

भाई ने छूटते ही कहा, "शेषनाथ इसका अर्थ बताएंगे। यही करिया (काले) हैं।" एक ठहाका लगा और वे अपने को बचा गये।

बेंचू भाई एक बारात में गये। खिचडी खवाई के समय दूल्हे को मान करना था, मान कर बैठा। दूल्हा मान करता है कुछ अधिक प्राप्ति के लिए। बेटी वाले मनाते हैं और धीरे-धीरे कुछ रुपये और देते चले जाते हैं। खाना परस दिया गया था। दही-चूडा फूलकर निस्सार हो गया था। सामने रखे खाने पर भूखी आंख टिकाये बाराती बैठे हुए दूल्हे का मान करना देख रहे थे। घंटा बीत गया। दूल्हे के बाप की ओर से दूल्हे को खाने का इशारा ही न मिले। आखिर बेंचू भाई की कुंडलिनी जाग्रत् हुई। वे बोल पड़े, "ए तिवारी जी, ए तिवारी जी, जमातौन के आपने क्या दिया है?"

बेटी वाले बोले, "एक अंगूठी और पंद्रह रुपये दिये है।"

"ए तिवारी जी आपने यह क्या दिया है? जानते हैं हमारे जवार के सबसे इज्जतदार आदमी का नाती बियाहने आया है। इनकी इज्जत पंद्रह रुपये की है?" बेंचू भाई बोले।

"तो इनकी इज्जत कितने रुपये की है ए बाबा, आप ही बताइये न।"

"इनकी इज्जत बीस रुपये की है। इन्हें पांच रुपये और दीजिये।"

"अरे बाबा, आपने पहले ही बता दिया होता कि इनकी इज्जत बीस रुपये की है। लाओ भाई, लाओ। मिसिर जी का पाच रुपये और दो।"

...कहना न होगा कि बेटे के बाप की क्या स्थिति हुई होगी लेकिन उनकी इज्जत का मूल्यांकन करके बेंचू भाई खाने पर जुट गये थे और सारे बाराती बेंचू भाई को आशीष देते हुए खाने लगे थे और लडके तथा उसके पिता से कौर नहीं निगला जा रहा था।

बडे मस्त मौला थे बेंचू भाई। जहां वे बैठ जाते थे वहां बैठक में जान आ जाती थी। खलिहान मे चैत की सुबह में चैता गाने लगते थे। अपने कोठे पर अपने छोटे भाई मुन्नी मिसिर के साथ संगीत की संगत करते थे। उन्हें गाना आता नही था लेकिन इससे क्या हुआ? भीतर की मस्ती तो थी। वह अपनी सीधी-टेढ़ी अभिव्यक्ति पा ही लेती थी। उन्होने गांव के बाहर की भी दुनिया देखी थी। इसलिए देश-विदेश के संदर्भ में बहुत-सी गप्पें हांकते थे जो बहुत मनोरंजक होती थीं। उन गप्पों से यह ज्ञात होता था कि बेंचू भाई बाहरी दुनिया के बारे में बहुत कुछ जानते भी हैं। जब उनकी और पूजन भाई की मुठभेड़ होती थी तो समां बंध जाता था। दोनों हांकने वाले, दोनों का संबध बाहरी दुनिया से था किन्तु दोनों का मिजाज अलग-अलग था इसलिए दोनों की गप्पों का रंग अलग-अलग होता और उन रंगों की टकराहट से जो आनंद पैदा होता था, वह दुर्लभ था। कामकाजी लोगों की निगाह में ये गप्पें और इनकी स्पर्धाएं चाहे जितनी नाचीज रही हों मुझे लगता है कि ये गांव के जीवन में एक सहज और निश्छल आनंद का स्रोत बहाती थीं, उसकी अभावमय जिंदगी में प्राणवत्ता फूंकती थीं। ये लोग संचय के पीछे नही पड़े थे बल्कि अपने भीतर के जीवन को चारों ओर बांटने को ही अपनी सार्थकता समझते थे। तब भी कमासुत लोग थे, बाद में तो और

भी बड़े कमासुत लोग आए। चारों ओर की जिंदगी से छलपूर्वक रस सोखकर अपने में बंद किये चलते रहे और लायक कहाते रहे लेकिन आज मुझे वे क्यों नहीं याद आ रहे हैं ? क्यों ये सारे के सारे अवधूत बसंत के फूलों की तरह मेरी यादों के जगल में उतरा आए हैं !

इन्होंने सांसारिक दृष्टि से कुछ संचय नहीं किया, संपन्न नहीं हुए लेकिन इन्होंने अपने अभाव को कभी और कहीं खुलने नही दिया। बेंचू भाई (और पूजन भाई भी) हमेशा यही दिखाते रहे कि उनके खान-पान, रहन-सहन का स्तर गांव और जवार में सबसे ऊंचा है। वे गांव के कुछ धनी-मानी कहे जाने वालों को हिकारत की दृष्टि से देखते थे और कहते थे, "ई क्या बड़ा आदमी बनेगा, ई कभी बड़े आदमियों की संगत में बैठा भी है ! ई तो कभी भरपेट अच्छा खाना खाता भी नहीं होगा। हेंह, सरऊ गाव के बड़े आदमी बनने चले हैं। मुझे देखो, रोज गेहूं की रोटी, बहरनी का चावल, घी-दूध से छौंकी हुई अरहर की दाल, चटनी-अचार खाता हूं, मेवा खाता हूं, पान खाता हूं । है किसी की औकात मुझसे बराबरी करने की ?" लोग उनके इस बहकूपन पर हंसते थे, मैं भी हंसता था लेकिन मुझे अब लगता है कि अपनी दयनीयता दिखाने की अपेक्षा अपने को भरापूरा दिखाना जीवन जीने का सही तरीका है। दयनीयता दिखाकर लोग औरों की दया जीतना चाहते हैं। भरापूरापन दिखाकर आदमी दया को ठुकराता है और अपने स्वाभिमान को गहरा करता है। वह औरों का मनोरंजन करता हुआ भी कहीं गहरे जीवन-मूल्यों से जुड़ा होता है।

एक दिन हम लोग उनके यहां पहुंचे। अंधेरा था। हमने कहा कि क्यो अंधेरा है बेंचू भाई। वे झल्लाकर बाले, 'अरे क्या बतायें, रमदेइया इतनी दुष्ट है कि मेरी सुनती ही नहीं। उसने अभी-अभी बताया कि मिट्टी का तेल खत्म हो गया है। मैंने कहा, 'अरी दुष्ट, तेल खत्म हो गया है तो लालटेन मे घी डाल दे, दूध डाल दे, लालटेन तो जलनी चाहिए, लेकिन ई सुनती ही नही।' "

"ई देखो, लालटेन में घी जला रहे है बेंचू बाबा। अरे गप्प कोई इनसे सीखे।" साथ के एक धनी लड़के ने चिकोटी काटी। बस, क्या था, उफन पड़े बेंचू भाई, "हे धन्ना सेठ के नाती ! तुम मुझे समझते क्या हो ? बकील साहब सुबह-सुबह ही छीटे मे रुपये रखकर बैठते है और गरीब-गुरबा को बांटते है। तुम मुझे समझते क्या हो ?"

"हा-हां, क्यो नहीं, क्यों नहीं ?" वह लड़का फिर बोला। "तुम्हे मालूम है तुम्हारी मां मेरे 300 रुपये खाकर मर गयी, अभी तक वे रुपये नही मिले। कल ही कचहरी में नालिस करने जा रहा हूं।" काफी देर तक हम लोग हंसते रहे, फिर उठ आये लेकिन धनी लड़के का मुंह तीता हो आया था और बेंचू भाई अभी भी बहके जा रहे थे। बेंचू भाई विवाहों की सभाओं में अपने बनाये कुछ श्लोक पढ़ते थे। लंपतं पर चंपतं···। सही पंडित लोग तो मुस्कराकर टाल जाते थे किंतु मूर्ख पंडित लोग उनके जाल में फंस जाते थे। मेरे विवाह मे हमारी ओर से कोई पंडित नही था, सभी नयी शिक्षा के लोग थे। फिर बेंचू भाई हो गये शुरू और उधर का मूर्ख पंडित समझ बैठा कि सचमुच ही कोई बड़ा प्रश्न उससे पूछा गया है। उसने हाथ जोड़ते हुए कहा, "मुझसे इस

श्लोक का अर्थ नहीं चल रहा है, क्षमा करें।" बेंचू भाई गरज उठे, "क्या कोदों देकर पढाई की है?" हँसी पड़ी और मेरे विवाह का वह मुहूर्त बेंचू भाई की वाणी से उत्पन्न खुले आनंद की छाप से धन्य हो उठा। आखिर जीवन का आनंद क्या है? ऐसे ही छोटे-छोटे क्षणों के स्फुरण की शृंखला ही तो है। क्या हमें ऐसे क्षणों और उन क्षणों को अपने से भरने वाले लोगों के प्रति कृतज्ञ नहीं होना चाहिए? इन लोगों के अपने अनेक दुर्गुण हो सकते हैं, थे लेकिन इससे क्या, इनसे हमें जो कुछ मूल्यवान् मिला, वह इनके प्रति कृतज्ञ होने के लिए क्या काफी नही है?

संग की सहेली सब पार उतर गयी
हमहू ओपार के जवइया हो
कन्हैया बिना ना
के खेई मोर नइया हो
कन्हैया बिना ना

कोई गा रहा है—रास्ते पर, खेत में, खलिहान में, स्कूल के सामने। कैसी मीठी आवाज है! किसी उस्ताद ने उसे नहीं सिखाया है, अपने दर्द ने सिखाया है। वह गांव की नजरों में आवारा है, निकम्मा है, नालायक है। लोग जब हलके मूड में होते है तो कहते हैं, "अरे सुखराम, जरा वह गीत तो सुना दो।" वह किसी की परवाह नहीं करता, गुनगुनाता तो रहता ही है, गा पड़ता है और ठहरता नही, चलता रहता है। वह एक खुर्राट बाप का बेटा है। उसके बाप ने उसकी मां का खून किया था। बाप नामी नंगा था, लठैत था, बलवान् था, चोर था। किसी पट्टीदार के साथ बीवी के फंसे होने का शक हो गया। बीवी को काट दिया और पट्टीदार की कमर तोड़ दी। फिर फांसी पर चढ गया। बालक सुखराम अपने छोटे भाई के साथ बचा रह गया जिंदगी जीने के लिए। खेत बहुत नही थे, जो थे उन्हें एक नजदीकी पट्टीदार ने बंटाई पर जोतना-बोना शुरू किया और सुखराम के बड़े होने का इंतजार करने लगा लेकिन सुखराम गुमसुम रहने लगा। वह अकेला घूमता, इधर-उधर भटकता। जब कोई कहता, "क्या आवारा की तरह घूम रहे हो? कोई काम-धाम क्यों नही करते?" तो वह थोड़ा मुस्करा देता और आगे सरक जाता। वह बड़ा हुआ तो पट्टीदार ने उससे कहा, "अब अपना जोतो, बोओ भइया। लोग मुझे ताने मारने लगे हैं कि मैं तुम्हारा खेत हड़पने की ताक में हूं।"

"ठीक है, मुखराम बड़ा हो गया है, वह संभाल लेगा।"

"और तुम! बड़े भाई होकर तुम नही संभालोगे, मुखराम संभालेगा? निकम्मा कहीं का।"

और सुखराम कुछ दूर जाकर एक गाना गाने लगता है। बचपन से ही वह गा रहा है। ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, उसके कंठ में दर्द बढ़ता गया। लेकिन कंठ का दर्द क्या कंठ का दर्द था? लगता है उसके भीतर कहीं बहुत गहरे कोई दर्द है जो स्वर में भर आता है। एक बार मैंने उससे पूछा था, "क्या है सुखराम भाई, तुम दुनिया से इतने उदासीन क्यों हो? तुम इतने दर्दीले गीत क्यों गाया करते हो?"

वह गंभीर हो गया। वह जानता था कि मैं उससे मजाक नही करता। उसके प्रति मेरा व्यवहार बहुत दोस्ताना है। कुछ देर चुप रहने के बाद बोला, "भइया, मुझे अपनी मा बहुत याद आती है। अपने बाप का जुल्म, उसके बारे मे कही जाती हुई नगई की कहानिया बहुत सताती हैं। क्या रखा है लायक होने मे, कमासुत कहलाने मे ? देख तो रहा हूं बहुत-से लायक और कमासुत लोगो को। दूसरो को नोच-खसोटकर घर भरने वाले ये धूर्त लोग अपन को लायक और कमासुत कहते है भइया। मैं अपने बाप की तरह नही होना चाहता। मैं इन धूर्त कमासुतों की तरह नही होना चाहता। न जाने क्या है जो मुझे तड़पाता है, रुलाता है, धन-दौलत के तमाम बधनो मे मुझे अलगाता है।"

उसकी आखो मे आसू छलछला आए थे। फिर झटके से आसू पोछकर हंसा और गाने लगा, "ठगिनिया रे काहे लूटे बजार।"

छोटा भाई मुखराम अपने बाप के रास्ते पर चलने लगा। देह मे वही ऐंठ, आवाज मे वही कड़क, हाथ मे लाठी। जिस-तिस को पीट देने की धमकी, जिस-तिस के खेत मे हाथ की करामात। सुखराम मुखराम को चोरी-चकारी के कामो पर डाटता लेकिन जब उसके खेत मे चोरी होती और मुखराम उसकी सूचना देता तो हस पडता और मुह बिचकाकर कहता, "जाने दो।" "हुह, जाने दो। ये पट्टीदार साले हमारी सारी जायदाद पहले ही खा गये थे, जो बची-खुची है उसे भी खा जा रहे है और तुम हो कि कहते हो, जाने दो। अरे, इन धूर्त पट्टीदारो के हाथो बरबाद हो जाओगे, सत जी, महात्मा जी।"

सुखराम उत्तेजित हुए बिना मुस्करा पड़ता :

दुनिया दो दिन की माया रे
कही धूप और कही छाया रे
तू क्या लेकर के जाएगा
तू क्या लेकर के आया रे

सुखराम उपेक्षित था—गांव से, स्वयं अपने छोटे भाई से। सभी उसे गवइया और नचनिया कहने। उसने एक बार तरकुलहा के मेले मे बासुरी खरीद ली। बिना किसी गुरु के धीरे-धीरे स्वय बजाना सीख गया। फिर क्या था, आवारापन का खिताब और भी गाढ़ा हो गया। जब लोगो का मन होता तो अपने बहलाव के लिए उसे छेडकर उसका गाना और बासुरी सुनते; जब नही होता तो उसे गाली देते। वह जवान हो गया था। उसकी शादी कौन करता ? बस, अकेला भटक रहा था—बाहर से भीतर तक अकेला।

एक दिन किसी का एक बाछा कुए मे गिर पडा। लोग जमा होकर तरह-तरह के सुझाव दे रहे थे लेकिन कुए मे कोई पैठ नही रहा था। एकाध हिम्मती पैठने को होते तो उनके घरवाले रास्ता रोक लेते, "नही, तुम्हे कुएं मे पैठने नही देंगे। कुछ हो-हवा जाए तो। जिसका बाछा है वह पैठे।" बाछा एक विधवा का था जिसके दो नाबालिग

बच्चे थे । सुखराम भी वहा पहुच गया था। लोगो को देखा, मुस्कराया और ऐलान किया, ' लोगा, मुझे उतारो । मैं बाछे को निकालूगा ।"

लोगो ने उसकी ओर देखा। "हा-हा, मैं उतरूगा और मुझे उतरने से रोकने वाला कोई नही है पंचो—न मा, न बाप, न चाचा, न ताऊ, न भाई, न बहन। एक भाई है लेकिन वह रोकेगा नही ।"

वह उतारा गया । काफी कशमकश के बाद वह बाछे को बाध पाने मे सफल हुआ । वाछा निकाला गया। लोग उसकी बडाई करने लगे लेकिन वह अनासक्त भाव से वहा मे चला गया।

मेरे पिताजी उसे बहुत मानते थे । वह भी उन्हे बहुत प्रेम मे अपने गीत सुनाता था। प्रायः मैं भी वहा होता था। उसके स्वर मे अद्भुत मिठास थी, दर्द था, तडप थी। एक बार वह काफी दिनो तक दिखाई नही पडा । मैंने पिताजी मे पूछा तो पता चला कि हा वह कही चला गया है—शायद तराई की ओर। मै एक अभाव महसूस करने लगा। लगा कि वह ता चला गया है लेकिन उसकी रागिनी गाव की गली-गली मे, खेतो मे, खलिहानो मे, बाजारो मे, मेलो मे भटक रही है। वह पूरे जवार को अपने संगीत का भराव दे गया है। मै शिक्षा के क्रम मे गाव से निकला तो निरतर यायावर ही बना रहा और उसे नही देखा। न जाने उसका क्या हुआ ? वह कहा विलीन हो गया ? लेकिन उसकी रागिनी अभी भी मेरे भीतर जिदा है :

पूजहु शिव को बहु भाती
आजु शिवराती

एक औरत औरतो के झुड के आगे-आगे यही पंक्ति गाती चली जा रही है; आज शिवरात्रि है। इस झुड मे अनेक कुमारिया है जो शिव की पूजा करने जा रही है ताकि उन्हे अच्छा वर मिले। विवाहिताए पूजा करती है कि उन्हे पति की अनुकूलता प्राप्त होती रहे । लेकिन यह औरत क्या चाहती है ? इसे पहचाना आपने ? यह सुखदेई फूआ है। इसी गाव की विवाहिता और पति-परित्यक्ता बेटी। ये शकर को पूजकर क्या पायेगी, सब कुछ तो पहले ही खो चुकी है ? लेकिन नही, उन्होने अपना उल्लास नही खोया है। हर तीज-त्योहार, पर्व, शादी-ब्याह पर गीत की बागडोर उन्ही के हाथ मे होती है। बध्या है, पति ने दूसरा विवाह कर लिया। वे अपनी सौत के साथ दासी के रूप मे रहना स्वीकार नही कर सकी। मायके आ गई। मायके मे भी कोई नही है, बस बूढी मा है। क्या दिया समाज न उन्हे ? क्या दिया ईश्वर ने उन्हें ? लेकिन हार नही मानी। उन्होने अपने भीतर के देवता की आराधना की। वह जागा और गाने लगा। वह जागा और सुखदेई को सामाजिक कर्मों मे जोड दिया । सारे अभाव के और अकेलेपन के बावजूद फूआ एक अर्थ पा गयी, जीवन का मर्म पा गयी। भले ही उनकी शकर-आराधना सफल नही हुई लेकिन शकर की आराधना को उन्होने निरर्थक नही माना। उन्हे न सही और कुमारियो को तो वह फल दे सकती है। वे नही हो सकी लेकिन और कुमारिया तो सुखी पत्नी हो सकती है। अपने अभाव में दूसरो की सम्पन्नता और सौभाग्य

की कामना करना और उसे गीतों में ढाल देना कम बड़ी बात है क्या? पति और गांव के लोगों ने भले ही इन्हें तुच्छ और महत्वहीन और फालतू माना लेकिन उन्होंने अपने को कभी ऐसा नहीं माना क्योंकि उन्होंने अपना अर्थ खुद के सुख से नहीं, औरों के सुख से पाया था। इसलिए सबसे आगे गाती जा रही हैं:

> पूजहु शिव को बहु भांती
> आजु शिवराती

उनके भीतर इस क्षण को लेकर कोई दर्द नहो है बल्कि इतनी कुमारियों के सुन्दर भविष्य की कामना के साथ होने का उल्लास है। आदमी के कितने छोटे-छोटे सुख होते हैं जो उसे भरते रहते हैं! उन छोटे-छोटे सुखों के साथ हो लेना, उनकी पूर्ति का माध्यम बन जाना कितना बड़ा अर्थ रखता है लेकिन कितने लोग यह अर्थ पा पाते हैं! और किसी को मिला हो या न हो सुखदेई फूआ को तो मिला था। उनका अपना क्या था—कुछ खेत थे। खेतों में मां-बेटी काम करती थी। दो पेट की बिसात ही कितनी? काम चल जाता था। वे गांव की बेटी थीं, पूजा-पाठ, व्रत-त्योहार के अवसरों पर लोग अन्न छू-छूकर उन्हें दे देते थे। मां तो यह अन्न खा नहीं सकती थीं, वे ही खाती थीं और कुछ ससुराल भेज देती थीं। शादी-ब्याह के दिनों में फूआ किसी न किसी के यहां खा-पी लेती थीं। बस, उन्हें और लेना क्या था? उन्होंने अपने भीतर के रीतेपन को भीतर के वैभव से ही सम्पन्न कर लिया था। उन्होंने यह सत्य पा लिया था कि रोने से नहीं, गाने से रीतापन कटता है। रोना अपने प्रति औरों की दया जगाना है और गाना दूसरों को भरता है, देता है। अपने को दीन और दयनीय होने से बचाता है। हम दूसरों की नजरों में दीन और दयनीय होकर क्यों जियें? दूसरों को कुछ देकर उनकी आंखों में अर्थवान् होकर क्यों न जियें?

फूआ अर्थवान् होकर जीती रहीं। उनके गीत की छाप किस समय और किस घर की दीवारों पर नहीं थी! उनकी हंसी की अनुगूंज किस आंगन में नहीं थी! काम-काजी और लायक पुरुष हमेशा कहता, "यह निकम्मी जहां देखो वहीं हिरकी रहती है।" लेकिन उन स्त्रियों से तो पूछिए जिनका काम फूआ के बिना चलता ही नहीं था। कोई भी काम हो, सुखदेई फूआ को बुलाओ। कोई बच्चा बुलाने के लिए भेज दिया जाता और मालूम पड़ता अभी-अभी कोई बुलाकर ले गया है। होली में चौताल की चैम्पियन वे थीं, सावन में कजली की मास्टर वे थीं। हर तीज-त्योहार पर गीत की बागडोर इनके हाथ में थी तथा असफल वैवाहिक जीवन जीने के बावजूद विवाह के अवसरों पर सारे मांगलिक कार्यों की सकुशल संपन्नता का रहस्य वे थीं। किसी के घर कोई नहीं है, फूआ तो हैं। कोई असहाय बीमार पड़ गया है, कोई नहीं है तो फूआ तो हैं। किसी का सिर दुख रहा है, फूआ मंत्र जानती हैं, झाड़ने पहुंच जाती हैं। किसी का कुछ खो गया है या कोई कहीं गया हुआ है, नहीं आ रहा है, कोई बात नहीं, फूआ सगुन उचार-कर बता देंगी।

अभी तक मेरे माथे पर फूआ की अंगुलियां रेंग रही हैं। न जाने कितनी बार

उन्होंने मेरे सिर से दर्द को दूहा होगा, न जाने कितनी मंत्र-पूत उनकी सांसें मेरे चेहरे से टकराई होंगी। न जाने कितनी बार उन्होंने मेरे अच्छे नम्बरों से पास होने की भविष्यवाणी की होगी, न जाने कितनी बार घर से बाहर गए हुए मेरे पिताजी के शीघ्र लौटने की संभावना से मां को परिचित कराया होगा। पता नहीं वे मंत्र जानती थीं कि नहीं, पता नहीं सगुन उचारने की कोई कला आती थी या नहीं और पता नहीं उन्हें खुद अपने इन अनुष्ठानों पर विश्वास था कि नहीं, लेकिन दूसरों को सुखी बनाने के लिए वे ये सब कुछ निस्पृह भाव से करती थीं, यह कम तो नहीं। वे अपनी कला को बेचती तो नहीं थीं, उससे किसी को ठगती तो नहीं थीं, बस सबको छोटे-छोटे सुख देने का प्रयत्न करती थीं।

और उनकी असली कला तो यह थी कि वे सक्रिय रूप से—सबकी सेवा करती थीं। कितने ही बीमारों, कितने ही असहायों, कितने ही अकेले लोगों का साथी हो जाना फूआ का काम था। न जाने कितने बिंदुओं पर इस औरत ने जाने-अनजाने गांव की जीवन-धारा के विष को चूसकर अपना संजीवन-रस उसमें मिलाया होगा। मेरा तो पूरा जीवन उन्हीं का दिया हुआ है। वह न होतीं तो प्रसूतिगृह में पैदा होते ही मुझे कीड़ों ने खा लिया होता। मैं कल्पना कर रहा हूं कि वह बंध्या औरत मेरे पैदा होने पर बहुत उत्साह से गा रही है और मां के सुख में नहा रही है :

होन बिहान पौ फाटे
त होरिला जन्म भइले हो
ललना बाजेला अनद बदइया
त उठन लागे साहर हो

मेरे गांव, क्या तुम्हें याद है यह औरत ? तुम्हें हो या न हो, मुझे तो याद है।

8

मकान बन गया था—दोमंजिला मकान। भइया ने रेहन पर चढ़े सारे खेत छुड़ा लिए थे। परिवार के जीवन मे गरीबी की सीलन हट गयी थी और गौरैया की तरह एक खुशनुमा धूप अपने छोटे-छोटे पंख फड़फड़ाती उड़ रही थी। मझले भाई उस समय देहात की दृष्टि से शादी के योग्य हो गए थे—कई साल पहले हो गए थे लेकिन किसी भी बेटी का बाप हमारे पारिवारिक अभाव के सीलन मे झांकने को तैयार नहीं था। गांव में चर्चाएं होने लगी थीं कि लड़का उन्नीस साल का हो गया, शादी नहीं हो रही है। उन्नीस साल तो बहुत होते हैं। मेरे भइया जब दस साल के थे उनकी शादी हो गयी थी। लेकिन तब और बात थी। तब मेरे बाबा रामगरीब मिश्र की तूती बोलती थी। वे बाबू चंद्रभान सिंह की रानापार छावनी के सर्वेसर्वा थे। वे स्वयं भी बहुत प्रतापी थे। जितना जोर उनकी भुजाओं और लाठी में था उतनी ही करुणा उनकी छाती में थी।

वे बाबू चंद्रभान सिंह की सम्पत्ति की वृद्धि भी करते थे और मजूरों में खुले हाथ बांटते भी थे। इसलिए जहां बड़े-से-बड़े लोग उनकी लाठी के प्रताप से आतंकित थे वहां गरीब मर-मजूर उन्हें असीसते थे। क्या शरीर था, क्या काठी थी ! मरने से पूर्व के कुछ दिनों में अस्सी साल की अवस्था में भी उन्हें लाठी तानकर चलते देखा था। उनकी लाश जली थी तो तनी हुई छाती की हड्डिया देखकर लोग चकित रह गए थे।

बुढ़ौती मे उन्हें सुख नही मिला लेकिन उनकी स्वाभाविक शक्ति उनका साथ देती रही। वे लाठी के हूरे से ईंट मे कच्चा आम कूटकर खाते थे और उन्हें कुछ नही होता था। बुढ़ापा भी कितना दर्दनाक समय होता है, कोई पास नहीं फटकता। इतने प्रतापी बाबा ने अपना बुढ़ापा अकेले काटा। उनका सम्मान तो लोग करते थे लेकिन उनके साथ बना होना किसी के लिए सभव नही था। वे पट्टीदारी के एक चाचा के एक खाली कमरे में बैठे-बैठे पकी हुई मिट्टी खाया करते। पीठ मे भयानक खुजली होती। हम लोगों से पीठ खुजलवाते, इतनी जोर से खुजलवाते कि पीठ खून से चिप-चिपा जाती। हम लोग इसीलिए उनसे बचते रहते। वे राह चलते किसी भी लड़के को बुला लेते और पीठ खुजलवाते। तब तो मैं क्या सोच पाता, आज ज्यों-ज्यो बुढ़ापे की ओर जा रहा हूं और दुनिया में बूढ़ों की त्रासद स्थितियों को अपने अनुभव और चेतना में उतार रहा हूं, बाबा की वह स्थिति समझ में आती जा रही है और इतने दिनो बाद मन बाबा के उस अकेलेपन से घिर-घिर आ रहा है। सोचता हूं, क्यों नही मैंने अपना खेल-कूद कम करके बाबा के अकेलेपन को कुछ कम किया, क्यो नही उनकी बूढ़ी आंखों से झरते हुए सजल आशीष को अधिक से अधिक सहेजा ? बल्कि एक घटना याद कर तो मुझे ग्लानि हो रही है। जाड़े की शाम थी। हम (मै, मझले भाई और भइया) बैठे अलाव ताप रहे थे। बाबा लेटे हुए थे। मैंने कहा, "ए बाबा, पू।" बाबा झल्लाये। चुप हो गए। भइया ने कहा, "फिर चिढ़ा।" मैंने फिर 'पू' कहा। वे फिर झल्लाये और चुप हो गए। भइया भी हलके मूड में थे, मुझे उकसाते गए और मैं बार-बार पू-पू करता गया। आखिर बाबा के सब्र का बांध टूट गया और गाली देते हुए अपना डंडा उठा लिया। हम तीनों उठकर गली में भागे। सबसे पीछे मैं था। बाबा ने डंडा खींचकर मारा। मैं बाल-बाल बच गया। हम लोग डर के मारे काफी रात तक बाहर ही भटकते रहे। जब विश्वास हो गया कि वे सो गये होंगे तो चुपके से जाकर सो गए।

हां, तो वह बाबा के प्रताप का युग था इसलिए भइया की शादी की छीन-झपट मची हुई थी और बचपन में ही उनका विवाह हो गया। पिताजी के शासन के इतने बड़े सन्नाटे के बाद भइया के युग में फिर बेटी देने वालों की चहल-पहल हमारे घर में शुरू हुई। मझले भाई की शादी टाड़ा गांव में तय हो गयी। टाडा गाव से हमारे गांव का पुराना संबंध रहा है। यह गांव अपनी नफासत के लिए प्रसिद्ध रहा है। बहुत दिनों बाद और वह भी भइया के शासनकाल में हमारे यहां लड़के की शादी पड़ रही थी। बाबू चन्द्रभान सिंह के तहसीलदार के भाई का विवाह टाड़ा गांव में हो रहा है, जाने-अनजाने भइया के मन में गौरव का एक तनाव उभर आया था। उन दिनों सामती वैभव का रोब-दाब

जीवित था और भइया के चेतन-अचेतन मन पर उसकी छाप अंकित हो रही थी। इसलिए वे टाड़ा गांव में सामंती वैभव के साथ जाने की तैयारी में जुट गए थे। वे चाहते थे कि खूब अच्छी बारात जाए। हाथी-घोड़ों की चहल-पहल हो, महफिल में सोने-चांदी के सामान हों, चंदोबा हो, दूल्हे-सहबाले आदि के लिए खूब कीमती चटकीले कपड़े हों। शादी की तैयारी होने लगी। लक्ष्मीगंज से सामान आता था। हम लोग सामान ढोने वालों के साथ शाम को सरदार नगर स्टेशन पर पहुंचे होते और सामान लेकर रात को ही दस मील की दूरी तय करके घर पहुंचते थे। जेठ की चांदनी रात थी। बारातों की गहमा-गहमी, बाजों की ध्वनियों, नचनियों के गीतों से सारा रास्ता गूंजता रहता। कब रास्ता कट गया पता नहीं चलता था। और जब घर पहुंचते तो भिनसार हो गया रहता। घर और पड़ोस की औरतें मिलकर विवाह संबधी गीत (भोर) गा रही होतीं। वह अद्‌भुत उल्लास का वातावरण था। उसे मैं कोई नाम नहीं दे पाता। और विवाह का दिन आ गया। बाराती चले गए। भइया यह चाहते रहे कि बाराती काफी जल्दी टाड़ा पहुंच जावें, ताकि द्वार-पूजा की गहमा-गहमी दिन के उजाले में दिखाई पड़े। वह रात के अंधेरे में कहीं खो न जाय इसलिए कहारों और अंगरेजी बाजा वालों को हिदायत थी कि वे जल्दी आ जाएं। लेकिन अपनी आदत के अनुसार दोनों ने देर कर दी। फिर मत पूछिए, भइया ने जो रुद्र रूप दिखाया वह अद्‌भुत था। उन्हें बांधने और मारने की जो ललकार उठाई उससे भयभीत होकर अंगरेजी बाजा वाले मगन होकर बाजा बजाने लगे और कहार रास्ते में कोई कजाकी किये बिना ही डोली लेकर भागते गये और निश्चित समय से घंटा-भर पहले ही टाड़ा गांव के पास पहुंच गये।

भइया तब तपे हुए थे। कहारों या बाजा वालों की हिम्मत नहीं थी कि प्रतिवाद करते और उनके विलम्ब से हम लोग भी झल्लाये हुए थे और आशंका होने लगी थी कि इनके विलंब से द्वार-पूजा का मजा जाता रहेगा, इसलिए भइया का रुद्र रूप हमें अच्छा लगा। मुझे धीरे-धीरे यह लगने लगा था कि भइया पर बच्चा बाबू की सादगी, मर्दानगी, क्रोध, किसी को भी ललकार देने की हिम्मत और किसी की अकड़ पर उसे पीट देने की उत्तेजना अपना गहरा प्रभाव डाल रही थी! वैसे वे वृत्तियाँ उनमें बीज रूप में पहले से ही थीं, किंतु सामंती वातावरण उन्हें अंकुरित और पल्लवित-पुष्पित करने लगा था।

परिछन का दृश्य बड़ा रोमांचकारी होता है, गांव की बहुएं-बेटियां सजधजकर गज-समूह की तरह घर में से निकलती हैं। आगे-आगे दूल्हे की पालकी, पालकी मे बारी-बारी से चढ़ती बहुएं और लड़कियां, कुएं की, डीह के थान की, बरम बाबा के थान की परिक्रमा करता हुआ दूल्हा और उसके पीछे-पीछे मां या भाभी और 'परिछन करहु चलेली बड़ी कामिनि, सखी दस गोहने लगाइ' का गीत गाता हुआ महिलाओं का समूह। क्या दृश्य होता था! और अंत में काली माई के थान पर परिछन होता था। परिछन हो रहा था :

साठी क चउरा लहालरि दूबि रे
चूमनि चलेली फलाने राम की धीव रे
जे मोरे राम के मन से परीछी
तेके हम देवें असीस हो

भइया बाबू साहब के पगला हाथी पर सवार थे। खड़े-खड़े परिछन देख रहे थे। परिछन नहीं देख रहे थे बल्कि व्यवस्था देख रहे थे—सारी बारात चली जाय तो उनका मतवाला हाथी रवाना हो। विराट्काय पागल हाथी। सभी लोग इससे डरते थे। कोई भी उसे बारात मे ले जाना पसंद नही करता था। तीन-तीन फीलवान इसके आगे-पीछे चलते थे। लेकिन भइया तो भइया ठहरे, उन्होंने इस पागल हाथी को ही पसंद किया था और सबके लिए शादी में रंगीन कपड़ों की व्यवस्था करके स्वयं मोटे खादी के कपड़ों में थे। सादगी भी एक वैशिष्ट्य है, भीड़ से अलगाव पैदा करती है, इस खयाल से नहीं, अपनी रुचि मे ही वे सादे कपड़े पहनते थे और पहने हुए थे। बारात पहुंची। द्वार-पूजा हुई। इस गांव की द्वार-पूजा का रंग ही कुछ और होता था। बड़ा गांव, सुंदर गांव और सुंदर ससुराल। झुंड की झुंड सुंदरियां बेटी वाले के दरवाजे पर उमड़ पड़ती थीं और

कहवां लगवले इतनी देर ए कोइल बनरा,
ए कोइल बनरा रे ए लाडिल बनरा।

गीत के साथ चावल और उड़द के छरारे छूटते थे, उनकी चोट खाकर बाराती धन्य हो उठते थे। इस बार भी हुए, लेकिन जब नंगा यथार्थ सामने आया तो रोमांस जड़ गया और कटुता का वातावरण उभरने लगा। बेटी वालों ने जितने आदमी मांगे थे उससे ज्यादा पहुंच गए थे। पट्टीदारी और भइया के संबंध के तमाम लोग। कितनों को छांटा जाता। छांटते-छांटते भी काफी लोग हो गए थे लेकिन भइया ने अपनी ओर से बैलगाडी पर चीनी-चावल आदि लदवा लिए थे। इसलिए चिंता नहीं थी फिर भी किसी न किसी बात पर कहा-सुनी हो ही जाती थी और भइया की तीखी जबान रह-रहकर लहक उठती थी। महफिल में रंगीनी छायी रही। नृत्य का अपना रंग था, सोने-चांदी की गुलाबदानी से गुलाबजल छिड़का जा रहा था। इत्र की खुशबू उड़ रही थी। रंग-बिरंगी पोशाकों की प्रतिस्पर्धा-सी थी। शास्त्रार्थ का अपना उन्माद था। इस रंगीन वातावरण का नशा तब उतरा जब घंटे-भर बाद लड़की वालों ने खिलाने से इनकार कर दिया, "औरतें बीमार पड़ गयी हैं, खाना कौन बनाये?" फिर क्या था, अलग-अलग चूल्हे जलने शुरू हुए। बड़े-बड़े हंडे चढे। एक चूल्हा हम लोगों का भी था। पास में अरहर के डंठल थे। जो भी आता था एक पांजा डंठल चूल्हे में झोंक देता था। लगता था, चूल्हा नहीं होली जल रही है। भात नीचे से जल रहा था। लोग भूख से छटपटा रहे थे। आखिर अधपका खाना ही खाया गया और बारात के एक ओर रोमांस का मजा लिया गया, यद्यपि यह रोमांस कइयों के पेट में हफ्तों अपनी हलचल दिखाता रहा।

हमारे यहां गवने का रिवाज था लेकिन भाभी मां-बाप-विहीन लड़की थीं।

उनके भाइयों ने उन्हें शादी में ही विदा कर दिया। भाभी बहुत अच्छी थीं। इन्हें मैंने मरजाद के दिन ही देख लिया था। इस गांव या इसके आसपास के गांवों का रिवाज है कि मरजाद के दिन औरतें दूल्हे को बुलाती हैं, साथ में सहबाला भी होता है। बासी खाने का भी रिवाज होता है। जब हम लोग बासी खा चुके तो भाभी ने मुझे बुला लिया। मैंने उन्हें देखा—सांवला-सा प्यारा रूप। विदा होने को थीं अत: आंखें डबडबाई हुई थीं। भाभी से बात करके उस कमरे में चला गया जहां लड़कियों के बीच भाई साहब घिरे थे। मैं तो अभी तक लड़कियों के साहचर्य से उत्पन्न मधुर बोध का अनुभव नहीं कर पा रहा था बलिक घबराहट ही अनुभव करता था किन्तु भाई साहब की इस दिशा में अच्छी गति थी। वे उनके बीच अकेले घिरे हुए मधुर विनोद के संवाद की अच्छी स्थिति बनाए हुए थे। मैं पहुंचा तो लगा कि यह स्थिति कुछ आहत हो उठी। लगता है मेरे चेहरे पर ही ऐसी कुछ लिखावट थी कि लड़कियां मुझे देखते ही मुझे अपने से जुड़ न पाने वाला व्यक्ति समझने लगती थीं और प्रणय-संवाद की विदग्धता तो मेरी वाणी में थी ही नहीं। जाने या अनजाने एक लड़की ने मेरा अपमान कर दिया। हुआ यह कि वह लड़की बहुत घुलमिलकर बातें कर रही थी। मजाक में बहुत बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही थी। वह सुन्दर थी। उसके गोरे-गोरे भाल पर एक बड़ी-सी बिन्दी चमक रही थी। मैंने भाई साहब का साथ देने के लिए मजाक में हिस्सा लेना शुरू किया और मेरा कवि जाग उठा। मैंने कहा—"प्राची दिशा में सूर्य चमक रहा है।" भाई साहब ने कहा—"कहां ?" "यहां" कहकर मैंने उस लड़की की ओर इशारा किया, "भाई, जरा छूकर बताओ।" भाई साहब ने मजाक आगे बढ़ाया।

"है किसी की मजाल जो मुझे छू दे !" वह लड़की बहुत ठसके से बोली।

"है क्यों नहीं ? आप मेरे भाई को नहीं जानती हैं, ये कवि हैं।" भाई साहब बोले।

"ये जो भी हों लेकिन मेरे मरद के पांव की धोवन भी नही हैं।"

"आपको अपने रूप और पतिव्रतापन पर इतना गुमान था तो यहां क्या करने आयीं ? मजाक करना तो खूब जानती है लेकिन मजाक सुनकर आपको मर्चा क्यों लग गया ? बहुत उस्ताद औरत हैं आप ?" मैंने कहा और झटके से उठकर जूता पहना और भाई साहब को गोपियों के बीच अकेला छोड़कर वापस आ गया।

बारात में पहुंचा तो मेरा चेहरा तमतमा रहा था। हमारे यहां से एक गवैया भी गये हुए थे। उस गांव के कुछ संभ्रांत लोग भी वहां बैठे हुए गाना सुन रहे थे। लोगों ने मुझे तमतमाया हुआ देखा तो पूछा, "क्या हुआ ?" बहुत पूछने पर मैंने बता दिया। लोग हंसने लगे। उसी गांव के एक रसिक व्यक्ति ने कहा, "आप कवि हैं, ससुराल आए हुए हैं, औरतों से नोक-झोंक का अपना मजा होता है, आप नाहक नाराज हो गए।" मुझे लगा कि जिस बात ने मुझे इतना आहत किया उसे लोग मजाक में ले रहे हैं और मेरी अरसिकता पर तरस खा रहे हैं। बाद में सुना कि वह लड़की अन्य लड़कियों द्वारा बहुत प्रताड़ित हुई और उठकर वहां से चली गयी लेकिन मैं अपनी अरसिकता और गुस्से के लिए वहां चर्चा का विषय बन गया। भाभी के भाई ने विदा के समय

मुझसे कहा, "आप बहुत गुस्सैल हैं, मेरी बहन से कोई गलती हो जाय तो क्षमा कर दीजिएगा।"

मैं अपनी अरसिकता के प्रति सावधान नहीं था क्योंकि लगभग अठारह-उन्नीस साल तक मैं भीतर से यह अनुभव ही नहीं कर सका कि नारी-साहचर्य-जन्य रसिकता क्या होती है? भाभी मुझे बहुत मानती थी। वे बहुत गुणी थीं, कर्मठ थी और रसिक थी। उनकी रसिकता अपने देवर से एक रसमय नोक-झोंक चाहती थी लेकिन देवर तो निकला काफी निखट्टू। होली के दिनों में एक बार भाभी ने मेरे पांवों पर महावर लगा दिया, मैंने पांव उठाकर उनकी उंगलियों पर दे मारा। भाभी अन्दर जाकर रोने लगी। मां ने मुझे बहुत डांटा, "यह क्या किया तुमने! होली है, यदि उसने अपने देवर से मजाक कर दिया तो तुमने लात से मार क्यों दिया?" "मुझे नहीं अच्छा लगता ऐसा मजाक।" कहकर मैं वहां से खिसक गया था लेकिन रसिकता का बोध उत्पन्न होने पर मैं अपने को धिक्कारने लगा और भाभी की उंगली पर लगी मेरे पांव की वह चोट मेरी छाती में लगने लगी। चाहता था कि भाभी के आगे झुककर उनसे क्षमा मांगू और उनके आंचल को देवर-सुलभ प्यार से भर दू लेकिन तब तक वे चली गयी थी। हां, दो-तीन साल के भीतर ही वे दिवंगत हो गयी थी।

मझले भाई के विवाह के साल-भर बाद ही मेरा विवाह भी हो गया। संभवतः, वह सन् 1940 था। तब मैं सोलह वर्ष का रहा हूंगा। मेरी इच्छा-अनिच्छा का कोई सवाल ही नहीं था। तब तो निर्णय गाव और पडोस के बड़े-बूढ़े करते थे। मैं उर्दू मिडिल पास कर चुका था और सोच नहीं पा रहा था कि अब क्या करूं? दरअसल हमारी पढाई के पीछे कोई ठोस योजना तो थी नहीं। लोग हिन्दी और उर्दू मिडिल पास कर लेते थे क्योंकि गांव के पास स्कूल था। इसके बाद तो शहर मे ही जाना पड़ता था। शहर में जाकर अंगरेजी पढने वाले लोग तब कहां थे? ऐसा बेवत वित्त किसका था? तब मेरे मन में कालेज की पढ़ाई करने की न कोई योजना थी न हिम्मत। लेकिन कुछ करना तो था ही। फिर यह तय हुआ कि विशेष योग्यता की परीक्षा पास की जाय, फिर विशारद, फिर साहित्यरत्न। यानी राष्ट्रभाषा की परीक्षाएं देकर उसके साहित्य में पारंगत हुआ जाय। "फिर क्या करोगे?" जब कोई पढ़ा-लिखा आदमी पूछता तो मुझे वैसा ही बुरा लगता जैसा "आजादी मिल जाने पर क्या होगा?" प्रश्न। मुझे लगता कि हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा है, उसकी परीक्षाएं पास कर लेने पर व्यक्ति सम्मानित भी होगा और कहीं भी अच्छी नोकरी मे लग जायेगा। जो लोग "फिर क्या होगा?" प्रश्न करते हैं वे राष्ट्र के शत्रु है, राष्ट्रभाषा के शत्रु हैं, उनमें अंगरेजियत की बदबू है, स्वदेशाभिमान नहीं है। भइया की भी इच्छा थी कि मैं ये परीक्षाए पास करूं, इससे मेरी साहित्यिक प्रतिभा और निखरेगी।

मगर विशेष योग्यता की तैयारी कहां करूं, यह प्रश्न था। पता चला कि गांव से दस मील दक्षिण स्थित ढरसी गाव मे एक स्कूल खुला है जहां यह पढ़ाई की जा सकती है। विवाह करके जब मैं घर को लौट रहा था तो भइया मुझे लेकर इस स्कूल में गये। (स्कूल रास्ते में ही पड़ता था) पंडित रामगोपाल शुक्ल वहां के आचार्य थे। मेरा परिचय

पाकर बहुत प्रसन्न हुए और मैं घर लौटकर ढरसी स्कूल जाने की तैयारी करने लगा। घर छोड़ने का यह पहला अवसर था। मैंने यह चाहा था कि विशेष योग्यता की तैयारी मदनेश जी के सान्निध्य में करूं। वे तैयारी कराने में सक्षम थे। वे संस्कृत और हिन्दी दोनों के मर्मज्ञ विद्वान् थे लेकिन घर-गृहस्थी के जंजाल में फंसे रहकर वे तैयारी कैसे करा पायेंगे? यह सवाल तो था ही। दरअसल मैं घर छोड़ने की कल्पना से ही घबरा उठता था। मुझमें भयानक गृह-ममता रही है। तब भी थी, प्रकारान्तर से आज भी है। तब गांव छोड़ने में घबराहट होती थी, अब अपना प्रदेश, जहां रहता हूं वह नगर और देश छोड़ने में। मुझे अपना घर, अपना परिवेश बार-बार बुलाता है। परिवार-जनों से दूर रहकर सुविधामय जीवन जीने का अभ्यास बहुतों को हो सकता है, मुझे नहीं है। मुझे अपने घर के लोगों से अधिक दिन तक दूर रहने की स्थिति बड़ी भयावह और त्रासद लगती है। न जाने कैसे लोगों को विदेश तेजी से अपनी ओर खींचता है, लोग वहां जाने के लिए तिकड़मों के कितने जाल बिछाते हैं, वहां अकेले या सपरिवार रहकर चैन के साथ जीते हैं पैसे बटोरते हैं और स्वदेश लौटने पर विदेश हो आने का गौरव तमगे की तरह लटकाये घूमते हैं। मुझे तो अपना देशी परिवेश चाहिए। जहां मैं रहता हूं उस परिवेश को जब छोड़ना पड़ता है तब वह बार-बार मुझे पुकारता है या दर्द बनकर मेरे साथ हो लेता है।

घर पर रहकर मां या पिताजी या भइया से काफी-काफी दिनों तक बिछड़ने का दर्द तो जिया था, उदासी भोगी थी, भीतर एक भारी खालीपन लिए मन ही मन में कितना रोया था, लेकिन तब एक व्यक्ति के बिछोह का दर्द था अब तो मैं स्वयं बाहर जा रहा हूं यानी एक साथ सबसे बिछड़ रहा हूं। यह अनुभूति मुझे कई दिनों से तड़पा रही थी, रुला रही थी और एक दिन पिताजी के साथ सीधा-पिसान, अरतन-बरतन लादे हुए ढरसी के लिए रवाना हो गया। और उसी दिन से गांव छूटा तो छूटता ही गया या यों भी कहें कि अपना गांव बाहर के तमाम गांवों से जुड़कर बड़ा होता गया और मैं तभी से गांव के हाथों में अपनी डोर सौंपे हुए देश के व्यापक विस्तार में उड़ता ही चला जा रहा हूं।

रोशनी की पगडंडियां

9

ढरसी स्कूल मझगावाँ के पास स्थित था। मझगांवाँ गोरखपुर-बड़हलगंज सडक पर स्थित एक बडा गाव है। बस-स्टैंड होने की वजह से यहां बहुत रौनक रहती थी। स्कूल के पास प्राइमरी स्कूल था। प्राइमरी स्कूल का खेल-मैदान था। उसका अपना एक छोटा-मा पार्क था जिसमे गुलाब के पौधे लगे हुए थे। पास में ही एक बरगद का पेड़ था। पेड के बाद सडक शुरू होती थी। उसके दोनो किनारे कई दुकानें थीं—मिठाई की, किराने की और अन्य कई तरह की। मिठाई की दुकान के मालिक रामधनी हलवाई थे और किरानी की दुकान के मालिक वासुदेव। इन दोनो की दुकानों से पडित जी के लिए हम लोग अक्सर सामान ले जाया करते थे और कभी-कभी स्वयं अपने लिए भी खरीदते थे इसलिए ये दोनो दुकानदार हमारे परिवार के हो गए थे।

पडित जी यानी पडित रामगोपाल शुक्ल स्कूल के आचार्य थे। वे अकेले थे इसलिए प्रमुख, सहायक सभी कुछ स्वयं थे। उन्होने अपनी छोटी औकात में ही स्कूल को एक स्वावलबी गुरुकुल का रूप दे रखा था। छोटी औकात इसलिए कह रहा हू कि वे सिर्फ मैट्रिक और विशेष योग्यता पास थे। और ये दोनो कक्षाएं वे चलाते थे। शुरू तो किया था विशेष योग्यता के अध्यापन से किन्तु बाद मे वे अग्रेजी भी पढ़ाने लगे थे। छोटी औकात इसलिए भी कि वे घर के संपन्न नही थे और बाहर से कोई अनुदान नहीं मिलता था। बम, लडकों से जो फीस मिलती थी उसी से स्कूल चलता था। हां, लकड़ी-वोकडी आसपास के धनी-मानी लोगो से मिल जाती थी। पडित जी उस समय मुश्किल से पच्चीस-तीस साल के रहे होंगे किन्तु मेरे मन में उस समय की उनकी जो तस्वीर है वह एक बहुत परिपक्व, सुलझे हुए और अनुभवी व्यक्ति की है। वे अपनी समझ और व्यवहार की परिपक्वता के कारण आसपास के गांवों मे बहुत मान्य थे। यहां तक कि बहुत-से बड़े-बड़े सरकारी अफसर भी उनसे मिलते और उनका आदर करते थे। ऐसी क्षमता के कम लोगों का साक्षात्कार मैंने किया था या कहिए किया है।

वे देर रात तक पढ़ते थे। हिन्दी पढ़ाने के लिए उन्हें विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि वे ताजा-ताजा वह कोर्स पास करके आए थे; किन्तु अंग्रेजी पढ़ाने के लिए उन्हें विशेष श्रम करना पड़ता था। वे नोट की सहायता से अंग्रेजी के पाठ तैयार करते थे। उनके पाम अंग्रेजी के कई स्तरीय शब्दकोश थे। देहात में इतनी अध्ययन-शीलता या तो बिकाऊ पंडित में देखी थी या रामगोपाल शुक्ल मे। उनका इतनी रात तक जगना हम लोगों की मुसीबत बन जाता था। हमें भी जागना पड़ता था, उनके डर से या उनकी देखा-देखी। पंडित जी पढ़ते समय प्राय: बड़ा-सा अंगोछा पहने रहते थे,

बदन खुला रहता था। उसी वेश में प्रायः पढ़ाते भी थे, किन्तु जब बाहर निकलते थे तो कलफ किया हुआ पायजामा, कुर्ता, टोपी पहने होते थे। पांव में पंप का जूता होता था और हाथ में छड़ी। उनका सुन्दर बलिष्ठ शरीर इस वेशभूषा में बहुत भव्य और कुछ हद तक रोमांटिक लगने लगता था। उनके बड़े-बड़े बालो की भी अपनी शोभा थी। पान खूब खाते थे अत: पतले ओठों पर तरल लालिमा पसरी होती थी।

पंडित जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। उसका असर हम सब पर पड़ रहा था। वे अध्ययनशील अध्यापक तो थे ही, एक कुशल प्रबंधक भी थे। उन्होंने अखाड़ा खोल रखा था जिसमें वे शाम को सबको लड़ाते थे। हमें दांव-पेच सिखाते थे। वालीबाल की टीम भी बना रखी थी जिसे लेकर वे आसपास के स्कूलो से प्रतिस्पर्धा मे उतरा करते थे। वे एक ओर पूरे जिले मे आयोजित होने वाले साहित्यिक समारोहो में भाग लेते थे और हमे भी साथ ले जाते थे, दूसरी ओर आसपास के गांवों के झगड़े निबटाने के लिए पंच भी बनते थे। उनमें जाग्रत् राष्ट्राभिमान भी था अत: वे राजनीतिक समारोहो में जाया करते थे। एक ओर वे साहित्यिक पुस्तकें खरीदने, दूसरी ओर अंग्रेजी के अखबार भी। काफी लडके आसपास के गावो से रोज आते-जाते थे। किन्तु दूर-दूर के गांवो के लड़के स्कूल में ठहरे हुए थे। उनके आवास, भोजन और योग-क्षेम की व्यवस्था की देख-रेख भी पंडित जी को करनी पड़ती थी। वे हम सबके घरेलू सुख-दु:ख मे भी रुचि रखते थे।

पंडित जी से जुड़े हुए एक और व्यक्ति थे जो स्कूल के अपरिहार्य अंग बन गये थे। वे थे ढरसी गांव के श्री बटुकदेव तिवारी। वे पंडित जी से उम्र मे काफी बड़े थे—लेकिन उनका भी हुलिया बहुत कुछ पंडित जी से मिलता-जुलता था। पंडित जी के साथ उनकी खूब छनती थी। वे हम लोगों के भी आदरणीय बन गए थे।

जब मैंने पहली बार गांव छोड़ा तो न जाने कितनी उदासी और अकेलेपन के बोध ने मुझे घेर लिया था। गांव से दस मील की दूरी न जाने कितनी बड़ी दूरी लगती थी। लगता था मैं सुदूर परदेस मे जा रहा हूं। भीतर-भीतर अहक रहा था। पिताजी के साथ होने से फिलहाल कुछ आश्वस्ति थी किन्तु यह सोचकर मन भरा आ रहा था कि ये तो मुझे छोड़कर चले आयेंगे। रास्ते के गांव मुझे परदेस मालूम पड़ रहे थे। यद्यपि इन गांवो से होकर मैं कितनी बार गुजरा था, क्योंकि ये गाव मेरे ननिहाल के रास्ते में पड़ते थे किन्तु तब ये कुछ नही लगे थे। आज परदेस लग रहे थे, क्योकि आज मैं एक अनजाने गांव के अनजाने स्कूल के अनजाने लोगों के बीच रहने जा रहा था। मेरे भीतर का गृहता-बोध मुझे भीतर-भीतर रुला रहा था और इन गावो को आशंकित नजरों से देख रहा था। जब मैं स्कूल पहुंचा तो पंडित जी बरगद के नीचे क्लास ले रहे थे। वे एक आरामकुर्सी पर पसरे छंद पढ़ा रहे थे। उन्होंने बच्चों से पूछा—"बताओ, यह कौन छंद है?"

हम लोग उनके पीछे जाकर खड़े हो गए। उन्होने देखा नही। वे पूछते रहे—"हां बताओ, यह कौन छंद है?" वे चुप रहे और दबी निगाह से हमें देख रहे थे। मैं बोल पड़ा, "हरिगीतिका।" पंडित जी खुशी से बोले—"वाह, कौन है?" उन्होंने मुड़कर

पीछे की ओर देखा। क्षण-भर पहचानने की कोशिश की और कुर्सी पर से उठ खड़े हुए। पिताजी से बोले—"आप हैं मिसिर जी, प्रणाम।" फिर वे बच्चों को संबोधित कर बोले—"बच्चो, ये है तुम्हारे नये साथी। क्या नाम है तुम्हारा बच्चे, मैं कुछ भूल रहा हूं।" मैंने कहा—"रामदरश मिश्र।" "हां, ये है रामदरश मिश्र। तुम लोग हरिगीतिका छंद से इनका परिचय पा ही गये हो। ये कवि है। अच्छा, तुम लोग अभ्यास करो, मैं अभी आया।"

मुझे अच्छा लगा। पंडित जी से हम लोग पन्द्रह-बीस दिन पहले मिले थे। उन्होंने थोड़ी-सी झिझक के बाद ही एकदम पहचान लिया, इससे मेरे भारीपन के भीतर एक हल्कापन महसूस हुआ।

वे हमारे साथ स्कूल मे गये। हमारा सामान रखवाया। एक लड़के को बुलाकर रामधनी के यहां से पेड़ा मंगाया और पानी भी। हमें जलपान कराया, फिर पूछा—"कुछ खाना-वाना खाया है?" "हां, हम लोग घर से खा-पीकर चले थे। आप चिंता न कीजिए।" पिताजी ने कहा। "अच्छा, आप आराम कीजिए। अच्छा कवि जी, आज आप भी आराम कीजिए, कल से क्लास में आइएगा।"

"नहीं पंडित जी, मैं भी क्लास मे चलता हूं।" मैंने कहा। न जाने क्यो मेरे भीतर का अजनबीपन का डर या परदेसीपन कहीं दुबक गया था। शायद पंडित जी की आत्मीयता के स्पर्श मे वह पिघलकर बह गया था या कम हो गया था।

पंडित जी ने सस्मित नजरो से मुझे देखा और मैं उनके पीछे-पीछे हो लिया। क्लास मे बैठा तो देखा मेरे ननिहाल के गांव के विंध्याचल और रामप्रश्न भी बैठे हुए थे। उन्होंने मुझे हंसकर देखा। मै थोड़ा आश्वस्त हुआ। लगा कि मैं अकेला नहीं हूं, मेरे साथ मेरे परिचय के कुछ लोग और है। दो-चार दिन मे मेरे गांव के सहपाठी कपिलदेव भी आ जायेंगे। फिर थोड़ी और आश्वस्ति मिल जायेगी।

शाम हुई। विंध्याचल और रामप्रश्न ने आकर पिताजी से भेंट की। पिताजी का मेरे ननिहाल जाने का कार्यक्रम था लेकिन कल। विंध्याचल और रामप्रश्न ने जिद की—'फूफा जी, आज ही चलिए न। हमारे पास साइकिल है। आपको बिठाकर ले चलेंगे।" पिताजी ने मेरी ओर देखा—मानो अनुमति चाह रहे हों। मैंने भरे मन से कहा—"चले जाइए।" वे चले गए।

मुझे भूख लग आयी थी। सड़क की ओर चला गया। वासुदेव की दुकान से गुड़ लिया और थोड़ा चबेना लेकर सड़क पर निकल गया। खाता रहा, टहलता रहा। जब चबेना खत्म हो गया तो लौट पड़ा। यह सड़क, यह गांव, ये दुकानें मुझसे पूर्व परिचित है। इस सड़क से मैं कितनी बार ननिहाल और बड़हलगंज के मेले में गया हूं, बारात गया हूं। यहीं बरगद के नीचे बैठकर हम लोगो ने दोपहर का खाना खाया है। सत्तू और दहीचूड़ा। इन दुकानो से कितनी बार चीजें खरीदी है। मझगांवां दरअसल इस सड़क पर होने वाली हमारी यात्राओ का मध्यगांव रहा है जहां हम विश्राम के लिए रुकते रहे हैं। इन दृश्यों से मेरा हलका रागात्मक लगाव पहले से रहा है, किन्तु आज ये एक नये सिरे से मुझसे जुड़ते लग रहे थे। पहले तो मैं एक राही की तरह इनका आनन्द

लेता रहा हूं, आज तो इनके बीच रहने के लिए मैं विवश हो रहा था। इनसे जुड़ना या न जुड़ना, इनमें रहना या छोड़कर चल देना मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं था, यहां रहना मेरी नियति बन रहा था इसलिए मैं इनसे कुछ टकरा रहा था, कुछ पिछले संस्कारों द्वारा इनमे पैठ रहा था या ये टकरा और पैठ रहे थे। मैं इनके बीच अपनेपन और अजनबी-पन दोनों के मिले-जुले अहसासों से गुजर रहा था।

यह सड़क बहुत चालू है। बड़ी रौनक रहती है इस पर। यह सड़क यों भी बहुत चालू है किन्तु सरयू के तट पर बसा होने के कारण बड़हलगंज में धार्मिक पर्वों पर मेले लगा करते है। रविवार को भी लोग नहाने जाते हैं। शादी के अवसर पर तो इसकी रौनक और बढ़ जाती है। मैं सड़क के किनारे खड़ा होकर देख रहा था पालकी, हाथी-घोड़े, बाराती, गाजे-बाजे। अभी कुछ दिन पहले मैं भी दो बार इससे गुजरा हूं—एक बार भाई की शादी में, एक बार अपनी शादी में और आते-जाते हम यहीं रुके थे।

अंधेरा घिरने लगा था, मैं स्कूल में लौट आया। स्कूल की बिल्डिंग अपनी नहीं थी—प्राइमरी स्कूल की ही दो बिल्डिंगों में से पंडित जी ने एक बिल्डिंग ले ली थी, किराये से नहीं, अपने व्यवहार से। मैं आया तो पंडित जी श्री बटुकदेव तिवारी के साथ घूमने चले गये थे। मैं आकर चुपचाप उस कमरे में अपने बक्स के पास बैठ गया जहां सभी लड़कों के सामान रखे हुए थे। कुछ चूल्हे कमरे के अन्दर बने हुए थे, कुछ बाहर मैदान में। शायद बरसात और जाड़े के लिए ये भीतर के चूल्हे बने थे। फिलहाल लड़के बाहर अपने-अपने चूल्हे सुलगा रहे थे। धुआं चारो ओर छाया था। कुछ आटा गूंध रहे थे, कुछ तरकारी चीर रहे थे। मैं चुपचाप बैठा देख रहा था। अन्दर सबसे किनारे एक चूल्हा जल रहा था और दो व्यक्ति वहां खाना बनाने में जुटे हुए थे। मालूम पड़ा कि यह चूल्हा पंडित जी का है। और ये दोनो पंडित जी के गांव के है, दोनो भाई हैं। उनमें से एक मेरे पास आया। बोला—"खाना-वाना नही बनाओगे ?"

'नहीं' सूचक सिर हिला दिया और उदास-उदास-सा अपने में खोया रहा। वह चला गया। कमरे में गर्मी लगने लगी तो उठकर बाहर चला गया। जाकर एक पत्थर के टुकड़े पर बैठ गया।

फिर एक लड़का आया। "यहां क्यों बैठे हो ? चूल्हा-वूल्हा नही जलेगा ?"

"नहीं।"

मैं यह भी देख रहा था कि मेरा चूल्हा कौन-सा है, कहां जलाऊं। भीतर-भीतर एक थकान, उदासी और गृह-ममता का भाव हूल मार रहा था। पंडित जी आये। लड़के खाना खा रहे थे। पंडित जी को सूचित किया गया कि खाना तैयार है। भोजन कर लें। पंडित जी खाना खाने के लिए कमरे में पहुंचे। मैं बाहर से उठकर ओसारे में आ गया।

पंडित जी ने ज्यों ही पहला कौर मुंह में डाला, पूछा, "अरे, उस लड़के ने खाना खा लिया ?"

"किस लड़के ने ?"

"अरे वही जो आज आया है। अरे कवि जी।"

"नहीं, मैंने तो कहा कि बनाओ, लेकिन उन्होंने कहा भूख नहीं है।"

"कहां बनाओ ? कोई जगह-वगह बतायी ? वह नया लड़का है, उसे अभी किसी चीज की क्या खबर है ?"

पंडित जी ने शायद खाना रोक दिया था और कहा, "बुलाओ उसे।"

मैं पकड़कर ले जाया गया। पंडित जी ने कहा—"आओ, खाना खाओ।"

"नहीं पंडित जी, मुझे भूख नहीं है।"

मैं अपने को दबाते-दबाते भी सुबक पड़ा।

"सब ठीक हो जायेगा। शुरू-शुरू में ऐसा होता है। घर बहुत अच्छी चीज है, लेकिन घर से बधकर तो कोई विकास नहीं कर सकता। आओ, मेरे साथ खाना खाओ।"

"नही पंडित जी, भूख नहीं है।"

"तो मत खाओ भाई। लो, मैं भी नहीं खाता।" कहकर पंडित जी ने थाली आगे से सरका दी।

"नहीं-नहीं पंडित जी, मेरे लिए आप क्यों नहीं खायेंगे ?"

"तुम्हारे लिए नहीं, अपने लिए नहीं खाऊंगा। मैंने जो भूल की है उसका जवाब यही है कि या तो तुम मेरे साथ खाना खाओ या तुम्हारे साथ मैं भी उपवास करूं।"

"आपने क्या भूल की है चाचा जी ?" उनके गांव वाले लड़के ने पूछा।

"एक नया लडका स्कूल में आया। मैंने यह भी व्यवस्था नहीं की कि वह कहां, किसके साथ खाना बनाये-खायेगा, कहां सोयेगा, कहां उसका सामान रहेगा और घूमने चला गया। आखिर उसकी व्यवस्था की जिम्मेदारी किसकी थी ? मेरी ही न ! मैं अपनी भूल के लिए अपने को माफ नहीं करूंगा। तुम लोगों में तो इतनी अकल है नहीं कि यदि मैं भूल जाऊं तो कुछ व्यवस्था कर दो।" कहकर पंडित जी चुपचाप बैठे रहे और लगा कि थोड़ी देर में बिना खाये उठ जायेंगे।

मैंने चुपचाप कुरता निकाला। अपना लोटा उठाया और हाथ-पांव धोकर पंडित जी की रसोई में उनसे थोड़ी दूर जाकर बैठ गया। सिर झुकाये उनके साथ खाना खाता रहा। लगा, पंडित जी तृप्त हो रहे हैं। हम खाकर उठे तो देखा कि पंडित जी के गंवई भतीजे फिर आटा गूंधने लगे थे। एक आदमी का खाना मैं जो खा गया था। मुझे हैरानी हुई। पंडित जी अपने कमरे में चले गये तो एक भतीजे साहब ने झल्लाकर लकड़ी फूंकते हुए कहा—"अजीब मुसीबत है।" मैंने सुना और अपमान-सा महसूस हुआ, लेकिन करता क्या ? थोड़ी देर बाद पंडित जी ने मुझे अपने कमरे में बुलाया। देखा—वहां दो लड़के पहले से मौजूद थे। पडित जी ने उनसे कहा—"सुदीप और बलवंत, देखो कल से तुम्हारे चौके में कवि जी का खाना बनेगा। और तुम लोग यहां के पुराने छात्र हो गये हो, देखना इन्हें कोई तकलीफ न हो।"

"जी पंडित जी।" कहकर वे दोनों चले गये। मैं खड़ा रहा।

"जाओ, तुम भी इन लोगों के साथ पढ़ो और सो जाओ। कोई दिक्कत हो तो

मुझसे कह दिया करना।"

बरामदे में टाट बिछा था। उस पर लड़कों ने अपनी-अपनी दरियां बिछा ली थीं और सो गये। मेरी आंखों में नींद नहीं थी। काफी रात गुजर गयी थी लेकिन पंडित जी के कमरे में लालटेन जल रही थी। मुझे घर याद आ रहा था, अपने गांव के खेत-खलिहान, बाग-बगीचे याद आ रहे थे। मां बुरी तरह याद आ रही थी। मझले भाई साहब याद आ रहे थे। बड़े भइया तो हम लोगों से पहले ही छूट चुके थे। बहुत दिनों से परदेसी बन गये थे इसलिए उनसे बिछुड़ने का कोई तात्कालिक दर्द तो नहीं था लेकिन आज वे भी बुरी तरह याद आ रहे थे।

उमस हो रही थी। आकाश में बादल छाये हुए थे। हवा बंद थी। मच्छर तब भी काट रहे होंगे लेकिन तब इसका बोध नहीं था, क्योंकि बिजली के पंखे और मच्छर-नाशक दवाइयों से अपना साबका नही पड़ा था। तब तक मच्छरो के काटने का बोध कोई अलग बोध नहीं बन पाया था। बादल गरजे, बिजली चमकी। कई बार यह प्रक्रिया हुई और छरछराकर पानी बरसने लगा और मेरी आंखें भरभराकर बरस पड़ी। हवा चल पड़ी थी और एक शीतलता चारों ओर व्याप गयी।

पंडित जी बाहर निकल आये और अपने मोटे अनाड़ी कंठ से गाने लगे—

घन घमंड गरजत नभ घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा।

फिर धीरे-धीरे हमारी ओर सरक आये। "अरे, तुममें से कोई भीग तो नहीं न रहा है रे ?"

पुरवा हवा के स्पर्श से बच्चों की नींद और गहरा गयी थी। कोई नही बोला। मैं ही बोला—"नहीं पंडित जी।" मेरी आवाज का भीगापन और भारीपन शायद वे भांप गये। बोले—"तुम अभी नहीं सोये ?"

"सोया था पंडित जी, अभी-अभी नीद टूट गयी है।"

"बादलों से कवि का सनातन संबंध है। बादल यों गरज-बरस रहे हों तो कोई कवि कैसे सो सकता है ?" वे हंसे। थोड़ी देर खड़े होकर पानी बरसता देखते रहे। फिर मेरी ओर मुड़े। "सुनो—शुरू-शुरू में सबको घर की याद आती है, फिर जहां आदमी रहने लगता है उससे लगाव हो जाता है और वह भी घर जैसा ही अच्छा लगने लगता है।" वे चले गये तो मुझे लगा कि उन्हें मेरी सही स्थिति का ज्ञान हो गया था। कितने अनुभवी और समझदार हैं पंडित जी। मां याद आ रही थी। वह मेरी याद में खोई होगी। उसका छोटा बेटा पहली बार परदेस गया है, न जाने उसने खाया-पिया होगा या नहीं, न जाने कहां सोया होगा !

बरसात···बरसात···बरसात। बचपन की कितनी बरसातों की रातें मां के साथ उभर आई हैं। सही-सलामत मकान तो अब बना है। पहले तो जगह-जगह से चूता हुआ मकान था। बरसात की रातों में मां सो कहां पाती थी। सामान यहां से वहां सरकाती, वहां भी पानी चू रहा है, वहां से कहीं और सरकाती, वहां भी पानी चू रहा

है। खाट पर हम सोये होते, हमारे ऊपर छन्न-छन्न पानी चूता। उनींदे से खाट सरका लेते, वहां भी पानी। और हम सबकी पीड़ा मां की आंखों में भरी होती। वह बड़बड़ाती कोसती—कभी बरसात को, कभी पिताजी को। आज वह मेरे लिए रो रही होगी। मुझे मां बहुत याद आ रही थी।

भीनी-भीनी गंध के झोंके आ रहे थे। शायद मेहंदी के हैं। हां, शाम को देखा था कि सामने फूलों का एक बगीचा भी है जिसके चारों ओर मेहंदी लगी हुई है। मैं उठकर बैठ गया। पानी खूब जोर से बरस रहा था। एकाएक बहुत जोर से बिजली चमकी। लगा जैसे प्रकाश की एक बड़ी चट्टान दहाड़ती हुई गिर पड़ी हो। फिर लेट गया। पंडित जी भी सो गये थे। मुझे भी न जाने कब नींद आयी और सो गया।

सवेरे उठा तो पानी थम गया था। खूब पानी बरसा था। सामने का सारा दृश्य हरा हो गया था। पेड़ों की पत्तियां धुलकर एक नयी गहरी हरीतिमा से भर उठी। ठंडी-ठंडी पुरवा हवा चल रही थी जिससे पत्ते कांप रहे थे और रास्तों, मैदानों में जमे पानी में परछाइयां थरथरा रही थीं।

पंडित जी गा रहे थे—

शीतल प्रभात बात खात हरखत गात
धोये-धोये पातन की बात ही निराली है।

लडके दिशा-मैदान होने के लिए आ-जा रहे थे, नहा-धो रहे थे। मैं भी नहा चुका था। पंडित जी ने पुकारा, "कवि जी !"

"जी पंडित जी।" वहां उपस्थित होकर मैंने कहा।

देखा पंडित जी नहा-धोकर शायद पूजा की तैयारी कर रहे थे। बोले—"गुलाब के फूल तोड़ लाओ।"

"जी पंडित जी।"

"देखो, तुम्हारी ड्यूटी है कि रोज मेरी पूजा के समय गुलाब के फूल तोड़कर यहां रख जाया करो।"

"जी पंडित जी।"

"हां, आज तक मैं स्वयं तोड़ता था, अब तुम्हें यह काम सौंप रहा हूं।"

"जी पंडित जी !"

मैं सामने के उस छोटे मे उद्यान में गया। मेहंदी की बाड़ पार करके अन्दर घुसा तो देखा गुलाब के पचासों पौधे···कुछ बेला के पौधे। कुछ गुलाब खिले थे। भीगे पत्तों और पंखड़ियों से एक नयी आर्द्र आभा फूट रही थी। भीनी-भीनी महक मेरे नथुनों में समा रही थी। फलों को देख रहा था। उन्हें तोड़ने को मन नहीं हो रहा था, किन्तु गुरु-आज्ञा। ये फूल पूजा में चढ़ाये जायेंगे। फूल और पूजा, सौन्दर्य और धर्म। तब इन बातों पर बहुत सोचने की क्षमता मुझमें नहीं थी, लेकिन एक द्विधा की अनुभूति तो कर ही रहा था। पंडित जी ने गुलाबों से संपर्क और उनके फूल तोड़ना इन दोनों कामों को मुझे सौंपा है। मेरा कवि हृदय गुलाब के फूलों से समृद्ध होगा और शिष्य मन पंडित जी

की पूजा का एक साधन बनेगा। जो भी हो पडित जी ने यह काम सौंपकर अपनी ओर मे मुझे मान दिया है, स्नेह दिया है। मैं उनकी दृष्टि में अपनी एक अलग पहचान बना सका हूं यह बहुत बडी बात है मेरे लिए। मैंने धीरे-धीरे फूल चुनने शुरू किये। दस-बारह फूल चुनकर टोकरी में डाले। हर बार अगुली मे काटा चुभा। थोडा खून निकला। फूल चुन लेने के बाद मेरी हथेली मे कटक-चुभन की हलकी-हलकी पनपनाहट हो रही थी। मैंने हथेली का दर्द कम करने के लिए उसे अपने मुह तक लाकर दबाया और अनुभव किया कि एक खुशबू मेरी हथेली मे बस गयी है। कांटे का दर्द और खुशबू···। क्या इनका बहुत गहरा सनातन संबंध है? शायद है। डाल पर जीवित गुलाबों तक पहुंचने वाले हाथो को कांटो से गुजरना ही पडेगा, मशीन से तोडने वाले या बाजार से उनका इत्र खरीदने वाले सौन्दर्य और दर्द का रिश्ता नही समझेंगे।

मैं फूल तोडकर ले आया और पडित जी की पूजा-भूमि पर रख आया। मुझे लगा कि यह सुबह मेरे साथ हो गयी है। कल की उदासी, अजनबीपन यहा-वहा से दरक उठा है और उसके बीच-बीच मे गुलाब के फूल भर उठे है, मेहदी की भीनी महक भर उठी है। यानी मेरी दुनिया थोडी-सी बडी हो गयी है।

सुदीप और बलवंत मेरे पास आये—"चलो खाना बनाते है।" मालूम पडा सुदीप सिघुवापार के है, जहां की मेरी पहली मां थी। मेरा असली ननिहाल तो भीटी है जहा के रामप्रश्न और विंध्याचल कल ही क्लास मे मिल गये थे, किन्तु यह दूसरा ननिहाल भी मुझे कम प्यारा नही था। इसलिए सुदीप ने मेरे अजनबीपन को कुछ और तोडा।

पडित जी के गाव के दोनो व्यक्ति चचेरे भाई थे। सुदीप ने ही बताया। उनके नाम भूल रहा हू किन्तु एक को मोल्हू और दूसरे को शायद राजा नाम से पुकारते थे। दोनो बहुत बोलते थे। राजा ने मेरा घर पूछा। मैंने बताया—"मिश्र लोगो की डुमरी।" उसने दिमाग पर जोर डालते हुए कहा—"आप लोगो के गाव का टाडा मे सबध है क्या?"

"हा, है, बहुतो के संबध है। खुद अभी मेरे भाई की शादी हुई है वहा।"

"किसके यहा?"

"गगा तिवारी के यहा। उनकी बहन से।"

"वाह रे मौसा जी, अब तक आप क्यो छिपे हुए थे?"

"मौसा?"

"हां, मेरी मा भी उन्ही की बहन थी।"

"थी क्यों?"

"अब नही है।"

मुझे लगा कि पर्त दर पर्त अकेलापन टूटता जा रहा है और संबंधों की नयी-नयी पंखुड़ियां खुलती जा रही है। मैं उत्साह और स्फूर्ति से सक्रिय हो रहा था। लगता था जैसे जाड़े की सीलन-भरी हवा में फागुन की सुगंधित उष्मा का आभास मिलने लगा हो।

उत्साह से क्लास में गया। विन्ध्याचल और रामप्रश्न भी आ गये थे। धीरे-धीरे आसपास के गांवो से भी लड़के आ गये। एक क्लास अंग्रेजी पढ़ने वाले लड़कों की थी। एक विशेष योग्यता पढने वालों की। बारिश हो जाने की वजह से आज मैदान में पढ़ाई नही हुई। एक कमरे मे वे बैंठे थे, एक मे हम। पडित जी पहले अग्रेजी क्लास मे गये, उन्हें कुछ लिखने को दे आये और हमारी क्लास मे आ गये। वे कुर्ता-पायजामे मे थे। बिहारी सतसई की क्लास थी। वे पढ़ाने लगे। उनके हाथ मे 'बिहारी रत्नाकर' थी। बच्चो को वे दोहे लिखवा देते थे फिर अर्थ करते थे। उस देहात मे सबके पास बिहारी रत्नाकर का होना संभव नही था। वे अर्थ करते थे, पूछते थे, सतुष्ट होकर आगे बढते थे। मुझे लगा कि पडित जी के बार-बार समझाने पर भी अर्थ कुछ लोगो के दिमाग मे नही घुसता था। मुझे अर्थ ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही हो रही थी। पडित जी एक दोहा पढा रहे थे। शायद दोहा था—

नासा मोरि नचाइ दृग करी कका की सौह
कांटे-सी कसकत वहै गडी कटीली भौह।

पढाकर पडित जी आगे बढ़े थे कि विंध्याचल ने हंसकर कहा—"पंडित जी, यह दोहा पूरी तरह समझ मे नही आया।"

"क्यो नही समझ मे आया ?"

"पडित जी, यही कि कटीली भौंह काटे-सी कैंमे कसकती है ?"

पंडित जी अपनी पतली मूछो मे मुसकराये।

"खडे हो जाओ।"

विंध्याचल खडे हो गये।

"हाथ फैलाओ।"

"क्यो पडित जी ?" विध्याचल ने हंसते हुए कहा।

"फैलाओ तो।"

विंध्याचल ने हाथ फैला दिया। पडित जी ने उस पर हलके-हलके दो बेत रख दिये। रामप्रश्न भी खिलखिलाकर हसने लगे। पडित जी भी अपनी मुसकान दबाये जा रहे थे, किन्तु मुझे कुछ पता नही चला कि यह सब क्या हो रहा है। क्या है इस दोहे मे जो विंध्याचल की समझ मे नही आया और विंध्याचल के सवाल में ऐसा क्या था कि पडित जी मुसकराये और दडित कर दिया ? मुझे बहुत बाद मे लगा कि मै उस समय तक यौन संवेदना के प्रति बहुत जागरूक न होने के कारण इन दोहो को अर्थ के स्तर पर ही ग्रहण कर रहा था, सवेदना के स्तर पर नही। विध्याचल ने संवेदना के स्तर पर शरारत की थी और पंडित जी ने दडित किया था।

पडित जी आगे बढ़े। फिर कोई दोहा शुरू किया। दो-तीन बार पढ़ाने के बाद पूछा—"समझे ?"

"हां पंडित जी।"

"बताओ।" एक लड़के से पूछा। वह अचकचा गया। दूसरे से पूछा, वह भी

अचकचा गया। मुझसे पूछा, मैंने वह अर्थ कर दिया जो पंडित जी ने बताया था।

पंडित जी बोले—"देखो बेहूदो, नालायको !" यह उनकी पेट गाली थी, "तुम लोग महीने-भर से पढ़ रहे हो और यह लड़का आज ही आया है। तुम लोग एं-एं करते रहे, इसने फट से बता दिया।"

"लेकिन पंडित जी, यह दोहा तो हम लोग महीने-भर से नही पढ़ रहे है, यह तो आज ही पढ़ा है।"

पंडित जी मुसकराये और सिर हिलाया। मुझे लगा कि विद्यार्थी पंडित जी से बहुत हिले-मिले हैं।

मैंने पूछा—"पंडित जी, इतने दोहे हो चुके है, इन्हें कैसे पूरा करूगा ?"

पडित जी बोलें, उससे पहले विंध्याचल बोल उठे—"ए कवि, हम पूरा करा देंगे।" सभी लोग हंसने लगे। पंडित जी भी हंसे। बोले—"चिता मत करो, मैं करा दूगा और इस बेहूदा विंध्याचल मे कुछ मत पूछना, यह सब उलटा-पुलटा बता देगा।"

एक ठहाका पडा और पढाई आगे बढी।

दूसरी कक्षा इतिहास की थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास कोर्स मे था। पंडित जी 'साहित्य का इतिहास' की चर्चा करते हुए मिश्रबंधु विनोद की चर्चा पर आ गये। शायद यह चर्चा वे पहले भी कर चुके थे। आचार्य शुक्ल के इतिहास की चर्चा पर उतरे हुए थे। "मिश्रबंधुओं के इतिहास की बात तुम लोगों को बताई थी। वास्तव मे वह कवि चरित चर्चा भर है। सही अर्थों मे तो चाचा का इतिहास ही इतिहास है। वे भेंडी के थे। रामचंद्र शुक्ल के पूर्वज भी भेंडी के थे अतः वे उन्हें चाचा कहते थे।" लडके मुसकराये। पंडित जी समझ गये, वे अपनी मुसकान दबाकर बोलते गये। मुझे कुछ पता नही था संदर्भो का।

पंडित जी शुक्ल जी के इतिहास की विशेषताएं बताते हुए उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की ओर सकेत करते गये और इस प्रक्रिया मे मिश्रबधुओ की कमजोरी का भी हवाला देते गये।

रामप्रश्न खिलखिलाकर हंस पडे। "क्या है ? क्यो हस रहे हो नालायक, बेहूदा ?"

"पडित जी, आप पक्षपात कर रहे है। रामचंद्र शुक्ल आपके चाचा है न इसलिए आप उन्हें ऊपर उठा रहे है और मिश्रबंधुओं को नीचे गिरा रहे है। मिश्रबंधु बहुत ऊचे लेखक है।"

पडित जी चुप हो गये। लगा कि और बच्चे भी कही इस बात से सहमत थे। वे इस सवाल से प्रसन्न से लगे। मेरे मिश्र मन को भी मिश्रबंधुओ की बडाई अच्छी लगी। दरअसल न मै मिश्रबंधुओं को जानता था न शुक्ल जी को। और यही हाल सबका रहा, लेकिन एक शुक्ल और वह भी भतीजा शुक्ल द्वारा चाचा शुक्ल की बार-बार बडाई से सबके मन मे एक संदेह का भाव पैदा हो गया था। संदेह न भी कहें तो छेड-छाड का भाव तो कह ही सकते हैं।

पंडित जी चुप हो गये। कुछ देर तक गंभीर बने रहे। फिर बोले—"देखो

बच्चो, यदि रामचंद्र शुक्ल की महानता सिद्ध करने में मेरा-उनका भतीजा और शुक्ल होना रास्ते में बाधक बन रहा है तो यह मेरा दुर्भाग्य है। अभी तुम लोग साहित्य के जगत् में प्रवेश कर रहे हो। तुम लोगों को कैसे समझाऊं कि रामचंद्र शुक्ल क्या हैं? जब तुम लोग समझदार होगे तो स्वयं समझ जाओगे। फिलहाल जो मैं कहता हूं उसे मान लो।"

पंडित जी ने क्लास की ओर देखा और उन्हें लगा कि कुछ चेहरों पर से द्विधा का भाव मिटा नही है। उसी समय एक सज्जन आ गये। लड़के उन्हें शायद पहचानते थे क्योंकि उनके सम्मान में उठ खड़े हुए। शायद वे इस बीच एकाध बार आ चुके हो।

"आओ दोस्त, तुम अच्छे मौके पर आये। मेरे छात्रों ने मुझ पर एक तोहमत लगा दी है। मुझसे कुछ कहते नहीं बनता। गुरु की हैसियत से इन्हें डांटकर चुप तो करा सकता हूं और कह सकता हूं कि तुम लोगो से अधिक जानता हूं, जो कह रहा हूं उसे स्वीकार करो, लेकिन मैं नही चाहता कि इनके मन में इतने बड़े आलोचक का प्रभाव भय से पैदा करू। ये कहते हैं कि मिश्रबंधु शुक्ल जी से बड़े आलोचक हैं, मैं शुक्ल जी का भतीजा होने के कारण उन्हें बड़ा बना रहा हू।"

मैंने पास बैठे एक लड़के से पूछा कि ये कौन हे। उसने बताया कि ये पंडित जी के दोस्त हैं, नेता है, रामलखन शुक्ल इनका नाम है।

रामलखन जी पंडित जी के विपरीत दुबले-पतले व्यक्ति थे। चेहरे से बहुत तेज-तर्रार लग रहे थे। उनका पूरा अस्तित्व साप की तरह लपलपा रहा था।

बोलना शुरू किया। उनकी बोली में भी वही तेजी महसूस हुई। बोले—"बच्चो, आपके गुरु जी गलत बात कह रहे है।" वे थोडा रुके। रामप्रश्न और विंध्याचल मुसकराये, और बच्चे भी थोडे उत्सुक हुए। सबको लगा कि आज ये अपने दोस्त की धुलाई कर देंगे। पंडित जी का चेहरा भी कुछ असमंजस मे पड़ा दिखाई दिया।

"बात यह है," रामलखन जी आगे बोले—"रामचंद्र शुक्ल से मिश्रबंधुओं की तुलना हो ही नही सकती। रामचंद्र शुक्ल से मिश्रबंधुओं की तुलना करना रामचंद्र शुक्ल का अपमान करना होगा।" फिर वे बहुत देर तक रामचंद्र शुक्ल के साहित्य पर बोलते रहे। बोल चुके तो अंत में कहा—"मैं भी शुक्ल हूं किन्तु क्या इस डर से रामचंद्र शुक्ल की महत्ता का उद्घाटन न करूं? नहीं, यह बेईमानी है अपनी आत्मा के साथ, उस विद्वान् के साथ और अध्यापन के पेशे के साथ भी। गोकि मैं अध्यापक नहीं हूं फिर भी फिलहाल तो इसी रूप में बैठा हूं।"

लोग चकित थे। मैं बाद में ज्यों-ज्यों इस व्यक्ति के परिचय में आया, उसके गुणों से अभिभूत होता गया। वे समाजवादी नेता थे, इंटर पास थे, लेकिन अंग्रेजी और हिन्दी दोनों पर, राजनीति और साहित्य दोनों पर इस व्यक्ति का अद्भुत अधिकार था। इनसे हम फिर मिलेंगे, यहां बस इतना ही।

पंडित जी फिर अलंकार याद करने के लिए देकर शुक्ल जी के साथ चले गये। वे शायद अंग्रेजी की क्लास में चले गये थे क्योंकि मालूम हुआ कि रामलखन जी ने उस दिन अंग्रेजी वालों को अंग्रेजी पढ़ायी थी।

क्लास की छुट्टी हो गयी तो देखा खेल के मैदान में वालीबाल की जाली टांग दी गयी है। रात की बारिश के बाद दिन को धूप निकली थी, इसलिए मैदान ठीक हो गया था, खेलने लायक। विंध्याचल, रामप्रश्न, गगहा के कुछ लड़के तथा रामलखन जी के साथ पंडित जी मैदान में जा डटे। तो पंडित जी वालीबाल भी खेलते हैं और रामलखन जी भी। मैं भी वहां जाकर खड़ा हो गया। पंडित जी ने पूछा, "कवि जी, खेलते हो?" मैंने नहीं में सिर हिला दिया कवि जी के नाम से रामलखन जी ने मेरी ओर एक बार उत्सुकता से देखा, फिर खेलने लगे।

खेल चलता रहा। मैं सोचता रहा कि सभी खेलों मे मैं रस लेता रहा लेकिन पारंगत किसी में नहीं हुआ। वालीबाल भी खेलता हूं लेकिन मैं उसका प्लेयर नहीं बन सका। थोड़ा-बहुत पीट-पाट तो लेता हूं लेकिन उसकी कला मे माहिर नहीं हो पाया।

"यह रही वाली," विंध्याचल चिल्लाये। मैंने चौंककर देखा—वाह, क्या वाली है! लंबे-चौड़े विंध्याचल ने बहुत अच्छी वाली लगायी थी। थोड़ा उचककर जो बाल नीचे धंसाया तो किसी की ताकत नहीं थी कि उसे उठा ले। पास खड़े लड़के ने कहा, "विंध्याचल तो गगहा मे बडहलगंज तक अपनी वाली के लिए मशहूर है। बड़ी मुश्किल से कोई इनकी वाली उठा पाता है और यहां के वालीबाल टीम के वे कैप्टन है।" डेढ-दो घंटे तक खेल चलता रहा, फिर पंडित जी के आदेश से खेल बंद हो गया। पंडित जी रामलखन जी के साथ घूमने चले गये। हम लोग भी घूमने निकल गये।

लौटकर आये तो खूब भूख लग गयी थी। देखा—सुदीप चूल्हा जला रहे थे। मेरे जाते ही पूछा—"आपको क्या करना आता है? आटा गूंधेंगे कि रोटी बनायेंगे?" मुझसे रोटी ठीक से नहीं सिकती है, जल जाती है। मिडिल स्कूल में पढ़ते हुए गांव में प्लेग आने के कारण जब दूसरे किसी गांव में स्कूल चला जाता था और वहां रहकर खाना बनाना पड़ता था तब मैंने यह अनुभव किया था। मैंने कहा—"आटा गूंधूगा।"

"ठीक है, आटा गूंधिए। देखिए, यहां कई काम हैं—कुएं से पानी लाना, चूल्हा सुलगाना, आटा गूंधना और रोटी सेंकना ये मुख्य कार्य है। हम तीन है, हमें काम बांट लेना होगा।" सुदीप बोले।

"ठीक है, आप लोग जो कहेंगे करूंगा। काम मिलजुलकर करना ही चाहिए। बलवंत जी कहां हैं?"

"आते होंगे। रोटी वही सेंकेंगे।"

आग जल गयी थी, आटा भी गुंध गया था। "अभी तक नहीं आया बलवंत।" सुदीप बुदबुदा रहे थे। "अब आग बुझ जायेगी तो रोटी कैसे सिकेगी?" कहकर सुदीप पानी लेने चले गये। आये तो देखा कि मैं रोटी सेंक रहा हू।

"अरे, यह काम तो बलवंत करेगा।"

"लेकिन आग बुझ गयी तो?"

"तो वही जलायेगा। बहुत कजाक है वह। उसको इस तरह छूट दी गयी तो उसकी आदत और बिगड़ जायेगी।"

"छोड़िए सुदीप जी, कही किसी काम से अटक गये होंगे।" कहकर मैं रोटियां सेंकता रहा। आंख से पानी गिर रहा था, रोटियां जल जाती थी और सुदीप देख रहे थे। दो-चार रोटियां बन गयीं तब तक बलवंत आ गये। झपटकर चौके में आये और मुझसे कहा—"हटिए, रोटी बनाता हूं।"

बलवंत ने सुदीप को और सुदीप ने बलवंत को गुर्राहट-भरी नजरों से देखा। फिर दोनों मे कहा-सुनी हो गयी। दोनों ने एक-दूसरे को कामचोर कहा। मैंने कहा—"अरे छोड़िए, किसी ने कुछ कम, किसी ने कुछ ज्यादा कर लिया तो क्या हो गया? काम का इतना साफ बंटवारा करके कैसे चलेगा?"

"नही चलेगा तो यह घूमता ही रहेगा।" सुदीप ने बलवंत के लिए कहा। बलवंत ने उलटकर सुदीप पर यही लांछन लगाया।

कई-कई चूल्हे सुलगे हुए थे और कमरे में धुआं अटा पडा था। और हर चौके मे लगभग यही स्थिति थी। पडित जी लौट आये तो कहा-सुनी शांत हो गई।

खाना खाने बैठे तो सुदीप परसने के लिए झपटे, लेकिन बलवंत ने कहा—"यह काम मैं कर लूगा, आप झपटकर पानी लेते आइए।" सुदीप मन मारकर गये। वे लौटे तो बलवत खाना परस चुके थे और सुदीप सबकी थालियो की ओर देख रहे थे। मै पहले तो समझा नही कि क्यो बार-बार सबकी थालियों की ओर देख रहे है। उनकी देखा-देखी मैने भी देखा और लगा कि बलवंत ने अपनी थाली मे भात खूब दबाकर परसा है।

एकात मिला तो सुदीप से पूछा—"आप बार-बार थालियो की ओर क्यो देख रहे थे?"

"अरे, यह बलवता कामचोर तो है ही, बेईमान भी है। परसने के लिए पहुंच जायेगा और भात दबा-दबाकर अपनी थाली मे परसेगा, और चीजें भी अपनी थाली मे ज्यादा डालेगा।"

"तो आप यह काम कीजिए।"

"अरे भाई, काम के बटवारे मे उसे यह काम मिला था। मुझे क्या मालूम था कि यह इस तरह बेईमानी करेगा।"

"पहलवान आदमी है, उन्हें ज्यादा खाना ही चाहिए।"

"तो उसे चावल, आटा, दाल की मात्रा भी अधिक देनी चाहिए। देगा सबके बराबर और खायेगा सबका दुगुना तो कैसे काम चलेगा?"

"हा, यह तो है।" कहकर मैं वहां से हट गया लेकिन मन तीता हो गया और तय कर लिया कि चार-पांच दिन में कपिलदेव आ जायेंगे तो हम लोग अपना अलग चूल्हा जलायेंगे। इन पहलवानों और कामचोरों के साथ नही निभेगी।

और चार-पांच दिन बाद कपिलदेव आ गये तो मैंने राहत की सांस ली। चूल्हा तो अलग कर ही लिया, हम फिर दोनों मित्र साथ हो गये थे।

10

पंडित जी कवि भी थे ।

सुबह-सुबह मैदान में बैठे हुए हम लोग अपने पाठ याद कर रहे थे । बादल छाये थे, मस्त पुरवा हवा बह रही थी । मैंने पंडित जी को अपनी एक कविता दी थी सुधारने के लिए । पंडित जी खाट पर बैठे-बैठे झूम-झूमकर वही कविता गुनगुना रहे थे—'घटा है पावस की घनघोर' । वे उसे सुधारने की प्रक्रिया में उसमें डूबे हुए हैं, मैं कनखियों से यह देख रहा था और बहुत प्रसन्न हो रहा था । इस आह्लाद के आगे पाठ याद करना कहां भाता था ? मैं भी अपनी पंक्ति भीतर-भीतर गुनगुना रहा था—

घटा है पावस की घनघोर
नाचते वन मे देखो मोर ।

भीतर-भीतर अपनी पंक्तियां मस्त बना रही थीं, बाहर-बाहर मौसम अपना शीतल स्पर्श लुटा रहा था, आंखों में उमड़ते-घुमड़ते दौड़ते-भागते मेघ भरे आ रहे थे । गुलाबों की भीनी-भीनी महक आ रही थी । थोड़ी दूर दृष्टि दौड़ाई तो एक लय में झुकते-उठते धान के पौधे दिखाई पड़े । धत्त, यह भी कोई पाठ याद करने का समय है ! इच्छा हुई उठकर भाग जाऊं खेतों के बीच, दौड़ूं, ताल में कूदकर नहाऊं और··· ।

"कवि जी !"

मैं सहम गया । लगा कि पंडित जी ने मुझे पकड़ लिया है और मैं अनसुनी करके पाठ याद करने में व्यस्त होने का अभिनय करने लगा ।

"कवि जी !" पंडित जी ने दुबारा पुकारा ।

मैंने डरते-डरते उनकी ओर देखा । लगा वे प्रसन्नता मे नहा रहे हैं ।

"जी पंडित जी ।"

"लीजिए, आपकी कविता मैंने ठीक कर दी है ।" वे अभी भी कविता के प्रभाव में ही दिखाई पड़े ।

मैं उनके पास गया । उन्होंने कहा, बैठिए । और वे झूम-झूमकर पूरी कविता पढ़ गये । और लड़के भी पाठ याद करना छोड़कर कविता सुनने लगे । वे पूरी कविता सुना चुके तो मुझे दे दी । मैं कृतज्ञता के भाव से अत्यंत तरल और नत हो आया था । कविता अच्छी हो आयी थी ।

पंडित जी एकाएक डपट उठे—"अरे बेहूदो, तुम लोग क्या बिटिर-बिटिर देख रहे हो, अपने-अपने पाठ याद करो ।"

और लड़के मुसकराते हुए अपनी-अपनी किताबों में धंस गये । पंडित जी भी अपनी पतली मूंछों में मुसकरा पड़े । फिर उन्हें कुछ ख्याल आया और उठते हुए बोल पड़े—"अरे अब उठो तुम लोग, खाना-वाना बनाओ ।"

लड़के एकाएक भरभराकर उठ पड़े । पंडित जी ने लोटा उठाया और खेतों की ओर चल पड़े । पंडित जी को दो-तीन बार शौच जाने की बीमारी थी । जब वे चले गये

तो बच्चे स्वतन्त्र हो गए और खूब हंसी-मजाक करने लगे।

एक ने कहा—"आज तो पंडित जी आपकी कविता में खूब डूब गये थे।"

"हां, उन्होंने कविता को सुधारकर अच्छी बना दिया।"

"देखो कवि महाराज, मैने पंडित जी की बहुत-सी कविताएं सुनी हैं और जब से आप आये है आपकी भी तीन-चार सुन चुका हूं। मुझे तो लगता है कि आप पंडित जी से अच्छे कवि हैं।"

"अरे नही भाई, उनसे मेरा क्या मुकाबला !"

"वही तो मैं भी कह रहा हूं। मुझे उनकी कविताए बनावटी और रूखी लगती है। आपकी कविताओं मे कच्चापन हो सकता है लेकिन उनमें भीतर का रस है।"

और कई लडके भी इस बात के समर्थन मे सिर हिलाने लगे। यह प्रशमा मेरे लिए बहुत उन्मादकारी थी लेकिन गले से नीचे नहीं उतर रही थी। मेरे माथ यह मजाक किया जा रहा है, ऐसा भी नही सोच सकता था क्योकि प्रशंसा करने वाले राजाराम सिह थे जो यही से प्रथम श्रेणी मे विशेष योग्यता पास कर अंग्रेजी पढ रहे थे। वे यहा के बहुत सम्मानित छात्र थे और पडित जी के भी बहुत प्रिय थे। फिर भी मैं प्रतिवाद मे डटा रहा—"नही, मै तो कुछ भी नही हूं। पडित जी ठीक-ठाक कर देगे तो शायद मेरी कविताए कुछ काम की हो जायें।"

राजाराम मुसकराये। बोले—"चलिए, अब कविता से रोटी पर उतरा जाये।"

हम अपने-अपने चूल्हो म जूझने लगे। मेरे मन मे अपनी कविता गूजती रही। कविता ने मेरे हर काम मे जैसे अपनी स्फूर्ति और लय भर दी। मन महक रहा था। महीने-भर मे ही मैं यहा का एक विशिष्ट छात्र बन गया था। सप्ताह मे बाकायदा यहां एक सभा आयोजित होती थी, जिसमे कोई न कोई साहित्यिक कार्यक्रम रखा जाता था। कभी वाद-विवाद, कभी कविता-पाठ, कभी किसी का भाषण। पद्रह दिन पहले ग्राम-जीवन और नगर-जीवन पर वाद-विवाद रखा गया था। बहुत-से छात्र बोले। मैंने गांव पर लिखी गयी अपनी एक कविता पढ दी, जिसकी बहुत सराहना हुई। फिर उसके बाद वाले सप्ताह मे कविता-पाठ रखा गया, जिसमें विशेषतया पडित जी ने और मैंने कविताएं पढ़ी और कुछ छात्रो ने भी अपनी कविताए सुनाईं। उस दिन भी मुझे काफी प्रशंसा मिली। मुझे अब लगने लगा था कि कविता मेरी हॉबी ही नही, मेरी जरूरत भी है। वह मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति को भीतर से सम्पन्न बना रही है और दुनिया की नजरों मे एक विशिष्ट अर्थ दे रही है। वह मेरी जिन्दगी बनती जा रही थी।

मुझमे शुरू से ही एक संतुलन रहा है। शायद यह संतुलन ही मेरी शक्ति है। मैंने अपने को किसी भी अतिवाद की ओर बहने नही दिया है, इसलिए कविता की पूरी महक अपने भीतर भरे हुए भी शैक्षिक पढाई-लिखाई से अपना सम्बन्ध क्षीण नही पड़ने दिया। कविताएं भी लिखता रहा, पढ़ाई भी करता रहा। फिर मास्टर लोग स्वभाववश या योगक्षेम की भावना के बीच में यह उपदेश अवश्य देते रहे कि कविता के चक्कर में डिवीजन न बिगाड़ लेना। इसलिए अच्छे से अच्छे काव्य-प्रेमी मास्टरों को भी कविता

सुनाने या सुधारने के लिए देने में डर लगता था। उस दिन से उत्साहित होकर पंडित जी को एक और कविता सुधारने को दी। पंडित जी ने उसी उत्साह से कविता स्वीकार नहीं की। कहा—"रख दो।"

चलने लगा तो कहा—"पढ़ाई-लिखाई ठीक चलनी चाहिए।"

"जी पंडित जी।" कहकर मैं वहां से हट गया परन्तु मन कहीं रीता हो गया। सोचने लगा—'मुझे बार-बार पंडित जी से संशोधन नहीं कराना चाहिए। आखिर उनके पास समय कहां है? किसी एक कविता को इतनी तन्मयता से समय दिया जा सकता है, हर कविता के साथ तो संभव नहीं है।' और यह भी मन मे आया कि पंडित जी को क्यों भान कराया जाय कि जो समय पढ़ाई-लिखाई मे देना चाहिए उसका काफी हिस्सा कविता-सर्जन को दे देता हूं। उस दिन राजाराम कह रहे थे, "दूसरों से कविता ठीक कराने का मतलब होना है उसके व्यक्तित्व की छाप अपनी कविता पर छोड़वाना। यदि बारी-बारी से कई सुधारक मिल गये तो वे बारी-बारी से कविता के स्वभाव को बदलते रहेंगे, कवि की अपनी कविता का स्वभाव ही नहीं बन पायेगा।" पता नहीं मुझे राजाराम की बात उस समय तात्त्विक रूप से पसंद आई थी कि नहीं, किन्तु व्यावहारिक रूप से मान लिया था कि हां, ऐसा ही होना चाहिए और मैंने फिर पंडित जी को कोई कविता सुधारने के लिए नहीं दी।

लेकिन पंडित जी किसी भी आगन्तुक से मेरा परिचय बहुत गर्व से कराते—"देखिए, यह मेरे स्कूल के अच्छे विद्यार्थी तो हैं ही, अच्छे कवि भी है। मुझे विश्वास है कि ये एक दिन बहुत अच्छे साहित्यकार बनेंगे।"

मैं संकुचित हो उठता और पंडित जी मंद-मंद मुसकराते रहते। मैं सोचता कि पंडित जी वास्तव में मेरी कविता को प्यार करते हैं। मैं खामखाह क्या से क्या समझ लेता हूं।

पास ही संस्कृत पाठशाला थी। उससे इस स्कूल का भाईचारापन था, पड़ोसीपन था। वहां रमाकांत जी नाम के एक नये अध्यापक थे। वे कवि भी थे। उनसे हम लोगों की दोस्ती हो गयी थी। वे अपने रोमांस की काल्पनिक कहानियां सुनाया करते थे। उस समय तो हम सच ही मान बैठे थे। एक दूसरे कवि थे भयंकर जी। उनसे भी भेंट होती रहती थी। एक दिन पंडित जी ने बहुत उत्साह से बताया कि दो दिन बाद संस्कृत पाठशाला में एक कवि-सम्मेलन होने जा रहा है। उनका आग्रह था कि मैं भी कविता पढ़ूं। मेरा मन उत्साह और डर से भर गया। उत्साह था कवि-सम्मेलन मे जिला-स्तर के (उस समय तो जिला-स्तर के ही लोगों को बहुत बड़ा कवि मानता था) कवियों को देखने-सुनने का, और डर था उनके बीच कविता पढ़ने का। पहली बार किसी मंच से कविता पढ़ने का संयोग प्राप्त हो रहा था। मैं अभी तक मच-भीरु हूं और आसानी से कल्पना कर सकता हूं कि उस समय कितना डर लगा होगा मंच पर उपस्थित होने की संभावना से। पंडित जी ने स्वयं मेरी कविताओं मे से एक कविता छांटी और बताया कि खूब इत्मीनान से पढ़ना, डरना नहीं। उन्होंने अपने ढंग से हाथ मांज-मूंजकर मेरी

कविता पढ़ी और कहा कि ऐसे ही पढ़ना। लेकिन मेरे तो दो दिन उत्साह और डर के संघर्ष में ही बीते।

आखिर समय आ गया और हम लोग कवि-सम्मेलन में पहुंचे। मंडप बना था। उसमें आसपास के गांवों के संभ्रांत लोगों और शिक्षकों की अच्छी भीड़ थी। मंडप का आतंक मेरे भीतर छाया हुआ था। वैसे तो मंडप मुझे केवल अच्छा ही लगता, यदि कविता नहीं पढ़नी होती। मैं भीड़ में बैठ गया। कवि लोग आये। सभापतित्व पं० हरिश्चन्द्र पति त्रिपाठी को करना था। वे आये और कवियों के साथ मंच पर विराजमान हो गये। पं० हरिश्चन्द्र पति त्रिपाठी का नाम सुन रखा था। वे गोरखपुर में वकील थे और जिले के शायद सबसे पहले साहित्यरत्न थे। साहित्यरत्न थे इसलिए उनका साहित्यिक होना सर्वस्वीकृत हो गया था। पंडित जी उनका जिक्र कई बार कर चुके थे। मैं देख रहा था उन्हें। काली अचकन, शेरवानी और टोपी में वे भव्य व्यक्तित्व के स्वामी लग रहे थे। रंग गोरा था, आखें प्रभावशाली थीं। मैं उन्हें देखकर अभिभूत था और भीतर-भीतर किसी दिन उनकी ऊंचाई प्राप्त करने की स्पृहा करने लगा। दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति थे—जीवन जी (रामधार त्रिपाठी जीवन)। जीवन जी गजपुर के थे और मदनेश जी के मित्र थे। मदनेश जी से उनकी चर्चाएं खूब सुनी थीं। उनसे मिलने की गहरी स्पृहा मन में थी। वे गजपुर के रहने वाले थे यानी मेरे गांव से तीन मील दूर एक कस्बे के। उन्हें मंच पर पहली बार देख रहा था। खद्दर की धोती, कुर्ता और टोपी में एक भारी-भरकम शरीर। मंच पर पंडित जी भी थे और अन्य कई स्थानीय स्तर पर प्रख्यात कवि भी थे।

पहले हरिश्चन्द्र पति त्रिपाठी ने भाषण दिया। अच्छी हिन्दी में शायद कविता के महत्त्व पर वे बोले थे। फिर कुछ स्थानीय छोटे-मोटे कवियों को निबटाया गया, जिनमें भयंकर जी भी थे। उन्होंने अपनी भक्तिरस की कविता से हास्य पैदा कर दिया। कविता की प्रथम पंक्ति थी—'मुरलीधर आवो, आवो···'

वे 'आवो' को 'आ ओ', 'आ ओ' पढ़ रहे थे और लोगों का हंसी के मारे बुरा हाल हो रहा था।

मुझे बुलाया गया। मेरा तो पहले से ही जी धक्क-धक्क कर रहा था। नाम सुनते ही मैं और घबरा गया। मंच पर गया, क्या पढ़ा, कैसे पढ़ा, कुछ याद नहीं। हां, इतना भर याद है कि मैं किसी तरह अपनी कविता वहां फेंक-फांककर भागा था। कविता पढ़ने के बाद एक हलकापन अनुभव कर रहा था और अपनी असफलता पर ग्लानि भी।

एक आर्यसमाजी कवि का नाम पुकारा गया जो बाहर से आये थे। उन्होंने अपने ललित कंठ से समां बांध दिया। कविता राणा प्रताप पर थी। अकबर के अत्याचार से वन में तकलीफ की जिन्दगी बिताने वाले स्वतंत्रता-प्रेमी राणा प्रताप कह रहे थे—

> वनचर कहेगा कोई, तमचर कहेगा कोई
> जलचर कहेगा, पर अनुचर कहेगा ना।

इस कविता के स्वाधीनतावादी स्वर ने उपस्थित जनसमुदाय मे प्राण फूंक दिया था।

अंत में जीवन जी ने कविता सुनाई—

मैं कवि हूं मेरे जीवन की
दुनिया से दूर कहानी है

जीवन जी भी खूब जमे। उनसे कई कविताओ की माग की गयी। उन्होंने मस्ती से सुनाईं।

कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ। बाद मे मैने बहुत-मे कवि-सम्मेलनो को देखा—बहुत अच्छे-अच्छे और बड़े कवियो वाले सम्मेलनों को, लेकिन प्रथम प्रीति की सुगंध की तरह इस कवि-सम्मेलन की अनुभूति मेरे लिए कुछ और ही थी। कवियो के प्रति जो निष्ठा और उत्सुकता उस समय मेरे भीतर जगी थी वह बहुत गहरी और पवित्र थी।

हम स्कूल मे चले गये और खाना-वाना बनाने लगे। तब तक देखा—पंडित जी जीवन जी के साथ आ रहे है। पंडित जी ने मोल्हू को पुकारकर कहा—"जीवन जी का भी खाना बनेगा।"

मैं बडा खुश हुआ कि जीवन जी रात यही ठहरेंगे। खाना-वाना खा चुके तो पंडित जी ने सारे छात्रो को एकत्र किया और जीवन जी से आग्रह किया कि अपनी कुछ कविताएं सुनायें। पहले पडित जी ने मेरा परिचय दिया और मेरी दो-एक कविताएं सुनवाईं। उसके बाद जीवन जी कविता पढ़ने लगे। एक के बाद एक पढ़ते गए। हम लोग बहते गये। जीवन जी की कविता में बहुत सादगी थी, बहुत बहाव था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे दर्जा छः पास थे, इसलिए शास्त्रीयता की लपेट से मुक्त थे, दूसरे कविता की सादगी में उनका विश्वास था। काफी दूर तक तो हम कविता की प्यास लिए उनकी कविताओं में भीगते रहे, लेकिन एक बिन्दु ऐसा आया जब हमारी प्यास पर नीद भारी पड़ने लगी और चाहने लगे कि अब बस हो, लेकिन जीवन जी की कविता सुनाने की प्यास खुल गयी थी और बहती जा रही थी। अपने-आप एक के बाद एक सुनाते चले जा रहे थे। और मेरे भीतर कवि के बड़प्पन के प्रति एक झुंझलाहट-सी उग आयी और एक हलका-सा सवाल उठा कि कवि इतना सस्ता होता है क्या कि वह दूसरो की स्थिति की चिंता किये बिना पटापट अपनी कविताएं उन पर फेंकता चला जाता है? आखिर बहुत देर बाद जब जीवन जी ने काव्य-पाठ बंद किया तो हमने राहत की सास ली। इस हलकी-सी ऊब के बावजूद हम उनके प्रति कृतज्ञ थे कि उन्होंने हमारे यहा आकर अपने को सुलभ कराया और अपनी अच्छी कविताओं के रस के प्रवाह मे हमे देर तक बहाया।

तब जीवन जी मेरे आदर्श कवि थे इसलिए मेरी व्यक्तिगत कृतज्ञता का अनुमान लगाया जा सकता है।

11

पंडित जी के यहां सभी तरह के लोग आया करते थे। साहित्यकार तो आते ही थे, सरकारी अफसर भी आते थे, नेता भी आते थे, आसपास के गांवों के बड़े आदमी भी आते थे और तथाकथित छोटे लोग भी आते थे। आज सोचता हूं कितना बहुआयामी व्यक्तित्व था उस व्यक्ति का जिसे सभी लोग स्नेह और आदर देते थे और जो सबकी बात सुनता था, जो अनेक तरह की समस्याओं में रस लेता था।

पास के किसी ठाकुरों के गांव में आपस में झगड़ा चल रहा था। मालूम हुआ कि वे लोग पंडित जी को पंच बनाने के लिए आ पहुंचे हैं। पंडित जी ने उन्हें समय दिया। पंडित जी ने मुझसे कहा—"तुम्हें भी चलना होगा। एकता पर एक कविता लिख लो।"

नियत दिन उस गांव से हाथी आ पहुंचा। हम लोग उस पर बैठकर गांव में गये। बड़ा गांव था—सम्पन्न ठाकुरों का। एक से एक बड़े और खुर्राट लोग लेकिन सभी को पंडित जी के आगे नमित होते देखा। पंचायत जुड़ी। पंडित जी के आदेश से मैंने कविता पढ़ी। उस कविता में क्षत्रियों के शौर्य और महत्तर कार्यों के लिए उनके बलिदान का बखान किया गया था, फिर उनसे अनुनय किया गया था कि वे आपसी कलह भूलकर अपनी पारंपरिक वीरता दिखायें और एक हो जायें।

लोगों ने बहुत तन्मयता से सुना। कविता से प्रभावित हुए। लड़का सही कह रहा है, इसी मुद्रा में सिर हिलाते रहे। आज सोचता हूं कि वह कितनी खोखली कविता रही होगी और एक लड़के का इतने बड़े लोगों को उपदेश देना कितनी बड़ी हिमाकत रही होगी ! किन्तु क्या यही भाव उस समय भी मन में रहा होगा ? कह नहीं सकता। शायद नहीं रहा होगा। पता नहीं पंचायत में क्या हुआ किन्तु पूरे गांव ने बड़े आदर से पंडित जी को विदा किया, इतना मालूम है। उनके साथ मैं भी ऊंचा उठ गया था—गांव वालों की दृष्टि में भी और अपने साथियों की दृष्टि में भी।

ढरसी का स्कूल मेरे लिए एक ऐसा मंच था जहां स्थित होकर मैंने परीक्षा ही नहीं पास की, जीवन के भी कितने पाठ पढ़े और अनुभव ग्रहण किये। ढरसी के एक ओर मेरा गांव था, दूसरी ओर ननिहाल। छुट्टियों में कभी गांव आता था, कभी ननिहाल जाता था। गांव से ननिहाल जाने का क्रम कोई नया नहीं था किन्तु इन दो बिन्दुओं के बीच की यात्रा मेरे लिए एक दूरी मात्र थी जिसे सात-आठ घंटों में काटना होता था। किन्तु अब पूरी यात्रा भरी मालूम पड़ती थी। एक तो प्रायः महीने में एक या दो बार की यात्रा, दूसरे इन गांवों के बीच के अनेक गांवों के छात्रों के साथ। लगता था जैसे अब ये गांव मेरे लिए अजनबी नहीं रहे, ये अपने ही गांव जैसे लगने लगे थे। इन तमाम गांवों से आए हुए छात्रों की आंखों में वे ही सुख-दुःख तो थे, वे ही अभाव तो थे, वे ही खेत-बारी, नदी-नाले झांक रहे तो थे, वे ही त्योहार-पर्व, मेले-हटिए, ऋतु-मौसम अपनी छाया छोड़े हुए तो थे फिर ये मेरे लिए पराये कहां से हुए, इनके गांव अलग कहां हुए ?

कह चुका हूं कि हम (मैं और कपिलदेव) छुट्टियों में गांव आते थे। गांव

और भी प्यारा और बडा लगने लगता था। थोडे दिनों का अंतराल हमारी आत्मीयता मे और गहराई भर देता था। हम त्योहारों और पर्वों को और उष्मा से जीने लगे थे।

अब मैं दो-चार दिन घर रहकर स्कूल के लिए निकलता तो मन मे वही उदासी नही व्यापती, जो पहली बार व्यापी थी। वह हूक नही उठती। लगता कि एक परिवार छूट रहा है, तो स्कूल का एक बडा परिवार बुला रहा है। गाव के साथी छूट रहे है, तो स्कूल के नये साथी बुला रहे है। सच पूछिए तो अब स्कूल के बिना अच्छा ही नही लगता था।

सवेरे-सवेरे हम 15-20 दिनो के लिए सीधा-पिसान अपने-अपने सिरो पर लादे हुए स्कूल के लिए चल पडते। पहले अमारी गाव पडता, फिर काफी दूर तक रेतीली पगडंडिया पार करने पर सरार गाव आता। वही हम नाव से राप्ती नदी पार करते। शरद मे कैसी प्रसन्न और पारदर्शी लग रही है यह नदी, लेकिन बरसात मे कितनी भयानक और क्रूर हो उठती है ! तहस-नहस करती आधी की तरह फुफकारती है और सुरसा की तरह अपने दूना-तिगुना होते मुह मे मीलो फैली हरियाली निगल जाती है। पिछली बार हम घाट पर आये तो कई लोग मल्लाह का इतजार कर रहे थे और मल्लाह का कही पता नही था। काफी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद हम नाव पर बैठ गए और सबको बुला लिया। हमने एक बार नदी के जोर को आखो आखो मे झाका, लगा कि हम कुछ कर सकते है। नदी बरसाती उफान के बाद काफी उतर चुकी थी किन्तु हवा तेज होने के कारण उसमे हरहराता हुआ वेग बाकी था। हमने नाव खोल दी और स्वय डाड सभाल लिया। दो-एक और से डाड सभलवा दिया। मैं अपने सामान्य ज्ञान के भरोसे नाव खेता जा रहा था और नाव कुछ नियन्त्रित होकर भी धारा मे भागी जा रही थी। मन मे कुछ डर भी था और कुछ विश्वास भी। आखिर बीच धारा से काटकर दूसरे किनारे की ओर ठेलने मे हम सफल हो गये और काफी दूर जाकर नाव किनारे से लगी। वहा लोग उतरकर चलते बने, लेकिन मेरी जिम्मेदारी थी नाव को किसी चीज से अटकाना। किनारे पर कोई पेड-वोड तो था नही, बाधू किससे ? तट की रेत पर कुछ झाऊ के पौधे थे, उन्ही मे नाव बाध दी और आगे चलते बने। अपनी सफलता की एक प्रसन्नता से जी हलका तो हो गया लेकिन नाव इस तेज हवा मे झाऊ से रस्सी तुडाकर बह न चले और बेचारे मल्लाह की नाव डूब न जाय या दूर न निकल जाय, यह अपराध-बोध मन को दबोच रहा था। प्रसन्नता और अपराध बोध के मिश्रित दबाव को झेलता आगे बढ़ा जा रहा था और देखा अन्य यात्री मल्लाह को गाली देते हुए और सफलता से नदी पार कर लेने की खुशी मे हसते-खिलखिलाते चले जा रहे थे।

सरार का घाट पार करने के बाद एक लम्बी सुनसान दूरी तय करनी पडती है तब गजपुर कस्बा आता है। इस दूरी के साथ अनेक भूत-प्रेतो की कथाए जुडी हुई है, लेकिन भूत-प्रेत की कल्पना रात को उभरती है या कोई अकेला हो तब। यह दूरी सुनसान इस अर्थ मे है कि बीच मे कोई गाव-गिराव नही है लेकिन रास्ता बहुत चालू है। कोई साथ न हो तो भी हर मौसम मे लहलहाते हुए खेत तो साथ होते है। फसलो के साथ आदमी अकेला नही होता। मानो हर पौधा, हर फूल, हर फल आदमी से बात करता

लगता है। वैसे जहां फसल होती है वहां ढेर सारे लोग भी होते हैं। फसल कभी अकेली नही होती और फसल के साथ आदमी अकेला नही होता।

यह वह रास्ता है जिससे होकर कछार के तमाम लोग गजपुर कस्बे जाते हैं। कुछ वहां होकर आगे निकल जाते हैं, कुछ वही रुक जाते है। वहां इस बीहड़ कछार मे कोई गांव ऐसा नहीं, जहां कोई ढंग की दुकान हो। सो, लोग गजपुर जाते है दवाई के लिए, मिठाई के लिए, बिसाती के सामान के लिए, मसाले के लिए, दाल-चावल के लिए, शादी-ब्याह मे तंबू के लिए, पालकी के लिए, बाजे के लिए। लेकिन सबसे बड़ा काम होता था इस कस्बे के भूज के यहां गहने गिरवी रखने का। गहने गिरवी रखने से ही तो जीवन की और क्रियाएं गतिशील होती थी।

कस्बे में प्रवेश करते ही एक खंडहर पड़ता था। उसके बाद प्राइमरी के मास्टर और हिन्दी कवि गुणागर मिश्र 'आगर' का मकान पड़ता था जहां दुआ-सलाम के लिए दो मिनट रुकना पडता था। फिर कस्बे के मुख्य मार्ग से (जो गंदी गली से बेहतर नहीं था) आगे बढते थे। चौधरी लोगो की कोठियां पड़ती थी, फिर मिस्टर भूज के बंगले से बाजार शुरू होता था। भूज यानी भड़भूज। काले मोटे कुंदे से मिस्टर भड़भूज बरामदे में बैठे होते और उनके आगे जवार के तमाम निरीह लोगों की लाइन लगी होती। उनकी तिजोरी का खुला मुह गपागप जवार की मजबूर मां-बहनो के जेवर निगलता जाता, उगलता तो शायद ही कभी। जेवर बंधक रखने वाले लोग गहने का आधा दाम पाते, बहुत घिघियाने पर भी मिस्टर भड़भूज एक छदाम नही बढ़ाते और कहते—"आखिर गिरवी ही तो रख रहे हो, बेच तो नही रहे हो, कम ले जाओगे तो गहने वापस लेने में आसानी रहेगी।" लोगो के सामने भविष्य की अपेक्षा वर्तमान ज्यादा रहता और वे चाहते कि फिलहाल गहने का ज्यादा से ज्यादा पैसा मिल जाय, लेकिन नही मिलने पर जी मसोसकर रह जाते। मेरी मा के भी कई गहने इस तिजोरी में पडे थे। भड़भूज जी का एक बडा-सा बगला था जिसके आगे धान, गेहूं, जौ का सुखवन या ढेर पडा होता और कई-कई मजदूर उनकी सफाई मे लगे होते। मै सोचता कि क्या विडंबना है, बिना खेती-बारी के भड़भूज जी के यहा अनाज का ढेर लगा है और हम खेत वालों के यहां खाने-भर को अनाज नही ठहरता!

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम
दास मलूका कह गये सबके दाता राम

वाह रे दाता राम, तुम भी खूब हो! अजगर को तो बिना काम-काज के क्या-क्या देते हो और खून-पसीना एक करने वाले आदमी को खाली फाकामस्ती देते हो।

इस अजगर के दरवाजे के लगभग सामने पटहेरो की दुकान थी। गरीब पटहेरे लेकिन हमारे साथ कितने जुडे हुए। ये सब मेरे पिताजी के दोस्त थे। हमारे घरो के शादी-विवाहो मे तथा अन्य मांगलिक अवसरो से जुड़े हुए। सिंहोरा (सिन्दूरदान), गुरिया-गहने, मालाएं, मांगलिक सूत्र आदि ये ही देते थे। ये एक अर्थ मे पिशाच के सामने छोटे-छोटे सांस्कृतिक देवदूत-से लगते। हम वहा बैठते। वे हमें बताशे के साथ पानी पिलाते। हालचाल पूछते। पिताजी के बारे में खूब पूछते। हम वहां से उठते तो

भीतर से थोड़े भरे होते।

हम फिर आगे बढ़ते। बाजार मिलता, जहां जवार के अनेक जरूरतमंद लोग मंडराते नजर आते। लोहे के चचरों वाले व्यापारियों के घर जिनके बाहर या अन्दर दुकानें भी होतीं। कुछ दुकानें सड़क पर बिखरी होतीं। देहात से सब्जियां या फसली चीजें लाकर कही दुकान जमाकर बैठे हुए लोग दिखाई पड़ते। कही मोची होते, कही नाई। कहीं साइकिल मरम्मत की दुकान होती। कही ताड़ी बिक रही होती।

मै जब भी इस कस्बे से गुजरता, कस्बे की एक खास सड़ी हुई गन्ध मुझमे भर जाती। गन्दी दुर्गंधमयी पतली सड़क के किनारे चौधरियों के घर, मिस्टर भडभूज का बंगला, बाजार मे पिलपिले व्यापारियों के मकान-दुकान। क्या यही है गजपुर? नही, इस गजपुर को काटता हुआ एक दूसरा गजपुर भी उभर आता जिसे मैं देख नही पाता, भीतर-भीतर महसूस करता। वह था मन्नन द्विवेदी का गजपुर, रायअवध द्विवेदी का गजपुर, जीवन जी का गजपुर, हमारे मांगलिक जीवन से जुड़े पटहेरों और अन्य छोटे-छोटे दुकानदारों का गजपुर। मन्नन जी का और जीवन जी का गजपुर दूसरी ओर छूट जाता था, उधर से गुजरना नही होता था, उसे केवल सुनता और अपने खून में महसूस करता था। तब लगता था कि इस कस्बे की दुर्गन्ध के भीतर से एक सुगन्ध उग आई है। तब लगता था कि दर्द देने वालों के बीच कुछ दर्द लेने वाले भी है जो हमें उन तमाम अभावग्रस्त उदास चेहरों, आंखों मे जोड देते है, जिनका कही कोई नही है।

मन्नन जी की बाल कवितावली बचपन मे ही पढ़ी थी। उसके लिए मार खायी थी, फिर सारी कविताएं याद कर ली थीं। मन्नन जी के बारे मे मदनेश जी बहुत कुछ सुनाया करते थे। वे भी मन्नन जी मे खूब जुड़े हुए थे। जब मैंने होश संभाला तो मन्नन जी जीवित नही थे, लेकिन उनके बारे मे इतना सुना था कि लगता था कि मैंने उन्हें देखा है, निकट से जाना है। उनकी मस्ती, सहजता, घुमक्कड़पन, निर्भीकता, मानवता आदि की अनेक कहानिया मेरे भीतर वर्तमान थी। मुझे लगता था कि मेरे कवि बनने की शर्तों मे से एक शर्त बन गयी थी मन्नन जी जैसा आदमी बनना। यानी जो मन्नन जी जैसा आदमी न हो उसे कवि नही बनना चाहिए। हो सकता है इस अघोषित, अज्ञात रूप से अनुभूत शर्त ने मेरे कवि को एक सही आदमी से जोड़ने मे मदद की हो।

मै मन्नन जी के बारे में सोचता हुआ गजपुर कस्बे से सटे गांव में प्रवेश करता तो एक आवाज से चौंक जाता—

"ए बाबू लोगन, कहां पढते हो?"

"ढरसी।"

"संसकीरत इसकूल में?"

"नही, राष्ट्रभाषा विद्यालय में।"

"ऊहे, आरे एके बात हुई।"

वास्तव में ढरसी अपनी संस्कृत पाठशाला के कारण ही मशहूर था। 'राष्ट्रभाषा विद्यालय क्या बला है', यह इनकी समझ मे कैसे आ सकता था! वे जब कहती थीं

'ऊहे एके बात हुई' तो हमें अपमान महसूस होता था। सस्कृत पाठशालाओं का जो बिंब है वह हमें कैसे ग्राह्य हो सकता था ! वे भी उस बिंब को उसी अर्थ मे ले रही है जिस अर्थ मे हम लेते थे। यह बात उस दिन खुल गयी जब एक औरत ने दूसरी से कहा—' ये बेचारे समकीरत पाठसाला मे पढते है। पदरह-बीस दिन बाद इधर आते है और भीख माग-वोगकर फिर पाठसाला मे लौट जाते है। बेचारे !"

मैं और कपिलदेव दोनो एक-दूसरे की ओर देखने लगे। लगा—हम दोनो रो पडेंगे। लेकिन हम कई बार की कोशिश के बाद उन्हें समझा नही पाये कि राष्ट्रभाषा विद्यालय पाठशाले से भिन्न वस्तु है जहा भीख मागने वाले नही पढते।

कुछ गावो को पार करने के बाद एक तीन मील लम्बा निचाट पडना था जिसमे से गजपुर और गगहा के बीच की कच्ची सडक गुजरती थी। यह बहुत थकाऊ यात्रा-भाग होता था। बीच मे एक देवी का स्थान था जहा रामनवमी के अवसर पर चैत पूर्णिमा को बहुत बडा मेला लगता था। हम पहले भी यहा कई बार आ चुके थे। यहा आकर थोडी चहल-पहल दिखायी पडती थी और यात्रा की थकान थोडी उतरती थी। वहा से मील-भर की दूरी पर गगहा मिलता था। यहा से गोरखपुर-बडहलगज वाली पक्की सडक मिलती थी। गगहा ठाकुरो का बडा गाव है—अपनी वरिबडता के लिए काफी मुख्यात-कुख्यात गाव। यहा बहुत पुराना मिडिल स्कूल है, अस्पताल है, कोआपरेटिव , , और अन्य कई सुविधाए है जिनके कारण यह गाव बहुत प्रसिद्ध रहा है।

गगहा से बडहलगज की दूरी चहल-पहल से भरी दूरी है। वैसे भी इस पर चहल-पहल रहती है, लेकिन मेलो, पर्वो, शादियो आदि के दिनो मे तो इसकी रौनक का क्या कहना ! हम इससे परिचित थे। इसलिए यह सडक हमारे लिए मात्र सडक नही थी हमारी अनेक खुशियो और हसियो के भीतर से गुजरती हुई एक लय थी। यह सडक हमे हमारे स्कल तक बहुत हसी-खुशी के साथ पहुचा देती थी लेकिन रुकती नही थी, चली जाती थी बडहलगज की ओर—हमे उधर चलने का निमत्रण देती हुई। और हम कभी-कभार उधर भी निकल पडते थे। जब मे आया दो बार मामा के यहां हो आया था।

दरअसल मामा के यहा जाने की हिम्मत नही होती थी लेकिन रामप्रश्न और विंध्याचल जब जिद करते थे तो उनके साथ हो लेता था। जाने की हिम्मत नही होती थी इसलिए कि मामा के घर मे इस समय अभाव की एक बडी गहरी सीलन भरी हुई थी। वह घर जिसकी सम्पन्नता की गहरी ऊष्मा मैंने बचपन मे भोगी थी, उसके दारिद्र्य की सीलन मे प्रवेश करते डर लगता था। वह घर जो पूरे जवार मे अपनी सम्पत्ति और मर्यादा के लिए विख्यात था, वही अब अपने अभाव और मर्यादाहीनता के लिए कुख्यात हो रहा था। जब मैं वहा जाता तो यह सकोच लगा रहता कि मैं इस अभाव मे इस घर पर बोझ बन रहा हू, साथ ही इस नयी परिस्थिति का साक्षात्कार करने की हिम्मत नही जुटा पाता था। इस परिवार मे मेरी मा और पिताजी का बहुत मान है। मेरे होश सभालने मे पहले ही नाना दिवंगत हो चुके थे। तीन ममेरे भाई बेंकाक मे थे, उन्हें भी नही देखा था। घर पर मामा थे। अच्छी खेती थी। गाय, भैंस, बैल की जमात थी।

कई बगीचे थे। बैंकाक से रुपये आते थे। इस घर मे अन्न, रुपये और गोरस की ऊष्मा फैली हुई थी। मां तो आती ही थी, पिताजी प्रायः आया करते थे, हम लोग भी खूब आते थे। मेरे बचपन का काफी भाग यहा बीता था। मामी और तीनो भाभियो का प्यार हमारे भीतर रसा-बसा था। मामा के बाग-बगीचे। इस गाव के पोखर-ताल, कैंत, बरगद के पेड, सावन की झडी, झडी मे झूला, इस गाव से चलकर देखा गया बडहलगज का मेला, सभी कुछ तो मेरे अन्तर मे बसा हुआ था। कितना सुख और दुलार पाया था इस परिवार और गाव से। यानी ननिहाल मेरे जीवन का एक ऐसा अनुभव था, जिसके बिना मैं वह नही होता जो था।

इस सम्पन्नता के बीच एक दर्द की धारा भी बहती थी। मैं तब बच्चा था। उसे अनुभव तो नही कर सकता था, (जैसाकि बडा होने पर किया) जान सकता था। तीन-तीन जवान भाभिया लम्बे विरह मे मौन-मौन तडप रही थी। बडी भाभी तो अकाल वृद्ध हो गयी थी, मझली भाभी शरीर से क्षीण और रुग्ण थी, लेकिन छोटी भाभी बहुत स्वस्थ थी और सुन्दर भी। वे बारी-बारी से मुझसे अपने पतियो को चिट्ठिया लिखवाती कि बहुत दिन हो गये, एक बार आ जाओ। उन्हे गये शायद सात-आठ साल हो गये थे, लेकिन बार-बार लिखने के बावजूद उनके आने की कोई सूचना नही आती थी। हा, रुपये जरूर आते रहते थे।

मुझे लगता है, इन भाभियो की यातना का शाप लग गया इस घर को और घर धीरे-धीरे उजडने लगा। मामा सम्पन्न पिता के इकलौते बेटे थे—लाड-प्यार मे पले। इसलिए उन्होने जवानी मे बहुत-से शौक पाल रखे थे, लेकिन शौक के बावजूद घर का भाग्य यौवन मे था, उठता ही गया। लेकिन एक शौक ऐसा आया कि घर का ढहना शुरू हो गया। मामा ने नाच-मडली पाल ली। नाच-मडली का खर्चा, खेतो के प्रति निष्क्रियता। दारिद्र्य चढ़ने लगा। खेत रेहन चढने लगे, घर के सामान बिकने लगे। बैंकाक मे जब भाइयो को इसकी सूचना मिली तो उन्होने बडे भाई जगत नारायण को भेजा। उन्होने आकर रही-सही कसर पूरी कर दी। वे मामा से भी दो कदम आगे बढ गये। बाप-बेटे मे लडाई होने लगी। नाच-मडली को लेकर दोनो मे होड मची। फिर घर जैसे उजड ही गया। बडी और मझली भाभी मर गयी, छोटी भाभी जाने कहा चली गईं। इस घर मे जाने पर बडा सडा हुआ सन्नाटा अनुभव होता था, लेकिन रामप्रश्न और विध्याचल कभी-कभी खीच ही ले जाते थे। छोटी भाभी का जाना मेरे भीतर गहरे दर्द की लकीर की तरह खिच गया और अब तक खिचा हुआ है। पूजा और प्यार के पवित्र घर मे यातना और कलह के राक्षस के घुस जाने पर पीडा और जुगुप्सा की जो मिली-जुली अनुभूति हो सकती है वही अनुभूति मेरी थी। उसे लेकर मै स्कूल लौटता था। यह वही घर है जहा रहकर बडे भइया ने अपनी उर्दू मिडिल की पढ़ाई पूरी की थी और यह वही घर है जहा से लौटने के बाद दिन-भर पढाई मे मेरा मन नही लगता था।

मामा के गाव के पास से तरैना नदी बहती है—छोटी-सी नदी लेकिन बरसात मे उपद्रवकारी। यह नदी दूर तक उत्तर-दक्खिन को अलगाती बहती है। इसके दक्खिन

में स्थित अनेक गांवों में हम लोगों की रिश्तेदारियां हैं। यानी तरैना के दक्खिन में छः-सात मील के घेरे में स्थित अनेक गांव हमारे सम्बन्धो के द्वीप से है। यह पूरा वृत्त हमारे लिए आत्मीयता का वृत्त है। मेरे दो-दो ननिहाल, मेरा अजियाउर, मझले भाई की ससुराल, मेरी ससुराल तथा गाव के अनेक लोगो के ननिहाल, ससुराल इस वृत्त के गांवों मे पड़ते हैं इसीलिए मेरा पूरा का पूरा गांव मागलिक और पर्वों के अवसरो पर यहा खिचा चला आता है। तरैना पुल से लेकर बड़हलगज तक का इलाका हमें बहुत प्रिय लगता है, मोहक लगता है। लगता है चारों ओर प्यारे चेहरो की भीड लगी हुई है।

कार्तिक पूर्णिमा को बड़हलगंज का मेला लगता है। धार्मिक वातावरण के साथ रोमानी वातावरण मिल जाता है। हमारे गाव के बूढे, जवान, बच्चे काफी सख्या मे जाते है, औरतें भी जाती हैं। जवान रसिकों को ससुराल के गांवो मे आयी हुई युवतियों के साथ छेडखानी करने का अवसर मिलता है। दो-एक बार मुझे भी रसिक मडली मे शरीक होने का अवसर मिला था। हुआ यों कि पूर्णिमा की रात को हम बडहलगज पहुच गये। रात को घूम-घूमकर मेला देखने का आनन्द ही और होता है। हम निकले तो मुझे क्या पता था कि साथ के रसिया लोग कुछ और नीयत से निकले है। उन्होंने लडकियों का एक झुड देखा और समझ लिया कि अमुक गाव की है, पड़ गये पीछे। मुझमे न इनसे जुडते बनता था न टूटते। यह नही कि मै कोई देवता हूं वरन् मुझमे अभी रसिकता नही जागी थी और लम्पट बना देने वाली रसिकता तो कभी नही जागी। मैं बहुत सकुचित और अपमानित अनुभव कर रहा था। भीतर-भीतर लम्पटता पर गुस्सा आ रहा था। जब एक लडकी ने मुडकर हमारे समाज के सक्रिय मुखिया की चप्पल से धुनाई शुरू की तो आसपास की भीड़ जागरूक हो गयी। भावी आशंका से रसिक मडली टूटकर इधर-उधर बिखर गयी तो मुझे बहुत राहत मिली। अच्छा लगा और कान पकडा कि इन सूअरों के साथ न आऊगा न घूमूगा।

बडहलगंज के मेले के बाद तरैना पुल का मेला लगता है। यह दिन-भर का होता है लेकिन बहुत अच्छा होता है। अच्छा इस अर्थ मे कि इस मेले का सम्बन्ध धर्म मे नही होता अतः इसमें न धर्म के नाम पर गिरते-पड़ते आने वाले बूढ़े, बुढ़ियाओ की ठेल-पेल होती है, न नदी के कीचड में स्नान करने की आपाधापी होती है, न मेले मे रात को ठहरने वाले लोगो द्वारा पैदा की गयी गंदगी का बिखराव होता है। आसपास के गावो से लोग विशेषकर युवक-युवतियां सजधजकर निकलते है, मटरगश्ती करते है, थोडी-बहुत रोमानी नोक-झोक होती है। अर्थात् मेले में एक रगीन वातावरण व्याप्त रहता है। हम लोगों के सम्बन्धों के गांवों के घरों की लडकिया यहां ज्यादा आती हैं अतः बड़हलगंज का मेला देखने आये लोग तरैना पुल पर का मेला जरूर देखते हैं।

इस साल मैं बडहलगंज नही गया। पंडित जी अपने शिष्यों को मेलहा नहीं बनाना चाहते अतः उन्होंने किसी को इजाजत नही दी। लेकिन तरैना पुल का मेला हमारे भीतर बसा हुआ था। पहले कई बार वहा जा चुका हूं, लेकिन मैंने कहा न, मेला मेरे लिए मेला ही था, उसमें रोमानी आकर्षण नही था। किन्तु इस बार की बात कुछ

और ही थी। मेरी शादी हुई थी, मझले भाई की शादी हुई थी। दोनों गांव—कोल्हुआ और टाड़ा तरैना पुल के पास ही थे। रसिक भावना की अनुभूति न सही, कल्पना तो जगनी शुरू हो ही गयी थी। यानी भीतर कुछ था जो तरैना के मेले की ओर ठेल रहा था। मैंने कपिलदेव से सलाह की। दोनों तैयार हो गये और तिजहर को सड़क पर आकर एक इक्का किया और उड़ चले तरैना पुल के मेले की ओर। चले तो गये और मेला देखा भी, लेकिन छिपकर आने का अपराध-बोध और पंडित जी का डर भीतर रेंगता रहा। खैर, जब मेले मे आ गये तो आ ही गये। मेले में गांव के कुछ और लोग मिल गये। मेरे मन में भले ही ससुराल की रूमानियत को लेकर कुछ मीठे भाव रहे होंगे, लेकिन संकोची मन अजब झेंप अनुभव कर रहा था। यहां ससुराल के गांव के लोग होंगे, लड़कियां होंगी, हो सकता है मुझे पहचानते हों, हो सकता है न भी पहचानें। यदि ससुराल के घर के लोग नही आये होंगे तो दूसरा कौन पहचानेगा? कपिलदेव के साथ मै खडा-खड़ा बात कर रहा था। आवाज आयी—"ऐ पहुना, पान लीजिए।"

मैंने चौंककर देखा। देखा एक दस-बारह साल की लडकी पान लिए खडी है। मैं अजीब हैरानी मे पड़ गया। बोला—"कौन हो तुम? मुझे क्यों पान दे रही हो? मैं पान खाता भी नही। शायद तुम्हें आदमी पहचानने मे भूल हुई है।"

"भूल-वूल कुछ नहीं हुई है। आप ही को पान दिया गया है। लीजिए।" कहती हुई उसने पान मेरे हाथ में पकडा दिया और भागकर थोडी दूर पर स्थित लडकियों के झुंड में पहुंच गयी। मैंने उधर देखा—दस-बारह जवान लड़कियों का झुंड खिलखिला रहा था और एक चेहरा जो मेरी ओर देख रहा था, मुझसे लड़कियों की ओट मे गायब हो गया।

मैं कुछ देर पान लिए खडा रहा। पान मैं नही खाता लेकिन इस पान का मूल्य समझकर उसे खा लिया। हम लोग कुछ देर और घूमे, आसपास के गाव के कई सम्बन्धी मिले, बिछड़े। लडकियों का वह झुंड कई बार टकराया और कई-कई रिमार्क फेंके, गालियां दीं और मुझसे उत्तर न पाकर मेरे पुंसत्व को भी कोसा। वे लडकियां अब ज्यादा उन्मुक्त हो गयी थी क्योंकि वे जिस एक चेहरे को अपने बीच घेरे हुए उसका छिपाव कर रही थी वह गायब हो चुका था। मैंने अनुमान लगा लिया कि वह कौन रही होगी। कुछ देर बाद हम एक इक्के पर स्कूल की ओर लौटने लगे। मन में तितली के पंखों से कुछ चित्र-से उड़ने लगे थे। आते थे, जाते थे।

स्कूल पहुंचे तो देखा पंडित जी मुंह फुलाये बैठे है। हमने सोचा था कि डांटेंगे, डपटेंगे और हम मेला देखने के सुख का मूल्य चुका देंगे, किन्तु वे तो बोले ही नही। एक दिन, दो दिन, तीन दिन—हम पहले तो हैरान हुए, फिर क्रोध आ गया और पंडित जी के सारे दुर्गुण मन में उभरने लगे। हमारी कक्षा में पतराम सिंह नाम के एक विद्यार्थी थे। वे गगहा के मिडिल स्कूल के हेडमास्टर के सुपुत्र थे। वे प्रथम श्रेणी मे मैट्रिक पास करके विशेष योग्यता पढने आये थे। बहुत अच्छे व्यक्ति थे। हंसोड़ और समझदार। लेकिन गलतियों पर, शरारतों पर या सवाल का जवाब न आने पर पंडित जी सबको दंडित करते थे, पतराम को नही। यह बात मुझे कचोटती थी। क्या पतराम से मैं कम

हूं, पंडित जी पतराम को मुझसे ऊंचा क्यों समझते हैं ? इसीलिए न कि मेरा बाप किसान है और उनका बाप हेडमास्टर ! इसीलिए न कि पतराम गोरखपुर से अंग्रेजी पढ़कर आए हैं और मैं खाली हिन्दी जानता हूं ? मुझे यह भी लगा कि पंडित जी छात्रों को गालियां बकते हैं, यह भी लगा कि पंडित जी मुझसे ज्यादा निजी काम लेते है, यह भी कि रात को पढ़ते-पढ़ते जब नींद आ जाती है तो पीछे से आकर वे पीठ पर अपना खड़ाऊं-भरा पांव रख देते है। क्यों रखते है ? मुझे सारा पाठ याद रहता है और यदि नींद आती है तो आये, उनके बाप का क्या ? नीद रात को आने के लिए ही होती है, एक स्वस्थ आदमी को समय से नींद क्यों न आये ?

मैंने कपिलदेव से बात की। वे भी आहत थे और सहमत हो गए। दरअसल हम लोग अपने सुख-दु:ख मे एक ही थे, हमारे सारे निर्णय साथ होते थे। हमने निर्णय किया कि स्कूल छोड़ देंगे और चलकर खोंपापार (जहां विशेष योग्यता का स्कूल चलता था) पढ़ेंगे। मैंने गुस्से मे एक कविता बनायी—

हमसे पढ़ा न जाय गोपाला
ले लो आपन कुंजी-ताला।

गोपाला यानी रामगोपाल शुक्ल। तय हुआ कि यहां से चलने के बाद वह कविता इन्हें पोस्ट मे भेज दी जायेगी। हम लोग शाम के झुटपुटे में अपने-अपने बक्स रामधनी हलवाई के यहां रख आये। उससे कहा, कल सुबह कहीं जाना है। आज साइत है, प्रस्थान रख रहे है।

पंडित जी को रामधनी हलवाई से शायद हम लोगो का निर्णय मालूम हो गया। रामधनी शायद भांप गया था और उसने पंडित जी से बता दिया था। तभी तो जब सुबह हम लिखित त्यागपत्र लेकर पंडित जी के यहां पहुंचे तो पंडित बटुकदेव त्रिपाठी भी वहां बैठे थे। लगता था पंडित जी हमारा इंतजार कर रहे थे। हमने अपना त्यागपत्र उन्हें थमा दिया। उसमे लिखा था कि आप हमसे बोलते नहीं है। इसलिए हम यहां रहना ठीक नही समझते, कहीं और जाकर पढ़ेंगे।

पंडित जी ने यह पढ़ा, कोई प्रतिक्रिया उनके चेहरे पर न हुई, क्योकि जैसे वे सब कुछ पहले से ही जानते थे।

हम वहां खड़े रहे। पंडित बटुकदेव त्रिपाठी ही बोले—"कवि जी, किसी को आने-जाने से किसने रोका है, लेकिन आने-जाने के पीछे एक औचित्य और सौमनस्य तो होना ही चाहिए। क्या आपका इस तरह जाना उचित है ?"

त्रिपाठी जी पंडित जी की ओर से बोल रहे हैं यह हमें ज्ञात हो गया। मैं बोला—"त्रिपाठी जी, हम क्या करें ! हम मेला देखकर लौटे तो न जाने क्या अपराध हो गया कि पंडित जी ने बोलना ही छोड़ दिया।"

"तो मेला देखने क्यों गये ? क्या है मेले में ? जगह-जगह से तमाम आवारा लड़कियां और लोफर आते हैं, उनमें आप लोगों को शामिल होने की क्या जरूरत पड़ गयी ? आप पढ़ने-लिखने वाले छात्र हैं, इतने अच्छे कवि हैं, चरित्रवान हैं, मेले में क्या पायेंगे ?"

मेरा जी भन्ना गया। उस छोटी उमर मे भी मैं मेले के महत्त्व को महसूस करता था। मेला केवल अच्छा ही नहीं लगता, वह एक सामाजिक जमावडा है जहां जाकर आदमी कुछ सीखता है, पाता है, अनुभव एकत्र करता है। मैंने कहा—"त्रिपाठी जी, मैं कवि हूं इसलिए तो मुझे मेले मे और जाना चाहिए। सुना है मन्नन द्विवेदी आसपास का कोई मेला छोडते नही थे, वहां से जीवन के अनुभव प्राप्त करते थे, और सुना है आपको भी तो बाजार, मेले आदि मे घूमने का शौक है।"

त्रिपाठी जी मुसकराने लगे। उन्हे लगा कि वे फंस गये है। वे बहुत सज्जन और खुले दिमाग के व्यक्ति थे अतः शायद उन्हे लगा कि लडका ठीक कह रहा है। वे झल्लाने की जगह मुझे प्रशसा-भरी दृष्टि से देखने लगे। पडित जी अपनी गभीर वाणी मे बोले—"मामा, कवि जी ठीक कह रहे है। मेले का महत्त्व है। उसका सामाजिक महत्त्व तो है ही, मनोवैज्ञानिक भी है। मनोवैज्ञानिक इस रूप मे कि घर के भीतर घुटन अनुभव करती हुई औरतो को बाहर सामाजिक भीड मे निकलने का एक अवसर मिलता है, इससे उनके भीतर की घुटन, ठहराव टूटता है और जीवन जीने के लिए एक ताजगी पा लेती है, नही तो घर की चहारदीवारी के भीतर घुटते रहने, पुरुष समाज से कटे रहने के सिवा और क्या मिलता है। एक ओर वे पुरुष समाज से कटी रहती है, दूसरी ओर पुरुष समाज उनसे। इसलिए जब ये मेले मे निकलते है तो उनकी रूमानी वृत्ति जाग पडती है। यह अवसर थोडी देर का होता है, अतः रूमानी वृत्ति लपटना का रूप धारण कर लेती है। औरते तो अपने स्वभाव के अनुसार सयत रहती है। स्वच्छंद-सी लगने वाली औरतें भी थोडा मुस्करा देती है, कुछ भगिमाए कर देती हैं, लेकिन पुरुष समाज और खासकर लंपट वृत्ति वाला पुरुष वर्ग आक्रामक हो उठता है।"

'तब ?' के भाव से सभी लोग पडित जी की ओर देख रहे थे।

"कवि जी मेले मे गये, मुझे इसका मलाल नही है। मलाल इस बात का है कि मुझसे पूछे बिना चुपके से चले गए। इसका क्या अर्थ हुआ ? यही न कि उनका मेरे ऊपर विश्वास नही रहा। उन्हें डर था कि मैं अनुमति नही दूगा। यह डर उनके मन मे क्यो आया ? यदि मै अनुमति नहीं भी देता तो उनके भले के लिए। इतने दिनो मे इन्हे सोचना चाहिए था कि मैं हा या ना इनके हित मे ही करूंगा। लेकिन जब ये चुपके से निकल गए तो मुझे बहुत चोट पहुची। किसी सामान्य छात्र ने किया होता तो मुझे कुछ नही होता, मैं उसका खयाल भी नही करता, लेकिन इनके प्रति मेरे भीतर जो भाव है उसे बता नही सकता। इनके रूप मे मुझे एक सुन्दर भविष्य पंख फडफडाता अनुभव होता है। इनके प्रति अपनी आत्मीयता को मैं कोई नाम नही दे सकता। ठीक है, अब ये जहा चाहे जा सकते है, भगवान् इनका मार्ग प्रशस्त करे।"

वे चुप हो गए, लगा जैसे रो देंगे। मैं स्तब्ध था। कुछ बोल नहीं पा रहा था। फिर मैंने भरे हुए गले से कहा—"आपको हमे डाटना चाहिए था। आपने कुछ कहा ही नही।"

वे सीधे मेरी ओर देखने लगे। बोले—"आपका फर्ज नही बनता था कि पूछें—'पंडित जी, आप मुझसे बोलते क्यों नही हैं ?' क्या मेरे प्रति आपका सारा विश्वास इस

एक चुप्पी से हिल गया ?"

"पंडित जी, मुझे आप मत कहिए।" कहता हुआ मैं उनके पांव पर गिर पड़ा और सिसकने लगा।

पंडित जी ने मेरा सिर पकड़कर उठाया, बोले—"नहीं, कुछ नहीं, दुखी मत होवो, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, जहां रहो सुखी रहो।"

मैं और दुखी हो उठा। सामने हमारा त्यागपत्र रखा हुआ था। झपटकर उसे उठाया और फाड़-फूड़कर चिदी-चिदी कर दिया। कुछ देर खड़ा रहा, फिर बोला—"गुरुदेव, तो आप मुझे निष्कासित करने पर तुले हैं, क्षमा नहीं करेंगे ?"

पंडित जी उठे, उन्होंने मुझे सीने मे लगा लिया और आशीर्वादस्वरूप उनकी आंखों मे दो-चार बूंद आंसू गिरे। अलग होकर मैंने उनके पांव छुए और कहा—"हम रामधनी के यहां से अपने बक्स लेने जा रहे हैं।"

"रुकिए।" पंडित जी बोले।

हम खड़े हो गए। पंडित जी ने मुझसे कहा—"मेरी चुप्पी तुम्हारे लिए जिस कारण से थी उसे मैंने स्पष्ट किया, लेकिन कपिलदेव के लिए दूसरा कारण है। और मैंने इन्हें माफ नही किया है।"

'इनका क्या कारण है ?"

"ये खुद समझ रहे होंगे। इनसे कहिए कि अपना बक्सा वापस लाने मे पहले सोच लें कि इन्हें अकेले में मुझसे मिलकर माफी मांगनी होगी और मुझसे वायदा करना होगा कि ये अपना वह आचरण दुहरायेंगे नहीं।"

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। शायद कपिलदेव समझ गए होंगे। वे मेरे साथ अपना बक्सा वापस लाये। और दूसरे दिन से पंडित जी उनसे भी बोलने लगे तो मुझे महसूस हुआ कि इन्होंने माफी मांग ली होगी। वह क्या बात थी शायद इसे पंडित जी और कपिलदेव के अतिरिक्त कोई नहीं जान पाया। मैंने भी कपिलदेव से नहीं पूछा। मैं पंडित जी की इस गंभीरता से उनके प्रति और भी श्रद्धावनत हो गया।

12

शोर हुआ कि वांसगांव में नेहरू जी आ रहे हैं। निश्चित दिन दो घंटा रात रहते ही अनेक विद्यार्थी वांसगांव के लिए रवाना हो गए। मुझे भी जाना था, लेकिन मुझे रतौंधी आती थी, अत: साथी मुझसे कतराकर निकल जाना चाहते थे। उन्हें यह लग रहा था कि रात के अंधेरे में कौन इसका हाथ पकडकर ले चलेगा। लेकिन मैं तैयार था, इसलिए उनके पीछे हो लिया। काफी दूर तक मैं अंधेरे में अंदाज से उनके पीछे-पीछे चला। वे तेजी से चले आ रहे थे, मैं भी तेज चल रहा था। सड़क थी, कोई खास दिक्कत नहीं हो रही

थी; लेकिन एक जगह मैं एक हलवाहे के हल की नोक से टकराते-टकराते बचा। हलवाहे ने जोर से पूछा—"कौन हो भाई, दिखाई नही पड रहा है? अब तक तो सिर फूट गया होता।"

मैं क्या कहता? दोस्तो ने सुन लिया। राजाराम ने रुककर कहा—"आप लोग चलिए, मैं कवि जी की उंगली पकड़कर ले चल रहा हूं। यह क्या बात हुई कि उन्हें रतौंधी आ रही है तो नेहरू जी की सभा में न चलें!" कहकर उन्होंने पीछे मुडकर मेरी उंगली पकड़ ली।

मैंने हाथ झटक दिया। बोला—"जाइए, आप भी जाइए, मैं आ जाऊंगा अंधेरे मे ठोकरे खाता हुआ! नेहरू जी को देखने के लिए निष्ठा की आख होनी चाहिए और मेरी उस आंख को रतौंधी नही लगी है। मुझे तो रतौंधी है, इस पूरे देश को तो दिनौंधी लगी हुई है, दिन को भी आंखो के आगे परदा पडा हुआ है। गाधी-नेहरू उसी परदे को तो हटा रहे है।"

"अच्छा, अच्छा, आइए चलिए, मैं अपनी गलती मानता हूं कि सबके बहकावे मे आकर आपको छोडकर निकल आया था। अब गुस्सा थूकिए और चलिए।"

मैं उनके साथ हो लिया लेकिन और साथियो मे मुह फुलाये रहा। शायद कपिलदेव नही थे, नही तो यह समस्या ही नही खडी होती। वे मुझे शुरू मे ही ले चले होते।

आठ-नौ बजते-बजते हम लोग बागगांव पहुंच गये। रास्ते मे और भाषण के स्थान पर भी खूब चहल-पहल थी। भीड नारे लगा रही थी। काफी दूर-दूर के गावों मे लोग आये थे। हमारे गाव से भी आये थे। बड़े भइया भी आये थे। नेहरू जी आये नही थे। 'आ रहे हैं'—शोर होता। फिर एक उदास लहर आती कि 'नही आ रहे है'। लोग एक-दूसरे मे पूछने लगे कि नही आ रहे है क्या? क्यों नही आ रहे है? तब तक चारो ओर की पुलिस एकदम सक्रिय हो गयी। 'आ गये, आ गये' का शोर हुआ। थोडी देर मे वे मंच पर आ गये। नेहरू जी को पहली बार देख रहा था। वह एक अद्भुत अनुभूति थी। सौम्य, शात चेहरा, खद्दर की धोती, कुर्ता, जैकेट, टोपी। नेहरू जी के बारे में, उनके उदग्र ओजस्वी चेहरे और हरकतो के बारे मे बहुत सुन रखा था और बाद के दिनों मे देखा भी, किन्तु उस दिन का चेहरा और ही था। उन्हे गुलाब की माला पहनाई गई थी जिसे उतारकर उन्होने अपने हाथ मे ले लिया था। हलके-हलके मुसकरा रहे थे। लगता था उनके चेहरे से झरझर-झरझर आभा झरकर गुलाब के फूलों पर बरस रही थी। गुलाब के फूलों से लेकर उनके चेहरे तक आभा की एक लय बन गयी थी।

लोग नारे लगाते रहे, उत्तेजित होते रहे, नेहरू जी शांत बैठे रहे। फिर वे बोले—संक्षेप मे आहिस्ता-आहिस्ता बोले, लेकिन लगा जैसे उनकी वाणी से धीमी-धीमी आंच फूट रही हो—"स्वराज्य लेंगे। यह जालिम सरकार अपनी गोली-बन्दूक चलाती ही रह जायेगी, वह देश की जनता के अडिग विश्वास को हिला नही सकती। स्वराज्य हम लेकर रहेंगे। आप लोग निर्भीक बनिये। आपके चारों ओर ये जो डराने वाले गोली-बन्दूक वाले लोग खड़े हैं ये सब खरीदे हुए हैं, इनमें कोई दम नहीं। इनसे डरने की

जरूरत नही, आप लोग एक होइए। एकता ही सबसे बड़ी शक्ति है। बोलिए भारत माता की जय।"

जय जय जय जय—आकाश गूंज रहा था और पुलिस के अफसर अपनी गोली-बदूक के साथ भी अपने को बहुत अशक्त समझ रहे थे, अपमानित अनुभव कर रहे थे।

सभा से निकले तो कोडीराम की ओर चल पडे। घर लौटती हुई भीड मे बहुत उत्साह और जोश था—जैसे किसी ने उसके भीतर सोये हुए पौरुष, उमग और स्वातत्र्य-भाव को हलके से छूकर झनझना दिया हो। महापुरुषो मे ऐसी कोई शक्ति होती है जो अपने स्पर्श से एक साथ कोटि-कोटि प्राणों को स्पदित कर देती है और वह शक्ति आती उनके व्यक्तित्व और आचरण से, भाषण से नही। नेहरू को देखते ही जैसे लोग देश के लिए मरते-खपते उनके व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने लगते थे। वही व्यक्तित्व प्रभाव डालता था।

रास्ते मे मेरे एक साथी साइकिल से लौट रहे थे। उन्होने कहा कि आओ, साइकिल के पीछे बैठ जाओ। मैं तैयार हो गया। वे स्टार्ट करके कहते थे कि कैरियर पर बैठ जाइए। वे आगे निकल जाते थे और मै जहा का तहां खड़ा रह जाता था। चलती हुई साइकिल के कैरियर पर कूदकर चढने की कला मुझे नही आती थी इसलिए काफी देर तक यह तमाशा होता रहा। आगे वे इसलिए नही बैठा रहे थे कि उस पर बैठे-बैठे मैं थक जाऊंगा। देखने वाले देखकर हस रहे थे। आखिर उन्होने एक ऊंची जगह पर पाव टिकाकर साइकिल खडी की और मुझे कैरियर पर बिठा लिया तब साइकिल स्टार्ट की। मैं अपने इस बुद्धूपन पर देर तक शर्मिन्दा था। अभी तक शर्मिन्दा हो जाता हूं यह देखकर कि अनेक छोटे-छोटे दुनियावी काम मुझसे सहजता से सध नही पाते जिन्हें लोग बहुत आसानी से कर लेते है। जब साइकिल पर बैठना नही आया तो साइकिल चलाना मेरे लिए कल्पनातीत था। मुझे लगता था कि दो पहिए की गाड़ी को साधकर भगाते चलना एक चमत्कार ही है। मैंने मित्र से कहा, "आप लोग कितने जादूगर हैं कि साइकिल चला लेते हैं। यह तो बहुत बड़ा कौशल है।"

मित्र ने कहा—"इसमे क्या कौशल है ! यह तो मामूली-सी बात है। हैरत तो मुझे यह सोचकर होती है कि आप कैसे कविता लिख लेते है।"

मैने कहा—"इसमें क्या हैरत है ? वह तो आसानी से लिखी जा सकती है।" और हम दोनों एक-दूसरे की कला को हैरत की चीज मानते हुए एक-दूसरे के प्रति अभिभूत थे। और रास्ता कट गया।

मेरे मन में साइकिल सीखने की तड़प जाग गयी। उसी साथी से कहा—"मुझे साइकिल चलाना सिखा दो।" उसने हंसकर कहा—"ठीक है, मैं सिखाता हूं, तुम मुझे कविता लिखना सिखा दो।" "चलो ठीक है, शर्त मंजूर है।"

तीन-चार प्रयास के बाद एक बार मैं साइकिल संभाल लेने में सफल हो गया। थोड़ी दूर चला ले गया। बात मुड़ने की आयी। मोड़ूं कैसे ? जब तक साथी दौड़कर आये, मैं गुलाबों के पौधों पर गिर गया। कांटों से अंग-अंग और वस्त्र बिद्ध हो गये। साथी ने आकर साइकिल संभाली और मैं अपने को कांटों की उलझन से बचाता उठ खड़ा

हुआ। वस्त्र कुछ फट गये थे, अंगों से यहां-वहां कुछ रक्त रिस रहा था, लेकिन मुझे इसकी चिंता नही हुई क्योंकि साइकिल चला लेने का अद्भुत सुख मेरे भीतर भर गया था। मैं फिर साइकिल की ओर झपटा। मित्र ने मेरे उत्साह को देखकर कहा—"शाबाश, साइकिल सीखने की कोशिश में गिरना तो पडता ही है, चोट भी लगती है, लेकिन जो चोट की परवाह नही करता वही साइकिल सीख सकता है।"

"कोई भी चीज सीखने के लिए चोट तो खानी ही पडती है दोस्त, चलो पकड़ो साइकिल।"

उसने साइकिल पकडी। चढ़कर मैने फिर पैंडिल मारी और पहले से ज्यादा कुशलता से चला ले गया। उस रात कांटो के घाव की परपराहट के बीच साइकिल सीख लेने का सुख मेरे मन मे महकता रहा। जिसे मैं कल तक चमत्कार समझता था आज उसे अपने वश मे कर लिया था।

साइकिल पर चढने का अनुभव एक नया अनुभव था। यह अनुभव तो रोमांचकारी था ही, 'मुझे अतिरिक्त गति मिल गयी है, समय और स्थान मेरे लिए कुछ और सिमट आये है या मैं उनमे ज्यादा फैल गया हू' सोचकर न जाने कैसा-कैसा लग रहा था।

साइकिल की बुनियादी बात तो सीख गया, लेकिन अभ्यास कैसे करू ? साइकिल के लिए मन मे उमग उठती थी और बेबसी की तड़प बनकर बुझ जाती थी। लोगो की साइकिलों को हसरतभरी निगाह से देखता था और मौका मिलते ही किसी साइकिल पर झपट पड़ता था और चलाने का अभ्यास करने लगता था। शुरू मे कविता लिखने के आनद से कम उन्मादकारी आनद यह नही था, किन्तु कविता के लिए कागज और कलम ही पर्याप्त थे जो सुलभ थे, लेकिन इसके लिए तो साइकिल चाहिए जिसे खरीदना अपने वश की बात नही थी। एक दिन तो मुझे अपमानित होना पडा। एक क्लासफेलो अपने पिता के साथ सवेरे-सवेरे पंडित जी से कोई बात पूछने आये थे। उन्होने जैसे ही साइकिल खडी की, मै ले उडा। एक मील तक चलाकर लौटा तो बाप-बेटे को साइकिल के अभाव मे बदहवास पाया। बाप ने जैसे ही मेरे हाथ मे साइकिल देखी, मेरी लानत-मलामत शुरू कर दी, बहुत गालियां दी। मै अपमानित-सा खडा-खडा सुनता रहा, शर्मिन्दा होता रहा, फिर पंडित जी ने समझा-बुझाकर उन्हे विदा किया। साइकिल सीखने का जो हुलास मेरे मन मे था वह साइकिल के अभाव मे उसी तरह मुरझा गया जैसे नौकरी न पाने पर प्रथम श्रेणी की डिग्री पाने वाले विद्यार्थी का उल्लास मर जाता है।

फिर भी कभी-कभी विंध्याचल साइकिल लाते तो मै चला लेता या जिसने सिखाया था उसकी साइकिल चला लेता, बाकी किसी की साइकिल नही छूता। मेरा संकोची और स्वाभिमानी स्वभाव किसी से कुछ मागने से हमेशा उदासीन रहा है।

साइकिल सिखाने वाले दोस्त बोले—"हां भाई, तो कविता कब सिखा रहे हो ?"

"चलो, आज ही शुरू कर दो ।"

"चलो ।" कहकर वे मेरे साथ एकांत में चले गए । मैं सोचता रहा इन्हें कविता कैसे सिखाऊं, वह तो भीतर से पैदा होती है । वह कोई साइकिल सिखाना तो है नही कि साइकिल की सीट पर बैठा दिया, कुछ दूर पकड़े हुए ले चले, पैडिल हिलाना-डुलाना बता दिया और गति देकर छोड दिया । फिर भी मैं उनसे यह कह नहीं सकता था । वे सोचते कि मैंने अपना काम करा लिया, उनका काम नही किया । कुछ देर तक उन्हे कुछ समझाता रहा । वे हूं-हा करते रहे, फिर झल्लाकर बोले—"छोडो यार कविता-फविता, यह मसुरी अपने वश की चीज नही ।" सो मैने तो साइकिल के चमत्कार को अपने वश मे कर लिया, वे कविता के पास नहीं फटक सके । मैंने भी मुक्ति की सांस ली । आखिर उन्हें कविता सिखाना भी तो कैसे ? कविता करना कोई साइकिल चलाना तो है नही ।

13

ढरसी (एक गाव जहा मैं विशेष योग्यता की पढाई करने गया था)से ही मैंने इलाहाबाद तक की यात्रा की । पहली बार इतनी लंबी यात्रा का अनुभव मुझे हुआ था । कुंभ का मेला लगा था । मेरी मा, कपिलदेव की दादी कुभ नहाने जाने वाली थी । यह तय हुआ कि पिताजी उन्हें ढरसी तक छोड जायेंगे, वहा से हम लोग साथ हो लेंगे । मन में बडा उत्साह था । बार-बार मैं सडक की ओर देख रहा था । दोपहर हो गयी । पिताजी नहीं आये । मैं उदास हो चला । पंडित जी हमारी उत्सुकता और व्यग्रता का अनुभव कर रहे थे । दो-तीन बजे के आसपास पिताजी आये । उनके साथ मा थी, कपिलदेव की दादी थी और पडोस की एक चाची थी । पंडित जी ने पिताजी को देखते ही कहा—"आइए मिसिर जी, ये लड़के तो निराश हो चले थे कि आप नही आयेंगे ।" हम सकुचा गये ।

हम तैयार तो थे ही । मझगांवों से ही इक्का किया गया और बडहलगंज पहुचे । घाट पार कर दोहरी पहुंचे । मेरे मन मे बनारस और इलाहाबाद को देखने की इच्छा एक 'थ्रिल' पैदा कर रही थी । स्टेशन पर अनन्त लोग जमा थे । धुएं से आस-पास का आकाश अंटा पड़ा था । लोग लिट्टी सेंकने के लिए आग सुलगाये बैठे थे । गाडी छूटने मे अभी तीन घंटे की देर थी । अभी तो यहां से जाने वाली गाड़ी इदारा से आयी भी नही थी । किन्तु काफी लोग सामान के साथ इस तरह तैयार थे कि जैसे गाड़ी आ रही हो । काफी हलचल, रोमांच, घबराहट का माहौल था । कुछ देर बाद गाडी आयी, लोग उतरने भी नही पाये कि चढ़ने के लिए टूट पड़े । गाड़ी का यह दृश्य हमारे लिए नया था । यात्रा की घबराहट और रोमाच दोनो ही मिली-जुली धारा मुझमे बह रही थी । खैर, हम दो किशोरों ने तीन-तीन वृद्धाओं को ठेल-ठालकर भीतर किया और

स्वयं भी अंदर हुए। किसी तरह इंदारा तो पहुंच गये लेकिन गोरखपुर से आने वाली गाड़ी में जगह मिलेगी कि नहीं, यह सोचकर घबराहट होने लगी। इंदारा स्टेशन तो और भी जन-संकुल हो रहा था। कई दिशाओं से आकर लोग आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा में थे। दूर से गाड़ी की लाइट दिखाई पडी कि हड़बड़ी मच गयी। जनसमुद्र क्षुब्ध हो उठा। गाड़ी आयी, भरी हुई थी। भीतर के लोगों ने मोर्चा बांध रखा था। वे बाहर के प्रवाह को बाहर ठेल रहे थे और बाहर का प्रवाह भीतर की ओर धक्का मार रहा था। आखिर लोग भीतर हो ही लिए। न जाने गाड़ी में कौन-सा जादू होता है कि वह चाहे जितनी भीड अंटा लेती है। मैं भी तीनों वृद्धाओं के साथ अंदर ठुंस ही गया, लेकिन कपिलदेव ? कहां है, कहां गये ? तीनों वृद्धाएं खड़ी थीं, बैठने की गुंजाइश कहां थी। तभी एक चमत्कार हुआ। पडोस वाली चाची को उलटी आ गयी और देखते-देखते उनके पास की भीड़ रबड़ की तरह दबकर दूसरी ओर हो गयी और जो जगह खाली हुई उस पर तीनों वृद्धाएं दुबककर बैठ गयीं। लेकिन कपिलदेव ? मैं भी किसी अठरी-गठरी का सहारा लेकर बैठ गया हूंगा, लेकिन कपिलदेव के न होने की चिंता सबको व्याप गयी। गाड़ी चल पड़ी। हम मान बैठे कि वे या तो किसी और डिब्बे मे हैं, या छूट गये। दिक्कत यह थी कि खाने-पीने का सारा सामान तो उनकी दादी के पास था, वे खायेंगे क्या ?

सुबह हो रही थी। मालूम हुआ बनारस आने वाला है। आया। मैं बनारस में आ गया हूं, इस अनुभव से रोमांचित हो उठा। बाहर की ओर देख रहा था, खिलती हुई हल्की-हल्की धूप, स्टेशन पर फेरी वालों की आवाज—चाय, पान, सिगरेट, अमरूद, बेर, चूड़ी-चश्मे और न जाने क्या-क्या ? ये सारी चीजें कमोबेश और स्टेशनों पर भी बिक रही थीं, लेकिन न जाने क्यों बनारस के प्लेटफार्म पर मुझे वे कुछ विशेष लग रही थीं, उनमें जैसे मेरे बनारस-प्रेम की एक अलग रंगत और चमक भर उठी थी। इच्छा हुई कि प्लेटफार्म पर उतरकर थोड़ा घूमूं और देख आऊं कि कपिलदेव कहीं है क्या ? लेकिन यह संभव नहीं था। जैसे था, उसी अकडी हुई अवस्था में बैठने को अभिशप्त था।

गाड़ी चली। तीन-चार घंटे बाद इलाहाबाद के करीब पहुंच गये। लोग उत्साहित हो उठे। झूंसी आ रही है, बुदबुदाहट हुई। झूंसी आ गयी। लोग उझक-उझककर आगे की ओर झांकने लगे। गंगा जी को देखने की बेताबी जैसे लोगों में भरी हुई थी। गाड़ी छूटते ही जय गंगा जी, जय गंगा जी के शोर से पूरा माहौल गूंज उठा। धड़-धड़ धड़-धड़ ···यह झूंसी और दारागंज के बीच का पुल है। क्या रोमांचकारी दृश्य था। नीचे गंगा जी बह रही थीं। उनके दोनों पाट पर रेत का विस्तार था। रेत में खेत थे। संगम दिखायी पड़ रहा था। पंडों की झुंड की झुंड अनन्त झोंपड़ियां, जय जय पतितपावनी जय जय गंगा मइया···जय जय भागीरथी···रोमांचित शोर उठ रहा था।

दारागंज का स्टेशन आया। उतरकर मैंने तीनों वृद्धाओं को एक स्थान पर बैठा दिया और स्वयं प्लेटफार्म पर घूमकर कपिलदेव को खोजने लगा। वे नहीं मिले। उनकी दादी बहुत परेशान थीं, रो रही थीं। मैंने समझाया कि अगर मैं आप तीनों को लेकर यहां आ सकता हूं, तो क्या कपिलदेव अकेले घर नहीं लौट सकते हैं ? चलिए, वे

खो नहीं जायेंगे। यदि आये होंगे तो उन्हें भी मालूम है कि हम मसुरिया दीन पंडा के यहां ठहरेंगे। सब लोग मन मारकर चले।

इतना बड़ा जन-समुद्र मैंने उस दिन तक नहीं देखा था। इस जन-समुद्र को पार करते हुए तीन तुमड़ी का झंडा वाला मसुरिया दीन पंडा का बाड़ा खोजते चले। झंडा पहचानकर हम एक कुटिया में जा जमे। कुटिया में जगह-जगह पुआल बिछा था। पुआल न होता तो सोना कठिन ही होता। जमीन में सीलन भरी थी। यात्रियों के पास चादर या दरी के अलावा होता क्या है। माघ में सीलन-भरी जमीन पर चादर या दरी बिछाकर सोना कितना मुश्किल होता है ! लेकिन कुछ मुश्किल नहीं होता, जिसके भीतर गंगा मइया के प्रताप से मुक्ति की आकांक्षा भरी हो, उसके लिए कष्ट का कोई भी स्तर असह्य नही हो सकता। आखिर गाड़ी में सड़ते हुए लोग आये ही हैं न। कितना उन्माद होता है आस्था में और विशेषतया अंधी आस्था में ! मुझे ठीक पता नही कि उस समय मुझमें गंगा जी के प्रति अंध आस्था थी कि नहीं। शायद नहीं थी। किन्तु गंगा जी के बहाने इस मेले को देखने के प्रति गहरी आस्था जरूर थी।

वृद्धाओं को कमरे में प्रतिष्ठित कर मैं कुछ सामान लाने के लिए दारागंज की ओर जाने लगा। कितने अजीब-अजीब दृश्य थे। नागाओं के झुंड दिखाई पड़े—नंग-धड़ंग त्रिशूल लिये हुए। उन्हें देखकर भय लगा। सुना था बड़े गुस्सैल होते हैं। अरे, यह क्या ? एक साधु कांटों पर सोया हुआ है। एक धरती में गड़ा हुआ है, केवल उसका सिर निकला हुआ है, कोई सिर के बल खडा है। ऐसे ही अनेक दैहिक चमत्कार दिखाई पड़े। मैं उनकी साधना से अभिभूत हो रहा था, फिर भिखारियों की कतार। अजब-अजब तरह के भिखारी—कोढी, लूले-लगडे, काने, अंधे, जवान, बूढ़े, बच्चे···अजब गिलगिला संसार था। साधु-संन्यासी, पंडे, पुजारी, भिखारी सभी के आगे पैसे गिर रहे थे। और मुझे लगा कि इन सबका धर्म गंगाजी नही, पैसा है। जो जितना ही धर्म का बाना धारण किये हुए है वह उतना ही पैसे के नजदीक है।

ढेर की ढेर खिचडी जा रही थी। कहां जा रही है, कौन भेज रहा है, कौन खायेगा, कुछ पता नही, लेकिन खिचड़ी जा रही है कहीं, इतना पता तो चल ही रहा था। मेरी भूख उभर आयी थी और मैं जल्दी-जल्दी सामान लेने के लिए दारागंज की ओर बढ़ा और देखा कि बांध पर कपिलदेव उदास बैठे हुए हैं। खोयी-खोयी आंखों से कुछ देख रहे हैं। "अरे भाई, कहां रह गये थे ? हमने बहुत ढूंढ़ा मगर कही दिखाई नहीं पड़े।" उन्होंने चौंककर मुझे देखा और लिपट गये। बोले—'मैं दूसरे डिब्बे में बैठा था। जब यहां उतरा तो आप लोगों को ढूंढ़ा लेकिन नहीं मिले।" "ढूंढ़ा तो हमने भी था लेकिन इस जन-समुद्र में एक व्यक्ति की बिसात ही क्या ? वह कहीं भी अदृश्य हो सकता है। आपने तो कुछ खाया-वाया भी नहीं होगा। चलो, थोड़ा सामान लेकर चलते हैं, खाना बन रहा है।"

हम आये। खाना बन रहा था। हम बारी-बारी से औरतों को नहला लाये। खुद भी नहा लिए। क्या चहल-पहल थी ! गंगा नावों से भर गयी थी। लोग नाव से बीच में जाकर नहाना पसंद कर रहे थे क्योंकि किनारे पर तो खाली गंगा जी हैं, बीच में

यमुना का भी पानी मिलता हुआ दिखाई पड़ रहा था। यानी संगम वहीं था। गंगा जी कितनी महान् हैं! कितनों का उद्धार कर रही थी! इतने धर्मप्राणों को मुक्ति दे रही थीं। इतने मल्लाहों को रोजी-रोटी दे रही थीं; इतने दुकानदारों का व्यवसाय चला रही थीं, और कितने ही चाकरी न करने वाले अजगरों के मुंह में खुद ब खुद भोजन ढकेल रही थीं। तब यह बात मेरे मन मे इस तरह भले ही न आयी हो, किन्तु किसी-न-किसी रूप में आयी जरूर थी। पंडे, पुजारियों के ढकोसलों, सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों की गलाजतों के प्रति मेरे मन में तब भी एक चेतना अवश्य थी, तभी तो मैं सनातन धर्म के स्थान पर आर्यसमाज को पसंद करने लगा था। मैं आर्यसमाजी नही था, अब भी नही हूं, लेकिन गांवों में आने वाले आर्यसमाजियों के संगीतात्मक प्रवचनों से मैं बहुत प्रभावित होता था। उनकी बातें सीधी और भीतर उतरने वाली लगती थी, उनमें राष्ट्रीय चेतना भी थी और समाज के आडंबरों के विरुद्ध चोट भी। इसलिए जब हम मेला देखने निकले तो मैं धर्म के नाम पर समाज पर लदे समाज के तमाम कोढ़ियों से प्रभावित नहीं हुआ, उनके चमत्कारों को मैंने महिमान्वित नही समझा, हां नागाओं से आतंकित जरूर हुआ। सुना था कि ये बड़े क्रोधी होते हैं। भीतर के क्रोध को ही भयावना बनाने के लिए शायद उन्होंने यह विकराल रूप बना रखा है।

खा-पीकर हम मेला घूमने निकले। जाड़े की तिजहर थी, धूप हलकी हो रही थी लेकिन तिजहर की उदासी मेले की गहमागहमी में डूब गयी थी। हम पूरे मन से घूम भी नहीं पा रहे थे—क्योंकि तीन-तीन वृद्धाओं को सभालना भी था। मेरी मा तो अभी उस अर्थ में वृद्धा नहीं थी जिस अर्थ में शेष दो औरतें थी। अभी उसमे जीवन की बहुत ऊर्जा शेष थी लेकिन अन्य दो औरतों की तो उंगली पकड़ के चलाना पड़ रहा था कि कही ये गिर न जायें या बिछुड़ न जायें।

चलते-चलते हम एक सभा के आगे रुके। पढ़ा—'आर्यसमाज'। लोग जुटे थे, संगीत के साथ भाषण चल रहा था। गीत तो याद नहीं रहे किन्तु गीत और भाषण से जो आशय फूट रहा था वह राष्ट्रीय था। गीत और भाषण का एक अद्भुत प्रभाव पड़ रहा था। कुछ देर बाद आगे बढ़े तो एक दूसरी सभा दिखाई पड़ी—सनातन धर्म की सभा। देखा, एक आदमी जिसके औरतों जैसे लंबे बाल थे, नाच-नाचकर गा रहा था—'ए मनमोहन प्यारे संवलिया उलझी लट छितरा जइयो।'

"चलो-चलो, आगे चलें।" कहकर मैं औरतों को खींचने लगा। एक वृद्धा ने कहा—"आ जरा रुको पूता, भगवान् का गीत गा रहा है, जरा सुनने तो दो।"

काकी का मन रखने के लिए मैं खड़ा हो गया और उस नाचने वाले को झेलता रहा। कुछ देर बाद मां ने कहा—"चलो पूता, आगे चलो, ई तो मेहरारू की तरह तान तूर रहा है।"

"काकी से पूछ लो।"

"पूछ लिया है, आगे चलो।" कहकर मां आगे बढ़ चली।

मां अद्भुत थी। अपनी धर्म-निष्ठा के बावजूद वह सुन्दर-असुन्दर का भेद कर लेती थी। मुझे कोई ऐसा प्रसंग याद नहीं है जब उसने जिन्दगी के ऊपर धर्म को तरजीह

दी हो या धर्म के नाम पर फूहड़पन को स्वीकारा हो। धर्म उसके सौन्दर्य-बोध का अंश बनकर ही उसमें जीवित था, धर्म उसकी मूलभूत पवित्रता और मानवता को निखारने का साधन था। वह व्रत रखती थी, देवी-देवताओं की पूजा करती थी, धार्मिक पर्वों पर वह सरयू और गंगा नहाने भी निकलती थी, लेकिन यह सब उसकी आंतरिक पवित्रता के साधन थे, उसकी मानवीय आस्था के संवर्धक थे, वह इन क्रियाओं को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का भोंडा साधन नहीं बनाती थी। दूसरी बात यह थी जो बहुत महत्त्वपूर्ण थी कि उसका सांस्कृतिक स्वर उसके धार्मिक स्वर को अपने में समेटे रहता था। वह इन धार्मिक क्रियाओं को सांस्कृतिक स्वरों (तत्सम्बन्धी गीतों, कथाओं आदि) से सौन्दर्य प्रदान करती थी। अतः जहां अनेक लोगों की धार्मिक आस्थाएं और क्रियाएं नंगे कर्म-कांड के रूप में लक्षित होती हैं वहां मां की आस्थाएं और क्रियाएं सांस्कृतिक समारोह के रूप में फूटती थीं। यह कितनी बड़ी बात थी कि जहां चाची को मनमोहन प्यारे सांवलिया का नाम सुनकर भगवान् का स्मरण हो आया, वहां मां भगवान् को बेहूदा ढंग से पेश करने वाले उस रूढ़िवादी व्यक्ति की असुन्दरता से चिढ़ गयी और भगवान् के आतंक से अभिभूत हुए बिना आगे को चल दी। मैंने मां को कभी माला जपते या 'राम-राम राम-राम' कहते नहीं देखा। उसने मुझसे एक बार कहा कि 'रामचरितमानस' से कुछ पंक्तियां याद करवा दो। करवा दीं। वह उन्हें गाती रहती थी। वह मरते दम तक जहां धार्मिक गीत गाती रहती थी वहीं होली, कजली, शादी-ब्याह के भी गीत गाती थी। उसने धर्म को जीवन की सांस्कृतिक गहमागहमी को काटकर नहीं जिया।

अरे! मैं मेले का वर्णन करते-करते मां का वर्णन करने लगा। पर मैं करूं क्या, वह मेरे जीवन में इतनी धंसी है कि इस यात्रा के क्रम में बार-बार आयेगी। हां, तो हम आगे बढ़े। घूमते रहे। क्या-क्या देखा, इसका बयान करना न अब सम्भव है और न आवश्यक। इतना ही कहना चाहता हूं कि मेले के समग्र परिवेश का अनुभव मेरे लिए एक नया और मूल्यवान अनुभव था। गंगा और यमुना दो पवित्र नदियों का पहली बार और एक साथ दर्शन और मेले के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक वैभव का साक्षात्कार गांव की सीमा में बंधे मेरे युवा-मन के लिए बहुत मूल्यवान वस्तु था। इस अनुभव में मेले की कुछ गलाजत के अनुभव भी शामिल हैं। ये अनुभव अब तो मुझे बहुत सालते हैं, तब भी चुभे थे। धर्म के नाम पर नोच-खसोट, ठगी-भिखमंगेपन के दृश्य मुझे तब भी अच्छे नहीं लगे थे। यानी उनके प्रति मन में एक संशय, एक अप्रीति-कर भाव विद्यमान था। अब तो उनके प्रति घृणा, क्रोध और विद्रोह का भाव मन को अशांत करने लगता है।

इस भीतरी गन्दगी के साथ दूसरा दृश्य था बाहरी गन्दगी का। आखिर इतने लोग निबटने के लिए कहां जायें? मर्द-औरत सुबह-शाम गंगा तट के आसपास के खेतों में बैठे होते। उनके नंगेपन के बीच कोई दीवार नहीं होती और खेतवाले मर्द-औरत ढेले मार-मारकर लोगों को भगाते रहते। गंगा का तट मल से अटा पड़ा होता। एक ओर संगम में नहाकर लोग पवित्र हो रहे हैं तो दूसरी ओर थोड़ी ही दूरी पर आबदस्त ले रहे हैं। यानी उनके तन और मन का मैल धोने वाली नदी। ठीक ही लोग गंगा को 'मां'

कहते हैं। मां अपने बच्चों का मल साफ करती ही है।

दूसरे दिन कुम्भ था। गांव से भीमल भाई भी आ गये थे। उनके आ जाने से बड़ी आश्वस्ति मिली। वे मेरे पड़ोसी थे, प्राइमरी में मास्टर थे। कई बार इधर आ चुके थे। अतः उनका साथ बहुत आश्वस्तिकारी लगा। उनके साथ दारागंज के बाजारों में घूमे, सामान खरीदे। प्रयाग से रवाना हुए तो बनारस उतरे। बनारस का बड़ा आकर्षण था मेरे मन में। उसके बारे में सुनता रहता था और वह मेरे मन में शतदल कमल की तरह खिला हुआ था। हम दशाश्वमेध गए। विश्वनाथ गली गये। मुझे बहुत अच्छा लगा। किसी स्थान का इतना विशिष्ट सौन्दर्य अभी तक मेरे अनुभव में नहीं उतरा था। बनारस के सौन्दर्य का वैशिष्ट्य बाद में भी मेरे लिए कम नहीं हुआ। बाद में तो बनारस मेरे साथ दस साल तक रहा या मैं उसके साथ रहा इसलिए उसकी चर्चा बाद में होती रहेगी। फिलहाल इतना ही कि बनारस भी मेरे भीतर स्थान का एक अद्भुत सौन्दर्य-बोध बनकर पैठा जो संश्लिष्ट था, संक्रांत था। उसमें जाड़े की ऋतु की रेशमी गर्मायी थी, फल थे, सब्जियां थी, गंगा थी, गलियां थी, सड़कें थी, तांगे थे, विशेष तरह के बाजार थे, विशेष वेश-भूषा और मस्ती के लोग थे। शहर की अपनी एक विशेष गंध होती है, उसका अपना एक विशेष स्पर्श होता है, यह बनारस देखकर ही मैंने जाना। मैं उस अवस्था मे इसकी व्याख्या तो नहीं कर सकता था, किन्तु महसूस अवश्य कर रहा था। लौटते समय दिन था अतः सारनाथ के स्तूप दिखाई पड़े। मेरी जिज्ञासा का समाधान करते हुए भीमल भाई ने कहा कि यह लोरिक का कुदान है। लोरिक इस स्तूप से उस स्तूप तक कूदता था। मैं कुछ नही समझ सका। न तो मैंने इस बात का पूरा विश्वास ही किया न अविश्वास ही। सच बात तो यह है कि मैं सारनाथ के विचित्र माहौल से अभिभूत होकर पुलकित हो रहा था। गौतम बुद्ध के बारे मे पढा हुआ, सुना हुआ सारा ज्ञान एक कौतूहल की मुद्रा में सारनाथ की ओर देख रहा था।

खैर, हम लौट आये। औरतें भीमल भाई के साथ गांव लौट गयी और मैं तथा कपिलदेव स्कूल लौट आये। मेरा कवि कुछ लिखने के लिए बेचैन हो उठा था। मैंने इस यात्रा का वृत्तान्त लिखा—गद्य मे भी और पद्य मे भी। पंडित जी ने देखा, कुछ समझदार वरिष्ठ साथियों ने भी देखा, सराहा, लेकिन वह रचना न जाने कहा गयी। होती तो देखता कि मैंने उसमे क्या लिखा था और उस समय कैसा लिखता था।

14

साल बीत गया। इस स्कूल के परिवेश के अनुभवों तथा पंडित जी की आत्मीयता ने मुझे जो रस दिया, जो जीवन दिया वह अविस्मरणीय है। यह स्कूल न जाने कब का ढह-ढूह

गया और पंडित जी भी बहुत पहले कालकवलित हो गये, किन्तु यह स्कूल मेरे मन में जो बसा तो बसता ही चला गया। काल की दूरी उसे मेरे भीतर और धंसाती चली गयी। न जाने क्या था इस स्कूल में कि इसने दो साल बाद फिर मुझे अपने पास खींच लिया। यह कहानी दो साल बाद की है, फिलहाल इतना ही कि परीक्षा हुई, विशेष योग्यता से पास कर ली। द्वितीय श्रेणी मिली, उदास हुआ। उम्मीद प्रथम श्रेणी की थी। उम्मीद तो दर्जा सात में भी प्रथम श्रेणी की थी, न जाने क्या है कि मेरी प्रथम श्रेणी नहीं आ पाती। तैयारी करता हूं। विषय का उचित ज्ञान भी होता है, किन्तु बार-बार वही फिसलन। शायद मेरी लिखावट आड़े आती है, शायद मेरी शैली में वह बात नहीं जो परीक्षक चाहता है। तब तो इस विषय पर मैं बहुत सोच-विचार नहीं सकता था और न अपनी योग्यता का कोई प्रामाणिक बोध मेरे पास था, किन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया और निरन्तर द्वितीय श्रेणी की माला पहनता गया, परीक्षा-पद्धति के प्रति मेरा व्यक्तिगत असंतोष बढ़ता गया और जब तमाम अच्छे छात्रों और प्रोफेसरों की द्वितीय श्रेणी का इतिहास सुनने में आया तो मैं सिद्धान्ततः स्वीकार करने लगा कि वास्तविक योग्यता और परीक्षा की योग्यता में कोई फासला जरूर है। परीक्षा की शैली में जरूर कोई ऐसी बात है जो अपने ढंग से योग्यता-अयोग्यता का निर्धारण करती है। वह शैली एक विशेष तरह की शैली है जो प्रायः अयोग्यों का भी वरण करती है। योग्यों का वरण नहीं करती, ऐसा मैं नहीं कह रहा। परीक्षा पास कर जीवन मे उतरने पर परीक्षा के बहुत-से योग्य अयोग्य और बहुत-से अयोग्य योग्य बन जाते है। मैं कम से कम अपने विषय के क्षेत्र में ऐसे बहुत-से लोगों को जानता हूं कि जिन्हें शुरू से आखिर तक प्रथम श्रेणी मिली, लेकिन परीक्षा पास करने के बाद अपने क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर सके, शुद्ध प्राध्यापक या प्राध्यापिका बनकर रह गए। लेकिन इसके विपरीत बहुत-से द्वितीय श्रेणी वाले छात्र (जो बने-बनाये अच्छे सस्ते नोटों का सहारा न लेकर उच्चस्तरीय पुस्तके पढ़ते रहे, उनसे अपनी सामग्री तैयार करते रहे और पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त भी स्तरीय पुस्तकें पढ़ते रहे) प्रतिभावान विचारक, लेखक और समीक्षक के रूप में चमके। यह बात मैं अंतिम सत्य के रूप में नही कह रहा हूं, एक सामान्य सत्य के रूप में कह रहा हूं। बहुत-से लोग ऐसे हैं जो परीक्षा में भी चमकते रहे और परीक्षा के बाद भी बुलंदियों की ओर उठते गये। कहना इतना ही है, अच्छे प्रतिभावान सुपढ़ छात्र अच्छे परीक्षार्थी भी हों, यह आवश्यक नहीं।

मैं अपनी बात करते-करते कहां चला गया! इसे कहते हैं अपने बचाव के लिए सामान्य सिद्धांत की स्थापना कर लेना। मैंने अपनी सामान्य योग्यता को छिपाने के लिए औरों के दृष्टांत का सहारा ले लिया न! जाने दीजिए, यह मनुष्य की सामान्य कमजोरी है। एक बात तो सही है कि मुझमें योग्यता का चमत्कार कभी नहीं रहा। मुझमें प्रतिभा का विस्फोट कभी नहीं हुआ। प्रथम श्रेणी मेरी श्रेणी नहीं है। यह अच्छा ही है। मुझ पर लोगों की दृष्टियां टिकें, यह मेरे स्वभाव को सहन नहीं। मैं लोगों के बीच मिले रहने में ही आश्वस्त अनुभव करता हूं। शायद मेरे इस स्वभाव ने ही परीक्षा में भी और जिन्दगी में भी मुझे 'डिस्टिंग्विश्ड' होने नहीं दिया। कहीं पढ़ा था—

आप जो हैं वही हो सकते थे। सो मैं द्वितीय श्रेणी की माला पहनता चला गया और कम से कम मानविकी में प्रथम श्रेणी पाने वालों की योग्यता को मैं शक की निगाह से देखता गया। वैसे एक राज की बात बता दूं कि एम० ए० में मैं प्रथम श्रेणी प्रथम आया था और मैट्रिक में भी मेरी प्रथम श्रेणी थी तथा नवा पोजीशन था। इसके बावजूद मैं अपने को प्रथम श्रेणी का नही मानता। प्रथम श्रेणी पाने वालों के प्रति मेरी निर्भ्रांत रूप से कोई ऊंची राय नही बन पायी। उसे अच्छे कैरियर की एक अच्छी सीढी ही मानता आया। चाहे इसे आप सचाई कहें, चाहे मेरी व्यक्तिगत कड़वाहट। मैं मनुष्य ही तो हूं, राग-विराग से परे कोई सत तो नहीं।

1941 की जुलाई आ गयी। छुट्टियों में हम ठीक से सोच नही पाए कि क्या करें? विशेष योग्यता के बाद विशारद का नबर था। राष्ट्रभाषा-प्रेम सिर पर सवार था इसलिए तय यही हुआ कि विशारद, फिर साहित्यरत्न करूं। भइया घर आये थे। उन्हें भी हिन्दी भाषा और साहित्य का गहरा गौरव-बोध था। वे मुझे एक अच्छे साहित्यकार के रूप में देखना चाहते थे। उनका मन देश-प्रेम के साथ राष्ट्रभाषा-प्रेम से जुड़ा हुआ था। अत: उनके राष्ट्रप्रेमी मन ने मुझे इस दिशा में अग्रसरित करना ही बेहतर समझा। कपिलदेव के पिताजी (श्री रामगति मिश्र) हमारे ऊपर झल्ला रहे थे कि विशारद-फिसारद पढ़ने की ठान रखी है। नारमल करो और कहीं टीचर बन जाओ। लेकिन हम दोनों उनसे सहमत नहीं थे। भइया से उनकी बात कही तो नाराज होकर बोले—"उन्हें अपने बेटे को नारमल कराना हो, करा लें, तुम्हारे पीछे क्यों पड़े है? क्या तुम प्राइमरी की टीचरी करने को पैदा हुए हो?" क्या करने को पैदा हुआ हूं यह तो नही जानता था किन्तु नारमल करके टीचरी में फंस जाने तक की छोटी अभिलाषा तक तो मैं सीमित कतई नही था। मन में एक धुंधला-सा सपना था—प्रोफेसर या संपादक बनने का। मेरे अज्ञानी मन ने न जाने कैसे मान लिया था कि हिन्दी का प्रोफेसर बनने के लिए साहित्यरत्न कर लेना पर्याप्त होगा। विशेष योग्यता पढ़ते समय कभी-कभी मैं पडित जी के न होने पर कुर्सी पर बैठकर सामने मेज कर लेता था और धूप वाला सस्ता चश्मा लगाकर मुंह से, आंखों से कभी प्रोफेसर का पोज बनाता था, कभी संपादक का। मेरे आसपास के कुछ मित्र मेरी झूठी सही प्रशंसा भी करते थे—"हां, तुम प्रोफेसर या संपादक लग रहे हो।" मैं पुलकित हो उठता था लेकिन भीतर ही भीतर एक हूक भी उठती थी—"मेरे ऐसे भाग्य कहां?"

विशारद करना तय हो गया। [illegible] में। बरहज [illegible] चारा नहीं था। [illegible] और बाद में भी सोचते [illegible] और चल देंगे। गाड़ी की यात्रा [illegible] चौरी-चौरा जाओ। वहां से गाडी पकड़- [illegible] फिर गाड़ी पकड़कर बरहज पहुंचो। तब [illegible] हम लोग घर से बरहज तक पैदल

पहली बार बरहज जाने के लिए हम तैयारी करने लगे तो फिर बरसात की सीलन मेरे भीतर भर उठी। एक स्थान से नाता जुड़ा और टूटा। फिर एक नये अजनबी स्थान पर जाने की तैयारी। मन में घर छूटने का दर्द और एक अपरिचित परिवेश में जाने का भय तैरने लगा। एक उचाट-सा अनुभव होने लगा। मुझे हमेशा लगा है कि बरसात का मौसम घर छोड़ने के दर्द को और भी गहरा देता है। शायद इसलिए भी कि हमारे क्षेत्र में (चाहे शिक्षा हो, चाहे नौकरी) आदमी जुलाई में ही घर से छूटता है। इसलिए घर छूटने का दर्द जुलाई का (बरसात का) दर्द बन जाता है। नहीं, शायद इतना ही नहीं, स्वयं इस महीने या मौसम में भी एक अजीब सीलन, असुरक्षा और शोर-भरा सन्नाटा होता है। वह भीतर के दर्द से मिलकर उसे और बोझिल बना देता है। शायद इसीलिए पावस मे प्रवास वर्जित है। इस मौसम में जब अपनों की सन्निकटता की गहरी आवश्यकता होती है तब प्रवास कितना अवांछित हो उठता है और उस अवांछित को नियति की तरह ढोने पर मन का टूटना, उचट जाना, भीतर-भीतर भर आना कितना स्वाभाविक है। गहरे-गहरे बादल छाये हैं, वे गड़गड़ाते हुए लगातार रूप-रंग बदल रहे हैं और उनकी डरावनी श्याम सघनता प्रवासी-मन की भटकन पर छा जाती है। बिजली चमकती हुई धरती में धंसी जा रही है, कभी तेज, कभी हल्का पानी बरस रहा है, चौवाई बह रही है। पैदल यात्रा पर निकले हुए व्यक्ति की मंजिल अनिश्चित और दूर है। रास्ते के सारे घर अजनबी। वह कहां जाये, क्या करे? भीग रहा है, किसके बरामदे में ठहरे, कब तक ठहरे, रास्ते में कितने कपड़े बदले, और रास्ते हैं कि कीचड़ और पानी से भरे हुए छोटे-छोटे नाले। और सामने एक नदी उफन रही है, नाव उस पार है, न जाने कब तक इस पार पहुंचे, लहरें उसे ढकेलकर न जाने कितनी दूर फेंक आती हैं। और नाव से नदी पार करना कम खतर-नाक तो नहीं और यदि पार भी किया तो न जाने कब तक? और मंजिल तक पहुंचने के पहले ही कहीं शाम हो जाये, फिर किसके यहां ठहरें? मेरे जैसे संकोची व्यक्ति के लिए तो और भी मुसीबत।

यात्री स्वयं तो मुसीबत में पड़ा ही है, घर वाले भी पड़े हैं। वे सोच रहे हैं कि यात्री पता नहीं कहां होगा? किस हालत में होगा? इस सोच ने यात्री भगवान् राम की मां कौशल्या को भी नहीं छोड़ा—

> वन को निकरि गये दोउ भाई
> सावन गरजे भादों बरसे, पवन चले पुरवाई
> कौन बिरिछ तर भीजत होइहें राम लखन दोऊ भाई।

सो हम लोग बरसात में सिर पर अरतन-बरतन लादे बरहज की ओर रवाना हो गये। चौबीस मील की दूरी तय करके वहां पहुंचे तो शाम गहरा रही थी। यह तो याद नहीं रहा कि रास्ते में 'सावन गरजे, भादों बरसे' की नियति झेली कि नहीं लेकिन बरसात वाली मनःस्थिति में कोई कोताही नहीं थी। बरहज में बाबा राघवदास का आश्रम था (अभी है), वहीं राष्ट्रभाषा स्कूल चलता था। पंडित सिंहासन तिवारी

उसके आचार्य थे। शाम को पहुंचकर मन्दिर के चबूतरे पर हम दोनों बैठ गए—थके-थके, भूखे-प्यासे, उदास-उदास। देह में थकान की गहरी पीड़ा उभर आयी थी। हम वहीं पसर गए। सोच नहीं पा रहे थे, क्या करें, कहां जायें, कैसे खायें-पियें? पावस की सांझ में परदेस की जमीन और अजनबीपन की उदासी भीतर कसी जा रही थी।

थोडी देर बाद मंदिर में चहल-पहल हो गयी। घंटा बजने लगा। हम चबूतरे के एक कोने पर सहमे-सिकुड़े बैठे हुए मंदिर की हलचल देख रहे थे। पूजा खत्म हुई तो एक आदमी की नजर हमारे ऊपर गयी। वह धीरे-धीरे सरकता हुआ हमारी ओर आया। पूछा—"कौन हो तुम लोग?"

मैं और कपिलदेव एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। उसने फिर पूछा—"अरे भाई, बताओ न कौन लोग हो?"

"हम दूर से आये हैं।" मैं बोला।

"वह तो ठीक है, लेकिन यहां क्या काम है?"

"हम यहा विशारद पढ़ने आये हैं।"

"अरे तो यहां क्यों बैठे हैं आप लोग? पंडित सिंहासन तिवारी से मिलिए। चलिए उठिए, ले चलता हूं।"

हम दोनों उसके साथ गये। थोडी दूर पर स्थित एक क्वार्टर के सामने जाकर उसने पुकारा—"तिवारी जी!"

एक व्यक्ति अंदर से निकला और उम व्यक्ति को देखकर कहा—"क्या है पुजारी जी?"

"अरे आपके ये दो छात्र आये है, मंदिर के चबूतरे पर चुपचाप बैठे हुए थे। अब इन्हें संभालिए।" कहकर पुजारी जी चले गये।

तिवारी जी ने हालचाल पूछा और पास के ही छात्रावास के एक कमरे मे हमें ठहरा दिया। खाने-पीने के लिए पूछा। कहा—"खाना-वाना बना लो, मैं सामान भेज दे रहा हूं।"

हमने कह दिया कि खाना हमारे पाम है।

तिवारी जी चले गए। खाना हमारे पास नही था। घर से जो लेकर चले थे रास्ते में खा लिया था। पास में गुड़ था, थोड़ा खाया, पानी पिया और सो गये।

बाबा राघवदास का आश्रम बरहज के पश्चिम में स्थित था। बाबा राघवदाम उस समय जेल में थे, उनके उत्तराधिकारी सत्यव्रत जी उस समय आश्रम के स्वामी थे। आश्रम का अपना एक परिसर था जो बहुत विशाल नहीं था। इस परिसर में एक अंग्रेजी कालेज था—श्रीकृष्ण इंटर कालेज, संस्कृत पाठशाला थी, राष्ट्रभाषा विद्यालय था, बाबा जी का अपना निवास-घर था, एक मंदिर था, शिक्षकों के लिए क्वार्टर थे और एक छात्रावास था जिसमें टिन की छाजन के कई छोटे-छोटे कमरे थे।

दूसरे दिन हम क्लास में गये। शिक्षकों से हमारा परिचय हुआ। आचार्य सिंहासन तिवारी के अतिरिक्त दो शिक्षक और थे—एक थे रावत जी (नाम भूल रहा हूं), एक थे शास्त्री जी (इनका भी पूरा नाम भूल रहा हूं)। शास्त्री जी संस्कृत पाठशाला

में अध्यापक थे, ये विशारद में भी संस्कृत पढ़ा दिया करते थे। सिंहासन जी और रावत जी अंग्रेजी शिक्षा से वंचित थे, वे केवल साहित्यरत्न थे। धीरे-धीरे उनकी योग्यता से परिचय होता गया। पंडित रामगोपाल शुक्ल की तरह सिंहासन जी भी बहुत मेहनती थे। केवल साहित्यरत्न होकर भी वे साहित्यरत्न तक की कक्षाओं को बहुत तैयारी के साथ पढ़ा लिया करते थे। उनकी स्मरण-शक्ति भी अच्छी थी (सौभाग्य है कि वे जीवित हैं, आशा है, अभी भी उनकी स्मरण-शक्ति ठीक ही होगी)। उन्हें हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग याद था। सभाओं में भी वे अच्छा बोल लेते थे, उन्हें बोलने का शौक भी था। लेकिन पंडित रामगोपाल की बात ही और थी। वे अपने-आप में एक आश्रम थे और सिंहासन जी दूसरे के आश्रम में शिक्षक थे। अतः पंडित रामगोपाल शुक्ल से जो एक गुरुकुल-मूलक आत्मीयता और जिन्दगी की उष्मा के स्पर्श मिले वह यहां कहां संभव था ? वहां मैं परिवार का एक सदस्य था। यहां स्कूल का छात्र। यद्यपि यहां भी छात्रों और अध्यापकों की संख्या थोड़ी होने के कारण एक पारिवारिकता-सी थी किन्तु वह बात नहीं थी जो ढरसी में थी। घर से पहली बार प्रवासी के तौर पर इतनी दूरी पर निकला था और मन में बसी हुई ढरसी की आत्मीयता बार-बार उभर जाती थी, इसलिए यहां मन बार-बार उचट जाता था। यों स्वभावतः यह इलाका मुझे ऊरठ लगता था। मन बार-बार गहरी गृह-ममता से भर आता था।

आश्रम के पूरब तरफ बरहज बाजार था। उत्तर से दक्खिन तक लम्बाई में बसा हुआ एक कस्बा। कस्बे का अंतिम छोर सरयू नदी को छूता था। यह कस्बा बड़हलगंज की अपेक्षा अधिक समृद्ध और साफ-सुथरा था, लेकिन बड़हलगंज मुझे बहुत अच्छा और सरस लगता था और यह कस्बा नीरस और उबाऊ लगता था। ऐसा शायद इसलिए लगता था कि बड़हलगंज के साथ बचपन से लेकर अब तक की मेरी स्मृतियां जुड़ी हुई थीं और हम अपने सम्बन्धियों और अनेक सांस्कृतिक पर्वों की रागात्मकता के संदर्भ में इस कस्बे में आते-जाते थे। जो भी हो मुझे इस कस्बे में ज्यादा यांत्रिकता लक्षित होती थी।

इसी अजनबीपन के माहौल में हम यहां पढ़ने लगे। मुझे लगता था कि मुझे ढरसी में जो अस्मिता प्राप्त थी, वह यहां नहीं है। यहां तो कोई मुझे कुछ समझता ही नहीं है। और कोई क्यों समझे ? यहां अंग्रेजी के शिक्षक हैं, संस्कृत के बड़े-बड़े पंडित हैं और यहां न जाने कितने लोग हैं जो न जाने कहां-कहां से आते हैं, यहां मेरी हस्ती ही क्या है ?

एक दिन बनारस से कोई वक्ता आये। सूचना निकली कि सभी लोग एकत्र हों, भाषण सुनने के लिए। मैं भी गया। देखा, मंच पर एक सज्जन विराजमान हैं। बड़े-बड़े बाल हैं, दाढ़ी है। अध्यक्ष की कुर्सी पर बाबा सत्यव्रत विराजमान हैं। संस्कृत पाठशाला का एक बड़ा हॉल था। वह पूरा भरा हुआ था। बाबा जी ने वक्ता का परिचय दिया और भाषण देने का अनुरोध किया। वक्ता ने बहुत जोशीले स्वर से राष्ट्रीय और सामाजिक संदर्भों को लेकर व्याख्यान दिया। ऐसा लगता था कि वक्ता को साहित्य, राजनीति और धर्म तीनों का अच्छा ज्ञान था। उसकी वाणी में शासन के

विरुद्ध विद्रोह की आग थी। भाषण समाप्त हुआ तो हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से भर गया। दो-एक व्यक्तियों ने कविता पढ़ी तो मुझे भी उत्साह हो आया। मैंने अपने नाम की चिट बढ़ा दी। मेरा नाम पुकारा गया। मैंने एक कविता पढ़ी। पूरी कविता याद नहीं है किन्तु उस घनाक्षरी की पहली पंक्ति थी 'तिमिर घनेरा हिन्द मेरा भी तजेगा अब'। कविता राष्ट्रीय थी, जोश में भरी हुई थी, लोग वाह-वाह करने लगे। कविता समाप्त होते ही तालियां बजने लगी और अनेक प्रशंसात्मक आंखें मेरी ओर उठ गयीं। मुझे बहुत अच्छा लगा। बाबा सत्यव्रत ने अपने अध्यक्षीय भाषण में वक्ता के धर्म-विरुद्ध विद्रोह वाले स्वर की काट करते हुए राष्ट्रीयता से संदर्भित बहुत ओजस्वी भाषण दिया और मेरी कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा इस कविता पर अपनी ओर से एक पुरस्कार देने की घोषणा की। बाबा जी का भाषण पहली बार सुना था। बहुत ओजस्वी स्वर में बोलते हैं।

उस दिन से मैं उस परिवेश में चारों ओर जाना जाने लगा, कवि के रूप में विख्यात हो गया और यहां भी लोग मुझे कवि जी के नाम से पुकारने लगे। मेरे मन पर अजनबीपन का जो बोझ था, वह कुछ हल्का हो गया। मेरी अस्मिता को थोड़ी तृप्ति मिली। अंग्रेजी स्कूल में दो साहित्यिक थे—एक थे हिन्दी शिक्षक श्री रामकिशोर पांडेय (जो बाद में उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रवक्ता रीडर, प्रोफेसर और अध्यक्ष बने) दूसरे थे संस्कृत के शिक्षक महेन्द्र शास्त्री जी। दोनों अच्छे वक्ता थे। इन लोगों ने भी मुझे पहचाना और रामकिशोर जी ने कालेज मैगजीन में मेरी कविताएं छापीं।

यहीं रामानुज जी से भेंट हुई। रामानुज अंग्रेजी स्कूल मे पढ़ते थे और पास के ही एक गांव में एक नाई मित्र के साथ एक कमरे में रहते थे। रामानुज जी मेरे गांव के पास के गांव रानापार क कवि मदनेश जी (जिनकी चर्चा पहले आ चुकी है) के सुपुत्र थे। गांव में उनसे कोई सम्बन्ध नही था, किन्तु इस भौगोलिक दूरी ने हमें एक-दूसरे के बहुत करीब ला दिया। शुरू-शुरू मे सभी लोग परदेस (चाहे दूसरा देश हो या घर से दूर कोई जगह) में अपने गांव या उसके आसपास के लोगों के लिए हुटकते हैं, मिलते-मिलाते हैं और जब परदेस में नये आत्मीयों का एक परिवेश बन जाता है तब अपने गांव-गिरांव के लोगों के लिए तड़प कम हो जाती है। हां, तो रामानुज उस प्रवास में हमारे लिए एक सहारा बन गये। वे यहां कई साल से थे अतः इनका यहां परिचय-क्षेत्र बड़ा था। शायद तब दर्जा नौ में पढ़ते थे और अंग्रेजी खूब बोलते थे। एक दिन हम बाजार में जा रहे थे तो रामानुज जी एक दुकान पर खड़े होकर बोले, "दो मिनट के लिए अखबार दीजिएगा ?" अखबार अंग्रेजी का था। दुकान पर बैठे भद्र सेठ जी ने रामानुज की देहाती वेशभूषा और उम्र को देखा, फिर उपहास के स्वर में बोले—"पढ़ना आता भी है कि शौक मिटाना चाहते हो हाथ में लेकर ?" अपने पास बैठे एक सुशिक्षित लगने वाले सज्जन की ओर देखा। दोनों हिकारत से हंस पड़े। रामानुज ने झटके से अखबार खींच लिया और फर्राटे से पढ़ने लगे। सेठ चकित था। उसे लग रहा था कि इतना अच्छा तो मैं भी नहीं पढ़ सकता। जब तक वह कुछ बोले, रामानुज

अखबार वहीं फेंककर आगे बढ़ चले। मुझे बहुत अच्छा लगा। ये चिकने-चुपड़े लोग अपने को पैसे के साथ-साथ विद्या का भी अधिकारी समझने लगते हैं—खासतौर पर अंग्रेजी विद्या का। देहाती रामानुज ने उनके अभिमान के मुंह पर कीचड़ फेंक दिया, यह सेठ जी और उनके मित्र के मुंह को देखकर लग रहा था। रामानुज और उनके नाई मित्र एक ही रसोई में खाना बनाते-खाते हैं, जानकर हमें बहुत आश्चर्य हो रहा था। अभी मेरी मानसिकता इस प्रकार की नहीं बनी थी कि वह एक ब्राह्मण को नाई के हाथ का बना खाना खाते देख सके और सह सके। यद्यपि रामानुज यह बात प्रचारित नहीं करते थे और पूछने पर टाल जाते थे, लेकिन यह बात सही थी। वर्षों बाद जब मेरी मानसिकता इस प्रकार की बनी तब रामानुज की साहसिकता पर मैं मुग्ध था। इतनी छोटी उम्र में इस आदमी ने इतने बड़े सत्य को पहचान लिया था, छुआछूत के दानव को लात मार दी थी; किन्तु जब मेरी मानसिकता इस प्रकार की बनी तब रामानुज अपने ब्राह्मण संस्कार की ओर लौट चुके थे। वे मिलिट्री में क्लर्क लग चुके थे। पता नहीं बाहर कैसे रहते थे लेकिन गांव में जबरदस्त परंपरावादी विधान करते दिखाई पड़ते थे।

रामानुज यार-बाश आदमी थे। उनमें महफिली रंग भी था। कवि पिता का काव्यात्मक संस्कार भी था और घोर रसिक भी थे। हम लोगों के कमरे में आ जाते थे, गजलें (विशेषतया कुन्दनलाल सहगल की गायी हुई गजलें) गाते थे। सनेही जी, हितैषी और अपने पिताजी के कवित्त-सवैये गाते थे और कभी-कभी अपनी यौन-मूलक रसिकता में अश्लील लगने लगते थे।

रामानुज जीवित है लेकिन पागल हो गये हैं। मैट्रिक करने के बाद वे मिलिट्री में क्लर्क हो गये थे। पता नही क्या हुआ कि उनका दिमाग फिर गया। वे गाव भाग आये। वे मेरे गांव के कई लोगों के नाम ले-लेकर कहने लगे—"उसने मेरे पीछे भूत छोड दिया है, वह देखो आ रहा है।" और भाग चलते थे। मदनेश जी ने अपने बहुत लम्बे और गहरे अभावों के बाद बेटे के पैसे की कुछ उष्मा अनुभव की थी, लेकिन भाग्य को यह मंजूर नहीं था। वे रामानुज की दवा-दारू में जुट गये और अपनी अपार धैर्य-शालिनी प्रवृत्ति के अनुरूप निरुद्विग्न से दीखते रहे। रामानुज का पागलपन शांत पागल-पन था और है। वे किसी को कुछ नहीं कहते, आते हैं, बात करते हैं, हंसते हैं, गाते हैं, चले जाते हैं। छात्र जीवन के रामानुज के साथ जब रामानुज का यह रूप सामने आता है तब विचित्र अनुभूति होती है। क्यों ऐसा होता है कि बसंत की तरह एक हंसता-चहचहाता यौवन छिन जाता है और एक अच्छा आदमी एक टूटी हुई. एक विक्षिप्त जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है? उसकी सारी हंसी छिन जाती है, रस सोख लिया जाता है? कौन है इस व्यवस्था के पीछे—इतना क्रूर, इतना अविवेकी?

संस्कृत के पंडित जी (शास्त्री जी) हमें संस्कृत पढ़ाते थे। 'मनुस्मृति', 'रघुवंश' आदि से पहली बार परिचय हुआ। शास्त्री जी ने मनुस्मृति तो अच्छी पढ़ाई लेकिन रघुवंश हमारे भीतर नहीं उतार सके। कारण यह भी था कि वे मूलतः व्याकरण के आदमी थे और कारण यह भी रहा कि हम संस्कृत नहीं जानते थे। 'मनुस्मृति' का धर्म-

निरूपण हम सुनते थे, समझते थे, रटते थे, न उससे राग था, न विराग। लेकिन 'रघुवंश' के साथ तो कुछ अनुभव ही नहीं करते थे। दशहरे की छुट्टियों में हम लोग गांव आये तो सोचा कि छुट्टियों में रघुवंश तैयार कर लें। रानापार में संस्कृत के कई आचार्य थे। सोचा था उनसे पढ़-पढ़कर तैयार कर लेना आसान होगा। हम बारी-बारी से दो के पास गये और दोनों ही उलझ गये। वे बड़ी कठिनाई से कुछ श्लोकों का पैराफ्रेज कर सके। कुछ समझ में नहीं आ रहा था। हम उठकर चले आये। मिलने के लिए मदनेश जी के यहां आये। वे किसी काम से कहीं जा रहे थे।

"आओ भाई आओ, कब आये बरहज से?"

"कल आये।"

"रामानुज नहीं आये, कैसे है?"

"ठीक-ठाक है, उनकी छुट्टी दो दिन बाद होगी।"

"यह किताब कौन-सी है?"

"रघुवंश है। हमारे कोर्स में है। आपके गांव के आचार्यों से पढ़ने आये थे।"

"पढ़ आये?"

"क्या पढ़ आये? उन लोगों की समझ मे ही नही आ रहा है।"

"कौन-सा सर्ग है?"

"तेरहवां।"

वे जाते-जाते जमकर बैठ गए। कहा—"पुस्तक खोलो।"

"जी!" हम चौंके। हमे मदनेश जी के बारे में यही ज्ञात था कि ये हिन्दी के पडित है और संस्कृत भी थोडी-बहुत जानते हैं।

तब तक उन्होंने जबानी शुरू कर दिया।

और फिर उन्होंने जो रघुवंश का काव्य-मर्म खोलना शुरू किया तो एक-एक पंक्ति अपने अर्थ-वैभव के साथ भीतर उतरती गयी। लगा कि हम कविता पढ़ रहे हैं और रघुवंश से गहरा रागात्मक लगाव जुड़ता चला गया। हम जब तक वहां रहे, उनसे पढ़ते रहे और काफी कुछ समझ में आ गया था। समय की गहमागहमी के पीछे छिपे हुए कैसे-कैसे लोग होते है—चुपचाप अपने दर्द में पैवंद लगाते हुए और अपने प्यार, ज्ञान, विवेक की छोटी-छोटी निधियों से समाज के जीवन को समृद्ध करते हुए। ये देते हैं, पाते है कुछ नही। पाने वाले और लोग हैं जो अपने ज्ञान, सेवा, त्याग, तप आदि की चमकीली दुकान सजाये होते हैं। जो चलते हैं तो जयजयकार होती है, मरते हैं तो जयजयकार होती है, लूटते हैं तो जयजयकार होती है, हंसते है या रोते है तो जयजयकार होती है और सारी गहमागहमी के भीतर झांककर देखिए तो सब कुछ खोखला होता है, नाटक होता है और लगता है कि ये समाज को, राजनीति को, धर्म को न जाने कितने स्तरों पर जर्जर और विकृत करके चले गये हैं। लेकिन मदनेश जी जैसे लोग बिना किसी घोषणा के, शोर-शराबे के अपने आनन्द के लिए सहज ही समाज की कितनी ढीली चूलों को कसते चले आते है, उसके कितने खाली स्थानों को भरते हैं और उसके कितने ही घावों पर अपने प्यार का शीतल लेप लगाते हैं और गुमनाम जीते है, गुमनाम

चले जाते हैं। ऐसे लोगों को जीवन-भर अपने सुख की कथरी सीनी पड़ती है, उसे एक जगह सीते हैं तो दूसरी जगह फटती है, तीसरी जगह फटती है। रामानुज को नौकरी मिलती है और मदनेश जी के अभाव-भरे सन्नाटे में बसंत का कोई स्वर फूटने वाला होता है तो रामानुज पागल हो उठते हैं।

रामानुज कुछ दिनों के लिए हमारे छात्रावास में आ गये थे—किसी मित्र के कमरे में। सितंबर के महीने में हम लोग बाहर सोये हुए थे।

"कौन है ?"

"कौन सोया है ?" मेरी नींद टूट गयी और लगा कोई रामानुज को जगा रहा है। मैंने देखा बाबा सत्यव्रत जी थे।

"कौन है जी, सोने नहीं दे रहा है ?" रामानुज बड़बड़ाये।

"उठो।" कड़कती आवाज में बाबा जी बोले।

रामानुज ने देखा कि बाबा जी जगा रहे हैं तब हड़बड़ाकर उठ बैठे। साथ ही हम लोग भी उठ गये।

"चलो, मेरे साथ आओ।"

हम तीनों मन मारकर उनके पीछे हो लिए। हम घबराये थे। उनके बारे में सुना था कि छात्रों को जगा-जगाकर ले जाते हैं और पांव दबवाते हैं। ब्रह्मचर्य की गर्मी के मारे नींद नहीं आती तो रात को उठ-उठकर घूमते हैं और जिस-तिस छात्र को पकड़ ले जाते है और घंटों पांव दबवाते हैं। हम लोगों ने सोचा, आज बुरे फंसे। उन्होंने रामानुज से कहा—"जाओ, तुम एक बार आश्रम का पहरा जगा आओ।"

रामानुज कांप गये। वे जहां के तहां खड़े रहे।

"क्यों ?"

"मुझे डर लग रहा है।"

"अरे डर कैसा ?"

"चारों ओर चोर-डाकू बिखरे हुए है। डर तो है ही। मैं अकेले पहरा देने नहीं जाऊंगा। इन्हें भी मेरे साथ भेजिए।"

बाबा जी कुछ देर तक चुप रहे। शायद उन्हें इस प्रकार का व्यवहार पहली बार प्राप्त हो रहा था। वे गुस्सैल बहुत थे। हम सोच रहे थे कि उनका कोप अब बरसेगा। लेकिन कुछ सोचकर बोले—"अच्छा जाओ, तुम सभी जाओ। घूम-घामकर मेरे पास आ जाना।"

हम लोग मुक्त होकर आगे बढ़े और एक गली से होकर फिर अपने कमरों की ओर लौटने लगे। बहुत डर रहे थे बाबा जी के कोप से भी और चोरों से भी। उन दिनों आश्रम के आसपास चोरों का खूब आतंक छाया हुआ था। छात्रावास में भी और स्टाफ क्वार्टर में भी खूब चोरियां हो रही थीं। सुना जा रहा था कि कहीं से जरायम-पेशा के ढेर सारे लोग आश्रम के आसपास के बाग-बगीचों में डेरा डाले पड़े हुए थे। वे ही रात को आतंक मचा रहे थे। वे गिरोह में आते हैं और चोरी करते हैं, लूटते हैं, प्रतिरोध करने पर मारते-पीटते भी हैं। कई बार तो रात को छात्रों में और उनमें

पत्थरबाजी भी हुई है। बी० टी० साहब का क्वार्टर थोड़ा किनारे पड़ता है। उनके घर में कई बार चोरियां हो चुकी और उनकी बीवी पिटी भी। आश्रम के चारों ओर खाली सुनसान जगह थी इसलिए लगता था कि आश्रम के चारों ओर एक आतंक चिल्ला रहा था। रात को हम चैन की नींद नहीं सो पा रहे थे। ऐसे में आधी रात को आश्रम के चारों ओर चक्कर लगाना बहुत भयावह था। हम तीनों डरते-डरते बीच के ही रास्ते अपने छात्रावास पर लौट आये।

"रामानुज जी, बाबा जी ने इसके बाद अपने पास बुलाया है।"

"चलो सोते हैं, गोली मारो।"

"बहुत नाराज होंगे।"

"तो क्या कर लेंगे? यह कोई तरीका है कि आदमी सो रहा है तो कोई आकर उसे जगा दे और गुलाम की तरह उसे पीछे-पीछे लेकर चलता बने।"

"अरे भाई, बाबा जी है। संत-महात्मा की कृपा है यह तो।"

"आप लोग सो जाइए, आप लोग कुछ नहीं जानते।"

खैर, हम सो गये। सवेरे जो डाट-फटकार मिलेगी सो सह लेंगे, लेकिन इस समय तो आराम करें।

हम सोये ही थे कि किसी ओर से आवाज आयी—चोर-चोर-चोर—और कुछ पांवों के भागने तथा पत्थर चलने की आहट उभरने लगी। पूरा छात्रावास जाग गया था। किसी स्टाफ क्वार्टर से लोग चिल्ला रहे थे कि चोर चोरी करके भाग गये। रात फटकर बिखर गयी। अब नींद किसे आये? आतंक और आशंका में रात बीती। और ऐसे ही अनेक रातें बीती उस प्रवास-काल की।

15

पहली बार बरहज आए महीना-भर से ऊपर हो गया था। हम घर के लिए हुटकने लगे। घर जाने की तड़प हमें भीतर-भीतर तोड़ने लगी। जन्माष्टमी की छुट्टी पड़ी थी। कपिलदेव और मैंने सलाह की कि घर चलना चाहिए। लेकिन कैसे? बाढ आयी होगी। मीलों पानी फैला होगा। कैसे संभव हो पायेगा? लेकिन घर बुला रहा था। हमने सोचा, जो होगा सो देखा जायेगा, बहरहाल घर चलना चाहिए। यह तय हुआ कि जमिरा तक चलकर लगभग आधी दूरी एक दिन तै कर ली जाय और दूसरे दिन अलख सुबह जमिरा से चल दिया जाये ताकि बाढ़-वाढ़ के बावजूद शाम तक घर पहुंच जायें। जमिरा गांव में हमारे गांव का सम्बन्ध पड़ता था। गांव के कई संभ्रांत लोग आश्रम में थे, उनसे हम लोगों की पहचान हो गयी थी। उनमें से किसी के साथ हम जमिरा पहुंचे। रात-भर उनके यहां रहे। सुबह होते ही वहां से घर के लिए निकल पड़े।

बरहज से चौदह मील की दूरी पर रुद्रपुर कस्बा पड़ता है। अब तो रुद्रपुर और बरहज के बीच पक्की सड़क बन गयी है, तब कच्ची सड़क थी और कोई सवारी नहीं मिलती थी।

रुद्रपुर से हम सड़क छोड़कर पश्चिम की ओर मुड़ जाते हैं। ऊंची-नीची पगडंडियों से चलकर गांव तक की दस मील की दूरी तै करनी पड़ती है। अभी भी यही स्थिति है। रुद्रपुर राजपरिवार के नाते तो जाना ही जाता है, नाथ बाबा के नाते अधिक जाना जाता है। नाथ बाबा यानी शंकर जी। यहां शंकर जी का मंदिर है। मंदिर के पास तालाब है। एक धर्मशाला है और बंदरों की सेना है। यहां शिवरात्रि को बहुत बड़ा मेला लगता है, किन्तु यों भी हर पर्व-त्योहार को आसपास के लोग यहां जल चढ़ाने पहुंच जाते हैं और भीड़-सी लगी रहती है। भीड़ का एक कारण और है, वह यह कि यह जगह केन्द्र में पड़ती है, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन जाने वाले यात्री यहां विश्राम करते हैं, खाते-पीते हैं। यहां से हम भी न जाने कितनी बार गुजरे हैं, न जाने कितनी बार शिवरात्रि के मेले में आये हैं और यहां की धार्मिक हलचलों और रोमांटिक गहमागहमी को देखा है। यहां और गांव के बीच की दुनिया जानी-पहचानी है इसलिए यहां पहुंचने पर लगता है कि घर पहुंच गये। यहां कई बार मेरे पिताजी साष्टांग मुद्रा में आये हैं। साष्टांग मुद्रा में लेटे, लकीर खींचकर खड़े हो गये, लकीर के आगे फिर लेटे, फिर खड़े हुए। इस तरह देवता के थान तक की दूरी तै की। लोग ऐसा धार्मिक उन्माद में भी करते हैं तथा कुछ पाने के लिए (विशेषतया संतान पाने के लिए) भी करते हैं। पिताजी क्यों करते थे, मुझे पता नहीं। यदि संतान-प्राप्ति के लिए करते थे तो मैं उस सीमा में नहीं आता, क्योंकि मुझसे पहले पिताजी की पांच संतानें हो चुकी थीं। यदि मेरी भी प्राप्ति पिताजी को उसी साधना के फलस्वरूप हुई तो यह कितनी विचित्र बात होगी कि पिताजी का पुत्र उनकी उस साधना को मजाक की दृष्टि से देख रहा है। सचमुच इस प्रकार की साधना की परंपराएं कितनी शोषक और व्यर्थ हैं। आदमी की जिन्दगी का कितना वक्त बरबाद होता है, कितना श्रम व्यर्थ जाता है और जीवन-दृष्टि कितनी धूमिल हो जाती है!

हम लोग रुद्रपुर से सड़क छोड़कर पगडंडी की ओर मुड़े तो मन में आश्वस्ति का भाव आया कि अब गांव आ गये। छः मील चलने के बाद भुसउल गांव के पास गोर्रा नदी मिली। मगर नदी है कहां? यहां तो समुद्र है। नदी के कगार तो कहीं लक्षित ही नहीं हो रहे हैं। बाप रे बाप, अब क्या होगा? यहां से गांव तक पानी-ही-पानी···। नाव का पता ही नहीं था। मालूम हुआ कि नाव ठकुराई के मुड़ेरा तक जा रही है, यानी नदी-तट से एक मील और आगे। पता नहीं कब तक नाव आयेगी। हमारे साथ कई लोग नाव के इन्तजार में बैठे थे। हम अंदाज लगा रहे थे कि नौ बजे होंगे, दिन रहते-रहते किसी तरह गांव पहुंच ही जायेंगे, लेकिन नाव आये तब न। एक अजीब ऊब चारों ओर पसरी थी। तेज धूप निकल आयी थी, जिससे ऊब और भी चिड़चिड़ी हो रही थी। कोई बाढ़ को गाली दे रहा था, कोई मल्लाह को—आखिर साले ने एक ही नाव क्यों रखी, एक नाव नदी पार कराती, एक नाव उससे आगे ले जाती। कोई धूप

को गाली दे रहा था, कोई धूप का बचाव करते हुए कह रहा था कि धूप कल्याण कर रही है, यदि पानी बरसता होता तो ?

तेज पुरवा हवा चल रही थी जिससे थोड़ी राहत मिल रही थी। सामने के समुद्र की तरंगें अरराती हुई पुरसा भर उठती थी, गिरती थी। पिघले सीसे-सी एक भारी बजबजाहट दूर-दूर तक बज रही थी। फेनिल उत्तुंग जल-प्रवाह में तेजी से न जाने कितनी चीजें बहती चली जा रही थी—पेड, झोंपड़े, जानवर, कभी-कभी आदमी। बीच-बीच में सूइंस पलथा मारता था। बड़े-बड़े कछुए किसी लाश को ढकेलते हुए चले जा रहे थे। बड़ा भयकारी दृश्य था, लेकिन हम लोगों के लिए नया कुछ भी नही था। हम लोग तो इस सारे परिदृश्य से परिचित थे, उसी से जूझते हुए बड़े हुए थे। आज शहरी दुनिया में रहते-रहते इस दृश्य के बारे में सोचकर डर लगने लगता है, किन्तु तब ऐसा नही था। गाव छोड़ने के काफी दिनों तक बाढ़ की जिन्दगी का संस्कार अपने ऊपर बाकी था।

एक सज्जन जो शायद कस्बे से बाढ देखने आये थे, कह रहे थे—"अरे इन उठती-गिरती कयामत की लहरों में नाव ठहरेगी कैसे ?" लेकिन हमें अनुभव था कि कैसे नाव ठहरेगी। वह ठहरती आयी है और आज भी ठहरेगी। आखिर नाव आदमी की रचना है। आदमी अपनी रचना के द्वारा प्रकृति के कितने ही प्रकोपों का सामना करता है, उसके क्रोध के फणों को नाथता और अपने अनुकूल बनाता आया है। नाव के जरिये आदमी भीषण से भीषण जल के वक्ष पर विचरण करता है, उसमें से फूल, मोती, मछलियां और न जाने कितनी-कितनी अमूल्य वस्तुएं ढूंढ़ता है।

"वो देखो, नाव दिखाई पड़ रही है।" किसी ने कहा।

हम लोग प्रसन्न हो गये। "अरे दिखाई तो पड़ रही है लेकिन उसे यहां पहुचने में दो घंटे लगेंगे।" किसी ने कहा और सबका उभरा हुआ उत्साह कुछ ठडा पड़ गया। फिर भी कुछ सहारा तो बना। अब हम नाव की गति देखने लगे। हमें अपने अनुभव से ज्ञात था कि नाव इस स्थान पर लग सके, इसके लिए उस पार अभी मील-आधा मील दूर ले जायी जायेगी। यही हो रहा था।

किसी तरह जब नाव इस पार लगी तो दोपहर ढलने लगी थी। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था हम चिंतित होते जा रहे थे। मल्लाहों ने कुछ खाया-पिया। थके थे, थोड़ा विश्राम किया। फिर नाव पर आये। खेवे के लिए कुछ देर तक यात्रियों से झां-झा हुई। किसी तरह नाव खुली। वह लहरों के ताल पर तांडव करने लगी और हम अपने सारे बाढ़ संस्कार के बावजूद डर जाने लगे। धारा में कहीं उत्ताल तरंगिता थी, कही गहरे आवर्त थे।

धीरे-धीरे हम नदी पार कर गये। नदी के बाद के पानी में नाव आ गयी तो थोड़ी आश्वस्ति मिली। नाव आगे बढ़ने लगी। अब उसमें थोड़ी गति आ गयी क्योंकि लहरों से जूझने की आवश्यकता कुछ कम हो गयी थी, लेकिन यह देखकर हम परेशान थे कि शाम होती आ रही है। नाव 'ठकुराई का मुड़ेरा' तक जायेगी। उसके बाद न जाने क्या स्थिति होगी। 'ठकुराई का मुड़ेरा' पहुंचते-पहुंचते लगभग पांच बज गये। वहां

से हमारा गांव तीन मील पड़ता है। सामान्य अवस्था में तीन मील की दूरी तो कुछ भी नहीं है, किन्तु इस समय तो यह दूरी पहाड़ बनी हुई है। हमने सोचा—"आज इस गांव में ही ठहर जाया जाय।" लेकिन फिर वही संकोची स्वभाव आड़े आ गया। किससे जाकर कहें कि हम आपके दरवाजे पर ठहरना चाहते हैं। किसके यहां से खाने-पीने की चीजें मांगी जायें। यदि हम निराहार सो गये तो जिसके दरवाजे पर ठहरेंगे वह जिद करेगा खाने-पीने के लिए, और हमारा संकोच इसे संभाल नहीं पायेगा। इसलिए तय हुआ कि हम चलते जायेंगे।

यह सारा कछार-प्रांत है। गांव तक पानी के सिवा और कुछ मिलने की उम्मीद न थी। अतः हम पूछते-पाछते आगे बढ़े। कहीं-कहीं नाले मिले, जिनमें छोटी-छोटी नावें थीं। नाले नाव से पार करते हुए आगे बढ़े। जिस रास्ते जाने से कम-से-कम पानी मिलने की उम्मीद थी वह रास्ता लम्बा था किन्तु इस लम्बे रास्ते से जाने के सिवा और चारा ही क्या था! घुटने-भर, छाती-भर पानी में हलते हुए हम चलते गये। कुछ आस-पास के सहयात्री मिले तो उन्होंने आगे का मार्ग निर्देश कर दिया। लेकिन अब तो रात गहरा गयी थी। नौ से ऊपर हो रहे होंगे। इस बाढ़ में कोई सहयात्री कहां से मिले। हम लोग इन रास्तों से परिचित थे अतः पानी का अंदाज लगाते हुए आगे बढ़ने लगे। रात के अथाह अंधकार के नीचे अथाह जल फैला हुआ था और दो किशोर उसे पार कर रहे थे। जब हम गांव मे लगभग एक किलोमीटर दूर रह गये तो घबराये, क्योंकि इस दूरी में बहुत ऊबड़-खाबड़ जमीन है। नौ और दस के बीच का समय रहा होगा। क्या करें? तब कुछ दूर से आती हुई कुछ आवाजें सुनाई पड़ी। लगा—कुछ लोग बातें करते हुए हमारे आगे-आगे जा रहे हैं। उस रात के सन्नाटे में हमने आवाज दी—"कौन है···?"

"क्या है···?"

"आप लोग आ रहे है कि जा रहे हैं?"

"जा रहे हैं···।"

"आगे कितना पानी है?"

"दाहिनी ओर से घूमकर आओ···बाईं ओर मत जाना, उधर गहरा पानी है।"

हम लोग छाती भर पानी में थे। अब अगर इससे गहरा पानी हुआ तो डूब ही जायेंगे। इस रात के सन्नाटे में पानी के जानवरों का भय और बढ़ गया था। खैर, आगे के लोगों की आवाज के इशारे पर आगे बढ़ते गये। कुछ तो यह जगह अपनी जानी-पहचानी थी, कुछ आगे वालों के इशारे। धीरे-धीरे गांव के पास की पाकड़ के पास आ गये। कुछ देर बाद हम गांव में प्रवेश कर गये तो एक ओर तो राहत की सांस ली, दूसरी ओर अपनी बहादुरी पर गर्व भी हुआ। गांव में सूता पड़ गया था। किसी-किसी घर में दिया टिमटिमा रहा था। घर पहुंचा तो मां जाग रही थी। मुझे देखा तो खुशी मे गोद में भर लिया। फिर जैसे उसे कुछ याद आया—डांटने लगी—'इतनी रात में इस परलय में आने की क्या जरूरत थी? कहीं कुछ हो गया होता तो?" वह भय मे घबरा गयी।

"कौन है ?" कहते हुए पिताजी भी जाग गये। घर के और लोग भी जाग गये और सभी लोग मेरे दुस्साहस पर माथा ठोंक रहे थे।

"क्यों आये तुम इस बाढ़ी-बूढ़ा में, वह भी रात को ?" मां रुआंसी हो गयी थी।

"मां, मुझे लगा कि तू मुझे बुला रही है। डेढ़ महीने हो गये थे न तुझसे बिछुड़े हुए। मैं करता क्या, तूने बुलाया मैं चला आया।"

मां और प्यार से मुझसे लिपट गयी और कपड़े-वोपड़े बदलने को कहकर कुछ पकाने लगी। पिताजी हाल-चाल पूछने लगे।

खा-पीकर सोया तो ऐसा सोया जैसे कब का सोया हुआ नहीं हूं।

आज जन्माष्टमी थी। लोग व्रत थे। बड़े लोगों में तो व्रत रखने का उत्साह धार्मिक कारण से होता है यानी उन्हें पुण्य-लाभ की आशा होती है, किन्तु बच्चों में देखा-देखी उत्साह होता है और खान-पान में थोड़ा बदलाव आयेगा, इस बात की खुशी होती है। लेकिन क्या बदलाव आयेगा ? देहात में फल तो मिलते नहीं, खेत डूब गये हैं इसलिए कांकर-फूट जैसी फसली चीजें भी उपलब्ध नहीं हैं। जब खाने को ही नहीं मिलतीं तो फलाहार कहां से प्राप्त होगा ? हां, दो ही चीजें उपलब्ध हैं—महुए का लाटा और आम की गठली का आटा। ये चीजें तो बच्चे यों ही पा जायेंगे, व्रत रखने की क्या जरूरत ?

सवेरे से ही आकाश में बादल छाये थे। मैं गांव में निकला तो गांव के सारे साथी पूछने लगे—"कब आये ?" मैं अपने आने का वृत्तान्त बहुत रस ले-लेकर बताता और उनकी निगाह में हीरो बनना चाहता था, किन्तु वे यह कहकर मेरे उत्साह पर पानी फेर देते—"भाई, रात को आकर अच्छा नहीं किया। चलो, भगवान् की कृपा से सकुशल पहुंच गये।" फिर वे नयी जगह का हाल-चाल पूछते—"कैसी है जगह, कैसे हैं वहां के रंगढंग ?" और मैं बरहज की जिन्दगी को पसंद न करते हुए भी उसकी महत्ता का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करता ताकि मित्रों को मेरे भाग्य के प्रति ईर्ष्या जगे।

कपिलदेव भी मिल गये। हम कई मित्र गांव के किनारे आकर खड़े हो गये। सामने फैला हुआ विशाल जल-प्लावन हहरा रहा था। हहराने का बजबजाता शोर लगातार गांव में बज रहा था। दिन के प्रकाश में इस बाढ़ को देखा तो उसकी भयावहता और बढ़ गयी और यह सोचकर रोमांच हो आया कि हम रात के गहरे अंधेरे में इसी बाढ़ को चीरते हुए यहां तक पहुचे थे।

"वो देखो सांप-सांप···।"

"अरे वो देखो बड़ा-सा कछुआ···।"

"अरे वो देखो मुरदा···।"

"अरे वो देखो लकड़ी पर बैठा हुआ बिच्छू।"

"अरे वह देखो सियार भाग रहा है।"

"ओह, रात हम इनमें से किसी से टकरा सकते थे !" सोचकर मैं भयभीत हो उठा और कपिलदेव की ओर देखा। वे भी शायद इसी भाव से मेरी ओर देख रहे थे।

देखते-देखते कुछ लड़के पानी में कूद गये और तैरने लगे। कुछ लोग शायद अपने खेत मे मे अपनी फसल की लाश ढोते चले आ रहे थे। एक नाव जाती दिखाई पड़ी। पानी में चल रही जिन्दगी की इस हलचल ने मेरे भीतर के भय को दूर कर दिया। बहुत देर तक हम आदिगंत व्याप्त तेज बाढ़ के किनारे बैठे रहे। बादल थे, तेज ठंडी हवा थी। बादल और पानी के बीच तेज हवा का विस्तार एक और ही अनुभव की सृष्टि कर रहा था। खतरे के किनारे और खतरे के बीच होकर दृश्यों को देखने में कितना फर्क होता है! हम इस समय किनारे थे इसलिए यह भयावह दुनिया रोमांचकारी सौन्दर्य लग रही थी।

"कितना विनाश करती है यह बाढ़ रामदरश भाई!" एक साथी ने कहा।

मैं झटके से बाढ़ के किनारे से बाढ़ के भीतर आ गया।

"आप जानते है क्या हुआ? महेश और राजाराम इस साल बाढ़ में बह गये।"

"अरे कब?" मैंने चौंककर पूछा।

"तीन दिन पहले। वे कपरफोखा मे फसल काटकर ला रहे थे, हजिया नाला में बह गये। पता ही नहीं चला।"

"अरे यह तो बहुत बुरा हुआ। दोनों की विधवाओं का क्या होगा? ये बेचारे तो ऐसे ही बहुत गरीब थे, बेचारी औरतें कैसे जियेंगी?"

"जैसे सारा गांव जी रहा है, वैसे वे भी जियेंगी।"

"नहीं भाई, माना कि गांव के अस्सी-नब्बे प्रतिशत लोग गरीबी से बेहाल हैं, लेकिन जब मरद नहीं होता है तब औरतें गरीबी तो भोगती ही हैं, अपमान भी भोगती हैं, लांछन भी भोगती है।"

"हां, सो तो है।"

एकाएक तेज बारिश होने लगी। हम लोग झपटकर पास के मकान के बरामदे मे आ गये। बरामदा बाढ़ की ओर ही खुलता था। वहां खड़े होकर हम बाढ़ देखने लगे। बारिश की ध्वनि से बाढ़ की ध्वनि मिलकर एक अलग तरह के भीम संगीत की सर्जना कर रही थी और लगता था बाढ के ऊपर कुहरा छा गया है।

'अररर···"

हमने चौंककर देखा—सामने के मकान की दीवार गिर गयी थी। घर में की औरते फटी-पुरानी साड़ियां पहने अपनी लाज छिपाने के लिए आंगन में इधर-उधर भाग रही थीं। उनके चेहरों पर एक दहशत छायी थी। सारा मकान चूता है। ओसारा पहले से ही गिरा हुआ है इसलिए उस घर के पुरुष जिस ओसारे में हम खड़े थे, उसी में जमा थे। वे भागते हुए घर की ओर गए कि कोई दबदबा तो नहीं गया। दीवार जर्जर, छतें जर्जर। एक गिरी, उसकी चिंता जितनी नहीं थी उससे अधिक चिंता बाकी दीवारों की थी। कहीं वे रात को गिरेंगी तो उनके नीचे सारा परिवार दब जाएगा। मुझे अपना अतीत याद आ गया। भइया की साधना से अब हमारे घर को एक सही-सलामत मकान हासिल हो गया था, इससे पहले तो वही हाल था जो सामने वाले घर का था।

मैं इस दृश्य के माध्यम से अपने अतीत में खो गया। लगा हम भीग रहे हैं, दीवारें गिर रही हैं, उपवास हो रहे हैं, रात को सोते-सोते हम चौंक पड़ रहे हैं। जर्जर छतों की लकड़ियों पर सांप लटके हुए है और तितितिति बोल रहे है चूते हुए पानी से बचने के लिए हम खाट यहां से वहा और वहां से यहां सरका रहे है, लेकिन पानी की बूंदें हमारे नंगे शरीर पर गिर रही हैं छन्न-छन्न, जैसे जलते तवे पर पानी···।

फिर आवाज हुई। शायद किसी की दीवार टूटी। और तब मुझे लगा कि गाव के अधिकांश घर तो टूटन की एक ही लय से बंधे हैं। अभाव का एक ही दर्द यहा से वहा तक लोट रहा है। बाढ़ सब कुछ समेट ले गयी।

पानी थमा। हम उस बरामदे में से निकले। 'खांय-खांय-खांय' जोर-जोर से खांसी की आवाज आ रही थी। देखा—हरिहर भाई ओसारे मे लेटे हुए खाम रहे है। उनकी देह जर्जर हो गयी है, एक गंदी फटी-पुरानी चादर ओढ़े हुए है और ओसारे मे पानी खूब चुवा है यहां-वहां···।

"बेचारे महीने-भर से बीमार है। जड़ैया आ रही है। घर खाने-पीने को भी तो कुछ नही है।"

आगे बढा तो लगा हरिहर भाई अकेले नही है, पूरे गांव में खांसी की एक लय बन गयी है। वह लय बीच-बीच में टूटती है, फिर शुरू हो जाती है। पडोस मे आया तो देखा सुमेर काका अपने ओसारे मे गाल पर हाथ रखे बैठे हुए है। मैंने पैलगी की तो उन्होंने आशीर्वाद देकर हाल-चाल पूछा। मैंने उनका हाल-चाल पूछा, तो बोले—"जी रहा हूं।"

अदर से खांसी की भयानक आवाजें आने लगी।

"तुम्हारी काकी हैं।"

काकी मेरी मां की पक्की सहेली थी। मुझे भी बहुत मानती थीं।

मैं अंदर घुस गया। काका भी साथ आए। काकी को प्रणाम किया। वे दीवार की ओर मुह किए हुए थी, प्रणाम सुनकर बहुत तकलीफ से उन्होंने करवट बदली। मैं धक्क से रह गया—वे काकी थीं या काकी की लाश ? आंखें शून्य, पथरायी हुई, चेहरा रक्त-शून्य, बांहें लकड़ी।

"कब से बीमार हो काकी ?"

उन्होंने खांसते हुए बताया—"पन्द्रह दिन से।"

"बड़ी मुसीबत है। इस कछार के जंगल में कोई डाक्टर नही।" मैंने कहा।

"बेटा, डाक्टर भी क्या कर लेंगे ? डाक्टर दवाई दे देंगे न, खाना-कपडा तो नहीं न देंगे। वे हमारे मकान तो नहीं न बनवा देंगे। अब देखो हमारे मकान चूते हैं। हम बाहर भीगते हैं; अंदर भीगते है। रब्बी का अनाज दो-तीन महीने के बाद खतम हो जाता है। वह खाली खाया ही नहीं न जाता, उसे बेच-बेचकर और सारे काम भी तो करने पड़ते हैं और खरीफ का हाल देखते ही हो। हर साल यही तो हो रहा है।"

वे चुप हो गए। उनकी आंखों में वर्तमान से अधिक भयावह भविष्य था। उनकी आंखों में जाने क्या-क्या उभरने लगा—एक स्तब्ध सुनसान, एक निर्मम चट्टान, एक

विषाद, एक डरा हुआ जंगल···

मैं धीरे-धीरे घर चला आया। मेरे लिए तो ये दृश्य नये तो थे नहीं, मैं भी उन्हीं का एक हिस्सा रहा हूं, काफी दूर तक अभी भी हूं। वे ही खेत हैं। काफी कम रबी उगलते हुए, बाढ़ में डूबे हुए, लेकिन भइया की साधना से एक मकान बन गया है जो चूना नहीं और अनाज खत्म होने पर उपवास नहीं होगा, खरीदकर आ जायेगा।

आते ही मां बिगड़ पड़ी—"कहां घूम रहे हो? इतनी देर हो गयी, न खाना न पीना।" देखा उसके गुस्से में अद्भुत तरलता छलक रही थी।

"जरा गांव घूमने चला गया था।"

"क्यों, शहर घूमने से मन नहीं भरा? गांव घूमने में क्या रखा है? क्या नया रखा है गांव में?"

"मां, चाहे दुनिया घूम आऊं, अपना गांव घूमने का सुख ही दूसरा है। अपना गांव तो अपना गांव है न।" और उसके गले से झूलते हुए कहा—"और अपनी मां भी तो अपनी मां होती है न।"

मां मुसकरायी। उस मुसकान को कोई नाम नहीं दे सकता। वह मुसकान बस मां की मुसकान थी।

घर मे घुसा तो देखा—छोटी भाभी नहा-धोकर नयी साड़ी पहने हैं, पांव में आलता लगा रखा है, बहुत सुरुचिपूर्ण शृंगार उन पर बिछा हुआ है। हलके-हलके कोई कजली गा रही हैं। बहुत मीठा स्वर है भाभी का।

"वाह भौजी, जरा खुलकर गाइए न, मौसम भी तो सुने आपका संगीत।"

वे जोर से गाने के स्थान पर चुप हो गयीं। बड़ी भौजी मुसकरायीं। फिर बोलीं—"अरे गा दे न। बाबू सुनना चाहते हैं।"

"आप ही गाइए न दीदी।"

"अरे मुझे गाना आता तो गा ही देती। मुझे कौन शरम थी रे। ये छोटे-छोटे थे तो मैं इस घर में आयी थी। ये बच्चे की तरह मेरी गोद मे खेले-खाये हैं।"

सचमुच हमसे भौजी क्यों शरमातीं। जब वे इस घर में आयी थीं तब मैं बहुत छोटा था। याद है, उन्होंने मुझे गोद में भर लिया था। गाना-बजाना किसे नहीं आता, इस तर्क से उन्हें भी आता है, वे भी औरतों के साथ मिलकर गा-बजा लेती हैं लेकिन वे रंगमयी औरत नहीं कही जा सकतीं। वे प्रायः चुप रहती हैं, कम बोलती हैं, कहा-सुनी के समय भी वे बहुत उग्र नहीं होतीं। उनमें डिप्लोमैटिक स्तर तक पहुंची हुई कथन-मितव्ययिता है। मां और बाद में परिवार के कुछ अन्य लोग कहा करते थे कि और लोग अपनी बातचीत से अपना गुब्बार निकाल लेते हैं किन्तु यह बिच्छू का डंक मारती है। एक डंक मारकर चुप और लोगों में डंक घंटों परपराता रहे। यह तुलना किए बिना भी यह कहा जा सकता है कि छोटी भाभी खुली और रंगीन तबीयत की औरत थीं।

हरिहरि पिया बसे परदेस
खबरि ना लीनी ए हरी

स्वर उठा। भाभी गा रही थीं।

वाह, क्या मिठास थी ! बड़ी भाभी भी मिल गयीं। मां भी आ गयी और देखते-देखते मोहल्ले की कई औरतें आ गयीं। सुखदेई फूआ भी आ गयीं। और सावनी संगीत का एक समां बंध गया।

मैं बाहर चला आया। ओसारे में बैठा संगीत और उसके साथ भाभी-ननद लोगों की चुहलबाजियां सुनने लगा। लगा कि बाढ़ के इस भयावह वातावरण को जीवनेच्छा की चुनौतियां मिल रही हों, उसके पथरीले आतंक को आनंद की छोटी-छोटी लहरें काट रही हों।

सामने नरसिंह के दरवाजे पर लोग जुटने लगे थे। पूजन भाई, बेंचू भाई जैसी हस्तियां तो थीं ही, गंगादीन, किसुना, भीमल, संतू, तिरलोकी, सिनन्नन और भी जाने कितने-कितने लोग थे। इस मौसम में आखिर करते क्या ? बैठकर अपने अभावों और दारिद्र्य का रोना रो सकते थे या माथा पीट सकते थे; लेकिन समूह मानव के लिए यह सहज नहीं है। वह हमेशा चुनौतियां स्वीकार करता है और विषम से विषम परिस्थिति में जीने का रास्ता निकालता रहता है। इस भयावह परिस्थिति में अपने दुःखों का रोना रोने के स्थान पर सामूहिक रूप से हंसना-गाना, कथा-कहानियां कहना, हंसी-मजाक करना, गप्पें हांकना आदि जीवन के रास्ते है।

बेंचू भाई और पूजन भाई में नित्य की तरह बहस शुरू हो गयी थी। दोनों अपनी-अपनी समृद्धि और बड़प्पन की डींगें हांक रहे थे और देश-दुनिया के अपने-अपने अनुभवों की कहानियां सुना रहे थे। ये दोनों बहुत गंभीर थे यानी गंभीरता ओढ़े हुए थे लेकिन और लोग कहकहे लगा रहे थे और उत्तेजित कर रहे थे। मैं भी उस भीड़ में जा मिला और प्रणाम-आशीर्वाद के बाद लोगों ने रस्मी सवाल किया—"कब आये हो बाबू ? सब कुशल-मंगल तो है न ?" फिर गप्प और कहकहों की धारा में सभी लोग निमग्न हो गये। एक बार बेंचू भाई और पूजन भाई एक-दूसरे से लड़ने की मुद्रा में आ गये लेकिन दूसरे ही क्षण बेंचू भाई कजली गाने लगे और पूजन भाई सिर मटका-मटकाकर ताली बजाने लगे, फिर सभी लोग उसी मनःस्थिति में आ गये। सामने अनंत बाढ़ की मौजें गरजती हुई ठाठें मार रही थीं, जिनके नीचे खेतों के सारे सपने दबे पड़े थे। पानी झमाझम बरस रहा था, रह-रहकर दीवारों के अरराने की आवाजें आती थीं और इस बरामदे में बैठे कुछ लोग जैसे अपनी जिजीविषा से प्रकृति को चुनौती दे रहे थे—"देखो बाढ़ रानी, तुम कितना भी अपना विनाशकारी जबड़ा फैलाओ, हम जीते रहे हैं, जी रहे है और जियेंगे। तुम्हें याद है न, आज ही के दिन वासुदेव के यहां एक बालक पैदा हुआ था। आधी रात का समय था, घनघोर वृष्टि हो रही थी, अंधकार की चट्टान के नीचे दुनिया दबी पड़ी थी। प्रकृति अपनी भयावहता में घनीभूत हो गयी थी। ऐसे ही वातावरण को फाड़कर वह बालक पैदा हुआ था जिसका नाम कृष्ण था। उस नन्हे बालक ने मानो हर प्रकार के अंधकार को चुनौती दी। वासुदेव के सिर पर स्थित होकर वह पानी से लथपथ अंधकार में बाहर निकल पड़ा। अंधकार उसके आगे निरुपाय हो गया। यमुना की फुफकारती लहरें उसकी ओर बढ़ीं और उसके चरणों के दबाव से पराजित होकर अपनी औकात में लौट आयी। यही कृष्ण हमारे आराध्य हैं बाढ़ रानी। आज

उन्हीं का जन्मदिन है, आज हम उन्हीं की शक्ति पाने का व्रत रखते हैं।"

न जाने कब ओसारे मे एक छोटा-सा झूला पड़ गया और कुछ छोटे-छोटे बच्चे झूलने लगे। मुझे याद आया—यह झूलों का मौसम है। जिस साल बाढ़ नहीं आती है उस साल के सावन-भादों का क्या कहना! नागपंचमी, राखी, तीज, जन्माष्टमी न जाने कितने पर्व-त्योहार बिखरे पड़े है इस मौसम के आंचल में। धान, बाजरे, मक्के, अरहर, कोदों, सावा टागुन के पौधे लहरा रहे होते है। ठंडी हवा मे भागते बादलों की छांह उड़ती रहती है और युवतियां बागों में झूले डालकर झूलती-झुलाती रहती है—

झूला पड़े कदम की डरिया
झूले राधा प्यारी ना

तब मौसम, फसल, जीवन की गति और सगीत मे एक लय होती है; किन्तु जिस साल बाढ आती है उस साल मौसम और जीवन-सगीत मे एक टकराहट, एक विसवाद उत्पन्न हो जाता है। जीवन का सगीत आहत जरूर होता है किन्तु मरता नही। वह मौसम से टकराकर अपनी भीतरी शक्ति की परीक्षा भी लेता है और विषम स्थितियो मे भी अपने अस्तित्व के प्रति आश्वस्त होता है, आश्वस्त करता है।

कुछ साल पहले की बात होती तो गोवर्धन भाई के दरवाजे पर भीड़ लगी होती। उन्हीं के यहा जन्माष्टमी का उत्सव मनता था। उनके पिता गुदरी चाचा, बाबू चन्द्रभान सिंह के यहा छावनीदार थे। इसलिए जन्माष्टमी का उत्सव मनाने की सारी सुविधाएं उन्हें प्राप्त थी। लोग दोपहर से ही उनके यहा जुटना शुरू करते थे। उनके ओसारे से लगी एक कोठरी थी। उसी मे कृष्ण का जन्म होता था। खुले दरवाजे पर केले के बंदनवार लगते थे। लोग ओसारे में बैठकर रामायण गाते थे। शाम को कृष्ण-जन्म मे पहले भी गाने-बजाने की चहल-पहल रहती थी, कभी-कभी नाटक भी होता था. माधव भाई उस कोठरी मे देवकी बनकर बैठते थे और जैसे बारह बजने को होता, रामायणियों का स्वर बदल जाता और चौपाई गाना छोडकर गाने लगते—

जनमत अति दुख होइ रे,
दैया ऊहूं रे ऊहू

तब तक कोई 'किहां' 'किहा' की आवाज करता और घड़ी-घंट-शंख आदि की सम्मिलित ध्वनियो से वातावरण भर जाता। कृष्ण भगवान् की जय ··जय···जय···से आधी रात की गहन कालिमा का हृदय थर्रा जाता। प्रसाद बंटता और एक दिवस जय दिवस के रूप मे बीत जाता।

कई साल मे यह उत्सव नहीं होता। गुदड़ी चाचा मर गये और उनके घर की हालत ऐसी नही रही कि उत्सव पर कुछ खर्च किया जा सके। इसलिए लोग नरसिंह के दरवाजे पर बैठे-बैठे इसी रूप में उत्सव मना रहे है। वैसे गांव के कुछ सम्पन्न लोग इस उत्सव का आयोजन कर सकते है, लेकिन सम्पन्नता और उत्सव का कोई गहरा सम्बन्ध हो, ऐसा नही है। उत्सव के लिए उत्साह भी चाहिए और सम्पन्न लोगो में उत्साह तो होता है मगर बटोरते रहने का, खर्च करते रहने का नही।

16

बाढ़ में घिरा रहने के कारण कई दिनों तक गांव में ही रह गया। गांव के साथियों में बहुत-से लोग गांव से बाहर थे। आठ-दस दिन बीत गए। गांव से दूर रहकर उससे अपना सम्बन्ध इतना गहरा हो गया था कि गांव में अकेलापन अनुभव करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। बरहज के अजनबीपन के अनुभव के बाद गांव में रहना बहुत अच्छा लग रहा था। वह और वेग से मुझे पकड़ रहा था।

बाढ़ खिसकने लगी थी। लगता था जैसे कोई धीरे-धीरे उसके जल का आंचल खींच रहा हो। बाढ़ का होना बरहज न जाने का एक बहाना बन गया था। बाढ़ खिसक रही है, के साथ-साथ यह बहाना भी खिसक रहा था। दो-चार दिनों में जाना है, सोचकर मन भर आ रहा था।

बाढ़ में से जमीन का एक टुकड़ा उभरा, दूसरा उभरा, तीसरा उभरा और जमीन उभरती ही चली गयी। गीली-गीली साफ-सुथरी जमीन सुबह-सुबह जैसे मुंह धोकर उठ बैठी होती। धीरे-धीरे बाढ़ हट गयी और गीली जमीन पर आदमियों के पैरों की छाप अंकित होने लगी। पानी अब नीची जगहों पर ठहर गया तथा नालों और नदियों के भीतर आ गया। किसानों की उजड़ी आंखों में फिर नयी फसल के सपने जागने लगे। खाली कैनवास पर चित्र की लकीरें उगने लगीं। मैंने इन दस-बारह दिनों की फुरसत में एक राष्ट्रीय भाव का खंड-काव्य लिखना शुरू कर दिया था। कथा चक्रव्यूह में घिरे अभिमन्यु की थी। छंद था कवित्त-सवैया। रास्ता साफ होते ही मैं अपने दस-बारह छंद लेकर मदनेश जी के पास पहुंच गया। उन्होंने छंद सुने, उनमें आवश्यक सुधार किये और आगे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। चलते समय रामानुज के लिए कुछ रुपये दिये।

नियत दिन पर हम बरहज के लिए रवाना हुए। इस बार मन और भारी हो गया, कुछ उसी तरह जैसे कोई लड़की ससुराल से पहली बार मायके आयी हो और ससुराल के लिए ससुराल के अप्रीतिकर अनुभवों को लेकर विदा हो रही हो।

थके-मांदे शाम तक बरहज पहुंचे तो पंडित जी ने अपना क्रोध जाहिर किया—"कहां रहे इतने दिन? ऐसे कैसे तैयारी होगी? कितना कुछ पढ़ा दिया गया है।"

उन्हें अपनी कथा सुनाई तो शान्त हुए।

सब कुछ यों ही चलता रहा। समय बीतता गया। जाड़ा आ गया। मैं कवि रूप में यहां जान लिया गया था। एक दिन एक चिट्ठी मिली। निमंत्रण-पत्र था, पड़रौना से आया था। पड़रौना में एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हो रहा था। पंडित सिंहासन तिवारी के पास भी निमंत्रण आया था। मैं बहुत चकित था कि इतने बड़े कवि-सम्मेलन का निमंत्रण मुझ जैसे अत्यन्त अनाम व्यक्ति के पास कैसे आया। उसी दिन शाम को सत्यव्रत जी मिले, उन्होंने पूछा कि पड़रौना से निमंत्रण आया है? मैंने कहा—"हां।" "ठीक है।" कहते हुए वे आगे बढ़ गए और मैंने अनुमान कर लिया कि बाबा

जी ने ही कवि-सम्मेलन के आयोजक रामबचन जी को मुझे बुलाने के लिए कह दिया होगा।

मन में बड़ा उत्साह था और प्रतीक्षा थी उस शुभ दिन की। भीतर-भीतर एक दहशत भी थी कि बड़े-बड़े कवियों के बीच कैसे कविता पढ़ूंगा। आखिर वह दिन आ गया। बरहज से कई लोग पड़रौना के लिए रवाना हुए। वहां से ट्रेन से भटनी, भटनी से गोरखपुर, गोरखपुर से पड़रौना। हम वहां पहुंचे तो एक टेंट में ठहरा दिए गए। पड़रौना के राजा आतिथेय थे। उन्हीं की ओर से सारी व्यवस्था हुई थी। टेंट के खम्भों में बिजली के स्विच और ऊपर बल्ब लगे थे। बिजली लगे कमरे में या जगह में रहने का यह मेरा पहला अवसर था। स्विच को दबाते ही फट से प्रकाश का हो जाना और दबाते ही उसका गुल हो जाना मेरे लिए कौतूहल का विषय बन गया था और मैं इस कौतूहल से गुजरने लगा। जहां टेंट लगा था वह रेतीली जगह थी। वह गंडक नदी का कछार था। चारों ओर नदी के कछार में हरियाली फैली थी और कार्तिक पूर्णिमा का अवसर होने के कारण मेले का जनसमूह भी फैला हुआ था। और अवसर होता तो मैं इस प्राकृतिक और पर्वतीय सौन्दर्य को निहारता, किन्तु मुझे तो एक नया परिदृश्य मिल गया था। प्राकृतिक सौन्दर्य और पर्वीय छटा को तो मैंने बहुत जिया है, मेरे लिए कोई नयी बात नहीं थी, किन्तु इस प्राकृतिक छवि के विस्तार के एक खंड पर विद्युतीकृत नागरिक परिवेश और कवि-समूह-जन्य वातावरण बहुत नया और आकर्षक लग रहा था। लालटेन में तेल डालना, उसका शीशा साफ करना, उसमें बत्ती डालना फिर दियासलाई खोजना, दियासलाई यदि भीगी हुई तो बत्ती पर बत्ती खर्च करना—लालटेन जलाने की इस प्रक्रिया से ऊबे हुए मन को बिजली का स्विच जलाकर ढेर-सा प्रकाश मिल जा रहा था। यह कितना आकर्षक और विस्मयकारी था ! विज्ञान का यह सौन्दर्य मन को अभिभूत कर रहा था और उसके वातावरण में अद्भुत वेशभूषा में आये हुए कवियों को देखना भी एक अनुभव था। अपने पास क्या था ? बचपन से ही मामूली धोती, मामूली कुर्ता या कमीज, सिर पर टोपी, पांव नंगा। याद नहीं इस समय मैं नंगे पांव था या जूता पहनना शुरू कर दिया था। ऐसा नहीं है कि इसके पहले जूता पहना ही नहीं था। कई बार चमरौधा जूता लिया था और शादी में पंप शू भी पहना था, लेकिन जूते काट-काट देते थे और मैं यह मान बैठा था कि मेरा पांव जूते के लायक है ही नहीं। इसका कारण यही था कि लगातार जूता पहनने का अभ्यास न होने से गाहे-बगाहे पहना हुआ जूता पांव काट देता था। देहात में नंगे पांव होना कोई बेइज्जती की बात भी नहीं थी, क्योंकि अधिकांश लोग बगैर जूते के ही होते थे। इसलिए जूताविहीन होने पर भी तब हम हीनता-बोध के शिकार नहीं थे। यही वजह है कि मुझे याद नहीं कि इस कवि-सम्मेलन में नंगे पांव था या जूता पहने था, लेकिन जब दूसरे लोगों को विशेष-विशेष वेशभूषा में सजे-बजे देखा तो अपने भीतर हीनता-बोध हुआ हो या न हुआ हो, मैं इस माहौल से चमत्कृत अवश्य हुआ।

स्वयं राजा साहब पड़रौना चूड़ीदार पायजामा, अचकन और टोपी में बहुत विशिष्ट लग रहे थे। वे आये थे और प्रबन्ध का मुआइना कर गये थे। बच्चन जी भी

काली शेरवानी में थे। श्यामनारायण पांडे धोती, कुर्ता, जवाहर जैकेट और टोपी में थे। सनेही जी की अपनी छवि थी। आसपास के शहरों से कई ख्यात कवि आये थे, उन सबकी अपनी-अपनी छवि थी। कुछ लोग कोट-पेंट में भी थे।

टेंट के भीतर ही टाट के परदों से कुछ कमरे बनाये गये थे जिनमें विशिष्ट कवियों को ठहराया गया था। हम लोग तो टेंट के हॉल में ठहराये गये थे। मालूम पड़ा कि उस टेंट में बच्चन जी है। मैं उन्हें देखना चाहता था। उन दिनों बच्चन जी की ख्याति का क्या कहना था। उनकी मधुशाला किशोर, जवान, बूढ़े सबके भीतर छलक रही थी। अतः उन्हें एक झलक देखने की इच्छा मुझे थी, साथ आये लोगों को भी थी। हम उनके टेंट के पास जाकर खड़े हो गये। उस टेंट मे कई आरामकुर्सियां लगी थी। कई कवि तैयार होकर (कवि-सम्मेलन में जाने का समय हो गया था) बैठे थे। चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी पहने घुंघराले बालों वाले एक कवि का मुंह द्वार की ओर ही था, उन्होंने आंख उठाकर हमारी ओर देखा। हम सकोच से द्वार पर से खिसक गये। सिंहासन तिवारी जी ने कहा—"यही बच्चन जी है।" स्वप्निल आंखों वाले बच्चन जी की पहली झलक मुझे अभिभूत कर गयी। सहज ही इच्छा हुई कि काश, बच्चन जी मुझे जानते। लेकिन बच्चन जी मुझे क्यों जानने लगे ? मुझको अभी था क्या जिसके नाते वे मुझे जानते और मेरा स्वभाव ऐसा कि उनके देखते ही द्वार पर से ऐसे खिसका मानो चोरी करते हुए देख लिया गया होऊं।

कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। न जाने कहा-कहा से लोग कंबल-दरी लेकर कविता सुनने आये थे। आज के कवि-सम्मेलनी परिदृश्य को देखता हूं तो वह दृश्य याद आता है। तब के परिदृश्य में कितनी काव्य-निष्ठा और सहज गंभीरता थी। लोग कविता सुनने आते थे और कवि लोग कविता ही पढ़ते थे। आज मंच पर भड़ैती होती है या गाना होता है और श्रोता शोहदो की तरह उनका मुजरा लेते है और रिमार्क कसते हैं।

कवि-सम्मेलन में मंच की तीन बड़ी हस्तियां थीं—बच्चन जी, श्यामनारायण पांडे और गयाप्रसाद शुक्ल सनेही। और काफी कवि जिला या प्रदेश-स्तर के ख्यात कवि थे। बच्चन जी का अपना रंग था। पहली बार उन्हें सुना। मधुशाला सुना रहे थे। कविता पारदर्शी, कवि का कंठ मीठा, कवि और श्रोता के बीच मानो प्रेषणीयता की सहज लय तन गयी हो। बच्चन जी बंद की तीन पंक्तियां पढ़कर जब चौथी पंक्ति के आधे पर आते थे तो शेष आधा भाग उनके साथ ही जनता बोल उठती थी। मधु-शाला आ ''मधुशाला आ'''की एक अनुगूंज उस रात के सन्नाटे में तैर रही थी। बच्चन जी के रूप-रंग, कंठ, घुंघराले बाल, स्वप्निल आखें और मधुशाला की छलकती हुई पंक्तियां'''बच्चन जी उस समय मुझे कितने प्रभावशाली लगे थे, कह नही सकता। कुछ दिनों बाद जब मैं रामानुज के साथ गाव आ रहा था तब रामानुज अपने मधुर कंठ से बच्चन जी की पंक्तियां गा रहे थे—

नंदन वन में उगने वाली
मेहंदी जिन तलवों की लाली

मैं उन तलवों से चिर परिचित
मैं उन तलवों का चिर ज्ञानी
वह पगध्वनि मेरी पहचानी

मैंने उनसे कहा—"मेरी भी इच्छा होती है कि बच्चन जी की तरह शेरवानी-पायजामे में रहूं और कवि-सम्मेलनों में जाऊं।" तो रामानुज ने कहा—"पोशाक में कुछ नहीं होता, वैसा गुण भी होना चाहिए। पहले बच्चन जी जैसी ऊंचाई प्राप्त करनी चाहिए तभी ऊंची पोशाक भी अच्छी लगेगी।" उनकी बात सुनकर मैं हतप्रभ हो गया। वे ठीक कह रहे थे। अभी मुझमें क्या है जो यह पोशाक पहनूं—न श्रीमंत हूं, न प्रज्ञावंत हूं, न उच्चपदस्थ हूं। एक सामान्य घर का, राष्ट्रभाषा का सामान्य विद्यार्थी जो घर से स्कूल तक, बाजार से क्वार्टर तक सीधा-सामान ढोता है। जिसके सिर पर अभी गठरी लदी है, उसे ऐसी ऊंची-ऊंची बातें नहीं सोचनी चाहिए। लेकिन मन नहीं मानता, कभी-कभी ऊंचे सपने देख ही लेता है और फिर अपनी स्थितियों के दायरे में लौटकर उदास हो जाता है। रामानुज की बात सुनकर उदास हो गया था।

मैं कहां चला गया। कवि-सम्मेलन की बात कर रहा था। दूसरे कवि थे—श्यामनारायण पांडे। उन्होंने हल्दीघाटी लिखी थी और हल्दीघाटी भी मधुशाला की तरह छायी हुई थी। मधुशाला की तरह इसमें भी अद्भुत प्रेषणीयता थी। धोती-कुर्ता, जवाहर जैकेट और टोपी में श्यामनारायण जी की भी छटा प्रभावशाली थी। उन्हें भी पहली बार कविता पढ़ते देख रहा था। वे वघोआं बैठ गये और एक ठसकभरी आवाज में एक विशेष अंदाज के साथ हल्दीघाटी का युद्धसर्ग पढ़ने लगे—

निर्बल बकरों से बाघ लड़े
भिड़ गये सिंह मृगछौनों से
घोड़े गिर पड़े, गिरे हाथी
पैदल बिछ गये बिछौनों से

प्रताप, चेतक, तलवार आदि की त्वरा—मानो दृश्य पर दृश्य उपस्थित होते चले जा रहे थे। मधुशाला के भीगे मादक वातावरण के बाद युद्ध का शौर्य-उत्तेजक गतिशील प्रवाह-सा बहने लगा था। बिजली चमकती थी, बादल गरजते थे, मूसलाधार जल बरसता था। अद्भुत अनुभव था। पांडे जी का कवि-व्यक्तित्व अपनी अलग छटा बिखेर रहा था। पांडे जी मादक मधुर कविता के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने हल्दीघाटी का अध्याय पढ़ने के पहले अपना परिचय दिया था—जिसकी दो पंक्तियां याद आ रही है—

शिष्य हरिऔध का हूं, कविता
कहने में न पानी पिया करता हूं
कविता मैं जनानी नहीं करता
कविता मरदानी किया करता हूं

उनकी इन पंक्तियों से और कुछ प्रारंभिक व्यंग्यात्मक टिप्पणी से यह बात जाहिर हो गयी थी कि वे बच्चन की मधुशाला या उनकी कविता की श्रृंगारिक प्रवृत्ति पसंद नहीं करते हैं।

तीसरे कवि सनेही जी थे। मैं पहले लिख चुका हूं कि मैं मदनेश जी के माध्यम से सनेही जी को, मैं दर्जा छ: में था, तब से जानने लगा था। उन्हें हिन्दी का उस काल का सबसे बड़ा कवि मान लेने का अज्ञान भी पाल बैठा था जिसका निराकरण बिकाऊ पंडित जी ने कर दिया था। मैं ढरसी में था तो सुकवि में मेरी कुछ समस्यापूर्तियां भी छप चुकी थीं अतः सनेही से एक लम्बा भीतरी लगाव मैं महसूस करता था। उन्हें मंच पर देखा तो बहुत अच्छा लगा। सुना था भांग लेकर पढ़ते थे। उनकी आंखों में भांग का असर दिखाई पड़ा। धोती-कुर्ते में उनकी भारी काया अपना अलग असर छोड़ रही थी। उन्होंने कविता-पाठ आरंभ किया तो लगा कविता तीसरा माहौल धारण कर रही है। कवित्त की लय पर डग-डग हिलती हुई, ठिठक-ठिककर बढ़ती हुई आवाज का अपना वैशिष्ट्य था। एक चरण पूरा होने पर बिना सांस लिए दूसरे चरण की प्रारंभिक पदावली पर उतर आना पढ़ने की एक विशेष अदाकारी का सूचक था। सनेही जी ने सभा में ब्रज-भाषा काव्य का रंग उतार दिया था, उसकी यमक और श्लेष-मूलक वक्रता की छवि बिखेर दी थी। श्रोता इनकी कविताओं का उसी प्रकार रस ले रहे थे जिस प्रकार मधुशाला और हल्दीघाटी का लिया था। उन्होंने खड़ी बोली में भी एक सवैया • सुनाया था—

चबाई चबाव से चूकें नहीं
किसकी नहीं बातें सहीं कह दीजिए
रही सो सही, न रहीं सो सहीं
अब क्या सहने हो रहीं कह दीजिए
सनेही न तो भी सनेही हुए
भ्रम से ही सनेही कहीं कह दीजिए
नहीं नहीं में नहीं साफ है हां
कित हां कहिए या नहीं कह दीजिए।

कवि-सम्मेलन दो दिन तक का चला—रात को भी, दोपहर को भी। मैंने भी कविता पढ़ी। मेरे जैसे बहुतों ने पढ़ी। मुझे यह बोध नहीं था कि बड़े कवियों में से किसकी कविता अपने समय के चरित्र के साथ अधिक जुड़ी है, किसकी कम और किसकी नहीं जुड़ी है। इस समय तो मैं रस-भोक्ता था। जो कविताएं अच्छी लग रही थीं, लग रही थीं, उनमें मैं भीग रहा था और कवि-सम्मेलन के समापन पर मैं भीतर से बहुत भरा हुआ अनुभव कर रहा था—प्रसन्न और तृप्त। बाद में बहुत-से कवि-सम्मेलन देखे, प्रसिद्ध होने पर बहुत-से कवि-सम्मेलनों में खूब तारीफ भी पायी, लेकिन पहली बरसात पड़ने पर जमीन से उठने वाली पहली खुशबू की तरह कवि-सम्मेलन की जो प्रथम हलकी गंध ढरसी में मिली थी उसी का घनीभूत रूप पड़रौना में मिला। यह मेरे

लिए एक सहज अनुभव था, बाद में तो कवि-सम्मेलन अभ्यास बनता चला गया।

उस समय कई जनपदीय कवियों को देखा जो कुछ ख्यात हो चुके थे। उनमें एक थे रामनारायण शास्त्री। वे गीता प्रेस में काम करते थे। उनके कवित्तों की सराहना सनेही जी भी कर रहे थे। एक थे कवि रामलाल। वे भी सनेही जी से हिले-मिले प्रतीत हो रहे थे। वे बड़े ही चलते-पुरजे के कवि मालूम पड़ रहे थे। उन्होंने अपनी कविता सुनाई। नक्की सुर में बोलते थे—

इस दुनियां में पांप कहां है।

इस पंक्ति को वे बार-बार दुहरा रहे थे। किसी श्रोता से नहीं रहा गया, वह पीछे से बोल उठा—

रांमलांल के बाप जहां हैं।

एक ठहाका पड़ा। रामलाल जी थेथर कवियों में से थे। वे हतप्रभ नहीं हुए, सुनाते ही गये।

एक थे धरीक्षण जी। निपट देहाती कवि। गांधी जी की तरह कौपीन धारण किये हुए, बगल में कंबल और लोटा दबाये हुए। शायद खड़ाऊं पहने थे। किन्तु इस देहाती कवि ने अपनी प्रतिभा का खूब रंग जमाया। इन्होंने कुछ श्लेषयुक्त दोहे सुनाये, जिनका रंग खूब जमा। कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं—

टीचर—टी माने कुछ पान कर

चर माने कुछ खाय

विद्यार्थी—विद्या की अर्थी बना इम्तहान के घाट

इन दोहों की दूसरी पंक्तियां ठीक से याद नहीं है। धरीक्षण जी ने कवि-सम्मेलन के अंतिम दौर में पड़रौना पर कविता सुनाई—

क्या क्या देखा पड़रौना में
···ज्यों सांप छिपा हो लौना में

कवि-सम्मेलन का आखिरी दृश्य वैसा ही था जैसा बाद के वर्षों में भी अनुभव करता रहा। बड़े कवियों को तो उनकी मांग के अनुसार अच्छे पैसे दे दिये गये होंगे, किन्तु नये या अप्रख्यात कवियों को किराया मिलना भी कठिन हो गया। कवि रामवचन जी को घेरे हुए पैसे मांग रहे थे किन्तु रामवचन जी बड़े-बड़े पेमेंट कर लेने के बाद अपनी जेब के नंगेपन का रोना रो रहे थे। हमें भी कठिनता से किराया मिला था। धरीक्षण जी ने वहीं उदास मन से एक कविता सुनाई—

पड़रौना में पड़ रोना है

पड़रौना से हम विदा हो गये, किन्तु उस कवि-सम्मेलन की गूंज मेरे मन में बनी रही। बड़े और प्रसिद्ध कवियों से परिचय की लालसा मन में उदित हुई। इसका एक

अवसर कुछ समय बाद आया तब मैं बरहज छोड़कर दुबारा ढरसी जा चुका था और सुना कि पड़रौना मे एक कवि-सम्मेलन हो रहा है। इच्छा हुई वहां जाने की। गुरुवर रामगोपाल शुक्ल ने भी उत्साहित किया। वहा गया। देवरिया जिले के कुछ साहित्यकारों से परिचय हो ही गया था। वहां जाने पर उनसे भेंट हुई। अनाहूत गया था फिर भी कविता सुनाने का अवसर मिला। श्यामनारायण पाडे वहा गये थे, उन्होने मेरी कविता सराही। इस बहाने मैं उनके निकट हो लेना चाहा। उनसे बात करने लगा। कवि-सम्मेलन चल ही रहा था कि वे उठ गये। मैं भी उनके साथ हो लिया। वे खाना खाने गये। मै भी गया। खाना परोसने वाले ने मेरी ओर देखा। उसे लगा कि मैं कोई बडा कवि नही हू। मुझे बुलाया नही गया होगा। उसने पाडे जी और उनके साथी को खाना परसकर मुझसे पूछा—"आप आमन्त्रित है ?"

मैंने कहा—"नही।"

उसने तिक्तता से कहा—"अभी सारे आमत्रित कवि बाकी है, उनसे पहले तुम्ही खाने चले आये!"

मै बहुत अपमानित हुआ। पाडे जी ने उसे डाटा—"क्या हो गया ? आपको इस तरह नही बोलना चाहिए। ये ही लोग कल के कवि है।"

मैं उठ खडा हुआ। गुस्सा आता कि इस बदतमीज रसोइया पर एक ईंट मार-कर जाऊं, तब तक पाडे जी ने मुझसे साधिकार कहा "बैठो।"

मैं संकुचित होकर बैठ गया। खाना भी खाया लेकिन लगा—खाना नही अपमान खा रहा हूं। मन ही मन निश्चय किया कि जब मै बडा कवि हूगा तो पडरौना वालो के निमत्रण को लात मार दूगा। आज इस कस्बे ने मेरा अपमान किया है, कल मैं करूंगा। जब मैं जाना जाने लगा, जब कवि-सम्मेलनो मे मेरी खूब पूछ होने लगी, तब कई बार पडरौना भी गया, वहा सम्मान भी खूब पाया, किन्तु उस बदतमीज रसोइया के उस अपमान का एक बिन्दु जो मेरी याद मे अकित हुआ, वह अब तक बना हुआ है।

उस बार पाडे जी के साथ ही गाडी मे बैठा, गोरखपुर गया। वहा से वे बनारस वाली गाडी मे बैठे तो मै भी उसमे बैठा और जब चौरी-चौरा उतरा तो उनसे काफी लगाव हो चुका था। पाडे जी प्रसिद्ध हो चुके थे किन्तु उनमे देहाती सस्कार था। सस्कृत पाठशाला मे पढाते थे अतः उनमे पद का भी आभिजात्य नही था। इसलिए मैं सहज ही उनकी निकटता पा सका। किसी शहरी स्वभाव वाले प्रख्यात कवि के निकट हो लेना इतना सहज नही हो पाता। जब मैं बनारस गया तब तो पाडे जी मुझे बहुत गहराई से समझने-बूझने लगे। वे मेरी उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों ही अवसरो पर मेरी चार पंक्तियां पढते —

आधियो मे भी दिवा का दीप जलना जिन्दगी है
पत्थरो को तोड निर्झर का निकलना जिन्दगी है
चाहता हूं मैं किसी छाया तले निश्वास ले लू
किन्तु कोई कह रहा दिन-रात चलना जिन्दगी है

कुछ लोगों ने तो यही समझ लिया कि ये पंक्तियां पांडे जी की ही हैं और वे मेरी इस कविता को जानने वालों से लड़ बैठे। पांडे जी से पूछने पर उन्हें मालूम पड़ा कि ये पंक्तियां उनकी नहीं, मेरी हैं जिन्हें वे प्यार से कवि-सम्मेलनों में पढ देते हैं।

बहरहाल ये बातें बाद की है, अभी तो मैं कवि-सम्मेलन से बरहज की ओर लौट रहा था।

17

साल बीत गया। विशारद की परीक्षा पास कर ली। बरहज मेरे लिए उसी तरह शुष्क बना रहा। गर्मी की छुट्टियों में घर रहा। जुलाई आते ही साहित्यरत्न पढ़ने के लिए बरहज रवाना हो गया। कपिलदेव साहित्यरत्न करने नहीं गये, घर पर ही रह गये। वह साल उन्होने घर पर ही काटा। उस साल घर जाने पर लोग कहते कि कपिलदेव तो भैंसवार हो गये है। वे भैंस की पीठ पर बैठकर हाथ मे लाठी लिए घूमते हैं। मुझे भी लगा कि उनका मन पढने से उचट गया है या कि विशारद करने के बाद उन्हें कोई लक्ष्य नही दिखाई पड रहा है। बहरहाल मैं अकेला ही बरहज गया। कपिलदेव का साथ छूट जाने से बरहज-यात्रा का अकेलापन और डंसने लगा।

इस बार बरहज के लिए निकला तो हलकी-हलकी झींसी पड़ रही थी। रात खूब पानी बरसा था। गाव से निकलते ही खलिहान वाले पाकड़ के नीचे एक बड़ा-सा सांप दिखाई पड़ा जो या तो आलसी किस्म का सांप था या पानी मे भीगकर सुस्त पड़ गया था। यात्रा की शुरुआत सांप से ही होनी थी! मन में एक भय समा गया। कछार की कीचड़-पानी से भरी हुई भूमि पार करता, सिर पर एक भीगा दिन लादे हुए, मन में फिर घर छूटने की उदासी भरे हुए बरहज की ओर चला जा रहा था। बुरी तरह थक गया था और शाम भी गहरा गई थी इसलिए बरहज से दो मील पहले स्थित परसियां गांव में रुक गया। वहां मेरी चचेरी बहन ब्याही हुई थी। वहीं रुक गया। वैसे मुझे अपने ही सम्बन्धियों के यहां जाने में संकोच होता है, वे तो दूर के पट्टीदार की बहन थी। किन्तु बाहर-भीतर से इतना थक गया था कि रुकने के सिवा कोई चारा नहीं था।

खा-पीकर बरामदे में सोया। हलका-हलका पानी पड़ रहा था। रात को लगा कि खाट पर मेरी बगल में मेंढक रिरिया रहा है। कुछ देर तक सुनता रहा, फिर सिर घुमाकर देखा। मेरे तो होश उड़ गये। मेरी बगल में एक सांप था, वह एक मेंढक को दबोचे था। मेंढक रिरिया रहा था। मैं झटके से दूसरी ओर उतर गया और बोला—"सांप—सांप!" मेरे चचेरे बहनोई पास की खाट पर सोये थे और अन्य खाटों पर बच्चे सोये थे। वे झटके से उठे और सारे बच्चों की बांह पकड़-पकड़कर नीचे फेंकने लगे। साथ-साथ चिल्लाते गये—"भागो रे भागो—सांप!" हम सभी रिमझिम

बारिश के तले बाहर खड़े थे और टार्च से सांप की खोज होती रही। इतनी आहट में सांप कहां रुकता? वह पास के मुसौले में चला गया होगा। वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। मुझे लगा कि अब सभी लोग मुझे अविश्वास से देख रहे है। लोगों ने कहा—"तुम्हें भरम हुआ होगा।" अब उन्हें क्या समझाता, जो चीज मैंने स्वयं अपनी आंख से देखी है उसके बारे में भ्रम कैसा? यह भावना का प्रश्न तो था नही, यह तो मूर्त वस्तु थी जिसे मैंने स्वयं देखा था। अविश्वास से सत्य की टकराहट बड़ी यातनाप्रद होती है। इस यातना को लिए-दिए मै फिर ओसारे मे लेटा और लोग लेटे। नीद किसी को नही आ रही थी। सभी लोग साप से अविश्वास करके भी सांप से डरे हुए थे। मैं साप को देखकर तो डरा ही हुआ था, लोगो के अविश्वास की चोट भी सोने नही दे रही थी।

सुबह हुई। मुझे ज्ञात था कि उस गाव मे मेरी मौसी भी थी—सगी मौसी। रामनिहोरा जी मे उनके बारे मे पूछा तो बोले—"हां, है तो। मिलना चाहोगे?"

मेरी मां बहुत याद आ रही थी। मुझे लगा कि मौसी की आखो मे शायद मा की आखे दिखाई पड़ जायें और गृहता का कुछ सतोष मिल जाय। इसलिए मौसी से मिलने की तड़प भीतर जाग उठी थी। मैंने कहा—"हां, मिलना चाहूंगा।"

"वे लोग बहुत गरीब है।"

"तो क्या हुआ?"

"चलो।"

उनके साथ मौसी के घर पहुंचा। वे एक टूटी-फूटी झोपड़ी के सामने खड़े हो गये और आवाज लगायी—"चाची!"

एक औरत बाहर निकली। उसके शरीर पर साड़ी के नाम पर साड़ी के चिथड़े थे। मैंने देखा मुह हूबहू मां के मुंह की तरह, आंखों मे वही तरलता, लेकिन जब तक मै कुछ कहूं वह औरत एक अजनबी को देखकर भीतर की ओर भाग गयी। रामनिहोरा पहुना चिल्लाये—"अरे चाची, ये तुम्हारे बेटा है, तुम्हारी बहन के पुत्र।"

मौसी ने भीतर से सुन लिया था। वे अपेक्षाकृत एक ठीक-ठाक साड़ी पहनकर बाहर आयीं तो मैने प्रणाम किया। हम खाट पर बैठ गये। मौसी नीचे ही एक पीढ़े पर बैठ गयी। "क्या हालचाल हैं बहन के?" उन्होंने पूछा।

"अच्छा है। मा आपको बहुत याद करती है। कहती है—आप उसकी बहुत लाडली छोटी बहन थी। कहती है, बहुत दिन से भेंट नही हुई।"

मौसी मेरे सामने जरूर बैठी थी लेकिन उनकी आखे अपनी अफाट गरीबी के कारण संकुचित हो रही थीं, उनमे गहरी दयनीयता भरी हुई थी जिसका साक्षात्कार करना कठिन हो रहा था। उनकी आंखें भर आयी, चेहरा पिघलकर चूने लगा।

"बहुत दिन हो गये बहन से मिले हुए। विवाह के बाद तो कभी भेट ही नहीं हुई। लगता है अब भेंट होगी भी नही।"

मौसी चुप हो रही फिर बोली—"कहां से भेट हो, एक बार जो ससुराल आयी, नइहर जाने की नौबत ही नही आयी। नइहर वालों ने कभी बुलाया ही नहीं। उन्होंने कभी-कभार तर-त्योहारी भेजवा दी लेकिन…" वे रोने लगीं। फिर फफकती हुई

आवाज में बोलीं—"मेरे लिए तो नइहर वाले मर गये।"

मुझे लगा कि मौसी नहीं, सारे गांवों की बेटियां मेरे सामने बैठी रो रही हैं। लोग अपनी गरीबीवश या लड़की जाति के प्रति उपेक्षाभाववश लड़की को ससुराल में ठेलकर उसके प्रति अपने कर्तव्य और प्रेम की इतिश्री समझ लेते हैं। शुरू-शुरू में रस्म-अदायगी के लिए शादी-ब्याह के अवसर पर बुला लेते हैं, फिर वह भी नहीं करते। उसे अपनी ससुराल में अपने भाग्य पर मरने-जीने के लिए छोड़ देते हैं। बहुत कम लड़कियां शादी के बाद नइहर का सतत प्यार पाने का सौभाग्य पाती हैं। मेरी मां ऐसी ही लड़कियों में थी। उसे मायके का खूब प्यार मिला था और मिलता रहा था। शायद उसका अपना स्वभाव रहा हो, अपने गुन-ढंग रहे हों। मां खुद बताती है कि उसकी बहनों को कभी नहीं बुलाया गया। कभी बुलाया भी गया तो वे अमर्षवश गयीं नहीं। वे कहां हैं, किस हाल में हैं, इसका पता मां को भी नहीं है। शादी-ब्याह, तीज-त्योहार आदि के अवसरों पर केवल वही बुलायी जाती थी या प्यार के अधिकार से स्वयं ही चली जाती थी। उसे अपनी बहनों से मिलने का कभी अवसर ही नहीं मिला। अपनी बहनों को वह बहुत प्यार और दर्द से याद करती थी। कैसा लगता होगा यदि बहन बहन से, भाई भाई से एक बार बिछड़ने के बाद मिले ही नहीं! बचपन की साथ-साथ खेल-कूद, खान-पान की दुनिया, प्यार-झगड़े, मान-मनुहार का संसार, एक गहमागहमी का वातावरण एकाएक छिन जाये और मात्र स्मृतियां शेष रह जायें!

"ए बाबू!" मौसी ने पुकारा। शायद अपने बेटे को पुकारा हो।

पन्द्रह-सोलह साल का लड़का बाहर आया। वही हुलिया। उसके पूरे अस्तित्व से अभाव बरस रहा था।

"बाबू, तुम्हारे भइया हैं, इन्हें पैलगी करो और कुछ पानी-वानी पीने को लाओ।"

उस लड़के ने मुझे पैलगी की और एक क्षण संकोच से ठिठका रहा।

"नहीं मौसी, अभी तो रामनिहोरा पहुना के यहां से जलपान करके निकला हूं। पानी-वानी पीने की इच्छा अब नहीं है। बस, आपको देखने की बड़ी इच्छा थी। मां ने भी कहा था कि मिल लेना। आपसे मिल लिया, अब चलता हूं।" कहकर मैं उठ गया।

मौसी ने आग्रह नहीं किया। आग्रह करने के लिए उनके पास था क्या? शायद घर में गुड़ की डली भी नहीं रही होगी इसीलिए तो हमें सुनाकर अपने बेटे से कहा था कि पानी पीने के लिए कुछ लाओ। यदि हम चुप होकर बैठते तो लड़का चुपचाप अनाज लेकर बनिया के यहां जाता और वहां से गुड़ लाता, और पता नहीं मौसी के घर अनाज भी था कि नहीं।

मैं परसिया से चलकर बरहज जा पहुंचा। बरसात के भारीपन में मौसी के अभाव का भारीपन मिल गया था। मन न जाने कैसा-कैसा हो रहा था।

साहित्यरत्न की पढ़ाई शुरू हो गयी थी। भीतर से कोई स्फूर्ति अनुभव नहीं कर रहा था। बस, सब कुछ यों ही चल रहा था। जी लग नहीं रहा था। बरहज से तीन

मील दूर कटियारी गांव है। वहां चचेरे भाई ब्रजनाथ की बहन ब्याही हुई थी। एक दिन शाम को वहीं चला गया। बहुत भले लोग हैं। वहां जाकर घर जैसा ही लगता है। एक दिन वहां रहकर बरहज लौटा तो कस्बे के चौराहे पर एक भीड़ देखी। नारे लग रहे थे—गांधी जी की जय, जवाहरलाल नेहरू की जय। इनकलाब जिन्दाबाद। कुछ युवक नेता भाषण दे रहे थे। मैं अचकचाया-सा वहां खड़ा हो गया। किसी से पूछा—"भाई, क्या हो गया ?" मालूम हुआ क्रान्ति हो गयी है। सारे नेताओं को सरकार ने जेल में डाल दिया है और अब छात्रों ने विद्रोह कर दिया है। क्रान्ति हो गयी है। 9 अगस्त 1942 की क्रांति।

भीड़ बढ़ती जा रही थी। वातावरण और भी गरम होता जा रहा था। इनकलाब जिन्दाबाद की आवाजें आकाश में समुद्र की तरह हहरा रही थीं। आग उगलते भाषण पर भाषण हो रहे थे। मुझे किसी ने पुकार दिया। मैं भी चबूतरे वाले मंच पर खड़ा हो गया और 'तिमिर घनेरा हिन्द भी तजेगा अब' वाली कविता गरज-गरजकर सुनाई। तालियां बजीं।

फिर भीड़ स्टेशन की ओर बढ़ी। स्टेशन की तोड़-फोड़ होने लगी, खंभों पर के तार काटे जाने लगे। चारों ओर टूटे हुए शीशे, टूटे हुए तार, भागते हुए सरकारी कर्मचारी, बिखरे हुए कागज, टिकट, कुर्सियां, मेज—फिर धुआं उठा, स्टेशन धू-धू कर जलने लगा। उधर स्टेशन की आग, इधर भीड़ के भीतर की आग, आग-भरा शोर···। सारा वातावरण गुस्से, उत्साह और दहशत से बज रहा था।

भीड़ किंग जार्ज स्कूल की ओर बढ़ी। शोर हुआ—क्लास बंद करो। क्लास बंद नहीं हुई। प्रिंसिपल और कुछ शिक्षकों ने प्रतिरोध किया। फिर क्या था—हो गयी तोड़-फोड़ शुरू। जंगलों के शीशे टूटे, कुर्सियां टूटीं, दरवाजे टूटे और क्लास के लड़के हो-हो करते हुए भीड़ मे मिल गये।

भीड़ श्रीकृष्ण स्कूल की ओर बढ़ी। भीड़ के दबाव मे पूर्व ही हिन्दी शिक्षक श्री राजकिशोर पांडेय बोल पड़े—'इनकलाब जिन्दाबाद' और अपने छात्रों के साथ बाहर निकल आये। भीड़ खुश हो गयी। देखा-देखी और भी छात्र और शिक्षक निकल आये। वैसे श्रीकृष्ण स्कूल बाबा राघवदास का था जो प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता भी थे और इस समय जेल में थे। इसलिए उसके और किंग जार्ज स्कूल के स्वभाव में अंतर होना ही था।

भीड़ थाने की ओर चली। थाना सरयू के किनारे कस्बे के एकदम दक्षिण में स्थित है। अतः थाने पर पहुंचने की प्रक्रिया में भीड़ पूरे कस्बे को आन्दोलित करती गयी और उसके क्रांतिकारी तत्त्वों को अपने में समेटती गयी। थाने के ऊपर एक लड़के ने तिरंगा लहरा दिया। उसके आगे सभा होने लगी। छात्र नेताओं के भाषण होने लगे। पुलिस विवश-सी भीतर मे देखती रही। शायद उसे अभी ऊपर से कोई आदेश नहीं मिला था और इस समय कुछ भी करने का मतलब था थाने की तबाही। इसलिए ब्रिटिश राज्य की खूंखार पुलिस एक विवश चुप्पी धारण किये थी। इसके बावजूद जब

कभी पुलिस में कोई सहज हरकत भी होती थी तो भीड़ चौकन्नी हो उठती थी कि गोली न चल जाये ।

वह मेरे जीवन का अद्‌भुत दिन था—जलता हुआ दिन, टूटता हुआ दिन, तोड़ता हुआ दिन, खामोश दिन, शोर करता हुआ दिन, जेलों में बंद दिन, सड़कों पर उमड़ता हुआ दिन। लगता था आजादी मिल गयी है । इस जन-जागृति के आगे अब ब्रिटिश राज्य स्थिर नहीं रह सकता। न किसी को खाने की सुधि थी, न पीने की, न आराम करने की।

शाम होते-होते लोग अपनी-अपनी जगह आ गये थे । हम लोग भी अपने क्वार्टर में पहुच चुके थे। जोश थमा तो थकान महसूस हुई और तरह-तरह की अफवाहों ने जन्म ले लिया। सुनाई पड़ा—देवरिया मे फौज चल चुकी है, आज रात को या कल दिन को पूरा बरहज उसकी गिरफ्त में होगा। आश्रम तो सबसे पहले जुल्म का शिकार होगा। और फिर लोगों की जो दुर्गति होगी उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह भी सुनने में आया कि जो विद्यार्थी बाद में क्रांतिकारी के रूप में आकर भीड़ का नेता बन गया था, वह सी० आई० डी० का आदमी है। भीड़ में क्रांतिकारियों की पहचान के लिए उसे नेता बनना पड़ा था । उसने सारी रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी होगी। मैं सोचने लगा कि मैंने भी तो कविता पढ़ी है । जब धरपकड़ होगी तो मैं कैसे बख्शा जाऊंगा। पूरे आश्रम में घबड़ाहट फैल गयी थी। हवा में भयानक उमस भर गयी थी। लोग कमरे से बाहर आ-आकर राजनीतिक हवा का जायजा ले रहे थे। जाने-अनजाने यहां से वहां तक एक निर्णय व्याप गया कि आश्रम छोड़कर अपने-अपने घरों को भाग जाया जाये । मैंने और रामानुज ने भी फैसला किया कि दो घड़ी रात रहते ही भाग चलें।

रात गहराने लगी। नींद नहीं आ रही थी । डर लगता था कि अब न मिलिट्री आ जाये। रात अपनी खामोशी में जैसे चिल्ला-चिल्ला उठती थी। कहीं से कोई आवाज आती तो लोग चौंककर एक-दूसरे से पूछने लगते—"क्या हुआ, क्या हुआ ?" पहरेदार की आवाज लूक की तरह जलती हुई उठती थी और बुझ जाती थी। दो घड़ी रात रहते ही हम लोग उठे। थोड़े-बहुत सामान साथ लिए, बाकी को कमरे में बंद करके ताला मारा और घर की ओर चल दिये।

मैं था, रामानुज थे, दो-एक लड़के रुद्रपुर के पास के गांव के थे। हम साथ चले। और लोग अपनी-अपनी दिशाओं की ओर चले। रामानुज ने टिन का एक जर्जर बक्सा सिर पर लाद लिया था जो टिन-टिन टिन-टिन बजता चलता था । मैंने मना किया था कि यह बजता हुआ बक्स मत ले चलो, लेकिन वे नहीं माने। रात के अंधेरे में कुछ दूर कुछ आहट होती तो हम लोग तेज-तेज चलने लगते। कभी-कभी लुदकिया भागने लगते, तब रामानुज का बक्सा तेजी से बजने लगता। मैं कोफ्त से भर उठता। आजिज आकर मैंने कहा—"तुम ससुरे हमें आज पकड़वाओगे। मन होता है तुम्हारा बक्सा उठाकर फेंक दूं। ऐसा कौन सोना मढ़ा था इस बक्से में कि इसे इस विपत्ति के समय सिर पर बजाते घूम रहे हो। सबको अपनी जान की पड़ी है और तुम्हें इस साले टुटहे बक्से की पड़ी है।"

रामानुज ने कहा—'आप नहीं समझेंगे पंडित जी ! ओल्ड इज गोल्ड।" और समय होता तो मैं रामानुज के इस प्रावर्ब पर हंसता, लेकिन इस समय दांत पीसकर मन ही मन गाली दी। दिन निकल आया। हम दो कोस आ गये थे।

मन होता था कि रामानुज को छोड दू। उनसे कहूं कि वे या तो पीछे आये या आगे निकल जायें। इस ससुरे टुटहे बक्से के कारण मैं अपनी जान आफत में नहीं डालना चाहता था। रास्ते मे और कही विशेष खतरा नही था, केवल रुद्रपुर में था। सडक पर ही थाना पडता है। वहां हम जरूर पकडे जायेंगे। रामानुज अपना बक्सा बजाकर जरूर कह देगा कि हम भागे हुए विद्यार्थी हैं।

रुद्रपुर आया, जी धडकने लगा। हम चौकन्ने होकर आगे बढने लगे। थाने के पास पहुंचते ही धडकन तेज हो गयी। हम लोग अत्यत सहज बनने की कोशिश कर रहे थे, फिर आखें छिप-छिपकर इधर-उधर देख रही थी कि कोई सिपाही हमे घूर तो नही रहा है। हमने देखा कि मचमुच दो सिपाही हमारी ओर देख-देखकर आपम मे कुछ बात कर रहे थे। हमें लगा कि वे हमारी ओर इशारा भी कर रहे हैं। हम बाहर से प्रकृतिस्थ होने का प्रयाम करते हुए भीतर-भीतर भयभीत से आगे बढते गये। जब कस्बा पार करके सडक छोडकर कछार की ओर जाने वाली पगडडी पर पहुचे तो जान-में-जान आयी। गाव मे न थाने थे, न सिपाही। गावो मे क्रान्ति की कोई हलचल भी नही थी। वहां तोडने-फोडने के लिए सरकारी चीजें थी कहा? न स्टेशन था, न थाना था, न आफिम था, न अस्पताल था, न बिजली के तार थे, न बडे-बडे स्कूल थे। वहां बाहर की आग को पहुंचने मे भी समय लगता है और पहुंचती भी है तो केवल चेतना बनकर, तोड-फोड़ के लिए गुजाइश नही होती।

हम घर पहुंच गये तो राहत की सास ली। घर वाले भी आश्वस्त हुए। शहर में पढ़ने वाले लडके गांव आ गये थे। आसपास के भी प्राइमरी-मिडिल स्कूल बंद थे, अतः गांव के सभी लडकों से भेंट-मुलाकात हो रही थी। गाव मे बयालीस की क्रानि की चर्चाएं तरह-तरह से होती थी। न अखबार थे न रेडियो, बम शहर मे आने वाले कचहरिया लोगो की जबानी कुछ खबरें मिलती थी जिनमे काफी कुछ फालतू जुड जाता था। पिताजी, नरेश भाई, पोलई हरिजन तथा आसपास के गावों के कई सुराजी आपम में मिलते थे। प्रभातफेरियां होती थीं, इस या उस गांव में सभाएं होनी थी। कोई छोटा-मोटा नेता आकर भाषण देता था। हल्की-हल्की सरगर्मी गांव में बनी हुई थी। बीच-बीच में यह खबर भी फैलती थी कि मिलिट्री आने वाली है। वह हमारे सुराजियो को पकडकर ले जायेगी और उनके घर फूक-फांक देगी। यह खबर गांव के सुविधावादी लोग, थाने के दलाल, मरकार के पिट्ठू लोग रस ले-लेकर उडाया करते थे।

कुछ दिन घर रहने के बाद इच्छा हुई लक्ष्मीगंज जाऊ—भइया के पास। एक दिन निकल पड़ा। ब्रजनाथ और रामलला दोनों हाई स्कूल में पढते थे और वहां का खर्च-वर्च चलाने के लिए किसी मुख्तार के यहां रसोइया का भी काम करते थे। स्कूल तो बंद थे लेकिन मुख्तार का खाना तो बनाना ही था इसलिए ये दोनों दो-चार दिन गांव रहकर लौट आये थे। शाम को मैं उन्ही के यहां ठहरा। इनके यहां ठहरने में बहुत

संकोच होता था। ये बेचारे तो स्वयं ही पराश्रित थे, इनके आश्रम में कैसे जाया जाय! इसलिए मैं कभी भी इनके यहां नहीं जाता था। इस बार सकुचाते-सकुचाते गया और ठहर गया।

मुख्तार साहब के घर के आसपास बहुत-से बाबू, छोटे-मोटे अफसर, वकील, मुख्तार रहते थे। खाना खाने के बाद ब्रजनाथ अपने पास के एक क्वार्टर में ले गये। उस क्वार्टर में कई लोग रहते थे। वे एक जगह एकत्र होकर गप-शप कर रहे थे। ब्रजनाज से मेरा परिचय कराया। 'मैं कवि हूं' यह जानकर लोग काव्यात्मक तफरीह के मूड में आ गये और मुझसे जिद करने लगे कि मैं कविताएं सुनाऊं। दो-चार राष्ट्रीय कविताएं मुनायी। लोगों ने वाह-वाह किया और बिखर गये। मैं प्रसन्न था। तभी उनमें मे एक आदमी ने जो अभी भी मेरे सामने बैठा था, धीरे से कहा—"देखिए कवि जी, ये कविताएं सबके सामने यानी अनजान लोगों के मामने मत सुनाया कीजिए।"

"क्यों?"

"इसलिए कि समय ऐसा है कि इन कविताओं को सुनकर कोई भी आपको पकड़वा सकता है। सरकार के कान चौकन्ने हैं। आप जानते हैं मैं कौन हूं?"

"नहीं, आपके बारे में कुछ भी नहीं जानता।"

"मैं सी० आई० डी० इंस्पेक्टर हूं। दूसरा इंस्पेक्टर होता तो आप मुसीबत में पड़ गये होते।"

मैं रात को सोया तो यही सोचता रहा कि आज बाल-बाल बच गया। कितना नेक इंस्पेक्टर है। जीविका के लिए यह धंधा जरूर करता है किन्तु भीतर-भीतर राष्ट्र-वादी है। ऐसे ही न जाने कितने लोग होंगे जो ब्रिटिश राज्य के नौकर होंगे। बाहर-बाहर उसके प्रति वफादारी निभा रहे होंगे और भीतर-भीतर राष्ट्रीय पीड़ा उन्हें परेशान कर रही होगी। दूसरे दिन उठा और चल दिया स्टेशन की ओर। सुना था कि इस समय खद्दर की पोशाक खतरनाक बन गयी है। ऐमे आदमी को देखते ही पुलिस पकड़ लेती है। मैं भी खद्दर की कमीज और टोपी पहने था। धोती शायद मिल की थी। टोपी उतारकर जेब में डाल ली थी, लेकिन कमीज का क्या करूं? मुझे लगता है कि हर पुलिस वाला या हर सरकारी अफसर मेरी ओर घूरकर देख रहा है। लक्ष्मीगंज स्टेशन पर उतरा तो देखा—स्टेशन आधा जल चुका था। एक पुलिम वाला मेरी ओर आता दिखाई पड़ा। मैं सिर घुमाकर दूसरी ओर चलने लगा और इम आशंका में था कि अब पीछे से दो हाथ मेरी गर्दन पर कसे हुए महसूस होंगे। कुछ दूर जाने पर मैंने पीछे मुड़कर देखा। वह कहीं और जा रहा था। मैं लक्ष्मीगंज पहुंच गया। भइया देख-कर चौंके—"अरे तुम? तुम इस आंधी-पानी में कहां आ गये?"

मैं हंसा। उन्होंने प्यार से समेट लिया।

पहली बार आया था। तब के और अब के वातावरण में बहुत अंतर था। वह फागुन का महीना था, यह भादों का। सीजन आफ होने की वजह से मिल की हलचल बंद थी। जमींदार का यह दरबार भी लगान-वसूली का सीजन न होने से ठंडा पड़ा था। लेकिन वातावरण में खूब हलचल थी। बाजार में सनसनी थी, जमींदार की कोठी होने

के कारण यहां भी सनसनी थी—पता नहीं कौन अफसर कब आ जाय और छानबीन करे। चर्चाएं होती रहती थीं—"किसने कहां किस सरकारी जगह पर कब्जा कर लिया है और राष्ट्रीय झंडा गाड़ दिया है ? कौन-कौन नेता पकड़े गए हैं ? कौन-कौन फरार है ?" खास करबलिया के कारनामे अखबारों में खूब छप रहे थे। क्रांतिकारियों के बहादुर कारनामों के साथ-साथ ब्रिटिश सत्ता के अमानवीय दमनकारी कारनामो के समाचार आ रहे थे। उनके दमन के समाचार रोंगटे खड़े कर देने वाले थे। गोरखपुर के कलक्टर मास तो अपने जुल्म में लासानी सिद्ध हो रहा था। नाखूनों में कील गड़वाना, गुदा मे मिर्च डलवा देना, गुप्तागों को नाकाम कर देना, पेड़ पर उलटा लटकाकर गोलियां दागना, गांवों में आग लगवा देना आदि न जाने कितने अमानुषिक कारनामे सरकार करवा रही थी और इन सब कारनामों में कलक्टर मास सबसे आगे था। क्रांतिकारी भागते फिर रहे थे। वे पकड मे नही आना चाहते थे—यातना के डर से भी और लोगों में चेतना बनाये रखने के लिए भी।

भइया जमीदार के तहसीलदार होकर भी पक्के कांग्रेसी थे। वे खद्दर ही पहनते थे और उनका हृदय राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत था। मैंने एक दिन शाम को खेतो की ओर घूमने जाते हुए पूछा—"आपको कैसा लग रहा है ? आप इतने बड़े कांग्रेसी, देश में इतना कुछ हुआ, आप कुछ कर न पाने से दुखी नही हो रहे है ? जमीदार की नौकरी ने आपको बाध रखा है।"

उन्होंने मेरी ओर देखा, मुसकराये। फिर बोले—"जमींदार की नौकरी इस समय वरदान हो गयी है।"

मैं समझा नहीं। चुप रहा। उन्होंने कहा—"देखो, कहीं जिक्र मत करना। यहां के क्रांतिकारियों की मेरे ही कमरे में बैठक हुई थी। तय हुआ था कि वे लोग स्टेशन की तोड़-फोड़ करेंगे, आग लगायेंगे और जब बहुत कुछ हो चुकेगा तब मैं अपने कुछ साथियों के साथ दौड़ा हुआ आऊंगा। हमे देखते ही वे लोग भाग जायेगे। ऐसा ही हुआ। सरकारी अमले हमें अपना हितैषी समझते हैं, क्रांतिकारी अपना हितैषी समझते हैं। हम आसानी से क्रांतिकारियों की मदद कर रहे हैं, सरकार को हमारे ऊपर शक नहीं होता।"

सुनकर मुझे अच्छा लगा। उधर से पुलिस वाले आ रहे थे। उन्होने भइया को नमस्कार किया।

"इधर कहां गये थे, दरोगा जी !"

"क्रांतिकारियों की खोज में। गोपलापुर गांव के चार-पांच क्रांतिकारियों ने नाक में दम कर रखा है। पता चलता है कि अमुक जगह पर हैं, पहुंचने से पहले ही लापता हो जाते है। लेकिन ससुरू लोग कहां तक बचेंगे ?"

"हां-हां, बकरे की मां कब तक खैर मनायेगी।" भइया ने हंसकर कहा, "मेरे लायक कोई सेवा हो तो बताइएगा दरोगा जी।"

"जरूर-जरूर, आप तो हम लोगों के सरपरस्त ही हैं।"

वे चले गये तो भइया हंसे, बुदबुदाये—सरपरस्त…।

अन्धेरा हो आया था। हम बात करते हुए लौट रहे थे कि एक आदमी धान के खेत में से निकला। वह बहुत डरावना लग रहा था। कीचड़ से लथपथ था। वह अंगोछे का झोला बनाकर लटकाये हुए था।

"रामअवध जी !" वह धीरे से फुसफुसाया।

भइया ने कुछ अकना। फिर धीरे से बोले—"नंदलाल !"

"हां, वे सब अभी गये हैं न, मेरी ही खोज मे गये थे। मैं आकर धान के खेत में छिप गया था।"

"और लोग कहां हैं ?"

"वे भी कहीं न कहीं होंगे ही।"

"अंगोछे में क्या लटका रखा है ?"

"भूजा है। इस अंगोछे मे भूजा रखते है। खाने-पीने का समय कहां मिलता है। पुलिसवालो की आहट मिलती है तो भाग खड़े होते है और कही छिपकर भूजा खाते रहते है, प्यास से तडपते रहते है। कभी-कभी कोई जानकार व्यक्ति पाखाना होने के बहाने लोटे में पानी लेकर आता है, पिला जाता है।"

"अब ?"

"जा रहा हूं घर। अब वे सब चले गए न ?"

"हां, चले तो गये, लेकिन क्या पता कुछ लोगों को घर के आसपास छोड़ गये हो।"

"तब कहीं और जाऊंगा। करना क्या है, रात को थोड़ा सो लेना है।"

"नहीं-नही, ऐसा करो, तुम थोडी देर बाद हमारे बगीचे मे पहुंच जाना। मैं वहां कपडे लिए हुए मिलूगा। नहा-धोकर और कुछ खाकर वहीं सो लेना और सुबह होने मे पहले ही निकल जाना।"

"ठीक है, यह भी ठीक है।"

हम लौट आये। इस छावनी पर बारह बजे से पहले खाने-पीने की नौबत ही नही आती। भइया ने अपने एक विश्वस्त नौकर को बुलाकर कहा—"अभी खाना बनने में बहुत देर है, इसे भूख लग आयी है, बाजार से दो रुपये की पूड़िया लेता आ।"

पूड़ियां आ गयी। ज्यादा थीं, ज्यादा मंगायी ही गयी थी। कुछ देर बाद बगीचे की ओर से कुत्ते की बोली सुनाई पड़ी। भइया चौंके। उन्होंने झोले मे कुछ कपड़े और पूड़ियां रख ली थी। झोला लेकर धीरे से निकल गये। मुझसे कहा—अभी आता हूं। कोई कुछ पूछे तो कुछ बताना मत। मैं समझ गया कि यह कुत्ते की बोली कोई संकेत है। भइया बगीचे में उसी क्रांतिकारी का प्रबंध करने गये हैं।

कुछ देर बाद लौट आये।

"बच्चा, कल्याण हो, राज-पाट बना रहे।"

हमने देखा—सामने एक साधु खड़ा है।

"क्या चाहिए महाराज ?" भइया ने पूछा।

"साधु क्या चाहता है वत्स, कोई राज-पाट तो चाहता नहीं। बस दो रोटी

चाहिए और रात-भर का आसरा।"

"अरे यह कोई धरमसाला थोड़े न है महाराज।" एक सिपाही ने मजाक किया।

"तुम्हें बोलने के लिए किसने कहा था? साधु-संन्यासियों से कैसे बोला जाता है, यह भी तमीज नहीं?"

"कोई बात नहीं वत्स, वह सिपाही है। उसने सिपाही की भाषा सीखी है।" कहकर उसने भाई साहब को आंख मारी।

पता नहीं क्या हुआ कि भइया कुछ सोचते-सोचते उचक पड़े—"आइए-आइए महाराज, बड़े पुण्य से आप लोगों के दर्शन होते हैं। आज मेरे कमरे को ही पवित्र कीजिए।"

"चलो वत्स।" कहकर वह भइया के साथ उनके कमरे में चला गया।

सब लोग खा-पीकर सो गये। मैं भी बरामदे में सो गया। भइया और साधु बहुत देर तक कमरे में बातें करते रहे। कुछ देर तक खामोशी छायी रहती। फिर साधु की आवाज सुनाई पड़ती—"वत्स, तेरा भाग्य बहुत उज्ज्वल है, तू बड़ा यशस्वी बनेगा, तेरा भाई भी बहुत तरक्की करेगा।"

सुबह होते ही वह साधु चला गया। मैंने भइया से कहा, "आपको तो साधुओं के प्रति इतना श्रद्धावान कभी नहीं देखा था। ऐसे साधुओं को तो आप ढोंगी मानते रहे हैं। इस साधु में क्या था?"

भइया ने एक रहस्यभरी मुसकान से मुझे देखा—"इसमें अपना देश भरा है।"

"अच्छा, समझा, यह भी कोई···"

"हां, यह भी क्रांतिकारी था। किसी से कहना मत।"

दस-बारह दिन रहकर मैं घर लौटने लगा। वही डर। गोरखपुर आया। कचहरी की ओर निकल गया। देखा—वहां की हवालात में अनेक लोग बंद थे। मैं आगे बढ़ रहा था कि खिड़की के भीतर से एक आवाज आयी—लगा कोई मुझे पुकार रहा है। देखा, श्री रामलखन शुक्ल मुझे आवाज दे रहे हैं। मैं लौटकर खिड़की के पास गया। वे खिड़की की छड़ें पकड़कर खड़े थे। उनकी आंखों में उनकी सहज तीव्रता और चंचलता नाच रही थी। पूछा—"बाहर का क्या हाल है? आंदोलन की क्या स्थिति है?"

"ठीक चल रहा है, लेकिन लोग पकड़े जा रहे हैं, उन्हें यातनाएं दी जा रही हैं।"

"ऐ लड़के, भाग यहां से।" भीतर से एक सिपाही गरजा।

"चोप।" रामलखन जी ने सिपाही को जोर से डांटा, "गद्दार कहीं का।"

सिपाही की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। मैं भी आगे सरक गया।

रामलखन जी से आपकी पहचान मैं करा चुका हूं—ढरसी में, पंडित रामगोपाल शुक्ल के यहां, मिश्रबंधुओं और रामचंद्र शुक्ल वाले विवाद के प्रसंग में। कैसे बहादुर लोग हैं—सिंह की तरह पिंजड़े में कैद होकर भी दहाड़ रहे हैं, आंखों में कितनी निर्भीकता भरी हुई है और मैं अकारण डरता घूम रहा हूं! मुझे अपने पर धिक्कार

छूटा और निडर बनने का स्वांग करता हुआ कचहरी में घूमने लगा। कचहरी बजबजा रही थी और उस बजबजाहट में भी भय का सन्नाटा था।

घर लौटना था कि याद आया कि साहित्यरत्न के फार्म पर फोटो भी चिपकानी है। दुबारा कौन आयेगा, क्यों न फोटो खिचवाता चलूं। कचहरी में तुरंत फोटो वाली कई चलती-फिरती दुकानें थीं। वहीं खिचवा ली। अपनी फोटो देखने का यह पहला अवसर था। जब गोरखपुर से गांव चला तो मेरे साथ दीनानाथ भी हो लिये थे। वे कचहरी में ही मिल गये थे। अपनी फोटो देखने की बार-बार इच्छा होती थी। बीस मील की दूरी में पैदल चलते हुए कई बार जेब से निकालकर फोटो देखी। दीनानाथ क्या सोचेंगे, यह सोचकर मैं पेशाब करने के बहाने कहीं बैठ जाता और फोटो निकाल-कर देख लेता। फोटो में आंखें जरा तन गयी थीं, यही बात खटक रही थी। बार-बार देखता कि आंखें तन जाने के बावजूद कहीं खराब तो नहीं लग रहा हूं। उसके बाद तो बहुत फोटुएं खिचीं, अच्छी से अच्छी खिचीं, खुद खिचवाईं, औरों ने खींचीं, संस्थाओं ने खींचीं, पत्रिकाओं ने खींचीं, लेकिन अपनी यह पहली फोटो देखने की जो अनुभूति थी वह अद्भुत थी।

18

काफी दिनों बाद बरहज गया तो देखा अभी सन्नाटा व्याप्त है। छात्रावास में इक्के-दुक्के छात्र ही दिखाई पड़े। कमरे में गया तो कमरा खुला हुआ मिला। सामान चोरी चला गया था। जी धक्क से रह गया। अरतन-बरतन सभी गायब थे। अब खाना कैसे बनायेंगे? पंडित सिंहासन तिवारी से मिला। उनसे अपनी बात बतायी तो बोले—इस बीच बहुत चोरियां हुई हैं। उन्होंने यह भी कहा कि दस-पांच दिन में पढ़ाई शुरू कर देंगे। मैं फिर गांव लौट आया। फिर पंद्रह-सोलह दिन बाद गया, पढ़ाई शुरू हो गई।

'साहित्यरत्न' में 'सिंदूर की होली' भी लगी थी। उसे पढ़ते हुए विचित्र अनुभूति होती थी। किसी ने बताया कि इसके लेखक पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र सरयू उस पार किसी गांव में रहते है। मन में कई बार ललक उठी कि किसी दिन उनके गांव चला जाए और उनके दर्शन किए जाएं। वास्तव में मेरी यह अवस्था थी जब भीतर रचनाकारों के प्रति एक गहरी उत्सुकता जगी होती है। उनसे मिलने, उनसे बात करने, उनकी जीवनचर्या के बारे में जानने की एक तड़प होती है। उनके प्रति मन में एक पवित्र भाव होता है। अब की बात नहीं कर रहा हूं। इस समय का दौर कुछ और ही हो गया है। मिश्र जी से मिलने का सपना लिए मन महकता रहा, लेकिन भेंट कहां होनी थी? किसी ने बताया कि उनका गांव जरूर पास में है किन्तु वे रहते इलाहाबाद में हैं।

मेरे साथ साहित्यरत्न के जो परीक्षार्थी थे उनमें कुछ काफी वयस्क लोग भी थे। वे वास्तव में नियमित विद्यार्थी नहीं थे, वे कहीं शिक्षक थे, परीक्षा के कुछ पूर्व यहां तैयारी के लिए आ गये थे। उनमें से एक मोती बी० ए० भी थे। वे इतिहास से एम० ए० कर चुके थे, किन्तु वे कवि के रूप में मोती बी० ए० ही कहलाते थे। उनका गांव वहां से कुछ मील की दूरी पर था। वे वहां के लोगों में कवि रूप में ख्यात थे। मैंने पहली बार उन्हें जाना। वे बनारस में रहते हैं यह मेरे लिए और भी आकर्षण का कारण बन गया। वे हम लोगों के साथ कुछ दिन रहे। कविताएं सुनाईं। बहुत मीठा कंठ है उनका। वे अपने मीठे कंठ में कई कवि-सम्मेलनी कवियों की तरह अलाप नहीं भरते, बल्कि उनमें से धीरे-धीरे मधुरता की वृष्टि करते हैं, जो अच्छा लगता है।

हम लोग दिसम्बर में परीक्षा देने बनारस गये। कमच्छा में ठहरे। मोती बी० ए० भी वहां आकर परीक्षांत तक ठहर गये। बहुत अच्छा लगा। शंभुनाथ सिंह मोती बी० ए० के दोस्त थे। उनका गांव भी मोती बी० ए० के गांव के आसपास ही है। शंभुनाथ के नाम से मैं परिचित नहीं था। मोती जी ने ही परिचय कराया—"ये मेरे मित्र हैं, नये गीतकारों में अत्यधिक सभावनापूर्ण गीतकार।" उनकी भी कुछ कविताएं सुनने का सुअवसर मिला। उनका भी कंठ मीठा, समस्वर मे बहने वाला था। साहित्यरत्न की परीक्षा की तैयारी के साथ-साथ काशी के साहित्यकारों से परिचय मेरे लिए बहुत सुखद उपलब्धि बनता चला गया। हम लोग कुछ पूछने-पाछने डा० जगन्नाथ शर्मा के यहां गये, वहां से करुणापति जी के यहां गये, लाला भगवानदीन विद्यालय में पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र की कक्षा में बैठे। वे शायद अजातशत्रु नाटक पढ़ा रहे थे। उनके पांडित्य, रोचक अध्यापन और विनोदप्रियता का परिचय एक साथ मिला। वे अजातशत्रु पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते देर हो गयी तो एक छात्र ने पूछा—"आज 'होल नाइट शो' चलेगा क्या ?" पंडित जी ने फट से कहा, "हां, आप छलना की भूमिका अदा करेंगे क्या ?" पंडित जी ठठाकर हंसे और पूरी कक्षा हंस पडी।

बड़ा खुशनुमा मौसम था। दिसम्बर की ठंडक थी, लेकिन दिन की सुनहली धूप तन-मन में एक ऊष्मा भर देती थी। पास में ही अमरूद का बगीचा था। पास में ही लड़कियों का हॉस्टल था। बी० टी० कालेज भी पास ही था। अमरूद के बगीचे में लड़कियां आती थीं, वहीं से अमरूद तोड़वाती थीं, खाती थीं। माथा खुला होता, दो चोटियां लटकी होती, मस्ती से मटक-मटककर चलतीं और स्वच्छंद रूप से अमरूद खातीं। यह दृश्य हम लोगों के लिए नया था। एक ने कहा, "कितनी बेशर्म और चीप हैं सब !"

"इसमें बेशर्मी क्या है ?" मोती बी० ए० ने कहा। फिर उन्होंने हमारे देहाती संस्कारों को धक्का मारने वाला एक लाजवाब लेक्चर पिला दिया। जो भी हो, मुझे वे लड़कियां अच्छी लग रही थीं। हमारे देहाती संस्कारों को हिलाती हुई भी बहुत स्पृहणीय लग रही थीं। ऐसी लड़कियां देहात में कहां दिखाई पड़ती हैं।

"इन्हें चीप मत समझिए। हर पीढ़ी पिछली पीढ़ी से कुछ नया करती है—वेशभूषा, रहन-सहन में। और हर पिछली पीढ़ी भुनभुनाती है, नयी पीढ़ी को सस्ती

कहती है, लेकिन ये लड़कियां देहात की अपढ़ लड़कियों की अपेक्षा ज्यादा संयत, चालाक और चरित्र-रक्षा में समर्थ हैं। सच तो यह है कि पारंपरिक लोगों के हृदय में इनके सौंदर्य और मुक्त आचरण को देखकर इनके प्रति स्पृहा की आग धधक उठती है। ये उन्हें उपलब्ध हो नहीं सकती हैं अतः इनकी आलोचना करके अपनी कुंठा अभिव्यक्त करते हैं।" मोती बी० ए० कुछ तैश में आ गये थे। मुझे लग रहा था कि वे ठीक कह रहे हैं और उन्होंने हम सबके पारंपरिक देहाती संस्कार को चौराहे पर नंगा कर दिया है।

शाम को घूमने निकले तो कुछ लोग बी० टी० कालेज से निकल रहे थे। "पं० सीताराम चतुर्वेदी आ रहे हैं, उनके पीछे बेधड़क बनारसी हैं।" मोती जी ने कहा। दोनों के नाम सुने थे। बहुत प्रसन्न हुआ। बेधड़क जी उस समय बी० टी० कर रहे थे और एक शिष्य दोस्त की तरह सीताराम जी के पीछे-पीछे प्रसन्न मुद्रा में चले जा रहे थे। परीक्षा के दिन बेढब जी के दर्शन हुए। गौरवर्ण के एक सुदर्शन व्यक्तित्व के साथ हास्य रस के कवि का मेल एकाएक नहीं बैठा। मोती जी ने एक अत्यंत सुंदर सुकोमल युवक की ओर इशारा करते हुए कहा—"ये कवि गुलाब है, ये भी साहित्यरत्न की परीक्षा दे रहे हैं। बेढब जी उन्हें पहुंचाने आये है।" बनारस में आने के बाद गुलाब के बारे में भी सुना था और यह भी सुना था कि वे बेढब जी के बहुत आत्मीय हैं। दोनों सुंदर व्यक्तित्वों को एक साथ देखकर मेरे धूल-धूसरित देहाती मन को कैसा लगा होगा, आज उसकी मात्र कल्पना कर सकता हूं। दरअसल हम साहित्य-प्रेमियों के लिए काशी साहित्य का तीर्थ था जहां अनेक महारथी विराजमान रहे है और उस समय भी थे। इसलिए साहित्यकारों के दर्शन से मैं भीतर-भीतर कृतार्थ होता जा रहा था। एक इच्छा उठ रही थी—काश, शुक्ल जी, प्रेमचंद जी और प्रसाद जी जीवित रहे होते !

परीक्षा हो गयी थी, अब मौखिकी की बारी थी। जी धक-धक कर रहा था। और जब से सुना कि हिन्दी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पंडित केशवप्रसाद मिश्र मौखिकी लेंगे, धडकन और बढ़ गयी थी। लिखित परीक्षा देने और मौखिकी होने के बीच का समय कैसे बीता, कह नहीं सकता। मौखिकी या साक्षात्कार मेरे लिए हमेशा एक त्रास रहा है। इनके नाम से मेरी घबराहट बढ़ जाती है। आज भी यही स्थिति है। न जाने कौन व्यक्ति कितना बेहूदा सवाल कर दे। अब तो बेहूदा सवालों की बाढ़ आ गयी है। बहुत कम उच्चस्तरीय परीक्षक ऐसे हैं जो परीक्षार्थी या प्रत्याशी से उनके क्षेत्र के प्रश्न करते हैं या उनकी सही योग्यता उभारना चाहते हैं, बाकी तो अपनी बेहूदा हरकतों से उन्हें उलझाना चाहते हैं, अपमानित और नर्वस करना चाहते हैं।

यह मेरा पहला साक्षात्कार था—वह भी केशव जी के सामने। बाप रे बाप ! साथ के परीक्षार्थी भी घबराये हुए थे। खैर, वह समय आया। मैं डरते-डरते अंदर गया। सामने बैठ गया। केशव जी की हुलिया आतंककारी नहीं थी, उसमे एक आश्वस्ति-प्रदत्ता थी। धोती, कुर्ता, टोपी, चादर में वे हमारे गांव के जाने-पहचाने पंडित जी लग रहे थे। उनकी आंखों में वात्सल्य से भरी एक दीप्ति थी। उन्होंने मेरा नाम पढ़ा। नाम के साथ उपनाम था। उपनाम पढ़कर उन्हें लगा कि मैं कविता भी

लिखता हूंगा। पूछा—"कविता भी लिखते हैं ?" मैंने कहा—"हां।" बोले—"सुनाइए।"

मैंने एक कविता सुनाई। वे प्रसन्न होकर सुनते रहे। बोले—"बहुत सुंदर कविता है।" मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। इतना बड़ा विद्वान् मेरी कविता को अपनी प्रशंसा से पुरस्कृत कर रहा है। मैं गद्‌गद हो ही रहा था कि उन्होंने उस कविता की एक पंक्ति उठा ली और पूछा कि क्या यह पंक्ति व्याकरण से सही है और सही नहीं है तो इसमें गलती क्या है ? मुझे तो कुछ सूझा ही नहीं। सूझता तो गलती करता ही क्यों ? ऐसे ही उन्होंने दो-एक सवाल और किये—उस कविता के भाव से सम्बन्धित। मैंने अपने ढंग से उत्तर दिये और उन्होंने हंसकर कहा—"जाइए।"

मैं बाहर निकला। बहुत प्रसन्न था। लगा कि इतने बड़े पंडित ने कहीं भी मेरे ऊपर बोझ नहीं डाला। लगा—जैसे हालचाल पूछ रहे हों। यह भी लगा कि उन्होंने मुझे अच्छे अंक दिये होंगे। किन्तु जब परिणाम निकला तो मौखिकी के बहुत अच्छे अंक न देखकर मुझे प्रतीत हुआ कि पंडित जी ने बहुत सहजता से मेरी असली योग्यता की पहचान कर ली थी।

साहित्यरत्न की परीक्षा देकर खाली हो गया था। पास तो हो ही जाऊंगा। चिन्ता थी, इसके बाद क्या करूंगा ? फिलहाल मैं अपना प्रबंध-काव्य 'चक्रव्यूह' पूरा करने में जुट गया। लेकिन अब करूंगा क्या ? यह और लोग भी पूछते और मैं भी अपने से पूछता। साहित्यरत्न पास होकर कुछ कर लेने का जो सपना था वह अब छंट रहा था। अब तो मैं रास्ते के उस छोर पर खड़ा था जहां से आगे वह जाता ही नहीं और जिस बिन्दु पर वह खत्म हो रहा था वह केवल रास्ते का अंत था, किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं। क्या मिलेगा मुझे ? कोई नौकरी ? कौन-सी नौकरी ? साहित्यरत्न की डिग्री किसी नौकरी तक पहुंचाये, अभी ऐसी स्थिति तो बनी नहीं थी। और आगे भी कहां बन पायी ? राष्ट्रभाषा की उच्चतम डिग्री प्राप्त कर ली है, राष्ट्रभाषा-प्रेम के नाम पर उसे चिपकाये घूमो, एक गौरव अनुभव करो, उसे राष्ट्रप्रेम के साथ जोड़ो, यह कम है क्या ?

लेकिन इससे जिन्दगी चलेगी क्या ? कपिलदेव के साथ विचार-विमर्श करके तथा भइया से परामर्श करके यह तय किया कि अंग्रेजी पढ़ी जाय।

सन् 1943। मैं साहित्यरत्न में पास हो गया था। इसी वर्ष मेरा गवना भी हो गया।

जुलाई आते ही कपिलदेव और मैं पास और दूर के कुछ ऐसे स्कूलों में गये जहां अंग्रेजी की प्राइवेट पढ़ाई होती थी। कहीं मन नहीं जमा तो घूम-फिरकर फिर ढरसी गये—पंडित जी के पास। पंडित जी ने बहुत प्यार और उछाह से हमारा स्वागत किया।

पंडित जी ने प्राइमरी स्कूल की बिल्डिंग छोड़ दी थी और स्कूल का अपना भवन तैयार करा लिया था। खुले में खुला भवन···। चारों ओर खेत, खेत की फसलें।

बहुत अजीब लग रहा था—ए बी सी डी पढ़ना और शब्दों की वर्तनी रटना। साहित्य की ऊंची-ऊंची पुस्तकें पढ़ने के बाद अंग्रेजी की प्राइमरी शिक्षा प्राप्त करना बहुत कष्टकर लग रहा था। मन नहीं लग रहा था अतः मेरी शिक्षा में प्रगति नहीं हो पा रही थी। कपिलदेव अपेक्षाकृत अधिक गतिशील थे।

बहुत-से नये विद्यार्थियों से भेंट हुई। उनमें सबसे विशिष्ट थे विद्याधर द्विवेदी। वे सहुआकोल गांव के थे और विशेष योग्यता पढ़ने आये थे। मझोले कद के, गेहुआं वर्ण के सुदर्शन विद्याधर तन और मन दोनों से बहुत ओजस्वी थे। पढ़ने में तेज थे, कुश्ती लड़ने में बहुत चुस्त थे, बहुत स्फूर्ति थी उनमें। खेल के मैदान में भी अपना जौहर दिखाते थे, अच्छा गाते भी थे, वाद-विवाद में भी अपनी करामात दिखाते थे। मैं इस विद्यालय का वरिष्ठ विद्यार्थी था, पंडित जी का अत्यंत स्नेह-भाजन था और कविता के क्षेत्र में उजागर हो रहा था, अतः प्रायः सारे ही विद्यार्थी मुझे सम्मान देते थे और मैं स्वभावतः सबको अपना समझता था; किन्तु विद्याधर की बात ही और थी। उम्र की अच्छी-खासी दूरी होने के बावजूद हम मित्र थे, यह और बात थी कि इस मैत्री भाव के बावजूद वे मुझे सम्मान भी देते थे। इस वर्ष मेरे गांव के मुक्तिनाथ और रामकृपाल भी पढ़ने आ गये थे। कोल्हुआ से मेरी ससुराल की पट्टीदारी के अवधनारायण त्रिपाठी भी पढ़ने आते थे जो मुझसे बहुत शरमाते थे। एक विक्रमादित्य द्विवेदी थे, एक कपिलदेव साही थे। साथियों की एक अच्छी-खासी संख्या थी।

विक्रमादित्य गाते बहुत अच्छा थे अतः जब हम लोग एकत्र होकर अंग्रेजी का कोई पाठ तैयार करते और मन नहीं लगता तो विक्रमादित्य से गाने को कहा जाता। वे गाते और हम लोग अंग्रेजी के पाठ की नीरसता से मुक्ति पाकर कविता और संगीत की दुनिया में खो जाते। पंडित जी के अंग्रेजी ज्ञान की बात बता चुका हूं। प्राइवेट मैट्रिक पास पंडित जी का अद्भुत जीवट था कि वे तैयारी कर-करके हमें पढ़ाते थे। वे पढाते सही थे, लेकिन उनके पढ़ाने में वह प्रवाह और आनंद नहीं पैदा होता था जो एक विषय के अधिकारी के पढ़ाने में होता है। एक दिन हम उनके कमरे में बैठे थे। वे पढ़ा रहे थे। वे आधा वाक्य बोलते थे, आधा हमें पूरा करना पड़ता था। वे बोले—'वी'। हम बोले 'गोज'। और देर तक वे हमें वाक्य रटाते रहे। वे 'वी' कहते, हम 'गोज' कहते—वी—गोज, वी—गोज। एकाएक उन्हें ध्यान आया और हम लोगों को गाली देते हुए बोले—"अरे नालायको, 'वी' के साथ 'गोज' कैसे लगेगा, 'गो' होगा न ?" हम लोग झेंपे और अपने तथा पंडित जी के ज्ञान पर परस्पर मुसकराये।

पंडित जी का इरादा था कि तीसरे साल हम मैट्रिक की परीक्षा में बैठेंगे। पहले वर्ष वे हमें बेसिक ज्ञान करायेंगे, दूसरे-तीसरे वर्षों में मैट्रिक की पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी करायेंगे। मुझे और सारे विषयों की चिंता नहीं थी, बस अंग्रेजी हौआ थी। वर्तनी रटने और व्याकरण पढ़ने में मन लगता नहीं था। यह भाषा भी कैसी भाषा जिसके प्रत्येक शब्द हिज्जे रटे जाएं। दूसरी ओर तीन वर्षों में ही पांच वर्षों का कोर्स पूरा करना था। मन उचट-उचट जाता था, लेकिन अंग्रेजी पढ़े बिना गुजारा भी तो नहीं।

कुआर था। मुझे बुखार आ गया। सोचा गया—ठीक हो जायेगा। लेकिन नही उतरा। बढता ही गया। मलेरिया था। पडित जी अपने ज्ञान से जो दवा कर सकते थे करते रहे, नही उतरा। घर सदेश भेजा गया। मझले भाई डोली लेकर आये। वे तिजहर को पहुचे थे। बुखार की बेचैनी मे डोली मे डाला गया। उस समय की अपनी बेचैनी की याद करके अब भी थर्रा जाता हू। गजपुर पहुचते पहुचते रात हो गयी। वही एक धर्मशाला मे ठहरना पडा। रात-भर बेचैनी से तडपता और चिल्लाता रहा। सवेरे वहा से डोली रवाना हुई। राप्ती नदी मे नाव पर चढे तो इच्छा हुई नदी का सारा पानी पी जाऊ। ताप और प्यास से मै तडप रहा था। पानी पीने की अनुमति मागी तो भाई साहब ने मना कर दिया—नदी का पानी नुकसान कर देगा। नौ बजे के आसपास डोली घर पहुची। पिताजी और मा बेचैनी से मेरा इतजार कर रहे थे। डोली उतरते ही वे मेरी ओर लपके। मैं उन्हे देखते ही बुक्का मारकर रो पडा। मा ने छाती मे लगाते हुए कहा—"नही, रोओ मत, अब अपने घर आ गये हो। सब ठीक हो जायेगा।"

घर की आश्वस्ति अद्भुत होती है। 'घर आ गये है' का बोध कितनी राहत देता है! मै पुचकारे गये बच्चे की तरह चुप हो गया। अपने घर मे हू, चारो ओर अपने लोगो के हाथ हैं, ममताभरी आखे है, और सबसे बडी बात कि मा है। एकबारगी मुझे एक आश्वस्ति के अनुभव से भर देने के लिए पर्याप्त था। घर की आत्मीयता और बाहर की आत्मीयता मे फर्क होता है। बाहर कितनी भी आत्मीयता मिलती हो, थोडे फासले पर एक बिन्दु पर आकर रुक जाती है। वह उतनी क्रियात्मक नही हो पाती जितनी भावात्मक होती है। मा या पत्नी के हाथो की तरह कोई भी हाथ बीमार व्यक्ति की गदगी की सफाई मे रत नही होता। बाहर के किसी व्यक्ति को आदेश देकर आप कुछ नही मगा सकते। पैसे-रुपये के खर्च का हिसाब घर मे नही होता, बाहर होता है। डरसी मे आने से पूर्व शाम को मैं बुखार से बुत्त पडा था और मेरे साथी वालीबाल खेलते हुए खूब शोर कर रहे थे। मै भयानक परेशानी का अनुभव कर रहा था। मेरे पास कोई था भी नही कि मैं उसे भेजकर शोर करने वालो को चुप कराता। काफी देर बाद विद्याधर खेलकर आये तो बोले—"कवि जी, आपको शोर से परेशानी तो हुई होगी किन्तु मजा आ गया, खूब छकाया लोगो को।" मै जानता था कि विद्याधर मेरे बहुत प्रिय थे और वे मेरा बहुत आदर करते थे, लेकिन फिर भी सब कुछ खटा।

पडोसी गाव रानापार के वैद्य जी बुलाये गये। दवा दी। दवा चलती रही, कोई लाभ नही हुआ। वैद्य जी के बारे मे मशहूर था कि उनके पास कुछ ही दवाएं है जो सारे रोगो मे देते है। फिर फायदा क्या होना था! मुझे तिजरा मलेरिया पकडे था। यानी जाडा बुखार। एक दिन छोडकर आता था। जब बुखार चढता था तो लगता था कोई दौरा पड़ रहा है। पूरी देह उठने-गिरने लगती थी और मुह से हुऊ-हुऊ की ऐसी आवाज निकलती थी जैसे तेज हवा बहने पर बास वन से आवाज आती है। मा और दो-एक और व्यक्ति रजाई के ऊपर से मुझे दबाते थे और खाट के नीचे आग जलाकर उसमे अजवाइन डाली जाती थी, लेकिन मलेरिया के वेग की लगाम थाम पाना संभव नही हो पाता था। ऐसे ही बीतता गया। मैं कमजोर होता गया। इस बीच लोगों ने कुछ टोटके भी

मां को सुझाये। एक ने बताया कि जिस वक्त जड़इया आती है उस वक्त खाट पर मेरे स्थान पर मूसल रख दिया जाय। जड़इया मूसल को पकड़ लेगी। उस उम्र में भी मुझे इन सब बातों पर विश्वास नहीं था। मेरी बुद्धि में यह नहीं आता कि यह कैसे संभव हो सकता है? जाड़ा बुखार कहीं बाहर से तो आता नहीं कि वह भटक जायेगा, वह तो शरीर के भीतर से फूटता है, उसी में स्थित है। फिर भी परेशान होकर घर वालों के आग्रह से यह भी करना पड़ा। लेकिन जब विश्वास ही न हो तो सही बात भी नहीं लगती, यह तो एक झूठी बात थी ही।

दो महीने गुजर गये। मेरे गांव के निकम्मे गोबरी अपने बाप की ताड़ना से भागकर साधु बन गये थे। बहुत दिनों के बाद वे गांव आये थे और अपने घर के दरवाजे पर धूनी रमा ली थी। पिताजी ने मुझसे कहा—"गोबरी बहुत सिद्ध साधु होकर लौटा है, उससे भभूत ले लो।"

फिर मेरा मन बिदका किन्तु पिताजी अपने साथ पकड़ ले गये। वहां जाकर देखा—बेवकूफ-से लगने वाले गोबरी विशाल जटा-जूट में दिव्य लग रहे थे। सामने धूनी रमी हुई थी उनके तथा पूरे शरीर में भस्म मली हुई थी। उनके पिता कृतार्थ भाव से उनके पास बैठे हुए थे। उनकी आंखों में पुत्र के इतना बड़ा महात्मा बन जाने का गर्व भरा हुआ था।

उन्हें देखते ही मैं अभिभूत हो उठा, किन्तु मुझे देखते ही जब वे पहले की तरह गबगबाकर बोलने लगे तो मैं उनके पहले जीवन के संदर्भों से जुड़ गया और उनके प्रति जो विश्वास अभी बना था एकदम गायब हो गया। वे पता नहीं क्या-क्या बोलते रहे। लोग उनके गोबरी से साधु बन जाने की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के बारे में सोच रहे होंगे, मैं उनके साधु से फिर गोबरी बन जाने की स्थिति से जुड गया था। गोबरी मेरा हालचाल पूछते रहे, मैं उन्हें देखता रहा। उन्होंने धूनी में से भभूत निकालकर दी और कहा—"भगवान् चाहेगा तो सब ठीक हो जायेगा।" मुझे हमेशा लगता रहा है कि भगवान् का नाम लेकर जो दवा दी जाती है उसमें दवा देने वाले व्यक्ति के आत्मविश्वास की कमी लक्षित होती है। मैं भभूत लेकर चला आया और खा भी ली, लेकिन फिर वही भीतर के विश्वास का सवाल। भभूत को नहीं लगना था, नहीं लगी।

वैसे तो पूरा घर मेरी बीमारी को लेकर परेशान था, किन्तु मां की परेशानी का क्या कहना? मा के अतिरिक्त दो-दो भाभियां थीं, बहन थी, मझले भाई थे, पिताजी तो थे ही। मझले भाई की इसी साल नयी-नयी शादी हुई थी, पहली पत्नी दिवंगत हो गयी थीं। बड़ी भाभी, मझली भाभी दोनों मेरी देख-भाल करती थीं, मेरे प्रति दोनों का गहरा स्नेहभाव था। इन सबके अतिरिक्त इस घर में एक प्राणी और था—मेरी पत्नी। इस पारंपरिक पारिवारिक परिवेश में हम दोनों दिन में एक-दूसरे से न मिल सकते थे, न बात कर सकते थे। वह घूंघट काढ़े इधर से उधर, उधर से इधर होती रहती और शायद इस तमन्ना से तड़पती रहती कि वह मेरी कोई सेवा कर सके। कभी-कभी मैं झटके से उसे छिपकर अपनी ओर देखते देख लेता। उसकी आंखों में एक अजीब बेबसी का भाव भरा होता। मुझसे आंखें मिलते ही वह घूंघट काढ़ लेती और आये

सरक जाती। सोचता हूं, कैसी थी विडंबना संयुक्त परिवारों की! जिसे बीमारी में सबसे नजदीक होना चाहिए था, वही सबसे दूर थी; जिसके साहचर्य की उष्मा से जीवन-यात्रा सुगम हो जाती है, उससे छिपकर रात के कुछ पलों में मिलना संभव हो पाता था। यही नहीं, लोग अपनी संतानों को गोद में खेला भी नहीं सकते थे। दूसरे लोग खेलाते थे। आदमी गोद में भर लेने की ललक दबाये बच्चे को देखता रहता था। मैंने पत्नी का ठीक से मुंह भी नहीं देखा था। रात के अंधेरे में उससे थोड़ी-बहुत बातें हुई थीं। उस बीमारी में रात के अंधेरे में मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं था और दिन में हम आमने-सामने भी नहीं हो सकते थे। तब तो मैं पत्नी के प्रश्न पर एक परंपरित बोध से लदा था, किन्तु अब सोचता हूं कि देहाती औरत के मन मे मेरे लिए कुछ न कर पाने का कितना गहरा दर्द भरा रहा होगा! जिस पति-सेवा को वह पत्नी की सार्थकता का पर्याय मानती रही होगी, उसी से वह वंचित की जा रही थी। यह उसे कितना बड़ा अभिशाप लगा होगा, इसकी कल्पना मात्र कर सकता हूं। ये भोली-भाली गाय-सी मूक औरतें···!

दो महीने बीत गये बीमारी में लिथड़ते हुए। रानापार के वैद्य वृन्दावन दूबे के पुत्र रामदेव अच्छे वैद्य निकले थे किन्तु वे अधिकतर बाहर-बाहर रहते थे। बाबू चंद्रभान सिंह की छावनी लक्ष्मीगंज में भी प्रायः आया-जाया करते थे। भइया उन्हें लेकर एक दिन घर आ गये। उन्होंने मेरा हाल देखा और दुखी हो गये। रामदेव को मेरे उपचार में लगा दिया। उनकी दवा से लाभ हुआ और मैं धीरे-धीरे मलेरिया की गिरफ्त से मुक्त होता गया। ठीक-ठाक होने में दो महीने और लग गये। चार महीने के बाद मैं ढरसी जाने के लायक हुआ। जो मलेरिया आजकल चार दिन मे ठीक हो जाता है उसने मुझे चार महीने अपनी गिरफ्त में रखा। उसकी सजा अब तक भोग रहा हू। उस मलेरिया ने मुझे ऐसा तोड़ा कि उसके बाद थोड़े-से बुखार से भी मेरा शरीर भयानक ऐंठन महसूस करता रहता है।

चार महीने बाद जैसे एक नया जीवन मिल गया था। ढरसी आया। पढ़ाई शुरू की किन्तु लगा कि वह साल लगभग यो ही बीत गया। साथी लोग अंग्रेजी मे आगे बढ़ गये थे। अंग्रेजी पढ़ने के प्रति मेरा सिस्टम जो बिगड़ा वह बिगडा ही रह गया, न मै अंग्रेजी को रास आया और न वह मुझे। दोनों मे एक टूटा-फूटा सम्बन्ध चलता रहा और चल रहा है।

इस बार ढरसी की पढ़ाई के दौरान छोटी-मोटी घटनाएं तो बहुत घटीं, लेकिन कुछ विशेष थी, जिनकी चर्चा मै करना चाहूंगा। ढरसी का स्कूल चहल-पहल का केन्द्र बना हुआ था। वहा नेता आते, साहित्य-सेवी आते, अफसर आते, हिन्दी-प्रचारक आते। सन् '42 के बाद का माहौल था। अतः राजनीतिक सरगर्मी हवा में बनी हुई थी, साथ ही दमन का चक्र भी चल रहा था। पंडित जी डरते नही थे। एक बार एक सी० आई० डी० का इंस्पेक्टर आया और वह बातचीत में मिस्टर गांधी, मिस्टर गांधी कहने लगा। पंडित जी ने उसे डांटा—"आप महात्मा गांधी नहीं कह सकते? देश के इतने बड़े महापुरुष के प्रति आपके मन में कोई इज्जत नहीं है? अंग्रेजो की नौकरी ने आपकी

भारतीयता को एकदम सोख लिया है ?" वह इंस्पेक्टर शरमा गया। उसमें पानी बचा था।

संभवतः सन् '44 का समय था। पंडित जी ने नेहरू जी के जन्मदिन पर एक छोटी-सी सभा आयोजित की। हम लोगों ने नेहरू जी तथा कांग्रेस के अलग-अलग पक्षों पर बोलने की खूब तैयारी की। जिला-स्तर के नेता भृगनाथ चतुर्वेदी बुलाये गये और जमकर सभा हुई। आसपास के बड़े आदमी भी बुलाये गये थे। इस सभा की सरगर्मी चारों ओर छा गयी और लोगों के मन में एक आतंक-सा फैल गया, लेकिन पंडित जी निश्चिन्त रहे।

उसी वर्ष कुशीनगर में एक बहुत बड़े साहित्यिक समारोह के आयोजन की घोषणा हुई। उसमें शामिल होने का उत्साह छा गया। पंडित जी अपने साहित्यकार शिष्यों के साथ उसमें सम्मिलित होने की तैयारी करने लगे। इस सम्मेलन के लिए जो विज्ञप्ति प्रसारित की गयी, उसमें यह भी था कि कुशीनगर पर सबसे अच्छी कविता को पुरस्कार मिलेगा। पंडित जी ने कविता लिखी, मैंने भी लिखी। तब तक कपिलदेव भी कवि हो गये थे। उन्होंने भी लिखी। कविताएं डाक से कुशीनगर सम्बद्ध व्यक्ति को भेज दी गयी। मेरी कविता स्कूल में खूब सराही गयी और सबको विश्वास था कि इसे पुरस्कार मिलेगा। मैं इन प्रशंसाओं से मन ही मन खूब पुलकित था, पुरस्कार पाने का एक रंगीन सपना मन में झिलमिला रहा था।

नियत तिथि को हम कुशीनगर के लिए रवाना हो गए। गोरखपुर पहुंचे। वहां से कुशीनगर की बस में बैठे तो देखा अनेक साहित्यकार-से लगने वाले लोग बस में बैठे थे। हां, साहित्यकार होना ही जरूरी नहीं है, लगना भी जरूरी है। मैं देहाती आदमी अपनी मामूली वेश-भूषा में साहित्यकार कहां से लगता ? अब भी लगता हूं, मुझे संदेह है। लेकिन शहर के साहित्यकारों या शहर में पढ़ रहे गांव के साहित्यकारों की सजी-संवरी वेश-भूषा थी। उनका अपना खास नक्शा था। उनके बोलने-बतियाने, ताकने की विशेष भगिमा थी। मैं हसद से उन्हें देख रहा था। यह नहीं जानता था कि इनमें कौन साहित्य के कितने गहरे पानी में है. लेकिन यह अवश्य लगता था कि ये लोग कुछ-न-कुछ हैं। पंडित जी अपने कुछ समवयस्कों को पहचानते थे। वे बता भी रहे थे कि अमुक-अमुक हैं, लेकिन नयी पीढ़ी का उन्हें ज्ञान नहीं था और नयी पीढ़ी का ही ठाट ज्यादा था जिसे मैं बार-बार देख रहा था और सोच रहा था कि वे मुझसे बड़े कवि हैं।

कुशीनगर उतरे। मेला था। चारों ओर साहित्यकार उतराये हुए थे। सैकड़ों छोलदारियां पड़ी थीं। एक में हमने भी आसन जमाया। कुशीनगर पहली बार देख रहा था। उसका प्राकृतिक वातावरण बहुत मनोहारी था। जाड़े की धूप में नहाता हुआ यहां का प्रकृति-वैभव बहुत पवित्र और सुंदर लग रहा था। उसमें साहित्य की चहल-पहल एक संगीत पैदा कर रही थी।

खा-पीकर निश्चिंत हुए तो धूप ढल चुकी थी। हम घूमने निकले। बुद्ध की महानिर्वाण की प्रतिमा के पास गये। अद्भुत। प्रतिमा की विशाल भव्यता मन मे नहीं अंट रही थी, वह केवल चकित कर रही थी। प्रतिमा नहीं, वह मनःशांति भी थी जो

चारों ओर अपनी स्वर्गिक आभा बिखेर रही थी। देखा कुछ विशिष्ट वेशभूषा और केश-विन्यास वाले युवा साहित्यकार वहां खड़े बात कर रहे थे। मैं उन्हें ललचायी आंखों से देखने लगा—न जाने कितने बड़े कवि होंगे ये। किसी ने कहा—"ये बनारस से आये हुए कवि हैं।" बनारस के नाम ने इन साहित्यकारों के प्रति मेरे आकर्षण को दुगुना कर दिया। उनमें से एक सज्जन विशेष आकर्षित कर रहे थे। बातचीत में उनके साथियों में से एक ने उनसे कहा—"भाई नरेश जी, आप तो कवि ठहरे, आप इस प्रतिमा की भव्य विराटता को शब्दों में बांध देंगे, हम शब्द नही पायेंगे।"

उस समय मैं घुंघराले बालों वाले विशिष्ट वेशभूषा वाले इस नरेश नामधारी व्यक्ति के बारे में कुछ नही जानता था। बाद में मालूम पड़ा कि ये नरेश मेहता थे।

चांदनी रात थी, हम कुशीनगर के खंडहरों में घूमते रहे। चांदनी रात में ये खंडहर अतीत की स्वप्निलता से और भर गये थे। इन खंडहरों मे गौतम बुद्ध, बौद्ध धर्म, संघ आदि के अनेक पढ़े-पढ़ाये, सुने-सुनाये प्रसंग जीवित हो रहे थे। कल्पना कितने दृश्य देख रही थी, कितनी आवाजें सुन रही थी, कितना कुछ छू रही थी। मेरे ही समान अनेक साहित्यकार इन खंडहरों में भटक रहे थे और अनंत कल्पनाएं अतीत की घाटियों में कुछ खोज रही थीं। पर्दे पर पर्दे उठ रहे थे। सच्चे अर्थों मे मैं चकित था।

दूसरा दिन निकला—एक विशेष उल्लास लेकर। आज दोपहर बाद सभा का उद्घाटन होना था। विशेष आकर्षण था श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का आना। वे सभा के अध्यक्ष थे। उनके दर्शन और उनके भाषण के लिए हम सबको बहुत उत्सुकता थी। सुबह से ही लोगों का मिलना-जुलना शुरू हो गया था। एक कैंप के लोग सुनते थे कि दूसरे में कुछ कवि ठहरे हैं तो वहां जाते थे और आग्रहपूर्वक कविताएं सुनते थे। दर-असल वहां आने वाले सभी कवि ही या साहित्यकार ही नही थे, साहित्यप्रेमी, हिन्दी-प्रेमी लोग भी थे, हिन्दी के शिक्षक भी थे। वे साहित्यकारों को ज्यादा स्पृहा और सम्मान मे देख रहे थे। छोलदारियां एक बडे मैदान मे पड़ी थी। जाड़े की खुशनुमा धूप में हम लोग घूम रहे थे, साहित्यकारों को पास या दूर से निहार रहे थे।

घूमते-घूमते गजपुर के लोककवि विद्युत जी मिल गये। उनसे मेरा परिचय बहुत पहले हो चुका था। विद्युत जी भोजपुरी कविताएं लिखते थे, स्वयं छपवाते थे और मेले-ठुटियों में घूम-घूमकर पुस्तकें बेचते थे। श्रीमानों के दरबारों मे भी जाते थे। वे सच्चे अर्थों में मसि-जीवी कवि थे। सास-बहू संवाद, कली-पवन संवाद, गंगावतरण आदि कई पुस्तकें जनता मे प्रिय हो चुकी थीं। विद्युत जी ने भोजपुरी भाषा के ठेठ मुहावरे को पकड़ा था—

> हम त बड़े बाप क बेटी
> धई के चंपबों नरेटी
> तुहार सेखी जाई भूली एहि घरिया में
> या
> सुनऽ ननदी क भइया
> हम परीं तुहरे पइयां

नाहीं सोइब तुहरे सेज
हमके नइहर द तू भेज
अइया माहुर कूचि कूचि भुसुनाइल करेली

कविता की दृष्टि से गजपुर उस समय बहुत जरखेज था। मन्नन द्विवेदी के बाद जीवन जी थे। उसी समय गुणागर मिश्र आगर नाम के कवि विराजमान थे। विद्युत जी भी गजपुर के ही थे। विद्युत जी बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा कमजोर नहीं थी। भोजपुरी में लिखी गयी उनकी कविताएं मुझे प्रभावित करती थीं। आज भी अच्छी लगती है किन्तु लोक-कवि यानी अपनी लोकभाषा में लिखने वाले अपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोग खड़ीबोली में कविता लिखने वाले पढ़े-लिखे लोगों द्वारा उसी तरह उपेक्षित होते थे, होते हैं जैसे खड़ीबोली में लिखने वाले हिन्दी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजीदां लोगों और लेखकों से होते हैं। बेचारे विद्युत जी किसी पद पर नहीं थे, पढ़े-लिखे नहीं थे, मेले-हटियों में अपनी कविताएं सुना-सुनाकर पुस्तकें बेचते थे और अपनी जीविका चलाते थे। क्या बुरा करते थे। इसी कारण लोग उन्हें गंभीरता से नहीं लेते थे, उन्हें मंगता कवि कहते थे। मेरे मन में इस कवि के लिए एक खास इज्जत है। तब जितनी रही होगी उससे ज्यादा इज्जत।

हां, तो विद्युत जी के साथ आगे बढ़े तो दूसरे लोक-कवि श्याम जी मिल गये। धूप में बैठे पूजा कर रहे थे। उनसे भी मेरा परिचय बरहज में हो चुका था। वे लार के आसपास के हैं। बरहज आया करते थे। आशु कवि हैं। उनके लिए सेठों के यहां प्राय: छोटे-छोटे मजमे जुटा करते थे और वे सेठों की प्रशंसा में आशु कविता सुनाया करते थे। विदाई के रूप में दो-एक रुपये पा जाते थे। श्याम भड़ैती के स्तर के मजाकिया आदमी थे। उनसे एक बार वहां परिचय हुआ, फिर दो-एक बार और भेंट हुई। जान-पहचान हो गयी। विद्युत जी के साथ उनके पास पहुंचा। साथ में कपिलदेव भी थे। दो-एक व्यक्ति और थे। जाते ही कहा—"श्याम जी, इनसे मिलिए, ये हैं लोक-कवि विद्युत जी।" एक लोक-कवि दूसरे लोक-कवि को सामने पाकर प्रतिस्पर्धा की मुद्रा में आ गया। पूजा करते-करते श्याम जी शरारत से मुसकराये और विद्युत जी पर मजाक का एक भभका छोड़ दिया। विद्युत जी भी प्रतिस्पर्धा में आ गये, लेकिन वे एकदम सीधे-सादे आदमी थे, श्याम जी के प्रहार से आहत होकर मजाक का कोई तीर छोड़ने के स्थान पर अपनी कविताएं सुनाने लगे और सीधे आक्रोश में बोले—"है तुम्हारे पास इस कविता का जवाब ? है तुम्हारे पास ऐसी कविता ?"

श्याम जी फिर शरारत से मुसकराये और पूजा पर बैठे-बैठे ही विद्युत जी के शरीर पर आशु कविता पढ़ने लगे, जिसके कुछ शब्द याद हैं—

गोभी की गांठ ऐसा चेहरा तुम्हारा बना

सभी लोग हंसने लगे। विद्युत जी के चेहरे की ऐसी सटीक उपमा से मैं चकित हो गया। भांड़ जैसा लगने वाला यह हास्य-रस का कवि केवल मजाकिया ही नहीं है, उसमें पर्यवेक्षण की गहरी शक्ति है। वह कितनी आसानी से सटीक उपमाएं चुन लेता है।

बेचारे विद्युत जी रुआंसा हो गए और हम लोग कुछ देर बाद वहां से सरक गए।

उद्घाटन समारोह शुरू हुआ। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के दर्शन की कामना पूरी हुई। एक सज्जन देवरिया के इतिहास पर बोल रहे थे। बहुत अच्छी हिन्दी में साफ-सुथरे ढग से वे देवरिया के सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास पर बोल रहे थे। मैं उनसे प्रभावित हुआ। मालूम हुआ कि वे हिन्दू विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्रोफेसर डा० राजबली पाण्डेय हैं। प्रोफेसर पद की गरिमा से मेरा मन यों ही अभिभूत था, डा० राजबली पाण्डेय जैसे प्रोफेसर को देखकर वह और भी प्रभावित हो उठा। यह भी ज्ञात हुआ कि वे देवरिया जिले के जमिरा गांव के हैं। गोरखपुर के कालेजों के भी दो-एक प्रोफेसर बोले। अंत में टंडन जी बोले। क्या वक्तव्य था, क्या ढंग था! हिन्दी और देश के प्रति स्वाभिमान की गूंज-अनुगूंज से भरा उनका भाषण निर्भीकता से अंगरेजों और उनकी व्यवस्था पर प्रहार कर रहा था। लगता ही नहीं था, सन् '42 के आंदोलन के बाद अंगरेजी अत्याचार से वे कहीं आतंकित हैं। समग्रतः उस सभा का अनुभव मेरे जीवन का एक मूल्यवान अनुभव है। उद्घाटन समारोह के बाद अद्भुत ऊर्जा और उत्साह वातावरण में व्याप्त हो गया था।

तिजहर को देखा। पड़रौना के कवि इंदु जी जीप मे उतर रहे हैं कुछ लोगों के साथ। उन लोगों को देखा, पहचाना। उनमें एक थे बेधड़क जी। संभवतः शंभुनाथ जी भी थे। बाकी को नहीं पहचानता था। धीरे-धीरे उन्हें भी जान गया। इंदु जी से मेरा परिचय था। उन्हें ही सबके नाम बताये। एक थे ईश दत्त शास्त्री श्रीश, एक थे त्रिगुणायत्त जी, एक थे लालधर त्रिपाठी प्रवासी और कई लोग थे। गोरखपुर के कवि तो थे ही।

रात को कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। बेधड़क जी ने कविता सुनाई थी—

मैं सुदर और असुंदर दोनों साथ-साथ

श्रीश जी ने अपने अत्यन्त मधुर कंठ से अपनी एक राष्ट्रीय कविता सुनाई—

सो रहा था वन में अभय होके सिंह एक
रखकर पांव लतिका के पायताने पर

कवि-सम्मेलन खूब जम रहा था। स्थानीय कवियों में जब श्याम जी का नाम पुकारा गया तो वे मंच पर आये और आशु कविता के मूड में आ गये। उन्होंने बेधड़क जी की कविता की पैरोडी सुना मारी—

मैं सुन्नर और असुन्नर दोनों के साथ-साथ
वेधड़क कवि की कविता बड़ी ऊंच
जैसे नारी के अधर कूच
निरगुनिया अउरी हुन्नर दोनों साथ-साथ

लोग हंस रहे थे। बेधड़क जी को बुरा लगा। वे मंच से उठकर चले गये। उनके साथ काशी के अन्य कवि भी चले गये। सम्मेलन उखड़ गया। सुबह मालूम हुआ कि

काशी के कवि श्याम जी और संयोजकों पर बहुत नाराज थे।

दूसरे दिन भी कई विचारगोष्ठियां होनी थीं, कई प्रस्ताव पास होने थे। पहली सभा में टंडन जी आये। उनके आने के बाद एस० पी० के नेतृत्व में पुलिस का एक दस्ता आया और एस० पी० ने स्टेज पर आकर टंडन जी से कहा—"आपने कल आपत्तिजनक भाषण दिया था, आपके विरुद्ध वारंट है। आपको अरेस्ट किया जाता है।"

घबराहट मच गयी, किन्तु टंडन जी प्रकृतिस्थ रहे, मुसकराते रहे। उठे और कहा—"पाच मिनट का समय देंगे ताकि मैं कुछ कपड़े ले सकूं?" एस० पी० बहुत अदब के साथ पेश आ रहा था। उसने कहा—"श्योर-श्योर, आप जितना चाहे समय ले लीजिए।"

टंडन जी उठे। सभा उजड़ गयी। वे अपने ठहरने के स्थान पर गये। पुलिस बाहर खड़ी रही। टंडन जी अपने कुछ कपड़े लेकर बाहर निकले। बोले—"चलिए।" जीप में बैठे। चले गए। वहां बच गयी एक उदासी, चर्चाओं की भनभनाहट। बाद में सारे कार्यक्रम पूरे हुए लेकिन खाना-पूर्ति के लिए। वह उत्साह, वह जीवंतता नहीं रही। तीसरे दिन हम लोग लौट आये।

19

तीसरा वर्ष आ गया। यानी सन् 1945। इस साल मैट्रिक की परीक्षा देनी थी। हम लोगों ने हिन्दू विश्वविद्यालय की एडमिशन (मैट्रिक) परीक्षा की तैयारी की थी, अतः परीक्षा देने बनारस जाना था। मेरी तैयारी ठीक नहीं लग रही थी। अंगरेजी बहुत ही कमजोर थी। हिसाब में बीजगणित की भिन्न मे मैं बहुत खौफ खाता था, किन्तु अंकगणित और ज्योमेट्री में मेरी बहुत अच्छी गति थी इसलिए मैं हिसाब से आश्वस्त था। अन्य विषयों में कोई चिन्ता नही थी। ज्यों-ज्यों परीक्षा नजदीक आ रही थी, अंगरेजी मुझे आतंकित कर रही थी। उससे अनबन थी और वह अभी तक बसी हुई है। प्रथम मिलन में ही हम दोनों एक-दूसरे को नहीं भाये और प्रथम मिलन की वह अप्रीति कभी भी प्रीति में नहीं बदली। उसने मुझे जगह-जगह मारा है, लेकिन मैं उसकी मार खाकर भी रोया नहीं और न उससे आतंकित हुआ। वह जाने कितनों के सिर पर चढ़कर इतराती रही। उन्हें बड़े-बड़े पदों, सामाजिक रुतबों, समृद्धि की सीढ़ियों पर ऊपर की ओर खींचती रही और घोड़े की कलगी की तरह लहराती रही। वह न जाने कितने बच्चों की सीधी-सादी गति को वक्रता और ऐंठन की भंगिमा प्रदान करती रही और उन्हें धीरे-धीरे अपनी भाषा, संस्कृति और सामाजिक प्ररंपरा के प्रति उपहास-भरी हंसी हंसना सिखाती रही, लेकिन मैं अपनी भाषा के प्रति अभिमानशील बना रहा, बहुत अच्छी अंगरेजी न आने की कोई कुंठा, कोई हीनता नहीं पाली। उसके द्वारा लगे घावों

को अपनी भाषा का प्यार, उसकी मातृ-सुलभ ममता, मित्र-सुलभ सुखात्मक-दुःखात्मक संवाद, पितृ-सुलभ आश्वस्तिकारी स्पर्श भरता रहा। अंगरेजी ने मुझे कुछ नहीं दिया, इसकी पीड़ा कम व्यापी, अपनी भाषा ने मुझे कितना कुछ दिया इसका सुख अधिक से अधिक मुझे भीतर से भरता रहा। मर-मरकर जीती, गिर-गिरकर उठती, रो-रोकर हंसती, टूट-टूटकर जुड़ती, धरती के रस में भीगती, प्रकृति के क्रोध से आहत, उसकी हंसी में धूप की तरह खिलखिलाती, देशी जनता से जुड़ी, इस भाषा ने मुझे पद-वैभव या सम्मान के रंगीन मायाजाल में खोने से बचा लिया और एक देशी समझ और देशी स्वाभिमान दिया।

जब अपने बारे में सोचता हूं तो इस देश के उन अनंत प्रतिभाशाली बच्चों, किशोरों और युवाओं की भीड़ सामने उतरा जाती है जो अंगरेजी के मोह से ग्रस्त और उसके प्रसाद से विन्यस्त एक नकली ऊंचे समाज के शिकार होकर अपमान सहते हैं, बेकारी झेलते हैं या नीचे की श्रेणी के नौकर बनकर रह जाते हैं। उनकी प्रतिभा अंगरेजी के षड्यंत्र का शिकार बनकर रह जाती है। आजादी मिले कितने वर्ष हो गए, हिन्दी और देशी भाषाओं को उनका प्राप्य मिलने नहीं दिया गया। राजनेता, उच्चपदस्थ अधिकारी, व्यवसायी सभी तो जनता में अपना वैशिष्ट्य बनाये रखना चाहते है। वे सामान्य जनता के स्तर पर नहीं आना चाहते। इसके लिए सबके सशक्त साधन है अंगरेजी देवी को बनाये रखना। मौके-मौके पर राजनेता हिन्दी या देशी भाषाओं के विकास पर भाषण दे देंगे, लेकिन उनकी वाणी तो अर्थ खो चुकी है न! वे तो केवल शब्द बोलते हैं—अर्थहीन शब्द। अफसर लोगों को अंगरेजी के ही सहारे देश और विदेश में वह सब कुछ मिल जाता है जो देशी भाषा के पारंगतों को कभी नसीब नहीं हो सकता। वे क्यों चाहेंगे कि देशी भाषाओं में काम हो? हिन्दी सलाहकार समितियों के आने पर वे हिन्दी-प्रेम दिखायेंगे, समिति के जाते ही मुसकरायेंगे—"बड़े आये थे हिन्दी का विकास करने। गंवार देसी लोग!"

अंगरेजी मेरे जैसे गंवार लोगों को भले न ललचाती हो, बहुतों को खूब आकृष्ट करती है और वे अपना सारा देसीपन झाड़-फूंककर उसकी खिदमत में अपने को समर्पित कर देते हैं और उसकी नकली चमक से गौरवान्वित अनुभव करते हैं या उसके अभाव में हीनता-बोध के शिकार हो जाते है। दिन-रात सोचते हैं—हाय, यदि अंगरेजी की कृपा मुझ पर हो गयी होती तो मैं क्या से क्या बन गया होता! इसी हीनता-बोध के क्रम में वे अपनी टुटही अंगरेजी हांकते रहते हैं और अपने छोटों पर रोब गालिब करते रहते हैं तथा अच्छे अंगरेजीदां लोगों के उपहास-पात्र बनते रहते हैं। वे ये नहीं प्रकट करना चाहते कि उन्हें अंगरेजी नहीं आती। मैंने विश्वविद्यालय या कॉलेज की अनेक बैठकों में यह अनुभव किया है। जाहिर है वहां लोग अंगरेजी में ही बोलते हैं, किन्तु हिन्दी में बोलने की मनाही नहीं होती किन्तु तो भी साहब, कई संस्कृत, उर्दू और हिन्दी के लोग अंगरेजी में ही बोलने का प्रयत्न करते हैं, भले वे अपनी टुटही अंगरेजी के कारण उपहासास्पद लगते हों। जब कोई व्यक्ति हीनता ग्रंथि का शिकार हुए बिना हिन्दी में बोलता है तो कई और लोगों को बल मिल जाता है और बैठक की भाषा में

हिन्दी भी चलने लगती है।

मैं कहां मे कहां चला गया। लगता है, मैं अपनी अंगरेजी की कमजोरी को तर्क-संगति प्रदान करने लगा। खैर, जो भी हो साहब, मेरी अंगरेजी अच्छी नहीं थी और डर था कि क्या होगा ? निश्चित दिन हम बनारस के लिए रवाना हुए। पंडित जी थे और हम पांच विद्यार्थी थे—मैं, कपिलदेव, कपिलदेव साही, बिक्रमादित्य द्विवेदी और वीर बहादुर सिंह। बड़हलगंज में नाव से सरयू पार के दोहरी घाट रेलवे स्टेशन पर गाडी पकड़नी पड़ती थी। नाव की अपनी गति होती है। गाड़ी छूटने का समय हो रहा था, हम घबरा रहे थे। पार उतरते-उतरते समय हो गया और दूर से ही देखा कि गार्ड सीटी देकर हरी झंडी दे रहा है। हम सामान लिए लदर-फदर दौड़ने लगे। निश्चित हो गया था कि पहुंचते-पहुचते गाड़ी छूट जाएगी, फिर भी दौड़ रहे थे। गाड़ी रुकी रही। हम पहुंच गये तो देखा गार्ड हरी झंडी दिखा रहा था। उसने कहा—"मैंने आप लोगों को देख लिया था, बैठिए, टिकट गाड़ी में ही ले लीजिएगा।" हमने आभार व्यक्त किया। गाड़ी चल पड़ी।

बनारस में हम जहां ठहरे, वह जगह एक सिनेमा हॉल के पीछे थी। सिनेमा हॉल से निरंतर गाने उठते रहते थे। सिनेमा हॉल के एकदम पीछे एक कोठी थी जिसकी छत पर एक सुन्दरी दिखाई पड़ती थी। सिनेमा हॉल, उसके भीतर से उठते हुए गीत, सिनेमा हॉल के भीतर चलता स्वप्निल लोक और हॉल के पास एक नागरिक सुन्दरी, हम देहातियों के लिए यह सचमुच बहुत मोहक परिवेश था। अब मेरे भीतर रूमानियत की तड़प जाग चुकी थी, सुन्दर स्त्रियां अच्छी ही नहीं लगती थी, लुभाती भी थीं, लेकिन नागरिक स्त्रियों का साहचर्य अपने लिए एक मोहक सपना मात्र था। उन्हें दूर से और छिपकर देखने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता था, कल्पना में उनके साथ हो लेने की यात्रा चलती रहती थी। मेरे साथ के युवक भी इसी स्थिति और मनःस्थिति के थे। रोज नये-नये प्रश्न-पत्रों की तैयारी करनी होती थी, किन्तु उस युवती का जादू कुछ ऐसा छा गया था कि हम लोग पढ़ते-पढते उसकी छत की ओर देखने लगते थे। यदि वह होती तो उसे देखते। विक्रमादित्य धीरे-धीरे कोई फिल्मी गीत गुनगुनाते—यदि पंडित जी कही बाहर गये हुए होते तो। शाम को घूमने निकलते तो चौक में, गोदौलिया पर दशाश्वमेध घाट पर नारी-सौंदर्य की रगीनियों के प्रवाह में बह जाते। परीक्षा-भवन जाते तो वहां एक से एक सुन्दर लड़किया दिखाई पडतीं। मन एक खुशबू से भर जाता। उस खुशबू-भरी मनःस्थिति को कोई नाम नही दे सकता। उस अवस्था की खुशबू फिर लौटकर नहीं आती। चाहे बाद में फूल कितने ही मिल जायें। उस समय किसी फूल की प्राप्ति के बिना ही एक महक उठ रही थी—शायद वह महक कस्तूरी मृग की तरह अपने ही मन के भीतर की थी, जिसे बाहरी दुनिया ने अपने कोमल स्पर्श से जगा दिया था। परीक्षा की मानसिकता के साथ यह खुशबू की मानसिकता प्रतिस्पर्धा कर रही थी। जो भी हो मेरा स्वभाव संयम का रहा है, मैं मन के भीतर उठते सारे मधुर कोलाहल को पीकर सामाजिकता या कर्तव्य के प्रति अपने को जोड़े रहने में काफी दूर तक सफल हो जाता हूं। इसे अचेतन की उद्दामता पर

चेतन का दबाव भी कह सकते हैं, एक अर्थ में इसे मेरी भीरुता भी कह सकते हैं। भीतर-भीतर किसी चीज को चाहते हुए भी मैं उसके लिए सामाजिक लांछन लेना नहीं चाहता। मैं समझता हूं कि मेरी यह भीरुता अच्छी ही है। सामाजिक लांछन से बचने का भय ठीक ही है, नहीं तो दुनिया में ललचाने वाली वस्तुओं का कहीं अंत है क्या ? क्या लोभी मन स्वभावतः एक लुभाने वाली वस्तु से दूसरी पर नहीं उड़ता फिरता ? इस तरह यदि हर अच्छी लगने वाली वस्तु को भोगने का साहस आ जाए तो फिर सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उसका परिणाम क्या होगा ? समाज को तोड़ने से बेहतर है अपने को संयम में रखना—यह संयम चाहे विवेक से उत्पन्न हुआ हो चाहे भय से। वह संयम अविवेक या दुस्साहस से उत्पन्न मर्दानगी से मूल्यवान है। याद रहे, मैं ये बातें यहां एक विशेष संदर्भ में यानी नारी और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण और प्राप्ति के संदर्भ में कह रहा हूं।

परीक्षा दे आया और काफी दिनों तक बनारस की रूमानी महक मेरे भीतर बनी रही। एक इच्छा मन में बार-बार उठती कि काश, कोई प्रेयसी होती। कवियों की कविताएं पढ़-पढ़कर—विशेषतया छायावादी कविताएं पढ़-पढ़कर ऐसा लगने लगा था कि कवियों की प्रेयसी जरूर होती हैं, अधिक नहीं, तो कम-से-कम एक जरूर। प्रेयसी कविता की प्रेरणा होती है। इतने सारे आंसू, इतनी सारी मस्ती, इतने सारे उलाहने, इतनी सारी बेचैनियां, मिलन के इतने सारे सपने आखिर किसके लिए हैं और कहां से आते हैं ? सबके मूल में प्रेयसी ही है न। और यह सोचकर अपने प्रति कितना खालीपन अनुभव होता था कि पंत, प्रसाद, निराला, बच्चन आदि शहरी कवि प्रेयसियों से कितने भरे-पूरे रहे होंगे। देहात में प्रेयसी कहां मिल सकती है ? एक तो ये गांव की लड़कियां—सम्बन्ध मे बहनें या बुआ या बेटियां, दूसरे अपढ़। ये कविता क्या समझेंगी ? किसे सुनाऊं अपनी कविता की व्यथा ?···मन यों ही खाली-खाली भटक रहा था। घर-गृहस्थी का काम-धाम करते हुए भी मन में एक काल्पनिक प्रेयसी का सपना भरे जी रहा था। तभी एक ऐसा प्रसंग आया कि मैं एक दूसरी दुनिया में आ गया।

मेरी छोटी बहन कमला के गौने का दिन धर गया था। विदाई के दर्द का भारी अहसास घर के कोने-कोने में, व्यक्ति-व्यक्ति के मन में पसर गया था। कमला सबसे छोटी थी, सबकी प्यारी। प्यारी बच्ची के चले जाने का एहसास लिए हर व्यक्ति भीतर-भीतर रो रहा था, एक-दूसरे से आंखें चुरा रहा था। वह मेरे तो बहुत ही निकट थी। उसका जन्म मेरे बाद हुआ था, इसलिए हम साथ खेले भी थे, रोये-गाये भी थे। मां के साथ ननिहाल गयी थी। दो महीने बाद जब वह मां के साथ लौटी थी तो मैं उसे गोद में लिये-लिये गांव घूम आया था। बचपन में ही एक बार हम बगीचे में आम बीन रहे थे। बहुत तेज आंधी आयी—बुढ़िया आंधी थी। कमली मेरे साथ थी। हम दोनों आंधी में उड़ चले। मैंने उसे पकड़ रखा था और जाकर एक पेड़ से टिक गया। तब तक एक डाल टूटी और उसका एक हलका आघात मेरी बांह पर टूटा। मैं वहां से कमली की बांह पकड़े बगीचे से बाहर भागा और खंदक में जाकर ठहर गये। देखा, वहां बहुत-से डरे हुए लोग पहले से ही शरण लिए हुए थे। डर रहा था कि आंधी यहां

से भी न उड़ा ले जाय। फिर तेज बारिश शुरू हो गयी। कमली डर से और भीगने से हलहल-हलहल कांप रही थी और मैं अपने डर तथा कंपन को दबाए उसे आश्वस्त करने में लगा था। ज्योंही आंधी-पानी का जोर खत्म हुआ, मैं उसे गोद में उठाये घर की ओर भागा कि फिर से न आंधी आ जाये। देखा—तमाम लोग बगीचे की ओर भागे जा रहे है। मुझे आश्चर्य हुआ कि क्यों ये लोग आफत की ओर लपके जा रहे हैं। घर आया तो राहत की सांस ली। मां ने कहा—"बेटे, आंधी-पानी मे तो तुम बगीचे में रहे, जब आंधी-पानी थम गया और गिरे हुए आम बीनने की बारी आयी तो घर भाग आये।" मैं फिर बगीचे की ओर भागा, तब तक लोग-बाग आम बीन चुके थे।

ऐसी कितनी ही घटनाएं हैं, कितने ही प्रसंग हैं, जो याद आ रहे थे। कमली रोती थी तो कलेजा फट जाता था। मैं बचता फिरता था, लेकिन जब कभी पकड में आ जाता, कमली मेरे पांव से चिपट जाती और 'आरे ए मोर बाबू' कहकर जो रोना शुरू करती, तो मेरा अस्तित्व पिघलकर बहने लगता। रो-रोकर वह न जाने कितने प्रसग याद करती और कराती और मैं बुक्का मारकर रोने लगता। कोई यहां रोता, कोई वहा रोता। एक के रोने से पूरे घर मे रोने की लय उठती चली जाती और पूरा घर विलाप का एक समवेत संगीत बन जाता। भइया भी कमली को बहुत मानते थे। वे बडे होने के कारण तथा बचपन से ही मुसीबतो से जूझने के कारण अपने को सयत बनाए हुए थे। वे खाट पर स्तब्ध पडे रहते। मै स्वभाव से भावुक हूं। मुझे तो दूसरो की बहन-बेटियो की विदाई भीतर तक हिला जाती थी, यह तो अपनी बहन थी। पिता भी भभा-भभाकर रो पडते थे। मां की वेदना का तो कोई अत नही था। भाभिया अलग रो रही थी।

इस परिवार के मन मे एक डर बसा हुआ था। बडी बहन की दुर्दशा और अमानवीय अंत का त्रासद अनुभव सबके अंतर्मन मे था। सबकी आत्मा मानो मौन रूप से चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी—"हे ईश्वर, इस बेटी की रक्षा करना, इसे वह दिन मत दिखाना जो बडी बेटी को दिखाया था।" बहुत रोकने पर भी बड़ी बहन की करुण जीवन-कथा मेरी चेतना को झकझोर-झकझोर उठती थी। तब मै छोटा था। मझले भाई और मैं दोनो बहन के बारे मे बात करते थे। कल्पना करते थे कि खूब सुखी होगी। हम अपनी गरीबी के विपरीत उसकी समृद्धि की कल्पना करते थे। आपस मे कहते थे—खूब अच्छा खाती-पीती होगी, पहनती-ओढ़ती होगी। लेकिन एक दिन जब उसकी कथा जानी-समझी तो टूट-टूटकर बिखर गये। एक दिन देखा—पिताजी बहन की डोली लिए घर आये। हम बहुत खुश हुए, बहन आयी, बहन आयी—लेकिन जब उसे डोली मे से उतारा गया तो देखकर सन्न रह गया—अरे, यह तो बहिनिया नही है, कोई और है। मैं डर से थोडा पीछे हट गया। बहिनिया मुसकरायी। आह, वह मुसकराहट कितनी दर्दनाक थी जैसे किसी मुर्दे के मुह पर मुसकराहट चिपका दी गयी हो। मैं बच्चा था। उसे देख-देखकर लगता था कि कुछ है जिसे मैं समझ तो नही रहा हूं किन्तु अनुभव कर रहा हूं। एक दिन देखा कि लोग रो-पीट रहे हैं और बहिनिया की लाश घर के बाहर लिटा दी गयी है। मां का बिलाप कलेजा फाड़ रहा था।

जब मैं कुछ सयाना हुआ और बात को समझने लगा तो बहिनिया की कथा पकड़ में आयी और यह बात भी समझ में आयी कि यह कथा बहिनिया की ही नहीं है, यह हमारे देश के, विशेषतया गांव के अनेक घरों की लड़कियों की है। बहिनिया ने गवने के साल-भर के भीतर ही ससुराल में न जाने कितने नरक भोग लिये। इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसने मां से कहा था—"माई, मेरे मरने की खबर उन पापियों को मत देना।" कितनी गहरी पीड़ा की व्यंजना थी इस कथन में ! लाश छूना और दाह-कर्म करना तो दूर रहा, मरने का समाचार भी उन सबों को छूकर अपवित्र न हो जाय। उन सबों में वह पति भी शामिल था जिसे नरक भोगती हुई भी भारतीय पत्नी कहीं-न-कहीं पकड़े रहती है। बहिनिया की पीड़ा से उपजा हुआ यह विद्रोह भाव कितना प्रामाणिक और मूल्यवान था कि यह पति पति कहाने लायक नही है, उस हरामजादे को मेरी मौत का समाचार पाने का भी हक नहीं है, मैं उसे क्षमा नहीं कर सकती, मेरा रोम-रोम उसे शाप दे रहा है—नरक का यह कीड़ा नरक में ही जाय।

बहिनिया को शैशवावस्था में जितना देखा और जाना था उतना बहुत अच्छा लगने वाला था, लेकिन अधिक को जाना उसके मरने के बाद—समझने लायक होने पर। उसे मां के गुण मिले थे। सुन्दर थी, गुणी थी, अच्छा कंठ मिला था, हंसमुख थी, गांव में वह अपनी सखियों की अगुवा थी। पिताजी का खुला शासन था, वह अकुंठ भाव से गाती-बजाती उड़ती-फिरती थी; मेलों, पर्वों, त्योहारों, शादियों आदि के सांस्कृतिक अवसर उसके संगीत और उल्लास मे धन्य हो उठते थे। सीना-पिरोना, अच्छा खाना बनाना आदि घरेलू कार्यों में वह अत्यत निपुण थी। ग़रीबी के क्रूर दबाव में पिसते हुए भी पिता जी ने कर्जा लेकर धूमधाम से उसका विवाह किया था। विवाह की धूमधाम की वर्षों चर्चा होती रही।

फिर क्या कमी थी जिसके कारण उसे यह मौत मरनी पड़ी ? मां बताती है, सास चुड़ैल थी, ननद डायन थी, मरद कायर था, ससुर सास की हुकूमत में था। वे गरीब नहीं थे फिर भी बहिनिया को भरपेट खाना नहीं दिया जाता था। सारा काम बहिनिया को ही करना पड़ता था। जितनी बार वह ट्वायलेट जाती उसे नहाना पड़ता—जाड़ों में भी। बीमार पड़ गयी। बीमारी में भी उसे काम करना पड़ता, नहीं कर पाती तो उसकी पिटाई होती, उसके बाल खींचे जाते, आंगन में घसीटा जाता, पिताजी का नाम ले-लेकर गाली दी जाती। इतिहास बार-बार एक चक्रव्यूह को मुहावरे के तौर पर याद करता है जिसमें सात महारथियों ने मिलकर अभिमन्यु को मारा था, किन्तु चक्रव्यूह के अनुभव के लिए सुदूर इतिहास में जाने की क्या आवश्यकता है ? क्या ससुराल जाने वाली प्रत्येक लड़की अभिमन्यु नहीं है ? अभिमन्यु तो अपने विरोधियों के विरुद्ध युद्ध करता हुआ, उन्हें मारता हुआ मरा, वह लगातार उसका भेदन कर निकलने की कोशिश करता रहा, लेकिन लड़की को किसी के विरुद्ध लड़ने का न अधिकार है न शक्ति। उसे मारने वाले सारे लोग उसके लिए पूज्य हैं, उनके सारे अत्याचार नैतिकता के नाम पर स्वीकार्य हैं।

सोचता हूं तो अजीब लगता है न ! मां-बाप, भाई-बहन, सखियों के बीच हंसती-

चहचहाती, पंछी की तरह उड़ती लड़की सुखी दांपत्य जीवन के नाम पर एकाएक अजनबियों के बीच ठेल दी जाती है। वहां उसका कोई नहीं, हर व्यक्ति जैसे उससे तना हुआ, उसका इम्तहान लेता हुआ, फेल करता हुआ, दंडित करता हुआ, ताने मारता हुआ। और वह जाल में पड़े पंछी की तरह फड़फड़ाती है। फड़फड़ाती भी नहीं, चुपचाप पड़ी होती है। वह भीतर-भीतर आंसू बहाती है, मायके के दिन याद करती है। इन अजनबियों के बीच यदि पति सहानुभूतिशील मिल गया तो वह ये पहाड़ से दुःख भी काट लेती है, नहीं तो उसे उठाए हुए खंड-खंड होती रहती है। सबसे कष्टकर पहलू तो यह है कि वह सास जिसकी बेटी ससुराल जाने की उम्र में आ रही होती है, वही बहू पर सबसे अधिक कहर ढाती है, वह एक पल भी नहीं सोचती कि उसकी बेटी भी तो बहू बनकर ससुराल जाने वाली है, उसके साथ भी यही सब हुआ तो क्या होगा? लेकिन नहीं, वह तो अपनी बेटी के बारे में अच्छा ही सोचती है, यानी वह दूसरे की बेटी को चाहे जितनी भी ताड़ना देने की अधिकारी है, उसकी बेटी को कोई कुछ न कहे। लोग उस पर प्यार की वर्षा करें। और वह बेटी जो खुद बहू बनने वाली है, अपनी भाभी पर कितना कहर ढाती है। न जाने कितनी विकृत चुगली, कितनी गालियां, कितनी शिकायतें वह भाभी के प्रति उगलती रहती है। यातना देने और यातना पाने का कितना लम्बा और अटूट सिलसिला चला आ रहा है!

बहिनिया आयी तो लगा कि उसकी पीठ धोबी का पाट हो गयी है, रूखे-सूखे उलझे हुए बाल जिनमें जूं रेंग रही थीं, शरीर पर जगह-जगह पिटने के निशान, आंखों में रक्तहीन शून्यता, कंठ में अटकती हुई आवाज। मां देखते ही धाड़ मारकर रो उठी थी। फिर वही सवाल—बहिनिया क्या केवल मेरी बहिनिया थी? नहीं, तमाम लोगों की बहिनियों का यह हाल है। उन बहिनियों का भी यही हाल है जो मायके में भाभियों का यह हाल बनाने में सहायक होती हैं। यह दर्द मेरा नहीं है, न जाने कितनों का है। लोक-गीत लोक के दर्द के गीत होते हैं और बहिनियां की स्थिति की कल्पना के साथ मुझे एक लोक-गीत याद आ रहा है—भाई बहन के घर गया है। उसका हालचाल पूछता है। बहन हालचाल बताती है—

पीठि देख ए भइया पीठि देख
जइसे कि धोबिया क पाट हो
मूड़ देख ए भइया मूड़ देख
जैसे कुकरिया क पोंछि हो
नव मन कूटी ले, नव मन पीसी ले
नव मन सीझेली रसोई हो
पिछली टिकरिया भइया हमरी भोजनिया
ओहू में कुकुर बिलारि हो
ई दुखवा जनि कहिह बाबा से भइया हो
सभवा बैठि मुरझइहनि हो
ई दुखवा जनि कहिह मइया से भइया हो

छतिया फारि मरि जइहन हो
ई दुखवा जनि कहिह् बहिनी से भइया हो
सुनि ससुररिया न जइहनि हो
ई दुखवा जनि कहिह् भउजी से भइया हो
दुई चारि घर बांटि अइहनि हो
ई दुखवा बांध भइया अपनी पगड़िया
जहवां खोलउ तहवां रोयउ हो—

बहिनिया चली गयी। मां की ममता, पिता का दुलार कोई भी उस जर्जर यौवन को नहीं बचा सका। क्यों चली गयी, क्यों चली जाती हैं ढेर-की-ढेर लड़कियां, क्यों जला दी जाती हैं मेहंदी लगे हाथ वाली जवानियां, क्यों बसंत के सपनों-भरी आंखों में मौत का तेजाब फेंक दिया जाता है? कौन देगा उत्तर? मैं? आप? वे? शायद सभी को उत्तर खोजना है, क्योंकि सभी एक-दूसरे की आग में झुलस रहे है।

कब जागेगी इन लड़कियों के भीतर एक आग जो उनके भीतर आत्मा के चारों ओर ताने गये मर्यादा, नैतिकता, सनातन सम्बन्धों आदि के मिथ्या आवरणों को जलाकर उन्हें अपनी मानवीय अस्मिता का बोध करायेगी। उनकी अपनी आग ही उन्हें बचा पायेगी। पुरुष-प्रधान अर्थलिप्सु समाज मे उन्हें दूसरों की महायता की आशा नहीं करनी चाहिए, उनकी अपनी आग ही जगनी चाहिए। जगने की शुरुआत तो हो गयी है लेकिन गति बहुत मंद है।

इसलिए कमली की विदाई के समय अलग होने के दर्द के साथ बहिनिया की पीड़ा की आशंका प्रत्येक व्यक्ति के मन को मथ रही थी। यद्यपि बहिनिया की ससुराल-कथा के अनुभव के कारण कमली के घर-वर के चुनाव मे बहुत सावधानी बरती गयी, सम्पन्न परिवार चुना गया था, पूछताछ कर पता लगा लिया गया था कि घर के लोगों का स्वभाव कैसा है। परसिया गांव की चर्चा बरहज-यात्रा के संदर्भ में कर चुका हूं जहां मैं अपने चचेरे जीजा रामनिहोरा तिवारी और अपनी मौसी से आपकी पहचान करा चुका हूं। उसी गाव में कमली की शादी तय हुई थी। उस गांव में हमारे गाव के अनेक सम्बन्धी थे, अतः वास्तविकता का पता लगाने में कठिनाई नही हुई थी। लेकिन वास्तविकता क्या वास्तव मे इतनी आसानी से पूछताछ करके जानी जा सकती है? जब हम अपनी ही वास्तविकता आसानी से नहीं जान पाते तो दूसरों की क्या जान पायेंगे? सो, इतनी पूछताछ के बाद भी मन डरा हुआ था कि पता नहीं सास कैसी होगी, ससुर कैसे होगे, भसुर कैसे होंगे, ननदें क्या भूमिका अदा करेंगी और सबसे बड़ी बात यह कि पतिदेव का क्या 'रोल' होगा? शादी मे सारे पुरुषों की हलकी-हलकी पहचान हो गयी थी और मन उनकी सज्जनता के प्रति आश्वस्त था, लेकिन औरत के लिए सबसे बड़ा खतरा तो औरत होती है न, इसलिए घर में बैठी हुई सास, जेठानी, ननद का क्या रूप होगा, इसी की अनिश्चितता इस विदाई को अतिरिक्त वेदना प्रदान कर रही थी।

कैसा है लड़कियों का जीवन! मायके में रह नहीं सकतीं। वहां रखो तो जीवन कुंठित हो जाय। एक जीवनसाथी का साथ होना सारे साथों के ऊपर होता है। उसके

लिए लड़की किशोरावस्था से ही कितने सपने मन में संजोती है, कितने व्रत रखती है, कितनी मनौतियां मानती है। इसलिए मायके के भरे-पूरे घर में अपनों के बीच वह एक उम्र में बेगानी हो जाती है। और जब उस बेगानेपन को तोड़ने के लिए जीवनसाथी के घर जाती है तो पीछे पीड़ा से हाहाकार करता हुआ मायके का परिवार उसे पकड़कर अपनी ओर खींचता है, दूसरी ओर जीवनसाथी के साथ जहां पहुंचती है वह परिवार उसे बेगाना समझने लगता है। हर बात में उसकी आलोचना होती है, हर काम में नुक्स निकाला जाता है और जैसे पूरा एक अजनबी परिवेश उसका इम्तहान लेता है और वह उस परिवेश में गिरती-पड़ती, अपने भरे-पूरे मायके को याद करती है। धीरे-धीरे उस अजनबी परिवेश की चोट सहते-सहते उसे अपना लेती है। यही है उसकी नियति, यही है उसका घर, चाहे जैसा भी हो, यहां से कहां जाना ?

कमली विदा हो रही है। मां, भाभियों, सखियों सभी को भींच-भींचकर रो रही है। सभी उसे भींच-भींचकर रो रहे हैं। पिता और भाइयों के पैर पकड़-पकड़कर वह रो रही है। मैं भीतर से फटा जा रहा हूं। चाहता हूं, भागकर कहीं छिप जाऊं, लेकिन आज छिप भी कैसे सकता हूं ? डोली विदा होकर गोइंड़ के खेत में उतर गयी है। सखियां भेंट रही हैं। बहन गांव-गिरांव के हर दृश्य को आंखों में भर लेना चाहती है। सभी छूट रहे हैं, न जाने फिर कब आना हो, इनके बीच स्वच्छंदता से फिर उड़ने-विचरने का अवसर मिले न मिले। विदा-विदा मेरे खेतो, विदा मेरे वृक्षो, विदा मेरे ताल-तलैयो, विदा मेरे पशु-पक्षियो, विदा मेरे पर्व-त्योहारो, विदा मेरी सखियो, विदा मेरे भाइयो, विदा मेरे बाबुल, विदा मेरी मां आं आं आ···। कमली चिल्ला उठी थी, डोली उठ गयी थी।

भइया खाट पर कटे रुख की तरह पड़े थे। मुझे आदेश हुआ था कि मैं चौरी-चौरा स्टेशन तक कमली के साथ जाऊं। मेरे लिए यह थोड़े संतोष की भी बात थी कि अभी चार-पांच घंटे तक उसे देख पाऊंगा। चौरीचौरी स्टेशन से वापस रवाना हुआ तो चला नहीं जा रहा था, पग बोझिल हो गये थे, मन भरा-भरा आ रहा था। एकांत पा-पाकर रो उठता था। घर लौटा तो देखा भइया उसी तरह खाट पर उदास पड़े थे। मुझे देखा, धीरे से पूछा—"गाड़ी पर चढ़ाकर आये ?" "हां।" फिर कोई संवाद स्थापित नहीं हुआ। पूरा घर उदासी में डूबा था। मैं खा-पीकर सो गया, रात को कमली याद आती रही और मैं रह-रहकर रोता रहा।

कमली की विदाई के कुछ दिन बाद ही मैट्रिक का परिणाम निकला। मैं फेल हो गया। अंक तालिका मिलने पर ज्ञात हुआ कि अंगरेजी में फेल हूं, बाकी विषयों में अच्छे अंक प्राप्त थे। अंगरेजी ने मार दिया। कपिलदेव पास हो गये थे। मैं ढरसी पंडित जी के पास पहुंचा—उदास-उदास। पंडित जी भी मुझे देखकर उदास हो गये। मैंने उनसे कहा—"मैं अब नहीं पढ़ूंगा। अंगरेजी ने मुझे भीतर तक तोड़ दिया।" पंडित जी कुछ सोचते रहे। एकाएक उत्साहित होकर बोले—"कवि जी, काशी विद्यापीठ में पत्रकारिता का पाठ्यक्रम शुरू हो रहा है, उसमें प्रवेश ले लो। विद्यापीठ राष्ट्रीय

संस्था है, वहां निश्चय ही हिन्दी का बड़ा मान होगा, वहां आप ले लिए जायेंगे।" मेरा टूटा हुआ मन कुछ उत्साहित हुआ।

काशी विद्यापीठ में दाखिला लेने के लिए मैं बनारस पहुंचा। बनारस में हमारे गांव के पास के गांव सरार के श्री अवधनारायण धर द्विवेदी रहते थे। वे साहित्यरत्न पास थे और वहां की कई साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध थे। उन्हीं के यहां ठहरा। खा-पीकर बहुत उत्साह के साथ काशी विद्यापीठ पहुंचा। वहां सम्बद्ध व्यक्ति से अपना उद्देश्य बताया। उस व्यक्ति ने पूछा—"आपकी क्वालिफिकेशन क्या है?"

"साहित्यरत्न हूं।"

"अंगरेजी की शिक्षा कितनी है?"

"मैट्रिक फेल हूं, अंगरेजी के कारण।"

"देखिए, पत्रकारिता के लिए अंगरेजी का ज्ञान बहुत जरूरी है। अधिकांश व्याख्यान अंगरेजी में होंगे। आपकी समझ में नहीं आयेंगे।"

मैं हताश लौट आया। सोचने लगा—"हिन्दी की उपाधियां किस काम की यदि राष्ट्रीय संस्थाओं में भी शिक्षा का माध्यम अंगरेजी ही हो।" हिन्दी को लेकर जो एक सपना था वह एक झटके में टूटकर बिखर गया। कुछ समझ में नहीं आ रहा था, क्या करूं, कहां जाऊं? जीवन की कोई दिशा सूझ नहीं रही थी। इधर-उधर घूमा। शाम को द्विवेदी जी के यहां पहुंचा। उन्होंने पूछा—"कहो, क्या हुआ?"

"नहीं हुआ। वे अंगरेजी का अच्छा ज्ञान चाहते हैं।"

"धत्तेरी की! वहां भी हिन्दी की जगह नहीं!"

मुझे बेहद उदास देखकर द्विवेदी जी भी दुखी हो गये, फिर एकाएक बोले—"सुनो, तुम इतने उदास और निराश क्यों हो? अभी तुम्हारी उम्र ही क्या हुई है। एक मैट्रिक फेल हो जाने से ही यात्रा अवरुद्ध हो गयी? तुम दुबारा इम्तहान दो। यहां मेरे एक मित्र हैं शर्मा जी। वे एक प्राइवेट स्कूल चलाते हैं कैंब्रिज एकेडेमी। मैं कल उनसे बात करा दे रहा हूं। जितनी सुविधाएं मिल सकती हैं, मिलेंगी। स्कूल का अपना एक हॉस्टल भी है, उसमें कमरा मिल जायेगा। अच्छे विद्यार्थी हो, इस एक ठोकर में गिरकर पड़े रहना अच्छा नहीं लगता।"

मेरे मन में एक नयी चमक आयी। अनिश्चय, उदासी, दिशाहीनता का जो कुहरा भीतर छाया था, लगा उसके भीतर से सूरज की रोशनी उभर रही है। मैंने द्विवेदी जी को कृतज्ञता के भाव से देखा और अपनी सहमति दे दी।

दूसरे दिन द्विवेदी जी मुझे स्कूल ले गये। नाम लिखवा दिया और मैं सामान-वामान लेने के लिए घर लौट आया। आठ-दस दिन बाद फिर बनारस पहुंचा तो मेरा एक नया जीवन शुरू हो गया। यह सन् 1940 की जुलाई थी।

20

स्कूल का नाम था कैंब्रिज एकेडेमी। गोवर्धन सराय मे स्थित था। इस स्कूल का अपना एक हॉस्टल था। उसमें रहने लगा। हॉस्टल दोमंजिला था। मैं ऊपर की मंजिल के एक कमरे में एक साथी के साथ रहने लगा। उस साथी का नाम छविनाथ राय था। पता नहीं अब वे कहां है, कैसे हैं? बगल के कमरे में रायपुर के विपिन बिहारी षड़ंगी रहते थे। सामने के एक कमरे में एक दक्षिणी रहते थे, एक में एक नेपाली रहते थे, नाम था शिवकुमार। नीचे की मंजिल मे शिवकुमार के भाई विनयकुमार रहते थे। कुछ और लोग थे। बड़ी गहमागहमी थी। वार्डन थे हमारे स्कूल के गणित के मास्टर जो स्वयं गणित से एम० ए० कर रहे थे। नेपाल के दोनों लडके अपने को राजकुमार कहते थे। पता नहीं वे क्या थे! राजपरिवार से उनका सम्बन्ध जरूर था लेकिन राजपरिवार में न जाने कितने-कितने तरह के सबंध होते हैं। विनय बहुत मीठे स्वभाव के थे लेकिन शिव उद्दंड भी थे और आशिकमिजाज भी। विनय से तो मैं बोल लेता था, लेकिन शिव से कोई संवाद नही बन सका था। बन भी नही सकता था। छविनाथ राय तो रूम-मेट होने के कारण निकट सपर्क मे थे ही, विपिन मेरे सबसे निकट था। वह ठीक-ठाक घर का था, सुदर्शन था, खाने-पीने का काफी शौकीन था। सिगरेट पीता था। उन दिनों उसे चाय की आदत थी, डेली शेव करता था और मुझे किसी प्रकार का शौक नही था। फिर भी वह मेरा सबसे अच्छा दोस्त था। वह फर्राटे से अंगरेजी बोलता था और मेरी अगरेजी—माशा अल्लाह थी। मैं खुद हैरान था कि विपिन को अपने से ठीक प्रतिकूल व्यक्ति मे ऐसा क्या दिखाई पडा कि वह इतना निकट आता गया। ठीक से मेरी दाढी नहीं आयी थी यद्यपि मैं उससे उम्र मे बडा था, यानी मैं बाईस साल का था। काफी-काफी दिनों बाद जब दाढ़ी काफी सिर उठा लेती तो विपिन स्वय अपने रेजर मे मेरी दाढी बनाता। उसे मुझे अपने साथ सुख-दुःख में शरीक करने मे काफी तृप्ति मिलती थी और मुझे भी उसे पाकर बहुत प्रसन्नता अनुभव हो रही थी। उसके व्यक्तित्व का एक पहलू शिवकुमार से जुडता था। वह जब कभी दूसरे मूड में होता तो शिवकुमार के साथ हो लेता। शिवकुमार का पूरा व्यक्तित्व मेरे लिए असह्य था। इसलिए विपिन जैसे नेक लड़के का उससे जुड़ना मुझे अखरता था। विपिन भी भीतर से उसे नही चाहता था लेकिन न जाने कौन-सी मजबूरी या मुरौवत थी कि उसके साथ हो लेने से नजात नही पा पाता था। कभी-कभी मुझसे कहता—"क्या करें यार, यह शिव मुझे हैरान करता रहता है। कमरे में घुस आयेगा, बुला लेगा, कहेगा चलो। कुल मिलाकर इसका साथ बहुत अप्रिय है यार, क्या करूं?"

एक दिन मेरे कमरे मे आया। शिव के साथ उसे कहीं जाना था। मैंने बात-बात में उसे फटकार दिया—"तुम उससे मुक्ति नही पा सकते? क्या बात है कि तुम अपनी इच्छा के विरुद्ध उसके साथ को ढोने के लिए मजबूर हो गये हो।" उसे ताव आ गया और बोला—"मैं अभी जाकर शिव से कहता हूं। तुम्हें मुझे फटकारने का अधिकार किसने दिया?" वह तैश में निकल गया। मैं समझा कि वह ऐसे ही कह

रहा है, किन्तु वह सीधे शिव के कमरे में गया और उससे जोर-जोर से बातें करने लगा। मैं घबरा गया। मैं शिव से डरता भी था। वह हट्टा-कट्टा था। यदि उसने मुझ पर हाथ उठा दिया और गालियां देनी शुरू कीं तो? और वही हुआ, वह अपने कमरे में से निकला और मुझे अपशब्द कहने लगा। मुझे विपिन से यह उम्मीद नहीं थी। शिव तो किसी भी सीमा तक जा सकता था किन्तु विपिन को क्या हो गया? वह मुझे अपमानित होते हुए देखता रहा। हॉस्टल के और लोग भी एकत्र हो गये थे और उनके रुख से मालूम हो रहा था कि वे मेरे प्रति शिव के इस व्यवहार से खिन्न हो रहे हैं।

शिव जब अधिक अभद्र हो उठा तो मैंने कहा—"मुझसे क्यों लड़ते हो? मुझे तुमसे कोई सरोकार नहीं। विपिन तुम्हारे साथ जायें, घूमें, या जो चाहें करें, मुझसे कोई वास्ता नही। वे मेरे मित्र थे। वे मुझसे कहते थे कि 'यार, शिव बहुत हैरान करता है, मेरा समय बर्बाद करता है और जबरदस्ती अप्रिय जगहों पर ले जाता है, क्या करू?' मैंने इनसे कहा कि 'साफ-साफ मना क्यों नही कर देते? कैसे आदमी है आप कि कोई आपकी इच्छा के विरुद्ध आपसे काम करवाता है'।"

शिव का गरजता-बरसता स्वर एकाएक रुक गया। उसने विपिन की ओर देखा। विपिन चुप था। 'सॉरी मिश्र जी," शिव बोला—"जब अपने दोस्त ही अपने नही रहे तो आपका इसमें क्या दोष?" वह अपने कमरे मे चला गया। विपिन भी अपने कमरे मे चला गया। मैं भी कमरे मे लौट आया। सभी लौट गये। कुछ देर बाद वार्डन साहब आये। लोगों से सुना, मुझे बुलाया, विपिन और शिव को भला-बुरा कहा, मुझे सांत्वना दी।

मैं स्वभावानुसार आज की इस घटना से बहुत बेचैन था। किसी चीज मे मन नही लग रहा था। विपिन के इस व्यवहार को मै पचा नही पा रहा था। दोस्त दोस्ती के अधिकार से अपने में सौ बातें करते है, क्या दोस्त को यही चाहिए कि वह उसकी बात नाजायज जगह छीट आये। एक दोस्त आये और एक चिट्ठी पकड़ा गये। चिट्ठी खोली, विपिन की थी। लिखा था—"दोस्त, मैं बहुत शर्मिन्दा हूं अपने व्यवहार से। न जाने किस उत्तेजना में मैं यह गलत काम कर बैठा। क्षमा नहीं करोगे? आज की शाम मेरे साथ घूमने चलो तो मुझे सुख मिलेगा और मैं समझूंगा कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया।"

—विपिन

मैं कुछ देर उस पत्र को हाथ मे लिए बैठा रहा। उठा, कपड़े पहने, विपिन के कमरे में गया। लगा जैसे तैयार होकर वह मेरा इन्तजार कर रहा था। थोड़ी देर तक दोनों ने दोनों को देखा, फिर धधाकर एक-दूसरे से लिपट गये। घूमने निकल गये। दशाश्वमेध, विश्वनाथ गली, चौक में घूमे, खूब घूमे, कुछ खाया-पिया। किसी ने आज की घटना का जिक्र नही किया, लौटे तो खाली हंसते-बतियाते रहे। लौटे तो मन खूब हलका था। खूब सोये।

यह स्थान हमारे लिए कितना रोमांचक रहा होगा, इसकी कल्पना इस बात से की जा सकती है कि हमारे हॉस्टल की बगल में ही जयशंकरप्रसाद का मकान था। वे

दिवंगत हो चुके थे लेकिन लगता था उनकी आत्मा उस पूरे वातावरण में व्याप्त थी। मैं अकसर उनके घर के सामने से गुजरता और एक पवित्र अनुभूति मुझे घेर लेती। एक बार उनके कमरे के पास तक गया जहां वे बैठकर लिखते थे। बनारस आने से पहले ही 'आंसू', 'कामायनी', 'अजातशत्रु' पढ़ चुका था और काफी कुछ न समझते हुए भी उनके साहित्य की लय अपने भीतर बजती हुई महसूस करता रहता था। यह मारा माहित्य इमी कमरे में लिखा गया होगा, यह सोचकर मैं रोमांचित हो रहा था। प्रसाद के साथ जो मेरा एक अमूर्त भावात्मक सम्बन्ध था उसे मूर्त किया उनके अन्तेवासी डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा ने।

गोवर्धन सराय के आसपास का वातावरण साहित्य का वातावरण कहा जा सकता था। गोवर्धन सराय के पास ही बेनिया पार्क था, जहां सुना था, प्रसाद और प्रेमचंद जी साथ-साथ टहलते थे। न जाने यह पार्क उनकी कितनी साहित्यिक चर्चाओं को अपने में आत्मसात् किये होगा। आधुनिक काल के दो महारथियों की पगध्वनियों और सपनों के स्वरों से भरा हुआ यह पार्क कितना प्रणम्य है। मैं इस बाग में टहलते हुए कल्पना करता रहता था कि वे दोनो महान् हस्तिया इस रास्ते से गुजरती रही होंगी, चलते-चलते, बात करने-करते वे यहा ठिठककर खडी हो जाती रही होंगी। कभी जाड़े की धूप खाने के लिए उस पत्थर की चौकी पर बैठ जाती रही होंगी। कभी-कभी उनके साहित्य और जीवन सम्बन्धी विचार टकराकर एक तल्खी पैदा कर देते रहे होंगे या हो सकता है वे टहलते हुए साहित्य पर बात ही न करते रहे हों, रोजमर्रा की जिन्दगी की हल्की-फुलकी बातो से सुबह को प्रसन्न बनाते रहे हो।

इस पार्क की पूरब ओर सीताराम चतुर्वेदी रहते थे, उत्तर की ओर बेढब जी। फिर गोवर्धन सराय के अंदर लौट आइए तो ब्रजभाषा के एक बहुत सिद्धहस्त बुजुर्ग कवि ईश जी मिलेंगे और मिलेंगे हास्यरस के नामी कवि बेधडक बनारसी। अवध-नारायण धर द्विवेदी ने इस स्कूल मे मेरा दाखिला कराते समय कहा था कि स्कूल के प्रिंसिपल शर्मा जी के छोटे भाई श्री राजेन्द्र नारायण शर्मा प्रसाद जी के अंतेवासी रहे है। वे होम्योपैथी के डाक्टर होने के साथ-साथ बहुत अच्छे कवि और चिंतक है। उनके संपर्क में तुम्हारी साहित्यिक प्रतिभा को बल मिलेगा। शर्मा जी का दवाखाना स्कूल के पास ही था। मैं बीमार पडा तो उनके पास गया। बताया कि मैं केंब्रिज स्कूल का विद्यार्थी हूं। उन्होंने दवा दी। मैंने कहा कि मैं कविताएं भी लिखता हूं। वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कुछ कविताएं दिखाने को कहा। उन्होने मुझसे पैसे नहीं लिए। बाद में मालूम पड़ा कि वे साहित्यकारों से पैसे नही लेते। मैं लौटा तो बीमारी के बावजूद बहुत प्रसन्न था। शर्मा जी के सौम्य व्यक्तित्व ने मुझे बहुत प्रभावित किया। गोरा रंग, सुंदर आकृति, कुछ घुंघराले थोड़े लंबे बाल, खादी के कीमती वस्त्र, गोरी कलात्मक अंगुलियों में कई कीमती अंगूठियां, बहुत साफ-सुथरा कमरा, करीने से सजी हुई मेज, आहिस्ता-आहिस्ता मीठी जुबान में बोलना, भाषा का छायावादी रंग, चेहरे पर एक सौम्य मुसकान और तिस पर साहित्यकारों की मुफ्त सेवा करने की एक आंतरिक संकल्पना।

मैंने उन्हें कुछ कविताएं दीं। उन्होंने उन्हें देखा, प्रभावित हुए, कुछ संशोधन

किए। जब उन्होंने कविता वापस की तो उन्होंने मेरी कवित्व-शक्ति की बहुत प्रशंसा की और जब मैंने अपनी कविता देखी तो बहुत प्रसन्न हुआ। मेरी कविता की भाषा में जो ऊबड़-खाबड़ शब्द थे उन्हें निकालकर शर्मा जी ने भाषा को प्रांजल छायावादी भाषा का रूप दे दिया था। मैं उनके सान्निध्य में निरंतर ऐसी भाषा की साधना करता गया और मुझे लगा कि इतने दिनों बाद मैंने सही काव्य-भाषा पा ली है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से शर्मा जी प्रसाद जी के गहरे प्रभाव मे थे और मैं भी उधर ही बढ़ता गया। मैंने कहा था न कि प्रसाद जी के साथ मैं जो एक अमूर्त भावात्मक संबंध अनुभव करता था उसे शर्मा जी ने मूर्त किया। सन् '46 का समय था। छायावाद अपना उत्कर्ष पाकर जा चुका था। उसके बाद बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा जैसे कवि आ चुके थे और व्यक्तिवादी स्तर पर ही सही, छायावाद की भावात्मक और भाषागत अरूपता को तोड़ चुके थे। प्रगतिवाद भी आ चुका था और प्रयोगवाद भी किन्तु तब मुझे इतिहास के इन पड़ावों का गहरा ज्ञान कहां था? देहात से पहली बार शहर में आया था यानी एक सचेत साहित्यिक माहौल में। और मैं इस शहर के जिस परिवेश मे आया वहां स्मृतियों के रूप में भी और वर्तमान रूप में भी छायावाद जीवित था।

शर्मा जी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके यहां आसपास के अनेक साहित्यकार और पत्रकार आया करते थे। कुछ लोग 'आज' में काम करते थे, कुछ 'संसार' में। शर्मा जी ने इनसे मेरा परिचय कराया और इन्हें मेरी रचनाएं देने लगे। 'आज', 'समाज' (आज कार्यालय का साप्ताहिक पत्र) 'संसार' में मेरी कविताएं धड़ल्ले से छपने लगी। मैं इस शहर के साहित्यकारों के बीच ख्यात होता चला गया। अपने हॉस्टल, स्कूल में भी मेरी कविताओं के नाते एक रुतबा बनता चला गया। सोचता हूं तो पाता हूं कि मेरी रचनाओं ने मुझे कितना कुछ दिया है। सामान्य घर का सामान्य-सा देहाती व्यक्ति मैं सभी जगह यदि कुछ विशिष्ट व्यवहार पाता गया तो इन रचनाओ के नाते ही। मेरे टीचर, वार्डन मेरी रचनाएं हॉस्टल में भी सुनाते और क्लास में भी। सभ्रांत घरों के लड़कों के सामने भी यदि मैं सिर उठाकर चल सका, कभी हीनता-बोध का अनुभव नही किया, तो इन रचनाओं के नाते ही। कितना जीवन दिया है इन रचनाओं ने। इनके कारण अपनी सांसारिक असपन्नता के बीच भी मैं हमेशा भरा-भरा अनुभव करता रहा।

शर्मा जी के दवाखाने के पास ही एक वैद्य जी का घर था। उनका लड़का था श्रीश कुमार—सुंदर, स्वस्थ और अत्यंत नटखट। वह भी मेरे साथ ही कैम्ब्रिज एकेडेमी में पढ़ता था। वह शरारती तो बहुत था लेकिन मेरे प्रति उसके मन में बहुत आदर भाव था। उसी से मालूम हुआ कि वह रामनाथ सुमन का भानजा है। सुमन जी के नाम से मैं खूब परिचित था। साहित्यरत्न में उनकी आलोचना पढ़ चुका था। श्रीश सुमनजी का भानजा है यह भाव मुझे उसके प्रति अतिरिक्त स्नेहशील बनाये हुए था और उसके भीतर का साहित्यिक संस्कार उसे मेरे प्रति आदरशील बनाये था।

शंभूनाथ सिंह भी उसी क्षेत्र में ही रहते थे। साहित्यरत्न की परीक्षा देने आया था तो उनसे भेंट हो चुकी थी। एकाध बार और यहां भेंट हो चुकी थी। एक दिन

मिले तो बोले—"इन दिनों तो आप यहां की पत्रिकाओं में धूम मचाये हुए हैं।" मुझे ज्ञात नहीं हो सका कि वे किस टोन में यह बात कह रहे हैं। इसलिए न सुखी हुआ न दुखी। परिचय का विस्तार होता गया। इसलिए जब कभी स्थानीय कवि-सम्मेलन होता और वह शर्मा जी के परिचय-क्षेत्र मे आता तो मै भी बुलाया जाता। धीरे-धीरे बनारस के आसपास आयोजित होने वाले कवि-सम्मेलनों मे भी जाने लगा।

तब कवि-सम्मेलनों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। बहुत पैसों के लेन-देन की सभ्यता तब विकसित नही हुई थी, किराया दे दिया कुछ और पत्र-पुष्प, बस काफी था। बेधड़क बनारसी, शंभूनाथ सिंह आदि तो कवि-सम्मेलनों के मंच के लिए अपरिहार्य बन गये थे। बेधड़क जी शर्मा जी के पड़ोस में ही थे, उनके निकटतम लोगों में से थे। इसलिए उनसे भेंट-मुलाकात होती रहती थी; लेकिन उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि उनसे संपृक्त हो पाना कठिन था। एक औपचारिक खुलापन उनमे था जो अपने भीतर किसी को धंसने नही देता था। मैं भी कभी धंस नही पाया। लेकिन तो भी मुझे उनका स्नेह मिलता रहा। बेढब जी और बेधडक जी दोनों ही हास्य रस के क्षेत्र में काफी चर्चित नाम थे। बेढब जी (कृष्णदेव प्रसाद गौण) का व्यक्तित्व अत्यंत संभ्रात था। गोरे-चिट्टे रग के सुन्दर व्यक्ति, अच्छे कपड़े, हाथ मे चुरुट, चाल-ढाल मे नफासत। डी० ए० वी० कालेज मे पढ़ाते थे। शायद इंटर सेक्शन के प्रिंसिपल थे अतः मास्टर साहब के नाम से जाने जाते थे। काव्य तथा काव्येतर दोनों ही कारणों से उनका सम्मान था। कविता पढ़ते समय उनके ओंठों पर एक हल्की मुसकान फैली होती थी। उनकी कविताओं का हास्य भी मुखर नही होता था, मद-मंद दीप्त होता था। इसके विपरीत बेधडक बनारसी (काशीनाथ उपाध्याय भ्रमर) छोटे कद के, सांवले रंग के, सामान्य नाक-नक्श के आदमी थे। धोती, कुर्ता, जाकेट पहनते थे। बोलचाल मे नफासत की जगह हुल्लडपन था। जोर से हंसते थे लेकिन कविता पढ़ते समय एकदम गंभीर रहते थे। उनका चेहरा वैसे भी हंसी का आलंबन था, किन्तु कविता पढ़ते समय उस चेहरे का आरोपित गांभीर्य कविता की चुलबुलाहट के विरोध में जब तन जाता था तब और हसी पैदा करता था। उनकी कविताओ मे बेढब जी की कविताओं के विपरीत हास्य की ज्यादा मुखरता थी, सीधापन था, चुलबुलाहट थी। कविताओं का हास्य उनके चेहरे की बनायी गयी हास्यास्पदता से मिलकर और अधिक प्रभावशाली हो उठता था। उनका कविता पढ़ने का ढंग भी अद्भुत था।

कवि-सम्मेलनों में शम्भूनाथ सिंह होते ही थे। वे अपरिहार्य थे। उन दिनों वे एक अच्छे नये गीतकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। छायावादोत्तर रूमानी गीत-काव्य की विशेषताएं बहुत सुन्दर रूप मे उनकी कविताओं में विद्यमान थी। सौन्दर्य और प्रेम की रूमानी किन्तु सीधी अभिव्यक्ति उनमें थी। 'समय की शिला पर' उनकी कविता प्रसिद्धि पा चुकी थी, और भी कई कविताएं तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में गूंज रही थीं। उनके साथ उनकी शिष्य मंडली हुआ करती थी जिसमें प्रमुख स्थान नामवर सिंह, हरिमोहन, कुंवर बहादुर का था। बाद में केदारनाथ सिंह, ब्रजविलास, सूर्यप्रताप आदि भी इस शिष्य मंडली में दीक्षित हुए थे। शंभूनाथ सिंह गाते थे तो

गाते-गाते जानबूझकर कोई पंक्ति भूल जाते थे जिसकी उनकी शिष्य मंडली याद दिलाती थी। नामवर जी भी रूमानी कविताएं लिखते थे—विशेषतया प्रकृति के संदर्भ में। 'झुपुर झुपुर धान के समुद्र में हलर-हलर सुनहला विहान' उनकी बहुत प्यारी कविता थी जिसे वे अपने मधुर कंठ से गाते थे तो बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। हरिमोहन भी गाते थे लेकिन उनका कंठ उतना प्रभावशाली नहीं था। 'बहुत दिन बीते बागों में खेले' कविता वे बार-बार पढ़ते थे। कुंवर बहादुर भी अच्छा गाते थे। शंभूनाथ जी अपने शिष्यों को खूब जमाते थे। मंच पर, मंच के बाहर उनकी खूब प्रशंसा करते थे। उनके शिष्य उन्हें जमाते थे। मैं अकेला था। न मैं किसी का शिष्य था न मेरा कोई गुरु। स्थानीय पत्रों में लगातार छपने के कारण मैं जान लिया गया था। अतः कहीं-कहीं कवि-सम्मेलनों में बुला लिया जाता था। मंच पर उपस्थित कवियों की ओर से कोई सुनियोजित प्रशंसा नहीं मिलती थी, मिलनी होती थी तो जनता से ही मिलती थी। गिरोह में शामिल होना मुझे कभी रास नहीं आया। इसलिए उससे मिलने वाले समर्थन से हमेशा वंचित ही रहा। शंभूनाथ और उनके कवि शिष्यों से मेरा परिचय घना होता गया, बाद में कुछ से मित्रता की स्थिति भी बनी, किन्तु साहित्यिक मोर्चाबन्दी के स्तर पर मैं इनसे अलग ही माना जाता रहा।

उन्हीं दिनों एक कवि-सम्मेलन में त्रिलोचन शास्त्री मिल गये। शास्त्री जी को मैं कुछ खास नहीं जानता था। उनका 'धरती' काव्य-संग्रह निकल चुका है और वे वहां के कवियों से अलग किस्म की कविताएं लिखते हैं, इसका परिचय मुझे वहीं मिला। उन्होंने 'चंपा' कविता सुनाई जो मुझे एक अलग तरह की कविता लगी। सच पूछिए तो मेरे रूमानी संस्कार वाले कवि को यह कविता कविता ही नहीं लगी और वह कविता अब मेरे समझदार कवि मन को कविता नहीं लगती। यद्यपि भिन्न-भिन्न कारणों से इस कविता की चर्चा करने वाले लोग तब भी थे और अब भी हैं किन्तु मुझे ऐसा कोई नहीं मिला जो समझा सके कि यह कविता और इसी तरह की शास्त्री जी की कई कविताएं (जैसे नगई महरा) कविता कहां से है। बात तो है मगर कविता ?

खैर, तब मैं चर्चित कवियों की किसी कविता को आकलित करने की स्थिति में नहीं था, केवल अच्छा या अच्छा न लगने का अनुभव करता हुआ चर्चाओं से कुछ दूर तक अभिभूत हो सकता था। त्रिलोचन जी अलग तरह का लिखते हैं, रूमानी रुझान की जगह उनकी कविताओं की वस्तु और शिल्प में सादगी है, धरती की पकड़ है। ये कुछ ऐसी बातें थीं जो मेरे लिए नयी थीं और नयी तरह से लिखने वाले एक चर्चित कवि से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। शास्त्री जी की कविताओं ने मुझे वास्तव में प्रभावित भले ही न किया हो, उन्होंने मुझे अवश्य प्रभावित किया। उनसे मेरा पहला-पहला परिचय था। अपने ढंग से वे प्रतिष्ठित कवि थे। मैं इस शहर और साहित्य के जगत् में प्रवेश पाने के लिए हाथ-पांव मारता एक नया-नया कवि था। वहां दिये गये परिचय के अनुसार वे संस्कृत और हिन्दी साहित्य के विद्वान् पुरुष थे और मैं हिन्दी साहित्य का एक सामान्य-सा छात्र। किन्तु पहले ही परिचय में शास्त्री जी ने मुझसे जो आत्मीयता दिखाई वह अद्भुत थी। वे अन्य लोगों से तो परिचित थे ही, मैं ही नया

था। अतः मुझमें वे विशेष रुचि ले रहे थे। बिना किसी भेदभाव के, निहायत समानता और आत्मीयता के स्तर पर वे मुझसे जुड़े रहे थे, बल्कि मुझे अपने से जोड़ रहे थे। काशी के साहित्यकारों के अब तक के व्यवहार से यह व्यवहार एकदम अलग था। जिन लोगों से इतनी बार मिल चुका था वे लोग अब भी मेरे लिए या मैं उनके लिए भिन्न था, किन्तु शास्त्री जी बिना किसी अपनी गरिमा का अहसास कराये मुझसे अभिन्न हो रहे थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं मैट्रिकुलेशन की परीक्षा दे रहा हूं तो बहुत प्रसन्न हुए, बोले—"मैं भी दे रहा हूं, यह तो बहुत अच्छा हुआ।"

उनकी-मेरी दूसरी मुलाकात कुछ दिन बाद विश्वनाथ गली में हुई। मैं किसी दुकान से कुछ ले रहा था कि पीछे से आवाज आयी—"कैसे है रामदरश जी ?" मैने मुड़कर देखा कि शास्त्री जी हैं। उनके हाथ में कुछ अरतन-बरतन है। मैंने नमस्कार किया। उनके साथ हो लिया। वे हाल-चाल पूछते रहे, अपना बताते रहे, परीक्षा सम्बन्धी बातें भी करते रहे। जब वे अलग हुए तो मैं सोचने लगा, कितना सहज और खुला हुआ व्यक्ति है ! यह दूसरा व्यक्ति तो पहचानता ही नही, पहचानता भी तो न पहचानने का अभिनय करता। शास्त्री जी ने पहचानकर स्वयं बुलाया और घरेलू स्तर की आत्मीय बातें करते रहे। मुझे कही से लगा ही नही कि कोई प्रतिष्ठित कवि और विद्वान् एक नये साहित्यकार से बात कर रहा है। जब मैं साल-भर बाद हिन्दू विश्वविद्यालय मे गया तो शास्त्री जी से प्रायः भेंट होती रही, इनसे हम फिर वहीं मिलेंगे।

एक कवि थे चंचरीक। ये गोरखपुर के थे। ये लोक-कवि थे। गोरखपुर में इनका नाम सुन रखा था। एक दिन किसी कवि-सम्मेलन मे भेंट हो गई। उन दिनों मेरी एक कविता 'आखें' बहुत प्रसिद्ध हुई थी—'इनका ससार निराला है, इनकी अनजान कहानी है' पक्ति बहुतों की जुबान पर उतर आई थी। चंचरीक जी ने यह कविता सुनी। मुझसे बातचीत की और पता नोट किया। एक दिन छात्रावास मे आ गये। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। वे 'अप्सरा' नाम की एक पत्रिका निकालते थे, उसके लिए उन्होंने मेरी 'आखे' कविता मागी। मेरे लिए इससे अधिक खुशी की बात क्या होती ? अप्सरा के दो-एक अंक निकल चुके थे, बहुत भव्य अक थे। चंचरीक जी बहुत जीवट के व्यक्ति थे। वे 'अप्सरा' के लिए वेश्याओ से पैसे उगाहते थे और उनकी समस्या सम्बन्धी सामग्री भी उसमें देते थे। वे निस्संकोच भाव से उनके कोठे पर जाते थे, उनका दुःख-दर्द सुनते थे। संभ्रांत साहित्यकारों के समाज में उनका आना-जाना कम था, जनता के बीच ही वे आते-जाते थे। लोक-कवि थे, लोक-कविताएं एकत्र करते थे। वे गोरखपुर के एक निर्धन परिवार के थे, जाति से भी बहुत ऊंचे नही थे, इसलिए उनमें बड़प्पन का कोई छद्म नही था। उनसे मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता होती थी।

उन्होंने उसी साल जाड़ो मे चौरीचौरा मे एक कवि-सम्मेलन आयोजित किया। मुझे बहुत सम्मान से बुलाया। मुझे अपने जिले के एक कस्बे मे इतने सम्मान के साथ बुलाये जाने से एक पुलक हो रही थी। वह शायद कुभ मेले का समय था या ऐसा ही कोई भीड़-भाड़ का समय था। बनारस स्टेशन पर गया तो टिकट नही मिल रहे थे। क्या करूं ? सोच नहीं पा रहा था। किन्तु जाना तो था ही। ट्रेन आयी, मैं जाकर सेकंड

क्लास में प्रवेश कर गया। मैं गलत काम करने में बहुत भीरुता अनुभव करता हूं। डिब्बे में गया तो किन्तु भीतर से बहुत डरा-डरा, सहमा-सहमा था। एक तो यह कि यह ऊंचे लोगों के बैठने की जगह है और मैं अपने को अभी इतना ऊंचा नहीं समझ रहा था कि इस जगह पर प्रकृतिस्थता अनुभव कर सकूं, दूसरे बिना टिकट का था। इस डिब्बे में भी कुछ भीड़ थी। मैं कुछ देर खड़ा रहा। मेरे सामने जमींदार किस्म के एक रोबीले सज्जन बैठे थे। मैं सहमता-सहमता उनके पास बैठ गया। उनसे बातचीत हुई। वे बहुत सहृदय लगे। उनसे मैंने अपनी स्थिति बयान की। सामने के बर्थ पर केवल एक बर्मी दंपती बैठे थे। जमींदार ने कहा—"वहां बैठ जाइए। वहां काफी जगह है।" मैंने उधर देखा—महिला की बगल में जगह थी, किन्तु महिला की बगल में बैठने की हिम्मत नहीं हो रही थी; लेकिन जमींदार के कई बार के आग्रह के बाद मैं वहीं जाकर बैठ गया। बैठा ही था कि महिला बौखला उठी और आऊं-आऊं करती हुई मुझे हाथ से मारने लगी। मैं घबराकर उठ गया और शर्मिन्दगी महसूस करता हुआ अपनी पहली जगह की ओर आने लगा। जमींदार वहीं से तड़पा—"आप वहीं बैठिए।" और बर्मी को अंगरेजी में डांटते हुए कहा—"तुम्हारी बीवी ने क्यों मारा ? वहां जगह है तो आदमी बैठेगा ही। तुमने पूरा कंपार्टमेंट अपने नाम लिखा रखा है क्या ?"

बर्मी ने उत्तर दिया—"ही हैज टच्ड माई वाइफ।"

जमींदार हंसा—बोला—"वेल मिस्टर, शी इज टच्ड बाई हंड्रेड्स इन दी जरनी।" 'एश-एश' कहता हुआ बर्मी चुप हो गया और मैं अपनी पहली जगह पर आकर बैठ गया। वह अच्छा जमींदार मेरी शर्मिन्दगी को समझ गया था। बोला—"कोई बात नहीं, कवियों को जीवन में अनेक तरह के अनुभव लेने चाहिए, यह अनुभव भी काम आयेगा।" वह हंसने लगा। मैं भी हंसने लगा। लेकिन मैं भीतर से प्रकृतिस्थ नहीं हो सका। मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि छोटी-छोटी बातें भी मुझे उद्विग्न कर देती हैं। रास्ते-भर रह-रहकर यह घटना मुझे कोंचती रही। चिंता यह भी थी कि यदि चैकिंग हो गई तो पकड़ा जाऊंगा और शर्मिन्दगी पर शर्मिन्दगी महसूस करनी पड़ेगी।

चौरीचौरा उतरा तो चंचरीक जी वहां मौजूद थे इसलिए टिकट चैकिंग के झमेले से बच गया, लेकिन मालूम पड़ा कि कस्बे में प्लेग फैला है अतः कवि-सम्मेलन नहीं होगा। मैंने कस्बे की ओर नजर उठाकर देखा—सन्नाटा भांय-भांय रो रहा था, सीलन की गंध वातावरण में फैली थी। मुझे स्टेशन पर ही वेटिंग रूम मे ठहराया गया। उसी में कोई गायक अपनी गायिका युवा पुत्री के साथ ठहरे थे। उन्होंने मेरा परिचय पाकर कहा—"मेरे अहोभाग्य, काशी से आये हुए चरण कितने पवित्र होते हैं! इन चरणों के संपर्क में कुछ क्षण रहने का मुझे सौभाग्य मिल रहा है।" मैं लज्जित हो उठा और मन ही मन कहा कि सौभाग्यशाली तो मैं हूं कि इस गायिका सुन्दरी के साहचर्य में कुछ देर रहने का अवसर मिल रहा है। वे सज्जन भी समारोह में भाग लेने के लिए ही बुलाये गये थे किन्तु अब समारोह न हो पाने की वजह से वे सज्जन अपनी कन्या के साथ लौट रहे थे। कुछ देर तक उनका साथ रहा, समय महकता रहा, प्लेग की सीलन में भी एक फूल खिलता रहा। कुछ देर बाद गाड़ी आयी और बाप-बेटी चले गये।

गाड़ी का शोर अपने पीछे एक लंबा सन्नाटा छोड़ता चला गया। मैं वेटिंग रूम में अकेला पड़ गया। वेटिंग रूम के भीतर सन्नाटा, बाहर सन्नाटा, कस्बे में सन्नाटा, हवा में सन्नाटा और सन्नाटे को तोड़कर कभी-कभी उगता हुआ कुत्तों और मुर्दाखोर पक्षियों के शोर का सन्नाटा। सामने के एक पीपल के पेड़ पर कुछ गिद्ध बैठे थे जो कभी-कभी बड़े-बड़े पंख फड़फड़ाकर किसी दिशा में उड़ जाते थे और हवा में एक भद्दे से शोर की मोटी लकीर खींच जाते थे।

चंचरीक जी मुझे छोड़कर चले गये थे—शायद कुछ व्यवस्था में मशगूल थे। कुछ देर बाद आये और कस्बे के ही एक सुरक्षित लगने जैसे खित्ते के एक मकान में मुझे ले गये। वहां एक कमरे में पहले से ही गोरखपुर के कुछ कवि विराजमान थे। मुझे अच्छा लगा। वहां योगेन्द्र पाण्डेय भी थे। इनसे कुशीनगर के साहित्यिक समारोह के सिलसिले में मेरी भेंट हो चुकी थी। बहुत मिलनसार और खुली तबीयत के आदमी लगे थे। उन्होंने यहां लपककर मेरा स्वागत किया—"आओ-आओ भाई।" मुझे ठीक याद नही कि गोरखपुर के और कौन-कौन से कवि थे, शायद शिवप्रसाद मणि रहे हों, शायद चकोर जी भी रहे हों, लेकिन चार-पांच कवि तो थे अवश्य। कवि-सम्मेलन तो होना नहीं था। बस, आज की रात काटनी थी और कल सवेरे चल देना था। लेकिन जब रात काटनी ही थी तो अच्छी तरह क्यों न काटी जाय। शाम होते-होते बनारस के एक कवि और आ गये। बनारस में मेरी इनसे कभी भेंट नही हुई थी। गोरे रंग के, बन्द गले का कोट पहने हुए, भावुक-सी आंखें—कुल मिलाकर प्रथम झलक में ही मुझे प्रभावित कर गये। कुछ क्षण बाद चंचरीक जी ने परिचय कराया—ये है नर्मदेश्वर उपाध्याय। रात को कवि-गोष्ठी जमी। नर्मदेश्वर गाते भी बहुत अच्छा है, ज्ञात हुआ। उन्होने घाघरा पर एक कविता पढ़कर सुनायी। वह अंदाज भी अच्छा लगा और कुल मिलाकर हम लोग एक-दूसरे की कविताओं और व्यवहारों से प्रभावित हुए और मित्र बन गये। योगेन्द्र और नर्मदेश्वर दोनों ही मेरे अच्छे मित्रों मे शुमार हुए। चंचरीक जी ने हरिणी वाला लोकगीत सुनाया। वह गीत पहली बार मैने वही उनके मुख से सुना। चंचरीक जी के लोक-कंठ से निकलकर उस करुण लोकगीत ने सबको भीतर तक हिला दिया। हमारी आंखों से आंसू झरने लगे। प्लेग की उस रात की उदासी में कविता ने हमें जीवन के कुछ अमूल्य क्षण दिये, कुछ दोस्तियां दीं, एक गहरी यादगार दी।

21

आज श्रीकान्त व्यास लिपि प्रकाशन के यशस्वी प्रकाशक बन गये हैं। मेरी-उनकी मुलाकात जब-तब होती रहती है, किन्तु जब भी वे मिलते हैं मुझे बनारस याद आ जाता है। हां, मेरी-उनकी पहली मुलाकात गोवर्धन सराय में ही हुई थी। मुझे प्रसंग याद

नहीं है किन्तु हुई थी और पहली ही मुलाकात में हम दोनों एक-दूसरे के नजदीक आ गये थे। वे चेतगंज में एक कमरे में रहते थे, उनके यहां गया। तब हम दोनों कुछ नहीं थे, लेकिन उस कुछ नहीं होने के भीतर से कितना कुछ पा लेते थे एक-दूसरे में। ऐसी छोटी-छोटी न जाने कितनी भेंटें, मुलाकातें और संदर्भ हमारे भीतर धीरे-धीरे जगमगाते रहते हैं और हम उनसे बेखबर जीते रहते हैं।

बनारस के बारे में सुना था कि यह शहर पहले नया-नया आने वाले को अपने से बाहर ढकेलता है। यदि आप नहीं गये और जबरदस्ती ठहर गये तो वह शहर आपमें अपने सौंदर्य और प्रेम की परतें खोलने लगता है और भीतर से अपने में जकड़ लेता है। मेरा खयाल है कि थोड़े-बहुत अंतर से यह बात हर अच्छे शहर पर लागू होती है। शुरू में वह नये व्यक्ति को अजनबी लगता है, किन्तु जब उस व्यक्ति का निजी परिवेश बनना शुरू होता है तो वह शहर उसे अपने से बांध लेता है। यह सच है, लेकिन बनारस की बात ही और है। मैं शुरू-शुरू में इस शहर में आया तो घर के लिए जी हुटकता था। आने के कुछ दिन बाद ही बीमार पड गया। डायरिया थी। डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा ने दवा की लेकिन तबीयत नहीं संभली। भागकर गांव गया। जाने की प्रक्रिया में रास्ते में ढरसी उतरा। उस बीमारी में ढरसी (अपने पुराने विद्यापीठ) के प्रति कितना मोह उमड़ आया था कह नहीं सकता। पंडित रामगोपाल जी ने मुझे देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। मुझे लगा कि मैं अपने घर आ गया। फिर वहां से उन्होंने मेरे गांव के कई लड़कों को मेरे साथ भेजा, घर तक साथ जाने के लिए। गांव गया, रामदेव वैद्य की दवा हुई, कुछ गांव-घर की आश्वस्ति साथ थी, ठीक हो गया और महीने-भर बाद बनारस लौट गया। धीरे-धीरे डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा के सहयोग से मुझे बनारस का साहित्यिक माहौल मिलता गया, स्कूल के वातावरण में भी आत्मीयता घुलती गयी, कुछ मित्र बनते गये और बनारस मुझे भीतर से जकडता गया।

बनारस भौगोलिक, साहित्यिक और राजनीतिक अपने तीनों रंगों में विशिष्ट था। रेलवे स्टेशन से उतरकर बनारस की किसी दिशा मे जाइए, रौनक ही रौनक दिखाई पड़ेगी। हम लोग गोवर्धन सराय से निकलकर मुख्य सड़क पर आते थे तो लगता था, जन-प्रवाह के बीच आ गये हों। चहल-पहल दिन-भर लगी रहती थी किन्तु शाम को तो उसकी रंगत का क्या कहना? वहां से गोदौलिया, गोदौलिया से दशाश्वमेध घाट, फिर विश्वनाथ गली, चौक-चौक से टाउन हाल, घंटों घूमते रहिए, यदि तन न थका हो तो मन थकने का नाम नहीं लेता। दशाश्वमेध घाट पर गंगा की छवि का क्या कहना? सांझ के झुटपुटे में गंगा की धारा में उतरायी हुई नावें, नावों पर से उठता हुआ कोई गीत, अकेले या पंक्तियों में तैरते हुए दीप, दीपों की ज्योतियों से अंधेरे के पट पर लिखी जाती सौन्दर्य-मंगल की पंक्तियां, नहाते हुए लोग, पंडों की आसनियां, यहां-वहां गोलगप्पे और चाट आदि की छोटी-छोटी साफ-सुथरी दुकानें, मंदिरों में बजते हुए शंख, घंट-घड़ियाल और सबके ऊपर मृदंग और झांझ की धुन पर नाचते-गाते चैतन्य संप्रदायी बंगाली भक्त···। गंगा-तट की यह शाम, शाम नहीं, एक संश्लिष्ट अनुभव थी।

विश्वनाथ गली का अपना व्यक्तित्व था। सांप-सी पतली गली, इधर-उधर

मुड़ती हुई, पत्थरों की फर्श वाली साफ-सुथरी गली, भीड़ से अटी हुई लेकिन कोई ऊब नहीं, सफोकेशन नहीं। दोनों ओर छोटी-छोटी प्यारी-प्यारी दुकानें, तरह-तरह की वस्तुओं की दुकानें और कुल मिलाकर इन दुकानों से उठती हुई सुगंध, सुगंध में बसी हुई गली—विश्वनाथ गली। हम जब भी गोदौलिया की ओर जाते इस गली से जरूर गुजरते। इस गली में बनारस ही नहीं होता था, पूरा देश होता था। वैसे देश तो गंगा घाट, गोदौलिया, चौक आदि में भी दिखाई पड़ता था लेकिन वहां फैला होना था। इस गली में घनीभूत हो उठता था। मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, कश्मीर, उड़ीसा, आसाम न जाने कहां-कहां के लोग अपनी वेशभूषा में, अपनी सांस्कृतिक छवि में दिखाई पड़ते। बंगाल तो खैर बनारस का एक स्थायी भाग ही है। बनारस का एक और रंग उसका अपना रंग था—लोक-संस्कृतियों का रंग। इस बनारस को मैं अब तक कितने ही पर्व-त्योहारों के बीच देख चुका था। लगता था कि बनारस शहर होकर भी जैसे एक बहुत बड़ा गांव हो जिसमें गांव की न जाने कितनी संस्कृतियां, कितने स्वर, किनने रंग समाहित थे। मैने सावन में बनारस को देखा—प्राकृतिक हरीतिमा और मानवीय हरीतिमा के बीच बनारस सावनमय हो गया था। उनये-उनये बादल, रिमझिम-रिमझिम वृष्टि, जगह-जगह भीगते और झूमने हरे-हरे पेड़ और यहां-वहा पेड़ों की डालों में या ओसारो में पड़े हुए झूले, धानी परिधान में झूले झूलती तथा कजली गाती युवतियां। पर्व के दिनों में जिस गली से निकल जाओ स्थानीय या गांव से आयी युवतियों का गाता हुआ एक झुंड दिखाई पड़ जाता। यहां-वहां अखाडे आबाद थे। रातों को कहीं-न-कहीं कजली दंगल होता था। मुझे लगता था कि जो चीजें मेरे गाव में विरल रूप में थीं वे यहां घनीभूत हो गयी हैं।

मैंने शरद में भी बनारस को देखा शरदमय होते। शरद तो त्योहारो से बजता हुआ अनुभव है। उमस-भरे भादों के विषम भागी वातावरण से निकला हुआ शरद ऐसा लगता है जैसे कीचड़ से लदा-फदा कोई व्यक्ति नहा-धोकर साफ-सुथरा होकर निकला है। सड़ी हुई चिड़चिड़ी गर्मी से निकालकर एक शान्त सौम्य और स्निग्ध समय के आत्मीय संसार में जीवन को ले आने वाली यह ऋतु कितनी प्यारी होती है। बनारस इसे जानता था। दशहरा, दीवाली और कार्तिक पूर्णिमा शरद के ये तीन बड़े पर्व है जो बनारस के वातावरण में और भी सजीव हो उठते थे, जगमगा जाते थे। दशहरे के अवसर पर प्रायः हर चौराहे पर एक जन-रामलीला होती थी। दिल्ली आने के बाद मुझे रामलीला को जन-रामलीला कहना पड़ रहा है। यहां की रामलीलाओं में पास से प्रवेश होता है। यानी रामलीलाएं चंदा देने वाले कुछ घरानों की शौकिया चीज हो गयी है। यहां आने से पहले मैंने रामलीला का यह बंद प्रदर्शन नहीं देखा था। इसलिए इस लीला की सापेक्षता में पहले की लीलाओं को जन-रामलीला कह रहा हूं जिनमें कोई तंबू नहीं, कोई घेरा नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं था। वे जनता के बीच चलती-फिरती रामलीलाएं थी। बनारस की रातें ऐसी रामलीलाओं से जगमगा उठती थीं। कार्तिक पूर्णिमा को गोदौलिया से दशाश्वमेध घाट तक स्नानार्थियों के आने-जाने के लिए लोहे के तारों से घेरकर गलियां बना दी जाती थी। ऐसा प्रायः हर बड़े स्नान-पर्व पर होता था, किन्तु

कार्तिक पूर्णिमा का तो अपना ही रंग होता था। जो रंग मैंने बड़हलगंज में देखा था उससे अधिक व्यापक और घनीभूत रंग यहां दिखाई पड़ता था। इस भीड़ में शहर तो होता ही था, देहात ज्यादा होता था। ठट्ट के ठट्ठ लोग गाते-बजाते देहात से चले आते थे। बनारस जैसे गीतात्मक महाकाव्य बन जाता था। धार्मिक आस्था का गहरा दबाव मैंने कभी नहीं अनुभव किया। अब तो बिलकुल ही नहीं करता, तब भी बहुत कम करता था इसलिए इन धार्मिक पर्वों को मैंने सदा सांस्कृतिक पर्व के रूप में ही अनुभव किया। मैं गंगा-स्नान नहीं करता था किन्तु गंगा-स्नान करने आयी भीड़ के सौन्दर्य में स्नान जरूर करता था। विविध रूप-रंग, स्वर, गंध से लहराते इस भीड़ के समुद्र में मैं घंटों बहता था, देहाती स्मृतियां जाग उठती थीं और मन के भीतर एक रूमानी महक भरी होती थी।

मेलों के साथ एक विकृति जुड़ी हुई है, उसे देहात में भी अनुभव करता था और इस धार्मिक पवित्र कहे जाने वाले शहर में भी। वह है लड़कियों से छेड़छाड़। दशाश्वमेध घाट पर बहुत-से लोग तो इसलिए घूमते रहते कि वे कपड़े बदलती औरतों को देख सकें। खैर, यह प्रलोभन बहुत सहज है और आंखें निरापद ढंग से अपना काम कर लेती है, किन्तु छेड़-छाड़ के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और यह प्रयत्न शोहदे लोग ही करते हैं। बनारस में शोहदों की कमी नहीं थी, इसका अनुभव मैंने अपने बनारस-निवास के दस वर्षों में लगातार किया। शोहदों की कमी तो नहीं है, न किसी गांव में, न शहर में, किन्तु बनारस का जो बिंब लेकर मैं वहां गया था वह कुछ और ही था और वहां भी शोहदों के वही दृश्य देखकर मन कुछ खिन्न हो उठा, किन्तु बाद में यह सब देखते-देखते उसे किसी भी स्थान का सहज गुण मान बैठा। और जब यह फिकरा सुना कि—"रांड, सांड़, सीढ़ी, संन्यासी, इनसे बचें तो सेवै काशी" तो समझ गया कि यहां शोहदई के खतरे बहुत हैं। बहुत पहले मे लोगों ने इस खतरे का अनुभव कर रखा है। इनसे बचकर जो काशी बनती है वह अद्भुत है। इनसे बचकर जो काशी का सेवन करना है वह असली काशी का सेवन करता है।

बनारस का राजनीतिक रंग भी कम सुंदर और जीवंत नहीं था। काशी विद्यापीठ का सारा माहौल ही राजनीतिक था। वह तो जैसे राष्ट्रीय चेतना से निर्मित ही हुआ था जहां अनेक समाजवादी नेता अध्यापन करते थे। वहां स्थित भारतमाता का मंदिर बहुतों का प्रेरणा-स्रोत था। बनारस आने वाले लोग उसे अवश्य देखते थे। पंडित मदनमोहन मालवीय का हिन्दू विश्वविद्यालय राष्ट्रीय चेतना के उन्मेष का केन्द्र था। वह उच्चकोटि के विद्वानों और राजनेताओं का गढ़ था। बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा स्थापित 'आज' राष्ट्रीय स्वर का समाचार-पत्र था और पंडित कमलापति त्रिपाठी द्वारा संपादित 'संसार' को भी राष्ट्रीय चेतनामय होना ही था। ये दोनों पत्र खुलकर राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्ति देते थे; विद्रोही कविताएं, कहानियां और लेख छापते थे। आये दिन राष्ट्रीय नेता आया करते थे और किसी बड़े मैदान में सभा होती थी। कभी नेहरू जी, कभी डा० लोहिया, कभी जयप्रकाश नारायण जी, कभी आचार्य नरेन्द्र देव, कभी आचार्य कृपलानी वातावरण को अपने स्वर से गुंजा जाते थे। बाबू संपूर्णानंद,

श्री श्रीप्रकाश, कमलापति त्रिपाठी आदि तो वहां थे ही। उसी साल यानी सन् '46 में ही शाहनवाज आये थे। नेता जी की गूंज भरी थी। उनके चार विशिष्ट सहयोगियों ढिल्लन, सहगल, शाहनवाज और लक्ष्मीबाई के नाम भी चारों ओर गूंज रहे थे। नेहरूजी ने इनका मुकदमा लडा था और ये छूटकर जेल से बाहर आये थे। जिस दिन शाहनवाज बनारस आये, उस दिन बनारस के उल्लास की सीमा नहीं थी। टाउन हॉल में दो लाख आदमी जमा हुए और शाहनवाज ने अपने जीवंत अंदाज में जो भाषण दिया वह राष्ट्रीय एकता, सांप्रदायिक एकता और बलिदान का उत्साह वातावरण में भर गया। कई दिनों तक हम लोग एक अद्‌भुत उमंग और ताजगी का अनुभव करते रहे।

हमारे स्कूल का वातावरण भी बहुत प्यारा था। प्राचार्य जटाशंकर शर्मा अंगरेजी पढ़ाते थे। बहुत अच्छा पढ़ाते थे। मेरी अंगरेजी बहुत कमजोर थी फिर भी व्याकरण ठीक-ठाक था। शर्मा जी मुख्यतः अंगरेजी व्याकरण ही पढ़ाते थे। मैं अंगरेजी की कक्षा में प्रायः संकुचित रहता, लेकिन विडंबना यह थी कि शर्मा जी लड़कों से व्याकरण पूछते-पाछते जब उत्तर नहीं पाते तो अंत में मेरी ओर देखते और कहते—तुम तो बताओगे ही। मैं बता भी देता। शर्मा जी के अपने प्रति इस अगाध विश्वास ने मुझे व्याकरण के प्रति अत्यधिक सचेत कर दिया और सचमुच मेरा व्याकरण बहुत अच्छा हो गया। हिन्दी व्याकरण की पृष्ठभूमि भी इसके लिए कुछ-कुछ उत्तरदायी है। शर्मा जी की आंखें मुझ चुप्पे व्यक्ति के भीतर न जाने क्या-क्या देख लेती थीं। परीक्षा नजदीक आयी तो एक दिन शर्मा जी ने कक्षा में छात्रों से पूछा—"हां भाई, कौन-कौन लोग फर्स्ट क्लास आयेंगे?" क्लास के तीन-चार मुखर स्वभाव के छात्रों ने हाथ उठा दिये। शर्मा जी ने उन्हें देखा। मुसकराकर कहा—"अच्छा-अच्छा, हाथ नीचे कर लो।" फिर धीरे-धीरे मेरी ओर दृष्टि घुमायी और बोले—"मिश्रा, तुमने हाथ क्यों नहीं उठाया?"

"मैं नहीं जानता सर, मेरा कौन-सा डिवीजन आयेगा। कैसे हाथ उठा दू?"

वे फिर मुसकराये—विश्वास की दीप्ति थी उसमें। बोले—"लेकिन मैं जानता हूं। तुम्हारे बारे में तो जरूर जानता हूं।"

मैं सकुचाया। पूरी क्लास में मुझे प्राचार्य की ओर से जो अतिरिक्त स्नेह मिला, वह मेरे लिए बहुत मूल्यवान था। वह दायित्व का एक भार भी था जिसे निभाना था। और मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि मैंने उनका विश्वास तोड़ा नहीं। अच्छे अंकों से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। पंडित प्रद्युम्न पांडे हिन्दी पढ़ाते थे। वे साहित्यरत्न थे, अच्छा पढ़ाते थे। जब वे क्लास ले रहे होते तो मैं दूर घास पर बैठा होता। मुझे अभिमान था कि मैं भी तो साहित्यरत्न हूं। एक साहित्यरत्न की कक्षा में दूसरा साहित्यरत्न कैसे बैठ सकता था? मैं वैसे तो उस स्कूल का विद्यार्थी होने के नाते उनका विद्यार्थी ही कहा जाता, लेकिन समान शिक्षा की ऐंठ मुझे उनकी क्लास में बैठने नहीं देती और वे भी इस समानता का अनुभव करते थे। इसलिए मुझे समानता का व्यवहार देते थे। लेकिन जब मैं हिन्दी की किताब पढ़ता तो कई जगह कठिनाई अनुभव करता। कच्ची उम्र में केवल साहित्यरत्न पास कर लेने से ही कोई हिन्दी साहित्य का मर्मज्ञ तो नहीं हो जाता और न उसके पूरे टेक्स्ट पर उसका अधिकार हो जाता है। प्रद्युम्न जी वह पुस्तक कई

वर्षों से पढ़ा रहे थे, उस पर उनकी पूरी तैयारी थी इसलिए उस पुस्तक पर उनका पूरा अधिकार था, मेरा नहीं था। अधिकार नहीं होने पर भी मेरा अहंकार मुझे उनकी क्लास में बैठने नहीं देता। हां, जब वे संस्कृत पढ़ाते थे तो मैं उनकी कक्षा में बैठता था। यह अहंकार हास्यास्पद तो था लेकिन मेरा एक लाभ किया। मैं हिन्दी से अकेले जूझने की प्रक्रिया में काफी लहूलुहान हुआ और संस्कृत में शिक्षक का सहारा होने के कारण, आश्वस्ति अनुभव करता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में तो मुझे विशेष योग्यता (डिस्टिंक्शन) प्राप्त हुई और संस्कृत जैसे अंक-दिखाऊ विषय में यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

22

एडमिशन की परीक्षा देकर घर आ गया। पेपर अच्छे हुए थे तो भी क्या होगा, चिंता बनी हुई थी। वे लोग धन्य है जो एक काम करके निश्चित हो जाते हैं और वर्तमान या भविष्य की ओर देखने लगते है। शिक्षक होने के कारण मैं अपने छात्रों को समझाता हूं, जो बात गयी वह लौटकर तो आने की नहीं, उसे छोड़ो और आगे की सोचो; किन्तु मैं स्वयं जो बीत गयी, उससे उबर नहीं पाता। बात परीक्षा की ही नहीं है, जीवन की अनेक क्रियाओं की है। सोचता रहता हू, यदि ऐसा हुआ होता तो ऐसा हुआ होता। और विवेक के स्तर पर इस चिंता को झटककर फेंक देता हू, लेकिन यह चिंता कहीं से लौटकर मेरी संवेदना को कुरेदने लगती है। परीक्षाओं के संदर्भ में इस चिंता ने विशेष परेशान किया है। सो परीक्षा देने के बाद चिंतित था, जाने क्या होगा ? दूसरी चिंता थी—आगे क्या करना है ?

इन चिंताओं के साथ गर्मी की छुट्टियां कट रही थी। दिनचर्या पहले जैसी ही थी। गांव आकर मैं किसान का लड़का बन जाता था। खेती-बारी, घर-गृहस्थी के कामो से जुड़ जाता था। जब से बाहर गया तब से मेरे भीतर एक और मन उग रहा था जो गांव से कुछ-कुछ तनने लगा था। इस बार तो वह मन ज्यादा ही मुखर हो आया था। बनारस जैसे शहर में अच्छे स्तरों के लड़कों की जीवनचर्या से परिचित होकर तथा साल-भर स्वयं अपेक्षाकृत स्तरीय जिन्दगी जीकर तथा साहित्यिक वातावरण का रस पीकर वह मन देहात के धूल-धक्कड़-भरे जीवन से कुछ अरुचि महसूस करने लगा था। यह भी क्या जिन्दगी है कि स्टेशन पर उतरो तो अपना सामान-वामान सिर पर लादे हुए दस मील की दूरी पैदल तय करके घर पहुंचो और दंवरी हांको, भूसा ढोओ, खेत गोड़ो, बैलों को सानी-पानी दो, फिर अनेक किसानी कार्य करो। मेरे भीतर से एक शहरी सुविधावादी मन झांक रहा था जो कुछ कर तो नहीं पा रहा था किन्तु भीतर-भीतर मेरी स्थिति के प्रति एक हलकी-हलकी अरुचि पैदा कर रहा था। मैं अपनी स्थितियों से उसी

तरह जुड़ा था और सारे कार्य कर रहा था किन्तु उनके प्रति लगाव कहीं से दरक रहा था। सोचता था—इतनी लंबी छुट्टी देहात की इस भीषण हाहाकार-भरी गर्मी में कैसे कटेगी ? लेकिन कट ही रही थी। इस गर्मी और किसानी कार्यों की गुरुता के साथ-साथ गांव-घर का अपना आकर्षण भी तो था—मां का प्यार था, पिता की वात्सल्य-छाया थी, भाभियों की गहमागहमी थी, शादी-ब्याह की चहल-पहल थी; बारातें थी और मैं समझ रहा हूं कि आप क्या पूछना चाह रहे थे—यही न कि घर पर बीवी का साहचर्य था ' हां था, लेकिन नहीं था। उस समय परिवार में खुलकर पत्नी से बातचीत कर पाना संभव नहीं था। और यदि संभव रहा होता तो भी कुछ खास बात नहीं रही होती। शहर की रंगीनियों में आंखें खोलते और साहित्य-जगत् की नायिकाओं से परिचित होते मेरे मन को उस सीधी-सादी, अरूमानी मन और तन वाली औरत में कौन-सा आकर्षण दिखाई पड़ता कि उसके साहचर्य में वह गर्मी की भारी छुट्टियों को सरल और हलका बना लेता ?

परिणाम की प्रतीक्षा थी। ज्यों-ज्यों उसके घोषित होने के दिन समीप आ रहे थे, घबराहट बढ़ती जा रही थी। भइया इन दिनों बच्चा बाबू के मूल निवास बरही में ही नियुक्त थे। मैं सबेरे-सबेरे वहीं पहुंच गया। हम खा-पीकर बैठे तो अखबार वाला दिखाई पड़ गया। मैंने पूछा—"यहां अखबार आता है क्या ?" "हां, नरेश बाबू के यहां आता है। क्यों ?" "इन दिनों परीक्षाफल निकलना चाहिए।" "अभी मंगाते है।" कहकर भइया ने एक आदमी को अखबार लाने को भेज दिया। जी धुक-धुक करने लगा। न जाने क्या होगा ? कहीं अंगरेजी में फेल न होऊं। पूरी सूची पर नजर फेर गया। मेरे तो प्राण टंग गये। कही भी मेरा नंबर नहीं मिला। क्या मैं दुबारा फेल हो गया ?

"क्या है ?" भइया ने पूछा।

"नंबर मिल नहीं रहा है।" मैंने परेशान स्वर में कहा।

"क्या ?" भइया चौंके। "ऐसा कैसे हो सकता है ?" कहकर उन्होंने अखबार मेरे हाथ से ले लिया और मेरा नंबर पूछकर देखने लगे। चार-पांच सेकंड बाद ही खुशी से चिल्लाये - "यह क्या है तुम्हारा नंबर। शुरू में ही तो था।"

"कहां ?" मैंने उनके हाथ से अखबार ले लिया और देखा शुरू में ही मेरिट लिस्ट वालों के नंबर दिये गये थे। मेरा नवां नंबर था। हिन्दी और गणित में डिस्टिंक्शन भी था। वास्तव में मैं मेरिट लिस्ट वाला कालम छोड़ गया था। विश्वास ही नहीं हुआ कि मेरा नंबर उसमें होगा और भइया को विश्वास रहा होगा कि मेरा नंबर यहीं कहीं होना चाहिए। दरअसल मेरी क्षमता पर जितना दूसरे विश्वास करते रहे हैं उतना मैं स्वयं नहीं। हो सकता है मैं अपने बारे में तटस्थ नहीं हो पाता होऊं इसलिए सही आकलन नहीं कर पाता। हमेशा कम ही आंकता हूं। दूसरे लोग तटस्थ होकर देखते हैं इसलिए वे ठीक अनुमान लगा लेते हैं।

मेरे फर्स्ट पास होने की खुशी में भइया शाम को मेरे साथ ही घर लौटे। मैंने पूछा—"अब ?"

"अब क्या, तुम हिन्दू विश्वविद्यालय में नाम लिखाओ और पढ़ो।"

मैं उनके स्नेह मे भीग आया किन्तु न जाने क्यों हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रवेश का एक आतंक मेरे मन पर था। इतने बड़े विश्वविद्यालय में पढ़ने की सामर्थ्य जुटा पाऊंगा क्या ? न जाने कितना खर्चा बैठे ?

"तुम चिन्ता न करो, मैं सब देख लूंगा।"

मैंने बी० एच० यू० में नाम लिखाने के लिए प्रस्थान किया तो भइया ने प्रवेश-शुल्क के अतिरिक्त एक हजार रुपये इकट्ठे दे दिये और कहा कि पोस्ट आफिस में डाल देना और जरूरत के मुताबिक निकालते रहना। कोई तकलीफ मत सहना। जरूरत पड़े तो फिर लिखना।

उन्होंने मेरी पढ़ाई-लिखाई के लिए जैसे अपने को अर्पित कर दिया था। वे अपने को निचोड़कर और देना चाहते थे और मै कम-से-कम लेना चाहता था। मेरी जरूरतें बहुत कम थीं, उन्हें भी जितना कम करना संभव होता करता था। मुझमें ऐसी कोई लत नहीं थी जो खर्च करने के लिए बेबस कर दे। मैं स्वभाव से मितव्ययी रहा हूं। इसलिए भइया के अधिक-से-अधिक देने को अपने कम-से-कम लेने की प्रकृति से सीमित करता रहा हूं। जब बी० एच० यू० पहुंचा तो बी० एच० यू० का डर मेरे मन पर तारी था। विशाल फाटक, उस पर अगरेजी और हिन्दी मे लिखा हुआ उसका नाम। इसके भीतर एक बडी दुनिया है। मेरा देहाती मन साल-भर बनारस रहने के बाद भी शहरी आतंक से मुक्त नहीं हुआ था। और यह भी कि साल भर बनारस रहने के बावजूद मैं पहली बार बी० एच० यू० के दर्शन कर रहा था। इसलिए बनारस के आतंक से कुछ राहत पाकर भी मन बी० एच० यू० के आतंक को पहली बार झेल रहा था। पिछले साल हॉस्टल में विपिन के यहां के कुछ लोग विपिन के यहां आते थे जो बी० एच० यू० में पढ़ते थे। वे संपन्न परिवारों के लोग थे और मुझे लगता था कि इतने बड़े विश्व-विद्यालय में ऐसे ही संपन्न घरों के बच्चे पढ़ते है, लेकिन जब मैं बी० एच० यू० के गेट के भीतर घुसा तो मेरे जैसे तमाम लड़के दिखाई पड़े—सामान्य धोती-कुरता पहने, कुछ के पांव में मामूली चप्पल, तो कुछ नंगे पांव, आंखों में धूल-धूसरित अटट देहात की गहरी छाया, कुछ बड़ी-बड़ी चुटिया लहराते हुए। संपन्न घरों के बच्चे भी दिखाई पड़े किन्तु कुल मिलाकर बी० एच० यू० का भीतरी संस्कार सामान्य समाज का संस्कार लगा। कोट-पेंट वाली संस्कृति की अपेक्षा धोती-कुरता वाली संस्कृति अधिक दिखाई पड़ रही थी। मेरा सहमा हुआ मन कुछ आश्वस्त हुआ। यह दुनिया हमारे गांव-देहात की दुनिया से अलग कोई अजीब दुनिया नहीं है, बल्कि उसी से बनी हुई दुनिया है। कुछ लड़कों से बातचीत हुई। हम साथ हो गये। आर्ट्स कालेज पहुंचा। प्रवेश-पत्र भरा। बिड़ला हॉस्टल में दाखिले के लिए भी फार्म भरा। एडमिशन में अच्छे डिवीजन में पास होने के कारण मैं भीतर-भीतर आश्वस्त था कि किसी भी दाखिले में कोई दिक्कत नहीं पड़ेगी। शाम को मैं डरते-डरते डा० रामअवध द्विवेदी के यहां गया। वे मन्नन द्विवेदी के छोटे भाई थे और अपने जवार के कस्बे गजपुर के निवासी थे। सुना था कि वे बहुत अच्छे आदमी हैं और विशेषतया अपने जर-जवार के लोगों के प्रति उनमें बड़ी आत्मीयता

है। फिर भी मन में डर था—एक तो वे बड़े प्रोफेसर हैं, दूसरे अंगरेजी के प्रोफेसर। यदि उन्होंने अंगरेजी में ही बातचीत शुरू कर दी तो मेरी तो हालत खराब हो जायेगी। डरता-डरता मैं उनके यहां पहुंचा। मैं ड्राइंगरूम में बैठाया गया। कुछ क्षण बाद ही एक सुदर्शन व्यक्तित्व भीतर से आया। मैं हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। मैंने देखा—गौर वर्ण की लंबी काया, खादी का शुभ्र परिधान, चेहरे पर तेज। "कहिए ?" उन्होंने गंभीर स्वर में पूछा।

"जी, मेरा गांव डुमरी है। यहां आई० ए० में दाखिला लेने आया हूं।"

डुमरी नाम सुनते ही उनके गंभीर चेहरे पर देहाती खुलापन आ गया।

"अच्छा, अच्छा, बहुत अच्छा है, लीजिए एडमिशन। कोई कठिनाई तो नहीं हो रही है ? कोई कठिनाई हो तो बताइए।"

"फिलहाल तो कोई कठिनाई नहीं है।"

"मैट्रिक में कौन-सा डिवीजन है ? '

"फर्स्ट और हिन्दी तथा गणित में डिस्टिंक्शन है।"

"बहुत अच्छा। तब क्या कठिनाई होगी ? आपकी फीस भी माफ हो जायेगी और वजीफा भी दिलवा दूंगा।"

"जी, आपकी कृपा।"

"रहेंगे कहां ?"

"जी, बिड़ला हॉस्टल में दाखिले के लिए फार्म भर दिया है।"

"हां, यह बहुत अच्छा किया। हॉस्टल में सुविधा होती है पढ़ाई-लिखाई की।" वे बोले।

"जी, यही सोचकर वहां दाखिला चाहता हूं।"

मैं वहां संकोच लेकर गया था लेकिन द्विवेदी जी के साहचर्य में वह न जाने कब टूट गया। वे गांव-जवार की बातें करने लगे, मेरे गांव के कुछ लोगों के मजाकिया प्रसंग ढूंढ़ लाये और मस्ती से हंसते-हंसाते रहे। अंगरेजी के इस वरिष्ठ प्रोफेसर के भीतर एक देहाती बच्चा छिपा हुआ था जो न जाने कितने अगंभीर विनोदी प्रसंग याद कर-करके हंस रहा था, हंसा रहा था। उनकी हंसी में एक तरल खिलखिलाहट थी, निश्छलता थी।

कस्बा गजपुर, राप्ती नदी, राप्ती का कछार, कछार की फसल द्विवेदी जी की हंसी में एक साथ मुखर हो रहे थे और मुझमें अपनापन भर रहे थे। जब मैं वहां से उठा तो एक बड़े प्रोफेसर के स्नेह की महक मेरे भीतर थी और इस महान् संस्था को लेकर मेरे मन में उपजे आतंक की एक पर्त और टूट चुकी थी।

बिड़ला हॉस्टल में कमरा मिल गया था। वार्डन थे डा० राजबली पांडेय। उन्हें मैं कुशीनगर वाले अधिवेशन में सुन चुका था और बहुत प्रभावित हो चुका था। वे अपने ही जिले के हैं, यह भी ज्ञात था। वे मेरे वार्डन हैं, यह मेरे लिए बहुत गर्व की बात थी। उनसे मैं मिला। वहां भी वही सादगी, वही आत्मीयता, वही देहातीपन जो रामअवध जी के यहां दिखाई पड़ा था। पांडेय जी भी द्विवेदी जी की तरह गांव-घर की

याद से बच्चों की तरह हंसते थे। इतने बड़े पंडित और बच्चे की-सी सहजता। यह बात मुझे वहां की तरह यहां भी प्रभावित कर रही थी। वेश-भूषा भी वही। अंतर इतना था कि द्विवेदी जी टोपी नहीं लगाते थे और पांडेय जी लगाते थे। थोड़े ही अरसे में मैं उनके समीप आ गया था। मैं कविताएं लिखता हूं यह बात शीघ्र ही प्रचारित हो गयी—पत्र-पत्रिकाओं के भी माध्यम से और वहां आयोजित होने वाली कविता-गोष्ठियों के भी माध्यम से। पांडेय जी यों तो प्राच्य इतिहास के पंडित थे लेकिन साहित्य में भी उनकी गहरी पैठ थी, अतः वे हॉस्टल तथा हॉस्टल के बाहर की कवि-गोष्ठियों में जाया करते थे। मुझे सुनते रहते थे और उन्होंने मेरे साथ गुरु-शिष्य भाव के अतिरिक्त साहित्य के एक सहभाव का सम्बन्ध भी बना लिया था। मैं उनसे खुला भी था और उतना ही अदब से नत भी। पांडेय जी वार्डन तो थे लेकिन उनमें वार्डन का आतंककारी प्रशासनिक रूप नहीं था। वे विद्वान् थे, बड़े इमान थे, अतः अन्य वार्डनों की तरह कमरों में आकर ताक-झांक करना उनका काम नहीं था। कभी-कभार मस्ती में निकल पड़ते थे और व्यंग्य-विनोद में बिगड़ैल लड़कों को कोंच भी देते थे और पढ़ने के लिए प्रेरित भी कर देते थे। वार्डनों की निरंतर हस्तक्षेपी हरकतों की अपेक्षा इस कभी-कभार व्यंग्यात्मक हस्तक्षेप का प्रभाव अधिक पड़ता था। लोग उनका सम्मान करते थे। वे अपने सारे पांडित्य के बावजूद छात्रों में घुल-मिल जाते थे।

सुना था ये और इन जैसे अनेक लोग अभावग्रस्त परिवारों में आये थे और मालवीय जी की पारखी दृष्टि ने इनकी प्रतिभा की पहचान की थी और इन्हें पढ़ने की अनेक सुविधाएं दी थीं। मालवीय जी की महानता की स्तुति की जाय या इन प्रतिभाओं की जिन्होंने सारी असुविधाओं के बीच अपने विकास और उन्नयन का मार्ग खोजा। दोनों ही स्तुत्य हैं। सोचता हूं डा० राजबली पांडेय या ऐसे अनेक लोग अपनी विद्वता में आतंकित न कर अपने को सहज बनाये रह सके तो इसीलिए कि वे देहात के अभाव-ग्रस्त परिवारों में आये थे और जीवन के उस दर्द को पहचाना और जिया था जो इंसान को इंसान से जोड़ता है, जो भेदभावों से परे जाकर मनुष्य की एक केन्द्रीय चेतना की पहचान करता है। पांडेय जी के पास हम लोग अपनी समस्याएं लेकर सहज भाव से जाते थे और वे रस लेकर उन्हें सुनते थे और निराकरण करने का प्रयत्न करते थे। यानी छोटी-छोटी बातों के लिए छात्रों के क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप तो नहीं करते थे किंतु उनकी बुनियादी समस्याएं सुनते थे। उनके वार्डनशिप में मैं पांच वर्षों तक रहा और न जाने कितने आत्मीय क्षण उन्होंने मुझे और औरों को भी दिये, सभी याद तो नहीं किन्तु उनका एक समन्वित प्रभाव अभी भी मेरे भीतर महक रहा है।

बी० एच० यू० के थोड़े ही दिनों के अनुभव ने मुझमें एक आश्वस्ति भर दी। आतंक समाप्त हो गया और लगा मैं अकेला नहीं हूं, अपने जैसे अनंत छात्रों की भीड़ का एक अंग हूं। कक्षा में और हॉस्टल में भी बहुत-से अमीर लड़के थे—यानी शहरों से आये हुए संपन्न और सुशिक्षित घरों के लड़के। कुछ देहातों के जमींदार घरानों से आये हुए लड़के थे, किन्तु अधिक संख्या सामान्य देहाती परिवारों से आये लड़कों की ही थी। किन्तु एक बात अनुभव कर रहा था कि वहां अमीर-गरीब परिवारों

से आये होने का बोध नगण्य था। शायद बी० एच० यू० की आबोहवा ही ऐसी थी कि उसमें न अमीरी का रोब गालिब हो सकता था और न गरीबी के लिए हीनता-ग्रंथि बनने की कोई विवशता पैदा होती थी। पूरे वातावरण मे राष्ट्रीयता और देशीपन का सहज प्रवाह बहता था। बहुत कम लोग थे जो कोट-पैंट पहनते थे, तमाम विभागों के अधिकांश लोग धोती-कुरता ही पहनते थे। अंगरेजी के विभागाध्यक्ष मेनन साहब तो कभी-कभी मद्रासी लुंगी पहनकर आते थे। मालवीय जी जिन्दा थे यद्यपि एकदम अशक्त हो गये थे। उनका प्रभाव मानो अभी भी पूरे वातावरण मे व्याप्त था। राष्ट्रीय आंदोलन की सरगर्मी छायी थी और सारे छात्र-नेता धोती-कुरता वाले थे और सामान्य घरो के ही थे। बी० एच० यू० आई० सी० एस० पैदा करने के लिए नहीं, नेता और विद्वान् पैदा करने के लिए विख्यात था। अतः वहा सहजता की हवा प्रसन्न रूप मे बहती थी।

मेरे लिए कुंठित न होने की दो वजहे और थी—एक कवि होना, दूसरी मैट्रिक मे मेरी प्रथम श्रेणी। मै कवि-रूप मे जान लिया गया था। लोग मेरे कमरे मे आते-जाते थे। पाडेय जी भी कभी-कभी कृपा करते थे, इसलिए मुझे एक वैशिष्ट्य प्राप्त हो गया था जिसमे मेरा पारिवारिक स्तर मुझे कभी चिढाता नजर नही आता था। हॉस्टल में रहने वाले अपने सामाजिक स्तर के तथा ऊचे स्तरों के अनेक कक्षाओ के छात्रो से बराबरी का एक आत्मीय सम्बन्ध बन गया था। इतना होने के बावजूद मेरी मैत्री अपने ही सामाजिक स्तर के लोगो के साथ थी। मै वही, 'ऐट होम' अनुभव करता था। सच पूछिए तो वहां किसी को इस बात की चिन्ता ही नही थी कि कौन कहा से, किस आर्थिक श्रेणी से, किस प्रान्त या जाति से आया है। लोग सहधर्मिता तथा पहचान के आधार पर एक-दूसरे से जुड़ते थे।

मेरी कविता ने मुझे बहुत सहारा दिया है। उसने मुझे अस्मिता दी और हीनता की भावना से उबारा। देहात के एक सामान्य से घर से आये हुए युवक मे था ही क्या जो इतनी बड़ी भीड म कही दिखाई पडता। बस, कविता थी जिसके नाते मै वैशिष्ट्य प्राप्त करता गया। बिड़ला हॉस्टल मे कई साहित्यकार छात्र थे और अनेक छात्र साहित्यिक रुचि के थे। मेरे बगल के कमरे मे शिवसागर मिश्र थे तथा उसी विंग मे रामविनायक सिंह थे, शंकरलाल मस्करा थे, उमाकान्त वर्मा थे और बहुत-से लोग थे। सभी मुझसे सीनियर थे। शिवसागर, रामविनायक और शंकरलाल मस्करा अच्छी कविताएं लिखते थे। उमाकान्त वर्मा कहानीकार थे। उन्हें अपनी पूरी कहानी जबानी याद रहती थी। गोष्ठिया जमती थीं, कवि-सम्मेलन होते थे। मेरी विशिष्टता इस बात में भी थी कि मेरी रचनाएं स्थानीय पत्र-पत्रिकाओ में खूब छपती थी। मित्र लोग पढ़ते थे और तारीफ करने के लिए मेरे कमरे मे आ जाते थे। त्रिलोचन शास्त्री ने भी मैट्रिक पास कर लिया था और इंटर की तैयारी कर रहे थे। वे भी हॉस्टल में आ जाया करते थे। ठाकुर प्रसाद सिंह से भी परिचय हो गया था। वे बी० ए० में थे और ईश्वर-गंगी से साइकिल पर आते थे। रामविनायक सिंह ठाकुर के मित्र थे और रामविनायक मेरे

मित्र थे। रामविनायक के माध्यम से ही ठाकुर प्रसाद से मेरा परिचय हुआ और धीरे-धीरे घना होता गया।

उन दिनों प्रगतिशील कवि शिवमंगल सिंह सुमन शोध-कार्य कर रहे थे। उमाकान्त वर्मा उनसे हिले-मिले थे। उमाकान्त के जरिए सुमन जी से परिचय हुआ। सुमन जी का व्यक्तित्व बहुत मोहक था। विश्वविद्यालय की बड़ी-बड़ी हस्तियों से उनका सम्बन्ध बन चुका था। उन्हें ज्यों-ज्यों जाना, उनकी यह पहचान उभरती गयी कि उनमें ऐसा कुछ है कि वे सब जगह अपना सिक्का जमा लेते हैं। चाहे व्यक्ति हों, चाहे सत्ताएं, सुमन जी की पैठ सब जगह हो जाती है। सत्ताएं बदलती रहती हैं, सुमन जी के वर्चस्व पर असर नहीं पड़ता, उनका जादू बरकरार रहता है। सुमन जी के रूप-रंग मे जो मोहकता है वही उनके बोलने-चालने के ढंग और व्यवहार में भी। वे बहुत स्तरीय ढंग से रहते थे। शोध-छात्र होकर भी बड़े-बड़े प्रोफेसर के मित्र थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि वे हम नये लोगों को बहुत स्नेह देते थे। कविताएं सुनते थे (वैसे सुनने की अपेक्षा सुनाते थे), सराहते थे, विश्वविद्यालय की कविता-गोष्ठियों में साथ ले जाते थे और कवि-सम्मेलनों की हुड़दंग में हम लोगों की रक्षा करते थे। वे तो सिद्ध काव्यवाचक थे। एक खास अदा से कविता पढ़ते थे। उनकी जुबान की भंगिमा के साथ-साथ उनके हाथों और चेहरे की भंगिमा भी कविता पढ़ती थी। अपने बालों को झटककर, कभी शरमा-कर, कभी रोष में आकर, कभी बांहें उठाकर, कभी उनमें एक लोच देकर जब वे पढ़ते थे तो हुड़की हुई भीड़ शांत हो जाती थी, सुनती थी, तालियां बजाती थी। उनकी कविताएं सीधी अभिधात्मक होती थीं, उनकी चोट सीधी होती थी। सुमन जी में छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं था। वे सहज भाव से मिलते थे और जब भी मिलते थे अपने-आप अपनी कविताएं सुनाने लगते थे—चाहे बैठे हों, चाहे साथ चल रहे हों, चाहे रिक्शे पर हों, चाहे रेलवे प्लेटफार्म पर हों (हम कभी-कभी उन्हें छोड़ने स्टेशन भी जाते थे)। उनकी यह सहजता हमें अच्छी लगती थी। हम गौरव अनुभव करते थे कि इतना बड़ा कवि हमें अपने-आप ताबड़तोड़ कविताएं सुनाए जा रहा है। कुछ लोग हैं जो कहने पर नहीं सुनाते, अपने बड़प्पन की ऐंठ दिखाते हैं।

त्रिलोचन जी हम लोगों के यहां आते-जाते थे। वे भी बहुत सीधे थे। छोटे से छोटे, नये से नये कवि से उनकी यारी हो जाती थी। लेकिन साथ ही उनमें एक जबर्दस्त अकड़ थी। वे बड़े-बड़े लोगों को ठेंगे पर रखते थे, चाहे इसके लिए कितनी भी हानि उठानी पड़ रही हो। वे सुमन जी के मित्र थे लेकिन उनके प्रशंसक नहीं थे। उनमें असंतुलन भी था यानी मूडी थे। जिस कवि या कहानीकार को आज कहते थे कि तुम बहुत अच्छा लिख रहे हो, तुमसे बहुत संभावनाएं हैं, उसी से किसी दिन यह कहते हुए सुनाई पड़ते थे कि "तुम कविता या कहानी लिखना छोड़ दो।" बहुत-से लोग आहत हुए। कइयों ने सुमन जी से कहा। सुमन जी ने त्रिलोचन जी को डाटा—"तुम इस तरह क्यों कहा करते हो?" लेकिन त्रिलोचन जी को याद भी नहीं रहता था कि उन्होंने ऐसा कुछ कहा है।

आइए, जरा हॉस्टल की ओर से कॉलेज की ओर लौटें। अंगरेजी मेरी कमजोर

थी। इसे लेकर एक अजीब हीनता का बोध मुझे होता था। मेरी सारी ऊर्जा यहीं आकर हतप्रभ हो उठती थी। अंगरेजी की क्लास शुरू होने से पहले कई लोग दिखाई पड़े जो अपनी जुबान और वेश-भूषा मे अंगरेजियत का रुआब बरसा रहे थे। मेरा जी धक्क-धक्क करता था कि अंगरेजी जानने वालों की भीड़ में मेरी क्या स्थिति होगी? एक नाम अभी भी याद है सीताराम पांडे का। अंगरेजी की क्लास अभी शुरू नहीं हुई थी, हिन्दी की हो चुकी थी। इस छोटे से दौर में सीताराम ने अपनी काबिलियत, अपनी स्मार्टनेस और अच्छी अंगरेजी का आतंक जमा लिया था। मेरी तरह बहुत-से देहाती लड़के उनसे आतंकित हो उठे थे। आखिर अंगरेजी की क्लास शुरू हुई। क्लास थी डा० विक्रमादित्य राय की। धोती और लंबे कोट में अंगरेजी के अध्यापक को देखकर मेरे मन मे अंगरेजी का जमा हुआ आतंक थोड़ा कम हुआ। उन्होंने बोलना शुरू किया तो मुझे बहुत अच्छा लगा—एकदम साफ-सुथरी समझ में आने वाली अंगरेजी। सीताराम मुझसे थोड़ी दूर पर बैठे थे। उन्होंने मुंह बिचकाया—"हुंह, देहाती अंगरेजी बोल रहा है।" इण्ट्रोडक्टरी भाषण दे चुकने के बाद डा० राय ने पूछा—"इस कक्षा में बैठे विद्यार्थियों में से कितनों ने मैट्रिक में फर्स्ट क्लास पाया है?" मैं चौंका और इस आशय से चारों ओर देखा कि शायद बहुत-से हाथ उठे हों। कोई हाथ नहीं उठा था। मैंने हाथ उठा दिया। सीताराम के पास बैठे लड़के उन्हें कोंचने लगे—"उठाओ भाई, हाथ उठाओ, तुम भी तो फर्स्ट क्लास हो।" सीताराम कोंचे जाकर इधर-उधर उल्हमेल करते रहे लेकिन हाथ नहीं उठाया। डा० राय ने मुझे बुलाया और कहा कि हाजिरी तुम लिया करोगे।

क्लास छूटने के बाद लड़के सीताराम के पीछे पड़ गये—"अरे, तू तो बड़ी डींग हांकता था—मै फर्स्ट क्लास हूं, यह हूं, वह हूं···।" सीताराम जान बचाकर भाग रहे थे और लडके उनके पीछे पड़े थे। मैं सोच रहा था कि कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस विषय से मेरी रूह कांपती है उसी का मानीटर बना दिया गया। कभी क्लास में डा० राय मुझसे कुछ पूछ देंगे और नहीं आयेगा तो क्या सोचेंगे? फर्स्ट क्लास विद्यार्थी की मिट्टी पलीद हो जायेगी। लेकिन मैं कर क्या सकता था? अंगरेजी के दूसरे प्राध्यापक थे—डा० टी० एन० सिंह। ये हमें कविता पढ़ाते थे। डा० राय गद्य पढ़ाते थे और उनमें गद्य-सी ही सफाई थी। डा० सिंह की वेश-भूषा आधुनिक थी और उनकी अंगरेजी हमारी समझ में न आने वाली थी। बहुत जल्दी-जल्दी ऊंची अंगरेजी बोलते थे तिस पर कविता का अध्यापन। सीताराम पांडे ने डा० सिंह की अंगरेजी सुनकर कहा—"हां, यह है अंगरेजी।" लेकिन हम लोग (यानी मैं और मेरे जैसे लोग) तो कुछ समझ ही नहीं पाते थे।

अंगरेजी के तीसरे अध्यापक थे चुनेकर जी। छोटे कद के थे। ये भी हर मौसम में पूरा सूट पहनते थे। बहुत सख्त और अनुशासनप्रिय अध्यापक थे लेकिन बुजुर्ग होने के कारण और नकली दांत के कारण साफ बोल नहीं पाते थे। तिस पर जल्दी-जल्दी बोलते थे। बहुत बोरियत महसूस होती थी। हाजिरी के बाद हम लोग यथासंभव क्लास में से निकल जाते थे। उनकी आंखें कमजोर थीं अतः भागते हुए लड़कों का देख नहीं

पाते थे। किताब भी आंख से खूब सटाकर पढ़ते थे। कुल मिलाकर उनकी क्लास हमारे लिए यातना थी। उन दिनों हिन्दी-प्रेम जोर मार रहा था, अतः कुछ छात्र उनकी क्लास में यस सर' कहने के स्थान पर 'उपस्थित महोदय' कह देते थे। इस पर चुनेकर जी भड़क उठते थे। वे या तो उस छात्र को फटकारते थे या क्लास से बाहर निकाल देना चाहते थे, लेकिन इससे अप्रभावित हुए बिना वे छात्र बिला नागा 'उपस्थित महोदय' कहते थे। चुनेकर जी एक दिन एक छात्र को लेकर पहुंच गये प्रिंसिपल के पास। प्रिंसिपल नाग बहुत दबग आदमी थे। अच्छी पर्सनैल्टी थी, गभीर चाल से चलते थे। नमस्कार करने पर हलका-सा सिर नवाकर उत्तर दे देते थे। उन्हें कभी हंसते नही देखा। चुनेकर जी उस छात्र को (शायद उसका नाम रमेशचन्द्र झा था) लेकर नाग साहब की ओर चले। रमेश बिलकुल भयभीत नही था। हम लोग सांस रोककर परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ देर बाद रमेश लौट आये। नाग साहब ने रमेश को समझा-बुझाकर वापस भेज दिया और चुनेकर साहब को रोक लिया। उनसे क्या बात हुई यह तो पता नही चला किन्तु अगली बार जब रमेश ने 'उपस्थित महोदय' कहा तो चुनेकर साहब कुछ बोले नहीं। तब लगा कि नाग साहब ने उन्हें इन छोटी-छोटी बातो पर उत्तेजित न होने की सलाह दी थी। इसी बात को लेकर 'संसार' मे बेधड़क जी की एक कविता भी छपी थी—

चले काटने पेड़ जड से पकड़ के
अंदेशा बना है कि पत्ता न खड़के
उपस्थित महोदय जब कहते है लड़के
चुनेकर महोदय न जाने क्यो भड़के

चुनेकर साहब के पढाने मे नीरसता भले रही हो लेकिन वे पढ़ाते अच्छा थे। अपनी तो अच्छी गति नही थी कि उनकी अच्छाई की पहचान करता किंतु अगरेजी जानने वाले विद्यार्थी उनकी क्लास में डटे रहते। उनके एक व्यवहार ने उनके पांडित्य की ईमानदारी का बड़ा गहरा प्रभाव मुझ पर छोड़ा। वे पढा रहे थे कि एक बगाली लड़के ने उन्हें टोक दिया —"सर, मुझे तो लगता है कि इसका अर्थ यह है।" चुनेकर जी पल-भर को रुके फिर बोले—"तुम ठीक कहते हो। मेरा अर्थ गलत था। मुझे शर्म आनी चाहिए अपनी गलती पर। एक प्राध्यापक होकर मुझे यह गलती नही करनी चाहिए।" बात आयी-गयी हो गयी लेकिन उनकी यह पंक्ति मेरे मन पर कहीं गहरे अंकित हो गयी। विद्यार्थियों के सामने अपनी गलती स्वीकार करने वाले आज कितने लोग हे?

मैंने विषय लिए थे—हिन्दी, नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र। बी० एच० यू० में उन दिनों अन्य विषयों की भी पढाई हिन्दी में शुरू हो गई थी। यानी अंगरेजी सैक्शन के साथ हिन्दी सेक्शन भी था। मैं हिन्दी सेक्शन में ही था। डा० तिवारी और उमेशजी हमें अर्थशास्त्र पढ़ाते थे। कन्हैयालाल वर्मा तथा बोरा साहब नागरिकशास्त्र। हमें कन्हैयालाल वर्मा का अध्यापन सबसे अच्छा लगता था। सीधी-सादी देसी वेश-भूषा मे आते थे। उनकी धोती का एक छोर उनकी चप्पल के नीचे तक लहराता होता था। वे शुरू

मे अपने भाषण के सूत्र दे देते थे फिर धीरे-धीरे उनका भाष्य कर देते थे। पूरा भाषण एकदम साफ हो उठता था और हम लोग पूरा का पूरा भाषण उतार लेते थे। बेग साहब आभिजात्य के प्रतीक थे। बहुत सुन्दर व्यक्तित्व, सुन्दर आधुनिक वेश-भूषा, मुह मे पान। बहुत नफासत से पढ़ाते थे। वे मूलतः अंगरेजी मे पढाते थे लेकिन उनकी हिन्दी भी अच्छी लगती थी—एक खास स्वाद वाली हिन्दी। हिन्दी अपना विषय थी, अतः जाहिर है कि सबसे अधिक आश्वस्ति हिन्दी की कक्षा मे मिलती थी। जहा तक मुझे याद है हमें डा० श्रीकृष्ण लाल, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और प० नन्ददुलारे वाजपेयी पढाते थे। श्रीकृष्ण लाल जी गद्य पढाते थे, विश्वनाथ जी कविता और वाजपेयी जी अनिवार्य हिन्दी के निबध पढाते थे। वाजपेयी जी की अपनी पहचान थी। तब वे पूरे हिन्दी विभाग मे अलग रूप मे जाने जाते थे। वे नये साहित्य के पक्षधर थे। वे छायावाद के श्रेष्ठ समीक्षको मे से तो थे ही, वे प्रगतिशील साहित्य के भी पक्षधर थे। उन्होने एक गोष्ठी स्थापित की थी जिसमें नये कवि कविताए पढते थे। उस गोष्ठी का स्वर नव-चेतनावादी था। मै नया था और वाजपेयी जी से मेरी व्यक्तिगत जान-पहचान नही बन पायी थी, अत. उनकी गोष्ठियों में मै लगातार जाने का सौभाग्य तो नहीं मिला किन्तु नया कवि होने के नाते अपरिचय के बावजूद उनसे जुड़ा अनुभव करता था। वाजपेयी जी का व्यक्तित्व दिव्य था—गोरा रंग, मझोला कद और धोती तथा रेशमी कुरता। उनके अरुणाभ मुखमंडल पर प्रतिभा के ओज के साथ-साथ सौम्यता की तरलता तैरती रहती थी। वे पढाते या बोलते समय बार-बार अपने ओठों पर अगुली फेरते थे और चेहरे पर शरम की सी एक लाली आती-जाती रहती थी। निबंध की पुस्तक मे उनका अपना भी एक निबध था। उसे उन्होने नही पढाया। पढाने का आग्रह करने पर यही कहते थे कि आप लोग खुद पढ लीजिएगा, मैं अपना ही निबंध कैसे पढाऊ?

अध्यक्ष थे केशवप्रसाद मिश्र, जिनसे बाद मे पढने का अवसर मिला। उनके पाण्डित्य और साहित्य-रसिकता की बडी धाक थी। बाबू श्यामसुदर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल को तो मैं नही देख पाया था किन्तु लगता था कि हिन्दी विभाग मे उनकी महक फैली हुई थी जिसे हम महसूस करते थे और हिन्दी विभाग अपने वर्तमान रूप मे इन विद्वानों की गरिमा वहन कर रहा था। हम अपने हिन्दी विभाग के यश मे बहुत भरा-पूरा अनुभव करते थे।

बहुत सुदर थी यह दुनिया। सात मील के घेरे मे फैला हुआ हिन्दू विश्वविद्यालय अपने-आप मे एक अलग संसार था—कॉलेजो, छात्रावासो, ऑफिस, आवासीय मकानों, बैंक, डाकखाने, अस्पताल से बना हुआ संसार। इस संसार मे कितनी ही चिकनी-चिकनी सडकें, सड़कों के किनारे सघन वृक्ष, घास से शोभित खेल के मैदान, पार्क और बोटानिकल गार्डन। हम सुबह-सुबह घूमने निकलते थे और बोटानिकल गार्डन के प्राकृतिक से लगने वाले परिवेश में खो जाते थे—तालतलैया, बासो के झुरमुट, जंगली घासों, उनके बीच से गुजरती पगडंडियो के साथ-साथ आधुनिक उद्यानो की छवि भी उसमें वर्तमान थी—वह जैसे जीवन की सहजता और आधुनिकता के सगम वाले हिन्दू विश्वविद्यालय का

प्रतीक था। हिन्दू विश्वविद्यालय के महाद्वार से जो सड़क अंदर आती थी वह महिला कॉलेज और छात्रावास से सटी हुई सीधे गांव की ओर चली जाती थी। हम कभी उस सड़क पर टहलते होते तो गांव से आने वाले विविध कर्मियों से भेंट होती थी। लगता था कि हिन्दू विश्वविद्यालय में अंतरंग और बहिरंग दोनों ही रूपों मे एक गांव धंसा हुआ है। सुनते हैं कि विश्वविद्यालय गांव की जमीन पर ही बना हुआ है। कितने गावों को उजाड़कर यह बनाया गया है। यह क्रिया स्थूल रूप में बहुत ही अमानवीय लगती है और वह तमाम उजडते घरों की यातना के चित्र आंखों मे उतार देती है, इसलिए इस पर हम सोचना नही चाहते थे और उस उजाड़ के बाद जो निर्माण हुआ है वह इतना महान् है, इतना लोक-कल्याणकारी है कि उजड़ने की यातना इसके सर्जना-सुख में विलीन हो जाती है। हर निर्माण के पीछे एक उजाड़ तो होता ही है, किन्तु ऐसे भी तो उजाड़ होते हैं जो बस उजाड़ होते हैं, उन पर कोई रचना नहीं बनती या बनायी जाती। देश, धर्म, जाति, संप्रदाय के नाम पर छोटे-बड़े तानाशाह आखिर उजाड़ने के सिवा करते क्या हैं, किन्तु इस उजाड़ के पीछे तो मालवीय जी का एक सपना था। उस सपने को रचने के लिए मालवीय जी को थोड़ी जमीन चाहिए थी, थोड़ा फलक चाहिए था, वह फलक उन्होंने प्राप्त किया और उस पर अपने बड़े स्वप्न का यह चित्र प्रस्तुत किया। इस चित्र का फलक गांव की जमीन है इसलिए लगता है उस फलक के भीतर का रूप, रस, गध, स्पर्श इस चित्र में रसा-बसा हुआ है। सही अर्थों में यह गाव का विश्वविद्यालय है।

शाम को विश्वविद्यालय की सड़कें गहमा-गहमी से भर जाती थी। सारी सड़कें लंका, अस्सी, गोदौलिया की ओर भागने लगती थीं। कुछ लोग शहर में मटरगश्ती करने जा रहे है या सिनेमा देखने जा रहे हैं, बाकी बस लंका या अस्सी तक मनबहलाव करने जा रहे है। शाम को घूमने के पीछे एक खास आकर्षण होता था महिला कॉलेज। जेल की दीवारों की तरह ऊंचे प्राचीरों मे घिरा महिला कॉलेज और छात्रावास जैसे दिन-भर की घुटन के बाद शाम को खुलता था और लड़कियां भी थोड़ी राहत की सांस लेने के लिए या बड़ी दुनिया से जुड़ने के लिए चहारदीवारी से बाहर निकलती थी। कुछ चहारदीवारी के महाद्वार पर अपने से मिलने आये हुए लोगों से मिलती थी। छात्र इन मिलने वालों को ईर्ष्याभरी नजरों से देखते थे और सोचते थे, काश, वे भी किसी से मिल पाते। लड़के-लड़कियों में एक खास दूरी थी इसलिए लड़कियां लड़कों के लिए एक नायाब चीज मालूम होती थीं। इस दूरी के तहत ही उनमें सहजता नही आ पाती थी और लड़के अपनी अतृप्त प्यास की अभिव्यक्ति के लिए बोली-ठोली कसते थे, लड़कियों के रिक्शों का दूर तक पीछा करते हुए रिमार्क कसते रहते थे। कुछ लड़किया शायद इसे मन-ही-मन पसंद करती रही हों अन्यथा लड़कों की यह हरकत उन्हें अच्छी-खासी परेशानी में डाल देती थी। कभी-कभी वे पलटकर धमकाती भी थीं और चप्पल-वोप्पल निकाल लेती थी।

जो भी हो लड़कियां जिस किसी उत्सव में पहुंचती थी, उत्सव जगमगा उठता था। इस जगमगाहट के उत्कर्ष का अनुभव मैंने वसंत पंचमी को किया। बसंत पंचमी के दिन हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ था। मालवीय जी ने क्या सुन्दर दिन

चुना था। वसंत पंचमी सरस्वती का भी दिन है और वसंतागमन का भी दिन—यानी विद्या और सौन्दर्य दोनों के संगम का दिन। एक स्थान पर लड़कियां और लड़के एकत्र हुए। लगा जैसे वसंत मूर्तिमान हो उठा हो। सारी लड़कियां पीली साड़ी में थीं और लड़कों ने भी या तो पीली टोपी लगा रखी थी या पीला रूमाल ले रखा था। प्रकृति के पीताभ वातावरण में मानव-सौन्दर्य और परिधान की पीताभा लहरों की तरह लहरा रही थी। चारों ओर खिले हुए फूलों के बीच उत्साह से खिले हुए नेत्र वातावरण को एक अलग ही रस और गंध से उष्मित कर रहे थे। लगता था जैसे शून्य में हजारों कमल खिल गये हों और चल रहे हों। वसंत की शरारती हवा वस्त्रों से छेड़-छाड़ करती हुई बह रही थी। जुलूस शिलान्यास स्थान (जो महिला कॉलेज के प्राचीर के पीछे गगा की ओर है) की ओर चल रहा था और 'परम मनोहर, अतीव सुन्दर ये सर्व विद्या की राजधानी', कुलगीत सामूहिक स्वर में गूंज रहा था। जुलूस के आगे-आगे कुलपति, उपकुलपति, अन्य अधिकारी तथा प्रोफेमरगण चल रहे थे। रूप, रंग, गंध, स्वर का जैसे एक पवित्र संगम धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। सामूहिक सौन्दर्य का रूप अद्भुत होता है, उममें जो बाहरी और भीतरी लय होती है वह व्यक्तिगत सौन्दर्य में कहां? और सामूहिक मानवीय सौन्दर्य को यदि प्राकृतिक वातावरण के सौन्दर्य का साथ मिल जाय तो फिर सौन्दर्य की लय का क्या कहना? यही उत्सव यदि वसंत पंचमी को न होकर ज्येष्ठ-पंचमी को होता या भादों की किसी तिथि को होता जब प्रकृति या तो तपती हुई धू-धू धूल उड़ाती रहती या कीचड़ उछालती रहती तो इस उत्मव का सौन्दर्य क्या उतना ही होता जितना अब है? तब तो शायद लोगों को अपने को समूह की लय को समर्पित कर देने के स्थान पर अपने-अपने बचाव की चिंता ज्यादा होती। उत्सव से लौटे तो कोई थकान नहीं थी बल्कि लगता था कि नहाकर लौटे हों। तन-मन एक अद्भुत उल्लास की अनुभूति से स्फूर्त था। लगता था कि सचमुच मैंने दो-तीन घंटे मे वसंत को पूरा जी लिया है।

23

हिन्दू विश्वविद्यालय कुछ ही दिनों में घर-सा लगने लगा था। प्राकृतिक और गंवई परिवेश से मंडित इस विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों में प्रायः गांव-सुलभ एक सादगी थी—वेशभूषा में भी और व्यवहार में भी। धीरे-धीरे मेरे साहित्यिक और असाहित्यिक मित्र बन गये थे। हॉस्टल में और कक्षा में मैं जाना जाने लगा था। बिड़ला हॉस्टल में कवि-कहानीकार छात्र रहते थे। मेरे कमरे के पास के कमरे में शिवसागर मिश्र रहते थे। कुछ दूर पर उमाकान्त वर्मा थे, दूसरे विंग में शंकरलाल मस्करा थे और कई साहित्यिक मित्र थे जिनके चेहरे तो याद आ रहे हैं, नाम नहीं। प्रायः गोष्ठियां होती

थीं, छात्रावास के छात्र-संघ की ओर से कवि-सम्मेलन होते थे, हम सभी कविताएं पढते थे। बाहर के भी मित्र आते थे, भाग लेते थे और हमारी दुनिया सघन और बड़ी होती जा रही थी।

साहित्य-सर्जक मित्रों के अतिरिक्त उन मित्रों की संख्या अधिक थी जो साहित्य-प्रेमी थे या केवल छात्र थे। भगतसिंह, मधुवन, उदयनारायण शुक्ल, विपिन दीक्षित, रामायण राय, शशी और बहुत-से लोग (जिनके नाम अब भूल गया हूं) मेरे साथी थे। भगत तो मेरे रूममेट ही थे। व कैम्ब्रिज एकेडेमी (जहां से मैंने एडमिशन की परीक्षा पास की थी) मे भी पढ़ चुके थे और मुझसे पहले वे उस हॉस्टल मे रह चुके थे जिसमें मैं रहा। वे फेल हो गये थे और जब फिर एडमिशन की परीक्षा देन आये थे तो हॉस्टल मे आये थे। तभी मेरी-उनकी भेंट हुई थी। भगतसिंह आपकी इच्छा-अनिच्छा के मोहताज नही थे। वे दोस्ती के लिए स्वयं हाथ बढ़ाते थे और आपको दोस्ती मे न सही परिचय में लपेट ही लेते थे। उन्होने मुझे हॉस्टल मे ही अपने परिचय मे लपेट लिया था। वे मेरे अनचाहे ही मुझसे परीक्षा की तैयारी, प्रश्नो आदि के बारे म पूछने लगे और अनिच्छा होने पर भी मैं उनसे जुडता गया था। खद्दर का लम्बा कुरता, पायजामा पहने सख्त, प्रौढ़, चौड़े चेहरे वाला यह व्यक्ति मुझे पसंद नही आया था। किन्तु इस व्यक्ति ने धीरे-धीरे अपनी पसंदगी मुझ पर लाद दी और कुछ समय बाद (हिन्दू विश्वविद्यालय मे आने पर) मेरा गहरा दोस्त बन गया।

भगतसिंह ने मुझमें न जाने क्या देखा कि मेरा साथ पाने के लिए मेरी ओर बढता गया। पहली नजर में प्रिय न लगने वाला यह व्यक्ति धीरे-धीरे अपने भीतर की सुंदरता खोलता गया। वह सुदरता थी दर्दभरी मानवीय चिता की। एडमिशन परीक्षा की हल्की-सी जान-पहचान के बाद ही यह व्यक्ति मुझे बहुत निकट मान बैठा था। जब मैं आई० ए० में एडमिशन के लिए आया तो वहा भगतसिह भी टकरा गये। जब उन्हें मालूम हुआ कि मै बिडला हॉस्टल में रहना चाहता हूं तो उन्होने बताया कि वे भी हॉस्टल मे रहेंगे और प्रस्ताव किया कि हम दोनो एक कमरे म रूममेट के तौर पर रहें। मैंने कहा, ठीक है, किसी-न-किसी को तो रूममेट रहना ही है, आप ही सही।

हमें पीछे की कतार मे कमरा मिला। आगे के कमरे मे बी० ए० मे पढने वाले यादव जी थे। आगे के कमरों और पीछे के कमरों के बीच एक जंगला होता था। कई लडके जंगले को तोडकर आने-जाने का रास्ता बना लेते थे। जो भी हो, दोनों कमरे लगभग एक-दूसरे से जुडे होते थे। प्रीवियस इयर के दो छात्र एक कमरे मे रहते थे और फाइनल इयर के छात्रो को एक कमरे मे अकेले रहने की इजाजत थी। भगत-सिंह अपने साथ एक नौकर भी लाये थे। कमरे मे हीटर पर वही नौकर खाना बनाता था। मैं तो मेस मे खाता था किन्तु कभी-कभी भगतसिंह के हाथ का प्रसाद मिल जाता था। एक कमरे मे दो आदमियों का होना, फिर एक नौकर का दखल, फिर उसी में खाना बनना बहुत असुविधाकारी था और बीच-बीच में भगतसिंह का नौकर तथा मित्रों पर गुस्सा वातावरण को और भी क्षुब्ध बना देता था। मैं कभी-कभी प्रतिरोध

करता तो भगतसिह और भी चिढ़ जाते । हां, भगतसिह ने अपने रहने-सहने के ढंग से अपने आर्थिक वैशिष्ट्य का बोध हमारे भीतर भर दिया था । मुझे लगता था कि उन्हें झेलने के सिवा मेरे पास कोई चारा नही है । मधुवन हमारे गाव के पास के कनइल गाव के थे । भगत से उनकी खूब पटती थी । व दुर्गा कुड मे कुछ छात्रो के साथ एक कमरा लेकर रहते थे । वे प्रायः भगतसिह के यहा खाना खाते थे और भगतसिह के साथ घूमने और सिनेमा देखने जाया करते थे । मै भी प्रायः साथ होता था । भगतसिह को झेलना आसान नही था । वे कब किस बात पर झल्ला पड़ेंगे, कहना कठिन था और इस झल्लाते हुए भगतसिह को झेलना मेरे लिए जरूरी तो नही था—आखिर वह मेरा क्या लगता था कि उसके पागलपन को झेलू । लेकिन यह सब होते हुए भी उसे झेलने को अभिशप्त था बल्कि यह कहिए कि उस झेलने के बावजूद उसके साथ हो लेने की मजबूरी बढती जा रही थी । क्षणिक उत्तेजना के बावजूद वह बहुत प्यारा इसान था (अभी भी है), मित्रो के सुख-दुःख मे मर मिटने वाला दोस्त था, आदमी का दर्द उसे भीतर तक बेचैन कर देता था । वह गलत बात क खिलाफ आखिर तक लड़ सकता था । उसकी इन विशेषताओ के स्तर ज्यो-ज्यो खुलते गये, उसके प्रति मेरा लगाव बढता गया । वह साल बीतते-बीतते मेरा बहुत अच्छा दोस्त बन गया ।

भगतसिह अपनी चिडचिडी प्रकृति के बावजूद बहुत हसोड और मजाकिया थे । उनमे चिडचिडे स्वभाव के पीछे कुछ था जो लगातार मेरी समझ मे आ रहा था । भगतसिह तीस साल के रहे होगे और फर्स्ट इयर मे पढ रहे थे । बदमाश लौडो के विनोद के लिए यह एक अच्छा-खासा मसाला था । कोई उन्हे चाचा कहता, कोई मामा कहता, कोई ताऊ जी कहता । भगतसिह यदि गुमुन्न स्वभाव के होते तो इन टिप्पणियो को अनसुनी कर देते और उनका गभीर चुप्पा स्वभाव देखकर शायद लौंडे बोलते भी नही, किन्तु भगतसिह तो नहले पर दहला मारते थे । हर आदमी के मजाक का उत्तर मजाक म देते और मुझे भी शामिल कर लेते । इसलिए लौडो से नोक-झोक चलती रहती थी । दूसरी बात यह थी कि ज्यादा समय बीत जाने के कारण भगतसिह का दिमाग बहुत तेजी मे विषयो को नही पकडता था, इसलिए क्लास मे टीचर भी उनका मजाक उडाते थे और वे टीचरो से भिड जाते थे और फिर हम लोगो स हस-हसकर नोक-झोक की बातें बताते थे । मेरी तरह उनकी भी अगरेजी कमजोर थी, लेकिन वे बोलते थे अंगरेजी म ही और बहुत दबंग ढग से । दबना तो भगतसिह ने सीखा ही नही था । वे अपने को कही भी दयनीय नही बनाते थे । अपने प्रति किसी के मन मे करुणा नही उपजाते थे । वे जीवन-क्षेत्र के योद्धा थे—अपार जिजीविषा से भरे हुए ।

हा, अपार जिजीविषा से भरे हुए । भगतसिह ने कभी अपने को खोला नही । हम कई साल साथ रहे अतः क्रमशः उनके जीवन के दर्द के स्तर खुलते गये । धीरे-धीरे उनके भीतर की वेदना खुलती गयी । धीरे-धीरे दो-तीन वर्षों मे उनके रहने-सहने का ढग गिरता गया और उनसे बहुत सटे हुए साथी उनसे दूर हटते गये । वे मुझसे पैसे उधार मांगने लगे, तब मुझे आश्चर्य हुआ, कौतूहल भी कि आखिर भगतसिह को क्या

हो गया ? फिर भगतसिंह धीरे-धीरे खुले कि इस दुनिया में उनका कोई नहीं है। बचपन में ही मां-बाप मर गये। भाई ने सारी जायदाद हड़प ली। उसने भगतसिंह की काफी दुर्दशा की। भगतसिंह घर-द्वार छोड़कर बाहर-बाहर भागते फिरे। भूखे-प्यासे कहां-कहां भटके ? कितने धन्धे किए ? सभी जगह दुत्कार मिली। अंत में संन्यासी होना चाहा, लेकिन उस दुनिया की गलाजत ने उनका भयानक मोह-भग किया। अंत में जिजीविषा ने जोर मारा। घर लौटे, भाई से लड़े-झगड़े, पिटे, लेकिन अपने हक की लड़ाई लड़ते रहे। जान को खतरा था लेकिन भगतसिंह अपने हक की प्राप्ति से विचलित नहीं हुए क्योंकि उन्हें पढने की धुन सवार थी। अंत में कचहरी से उन्हें अपना हक प्राप्त हुआ और सारी जायदाद बेचकर पैसे बैंक में डाल दिये और पढ़ाई शुरू की। जीवन के संघर्ष, अकेलेपन की वेदना और उम्र के बढाव ने उनकी अध्ययन-शक्ति या प्रतिभा की धार कुंद कर दी थी इसलिए वे पाठ्य-पुस्तकीय ज्ञान को बहुत तेजी से ग्रहण नहीं कर पाते थे और लोग उनकी बड़ी उम्र तथा उनके जुझारू स्वभाव के कारण उनका मजाक उड़ाते थे। यह नहीं सोचते थे कि यह व्यक्ति विद्या के प्रति कितना लगाव रखता है कि किसी कारण इतनी अवस्था हो जाने पर भी पढ़ने आया है। उनके सामने केवल इतना ही था कि देखो-देखो, तीस साल का आदमी फर्स्ट इयर में पढ़ने आया है। उनका भी दोष नहीं, आखिर लोग सामान्यतः बाहरी परिदृश्य ही तो देखते हैं, इतमीनान से किसी क भीतर गहराई तक झांकने की किसे फुरसत है ? और भगतसिंह जैसे लोग किसी को अपनी अतरंग दुनिया में, अपनी बेबमी और यानना में झांकने कहां देते है ? वे अपना निजी दर्द अकेले, झेलते हैं, उसका प्रदर्शन कर लोगों की दया और सहानुभूति नहीं बटोरते। छात्र तो छात्र, कुछ शिक्षक भी भगनसिंह का मजाक उड़ाने से बाज नही आते थे। उनके सेक्शन को अंगरेजी पढ़ाते थे मिस्टर मेढ़। अंगरेजी तो वैसे ही सामान्य छात्रों के लिए आतंक बनी रहती है, दूसरे, अंगरेजी के शिक्षकों को आतंक पैदा करने में मजा आता है। मेढ़ साहब प्रायः भगतमिह से ठीक उत्तर न पाकर कहते थे कि एक भगतसिंह तो फांसी पर चढ़ गये, दूसरे तुम हो, तुम्हें इस पंखे पर टांग देंगे, चक्कर काटते रहोगे। लड़के हंसते थे और बाद में मजाक उड़ाते थे किंतु भगतसिंह मेढ़ से भी कई बार भिड़ गये, हर छेड़ने वाले से जूझते थे।

जाके पांव न फटे बेवाई
सो क्या जाने पीर पराई

यह चौपाई कितने बड़े सत्य का उद्घाटन करती है। भगतसिंह के पांव में बेवाई फटी थी इसलिए वे पीर पराई समझते थे। इस चिड़चिड़े, आशु क्रोधी व्यक्ति के भीतर पर-दुःख-कातर और अति संवेदनशील मनुष्य छिपा था जो उसके बाह्य आवरण को फाड़कर बार-बार बाहर आ जाता था। भगतसिंह जा रहे हैं, कोई भिखारी या इसी प्रकार का व्यक्ति आ गया। उनके पास पैसा नहीं है। "अरे यार देना एक रुपया।" भगतसिंह अपने मित्र से कहते थे। मित्र झल्लाते थे, चिढ़ते थे, लेकिन तब भगतसिंह नहीं झल्लाते थे बल्कि मित्र का सारा गुस्सा झेलते हुए उससे रुपया लेकर

भिखारी को दे देते थे और बहुत धैर्य के साथ मित्र को समझाते थे—"अरे भाई, पता नही इस आदमी को कौन-सी जरूरत हो ? भूख-प्यास का दर्द बडा भयानक होता है मित्र ।" भगतसिंह नाई से बाल कटवा रहे थे । नाई ने उनके मन मुताबिक बाल नहीं काटे। जब नाई ने उन्हें शीशा दिखाया तो भगतसिंह झल्ला उठे। क्रोध से पागल होकर उसका शीशा फेंक दिया जो झन्न से फर्श पर गिरकर चूर-चूर हो गया। नाई स्तब्ध था । दो मिनट बाद भगतसिंह ने बाल कटाई के पैसे के अलावा उसे दो रुपया देते हुए कहा—"ये दो रुपये शीशे के है । बाल जरा ढंग मे काटा करो। जाओ, कोई बात नही ।"

एक दिन दोपहर को जब लोग सो रहे थे तो भगतसिंह और मैं बरामदे मे निकले। बरामदे मे तार पर कुछ लडको के कपडे सूख रहे थ । एक 17-18 साल का लगडा लडका लाठी के बल चलता हुआ आया था और तार को झकझोरकर कपड़े नीचे गिरा रहा था ताकि गिरे हुए कपडों को आसानी से उठाकर चपत हो जाय । हम निकले तो वह हमे देखकर ठिठक गया। भगतसिह ने कहा—"अच्छा, जब तक कोई निकले, तुम भाग जाओ, नही तो तुम्हारी हड्डी-पसली एक हो जायेगी ।" उसने हाथ जोडकर सलाम किया और लाठी पर टेक देता हुआ तेजी से भाग चला। तब तक कुछ लोग निकल आये और जब उन्हें वास्तविकता का पता चला तो वे लोग भगतसिंह को और मुझे भला-बुरा कहने लगे । लेकिन एक अच्छा काम करने के बदले मिलने वाली गाली और धिक्कार भी कितनी अच्छी लगती है । भगतसिंह ने मुझसे कहा - "यार, वह न जाने किस मजबूरी मे यह चोरी करने आया होगा । पकड़ा गया होता तो इस छोटी-सी चोरी मे उसकी इतनी दुर्गति हुई होती कि उसे देखकर रोयां थर्रा जाता ।" मैंने सहज मन मे भगतसिंह का समर्थन किया था और शायद यह मेरे मन की ही बात थी जिसे भगतसिंह रूपायित कर रहे थे। शायद यही वह बिन्दु था जो मुझे भगतसिंह से या उन्हें मुझसे जोडता था ।

धीरे-धीरे भगतसिंह मेरे परिवार के व्यक्ति बन गये । पी-एच० डी० करते समय यानी सन् 1946 से '56 तक भगतसिंह कई तरह से मुझसे और मेरे परिवार से सम्बद्ध हो गये थे । वे हमारे सुख-दुःख, हसी-खुशी के साथी बन गये थे। भगतसिंह की एकत्र राशि समाप्त होती गयी और वे लगातार अभाव की अवस्था में गिरते गये और बी० ए० मे एक बार फेल हुए तो फेल ही होते गये। मैं पी-एच० डी० करने लगा था तो वे हर साल बी० ए० की परीक्षा देने आया करते थे। भगतसिंह ने हार नही मानी। इस जीवट के व्यक्ति ने आखिर बी० ए० को परास्त कर ही दिया। सन् '56 मैं मैंने बनारस छोडा। तब से आज तक उनसे फिर भेंट नही हुई। सुना कि वे बेतिया में होम्योपैथी की डाक्टरी कर रहे है ।

रामविनायक सिंह भी बिडला छात्रावास में रहते थे। वे बी० काम० के प्रथम वर्ष में थे। वे भी कविताएं लिखते थे। वे अच्छे दोस्त बन गये । उनकी साइकिल पर हम दोनों घूमते थे। गोष्ठियों में साथ जाते थे। रामविनायक के माध्यम से ठाकुर प्रसाद सिंह से परिचय बढ़ा। ठाकुर प्रसाद सिंह तब शायद बी० ए० फाइनल मे थे।

ठाकुर प्रसाद सिंह ईश्वरगंगी मे थे और साइकिल से पढ़ने के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय आया करते थे। उनसे आर्ट्स फैकल्टी मे और विशेषतया रामविनायक के यहा भेंट हो जाती थी और गोष्ठियो मे तो हो ही जाती थी। ठाकुर प्रसाद मुझे अच्छ लगे थे—दोस्त रूप मे भी और कवि रूप मे भी। वे बहुत मजाकिया भी थे, अच्छे वक्ता भी थे। ईश्वरगगी के साहित्यकारो का एक मडल था, ठाकुर जिसके सरगना थे। इसमे शिवमूर्ति मिश्र शिव, नर्मदेश्वर उपाध्याय, रामविनायक सिह, मगलनाथ सिह, कमलाप्रसाद सिह, भइयालाल, हीरालाल चौबे आदि शामिल थे। त्रिलोचन जी भी काफी दूर तक इमसे जुडे थे। ठाकुर प्रसाद सिह की प्रतिभा ईश्वरगगी यानी ठेठ पुरानी काशी के बीच बनी और विकसित हुई थी। इसलिए उनमे काशी की सास्कृतिक परम्परा का गहरा रग भी था, आम आदमी की जिन्दगी के दुःख-दर्द, अभाव और सघर्ष का अनुभव भी था, पितृहीन बालक का दायित्वबोध और पारिवारिक चिता भी थी। इन गम्भीर दायित्वो और अभावो स लदे-फदे ठाकुर प्रसाद सिह को कभी गमगीन या थका हुआ नही दखा। दरअगल बहुत दिन तक तो उनके पारिवारिक अभाव और सघर्ष के बारे मे कुछ जाना ही नही। ठाकुर प्रसाद सिह जैसे लोग अपने अभावो और पारिवारिक सघर्षो की प्रदर्शनी नही करते, उसे निजी वस्तु मानते है। हा, इन अभावो और सघर्षो का जो स्वस्थ प्रतिफल उनके व्यक्तित्व मे होता है उसका लाभ समाज को अवश्य मिलता है। ठाकुर वास्तव मे बहुत हसोड और शरारती प्रकृति के व्यक्ति थे और है। अभाव और सघर्ष से व्यक्तित्व मे या तो दयनीयता पैदा हो जाती है या एक मौन जुझारू गभीरता, किन्तु ठाकुर की शरारती प्रकृति ने उन्हे न दयनीय होन दिया न गभीर। वे अपने दायित्व को समझते हुए भी हमेशा विनोदी मूड मे रहते थे। छेड-छाड, चुटकुलबाजी, मनगढत या लोक-प्रचलित लतीफे आदि अनेक माध्यमो से वे मित्रो को हसाते थे और परिवेश को जीवत रखते थे। वे अच्छे वक्ता भी थे, अच्छे कवि थे। अपने गीत अच्छे ढग मे गाते थे, अच्छे पाठक थे। इस छोटी-सी अवस्था मे ही उन्होने बहुत कुछ पढ रखा था। वे अपने अध्ययन का रोब गालिब किये बगैर उसका असर अपने मित्रो और श्रोताओ पर छोडते थे। ठाकुर मे एक प्रभावशाली सर्जनात्मकता थी। वे परिस्थिति, दृश्य और पढी हुई चीज का ज्यो का त्यो नही स्वीकारते थे, उनमे एक नया अर्थ भर देते थे। धीरे-धीरे ठाकुर के साथ मेरा सपर्क गहराता गया और वे मुझे सहज मित्र के रूप मे प्रभावित करते गये।

ठाकुर के लेखन मे लोक का स्पर्श था और मेरे लेखन मे लोक तो था किन्तु छायावादी रग मे रगा हुआ। ठाकुर के गीतो मे भी रूमानी स्वर था, किन्तु वह छायावादी रग से बोझिल नही था, सहज था। ठाकुर और त्रिलोचन के संपर्क से मेरा छायावादी सस्कार आहत हो रहा था, तिलमिला रहा था। धीरे-धीरे मेरे भीतर एक नये स्वर का अनुभव होने लगा। लोक-सपृक्ति पर जो रूमानियत का अतिरजित रग चढ़ा हुआ था वह धीरे-धीरे साफ होने लगा था। मेरा स्वभाव है कि मैं किसी के कहने या किसी वाद या नारे के दबाव से अपने को एकाएक नही बदलता। मै धीरे-धीरे प्रभावित होता हू। पहले मेरे संस्कार बदलते है, तब उसके अनुसार मेरी कविता या साहित्य का

स्वर बदलता है । इसलिए हिन्दू विश्वविद्यालय के इस नये परिदृश्य में अपने को धीरे-धीरे बदलता गया और एम० ए० पास होने के समय मुझे ऐसा लगा कि मेरी कविता का स्वर काफी बदल गया है । इसलिए एम० ए० के बाद जो कविताएं मैंने लिखीं (जिनका संग्रह 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' नाम से 1962 में आया) वे कविताएं 'पथ के गीत' (1951) की कविताओं से बहुत अलग हैं । अनुभव अधिक सहज रूप में आये हैं, अभिव्यक्ति में भी सादगी और बिंबात्मकता है। एम० ए० के दिनों में ही मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ । यह झुकाव भी धीरे-धीरे हुआ, भीतर से हुआ, मार्क्सवाद की चेतना अन्दर उतरी तब हुआ—मार्क्सवादियों के कहने से या समझाने-बुझाने से नहीं हुआ ।

तो बात मैं ठाकुर की कर रहा था। ठाकुर की प्रतिभा बहुमुखी थी । वे साहित्यकार तो थे ही (और साहित्यकार के रूप में गीत लिखते थे, निबंध लिखते थे और 'महामानव' नाम का महाकाव्य भी लिखा) पत्रकार भी थे । छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े लोगों से संपर्क साध लेते थे । उस छोटी-सी अवस्था में ही काफी बड़े-बड़े नेताओं, साहित्य-साधकों और समाज-सेवियों से उनका परिचय था । वक्ता तो थे ही और उनके वक्तव्य के भी अनेक रंग थे—कभी अत्यन्त भावुक हो उठते थे, कभी व्यंग्य-विनोद पर आ जाते थे, कभी लतीफे सुनाते थे, कभी चिंतक हो उठते थे । जिस किसी गोष्ठी या सभा का वे संचालन करते थे उसमें जान डाल देते थे । दूसरों की महफिलों को उखाड़ने मे भी माहिर थे । अपनी मंडली को लेकर चलते थे और दूसरों की जमी-जमाथी साहित्यिक महफिल उखाड़ आते थे ।

ठाकुर के साथ मेरा संपर्क बढ़ता गया। मैं उनके घर भी आने-जाने लगा । इसका एक कारण साहित्यिक संघ की गोष्ठियां थीं । हां, ठाकुर प्रसाद ने ईश्वरगंगी में साहित्यिक संघ नाम की एक साहित्यिक संस्था की स्थापना कर रखी थी । उसे वे बहुत कुशलता से चला रहे थे । बाद में चलकर मैं भी इस संस्था का मंत्री बना और कई बड़े साहित्यिक आयोजन हुए जिनकी चर्चा बाद मे करूंगा । ठाकुर के साथ मेरे संपर्क बढ़े और कह सकता हूं कि ठाकुर मेरे अच्छे मित्र बने या मैं उनका मित्र बन गया। लेकिन मेरा अपना स्वभाव तो साथ नहीं छोड़ता । मैं बहुत दूर तक जाकर एक जगह ठिठक जाता हूं, उससे आगे नहीं बढ़ पाता । इसलिए किसी व्यक्ति से और विशेषतया एक संस्था से मेरी एक दूरी बनी रहती है । यह मेरे स्वभाव की मजबूरी हो सकती है या मित्रों और संस्थाओं को सर्वस्व भाव से समर्पण कर देने में कृपणता । कई बार दो मित्रों के स्वभावों का अंतर दोनों को एक दूरी पर खड़ा कर देता है । कई बार ऐसा भी होता है कि मैं दूसरे पक्ष से अपने प्रति जितना तवज्जुह चाहता हूं, नहीं मिलता है या मेरी अपेक्षा दूसरों को मिलता है, तब उस मित्र से कोई शिकायत न कर स्वयं अपने को थोड़ी दूरी पर खड़ा कर लेता हूं । यह मेरा स्वभाव है कि मैं मित्रों के लिए बहुत सक्रिय नही हो पाता, इसलिए दूसरे लोग मेरे लिए सक्रिय रहें, यह भी नहीं चाहता और अपने लिए किसी के सक्रिय न रहने पर मुझे कोई शिकायत नहीं होती । ठाकुर प्रसाद और मैं मित्र तो हुए किन्तु मैं नहीं कह सकता कि हमारी मैत्री अभिन्न मैत्री थी या बाद में

बनी। ठाकुर के बहुत-से मित्र थे, कुछ तो ईश्वरगंगी वाले थे, जो उनकी अपनी रुचि के थे, जो मिलकर ऐसी-ऐसी बाते करते थे जिनके साथ मेरा साहचर्य स्थापित नहीं हो पाता था और मै उस परिदृश्य मे अजनबी लगता था, उनके कुछ मित्र शुद्ध साहित्यिक थे। बल्कि यो कहें कि वे मित्र उसी रूप मे थे जिस रूप मे मैं था, लेकिन मुझे लगता था कि ठाकुर की दृष्टि मे कुछ लोग मेरी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण लगते थे और तब मुझे लगता था कि साहित्य भी हमारी अभिन्न दोस्ती का आधार नही बन पा रहा है। फिर भी हम मित्र बनते गए और है।

हिन्दू विश्वविद्यालय की साहित्यिक चहल-पहल का एक विशेष सगीत अटा है मन मे। यह चहल-पहल मेरे प्रवेश के दिनो से शुरू होकर वहा से विदा के दिन तक गहराती गयी थी कविता-गोष्ठिया छात्रावास मे तो होती ही थी, प्रोफेसरो के यहा भी होती थी। प्राय डा० रामअवध द्विवेदी के यहा गोष्ठी होती थी जिसमे डा० राजबली पांडेय, श्री बी० एस० साहनी श्री नददुलारे वाजपेयी, श्री टी० एन० सिंह, सुमन जी, डा० श्रीकृष्ण लाल और बहुत-से प्रोफेसर एकत्र होते थे। उनके साथ कविता लिखने वाले हमारे जैसे कई छात्र भी होते थे। वाजपेयी जी भी एक गोष्ठी चलाते थे जिसका स्वर प्रगतिशील था, जिसमे नगर के अनेक प्रतिष्ठित और नये साहित्यकार भाग लेते थे। मै भी कभी-कभी जाता था किन्तु नया होने के कारण वाजपेयी जी की दृष्टि म नही आ सका था। प्रारंभिक दिनो की सभवतः पहले ही वर्ष की साहित्यिक चहल-पहल का चरम उत्कर्ष दिखाई दिया निराला की स्वर्णजयती मे।

निराला की स्वर्णजयती के आयोजक थे नंददुलारे वाजपेयी। सभवतः नागरी प्रचारिणी सभा काशी के तत्त्वावधान मे वे यह आयोजन कर रहे थे। हम लोगो मे बहुत उत्साह था। रामविनायक सिंह के साथ मै माइक से प्रचार कर रहा था। हम दोनो एक दिन रिक्शे पर बैठकर प्रचार करते हुए शहर मे गुजरे। माइक पर घोषणा करते हुए मैं सुनने वालो की प्रतिक्रिया भी देख रहा था और प्रतिक्रिया देखकर मुझे अपने चिल्लाने पर शरम आ रही थी। लोग हमारी आवाज सुनकर थोडा चौकते थे और जैसे अवाक् भाव से पूछते थे, ये निराला कौन है? अरे गाधी जी, नेहरू जी, जयप्रकाश जी, शाहनवाज जी, करपात्री जी, शकराचार्य जी को तो हम जानते है, ये निराला जी कौन से जी आ रहे है? उनकी इस आवश्यकता के बावजूद हम चीखते चले गये। यह तो हमे पता था ही कि साहित्यकार को आम आदमी नही जानता और हमारे देश मे खास आदमी भी साहित्यकारों को कितना जानते है? यह साहित्यकारों का नही, देश का दुर्भाग्य है।

नियत दिन पर निराला जी आये। उनका जुलूस निकला। वे केसरिया साफा बाधे हुए थे। जुलूस के आगे-आगे विराट् व्यक्तित्व वाले निराला चल रहे थे, पीछे साहित्यकारों, पत्रकारो की भीड चल रही थी। लोग उन्हें देखते थे, व्यक्तित्व से प्रभावित भी होते थे, किन्तु आंखो-आंखो मे पूछते थे—ये है कौन? जुलूस नागरी प्रचारिणी सभा मे जाकर रुका। मगल गान, प्रास्ताविक भाषण आदि के बाद निराला जी बोलने खड़े हुए। पंडाल साहित्यकारों की भीड़ से अंटा पड़ा था और लोग निराला के मुख से

कुछ सुनने को उत्सुक थे। निराला जी बोलने लगे—"जब मैं इंगलैंड में था, महारानी विक्टोरिया मुझसे अंगरेजी पढ़ने आया करती थी और मेरे लिए सूर्यमुखी के फूल लाती थी···।" लोग समझ गये कि वे भटक गये हैं। विक्षिप्तता के दौर से तो वे गुजर ही रहे थे अतः लोगों को लग गया कि अपने भाषण में ये पटरी पर से उतर गये हैं और पता नहीं कब तक, कहां तक इस तरह चलेंगे। लेकिन निराला को रोके कौन ? किसकी हिम्मत थी कि उनसे कुछ कहे। सुभद्राकुमारी चौहान को निराला जी बहुत मानते थे—बहन जैसी। इसलिए वाजपेयी जी ने उन्हीं से कहा कि निराला जी से कहिए कि कुछ कविताएं सुनायें। सुभद्रा जी उठी और हाथ जोड़कर कहा—"निराला जी, लोग चाहते है कि आप कुछ कविताएं सुनायें।" निराला जी हंसे, बोले—"मूर्ख, जो बोल रहा हू वह भी कविता ही है। खैर, तू कह रही है तो कविताएं ही सुना रहा हूं।" फिर उन्होंने जमकर कविताएं सुनायी। निराला के मुख से कविता सुनने का अनुभव बहुतों के लिए नया था। मेरे लिए भी नया था। कितना मूल्यवान अनुभव था यह। एक और मूल्यवान अनुभव हमने प्राप्त किया—इस अवसर पर हिन्दी साहित्य के अनेक ऐसे महारथियो के दर्शन किये जिनकी चीजें पढते रहते थे, जिनके बारे में सुनते रहते थे। ठीक-ठीक मैं नही कह सकता कि उस समय किन-किन साहित्यकारों को देखा, किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूं कि बहुतों को देखा। सुभद्राकुमारी चौहान, लक्ष्मीनारायण मिश्र, दिनकर, शिवपूजन सहाय जैसे अनेक लोग आये थे। शिवपूजन सहाय की सरलता विख्यात थी, उनका साक्षात्कार भी किया। मुख्य द्वार पर उन्हें रोक लिया गया। मुख्य द्वार पर तैनात स्वयंसेवक उन्हें पहचानते नहीं थे, न उनका नाम सुना था। उन्होंने अपना नाम बताया तो भी स्वयंसेवकों ने उन्हें अन्दर नही जाने दिया। सहाय जी ने उनसे टिकट खरीदा और ज्यों ही द्वार के अन्दर प्रवेश किया, किसी साहित्यकार ने उन्हें देख लिया और लपककर आये। स्वयंसेवकों को डांटा तथा सहाय जी से क्षमा-याचना करते हुए टिकट वापस कराना चाहा। सहाय जी ने अपनी सहज विनम्रता से कहा—"इस यज्ञ में यदि मेरी भी लघु आहुति पहुंच गयी तो मै अपने को बड़भागी मानता हूं।" और वे बिना किसी गिला-शिकवे के हंसते-बतियाते पंडाल में चले गये थे। सोचता हूं कि यदि सहाय जी की जगह कोई ऐंठू साहित्यकार रहा होता तो इसे अपने मान-अपमान का विषय बना लेता और या तो बड़े रुआब से आयोजकों में से किसी को बुलवाता या लौट आया होता और लौटकर समाचार-पत्रों में टिप्पणी लिखी होती।

इस अवसर पर कई दिन तक गोष्ठियां होती रहीं—कुछ नागरी प्रचारिणी सभा में हुईं, कुछ हिन्दू विश्वविद्यालय मे और कुछ अन्य जगहों पर। कवि-सम्मेलन भी हुए। नागरी प्रचारिणी सभा में आयोजित कवि-सम्मेलनों की परंपरा बड़ी शानदार रही है। इस अवसर पर भी आयोजित कवि-सम्मेलन बहुत भव्य था। सभा में गोष्ठी हो रही थी। विषय याद नही है। निराला जी चुपचाप बैठे हुए थे। कोई सज्जन बोल रहे थे। बोलने की प्रक्रिया में उन्होंने पंत जी का नाम लिया। निराला जैसे समाधि से जागे। उन्हें लगा जैसे कोई पंत की आलोचना कर रहा हो। उठ खड़े हुए। बोले—

"पंत इज ऐज ग्रेट पोयट ऐज एनीवन कैन बी। कीप क्वायट एण्ड सिट डाउन।" वे सज्जन सफाई देते हुए बोले—"मैंने पंत जी को क्रिटिसाइज नहीं किया। मैंने तो सम्मान से उनका नाम लिया है।" निराला जी फिर चुप्पी में खो गये और गोष्ठी चलती रही।

सुमन जी के प्रयत्न से एक कवि-सम्मेलन हिन्दू विश्वविद्यालय के रुइया छात्रावास के हॉल में हुआ जिसमें अन्य कवियों के काव्य-पाठ के साथ निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' सुनाई। उनके मुख से 'राम की शक्ति पूजा' सुनने का यह पहला अवसर था। कविता तो मैंने बहुत बाद में समझी, उस समय तो केवल उसकी अनुगूंज अनुभव की। निराला के पढ़ने के ढंग से कविता का मारा ओज, व्यथा, आशा-निराशा जैसे वातावरण में वलयित हो रही थी। उनका व्यक्तित्व स्वयं राम का व्यक्तित्व लग रहा था। अत: जिस छात्रावासी वातावरण में हर कवि-सम्मेलन हूट का शिकार होता था उसी में लोग कविता न समझते हुए भी निराला के मुख से यह कविता शान्त भाव से सुन रहे थे। यह भव्य शान्ति, यह दिव्य सन्नाटा और उसके बीच उभरता निराला का प्राणवान स्वर-प्रवाह। लोगों पर जादू निराला के व्यक्तित्व का था, या कविता का था, या दोनों का था? शायद दोनो का था। इस कविता के साथ गोष्ठी समाप्त होते ही भीड़ में कोलाहल मच गया। जैसे बाँध तोड़कर जलप्रवाह बह चला हो। यह कोलाहल हूटिंग का कोलाहल नहीं था बल्कि कविता के प्रभाव की अभिव्यक्ति का कोलाहल था। हर अभिभूत व्यक्ति अपनी-अपनी बात कहना चाहता था।

दूसरी गोष्ठी हिन्दी विभाग में हुई। इस गोष्ठी में वाजपेयी जी ने निराला जी की ओर से काशी के पांच कवियों को सौ-सौ रुपये के पुरस्कार से सम्मानित किया। वे कवि थे—शंभूनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, नामवर सिंह। दो के नाम याद नहीं आ रहे हैं। वाजपेयी जी की इस क्रिया ने वास्तव में निराला-जयंती को सार्थकता का एक नया आयाम दिया। नवता के पक्षधर निराला की ओर से एकदम नये कवियों को पुरस्कृत करना निराला का सही सम्मान करना था। नवता के पक्षधर वाजपेयी जी से अधिक इस बात को कौन समझ सकता था? एक ओर वाजपेयी जी थे, दूसरी ओर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग थे। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के लिए निराला अभी तक बहुत सार्थक और स्पृहणीय कवि नहीं थे। प्रसाद और पंत की तुलना में तो बहुत ही छोटे सिद्ध हो रहे थे। शायद बी० ए० स्तर तक उनकी कुछ कविताएं पढ़ायी जाती थीं। निराला के प्रति हिन्दी विभागों के व्यवहार का एक ज्वलंत उदाहरण इस समय भी प्रस्तुत हुआ। पं० केशवप्रसाद मिश्र इस समय विभागाध्यक्ष थे। उन्होंने निराला का स्वागत करते हुए अंत में कहा—"निराला यदि इतने कठिन कवि न होते तो वे भी बड़े कवि हुए होते।" मुझे डर लगा कि कहीं निराला का स्वाभिमानी रूप अनियंत्रित होकर उबल न पड़े, किन्तु वे चुप रहे। वाजपेयी जी ने ही अपने ढंग से जवाब दिया था।

एक गोष्ठी पं॰ पद्मनारायण आचार्य के यहां हुई। वहां बहुत थोड़े लोग बुलाये गये थे। मैं भी पहुंच गया था। वहां पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र और वाजपेयी जी

में भिड़ंत हो गयी। चर्चा का विषय था—हिन्दी साहित्य और राष्ट्रीयता। मिश्र जी ने कहा कि प्रसाद जी तो अपने लेखन में अभारतीय थे (इस आग्रह को वे अब तक दुहराते आ रहे हैं)। इस बार वाजपेयी जी का रक्ताभ चेहरा तमतमाकर और लाल हो गया और बहुत तैश में आ गये। बहुत कड़े स्वर में मिश्र जी का प्रतिवाद करने लगे। दोनों विद्वान् एक-दूसरे पर वाक्-प्रहार करने लगे। कुछ देर बाद निराला गरजे—"चुप रहो, प्रसाद हमारे सम्मान्य कवि हैं।" दोनों एकाएक चुप हो गये। फिर निराला जी से आग्रह किया गया कि वे कुछ सुनायें—गाकर सुनायें। वे प्रसन्न मुद्रा में थे। बोले—"हारमोनियम ले आओ।" पदमनारायण जी के यहां संगीत के कई वाद्य थे। हारमोनियम आया और निराला ने बाकायदा शास्त्रीय स्वर में अपने कई गीत गाये। निराला से संदर्भित ये क्षण मेरे जीवन के अमूल्य अनुभव बन गये।

निराला काफी दिन बनारस में रह गये। निराला के व्यक्तित्व ने न जाने कितनी कहानियों को जन्म दिया है। उनमें से अधिकांश सच्ची घटनाएं होती थीं और कुछ काल्पनिक भी होती थी। इस बार के उनके बनारस-निवास के समय भी उनसे जुडी कहानियां फूट-फूटकर हम लोगों तक पहुंचती थीं। ये गऊ घाट पर किसी श्रद्धालु के यहां ठहरे थे। सुना, उनसे एक दिन मिलने के लिए बाबू सम्पूर्णानन्द गये। निराला लुंगी पहने व्यायाम कर रहे थे। लुंगी लफर-लफर कर रही थी। निराला को असुविधा हुई, उन्होंने लुंगी उतार दी। निपट नंगे हो गये। बाबू संपूर्णानन्द ने आंखें मूंद लीं और कहा—"निराला जी, आप यह क्या करते है?" निराला ने कहा—"क्यों, क्या हुआ? शरीर के नंगा और अनंगा होने में क्या रखा है? आप तो दार्शनिक हैं, जानते है कि शरीर असत्य है, इसे नंगा करने में क्या हर्ज है? अरे, लोग तो भीतर से नंगे हो जाते हैं।"

"तो भी।" बाबू जी निराला जी से दार्शनिक बहस करने के मूड में नहीं थे।

"अच्छा, आपको बुरा लगता है तो पहन लेता हूं।" कहकर निराला ने लुंगी लपेट ली। पता नहीं यह बात सच है कि झूठ, लेकिन इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ तो खुलना ही है। निराला की अनामिका की फोटो देखी थी और बाद की फोटो भी। छायावादी रूप-सज्जा, केश-विन्यास, देह से मनोहर दिखने की लालसा धीरे-धीरे झड़ती गयी और नंगे पठार की तरह उर्जस्वित काया की नग्नता उभरती गयी। कवि को देह के प्रति मोह नहीं रहा, वह लगातार भीतर धंसता चला गया या अपने से बाहर फैलता गया।

24

साहित्यिक गतिविधियों के साथ-साथ राजनीतिक गतिविधियां भी इस विश्वविद्यालय का विशेष आकर्षण थीं। अनेक नेता आते थे—कभी आचार्य कृपलानी आ रहे हैं, कभी जयप्रकाश नारायण आ रहे हैं, कभी राममनोहर लोहिया आ रहे हैं, कभी आचार्य

नरेन्द्र देव आ रहे हैं और छोटे-मोटे नेता तो आते ही रहते थे। इस विश्वविद्यालय में स्वाधीनता-आन्दोलन के सिलसिले में चलने वाले आंदोलन की गतिविधियां खूब सक्रिय थीं। सरकार के डर से किसी राजनीतिक सभा में कभी व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ। इसके संस्थापक मालवीय जी तो स्वयं स्वाधीनता-संग्राम के योद्धा थे और सरकार के पुर्जे के रूप में आई० सी० एस० या अन्य अधिकारी पैदा करना इस संस्था का उद्देश्य नहीं था। इसका उद्देश्य था स्वाधीनता-सैनिक, साहित्यकार, शिक्षा-शास्त्री पैदा करना। मालवीय जी सनातनी विचारों के हिन्दू कांग्रेसी थे, लेकिन उनके विश्व-विद्यालय में अन्य विचारों की राजनीति की हलचलों के लिए वर्जना नहीं थी। इसलिए कांग्रेस की हलचलों के साथ समाजवादी हलचलें भी चलती रहती थी। मालवीय जी के सम्बन्ध मे सुना था कि उनकी वाणी में विद्युत् की गति और चमक है, किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि जब मैं बी० एच० यू० पहुंचा तो वे बीमार थे। उनकी वाणी क्षीण हो गयी थी। कभी-कभी वे किसी समारोह में लाये जाते थे और वे बहुत धीरे-धीरे कुछ बुद-बुदाते थे। एक आदमी उनके मुंह से अपने कान सटाकर उनकी बुदबुदाहट सुनता था और फिर जोर से सभा के बीच कहता था। एक तेजस्वी व्यक्ति को इस रूप में दखना कितना दुखद था और अपने लिए कितना दुर्भाग्यपूर्ण !

मालवीय जी को तो नहीं सुन सका और एक तेजस्वी स्वर का साक्षात्कार करने से वंचित रह गया, किन्तु एक दूसरे तेजस्वी स्वर का सुनना अपने-आप मे एक अद्वितीय अनुभव था। वह स्वर था वहां के तत्कालीन कुलपति डा० राधाकृष्णन् का। इतना सधा हुआ, सीमित समय में सम्पन्न हो जाने वाला, सुगठित भाषण मैंने नहीं सुना था। लगता था जैसे गठा हुआ निबंध पढ़ा जा रहा हो। एक भी शब्द का अपव्यय नहीं, एक भी अर्थ का दुहराव नहीं। वाणी मे उतार-चढ़ाव नहीं। एक ओजस्विता समलय पर बहती रहती थी और एक निश्चित बिन्दु पर जाकर खट से रुक जाती थी और वह बिन्दु होता था प्राय: 45 मिनट बाद आने वाला बिन्दु। इससे लंबा भाषण वे नहीं देते थे। इसलिए अनेक छोटे-बड़े भाषणों में अनिश्चित लंबे समय तक चलने और ऊब पैदा करने का जो खतरा विद्यमान रहता है, वह यहां नहीं था। धोती, शेरवानी और पगड़ी में राधाकृष्णन् का व्यक्तित्व विशेष आकर्षण पैदा करता था। इस वेश-विन्यास से फूटती हुई अंगरेजी की अद्भुत धारा और उस अंगरेजी के मध्य से फूटती हुई भारतीय ज्ञान की परंपरा का परिदृश्य विरुद्धों के सामजस्य का अनुपम सौन्दर्य पैदा करता था। यह वह समय था जब ऐसे-ऐसे व्यक्तित्व पदों को गौरव प्रदान करते थे। अब तो चाहे कुलपति का पद हो चाहे मंत्री का या अन्य कोई उच्च पद, तमाम बौने लोग उससे ऊंचाई पाते हैं और अन्ततोगत्वा अपने साथ-साथ उस पद को भी बौना और अर्थहीन बना देते हैं।

उस समय की महिमा थी कि उसने हर क्षेत्र मे ऊंची प्रतिभाएं पैदा कीं, जीनियस दिये किन्तु मालवीय जी की भी महिमा थी कि वे उस समय द्वारा निर्मित प्रतिभाओं में से चुन-चुनकर अपने विश्वविद्यालय में लाते थे। वे जहां भी गये वहां की अच्छी प्रतिभा की पहचान की और प्रयत्न किया कि वह प्रतिभा बी० एच० यू० में

आ जाय। वे प्रतिभाओ की पहचान कर उन्हे आमन्त्रित करते थे और स्वय अपने कुलपति काल मे अपने यहा के छात्रो मे प्रतिभाओ का निर्माण करते थे। न जाने कितने गरीब लोग यहा पढे। मालवीय जी ने बी० एच० यू० के आर्थिक असतुलन की परवाह किये बिना उनकी आर्थिक सहायता करायी, फीस माफ की। उनकी मानवीय दृष्टि को इस बात की पूरी-पूरी पहचान थी कि प्रतिभाए विश्वविद्यालय के लिए तो है ही, विश्वविद्यालय भी प्रतिभाओ के लिए है। यदि विश्वविद्यालय के सारे तौर-तरीको का सख्ती मे पालन करने के कारण प्रतिभाशाली गरीब विद्यार्थी दबकर रह जाते है या पढाई छोड देते है तो इस सारे तौर-तरीके के पालन मे लाभ क्या है ? इसलिए सुनने मे आया था कि उनके कुलपतित्व मे विश्वविद्यालय आर्थिक अभाव का बोझ लिए चल रहा था, किन्तु इसमे क्या, न जाने इस कारण कितनी अच्छी प्रतिभाए उभरी जो अपने ज्ञान से इस विश्वविद्यालय को प्रातिभ समृद्धि प्रदान कर रही है। उन्ही के नाते बी० एच० यू०, बी० एच० यू० है। कितनी बडी विडबना है कि जिस विश्वविद्यालय मे मालवीय जी देश-भर की प्रतिभाओ का आमत्रित करते थे, उसी मे से बाद मे चलकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० राजबली पाडेय, डा० रामअवध द्विवेदी, डा० गोपाल तिवारी जैसी प्रतिभाए निष्कासित की गयी। तब कुलपति का पद शैक्षिक ऊचाई का पद नही रह गया था बल्कि राजनीतिक छलछद का मच बन गया था और ऐसे ही लोग इस पद की शोभा बढा रहे थे। यह परिदृश्य पूरे देश मे व्यापक हो गया था और लगातार अपनी शैक्षिक ऊचाई खोता जा रहा था।

मै बी० एच० यू० मे गया तो अनेक ऊची प्रतिभाओ की गहमागहमी थी और मालवीय जी के होने की एक भरी-पूरी अनुभूति वहा व्याप्त थी। वे बीमार थे तो क्या हुआ, वे है, यह बोध पूरे विश्वविद्यालय को सजीवता प्रदान करता था। किन्तु मुझे इस अनुभूति का सुख 5-6 महीने से अधिक नही मिला। वे सन् '46 के दिसबर मे दिवगत हो गये। यद्यपि विश्वविद्यालय को इस बात का विश्वास हो गया था कि मालवीय जी जिस रुग्णावस्था मे है, उसमे वे अधिक नही जी सकते, लेकिन इस अवस्था मे भी उनकी उपस्थिति विश्वविद्यालय को बहुत सहारा देती थी। जब उनके दिवगत होने का समाचार फैला तो लगा जैसे विश्वविद्यालय की आत्मा तन से उड गयी हो। विश्वविद्यालय शोक-विह्वल हो गया। बडे लोगो के मरने पर शोक-विह्वल होने या शोक-विह्वल दिखाने की परिपाटी सी बन गयी है और अब तो बडे लोगो का मतलब होता है बडे पद पर विराजमान नेता—राष्ट्रपति, प्रधानमत्री, मुख्यमत्री या मत्री। वे जब मरते है तो शोक मे झडा झुकता है, रेडियो, टी० वी० कार्यक्रम बदल जाते है, शोक-सदेश छपते है या शोक सभाओ मे पढे जाते है, कई दिन की या कम-से-कम एक दिन की छुट्टी घोषित होती है। गर्ज कि सरकारी भाषा मे सारा देश उनके दुःख मे दबा हुआ दिखाया जाता है, लेकिन होता यह है कि लोग छुट्टी मे मौज-मस्ती मनाते है और कोसते है कि रेडियो और टेलीविजन पर कोई कार्यक्रम नही आ रहा है, एक सारगी-वाला या वायलिन वाला दिन-रात टेंटें कर रहा है।

लेकिन उस समय बड़प्पन का इतना अवमूल्यन नही हुआ था। एक तो बडप्पन

नेताओं में सिमटा नहीं था, दूसरे नेता का अर्थ होता था देश के लिए अपने को बलिदान करने वाला। इसलिए बड़े लोगों के दिवंगत होने पर जनता में वास्तविक पीड़ा व्याप्त होती थी, लोग मौन या मुखर भाव से रोते थे। और यदि बड़े आदमी का जीवंत संबंध किसी जन-समुदाय से हो, यानी वह बड़ा आदमी सबके लिए तो बड़ा हो ही, सबके बीच भी उसने एक ऐसी छोटी-सी दुनिया बनायी हो जिसके व्यक्ति-व्यक्ति के बीच वह जीवंत अनुभव बनकर व्याप्त हो, तो उस दुनिया की पीड़ा और यातना का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मालवीय जी पूरे देश के नेता थे लेकिन बी० एच० यू० तो उनकी सघन कृति था। बी० एच० यू० की छोटी-सी दुनिया की सांस-सांस में उनका राग बसा हुआ था। इसलिए उनके दिवंगत होने के समाचार से पूरा बी० एच० यू० हाहाकार कर उठा। बनारस भी थर्रा गया। मालवीय जी से मेरा प्रत्यक्ष सरोकार नहीं था, किन्तु मैं अपने भीतर सदा उनकी उपस्थिति अनुभव करता था। इसलिए इस समाचार से मैं भीतर तक थर्रा उठा। छात्रावास में, सड़कों पर, मालवीय जी के आवास के आसपास लोग रो रहे थे। बाग-बगीचे, मकान, हवा, आकाश, सभी मे जैसे एक आकुल मंथन हो रहा था।

शव-यात्रा शुरू होने का दृश्य बड़ा हृदय-विदारक था—रुदन का हाहाकार मच गया था। शव-यात्रा प्रारंभ हुई। भीड़ धीरे-धीरे बढ़ती गयी। बी० एच० यू० की भीड़ में बनारस की भीड़ शामिल होती गयी और मणिकर्णिका घाट तक पहुंचते-पहुंचते जैसे सारा शहर शव-यात्रा में शरीक हो गया था। जिन सडकों और गलियों मे शव-यात्रा हुई, उनके या तो लोग शामिल हो गये या उनकी वेदना। खिड़कियों से स्त्रियों की गीली आंखें झांकती थीं और उनका दर्द भीड़ में शामिल हो जाता था। सड़क के दोनों ओर प्रणाम की मुद्रा में हाथ जुड जाते थे। चिता में आग लगी, फिर जोर से रुदन का हाहाकार उठा। मैं भरी-भरी आंखों से चिता को देखता रहा। मैं स्वभाव से भावुक हूं ही, इस दृश्य ने पता नही मुझे कितना भावुक बना दिया था।

हॉस्टल लौटा, मन बहुत उदास था। बार-बार रुलाई आ रही थी। इस महाप्रयाण के न जाने कितने दृश्य मेरे भीतर तैर रहे थे और मेरे कवि को बेचैन कर रहे थे। रात को कविता लिखी—

चिता जल रही है, गगन हिल रहा है
धुआं में रहे कांप संदेश के स्वर
अनल में जले जा रहे सांस के पर
हुआ अस्त रवि चांद तारे खिलाकर
किरन मौन होकर बहेगी निरंतर
धरा के हृदय से व्यथा स्वर निकलता
कि मेरा विभव स्वर्ग को मिल रहा है

सिहरती चली आ रही सांध्य वेला
रहा छिप क्षितिज में गगन का उजेला

लुटाता हुआ मौन वरदान का स्वन
चला जा रहा आज पंथी अकेला
हृदय में छिपे क्षुब्ध अरमान छूकर
चिता का विकल अग्नि कण हिल रहा है

समीपस्थ गंगा तरल हो रही है
कि जिसमें अमित आत्मा सो रही है
उमड़कर हृदय से सुवन को लगा लूं
इसी कामना से विकल हो रही है
दिशा के भरे लोचनों में पिघल कर
प्रकंपित लहर का रुदन मिल रहा है

नहीं बंध सका जो कभी बंधनों में
कभी जल सका जो न भव-लोचनों में
बरसता रहा स्नेह-रस बादलों-सा
वही जल रहा शुष्क से ईंधनों में
सुमन के नयन अश्रुकण भर रहे है
चला आज माली चमन हिल रहा है

पुनः प्रात होगा, सुमन फिर खिलेगा
दिवाकर नयी ज्योति देकर मिलेगा
मगर ढल गया जो दिवाकर हमारा
नहीं फिर मिलेगा, नहीं फिर मिलेगा
लिए दर्द दिल में सदी जल रही है
व्यथा की कथा से पवन हिल रहा है

दूसरे या तीसरे दिन रुइया हॉस्टल के सामने शोक-सभा थी। अनेक प्रोफेसर और छात्र-नेता बोल रहे थे। मेरे कुछ मित्रों ने मेरी कविता सुन ली थी। वे आग्रह कर रहे थे कि मैं अपनी कविता सुनाऊं। मैं इनकार कर रहा था। पता नहीं किस मित्र ने कब एक चिट संयोजक के पास भेज दी और भाषणों के क्रम में मेरा नाम पुकार दिया गया तो मैं घबरा गया। किन्तु जाना था ही, गया। कविता सुनाई। भाषण और कविता का जो अंतर होता है उसे यहां भी होना ही था। कविता ने भीड़ को थोड़ी देर के लिए फिर भावुक बना दिया, लोगों की आंखें भीगने लगीं। पढते-पढ़ते मैं स्वयं आर्द्र होने लगा। किसी तरह कविता पढ़कर मैं मंच से नीचे आया और भीड़ में खो गया। जो भी मिलता, कहता—"बहुत अच्छी कविता है।" मैं नहीं जानता था कि कविता अच्छी थी या बुरी, मैंने तो अपने दर्द की अभिव्यक्ति की थी और वह दर्द बहुतों के दर्द को यदि छू गया तो यही उसकी सफलता थी। कई दिन तक विश्वविद्यालय के प्रांगण में शोक-सभाओं का आयोजन होता रहा और एक उदासी, एक खालीपन यहां से वहां तक तैरता रहा।

पहले ही वर्ष इस विश्वविद्यालय ने मुझमें न जाने कितना कुछ नया भर दिया—नयी घटनाएं, नये दृश्य, नये सम्बन्ध, नये सुख-दुःख। इस महान् विश्वविद्यालय का एक और संदर्भ ऐसा प्रभावशाली था जिसे मैंने अन्यत्र नही देखा। वह था उसका दीक्षान्त समारोह। इस अवसर पर लगभग सप्ताह-भर सांस्कृतिक चहल-पहल मे वातावरण मुखर हो उठता था। कवि-सम्मेलन, नाटक, नृत्य आदि से शामे बजने लगती थीं। अपने छात्र-कलाकार तो अपनी कला दिखाते ही थे, बाहर से विशिष्ट कलाकार भी आमंत्रित होते थे। दिन को कुछ विशिष्ट विद्वानो के भाषण भी आयोजित होते थे। दीक्षान्त समारोह के दिन देश का कोई बहुत बडा राजनीतिक या शैक्षिक व्यक्तित्व आमन्त्रित होता था। उसे सुनने के लिए शहर और आसपास के गावो मे भी लोग आते थे। वह एक मेला होता था। दीक्षान्त समारोह स्थल के आसपास बहुत-से लोग चक्कर काटते थे क्योंकि उन्हे प्रवेश नही मिलता था। प्रवेश आइडेंटिटी कार्ड या निमंत्रण-पत्र से मिलता था। उस विशाल भीड मे एक भनभनाहट, एक अनियंत्रित जिज्ञासा तैरती रहती थी और ज्योंही डा० राधाकृष्णन् के साथ महान् अतिथि आता था, अपने-आप एक अनुशासित चुप्पी पसर जाती थी। और फिर शुरू होता था डा० राधाकृष्णन् की ठनकती हुई आवाज के साथ उपाधि-वितरण कार्य। और अन्त मे अतिथि का भाषण होता था। पहले साल दीक्षान्त समारोह मेरे लिए एक नया अनुभव था, फिर तो हर साल मै उसी अनुभव से गुजरने लगा। पहला वर्ष मेरे लिए इस नये अनुभव के कारण अधिक मूल्यवान रहा।

पहले वर्ष ने मेरे भीतर जो अनुभवो का एक नया संसार रचा, आने वाले वर्ष उसमे या तो नया रंग भरते गये या नये आयाम जोडते गये। अनुभव गहराता भी गया और बडा भी होता गया। दूसरे वर्ष की सबसे बडी घटना थी स्वतंत्रता-प्राप्ति। 15 अगस्त, 1947 यानी दूसरे वर्ष का लगभग प्रारंभ। उस समय क्या उल्लास था! उल्लास नही था बल्कि उल्लास का महासागर था जो अपनी उन्मत्त उत्तुंग लहरे उठाता हुआ धरती और आकाश के बीच ठाठे मार रहा था। स्वाधीनता-संग्राम के केन्द्र हिन्दू विश्वविद्यालय के महोल्लास की कल्पना की जा सकती है—कोई नाच रहा था, कोई गा रहा था, कोई बजा रहा था। सभी लोग जैसे शरीर न रहकर महोल्लास के अनियंत्रित अनुभव बन गये थे। लोग झुंड के झुंड शहर की ओर जा रहे थे। मै भी शहर की ओर निकला था। पूरा शहर जैसे जन-सम्मर्द बन गया था। कोई भी अपने घर मे नहीं अट रहा था और बाहर बहते हुए जल-प्रवाह मे सम्मिलित होना चाहता था। लहर लहर से जुड रही थी, धारा धारा से जुड रही थी और भारतमाता की जयजयकार से आसमान फटा जा रहा था। पटाखे छूट रहे थे। लोग नाच रहे थे, गा रहे थे, उछल रहे थे, कूद रहे थे, यानी कि पागल हो रहे थे। लग रहा था कि अब किसी का दुःख उसका दुःख नही है, सबका दुःख है; उसका सुख उसका सुख नही है, सबका सुख है। हर घर चाहे छोटा हो या बडा, दीपमालिका से जगमगा रहा था और लगता था कि हर घर की दीपमालिका पूरे शहर और देश की दीपमालिका की पंक्ति को दे दी गयी हो। दीप-मालिका के प्रकाश मे जैसे क्षेत्रो, जातियो, धर्मों और वर्गो के दायरे दब गये हो और रह

गया हो समूचा देश एक नयी आशा से लहराता हुआ ।

इस अवसर पर बिड़ला हॉस्टल में एक कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया। मैं अब इतना जाना जाने लगा था कि उसमें मेरा होना अनिवार्य था। किन्तु इस आयोजन से पहले ही छपरा में आयोजित कवि-सम्मेलन के लिए मैं स्वीकृति दे चुका था। बिड़ला हॉस्टल के लिए मैं परिचित था। अतः मन में एक नयी जगह पर कविता पढ़ने का मोह भी था। छपरा गया। शंभूनाथ सिंह तथा और कई कवि साथ थे। मैंने स्वाधीनता के उपलक्ष्य मे एक कविता लिखी थी। वहां सुनाई, खूब प्रशंसित हुई। वहां जाकर और नये स्थान से प्रशंसा पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। कविता की कुछ पंक्तियां थीं—

आज अग्नि के कुंजों से झर रही मधुर झनकार
नयी ज्योति उठ रही फाड़कर धुएं की दीवार
आहुति पूर्ण हुई जीवन की बलिवेदी मुसकायी
ली स्वतंत्रता ने प्राणों के शतदल पर अगड़ाई
हरसिंगार के फूल झर रहे तारों के अधरों से
गमक रही है फिर सदियो पर जीवन की अमराई
झरते हुए रुदन स्वर सोये तरु के पात पुराने
भारत के नंदन में फिर स्वर उड़ते पंख पसार

प्राची के शिखरों पर भारत रवि का दीप जलाये
दिखा रहा है जिससे दुनिया मंजिल भूल न जाये
अखिल विश्व की मुक्ति-चेतना का बनकर सेनानी
गरज रहा फिर विजय घोष मे हम गिरि शीश उठाये
भारत विजय ! तुम्हारी ही आशा मे कितने माझी
दूर सिंधु में गिर गिर भी छोड़ते नहीं पतवार

छपरा से लौटा तो कई साथियों ने अलग-अलग व्यंग्य किया कि "अब तुम कविता बेचने लगे हो क्या ?"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह है कि यहा के कवि-सम्मेलन में एक लड़के ने एक कविता पढ़ी और मुझे लगा कि यह कविता तुम्हारी है। मुझे लगता है कि मैंने तुमसे सुन रखी है।"

"क्या थी वह कविता ?"

"ठीक याद नहीं, परन्तु थी आंखों पर। क्या तो था कि "इन आंखों में ही आग है इनमें ही पानी है।"

"इन आंखों में ही आग भरी
इन आंखों में ही पानी है।"

मैंने ठीक करते हुए कहा।

"इक्जैक्टली, इक्जैक्टली।" मित्र बोला।

"हां, यह कविता तो मेरी है, उसने कहां से उड़ा ली ? लेकिन दोस्त, इस कविता की चोरी से उतना दुःख नहीं हुआ जितना कविता को गद्य बना देने से।"

"नहीं, नहीं, उसने गद्य नहीं बनाया, उसने बहुत अच्छी तरह कविता पढ़ी। हर पंक्ति, हर शब्द को उसने अपने पढ़ने के अंदाज से सजीव कर दिया। कविता तुम्हारी है, लेकिन तुम उतना अच्छा नहीं पढ़ सकते। उसे कवि-सम्मेलन में खूब वाहवाही मिली, सबकी जबान पर आ गयी है कविता।"

"तभी तो।"

"क्या तभी तो ?"

"तभी तो जनाब ने मेरी पंक्तियों को गद्य की तरह मेरे सामने परोस दिया। इन आंखों में ही आग है, इनमें ही पानी है।"

"अच्छा, तो कविता को गद्य बना देने का इलजाम श्रीमान् मेरे मत्थे मढ़ रहे थे। अरे जहन्नुम में जाय कविता, मुझे कविता से क्या लेना-देना। मेरा वश चले तो कविता को क्या, तुम्हें भी निरा गद्य बना दूं ताकि एक भावुक आदमी की भावुकता से समाज का पिंड तो छूटे।"

हम हंसने लगे। चलने लगे तो उसने फिर पूछा—"तब क्या करोगे उस चोर का ?"

"करूंगा क्या, उसे वह कविता दे दूंगा।"

"नहीं यार, ऐसा मत करना, इतनी अच्छी कविता पर से अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहिए।"

"मगर वह है कौन ?"

"बता दूंगा।"

पता चल गया। उस लड़के का रूममेट मेरा परिचित था। उससे चर्चा की। वह बोला—"पकड़ना हूं उसे।" तय हुआ कि वह कविता-चोर से कहेगा कि एक कवि हैं जो कवि-सम्मेलन के दिन थे नहीं, उन्होंने तुम्हारी कविता की बड़ी तारीफ सुनी है, सुनना चाहते हैं।

इस योजना के तहत वह लड़का कविता-चोर को पकड़कर मेरे कमरे में ले आया और कविता-चोर कविता पढ़ने लगा। मैंने अपनी कविता की कापी का वह पृष्ठ खोलकर परिचित लड़के को थमा दी थी जिस पर वह कविता लिखी हुई थी। कविता-चोर बहुत उत्साह से कविता पढ़ता गया और परिचित लड़का मेरी कविता की कापी पर नजर गड़ाये रहा। जब कविता समाप्त हो गयी तब उसने कविता-चोर के सामने मेरी कापी का वह पृष्ठ बढाते हुए कहा—"यह क्या है ?"

कविता-चोर ने वह पृष्ठ देखा और एकाएक घबरा गया। पसीना-पसीना हो गया। मैंने आश्वस्त करते हुए कहा—"घबराइए मत, बताइए, इसे आपने कहां से उड़ाया ?"

उसने बताया कि उसके किसी मित्र ने इस कविता को अपना बताकर इसे सुनाया

था और इसने इसे हथिया लिया।

"यह कविता 'अप्सरा' में छपी थी। वहीं से उसने उड़ाया होगा।"

"मुझे पता नहीं साहब, मैंने तो उसी से पाया था।"

"कोई बात नही। जाइए, कविता का शौक हो तो अपनी लिखिए।"

वह उदास-उदास-सा, पिटा-पिटा-सा चला गया और मैं सोचने लगा कि क्या मैं इस योग्य हो गया हूं कि मेरी कविताओं की चोरी होने लगे? यह तो बहुत उत्साहवर्धक बात है। कविता की चोरी की बात आयी तो एक दृश्य और याद आया। यह घटना 1948 की है। रामनगर में कवि-सम्मेलन हुआ और मैं अध्यक्ष बनाया गया। कश्मीर पर पाकिस्तान के हमले को लेकर मैंने एक कविता लिखी थी जिसकी कुछ पंक्तिया हैं—

ओ केशर के काश्मीर
उजड़े प्राणों के सूने वन मे
नव वसंत आज भी उडाना
सूना अंचल आता होगा
मूर्छित फूलों की सांसों की
नीरव चिता सुलगती होगी
लेकर यौवन की अंगड़ाई
कलिका आज न जगती होगी
सपनों के फूलों-सी फूली
वह झर-झर कुसुमों की घाटी
धुएं की लपटों में घायल-सी
मरघट-सी लगती होगी
यौवन के दर्दीले स्वर को
उकसाते होंगे मधु के क्षण
किन्तु डाल पर सूना बैठा
कोकिल आज न गाता होगा

एक छात्र कवि आये और इसे पढ़ने लगे। मैं सुनता रहा। कविता पढ़ने तक ही बात होती तो मैं चुपचाप पी भी जाता, कविता को भ्रष्ट तरीके से पढ़ने लगे, सारी पंक्तियां छिन्न-भिन्न होकर नष्ट-भ्रष्ट होकर मुझे चिढ़ाने लगीं। जब वे पढ़ चुके तो मैंने संयोजक को एक चिट दी—"इन सज्जन ने मेरी कविता पढ़ी है और भ्रष्ट रूप में पढ़ी है।" कवि-सम्मेलन चलता रहा। संयोजक ने कविता-चोर को डांटा होगा। तभी एक कवि के कविता खत्म करते ही काव्य-चोर महोदय माइक पर आ गये और घोषणा की —"मैं यह बताना भूल गया था कि मैंने जो कविता पढ़ी वह श्री रामदरश मिश्र की थी—यानी इस कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष महोदय की।"

"पकड़ गया, पकड़ गया।" लोग चिल्लाये और वे हजरत वहां से धीरे से सरक

गये। यहां भी मुझे एक सुख का अनुभव हुआ कि मेरी कविताएं लोगों को इतनी अच्छी लगने लगी हैं कि उनकी चोरी होने लगी है। बाद में भी ऐसे अनेक प्रसंग आये।

दूसरा साल भी बीता। इस साल की एक और मुख्य घटना रही वाजपेयी जी का जाना। सागर विश्वविद्यालय में उनकी अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति हो गयी थी इसलिए वे हम लोगों को छोड़कर जा रहे थे। साहित्यिक वातावरण में एक खालीपन का अहसास तैरने लगा था। हिन्दी विभाग के लिए वे चाहे जो रहे हों, वहां की साहित्यिक दुनिया के लिए तो वे परम तेजस्वी पुरुष थे। एक प्रखर समीक्षक के रूप में उनकी तेजस्विता उजागर हो चुकी थी। उनकी विदाई मे जगह-जगह गोष्ठिया हुईं, उनके शिष्यों और साहित्यकारों ने अपनी अकुलाहट व्यक्त की, साथ ही अपने गुरुदेव की एकेडेमिक उन्नति पर हर्ष भी व्यक्त किया। हिन्दी विभाग की ओर से भी विदाई-गोष्ठी आयोजित हुई। उसमें सम्मिलित होने और कविता पढ़ने का सौभाग्य मुझे भी मिला। वाजपेयी जी से न तो मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध बन पाया था, न उनसे एक लम्बे समय तक आत्मीयता परिवेश मे साहित्य ही पढने का अवसर मिला था, फिर भी मुझे लग रहा था कि औरों की तरह मैं कुछ खो रहा हूं। सोच रहा था—"काश, इनसे मुझे लम्बा शिष्यत्व काल और आत्मीयता मिली होती।"

एक बार फिर प्रकृति की ओर चलते हैं। बी० एच० यू० प्रकृति के बीच और अपने में प्रकृति को लिए बसा है। हर मौसम अपनी पूरी गरिमा के साथ यहां आता है और फैल जाता है। पूरब की बरसात का अपना ही रंग है। वह आती है तो जल्दी जाती नही। काले-काले बादल लगातार आकाश में तैरते है, बरसते है, रिमझिमाते रहते हैं, पुरवा सनसनाती रहती है, पेड झुकते हुए, हिलते हुए, स्पंदित होते हुए बूंदों की लय पर गाते रहते है। यह खेल शुरू होता है तो पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस दिन तक नही थमता। मैंने कहा न कि बी० एच० यू० प्रकृति के बीच और अपने में प्रकृति को लिए बसा है। छात्रावासों और कालेजों के बीच खुली-खुली दूरियां हैं, खुली-खुली सड़कें है, सड़को के दोनों ओर सघन पेड है, बड़े-बडे घासमय मैदान हैं, तरह-तरह के फूलों और लताओं से भरे उद्यान है। बरसात इनसे खूब खेलती है, इन्हें सराबोर करती है, गाती है, गरजती है और इनकी हरीतिमा की धुली आभा चारों ओर धानी कपड़े-सा फैला देती है, इनके भीतर से सुगंध और रस की कथा बनकर फूट चलती है। कोयल बोलती है, पपीहा बोलता है और अनेक पक्षी पंख फैलाये हवा में तैरने लगते हैं। प्रकृति का संस्कारी मेरा मन यहां प्रकृति से और अधिक जुड गया। मैंने बी० एच० यू० में बरसात पर बहुत-सी कविताएं लिखीं। वर्षा-ऋतु का अनुभव लगातार गहराता ही गया और वह बार-बार अभिव्यक्त होकर भी तृप्त नहीं होता था, नये रूप में फूटने को आकुल-व्याकुल रहता था।

यहां शरद में महीने-भर की छुट्टी होती है—दशहरे के पहले से दीवाली के बाद तक। मैं इन छुट्टियों मे गांव चला आता था। मां की ममता, पिता का सहज प्यार, परिवार का आत्मीय वातावरण और भीतर तक धंसा हुआ अपने गांव का परिवेश इन छुट्टियों में मेरे साथ होता था। दशहरे में बनारस का वातावरण अद्भुत जीवंतता और महक से भरा होता है। मैंने बाद में इसका खूब आनंद लिया किन्तु रामलीला मुझे यूंहीं

की ही अच्छी लगती रही। थुन्हीं हमारे गांव से दो मील की दूरी पर है। बचपन में हम इस मेले मे जाया करते थे। इस मेले में जाने का अद्भुत उत्साह और 'थ्रिल' मन में भरा होता था। वह संस्कार अब तक नही गया। इतने नगरों, महानगरों की यात्रा के दौरान एक-से-एक शानदार रामलीलाओं को देखने का अवसर मिला, किन्तु उस अवसर के प्रति मेरे मन में कोई विशेष ललक नही रही। न तो मैंने काशी मे रहते हुए रामनगर की रामलीला देखी और न दिल्ली में रहते हुए रामलीला मैदान की रामलीला। किन्तु अब तक यदि मुझे दशहरे के वक्त गांव जाने का अवसर मिला तो मैं थुन्ही के मेले में अवश्य गया। न जाने क्या था उस मेले में जो मेरे भीतर आद्य बिंब की तरह समा गया और बार-बार मुझे अपनी ओर खींचता रहा। माटी के घुघुके और सिंहे, शरद की नयी सब्जियां, देहाती हलवाइयों की मिठाइयां, धराऊ साड़ियों की सुगंध, रामायण-गान की पवित्र धुन, देहाती आंखों की उदासी मे त्योहारों की चमक, राम लक्ष्मण, बन्दरों और राक्षसों की लड़ाई, रावण का कागज का पुतला और मेले के पास बहता हुआ नाला जिसे कभी हल कर, कभी नाव से पार कर मेले मे जाना होता था। नाले की मटमैली गंध—यही तो था थुन्हीं का मेला, लेकिन फिर भी न जाने क्यों इसमें मेरे लिए बेपनाह आकर्षण था। पर्व-त्योहार तो सभी जगह मिलते है, मौसम और ऋतुएं भी सभी जगह मिलती है, किन्तु अपने जाने-पहचाने और जिये हुए परिवेश में उनसे मिलने का सौन्दर्य और सुख कुछ और ही होता है, यह मैंने लगातार अनुभव किया है, शायद इसीलिए थुन्हीं का मेला दशहरे के समय मुझे पुकारता है।

जाड़े का मौसम आता था। हम लोग छुट्टियों मे दिन को गंगा के कछार मे चले जाते थे। बी० एच० यू० के प्राचीर से आधे मील की दूरी पर गंगा बहती है। इस दूरी मे रबी की फसलें अंटी पड़ी होती थी। उनके बीच घूमते थे, खो जाते थे, निकलते थे और अपने गांव के खेतों से जुड़े होने का अहसास जिन्दा किये रहते थे, कभी गंगा के किनारे बैठकर उसकी स्वच्छ धारा को निहारते थे और उसके ऊपर से आने वाली हवा के स्पर्श मे भीगते रहते थे। जाड़े की धूप गंगा और खेतों पर फैलकर उष्मा झरती थी, जिसे अपने में समेटते हुए हम छात्रावास को लौट आते थे।

फिर आती थी मेरी प्रियतम ऋतु वसंत ऋतु। सुबह-सुबह बोटानिकल गार्डन निकल जाना था, वहां देर तक घूमना था। सहज वन का आभास देने वाला यह उपवन वसन्त के रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्वर का पूरा अनुभव उतार देता था। महिला छात्रावास मे घूमने आने वाली छात्राएं वसंत मे जाग्रत् रोमानी कल्पनाओं को स्पंदित करती थीं। कभी कभी तिजहर को खेतों की ओर निकल जाता था और उनकी वासंती रंगमयता से सघन हो उठता था। फागुनी हवा के अल्हड़ झोंके फसलों को छेड़ते हुए, स्वयं में बजते हुए दिगंतों तक चले जाते थे, पत्ते उड़ते हुए एक विषण्ण संगीत की तरह चारों ओर फैल जाते थे पेड़ों की डालियां नंगी होती जाती थीं और उनके भीतर से फूटती हुई नयी आभा चमकने लगती थी और एक दिन लाल-लाल किसलय उन पर लद जाते थे। फागुन और वसंत पर मैंने कई कविताएं इस वातावरण में लिखी जो मुझे आज भी बहुत प्रिय हैं।

बी० एच० यू० और बनारस की होली की उमंग का क्या कहना ? हर व्यक्ति मस्ती में होता था। कुछ दिन पहले से ही वातावरण हुड़दंग और रंग से भर जाता था। काशी के कुछ पत्रकार और साहित्यकार इस अवसर पर अश्लील सचित्र साहित्य निकालने के लिए प्रख्यात थे। बी० एच० यू० में लड़कियों का बाहर निकलना कम हो जाता था। होलिका दहन के दिन शाम को डा० राजबली पांडेय के सभापतित्व में ऊपर की मंजिल के बरामदे में गोष्ठी जमती थी जिसमें हास्य, व्यंग्य, कविता-पाठ, गीत आदि का उन्मुक्त कार्यक्रम चलता था। नीचे हॉस्टल के ग्राउंड में हॉस्टल के अनेक छात्र नाचते, गाते, बजाते थे। मुझे याद है आज युवा तुर्क के रूप में प्रख्यात नेता रामधन पांव में घुंघरू बांधकर नाचते थे। वे कैसा नाचते रहे होंगे, आप अनुमान कर सकते हैं। रामधन मुझसे एक साल आगे थे और बिड़ला छात्रावास के मेरे ही विंग में रहते थे। मस्त व्यक्ति थे, हम सबके दोस्त थे। वे हमेशा सौ-दो सौ मीटर की दौड़ में भाग लेते थे और सबसे पीछे पहुंचते थे। उनके लिए हमारे एक मित्र रमेशचन्द्र अस्थाना का रिमार्क था कि रामधन सौ-दो सौ मीटर दौड़ के लिए नहीं हैं, वे बहुत लंबी दौड के लिए है। उनमे त्वरा नही है किन्तु अनथकता है। उनकी सांस नहीं फूलती, अतः लंबी दौड़ में वे अवश्य विजयी होंगे। विजय हुए कि नही किन्तु इतना सत्य है कि रामधन लंबी दौड़ में लगातार दौड़ रहे है।

होली की बात करते-करते मैं कहां चला गया ? हां, रात गहमागहमी में बीतती थी और सुबह की प्रतीक्षा रहती थी। वैसे तो शरारत सबके साथ होती थी, किन्तु शरारतियों की दृष्टि कुछ विशेष लोगों पर ज्यादा टिकी होती थी। भगतसिंह भी उनका निशाना बनते थे। पिछले साल तो वे शहर चले गये थे। इस साल उनका कमरा मेरी बगल मे था। उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे कमरे में बन्द करके बाहर से ताला मार दो और कह दो कि वे शहर चल गये है। मैंने ऐसा ही किया। लड़के बार-बार उन्हें पूछते हुए आये, मैंने कहा कि वे बाहर गये हैं, किन्तु उन्हें विश्वास नही होता था। लड़के ताला खटखटा-खटखटाकर चले जाते थे लेकिन करते क्या ?

उस दिन का एक विशेष खेल होता था हौज में लड़कों को पटकना। छात्रावास के सामने फुहारा लगा था। उसके पानी में रंग घोल दिया जाता था और लड़के किसी लड़के को टांगकर लाते थे और उसी में पटक देते थे। कोई कहता कि भाई, मैं स्वयं कूद रहा हूं, आप मुझे छोड़िए, किन्तु जो मजा उठाकर फेंकने में है वह कूदने में कहां ? कोई भेदभाव नही—मुसलमान, ईसाई, देशी-विदेशी का कोई अंतर नहीं, सभी होली के रंग में खुशी-खुशी शरीक होते थे। सभी इसके कीचड़ को भी मानवीय उमंग का प्रसाद मानकर अंगीकार करते थे। इस खेल के बाद लड़के झुंड के झुंड प्रोफेसरो के यहां निकलते थे और प्रोफेसर भी उन्मुक्त भाव से इनसे मिलते थे, मिठाइयां खिलाते थे और फिर दोपहर को मेस महाराजों के प्रसादस्वरूप फीस्ट मिलता था।

शाम को हम लोग शहर में निकलते थे। गोदौलिया, दशाश्वमेध घाट, विश्वनाथ गली, चौक, मैदागिन तक जैसे भीड़ ही भीड़। रंग उड़ाती, हंसी-ठट्ठे करती, अपने लोगों से मिलती, हुड़दंग मचाती भीड़ ही भीड़। उसी भीड़ में अश्लील साहित्य भी

बंटता हुआ नजर आता । काशी के ठेठ साहित्यकार इस भीड़ में डकारते दिखाई पड़ते ।

बनारस की उमंग का क्या कहना ? होली तो चली गयी लेकिन बनारस की मस्ती तो बनी हुई है । उसे देखकर लगता है कि होली कुछ दिन और बनी रहे । और जगहों पर होली मस्ती के शिखर पर पहुंचकर दूसरे दिन एकाएक ढेर सारा खालीपन छोड़ जाती है, किन्तु बनारस वाले उसे एकाएक नहीं जाने देते, उसके प्रभाव को अगले मगल (बुढ़वा मगल) तक खीच ले जाते है और इस तरह उनका नशा धीरे-धीरे उतरता है ।

लेकिन छात्रों का नशा होली के साथ ही उतर जाता था । परीक्षा पास होनी थी । कई बार तो परीक्षा की निकटता के कारण ठीक मे होली का नशा चढ़ता भी नही था । होली है इसलिए एक दिन इसके साथ हो लेना चाहिए, इसी भाव मे विद्यार्थी जुड़ जाते थे और होली समाप्त होते ही पुस्तकों म धस जाते थे । चैत लगता था, उष्मा तेज होने लगती थी, हवा गरमाने लगती थी, लेकिन सुबहें और शामें और रातें प्यारी होती थी चार बजे राम के कमरे मे बाहर निकलकर शिवसागर मिश्र खुमारी-भरे स्वर मे गाते थ—

> सेजिया से सैया रुसि गइले हो कोइलरि
> तोरी मीठी बोलिया

चैत की अलसाई सुबह मे उनकी अलसाई हुई आवाज मे बहता गीत मुझे जगा देता । एक तरह मे शिवसागर जी मेरे लिए एलार्म घडी बन गये थे । उठकर पढता था, फिर फ्रेश होकर थोडा घूमने निकल जाता था । चैत की सुबह की ठंडी-ठंडी सुगंधित हवा, पेड़ो के नगेपन को फोडकर उगते हुए किसलय, फूलो स लदा हुआ बोटानिकल गार्डन, किसी कुज म कूकती हुई कोयल, ये सब मुझे पुकारत थे, मै इनमे खो जाता था । किन्तु शीघ्र ही किताबे बुलाने लगती थी और मै अनचाहे इस संसार मे दूसरे ससार की ओर खिच चलता था । किताबों और प्रकृति का द्वन्द्व चलता ही रहता था । अब तक चला आ रहा है । बहुत-से विद्यार्थियों मे पाला पड़ा जो किताबों की दुनिया से बाहर निकलते ही नही थे । य वे थे जो या तो परम विद्वान् बनने की प्रक्रिया में थे या वे थे जो पढ़ने के बावजूद फेल होते रहते थे या गिरते-पडते पास होते थे ।

मैं और मेरे जैसे बहुत-से लोग किताबों की दुनिया मे होकर भी उसमें बंद नहीं थे । इसलिए दिन-भर के अध्ययन के बाद शाम को घूमने निकल जाते थे । मैं या तो खेतों की ओर निकल जाता या गंगा की ओर । ज्यों-ज्यों गर्मी बढ़ती जाती त्यों-त्यों गंगा-तट की शाम प्यारी होती जाती । बी० एच० यू० से गंगा-तट तक का रास्ता आने-जाने वालों से भरा ही होता । अंधकार झरने लगता और गंगा तथा उसके आस-पास का परिवेश स्वप्नलोक-सा फैल जाता—विशेषतया चांदनी रात में । उस पार रामनगर के किले से प्रकाश झलमलाता रहता और उसके प्रतिबिंब गंगा-जल मे तैरते रहते । पास में और दूर नावों की गतियां रह-रहकर बजती रहतीं, नाव पर से कोई गीत उठता रहता ।

पास से पकी फसलों और आम तथा महुए की सम्मिलित मादक गंध आवारा की तरह भटकती रहती। कुछ दक्षिण भारतीय विद्यार्थी थे जो नियमित रूप से यहां आते थे और तट की रेत पर बैठकर अपने दक्षिणी स्वर के आरोह-अवरोह के साथ कोई गीत गाते रहते और वह गीत कांपता हुआ आस-पास भटकता रहता। फिर पुस्तकों की याद आती और मैं छात्रावास लौट आता। एम० ए० तक यही क्रम चलता रहा।

25

सब कुछ पूर्ववत् चलता रहा। दूसरे वर्ष में कुछ नये साथी बने। साहित्यिक माहौल गहराता जा रहा था। नामवर सिंह भी बी० एच० यू० के छात्र हो गये थे। वे बी० ए० प्रथम वर्ष में थे। एक अच्छे विद्यार्थी और साहित्यधर्मी के रूप मे नामवर सिंह अच्छी तरह जाने जाने लगे थे। त्रिलोचन भी प्राय: हमारे छात्रावास आते थे। ठाकुर प्रसाद सिंह थे ही। नरेश मेहता एम० ए० कर रहे थे या कर चुके थे। हरिमोहन भी थे। कहीं-न-कही काव्य-गोष्ठियां होती ही रहती थी इसलिए शैक्षिक जीवन की एकरसता टूटती रहती थी और धीरे-धीरे हमारी दुनिया बड़ी होती जा रही थी। नामवर सिंह एक लॉज में रहते थे। मेरी-उनकी यारी नही थी किन्तु भेट तो होती ही रहती थी—गोष्ठियों में, आर्ट्स फैकल्टी के अहाते में और कभी-कभी यों भी। एकाध बार मैं उनके लॉज पर भी गया। नामवर सिंह शंभूनाथ सिंह के बहुत नजदीक थे और त्रिलोचन जी, सुमन जी आदि के भी स्नेह-भाजन थे। नामवर सिंह से मैं जुडना चाहता था और वे भी अपनी सहृदयता का परिचय देते थे, किन्तु कोई-न-कोई बात थी जो एक अंतराल कायम रखती थी। नामवर जी बहुत विनोदी और खुशमिजाज व्यक्ति है, तब भी थे, उनके साथ रहिए तो समय हलका हो जाता है। वे आपकी समस्याओं में रुचि भी लेंगे। किन्तु मुझे हमेशा महसूस हुआ कि यह खुलापन, यह खुशमिजाजी जितनी बाहरी है उतनी भीतरी नही। वे भीतर से काफी गरिष्ठ और बन्द हैं। उन्हें समझ पाना आसान नहीं होता। उनकी दोस्ती भी साहित्यिक या सामाजिक महत्ता के अनुपात में कमोबेश होती है। मेरे लिए किसी की भी दोस्ती की यह अवस्था कभी भी प्रीतिकर नही रही। मैंने किसी को साहित्यिक-सामाजिक महत्ता की नाप-तौल मे दोस्ती नही दी और न की। इसलिए मुझे जहां लगता है कि यह व्यक्ति मुझे छोटा समझकर दोस्ती का अनुपात कम कर रहा है वहां मैं नहीं जुड़ता या सामान्य परिचय के स्तर तक ही अपने को सीमित रखता हूं।

मैं नामवर जी की शैक्षिक और साहित्यिक प्रतिभा की कद्र करता था और उनसे जुड़ने की भी लालसा मेरे मन में थी, किन्तु समानधर्मा की हैसियत से। पर नामवर जी हमेशा अपनी प्रतिभा के प्रति जागरूक थे। इसका दूसरों को भान कराते रहते थे। उन

दिनों हम लोग कुछ नया लिखते थे तो एक-दूसरे को सुनाते थे। नया सुनाने या सुनने एक-दूसरे के यहां जाया करते थे। मैं भी अपनी नयी कविता लेकर दो-एक बार नामवर जी के लॉज पर गया। जब कभी गया, नामवर जी कुछ करते रहते, जाहिर है कुछ करते रहेंगे। हर बार कहते —"जरा बैठिए, यह पूरा कर लें।" वे उसे पूरा करते और मैं (औरों का भी यह अनुभव था) चुपचाप कुछ देर बैठा रहता और सोचता कि क्या नामवर सिंह मेरे कमरे मे जायें तो मैं उन्हें इस तरह बिठाकर अपने काम में उलझा रहूंगा ? अपने वैशिष्ट्य का अहसास कराने के बाद वे मुडते थे, फिर बातें करते थे, कविताएं सुनते-सुनाते थे, कविताओं पर अपनी राय देते थे। संभवत: उसी वर्ष लखनऊ मे एक अंतर्महाविद्यालय कविता प्रतियोगिता हुई। बी० एच० यू० से हिन्दी विभाग ने नामवर जी को और मुझे भेजा। यह देखकर प्रभावित हुआ कि नामवर जी रास्ते-भर 'तार सप्तक' पढते रहे। उस समय तक तो हमें न प्रयोगवाद का कोई ज्ञान था, न ठीक-ठीक परिचय ही और 'तार सप्तक' की कविताए पढ़ना-समझना तब तक अपनी रुचि में नही उतर सका था, किन्तु नामवर जी उसमें रमे रहे। और मैं मानता हूं कि उसे समझते भी रहे होंगे। लखनऊ विश्वविद्यालय की कविता प्रतियोगिता के अध्यक्ष डा० केसरीनारायण शुक्ल थे। निर्णायक थे विश्वविद्यालय के ही दो प्रवक्ता। हमदोनो ने अपनी-अपनी अति चर्चित कविताए सुनायी—नामवर जी ने 'झुपुर-झुपुर धान के समुद्र मे हलर-हलर सुनहला विहान' सुनाया और मैने 'जिन्दगी की राह पर पदचिह्न भरता जा रहा हूं' कविता सुनायी। कविता पढते समय न मैंने कोई नाटक किया न नामवर जी ने। नाटक करना अपनी रुचि और सामर्थ्य मे नही है। किन्तु कई कवियों ने खूब हाव-भाव मे कविताए पढी। हावभाव कविता मे भी था और पढने के ढंग मे भी। एक कवि का हावभाव तो इतना अद्भुत था कि पूरा श्रोता-वर्ग अभिभूत हो उठा। फिर भी उस समय तक मुझे विश्वास था, विश्वविद्यालय के प्रवक्ता काफी समझदार होते है और इन कवियो के हावभाव तथा जनता पर पडे उनके प्रभाव के बावजूद उनसे प्रभावित नही होगे। हमे अपनी कविताओं की शक्ति पर भरोसा था; किन्तु वही हुआ जो होता आया है और हो रहा है। उस चटक-मटक वाले कवि को पुरस्कार मिल गया और उसी के कालेज को ट्राफी भी मिली।

मै बहुत उदास हो गया किन्तु नामवर जी पर कोई असर नही पड़ा। उन्होंने हंसकर कहा— "इन लोगों के निर्णय से हमारी कविताए छोटी नहीं हो जाएंगी और यह सब होता रहता है, परेशान न होइए।" सचमुच मुझे बहुत राहत मिली। नामवर जी का यह परिचय मुझे लगातार मिलता रहा। इन्हें बाहर से उद्विग्न कम देखा। जब वे नौकरी में नही थे और उन पर लगातार प्रहार हो रहे थे, तब भी उन्हें बाहर से उत्तेजित नही देखा। ऐसा नही है कि वे उद्विग्न या उत्तेजित नही होते होंगे, होते होंगे, लेकिन या तो उसे पी जाते हैं या कुछ गिने-चुने लोगों के सामने ही उसे खोलते हैं। किन्तु मैं बाहर-भीतर में इतनी दूरी बनाये नहीं रख पाता। मैं भावुक हूं और मेरी भावुकता मेरे व्यवहार में झलकती रहती है। भावुकता रूमानियत के रूप मे देखी-सुनी जाती है। यानी जो भावुक है वह रूमानी है, किन्तु मैं इसे मान नहीं पाता। रूमानियत एक दृष्टि

है जो अंततोगत्वा वस्तुगत सत्य पर आत्मगत सत्य को तरजीह देती है। भावुकता भीतर के वेग को दमित न करके बाहर झलकने देने की छूट का नाम है। वह बीच की यात्रा है जिसका समापन वस्तुवादी सत्य मे हो सकता है, किन्तु रूमानियत बीच की कठोर यथार्थवादी यात्रा से गुजरते हुए भी आत्मवादी परिणति में अपने को विसर्जित कर सकती है। नामवर जी वास्तव में क्या है इसे मैं तो क्या पूरा हिन्दी-संसार अभी तक ठीक से नहीं जान सका, किन्तु उनका सहपाठी और साथी होने के कारण इतना जरूर जानता हूं कि वे बाहर मे चाहे जितने वस्तुवादी हो, भीतर मे भाववादी है। यही उनकी सबसे बडी शक्ति है और यही उनकी विडम्बना भी।

यह वर्ष बहुत सनसनीखेज रहा। देश के बंटवारे के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों का अपने-अपने घरो से पलायन और दूसरे स्थान पर शरणार्थी बनकर जाना अपने समय की बहुत बडी विडंबना थी। यह क्रम तो आजादी-प्राप्ति के बाद से ही शुरू हो गया था किन्तु धीरे-धीरे सघन होता गया। साम्प्रदायिक उपद्रव तो सघन होता ही गया, शरणार्थियों की समस्या ने इसे और भी जटिल और कुरूप कर दिया। झुंड के झुंड शरणार्थी आते थे और जिस किसी शहर मे गुंजाइश होती थी, समा जाते थे अपने सताये हुए भाइयों के लिए लोगों की हमदर्दी के स्रोत खुल जाते थे। सरकार और समाज-सेवी संस्थाएं दोनो इनकी रोटी और आवास की व्यवस्था मे ही लगी हुई थी। शहर मे आने वाले हमारे कुछ सहपाठी शिविरों मे जाते थे और उनका हालचाल बताते थे। उनमे से कई तो उनकी बहू-बेटियो की कथा अश्लील स्वर में सुनाते थे। वास्तव में पंजाब और सिंध की औरतें पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार की औरतों की अपेक्षा यों ही अधिक मुक्त और खुली होती है, दूसरे इस मुसीबत न उन्हें और भी बेपरदा कर दिया था। पूर्वी प्रदेशों की घुटी हुई मानसिकता के लिए यह एक स्पृहा की वस्तु बन गयी थी। हॉस्टल मे कुछ मनचले छात्र इस दृश्य का रस लेने के लिए शिविरों मे जाते थे। किन्तु परिदृश्य का यह केवल एक और बहुत नगण्य पहलू है। वास्तविकता यही थी कि इन शरणार्थियो के आगमन और उनकी व्यथा-कथा से पूरा हिन्दू-समाज अत्यंत क्षुब्ध, दुखी और उत्तेजित हो गया था। कांग्रेस की सभाएं होती थी। छोटे-बडे नेता हिन्दू-मुसलमानों के बीच सौमनस्य पैदा करने वाले भाषण देते थे. इस संकट की घड़ी मे संयम बरतने की शिक्षा देते थे, किन्तु कोई कैसे संयम बरते! हिंदू महासभा और आर० एस० एस० के नेता आते थे, उनमें विश्वासी छात्र हॉस्टल में या हॉस्टल के बाहर उनकी सभाएं आयोजित करते थे और वे हिन्दुओं के साथ होने वाले अत्याचारों का बहुत उत्तेजक चित्र खींचते थे और कांग्रेस की मुसलिम तुष्टिकारी नीति की निन्दा करते थे। सुनकर मन दहशत से भर जाता था, जी सनसना उठता था और अत्याचार के खिलाफ अत्याचार करने की अंधी दौड़ में पड़ने के लिए उत्तेजित हो उठता था। वैसे भी अफवाहें खूब गरम थी। पलभर में ही अफवाहों की जलती हुई आंधियां चारो ओर फैल जाती थीं और उनके माध्यम से कटे हुए हाथों, पांवों, मुंडों से भरी हुई रेलगाड़ियां दहाड़ती हुई पूरे वातावरण में छितरा जाती थी। भालों की नोक पर जूझते हुए आदमी, उनके सामने भोगी और फिर काटी जाती हुई उनके घरों की औरतें, जलाये जाते हुए उनके घर साकार हो उठते। दहशत से कांपता,

थरथराता, अपमान से बेबस जलता और हाहाकारों से भरा पूरा वातावरण हमारे आस-पास छा जाता और लोग बेचैन हो जाते। बदले में कुछ कर गुजरने का आक्रोश उठता। विश्वविद्यालय का परिवेश आखिर विश्वविद्यालय का परिवेश है, उसमें प्रोफेसर और विद्यासाधक छात्र रहते हैं इसलिए वहां मारकाट का दृश्य तो नहीं उपस्थित हो सकता और प्रायः यह भी संभव नहीं कि छात्र शहर मे घूम-घूमकर दूसरे संप्रदायवालो को काटते फिरें, लेकिन माहौल से बचना भी तो संभव नहीं। वातावरण और भाषण जो उत्तेजना फैला रहे थे उसे बहुत विवेकपूर्वक पी जाना और सत्य-असत्य का ठंडा निर्णय करना भी तो संभव नहीं। इसलिए लोग जहां अपने संप्रदाय के लोगो की दुर्दशा और अपमान से आहत होते थे, वही बदले की भावना से किये गये अपने संप्रदाय के कृत्यो से राहत अनुभव करते थे। कुछ ही लोग ऐसे थे जो विशेष सांप्रदायिक चिंतन के तहत जानबूझकर, सांप्रदायिक सोच को हवा दे रहे थे, बाकी तो समकालीन वातावरण मे सहज ही क्षुब्ध हो रहे थे। इस वातावरण मे भी कांग्रेसी, समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधारा के लोग इस उत्तेजना को शान्त कर सांप्रदायिक सौमनस्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

आजादी की प्राप्ति का उत्साह अभी थमा भी नहीं था कि विभाजन का यह कोलाहल पूरे वातावरण मे छा गया। गांधी जी नोआखली मे कूद पड़े थे। नोआखली में उनका जाना निश्चित प्रभाव पैदा कर रहा था। लुटकर, पिटकर आए हुए हिन्दू और सांप्रदायिक स्तर पर उनका हित चाहने वाले नेता गांधी जी के मुसलिम बचाव में खुश नहीं थे। यही स्थिति मुसलमानो की थी। लेकिन सेक्यूलर हिन्दू और मुसलमान एक ओर गांधी जी के प्रयत्नों से साम्प्रदायिक सौहार्द की संभावना से राहत महसूस कर रहे थे। दूसरी ओर गांधी जी की जान की खैर मना रहे थे। पूरा देश स्तब्ध था कि गांधी जी अकेले ही सांप्रदायिक दावानल मे एकता और भाईचारे का अलख जगाते घूम रहे थे। उन्हें कुछ हो गया तो? भयानक कोलाहल के बीच खोयी हुई मानवता को टेरती हुई अकेली आवाज कैसी लग रही होगी!

गांधी जी नोआखली मे अपना काम कर सकुशल निकल आये थे। वहां के हिन्दुओं और मुसलमानों के तने हुए भय को हलका कर आये थे और देश में स्थिति थोडी-थोडी संभली हुई लग रही थी। गांधी का राज-काज से कोई सम्बन्ध था नहीं, वे तो देश के बेताज के बादशाह थे, मानवता के सम्राट थे, इसलिए सामाजिक और मानवीय सेवा में लगे हुए थे। 30 जनवरी, '48 को मैं नामवर जी के यहा बैठा साहित्य-चर्चा कर रहा था कि एक मित्र हड़बड़ाये हुए आये, बोले—"गांधी जी शाट डेड।" हम दोनों हड़बड़ाकर खड़े हो गये।

"हां, अभी रेडियो से समाचार आया है।"

"हे भगवान्, यह क्या हुआ!" हमारी आत्मा चिल्ला उठी। मैं नामवर जी के लॉज से निकलकर अपने छात्रावास की ओर चला। लोग सड़कों पर निकल आए थे। बुक्का मारकर रो रहे थे, छाती पीट रहे थे, 'कहां जायें, क्या करें' के भाव से इधर-उधर चक्कर काट रहे थे। मैं रोता-कलपता छात्रावास पहुंचा। छात्रावास में वही आलम था।

एक रेडियो को घेरकर हम लोग खड़े हो गये। नेहरू जी भरे गले से गांधी जी के बारे में बोल रहे थे और ऐसे विकट समय मे संयम बनाये रखने के लिए देशवासियों से अपील कर रहे थे। रेडियो पर प्रार्थना की धुन रो रही थी और बीच-बीच में शोकसूचक सूचनाएं आ रही थीं। देश-विदेश के लोगो की समवेदना प्रसारित हो रही थी। लगता था जैसे हम रो रहे हैं, शहर रो रहा है, देश रो रहा है, पूरा विश्व रो रहा है, धरती रो रही है, आकाश रो रहा है, सारी दिशाएं रो रही हैं। शोक का इतना व्यापक और गहरा हाहाकार और हाहाकार का सन्नाटा शायद ही किसी समय ने सुना हो।

रात बीती। सबेरा हुआ। मैं घूमने गया तो देखता हू कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखा में भाग लेने वाले लड़के बोटानिकल गार्डन से भागे जा रहे है। वे छिप रहे हैं, भाग रहे है। मै कुछ समझा नही। छात्रावास लौटकर आया तो देखा—कोलाहल मचा है। उत्तेजित लड़के शाखा वाले लड़को के ताले तोड़ रहे है, उन्हें खोज रहे है। अब मालूम हुआ कि गाधी के हत्यारे गौड़से की सजा इन्हे भोगनी पड़ रही है। गौडसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का व्यक्ति माना जा रहा है और संघ को ही गाधी जी का हत्यारा माना जा रहा है। संघ ने ही बार-बार यह बात फैलायी कि गांधी जी मुसलमानो को तुष्ट करने के लिए हिन्दुओं की उपेक्षा कर रहे है, बल्कि हिन्दुओ के कटने-मरने की उन्हें चिन्ता नही है, मुसलमानों की चिन्ता उन्हें बहुत है। काग्रेसियो के कारण ही देश का बंटवारा हुआ और हिन्दुओ का सर्वनाश हुआ। इनके मारे और विशेषतया गांधी के मारे हिन्दू लुट रहे है, दब रहे है, अपने अधिकार खो रहे है, अपने प्रति किये गये अत्याचारो का बदला भी नही ले पा रहे है। इसी मोर्चे के प्रतिनिधि गौडसे ने गाधी जी की हत्या कर दी। इसलिए लोग उत्तेजित है और शाखा वालो को खदेड़ रहे है, उनके सामान नष्ट कर रहे हैं। हमारे विग में भी शाखा के कुछ लोग रहते थे। उनके कमरे तोड़े जा रहे थे। तब तक डा० राजबली पाडेय आये और डांटकर शान्त किया। सारे के सारे वार्डन सावधान हो गये थे और अपने-अपने ब्लाक की अशान्ति पर नियंत्रण पाने की कोशिश कर रहे थे।

पूरा वातावरण शोक और अशांति से भरा था। शोक-सभाएं हो रही थी। मैने एक कविता लिखी—

रात घनी है बादल छाये, कांप रहे है पंथी के पग

कई शोक-सभाओं मे यह कविता सुनाई। लोग द्रवित हुए। पत्र-पत्रिकाए शोक-कविताओं से भर गयी थी। मेरी कविता भी आज या समाज मे छपी थी। संगम (इलाहाबाद) मे गांधी जी की अस्थियों का विसर्जन होना था। यह तय हुआ कि बी० एच० यू० के प्रोफेसर और छात्र भारी संख्या में अस्थि-विसर्जन-यात्रा मे सम्मिलित हों। यह भी तय हुआ कि सभी लोग सफेद खादी के कुर्ते-पायजामे मे चलेगे। मैने भी नया कुर्ता-पायजामा सिलवाया। अस्थि-विसर्जन की सुबह बी० एच० यू० ससार एक स्पेशल गाड़ी से इलाहाबाद स्टेशन पर पहुंचा। जाड़े की कड़कड़ाती ठडक में महज कुर्ता-पायजामा पहने छात्रों की भीड़ उस स्थल की ओर रवाना हुई जहां से अस्थि-कलश की यात्रा शुरू होनी

थी। लोग ठंडक मे कांप रहे थे, दूसरी ओर इलाहाबाद के लड़के ऊनी कोट-पेंट में थे और वे हमारी मूर्खता पर हंस रहे थे। मुझे भी लग रहा था कि अधिकारी प्रोफेसरों ने इस वेश मे आने के लिए बाध्य करके व्यवहार-बुद्धि का नही, अति आदर्शवादिता का परिचय दिया है। वैसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय और बी० एच० यू० के स्वभाव में यह अंतर रहा है। एक व्यवहारवादी रहा है, दूसरा आदर्शवादी।

अस्थि-कलश-यात्रा जहा से शुरू होनी थी वहां हम पहुच गये। भीड तो थी किन्तु अभी बहुत भीड नही थी। अतः हमने आसानी से देख लिया कि एक रथ पर फूलों के बीच अस्थि-कलश रखा हुआ है—उदास खोये-खोये से सरदार वल्लभ भाई पटेल एक ओर बैठे हुए है। मुझे ठीक-ठीक याद नही कि और कौन-कौन-से नेता रथ पर बैठे हुए थे। हा, इन्दिरा जी भी एक ओर बैठी थी। नेहरू जी रथ के अगले भाग मे खडे थे। रथ चल पडा। हम लोग भी साथ-साथ चले। रास्ते मे रोते-सुबकते लोग खडे थे। रथ आते ही वे यात्रा मे सम्मिलित हो जाते थे। अतः भीड निरतर बढ़ती गई। नेहरू जी अपने स्वभाव के अनुसार रथ पर से उतर आते थे और तेज-तेज पैदल चलने लगते थे और जनता में एक गति पैदा हो जाती थी। नेहरू जी के चेहरे पर भाव आते थे, जाते थे, किन्तु सरदार पटेल अत्यत स्तब्ध भाव से एक स्थिति में बैठे थे। लगता था उनका चेहरा जड़ हो गया है। आकाश मे हेलीकाप्टर उड रहे थे और फूल बरसा रहे थे। रथ त्रिवेणी पहुच गया। रथ ऐसा था जो पानी मे भी तैर सकता था अतः वह त्रिवेणी के जल मे उतर गया और तैरने लगा। गाधी जी की अस्थिया फूलो के साथ गगा जी मे प्रवाहित कर दी गईं। अस्थिया तो डूब गईं लेकिन फूल तैरते रहे। तैरते फूल त्रिवेणी की लहरों मे एक कविता रच रहे थे। वे मानो कह रहे थे कि आदमी को तो मरना ही होता है, उसके शरीर का अतिम अवशेष भी काल के प्रवाह मे डूब जाता है, किन्तु वह जो फूल छोड जाता है वह प्रवाह के ऊपर तैरता रहता है, अपने रग और खुशबू मे प्रवाह को भी रग देता है। मुझे लगता था कि इस अवसाद की बेला मे भी चारो ओर फूल खिले हुए है। साम्प्रदायिक विष से भरे काटो मे हंसते हुए फूल···

भीड बिखरने लगी थी। लौटकर गाडी पकडनी थी। मेरे साथी भी मुझसे छूट गये थे। एकाएक भगतसिंह मिले, बताया—"अच्छे मिल गये, मै तो परेशान था कि कैसे लौटूगा।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"किसी ने मेरी जेब काट ली।"

"हे राम, ऐसे मौको पर भी लोग अपनी हैवानियत से बाज नही आते? क्या इस महापुरुष के बलिदान की यही पूजा है?"

हम लोग लौट आये थके-थके से, अवसादग्रस्त से। एक युग समाप्त हो गया था। उसकी उदासी वातावरण मे व्याप्त थी—महाभारत की अंतिम सांझ की तरह।

26

इंटरमीडिएट की परीक्षा समाप्त हो गई। परीक्षा समाप्त होते ही मुझे घर पहुंचना था। पिछले साल एक घटना घट गई थी। मैं इंटर प्रथम वर्ष की परीक्षा दे रहा था तो गांव के किसी व्यक्ति का (घर के किसी व्यक्ति का नहीं) पत्र मिला कि मेरे गाव में प्लेग आया था और मेरी पत्नी चल बसीं। भगतसिंह ने सुना तो वे बहुत भावुक हो गये। वे एक मित्र की हैसियत से मुझे समझाने लगे, सांत्वना देने लगे और मैं भी उनकी सांत्वना से और भावुक हो गया, किन्तु सच बात तो यह थी कि इस पत्नी से मेरा कोई निकट का रागात्मक सम्बन्ध ही नही बनने पाया था, कोई साहचर्य-मूलक कथा ही नही बनने पाई थी, जिसे मैं गहरी तड़प के साथ याद करता। उस अपढ़ देहाती औरत का मैंने मुंह भी ठीक से नही देखा था, इसलिए पत्नी के रूप में जुड़ी एक औरत के चले जाने का सन्नाटा और अवसाद तो मन में घिरा था, किन्तु पत्नी के साथ जुड़ी अनेक प्रीति-मूलक सहयात्राओं की जो दुनिया बनती है, उसके अभाव का जो दर्द सालता है, जो असीम खालीपन भर जाता है, उसका अनुभव नहीं हो रहा था। पिछले वर्ष परीक्षा देकर घर गया, तभी लड़कियों के पिताओं का आना-जाना शुरू हो गया। और सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसके क्रिया-कर्म के दिन (जिसमें मैं नहीं पहुंच पाया था) उसके भाई उससे छोटी बहन के लिए बात चलाने लगे। भइया ने उन्हें डांटकर भगा दिया था—"शरम नही आती, तुम्हारी बहन को मरे अभी कुल बारह दिन हुए है और तुम शादी की बात करने लगे·!"

खैर, वे तो चले गये (और चले कहां गये, भिन्न-भिन्न स्रोतों से दबाव डालते, डलवाते रहे) किन्तु अनेक लोगों का तांता शुरू हो गया। हमने तय किया था कि मृत्यु के साल-भर बाद ही दूसरा विवाह होगा। पहली शादी हुई तो मैं अबोध था और असहाय भी। गांव-घर के लोग मिल-जुलकर कोई शादी तय कर देते थे और नाबालिग बच्चे को उनका निर्णय ओढ़ने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं होता था। उसके मन में यह भाव भी नहीं होता था कि पत्नी पढ़ी-लिखी हो या अपढ़ हो। छोटी उम्र में छोटी कक्षा में पढ़ता हुआ लड़का पत्नी की शिक्षा-अशिक्षा के बारे में सोच भी कैसे सकता था। अतः पहली बार जो कुछ हुआ उसमें मेरी इच्छा-अनिच्छा कतई शामिल नहीं थी किन्तु इस बार तो मैं हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र था, चौबीस-पचीस साल का युवक—साहित्य की दुनिया में कुछ कर गुजरने की आकांक्षा और सुंदर भविष्य का सपना पालता एक युवक, जिसके मन में नारी की एक महकती हुई तस्वीर थी, एक ऐसी नारी की जो सुंदर हो, शिक्षित हो, शीलवान हो और आधुनिक जीवन-यात्रा में सही रूप में सहयात्रिणी बन सकती हो। घर में मेरी अस्मिता बन गयी थी अतः मैं पूरी तौर पर अपनी पत्नी के चुनाव का निर्णय लेने की स्थिति में था। मेरे घरवालों ने मुझे पूरी छूट दे रखी थी।

नाते-रिश्ते के तमाम लोग आये और पारंपरिक रूप से दबाव डालते-डलवाते रहे, किन्तु गांव के बुजुर्गों को यह अहसास हो गया था कि मेरे मामले में दखल देना

बेकार होगा। इसलिए कोई दखल नहीं दे रहा था। बिड़ला छात्रावास में बहुत-से लोग आये किन्तु मैं उन्हें टालता गया। बहुत-से मित्रों की ओर से भी सम्बन्ध आये, किन्तु मैं उदासीन रहा। कारण यह था कि जिस तरह की लडकी (और केवल लडकी) चाहता था वह मिल गयी थी। मैं उसे नही जानता था, घर के लोगों ने भी उसे नहीं देखा-जाना था, किन्तु गोरखपुर में रहने वाले तमाम स्रोतों के लोगों ने उसके बारे में इतना बताया कि मुझे लगा इसे मैं बहुत पहले से जानता हूं और यही वह लडकी है जिसकी मुझे तलाश रही है। मालूम हुआ कि उसका नाम सरस्वती है और दर्जा सात की परीक्षा दी है। जो भी उसकी बात करता, यही कहता कि परिवार में तो कुछ नहीं रखा है किन्तु लड़की लाखों मे एक है। कपिलदेव गोरखपुर-निवास की प्रक्रिया मे उस लडकी के परिवार से परिचित थे। उन्होने भी जोरदार ताईद की। मैं गोरखपुर गया तो उन्होंने कहा कि चलो लडकी दिखा दें। मैंने इनकार किया। मेरे संस्कार यह गवारा नही करते थे। उन्होंने कहा—"कुछ नहीं, उसके मकान के सामने से गुजरते हैं, दिखाई पड गई तो ठीक नही तो कोई बात नही।" मै डरता-डरता उनके साथ हो लिया। मकान के सामने से गुजरे तो देखा कि उसके अहाते मे खाट पर एक लडकी बैठी हुई हंस रही थी। उसे देखते हुए आगे बढ गये। कपिलदेव ने कहा—"यही थी। कैसी लगी ?" मैंने कहा—"मेरी तो ठीक से नजर ही नही टिकी और इस तरह भला किसी को कोई कैसे देख सकता है ?"

यानी मै उसे सही अर्थों में देख नहीं सका, किन्तु तमाम लोगों की प्रशंसाओं की आखो मे देखकर उसे देख और पसंद कर लिया था और मेरे घरवालों को मेरी इस पसंद का ज्ञान हो चुका था इसलिए वे लोग भी लगभग मेरी शादी तय कर चुके थे। न जाने कैसे, क्यों लोगों को यह भ्रम हो गया कि मेरा प्रेम-विवाह होने जा रहा है। बिड़ला हॉस्टल में एक सज्जन मेरे एक मित्र के यहा आये। उनसे बोले कि—"रामदरश मिश्र की शादी के लिए आया हू"

"तब ?" मित्र बोले।

"तब क्या, सुना है वे प्रेम-विवाह कर रहे हैं। आप कुछ मेरी सहायता कीजिए।"

मित्र ने उन्हें डाटकर भगा दिया—"आप मुझसे उनका प्रेम-विवाह तोड़वाने आये है !"

शादी के बाद भी तमाम लोग यही कहते रहे कि यह प्रेम-विवाह था। यह प्रेम-विवाह तो नही था किन्तु विवाह-प्रेम अवश्य था। विवाह होने के बाद हमारा प्रेम लगातार बढ़ता ही गया है और मुझे अपने इस निर्णय पर सदा गर्व रहा कि मैं सामान्य घर की एक अच्छी-सी लडकी से विवाह करना चाहता हूं, अच्छे कहे जाने वाले घर की सामान्य लड़की से नहीं। और मैं इस निर्णय में बड़े-बड़े प्रलोभनों के सामने भी डिगा नहीं।

शादी तय हो गई। परीक्षा के दो दिन बाद तिलक का दिन रखा गया था और आठ-दस दिन बाद विवाह। मैं परीक्षा देकर घर जा रहा था। भाई साहब के आदेश

से तिलक के लिए कुछ फल वगैरह भी बनारस में खरीद लिए थे। जून के दिन थे। सवेरे चौरीचौरा स्टेशन पर गाड़ी पहुंची। घर में एक कहार सामान लेने के लिए आया हुआ था। स्टेशन से गांव तक की दूरी दस मील की है। स्टेशन से यात्रा शुरू करते ही मई की गर्मी से टकराने की प्रक्रिया शुरू हो गई। धीरे-धीरे गर्मी असह्य होती गई, लू के चांटे तेज होते गए, किन्तु मैं एक री में चलता गया बल्कि कहार पीछे छूट गया। एकाध जगह पानी पीने के सिवा मैं कहीं रुका नहीं, सोचा—अब इकट्ठे घर पर ही रुकूंगा। बीच में रुकने का मतलब था या तो बीच में दोपहर बिताकर फिर शाम को चलना या और अधिक गर्मी में घर पहुचना। एक बजे मैं घर पहुंचा। सुस्ताता चलता तो तीन बजे पहुंचता। पांच कोस की दूरी क्या चीज थी हम देहातियों के लिए और तिस पर मन में एक और ही हुलास था।

दूसरे दिन तिलक चढ़ गया और उसके पांच-छः दिन बाद शादी थी। घर चहल-पहल से भरा था। भइया पूरी तैयारी में लगे थे। तिलक के दूसरे दिन मुझे बुखार आ गया। सोचा, हरारत होगी। बुखार अपने-आप उतर जायेगा। लेकिन नहीं उतरा। लगा कि लू लग गई है। लू की देहाती दवा होने लगी। किसी ने भी इस बुखार को गंभीरता से नही लिया। तैयारी होती रही। हल्दी के दिन मुझे बुखार में ही हल्दी लगाने का रस्म पूरा किया गया। औरतें गा-बजा रही थीं और मैं भीतर-भीतर अन्यमनस्क था। योजना थी कि रात रहते ही बाराती गोरखपुर के लिए निकल जायेंगे। कहार, बाजे वाले भी घर पर ही रोक लिए गए थे कि बहुत सुबह ही अरिछन-परिछन हो जाएगा और हम लोग जल्दी निकलकर ठंडे में गोरखपुर पहुंच जायेंगे।

रात-भर औरतों का संगीत चलता रहा और बीमारी में ही मैं औरतों के शास्त्र की सारी औपचारिकताओं की लपेट में आता रहा। बाजे बजते रहे और मैं खाट पर पड़ा-पड़ा जागता रहा, देह में भयानक ऐंठन महसूस करता रहा। सुबह हुई, बाराती चले गए और अब मेरे तैयार होने की बारी थी। मैंने शिकायत की कि मैं बहुत बेचैनी महसूस कर रहा हूं। बुखार तो कल ही उतर गया था इसलिए सभी लोग निश्चित हो गए थे। मैं भी निश्चित था, किन्तु बुखार उतरने के बाद देह में जो भयानक पीड़ा हो रही थी, उसे तो मैं ही समझ सकता था। मैंने बताया कि मैं बहुत बेचैनी महसूस कर रहा हूं, तैयार होने की इच्छा नहीं हो रही है। मेरी छोटी बहन को पता नहीं क्या सूझा, वह सुबह के धुंधलके में लालटेन लाई और मेरे चेहरे को देखा और बुदबुदाई—"बड़ी माता (चेचक) लगती हैं।" सब लोग घबरा गये और मेरे शरीर का मुआइना होने लगा। पूरे शरीर में यहां-वहां दाने दिखाई पड़े। सुबह का प्रकाश फैल गया था और यह स्पष्ट हो गया था कि चेचक ही है।

माली जी शीतला माई के सेवक हैं। उनकी राय शीतला माई की राय मानी जाती है। माली जी बुलाये गये। उनसे पूछा गया कि क्या इस अवस्था में विवाह के लिए मुझे ले जाया जाय? माली जी ने शीतला माई का ध्यान धरने का कुछ अभिनय किया, फिर बोले—"हां, ले जाया जाय, मइया हुकुम दे रही हैं।"

मैं जोर से डपटा—"नहीं, तुम भागो यहां से, बड़े आये शीतला मइया के

सेवक। इस हालत में मैं शादी के लिए नहीं जा सकता और न कर सकता हूं।"

भइया, मां सबकी यही राय हुई कि इस हालत मे ले जाना खतरनाक होगा—सब तरह से। मझले भाई दौड़ाये गये गोरखपुर की ओर। वे दोपहर को गोरखपुर पहुंचे। उनसे पहले बाराती पहुंच गये थे। लडकी वाले के यहां लड़के का जनेऊ भी था, गाना-बजाना हो रहा था। सूचना मिलते ही एकाएक सन्नाटा छा गया, रंग में भंग हो गया। बाद मे सुना कि मेरी सास (उस समय होने वाली सास) बदहवास हो गईं और कहने लगी कि मुझे लडके के पास ले चलो। इस प्रक्रिया में एक छोटी-सी घटना घटी, जिसे देना मैं आवश्यक समझता हूं। जब मझले भाई साहब गोरखपुर जाने की प्रक्रिया मे कौड़ीराम के बस स्टेंड पर पहुंचे तो वहीं एक गायक जी मिल गये जो गाने के लिए मेरे विवाह में जा रहे थे। मेरी बीमारी की सूचना मिलते ही उन्होने कहा—"और मेरी फीस का क्या होगा?" मझले भाई ने चाहे जो भी जवाब दिया हो किन्तु यह प्रश्न अपनी जगह कितना क्रूर था, सोचकर थर्रा उठता हूं। उस गायक कलाकार को मेरे स्वास्थ्य के बारे में चिंता नहीं हुई और न उसके मुह से शुभकामना के दो शब्द फटे, उसे चिंता हुई और एकमात्र चिंता हुई तो अपनी फीस की। चाहे गायक हों, चाहे चित्रकार, चाहे कवि, चाहे अन्य कोई कलाकार; ऐसे कलाकारो और व्यवसायियों मे फर्क होता है क्या? कला की दुनिया मे प्रवेश की पहली शर्त ही है कलाकार का मनुष्यता की ओर बढना, दूसरों के दुःख-दर्द में शरीक होना। खैर, वह तो देहात का छोटा गायक कलाकार था, बडे-बड़े नामी-गिरामी कलाकारो से भी पूछा जा सकता है कि तुम्हारी प्राथमिक चिन्ता क्या है? तुम स्वयं या तुम्हारे आसपास का मनुष्य?

चेचक के दाने बढ़ते ही गये और दो दिनों मे पूरा शरीर बडे-बड़े फफोलो से भर गया। पूरा शरीर दाह से पीडित हो उठा। मन शरीर के दाह से उत्तप्त तो था ही, एक और ताप से तप रहा था। मुझे लग रहा था कि इस घटना से मेरी होने वाली पत्नी लांछित होगी। अपने टुच्चे समाज को पहचानता हूं। वह बडी आसानी से किसी भी अभिशाप और अभाग्य का दोष औरत के सिर मढ़ देता है। अतः लोग मन-ही-मन सोच रहे होगे कि लडकी कुलच्छनी है, उसी के प्रभाव से दूल्हा बीमार पड़ा है। और यदि मुझे कुछ हो गया तो उसका जीवन बरबाद हो जायेगा। कोई उससे शादी नहीं करेगा। मै नहीं जान सका कि मेरे घरवाले भीतर-भीतर क्या सोच रहे थे, लेकिन तो भी मुझे विश्वास था कि वे इस तरह की बात नहीं सोच रहे होंगे। उन्हें तो फिलहाल मेरी चिन्ता थी। वास्तव मे मेरे मन में अपनी भावी पत्नी को लेकर अनेक चिन्ताएं तैर रही थीं। जब माली ने कहा था और कई लोगों ने ताईद की थी कि मुझे शादी के लिए गोरखपुर ले जाया जाय, तो इसे इनकार करने के पीछे मेरी शारीरिक पीड़ा तो थी ही, यह चिन्ता भी थी कि शादी के बाद मेरा कुछ हो गया तो? क्यों जान-बूझकर लोग एक मासूम बालिका को विधवा बनाने पर तुले हैं। नहीं, ऐसा नहीं होने दूंगा। और मैंने सख्त निश्चय के साथ शादी के लिए जाने से इनकार कर दिया था। ज्यों-ज्यों बीमारी गंभीर होती गई, मैं सोचने लगा कि मेरे निश्चय के अभाव में यदि सचमुच मेरी शादी कर दी गई होती तो? तो? मेरा पता

नहीं क्या होगा ? वैसे मेरे भीतर काफी अच्छी जिजीविषा है। गंभीर से गंभीर बीमारी से भी कभी मैंने मृत्यु की आशंका नहीं की, किन्तु मृत्यु आखिर मृत्यु होती है, वह जिजीविषा के बावजूद आ सकती है।

जून की भयानक गर्मी, पूरे शरीर में चेचक के बडे-बड़े दाने, देहाती मकान का एक कमरा। जलन और ताप के मारे मेरा बुरा हाल था। कभी मां, कभी बहन, कभी भाभी नीम की पत्तियों-भरी कौंची भटकटैया डालकर उबाले गये पानी में डबो-डुबोकर मेरे शरीर पर फेरतीं और ताप को शीतल करने का प्रयत्न करतीं। इन सारी परेशानियों के बीच मेरे भीतर एक सपना था—एक अच्छे जीवनसाथी के मिल जाने का सपना। वह रह-रहकर महक उठता था और दर्द कुछ कम हो जाता था। लोक-दृष्टि से शीतला माता ही चेचक हैं। विचित्र विडंबना है न, शीतला माता और चेचक का असह्य दाह ! न जाने कब, क्यों और कैसे शीतला माता और चेचक का सम्बन्ध जोड़ा गया होगा, किन्तु मुझे तो लगता है कि चेचक के दाह को कम करने के लिए शीतला कहा गया। शब्दों के उच्चारण में भी एक प्रभाव होता है। वह हमारी सवेदना को अधिक या कम करता रहता है। जो हो यह शब्द मेरे लिए एक और तरह से प्रभाव छोड़ रहा था। शीतला माता, सात बहनें, नीम की डाल, उस पर पडा हुआ हिंडोला, वे झूला झूल रही हैं, गीत गा रही है। मालिन उन्हें झुला रही है। वे मालिन को आशीष दे रही हैं—पुत्र-प्राप्ति का। सामने कितना संश्लिष्ट सौन्दर्य-बिंब उपस्थित हो जाता है। शीतला माता माता इसलिए हैं कि वे देवी हैं (देवी मनुष्य की माता ही हो सकती है) अन्यथा वे सातों बहनें युवतियां हैं, सुन्दरियां हैं। यानी उनके माध्यम से बूढ़ी माताओं का नहीं, सुन्दरी युवतियों का बिंब उभरता है। फूलों से भरा माली का उद्यान, नीम का आरोग्यवर्धक पेड़, शीतल हवा में झूमती उसकी हरी-हरी पत्तियां, उस नीम की डाल पर झूला झूलती हुई उन्मुक्त कुंतला सातों बहनें, यह कितना अच्छा सौन्दर्य-बिंब है। लोक-गीतों में इस बिंब के साथ उनका एक दूसरा बिंब भी उभरता है कि सातों बहनें हवा में उडती हुई आ रही हैं, उनके साथ उनकी नारी-सेना भी है। सबकी सब प्यासी हैं। शीतला माई मालिन से पानी पिलाने को कहती हैं। मालिन पानी पिलाती है—धार-कपूर चढ़ाती है और तृप्त होकर मां उसे संवत्सा होने का आशीष देती हैं।

मैं चेचक को चेचक ही मानता था। मेरे चेतन मन को चेचक को देवी मान लेना भला कैसे स्वीकार्य होता ! किन्तु अचेतन मन का क्या किया जाय जो बचपन से ही ग्रहण किये गये सारे संस्कारों को ढोता और छद्म रूप में व्यक्त करता रहता है। इसलिए चेचक को चेचक मानने के बावजूद मेरे सपनों में एक अद्भुत लोक खुलता था। एक तो कवि मन, जो वैज्ञानिक होने के बावजूद मिथकों के सौंदर्य-बिंब के प्रति गहरा लगाव रखता है, दूसरे संस्कार में पड़ी देवी की कथा और चेतना, तीसरे बीमारी की अवस्था में भी भीतर-भीतर महमहाता होने वाली जीवन-संगिनी का प्रीतिकर अस्तित्व। अतः मुझे विचित्र सपने आते थे। आकाश में उड़ती हुई रंग-बिरंगी साड़ियां, उड़ते उड़नखटोले या आकाश में बना हुआ एक मकान जिसके अनेक जंगलों

मे से उन्मुक्त कुंतला नारियों के चेहरे झाकते होते और सूखने के लिए रंग-बिरंगी साडिया खिडकी मे से लटकी होती। कही कुछ भी स्पष्ट नही होता। सपनों का लहरे पर लहरा आता, सब कुछ गड्डमड्ड हो जाता। कभी-कभी शीतला मा आती और कहती, "पुत्र, तू ठीक हो जायेगा, ले मेरा प्रसाद ले।" और सपनो के जगल मे से उबरता तो पाता सिर दर्द से और भारी हो गया है। बेचैनी और बढ गयी है।

एक दिन मुझे महसूस हुआ कि मेरा सिर-दर्द एकाएक गायब हो गया। मैंने बहुत उत्साह से यह बात मा को सुनायी। पिताजी ने भी सुन ली। न जाने इस कथन से वे क्यो दहल गये (शायद उन्हे मेरे निष्पद या अचेत होने का खतरा महसूस हो गया)। वे घबराय से आये और अपनी धोती अपने गले मे लपेटकर मेरी खाट के पाये मे बाध दी और घिघियाये—"ना मइया, छल मत कर। मैं तेरा पुराना सेवक हू। सेवक होने का दड दे रही है मइया। बोल मइया, बोल कि तू मेरे बेटे का अनिष्ट नही करेगी। नही बोलेगी तो मै इसी खाट मे फासी लगाकर जान दे दूगा।"

मै तो हतप्रभ हो गया। एक तमाशा मै बीमारी के शुरू से ही अनुभव कर रहा था—वह यह कि लोग समझते थे कि मै देवीमय हो गया हू। मेरा अपना कोई अस्तित्व ही नही रहा। अतः मै जो कुछ बोल रहा हू, देवी ही बोल रही है। मेरे माध्यम से वही हस रही है, रो रही है, खा रही है, पी रही है। मै बार-बार प्रतिवाद करता कि नहीं, मै अपने पूरे होशोहवास मे हू, मुझ पर किसी देवी-सवी का प्रभाव नही है, किन्तु लोग यह सुनने और मानने को तैयार ही नही थे। पिताजी भी यही बात दुहरा रहे थे और बार-बार मुझसे आग्रह कर रहे थे— 'बोल मा, बोल, तू धोखा नही करेगी।" मै भी बार-बार कह रहा था—"मैं अपने पूरे होश मे हू, मुझ पर किसी देवी का असर नहा है। मै झूठ-मूठ मे कैसे कोई आश्वासन दू।" किन्तु पिताजी मेरी सुन ही नही रहे थे और मेरे कथन से और भी विक्षिप्त होकर गले मे धोती कसते जा रहे थे। मेरी मा काफी समझदार थी। उसने मुझसे धीरे मे कहा—' झूठमूठ मे उन्हे दिलासा दे दो पूता, नही तो अपना बुरा हाल कर लेगे।" मै भी नाटक के मूड मे आ गया और बहुत गभीर स्वर मे बोला—"अच्छा, गले से फासी निकाल, मै तेरे बेटे का अहित नही करूगी। यह जल्दी ही अच्छा हो जायेगा।"

"जय हो, देवी मा की जय हो।" गले से धोती छुडाकर पिताजी चिल्लाये और मैं मन ही मन हंसने लगा।

धीरे-धीरे अच्छा हो गया। चेचक सूखने लगी। अच्छा होने के बाद जब मैंने पहली बार आईने मे अपना चेहरा देखा तो मन झाय कर उठा। अपना ही चेहरा अपनी पहचान मे नही आया और असह्य हो गया। कितना काला-कुरूप हो गया था मैं। पता नही यह चेहरा ऐसा ही रहेगा कि बदलेगा भी। तमाम चेचकी चेहरे दृष्टि मे उतरा आये, जिन्दगी-भर के लिए गहरे घावो से खुदे चेहरे। महीने-भर बाद दूल्हा बनकर जाना पडेगा। कैसा लगूगा ? मेरा सौन्दर्य-बोध अपनी ही कुरूपता से चरमरा उठा। शादी-ब्याह मे ससुराल की औरतों के बीच सुदर्शन दीखने का आनंद एक अलग ही आनद है, वही खंडित हो गया था।

अच्छा होने के बाद बारी-बारी से दो-चार बेशर्म लोग आये और प्रस्ताव रखा—"यह शादी तोड़ दीजिए, लड़की असगुनही है और मैं ज्यादा पैसे दूंगा।" मैंने उनके साथ क्या सलूक किया होगा, आप समझ सकते हैं। किन्तु मेरी मां की सोच अद्भुत थी। औरों के मन में लड़की को लेकर कोई द्वन्द्व था कि नहीं, मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरी मां ने निर्द्वन्द्व भाव से घोषित किया—"लड़की बहुत सुलच्छनी है। उसी के पुण्य-प्रताप से मेरा लड़का अच्छा हुआ है।" घर के सभी लोगों ने मां का समर्थन किया और न भी किया होता तो भी मैं यही शादी करता।

महीने-भर बाद शादी हुई। मेरे श्वसुर श्री जंगी मिश्र रेलवे में बड़े बाबू थे किंतु उनके सम्बन्ध बहुत व्यापक और बहुआयामी थे। बेतिया हाता में इनका एक छोटा-सा कच्चा मकान था, किन्तु वहां के बड़े-बड़े वकील, डाक्टर, नेता उनके मित्र थे। उनका मकान स्वाधीनता-सेनानियों का अड्डा था। शिब्बनलाल सक्सेना, भगवतीप्रसाद दुबे, पूरनमासी राम तथा जिला-स्तर के अनेक नेता वहां जुटते थे, हर तरह से आतिथ्य ग्रहण करते थे और योजनाएं बनाते थे। सरकारी नौकर होकर भी मिश्र जी नेताओं के साथ थे, बल्कि उनका सरकारी नौकर होना ही उनके यहां नेताओं के छिपने और कार्य करने के लिए वरदान हो गया था। सन् बयालीस में बेतिया हाता क्रान्तिकारियों का अड्डा बन गया था और तब बेतिया हाता में था क्या? पांच खटिकों के घर थे और मिश्र जी का घर था। बाकी सब जंगल था। अतः सारी गतिविधियां मिश्र जी के घर से संचालित होकर जंगल में बिखर जाती थीं। जब मैंने शादी के बाद इस घर का इतिहास जाना तो यह कच्चा टूटा-फूटा घर मुझे मंदिर के समान पवित्र लगा। शादी के समय बेतिया हाता में काफी कोठियां बन चुकी थीं, किन्तु उन कोठियों में वह आत्मा कहां थी जो इस मकान में थी। ज्यों-ज्यों मैं ससुराल के परिवेश से परिचित हुआ, त्यों-त्यों यह सत्य पहचान में आता गया कि ये कोठियां मूक हैं, बधिर हैं, निस्पंद हैं और छोटा-सा कच्चा मकान स्पंदन-युक्त है, वह देखता है, सुनता है, बोलता है। इस घर में न जाने कब से जरूरतमन्द लोगों के ठहरने और आतिथ्य पाने का सिलसिला बना हुआ है। शादी से पहले क्रांतिकारियों और नेताओं के आने-जाने, यहां रहने की कहानी सुनी थी, किन्तु शादी के बाद तो मैं स्वयं साक्षी रहा हूं। जब कभी भी मैं ससुराल पहुंचा, वहां जर-जवार के कई-कई लोगों को ठहरे हुए पाया और न जाने दूर की रिश्तेदारी के कौन-कौन लोग यहां आकर ठहरते थे जबकि इन कोठियों में स्वयं अपने ही घर के लोगों को आतिथ्य नहीं मिलता। मैं प्रसन्न था कि मेरी शादी जिस घर में हुई है वह वित्तीय दृष्टि से चाहे कितना भी सामान्य हो, मानवीय संस्कार की दृष्टि से अत्यंत विशिष्ट है।

शादी में पत्नी विदा नहीं हुई। तय हुआ कि अगले फागुन में विदाई होगी। बी० ए० में नाम लिखाने बी० एच० यू० चला गया। इस बार की पढ़ाई में एक महक भर गयी थी। लगता था कि मेरे कवि को उसकी कविता मिल गई थी। कविता लिखने और पढ़ाई करने में एक अतिरिक्त चाव भर गया था। हमेशा फूल-सा एक सपना मन में तैरता रहता। झिझकते-झिझकते पत्र लिखा। मन में संकोच था कि पता नहीं श्वसुर जी

क्या कहेंगे ? सरस्वती जी का उत्तर आया और लगा जैसे पूरा समय महक उठा हो।

बी० ए० की पढ़ाई शुरू हुए दो महीने बीते होंगे कि गंगा में भयानक बाढ़ आ गई। बाढ़ का पानी विश्वविद्यालय के अन्दर तक समा आया। अध्यापन बंद हो गया। मैं इस अवसर का लाभ उठाकर गोरखपुर भाग आया और योगेन्द्र के यहां ठहरा। योगेन्द्र से आपकी मुलाकात करा चुका हूं। वे कवि थे, बी० ए० मे पढ़ते थे और बेतिया हाता में ही पंडित गौरीशंकर मिश्र के यहां अपने कई मित्रों के साथ रहते थे। बहुत जिंदादिल यार-बाश आदमी।

27

बाढ हट गई थी और मैं फिर बी० एच० यू० लौट गया। भीतर एक नई ताजगी थी। पढ़ने और जीवन जीने में एक नया उत्साह भर उठा था। बी० ए० में कुछ और साथी मिले जिनमें उदयनारायण शुक्ल का नाम सबसे अलग है। वे हमारे ही जवार के गांव वकरुआ के शुक्ल थे। बहुत मुखर, डाइरेक्ट और गप्पी व्यक्ति थे। हंस-हंसकर न जाने कितनी झूठी बातें सही बनाकर सुना जाते। कितनी काल्पनिक प्रेम-कहानियां कहते, बात-बात में उत्तेजित हो जाते और बडे-से-बडे प्रतिद्वन्द्वी से भिड जाते। वे हर तरह से मुझसे भिन्न थे फिर भी मेरे अभिन्न मित्र थे। वह इसलिए कि वे मेरे सुख-दुःख के साथी थे। हमने एक-दूसरे को सीमाओं के साथ समझा था। सोचता हूं कि दो भिन्न स्वभाव के व्यक्तियों की मैत्री के पीछे कहीं यह बात तो नहीं होती कि वे एक-दूसरे के पूरक होते है। हम अपने अधूरेपन में कही दूसरे के अधूरेपन को अपना पूरक मानने लगते है। शायद यही सच हो। हम दोनों साथ घूमते थे, साथ ही एक ही मेस में खाते थे, साथ ही फैकल्टी जाते थे। लेकिन झगडा वे ही करते थे। जब देखो तब इनका उत्तेजित व्यक्तित्व किसी न किसी से टकराता रहता था। इनसे मेरी मैत्री का एक और कारण बन गया। इनकी शादी गोरखपुर के तत्कालीन जिलाधीश श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी के परिवार में हुई और मेरी पत्नी मणि परिवार से बहुत जुडी थी। उनकी पुत्रियां विद्या जी, शकुन्तला जी इनकी बहुत अच्छी मित्र थी और उनकी मां भी उन्हें बहुत प्यार करती थी। इसलिए यह भी एक सूत्र बन गया मुझे उदयनारायण से जोडने का। हम दोनों की चर्चाओं मे ये संदर्भ भी आते रहते। हम लोगों की मैत्री सघन से सघनतर होती गई।

बी० ए० मे था तो सब कुछ पूर्ववत् चलता रहा, किन्तु कुछ नये बिन्दु ऐसे अवश्य है जो मेरी जीवन-यात्रा मे चिरस्मरणीय बनकर रह गए है। बी० ए० में दो नये शिक्षकों से पढ़ने का सौभाग्य मिला। एक थे केशव जी, दूसरे थे डा० गणेश उनियाल। केशव जी बी० एच० यू० के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे, इसलिए वे मेरे लिए नये थे। अर्थात् पहली बार उनसे पढ़ने का सौभाग्य मिला था। वे आधुनिक कविता पढ़ाते थे।

उन्होंने पंत भी पढ़ाया, महादेवी भी, किन्तु 'कामायनी' का जो 'लज्जा' सर्ग पढ़ाया वह अद्भुत था। वे संस्कृत के पंडित थे। पडित की वेशभूषा में रहते थे इसलिए उनके पांडित्य के प्रति तो हम सजग थे किन्तु वे संवेदना और दृष्टि में इतने नये होंगे यह ज्ञात नही या। उनकी संवेदना और दृष्टि की आधुनिकता का परिचय पाकर हम चकित थे। वे मिथकों की रूढ़ियों को झाड़ फेंकते थे और नये संदर्भों में उनकी व्याख्या करते थे। उन्होने लज्जा सर्ग के सौदर्य का जो बिंब उपस्थित किया, वह आज तक मन पर अंकित है। हमारा दुर्भाग्य कि हम उनसे एम० ए० में नही पढ़ सके, नहीं तो हमने उनसे पूरी 'कामायनी' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त किया होता। हमारे बी० ए० पास करते-करते उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया।

दूसरे अध्यापक थे डा० गणेश उनियाल। ये युवक थे और लखनऊ विश्वविद्यालय मे पी-एच० डी० करके सीधे यहा आये थे। वे राजनीतिशास्त्र के अध्यापक थे। पाजामा-कुर्ता पहनते थे। हम लोग राजनीति के हिन्दी सेक्शन में थे। उनियाल साहब हिन्दी नही बोल पाते थे, लेकिन इतना कम नहीं था कि उन्होंने हिन्दी में पढ़ाने की चुनौती स्वीकार की थी। वे बहुत मजाकिया थे, मजाक के साथ लड़कों को हसाते हुए हिन्दी में पढ़ाते थे। उनकी हिन्दी मे प्रवाह नही था किन्तु उसमें एक अद्भुत प्राणवत्ता थी। उनकी टूटी-फूटी हिन्दी बहुत अच्छी लगती थी। वे हमारी साहित्यिक गोष्ठियो में भी जाते थे, वहां भी हसाते थे। विचारो से मार्क्सवादी थे किन्तु स्वभाव में किसी विचारधारा का बंधाव लक्षित नहीं होता था। धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दी पर अधिकार कर लिया और देश के तमाम हिन्दी-विरोधी मूढ़ प्राध्यापको को शिक्षा दी कि हिन्दी मे हर विषय अच्छी तरह पढ़ाया जा सकता है। वैसे आज हिन्दी में मानविकीय वैज्ञानिक, तकनीकी शब्दावली की इतनी सम्पन्नता है फिर भी प्राध्यापक हिन्दी मे पढ़ाने में परेशानी अनुभव होने का बहाना बनाते है। कल्पना कीजिए सन् सैंतालीस-अड़तालीस की, जब कोई पारिभाषिक कोश नही था। तब बी० एच० यू० ने मानविकी के सारे विषयों के हिन्दी मे भी अध्यापन की व्यवस्था की थी और हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी गई थी। गणित के प्रोफेसर डा० ब्रजमोहन हिन्दी के कट्टर समर्थक थे और उन्होंने हिन्दी में सफलतापूर्वक विज्ञान और गणित पढ़ाने के कई प्रदर्शन किए। खैर, तब की बात और थी, तब हिन्दी राजनीति का शिकार नही हुई थी और राजनीति में पढ़े-लिखे सुसस्कृत लोग आया करते थे।

मैं जन्म से ही पेट का रोगी रहा हूं और इसलिए सिर-दर्द का भी शिकार होता रहा हू। एक बार कब्ज ज्यादा ही बढ़ गया। बी० ए० का दूसरा साल था। अक्टूबर का महीना रहा होगा। पेट मे दर्द उठने लगा। बिड़ला हॉस्टल की डिस्पेंसरी के डाक्टर ने बी० एच० यू० के अस्पताल में भेज दिया। डा० पटवर्धन ने देखा और कहा कि तुरत भरती हो जाइए। उदयनारायण के साथ सामान-वामान लेकर आया और भरती हो गया। दवा चलती रही किन्तु पेट में जो भयानक दर्द उठा था वह बढ़ता ही गया। रात को मेरी चीख सुनकर नया डाक्टर (छात्र डाक्टर) आया, कोई दवा दे गया। कोई फायदा नहीं। दूसरे दिन डा० मिश्र राउंड पर आये। उन्होंने मेरी छटपटाहट देखी। न

जाने उन्हें क्या सूझी कि उन्होंने मेरी आंख देखी। देखकर कहा, इन्हें तो जांडिस है। रोग जांडिस है और पटवर्धन ने प्रेसक्रिप्शन पर कुछ और लिख रखा है। उन्होंने तुरत दवा बदली और दवा बदलते ही मुझे चैन पड़ गया। सही निदान हो गया था न। दूसरे दिन डा० मिश्र फिर आये। पूछा, "कैसे है ?" "ठीक हूं।" वे अपने साथी डाक्टरों की ओर देखकर मुस्कराये। "केस काफी बिगड़ चुका है, लेकिन घबड़ाने की कोई बात नहीं, समय से पकड़ में आ गया। घर से किसी को बुला लीजिए।"

उदयनारायण कालेज से छुट्टी पाते ही मेरी ओर भागते थे और अधिक से अधिक समय मेरे साथ बिताते थे। फल आदि लाते थे। फिर भी डाक्टर के आदेश पर उन्हें गोरखपुर तार भेज देने के लिए कहा। वही से घर भी सूचना मिल जायेगी।

अस्पताल का यह पहला अनुभव था। और यह अस्पताल भी कोई जनरल अस्पताल जैसा बड़ा और भीड़भरा नही था, छोटा-सा अस्पताल था फिर भी था तो अस्पताल। मेरे आसपास पन्द्रह-बीस मरीज चारपाइयों पर लेटे थे और तरह-तरह के रोग के दर्द से कराह रहे थे। मै पन्द्रह दिन वहां रहा लेकिन लगा कि कैद हूं। रुग्ण तन के साथ थका हुआ मन, चारो ओर सीलन की अनुभूति। जंगले से बाहर की चलती-फिरती दुनिया को देखता तो लगता कि बाहर के लोग कितने खुशकिस्मत है कि चल-फिर रहे हैं, हस-बोल रहे है, खा-पी रहे है और मैं अभागा मरा हुआ मन लिए चारपाई पर पड़ा हू। कब छूटूगा यहा से और कब औरों की तरह दुनिया मे चहल-पहल में शरीक हूंगा।

अस्पताल में अपना ही दर्द कम नही होता, किन्तु बार-बार दूसरों का दर्द उठ-उठकर अपने दर्द को और संक्रांत और भारी कर जाता है। एक दिन सबेरे-सबेरे बिड़ला हॉस्टल या रुइया हॉस्टल से एक युवक लादकर लाया गया। वह हॉस्टल की ऊपरी मजिल पर रहता था और वहां पहुंचकर सांप ने उसे काट खाया था। डाक्टर लोग उसे बचाने को भिड़े रहे लेकिन नही बचा सके। जवान आदमी की लाश सामने पडी थी। मैं एक गहरी दहशत से भर गया। अपने दर्द मे एक भय समा गया। लाश के पीछे चीखते-चिल्लाते दूरस्थ परिवार वालों का क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा। मृत्यु की लपेट की जटिलता उभरने लगी। सांप नीचे की मंजिल को सबको छोड़ता-छाड़ता ऊपरी मंजिल पर पहुंच गया और एक आदमी को डंस लिया। यह मृत्यु की जटिल लपेट नही तो क्या है ? हम जितने यहां अस्पताल में सोये है, उनमे से किसे कब वह लपेट लेगी, शायद सभी मरीज अलग-अलग यही सोच रहे थे।

दूसरे दिन एक हैजे का मरीज आया। बड़ी खराब हालत थी। एक युवा डाक्टर (शायद वह छात्र डाक्टर था) मरीज की मृत्यु से लड़ने लगा। सभी लोग निराश हो गये थे किन्तु वह बहादुर डाक्टर बड़ी तत्परता से जूझता रहा। ग्लूकोज, इंजेक्शन आदि के अस्त्रों से मृत्यु के खुले मुंह को सिकोड़ने की कोशिश करता रहा। यह सब हमारे कमरे के बाहरी बरामदे में होता रहा, हम देखते रहे और भय से कांपते रहे—न जाने क्या हो ? आखिर पांच-छः घंटे के अनवरत युद्ध से डाक्टर ने आयी हुई मृत्यु को लौटा दिया और सभी लोग उस डाक्टर की ओर प्रशंसा और कृतज्ञता के भाव से देखते रहे। मरीजों को लग रहा था कि जैसे उसने उन्हीं को बचाया है। वह डाक्टर उस मरीज को जिन्दगी

सौंपकर थका-थका-सा वहां से सरक गया, नेताओं की तरह जयमाल पहनने के लिए वहां खड़ा नहीं रहा ।

तार मिलने के बाद भाई साहब आ गये । गोरखपुर से पंडित आद्याप्रसाद मिश्र भी आ गये । मेरी हालत खतरे मे बाहर हो गई थी । यह जानकर भइया और आद्या जी थोड़े आश्वस्त हुए । आद्या जी शाम को लौट गये बल्कि उन्हें लौटा दिया गया क्योंकि गोरखपुर से लेकर डुमरी तक हाहाकार मचा हुआ था । बाद में सुना कि मेरे पिताजी बदहवास-से गोरखपुर आये थे और बार-बार मेरे बारे में पूछ रहे थे । उन्हें लग रहा था कि उनसे कुछ छिपाया जा रहा है । वास्तविक स्थिति बताने के लिए ही आद्या जी को उसी दिन लौटना पड़ा ।

पन्द्रह दिन बाद अस्पताल से छूटा तो लगा कि एक लंबी अवधि के बाद कैद में से छूटा हूं । दो-चार दिन छात्रावास में रहा । उसके कुछ दिन बाद दिवाली की छुट्टियां होने वाली थीं । मैं कुछ स्वस्थ होते ही गोरखपुर आ गया । भइया छावनी पर चले गये और मैं ससुराल आ गया । एक गहरी विह्वलता ससुराल के घर मे व्याप्त हो गई । जहां मेरे नवजीवन पाने की आभा दमक रही थी वहीं 'यदि कुछ हो गया होता तो' का दर्द भी आभा के नीचे झलमला रहा था । आंसू और हास का संक्रान्त रंग उस घर मे कई दिन तक छाया रहा ।

गांव जाने का मन हो रहा था लेकिन गांव जाने का अर्थ था दस मील पैदल चलना और दो मील तो बाढ़ द्वारा छोड़े गये पानी-कीचड़ में से गुजरना । अभी तो मील-भर भी चलने की हिम्मत नहीं थी । पन्द्रह-सोलह दिन बाद जब मैं काफी ठीक हो गया तो मझले भाई साहब के साथ चौरीचौरा पहुंचा । वहां ब्रह्मपुर के दूबे जी का हाथी आया था । उससे नकवार पहुंचा । आगे बाढ़-प्रभावित क्षेत्र मे हाथी नहीं जा सकता था और मैं अपनी चल सकने की शक्ति के प्रति आश्वस्त नहीं था; लेकिन चारा ही क्या था । नाव से नदी पार की । उसके बाद छोटे-छोटे नालों के पानी में हलता हुआ कीचड़ में पांव फंसाता हुआ चलने लगा और लगा कि मैं चल सकता हूं । जब तक परीक्षा न हो, अपने भीतर की शक्ति का पता नहीं चलता । गांव से मील-भर की दूरी पर स्थित कपरफोरवा गांव में हमारे खेत हैं । वहां पहुंचे तो लगा कि पिताजी खेत में खड़े हैं । उन्होंने दूर से हमें आते हुए देखा, पहचानने की कोशिश की और नजदीक आते ही लपके और मुझे गोद में भरकर रोने लगे । वे भावुक तो वैसे ही थे, इस समय तो उनकी भावुकता का प्रवाह उमड़ पड़ा था । उन्हें लगा कि वे मुझे दूसरे जनम में पा रहे हैं । उनके साथ गांव पहुंचा, सारा घर आर्द्र हो उठा । मां रोये जा रही थी । मैंने अनुभव किया कि परोक्ष का दर्द या विपत्ति कितनी भयावह होती है । मैं घर मे कई बार बीमार पड़ा था और घनघोर बीमार पडा था, किन्तु सब लोग पास थे इसलिए बीमारी की वास्तविकता से परिचित थे । इस बार घर से दूर बीमार पड़ा था तो लोगों को लगा कि मैं मौत के मुंह में पड़ा छटपटा रहा हूं और मुझे आया देख यही समझ रहे थे कि मैं मौत के मुंह में से निकलकर आ रहा हूं ।

बी० ए० में एक घटना और घटी थी जिसकी तिक्तता और विडंबना मैं भूल

नहीं पाता। कैसे निर्दोष लोग अकारण दोष के चंगुल में फंस जाते हैं। यह घटना इस कुरूप सत्य का साक्षात्कार कराती है। विश्वविद्यालय में शेख अब्दुल्ला आ रहे थे। काफी देर से हम लोग उनकी प्रतीक्षा में पंडाल में बैठे थे। पंडाल में जो खंभे लगे थे वे रंगे गये थे। मेरे आगे एक मोटे सज्जन उस खंभे से सटे बैठे थे और उस खंभे का रंग उनके कुरते पर लग रहा था। मैं अपने साथियों के साथ हंस रहा था। उन्होंने मुड़कर देखा और समझे कि हम लोग उनका मजाक उडा रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि खंभे का रंग उनके कुरते पर लग रहा है। वे खंभे से थोडा हट तो गये लेकिन लगा कि वे हमारे हंसने के कारण नाराज हो गये हैं। उन्होंने कुछ देर बाद अपनी जेब में हाथ डाला, फिर चिल्लाये कि मेरा पेन गायब हो गया है। वे बार-बार मेरी ही ओर देख रहे थे। मुझे शक हुआ कि ये मेरे ऊपर शक कर रहे हैं। मैंने पूछा—"कौन-सा पेन था—पार्कर था क्या?" वे बोले—"हां, पार्कर था।"

शेख अब्दुल्ला अभी तक नहीं आये थे। मुझे लघुशंका महसूस हुई। मैं बहुत संकट में था। यदि उठता हूं तो यह आदमी सोचेगा कि मैं पेन लेकर चम्पत हो गया। इसलिए मैंने उनसे कहा—"श्रीमान् जी, लगता है आपको मेरे ऊपर संदेह हो रहा है। मुझे लघुशंका करने जाना है। बेहतर हो आप मेरे साथ बाहर चलें और देख लें कि मेरे पास आपका पेन नहीं है।" वे राजी हो गये। बाहर आकर जैसे ही मैंने अपना पेन निकालकर उन्हें दिखाया, वे चिल्ला उठे—"अरे, यही तो मेरा पेन है।"

मैं चकित था। बोला—"अभी तो आप कह रहे थे कि आपका पार्कर खोया है। अब मेरे पेन पर आपकी तबीयत आ गई?"

"यही है, यही है मेरा पेन।" और कुछ दूर खड़े अपने एक साथी यादव या रावत को बुला लिया और उनकी साक्षी देकर कहा—"यही है मेरा पेन। मैंने तुम्हारे साथ यह पेन खरीदा था, याद है न?"

यादव जी कुछ नहीं बोले। पता नहीं अपनी चुप्पी से वे किसका समर्थन कर रहे थे। मैंने कहा—"यह पेन तो मुझे मेरी ससुराल से साल-भर पहले मिला था," किन्तु वे सज्जन पहलवान थे, भैंसे की तरह मोटे। बाद में पता चला कि उनका सरनेम झा था। नाम याद नहीं आ रहा। उन्होंने मेरा पेन अपने पास रख लिया।

शेख साहब आ गये थे। उनका भाषण हुआ। लगा कि बहुत दिलचस्प भाषण हो रहा था। मैं भाषण सुनता हुआ भी ग्लानि में दबा था और कल्पना कर रहा था, भाषण के बाद की विषम स्थिति की। मेरे साथ श्री विद्यानंद दूबे थे। दूबे जी बाद में आई० ए० एस० होकर दिल्ली में कई श्रेष्ठ पदों पर रहे। उस समय तो वे फिलासफी मे एम० ए० कर रहे थे और मेरे अच्छे दोस्त थे, मेरी कविताओं के भारी प्रशंसक।

भाषण समाप्त होते ही झा ने अपने साथियों को इकट्ठा कर लिया और महिषासुर की तरह मेरे खिलाफ हुंकारने लगे। अच्छे-अच्छे तर्कों से प्रतिवाद करने में मैं कभी भी कुशल नहीं रहा, मैं केवल अपनी सही बात कहना जानता हूं। वहां भी कहता रहा। दूबे जी मेरा साथ देते रहे। उन्होंने उन सबको मेरे चरित्र की शुद्धता के बारे में बहुत समझाया, किन्तु महिषासुर किसी की सुनता ही नहीं था। वह मुझे जलील करने

वाली शैली में अनाप-शनाप बकता रहा। मेरे मित्रों में केवल दूबे जी थे। बी० ए० के कुछ और छात्र जुट आये जो कहानी सुनकर मुझे चोरी न करने का उपदेश देने लगे। मैंने कहा कि यह पेन मेरा है और मेरी ससुराल से मिला है तो झा साहब अपने मैथिली अंदाज में बड़बड़ाये—"छि-छि-छि ! ससुराल से ऐसा सस्ता पेन मिलता है ?" मैंने गुस्से में कहा—"इसी सस्ते पेन और दूसरे के पेन के लिए मरे जा रहे हो ?"

निष्कर्ष यह निकला कि भीड़ मे मैं चोर सिद्ध कर दिया गया और महिषासुर साहब वह पेन लेकर चले गये। दूबे जी के साथ मैं धीरे-धीरे थका-हारा-सा हॉस्टल की ओर चला। वे मुझे सान्त्वना देते रहे। कमरे के पास पहुंचा तो देखा, कमरे के सामने भीड़ खड़ी है और वे सज्जन नेता बने हुए है जो कुछ देर पहले मुझे चोरी न करने का उपदेश दे रहे थे। वे थे तो मेरे बी० ए० के ही सहपाठी, किन्तु दूसरे सेक्शन के थे और उनसे मेरा कोई सरोकार नही था। वे सज्जन मुझे देखते ही लपके। बोले—"सॉरी पार्टनर, हम लोगों ने आपको गलत समझा। आपके कमरे मे आकर असलियत मालूम हो गई। अब हम लोग निबटते है उस झा के बच्चे से।"

बात यों हुई कि मेरे पहुचने से पहले ही ये लोग मेरे कमरे पर पहुंच गए थे। मेरे रूम पार्टनर थे बैजनाथ जी। सयोग से मेरे अंतरग मित्र कपिलदेव भी आए हुए थे। मुझे उपदेश देने वाले सज्जन ने पूछा कि मिश्र जी कौन-सा पेन इस्तेमाल करते है। कपिलदेव समझ गए कि कोई खास बात है। मेरे पार्टनर से पहले ही वे बोल पड़े और मेरे पेन का नाम, रंग सब बता दिया और यह भी बता दिया कि यह पेन इनकी पत्नी ने इन्हें दिया था। इतना सटीक उत्तर पाकर वे सज्जन दंग रह गए और अपनी भूमिका पर लज्जित भी हुए। उन्हें तथा उनके साथ आये अन्य लोगो को विश्वास हो गया कि यह पेन मिश्र जी का ही है। मेरा पूरा विंग उत्तेजित हो गया। गुडे लगने वाले लड़के आस्तीन चढ़ाकर कहने लगे—"चलो समझते है झा के बच्चे से। अरे, हमे कोई लाछित करे तो बात समझ मे भी आती है। इतने सीधे-सही आदमी को चोर बनाने की हिमाकत कैसे हुई उस आदमी की ?"

मैं अमर्ष से रो पडा था। लोगों ने समझाया—"रो मत पार्टनर, किसी गन्दे आदमी के कहने से चोर बन जाओगे ?" दल साजकर सभी लोग झा के लॉज में गये। झा अपने लोगों के साथ आये और चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—"देखो यही चोर है, यही चोर है।" लेकिन इस बार मुझे नही बोलना पड़ा, और लोगो ने ही मेरे पक्ष में बात की और झा की लानत-मलामत की। किन्तु झा ने पेन नही दिया। उस पेन में कुछ नही रखा था, किन्तु दो बातें खास थी—एक तो मेरी पत्नी ने पहली भेंट में उसे मुझे दिया था, दूसरे मेरे ही पेन से मुझे ही चोर सिद्ध किया जा रहा था। मैं उस लॉज के वार्डन से मिला। वार्डन ने तीता मुह करके कहा—"ई झउवा यही सब करता रहता है।" उन्होंने दो दिन बाद मुझे बुलाया और झा से पेन लेकर बल्कि छीनकर मुझे दे दिया।

वास्तव में यह विडंबना ही हो सकती है। मैं चोर नहीं था, चोर बना और हो सकता है सचमुच झा के पास भी इसी रंग का, इसी नाम का पेन रहा हो और उस

भीड़ में खो गया हो और मेरे हंसने के कारण उन्हें मुझ पर शक हो गया हो और जब वार्डन ने पेन छीनकर मुझे दिया तो उन्हें लगता रहा हो कि उनका पेन मुझे दे दिया गया है। इसलिए जब भी झा मुझे रास्ते में देखते तो गदे तरीके से हंसकर टाण्ट कसते थे। वे पहलवान जीव थे, इसलिए उनके लिए यह सब क्षम्य था। यदि उन्हें लगता रहा हो कि सचमुच उनका पेन मैंने ले लिया तो उनकी भी तकलीफ का अन्दाज लगाया जा सकता है।

28

बी० ए० कर लिया। समस्या उठी एम० ए० कहां से किया जाय? केशव जी ने अवकाश प्राप्त कर लिया था इसलिए मुझे हिन्दी विभाग में एक बड़ा गैप दिखाई पड़ रहा था। उदयनारायण को एम० ए० इलाहाबाद से करना था अतः यह तय हुआ कि हम दोनों मित्र इलाहाबाद से ही एम० ए० करेंगे। इलाहाबाद में नाम लिखाकर बनारस उतरा। बी० एच० यू० गया। डा० राजबली पांडेय से मिलने गया। उन्होंने पूछा— "एडमिशन ले लिया?" "जी ले लिया, लेकिन इलाहाबाद मे।" "क्यों, राजनीति खेलनी है क्या?" उन्होंने रुष्ट होकर कहा। "यहां आपको सब लोग जानते हैं, यहां अच्छा डिवीजन बन जायेगा। वहां आपको कौन जानता है? वहां की राजनीति में पिस जायेंगे।" फिर थोड़ी देर बाद बोले—"यहां आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आ रहे हैं। उनसे पढ़ना आपका सौभाग्य होगा।" द्विवेदी जी का नाम सुनते ही मैं पुलकित हो गया और हिन्दी विभाग मे दिखाई पडने वाला गैप तुरत गायब हो गया। मैंने उसी दिन नाम लिखा लिया। नाम लिखाने में देर हो गई थी इसलिए मुझे बिड़ला छात्रावास मे जगह नही मिली, मिली रुइया छात्रावास में। इससे मन थोड़ा खट्टा हो गया। मन खट्टा होने के दो कारण थे—एक तो यह छात्रावास मेरे लिए नया था और डा० राजबली पाडेय की वार्डनशिप से वंचित हो रहा था, दूसरे इसमें प्रायः आयुर्वेद के छात्र रहते थे। बिडला छात्रावास वाले रुइया वालों को च्यवनप्राश-च्यवनप्राश कहकर चिढ़ाया करते थे। इस बात को लेकर दोनों छात्रावासों के छात्रों में कई बार ठन गई थी। किन्तु अब क्या किया जाय?

एम० ए० का अध्ययन काल अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा—घटनात्मक भी। द्विवेदी जी के आने के समाचार से वातावरण में अद्‌भुत उत्साह फैला था, किन्तु एक वर्ग में विद्वेष का विष भी फैल रहा था। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा खुलापन था जो सबको बहुत भाता था। उनके व्यवहार में खुलापन, सोच-विचार में खुलापन, भाषण में खुलापन, हंसी में खुलापन यानी उनका पूरा अस्तित्व व्यक्तित्व के बोझ के विपरीत एक आकर्षक विवेक था। उनसे पढ़ते समय हम कोर्स से बंधते नहीं

थे, उससे मुक्त होकर प्रसरित होते थे। उनके अध्यापन में एक संदर्भ, एक बिन्दु न जाने कितने संदर्भों और बिन्दुओं मे जुड़कर एक बड़ा रचनात्मक जगत् बन जाता था। वे जो भी कहते थे, लगता था हमारे अनुभव में उतर रहा है। लगता था वह व्यवहार मे चरितार्थ हो रहा है। 'पंडिताई भी एक बोझ है' का अनुभव करने वाला इतना बड़ा पंडित अपने छात्रों को पडिताई की गरिष्ठता की ओर मे ज्ञान की सर्जनात्मकता की ओर ले जाता था। वास्तव मे पंडिताई बोझ है, अतीव बोझ है यदि वह वर्तमान जीवन को रचनात्मकता नही प्रदान करता। द्विवेदी जी के सारे लेखन, अध्यापन, प्रवचन और जीवन-चर्या का केन्द्रीय स्वर यह रचनात्मकता ही थी। द्विवेदी जी का सम्मान केवल हिन्दी वालों के बीच नहीं था बल्कि और विभागो के बड़े-बड़े विद्वान् और राजनेता भी उनका सम्मान करते थे। इसका कारण यही था कि द्विवेदी जी की सोच केवल हिन्दी सोच नही थी, भारतीय सोच थी, जिसमे अतीत की पूरी विरासत थी और समकालीनता की उदार चेतना थी। उस चेतना मे साहित्य-सस्कृति के साथ समाजार्थिक और वैज्ञानिक चिंतन का गहरा दबाव था। द्विवेदी जी के इम व्यापक सम्मान से हम सभी लोग अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे।

नामवर जी एम० ए० द्वितीय वर्ष मे थे। उनका उनमे सम्बन्ध पहले से ही था, अतः वे तो द्विवेदी जी के आते ही उनके निकट हो गये थे। मैं उनका विद्यार्थी था, किन्तु अपने स्वभाव के कारण उनकी निकटता नही पा सका था। मुझे किमी के निकट हो लेने की कला ही नहीं आती, हां, धीरे-धीरे समय के प्रवाह मे अपने-आप किसी के निकट हो लू तो बात और है। काशी विद्यापीठ मे एक कवि-गोष्ठी थी। उसमें द्विवेदी जी भी थे। मैंने एक गीत पढ़ा—'उमड़ रही पुरवैया कुन्तल-जाल-सी, लहर रहे अम्बर मे काले-काले बदरा।' गीत पढ़ते समय मन में एक संकोच था, वह यह कि 'आधुनिक चेतना के इतने बड़े मर्मज्ञ विद्वान् के सामने मै प्रकृतिपरक रूमानी-सा लगने वाला गीत पढ़ रहा हू। कैसा लगेगा उन्हें?' किन्तु मैने गीत गाते-गाते द्विवेदी जी की ओर देखा—वे मस्ती से झूम रहे थे। मेरा उत्साह बढ़ गया और मै और तन्मयता मे पढ़ने लगा। गीत समाप्त होने पर उन्होने मुझे बहुत शाबाशी दी और जब उन्हे मालूम हुआ कि मै उनका विद्यार्थी हूं तो बहुत प्रसन्न हुए। फिर तो मैं दिन-प्रतिदिन उनके निकट होता गया।

द्विवेदी जी की सबसे बड़ी विशेषता थी उनके व्यक्तित्व का खुलापन। इसीलिए वे अतीत, वर्तमान, साहित्य के इस वाद, उस वाद के कटघरे मे बंधे नही थे। वे उदार अर्थ मे आधुनिक चेतना के मनुष्य और साहित्यकार थे। 'मनुष्यता ही साहित्य का लक्ष्य है' इस वे बलपूर्वक मानते थे; किन्तु मनुष्यता का क्या कोई बधा-बंधाया एक रूप-रंग होता है? वे मानते थे कि मानवीय या साहित्यिक सौन्दर्य समष्टि जीवन के संतुलन से ही पैदा होता है। जिस समाज मे अमीरी और गरीबी की, सम्पन्नता और अभाव-ग्रस्तता की, ऊंच-नीच की भयानक विषमता व्याप्त हो वह समाज बहुत ही असुंदर है, वह परम अमानवीय है। समाज को सुंदर और मानवीय बनाने के लिए समता या संतुलन पैदा ही करना पड़ेगा। साहित्य में भी वे यथार्थ के पक्षधर हैं और यथार्थ

अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से बनता है। यह यथार्थ सामाजिक और परिवर्तनशील होता है। इस प्रकार द्विवेदी जी प्रकारान्तर से मार्क्सवादी समाजवाद और साहित्य-सोच के निकट हो उठते है, किन्तु वे अपनी सोच को किसान-मजदूर के खाने में बांध नही देते, उस अन्य क्षेत्रों में भी संचरण करने देते है। हमारी संवेदनाओ को आर्द्र और व्यापक तथा हमारे सौन्दर्य-बोध को सघन बनाने वाले साहित्य के अन्य स्वरों को भी पसंद करते है, वह रोमांटिक जैसा ही क्यों न लगता हो। द्विवेदी जी एक बहुत बड़ी भारतीय मनीषा की विरासत को अपने भीतर अनुभव करने वाले पंडित और सर्जक थे, साथ ही समकालीन भारतीय परिवेश-जीवन से उनका गहरा लगाव था। इसलिए मार्क्सवादी चितन उनके लिए विदेश मे उत्पन्न मात्र अवधारणा नही था, वह उनकी देशी विरासत और परिवेशगत अनुभव के बीच अपना जीवन बनकर उभरता था। इसलिए उनके लेखन और सोच मे शुष्क अवधारणागत कठमुल्लापन नही, संचित और अर्जित अनुभवों की बहुआयामिता और जीवंतता दिखाई पड़ती है। वे कविता को, साहित्य को एक उदार अर्थ मे प्रगतिशील मानते हैं। उन्हें नही लगता था कि कोई कविता प्रतिगामी है यदि वह हमारी संवेदना को किसी भी प्रकार आर्द्र और सघन बनाती है। प्रतिगामी कविता वह है जो हमारी स्तब्ध वृत्तियो और रूढ़ियों को और भी स्तब्ध और जड बनाती हो, हमारे भीतर सुन्दर-असुन्दर का विवेक का अनुभव न पैदा करती हो, जो यथार्थ की गलाजत और जुगुप्सा मे हमें धमाती हो, जो व्यक्ति-सत्य को लक्ष्य मानकर उसकी निरर्थक उलझनो मे ले जाती हो।

यही वजह है कि पंडित जी (द्विवेदी जी) जहां चल रहा हू क्योंकि गति से पथ का निर्माण होगा' या 'मैं अषाढ का पहला बादल मेरी राह न बांधो' जैसी मेरी कविताए पसद करते थे तो दूसरी ओर 'उमड रही पुरवइया कुतल जाल-सी' जैसी शुद्ध प्रकृति-रस वाली कविताएं भी। उनमे कबीर पढना एक अनुभव था। कबीर के एक-एक दोहे को लेकर अर्थ के व्यापक संदर्भों मे हमें ले जाते थे। वे कविता के गुण, अलंकार, रस आदि की व्याख्या मे न उलझकर जीवन-सत्य और मर्म की पहचान में प्रवृत्त होते थे। साहित्य को पढ़ने-पढ़ाने की जीवनवादी दृष्टि मुझे यही से मिली और मैंने अपने अध्यापन-काल मे अलंकार-निर्देश करने को महत्त्व नही दिया, महत्त्व दिया उनके माध्यम मे व्यक्त होती हुई चारुता को। और उसी की पहचान में अपने को तथा अपने छात्रों को लगाया। तो बात कर रहा था पंडित जी की। मेरी और बहुतों की इच्छा बनी होती थी पंडित जी का सान्निध्य प्राप्त करने की। कभी-कभी किसी बहाने उनके यहां जाता था। वे बहुत व्यस्त रहते थे। आने-जाने वालों का तांता लगा ही रहता था, तिस पर उनका अपना अध्ययन-लेखन, बाहर जाना, विभागीय प्रशासनिक कार्य, पत्र-पत्रिकाओं की मांग की टकराहट। वे अपने लिए समय निकालते फिरते थे। इसीलिए मेरे या अन्य छात्रो के जाने पर माता जी कहती थी—"नही हैं।" यदि वे नही होते थे तो माता जी 'नही हैं' कहकर अंदर चली जाती थीं। यदि वे होते थे तो 'नहीं' कहकर डांटती भी थीं—"चले आते हो तंग करने। तुम लोगों को कुछ काम-धाम नहीं है ?" उसके बाद वे हलके से मुसकराती थीं। तब हमें मालूम होता था कि पंडित जी

हैं, किन्तु मिलने की मनाही है। वास्तव में माता जी का यह व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगता था, किन्तु जब अकेले में सोचता था तो अनुभव होता था कि पंडित जी तो बहुत संकोची व्यक्ति हैं, किसी को आने से मना कर नहीं सकते और ऐसे ही लोग वक्त-बेवक्त आते रहें तो इतने बड़े प्रतिभावान व्यक्ति का उपयोग केवल लोगों से मिलने-जुलने के काम में होकर रह जायगा। इसलिए माता जी उनके समय की रक्षा कर रही हैं। वे कटु बनकर भी साहित्य-जगत् का हित कर रही हैं। पंडित जी कभी-कभी तो पिछवाड़े छिपकर थोक भाव से आयी चिट्ठियों का जवाब लिखते थे और माता जी 'नहीं हैं', 'नहीं हैं' के उत्तर के साथ सबको वापस कर देती थीं। एक दिन पंडित जी ने मुझे बुलाया था। मैं पहुंचा तो माता जी ने उसी तरह उत्तर दिया—"नहीं हैं।" मैं वैसे तो बहुत संकोची व्यक्ति हूं, जब भी माता जी 'नहीं हैं' कहतीं, सिटपिटाया हुआ-सा लौट आता और इसीलिए पंडित जी के यहां जाते हुए भी मन में माता जी का डर लगा रहता था, किन्तु जिस दिन पंडित जी बुलाते थे उस दिन मैं थोड़ा आश्वस्त होता था। मन में यह बल होता था कि अवांछित नहीं जा रहा हूं। इसलिए आज जब माता जी ने कहा कि नहीं हैं तो मैं ढीठ बनकर अड़ा रहा। मैंने कहा—"पंडित जी ने मुझे बुलाया है।" पंडित जी ने सुन लिया और भीतर से ही चिल्लाये—"चले आओ भाई, मैं घर पर नहीं हूं।" मैंने माता जी की ओर देखा। वे हलके से मुसकरायी और मैं शान से अन्दर दाखिल हुआ।

माता जी अकेली नहीं हैं। वह नाम है उन पत्नियों का जो अपने बड़े पतियों के बड़प्पन के विकास के लिए अपने को खाक बना देती हैं। पति का सारा अलाय-बलाय अपने सिर लेती हैं और पति को वह पुण्य अर्जित करने देती हैं जिसकी सुगंध चारों ओर फैलकर दूर-दूर तक के वातावरण को सदियों तक महकाती रहती है। वास्तव में पति तो सुर्खरू होता है और पत्नी लोगों की कटु आलोचनाएं झेलती है। मैं एक बहुत छोटा साहित्यकार हूं किन्तु मैं मन की पूरी गहराई से अनुभव करता हूं कि मेरी पत्नी ने मेरे जीवन के तमाम विष को अपने भीतर उतारा है और मुझे अमृत दिया है। उनके द्वारा गृह-जंजाल से निश्चिंत कर दिये जाने के कारण ही मेरा इतना लिखना-पढ़ना संभव हो सका है। मेरी रक्षा के लिए उन्होंने न जाने कितनों की नाराजगी झेली होगी, कितनों की कटु आलोचनाएं पायी होंगी। बड़े लेखक हों या मेरे जैसे सामान्य लेखक, सभी जानते हैं कि उनकी पत्नियां जो कर रही हैं, उसमें उनकी भी इच्छा शामिल है, किन्तु स्वयं तो लोगों की दृष्टि में भद्र बने रहते हैं और उनकी पत्नियां उनकी इच्छा के इशारे पर आचरण करती हुई लोगों की दृष्टि में अप्रिय बन जाती हैं।

गुरुओं में बहुत-से लोग थे जिनके अपने-अपने रंग थे। पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र से तो पढ़ता ही आ रहा था और मिश्र जी अपने शास्त्रीय अध्यापन के लिए प्रख्यात थे। वे टेक्स्ट के गहरे पंडित थे। कविता पढ़ाते थे तो शास्त्रीय ढंग से उसे पूरा मूर्त कर देते थे। उनके पढ़ाने में रस होता था। रस के साथ व्यंग्य-विनोद का कॅंड़ापन भी होता था। ये क्लास में अपने ढंग से एक जीवंतता बनाये रखते थे। कविता पढ़ाने की प्रक्रिया में श्लेष आदि की मार करते रहते थे और लड़कों से कविता में प्रयुक्त अलंकार

भी पूछते थे। जब कोई लड़का सही अलंकार का नाम बता देता था तो वे एक खास अंदाज में बोलते थे—'येह !' मिश्र जी शास्त्र के पंडित थे और उसे सुलझाकर समझा था। वे साहित्यशास्त्र भी पढ़ाते थे लेकिन उसमें उनकी इतनी अच्छी पैठ थी कि उसे वे बहुत सुलझाकर रोचक बनाकर छात्रों के सामने परोसते थे। वे उसके भारीपन को काट-छांटकर उसके बुनियादी तत्त्वों को सामने रखते थे, किन्तु यह सब होता था शास्त्र की सीमा में ही। नवजीवनगत नया उन्मेष उसमें नहीं ला पाते थे। इसलिए वे द्विवेदी जी से तो अलग पड़ते ही थे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी अलग हो जाते थे जिनकी शिष्य परंपरा में उनकी गणना होती है। द्विवेदी जी के आने से इन्हें और शर्मा जी को बहुत चोट पहुंची थी। इसलिए ये लोग उनसे नाराज थे। शर्मा जी तो बाहर-बाहर ही बोलते थे, किन्तु मिश्र जी कक्षा में भी द्विवेदी जी पर व्यंग्य कसते थे जो हम लोगों को नागवार लगता था।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा से भी इंटर से ही पढ़ते आ रहे थे और उनसे अब काफी परिचित हो चुके थे। शर्मा जी शौकीन तबीयत के गुरु थे। बहुत सलीके से धोती-कुर्ता-टोपी पहनते थे। अंगुलियों में रंग-बिरंगी अंगूठियां शोभित रहतीं। शर्मा जी की चाल में एक अकड़ थी, वाणी में भी एक भंगिमा थी। वे वास्तव में साहित्य के अध्यापक की तरह नहीं, बल्कि उच्च समाज के एक नागरिक की तरह रहते थे। बड़े-से-बड़े लोगों मे मेल-जोल, उनसे समान स्तर पर बोलने-बतियाने और व्यवहार करने की ठसक उनमें थी। ज्यों-ज्यों मैं उनके नजदीक होता गया, उनके व्यक्तित्व की ये रेखाएं उभरती गईं। उनके लिखने और कक्षा में बोलने की भाषा में तत्सम शब्दों का अद्भुत समारोह दिखाई पड़ता था। सामान्य बात को भी वे छायावादियों की तरह शब्दाडंबर के साथ कहते थे। विद्यार्थी शुरू-शुरू में उनकी भाषा से बहुत अभिभूत होते थे, धीरे-धीरे वे उसकी सामान्यता को समझने लगते थे। वे कक्षा में आने पर नयी बात शुरू करने से पहले कल के दिए हुए लेक्चर के उत्तरार्ध को दुहराते थे और हम लोग नयी बात शुरू होने की प्रतीक्षा करते थे। वे पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आधुनिक कविता (संभवतः साकेत) पढ़ाते थे। शर्मा जी की पश्चिमी काव्यशास्त्र में विशेषतया कथा-साहित्यालोचन में अच्छी पैठ थी। जिस दिन वे विशेष तैयारी के साथ आते थे, उस दिन बहुत अच्छा पढ़ाते थे। 'कहानी का रचना विधान' पुस्तक अपने समय की बहुत अच्छी पुस्तक मानी जाती है। वह पुस्तक इस बात की परिचायक है कि कहानी की संरचना के विषय में शर्मा जी की समझ कितनी गहरी और साफ थी। इसी प्रकार उनकी अन्य पुस्तकें भी इस बात की प्रमाण हैं कि वे मन से जिस विषय में धंसते थे उसमें कुछ बहुत अच्छा कर दिखाते थे। सबसे मजेदार क्लास होती थी साकेत की। हम लोग जान लेते थे कि आज क्लास जल्दी ही छूटेगी। बात यह थी कि वे गुप्त जी के 'अहा', 'अहो' से बहुत चिढ़ते थे। जैसे ही अहा, अहो शब्द आते थे वे अटक जाते थे, उनका मुंह विकृत हो उठता था और कहते थे कि गुप्त जी के इम अहा, अहो से तो नाक में दम आ गया है। हम हंस पड़ते थे। मुंह बनाये हुए वे कुछ सेकंड रुकते थे—फिर कहते थे, जाओ। हम लोग हंसते हुए बाहर निकल आते थे।

और गुरु थे पंडित पद्मनारायण आचार्य, पं० करुणापति त्रिपाठी, डा० श्रीकृष्ण लाल, डा० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश', श्री विजय शंकर मल्ल, डा० राजपति दीक्षित। पं० पद्मनारायण आचार्य बहुत शिष्य-वत्सल थे। पत्नी के दिवंगत होने के बाद उनका मन काफी विरागी हो उठा था। बच्चों को संभालने की जिम्मेवारी और पत्नी-वियोग का स्थायी अवसाद—वे साहित्यिक और सामाजिक गतिविधियो से काफी दूर तक उदासीन हो गये थे। वे क्लास बहुत कम लेते थे, आते ही नहीं थे। मुझे याद है, बी० ए० के कुछ छात्र रोज विभाग में आते थे और पूछते थे—"आचार्य जी आये हुए है?" दस-बारह दिन मे किसी दिन वे आते दिखाई पड़ जाते तो लड़के विभाग के बाहर से ही उन्हें क्लास मे खींच ले जाते। व खिंचे हुए चले जाते।

छोटे-से कद के आचार्य जी लंबे-लंबे केश और छोटी-छोटी दाढ़ी रखते थे, कभी नही रखते थे। पत्नी के मरने मे अस्तव्यस्त हो उठे आचार्य जी पहले बहुत तेजस्वी रहे हैं। सुना था कि बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित साहित्यालोचन और भाषा-विज्ञान की निर्मिति मे आचार्य जी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मुझे लगता है, रही होगी। उन्होंने एक संस्था चला रखी थी। वे अपने घर छात्रों को बुलाते थे और भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, आधुनिक कविता सबंधी भाषण करवाते थे। जब कोई बोलने वाला नही आता था, तो स्वयं बोलते थे, हमारी शकाओं का समाधान करते थे। और लगता था कि उन्होंने चीजो का गहरा मनन किया है किन्तु अब सबसे संबध टूट-सा गया है। वे प्रसाद के बहुत बड़े भक्त थे। कामायनी के प्रति उन्हें गहरी श्रद्धा थी। उनके भीतर जो एक वैराग्यमूलक भाव आ गया था, उसी से वे प्रसाद के शृंगारिक प्रसंगों को भी देखते थे। एक बार क्लास मे किसी लड़के ने प्रसाद की शृंगारिकता के बारे मे कोई असुविधा का सवाल कर दिया। आचार्य जी तमतमा उठे और बोले—"प्रसाद के बारे में ऐसा प्रश्न करने वाला छात्र चरित्रहीन है।" एक बार वे प्रसाद की कहानी पुरस्कार पढ़ा रहे थे। बोले—"यह कहानी समझने के लिए 'कामायनी' पढ़नी पड़ेगी। कामायनी समझने के लिए कालिदास को पढ़ना आवश्यक है और कालिदास को समझने के लिए वेद पढ़ना अनिवार्य है।" हम लोग स्तब्ध थे। एक कहानी पढ़ने के लिए इतना कुछ पढ़ना चाहिए, यह कैसे होगा?

आचार्य जी की वाणी में बहुत प्रवाह और ओज था। यानी वे बहुत अच्छे वक्ता थे। वे चाहे जो कुछ कह रहे हों, हमे बहा ले जाते थे, किन्तु प्रसाद और संस्कृत साहित्य (विशेषतया कालिदास) के भावुक पाठक और वक्ता होने के बावजूद वे भाषा-विज्ञान के बिन्दु पर आकर बहुत वस्तुपरक हो उठते थे। मुझसे भाषा-विज्ञान के किसी प्रश्न पर लिखने को कहते तो मैं साहित्यिक पुट देकर लिखता, निरा तथ्य मुझसे लिखा ही नही जाता। इस पर वे मुझे बार-बार समझाते कि यहां साहित्य बिलकुल नही चलेगा। कोरा तथ्य लिखो। वे मुझे बहुत मानते थे। उनसे पारिवारिक सम्बन्ध हो गया था और बहुतों से हो गया था। वे बकरी पाले हुए थे, उसके दूध की चाय पिलाते थे। उस चाय में उनके स्नेह का रस मिला होता था इसलिए चाय बहुत स्वादिष्ट लगती थी। उनका घर हम अनेक छात्रों का घर हो गया था।

अन्य गुरुओं का भी स्नेह छात्रों को मिलता था और विभाग एक परिवार-सा लगता था। डा० श्रीकृष्ण लाल वैसे हमें 'कामायनी' पढाते थे किन्तु उनका पूरा व्यक्तित्व गद्यात्मक था। उनकी स्मृति अद्भुत थी। चाहे जीवन-व्यवहार का क्षेत्र हो चाहे साहित्य का, उन्हें बहुत-सी बातें याद थीं। पंडित करुणापति बनारसी सौम्य संस्कृति के प्रतीक थे। गोरे रंग और सौम्य सुदर रूप के धनी करुणापति जी रेशमी कुरते और खादी की धोती में खूब फबते थे। उनके माथे पर गोल-सा टीका दहकता रहता था। बड़े ही सौम्य अंदाज में पढ़ाते थे। राकेश जी का सुदर्शन व्यक्तित्व आधुनिकता लिए था। केवल वे ही (और कभी-कभी राजपति दीक्षित जी भी) सूट पहनते थे। आधुनिक वेशभूषा मे उनका सुंदर रूप बहुत प्रभावशाली लगता था। लेकिन इस आधुनिक वेश-भूषा मे वे आतंकित नही करते थे, उस वेशभूषा मे छलककर आता उनका स्नेह हमें आत्मीयता प्रदान करता था। श्री विजयशंकर मल्ल नयी चेतना के प्राध्यापक थे। बहुत धीरे-धीरे नाप-तोल कर बोलते थे। इसलिए वे क्लास में बहुत प्रभावित नही कर पाते थे, किन्तु वे अपनी नयी ठोस समझ के लिए विख्यात थे और हम नयी समझ के प्रत्याशी छात्र उनसे बाते करते तथा लाभान्वित होते थे।

अब फिर जरा लौटते है अपने साथियों की ओर। नामवर जी मुझसे एक साल आगे यानी एम० ए० फाइनल मे थे। वे द्विवेदी जी के परम प्रिय शिष्य थे। वे पहले से ही कुछ लाल थे, अब उनकी लाली गहरी होती जा रही थी। बाकायदा कम्युनिस्ट पार्टी से उनके सरोकार बनते जा रहे थे। साहित्य के क्षेत्र मे भी उनकी स्थिति अच्छी बनती जा रही थी। एक नये मित्र आये थे। वे बी० ए० फाइनल में थे और पिछले साल से ही उनसे परिचय बन गया था। वह परिचय अब लगातार गाढा हो रहा था। वे थे शिवप्रसाद सिंह। वे कहानिया लिखते थे। अच्छे छात्र भी थे। शरीर से भारी-भरकम थे और स्वभाव मे भी ठकुरई थी। किन्तु धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो उनसे परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों यह ज्ञात होता गया कि उनकी ठकुरई के नीचे एक तरलता थी। एम० ए० फाइनल मे गया तो वे एम० ए० मे आ गए। वे अच्छे छात्र तो थे ही, साहित्य-जगत् में भी उनका अच्छा प्रवेश हो गया था। उनकी कहानिया प्रतिष्ठित पत्रिकाओं मे छपने लगी थी, इसलिए उनकी ठकुरईजन्य ठसक में प्रतिभा के अहंकार का पानी चढ़ने लगा था। इसके बावजूद वे सहज थे, सरल थे। कोई बनाव-छिपाव नही था, जो थे सामने थे। इसलिए धीरे-धीरे उनके साथ मेरी मैत्री बढती गई। शिवप्रसाद की ठकुरई मुझे उन लोगो के शिष्ट रूप से ज्यादा प्यारी लगती थी जो ठाकुर या ब्राह्मण होकर मुंशी होते है। ये लोग बहुत शिष्ट, प्लेजेण्ट और सुसंस्कृत दीखने का प्रयत्न करते है, किन्तु उनके भीतर न जाने कितनी पर्तें होती है जिनके कारण वे बाहर से खुले दीखकर भी भीतर से बहुत बन्द और दुरूह हो उठते है। यदि आप भी वैसे है तो व्यावसायिक जोड़-तोड़ के कारण उनसे जुड़े रहने के लिए विवश होते है, किन्तु यदि शुद्ध मित्र की हैसियत से आप उनसे जुड़ेंगे तो न जाने कितनी बार, कितनी तरह से और कहां-कहां उनसे आहत होंगे, टूटेंगे। टूटन को अपने प्यार से जोड़ने की कोशिश करेंगे तो फिर कहीं और टूटेंगे और अंत में आप मान लेंगे कि इनके साथ चलना है तो इसी तरह चलना होगा या आप उनसे एकदम

उदासीन हो जायेंगे। लिहाजा शिवप्रसाद से मेरी दोस्ती गाढ़ी होती गयी। मेरी-उनकी साहित्यिक प्रतिस्पर्धा भी नहीं थी। वे कहानीकार थे, मैं कवि था। कहानियां मैं भी कभी-कभार लिखता था किन्तु कहानी मेरा क्षेत्र नहीं बन पायी थी। कविताएं मेरी भी छपती थीं इसलिए शिवप्रसाद से मेरी कोई टकराहट नहीं थी। शिवप्रसाद में एक खास तरह का देहाती लगाव था। मुझे याद है जब मैं फाइनल में था तो वैकल्पिक विषय के रूप में संस्कृत ली थी। पं० पद्मनारायण आचार्य संस्कृत पढ़ाते थे। पहले कह चुका हूं कि वे कालेज में कभी ही कभी आते थे। कुमारसंभव का पांचवां सर्ग कोर्स में था। आचार्य जी ने उसके शुरू के चार श्लोक शुरू करा रखे थे। डेढ़-दो महीने बाद आते तो फिर उसी को शुरू करते। इस तरह हमें लगा कि संस्कृत लेकर हम डूबे। बात-बात में मैंने शिवप्रसाद से यह बात कही तो बोले—मैंने बी० ए० में संस्कृत पढ़ी है और ये कविताएं भी पढी हैं, चलो मैं सहायता करता हूं। और शिवप्रसाद सिंह ने स्वयं तैयार करके मेरा कोर्स तैयार कराया—नियमित रूप से।

एम० ए० में मेरे नये साथी बने श्यामलाकान्त वर्मा। वे कबीर चौरा से आते थ साइकिल पर। वे भी तेज विद्यार्थी थे। एक तरह से हम दोनों परस्पर प्रतिस्पर्धी बन गये, किन्तु इस प्रतिस्पर्धा ने हमें अभिन्न मित्र बना दिया। हम साथ बैठते थे, साथ घूमते थे। पतली सांवली काया के श्यामलाकान्त में ऊर्जा बहुत थी। वे अपनी साइकिल पर बैठाकर हमें पूरा शहर घुमा लाते थे। मैं उनके घर भी जाता था, उनके परिवार से मेरा अच्छा सम्बन्ध हो गया था। हम एक-दूसरे के सुख-दुःख के साथी बन गये थे यद्यपि हमारे स्वभावों में काफी अंतर था। वे कभी-कभी अकारण तुर्श हो उठते थे और ऐसी-ऐसी बात कह देते थे जिससे मालूम पड़ता था कि उनके भीतर कोई ग्रंथि है। सन् '51 में मेरा पहला कविता-संग्रह 'पथ के गीत' छपा। श्यामलाकान्त जी का नाम उस पर प्रकाशक के रूप में छपा। वास्तव में वह पुस्तक छाप रहे थे मेरे मित्र रामायण राय। रामायण राय बी० ए० में मेरे सहपाठी और दोस्त थे। समाजवादी दल के सक्रिय कार्यकर्ता भी थे, बाद में वे एम० एल० ए०, एम० पी० और उत्तरप्रदेश सरकार के स्वास्थ्य राज्य मंत्री भी बने। उन दिनों उनका अपना प्रकाशन भी था। उन्होंने मेरा काव्य-संग्रह छापना स्वीकार कर लिया था, किन्तु टाल-मटोल करते गए, करते गए। पुस्तक-प्रकाशन के लिए मैंने उन्हें दो सौ रुपये दिए थे। दो फर्मे छपे किन्तु इसके बाद काम ठप्प हो गया। उनके बहनोई जयनाथ जी प्रेस चलाते थे। उन्हीं के प्रेस में किताब छप रही थी। रामायण जी सामाजिक कार्य करने की प्रक्रिया में बाहर चले गये। अंत में अपने खर्चे पर मुझे वह किताब छपवानी पड़ी और प्रकाशक के रूप में श्यामलाकान्त जी का नाम दिया। बाद में बेचारे को काफी असुविधा झेलनी पड़ी—यानी उनके पास तमाम पत्र आने लगे पुस्तक-प्रकाशन के संदर्भ में।

'पथ के गीत' छपने का बड़ा सुख था। गुरुवर द्विवेदी जी ने भूमिका लिखी, यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात थी। मेरी कविताएं मेरे गांव-जवार में और बनारस के परिवेश में भी काफी लोकप्रिय हुई थीं, इसलिए एक खुशफहमी थी कि इसकी हजार प्रतियां आसानी से बिक जायेंगी, किन्तु अनुभव कुछ और ही रहा। जो लोग बेचने को

ले गये वे पैसे लेकर नहीं आये । सौभाग्य से राजेन्द्रकुमार एण्ड संस बलिया ने उसकी बची प्रतियां उठा लीं और मैं संकट से मुक्त हुआ । यह और बात है कि प्रकाशक ने भी मुझे पूरे पैसे नहीं दिए ।

बी० एच० यू० में एम० ए० में सहशिक्षा शुरू होती थी । हमारी कक्षा में भी कई लड़कियां या महिलाएं थीं । उनमें से चार-पांच दक्षिण भारत की थी । क्लास में आपस में बातचीत करने की छूट थी । कह चुका हूं कि मैं स्त्रियों के प्रति स्वभावतः संकोची रहा हूं । धीरे-धीरे कई लड़कियां और महिलाएं मेरे करीब आयी । प्रायः मुझसे कुछ पूछती-पाछतीं और मेरे नोट भी ले जाती । उनके साहचर्य मे मुझे अच्छा भी लगता, किन्तु जो भी मेरे संपर्क में आती, मेरे प्रति एक पवित्र बंधु भाव लेकर आती । मेरे मन में सहज झिझक भले ही रही हो उनके मन में मेरे प्रति एक अद्भुत विश्वास दिखाई पड़ता । मेरा इमेज काफी ठीक-ठाक था, इसलिए मेरे साथ बातचीत करने में उन्हें बदनामी का भय नहीं होता था । मेरे साथ के कुछ बांके लोग उनके पीछे पड़े होते, बहुत घुलने-मिलने की कोशिश करते । वे जितनी कोशिश करते, वे उतना ही बिदकती । यानी मेरा संकोच बांकों की मुखरता की अपेक्षा उनको ज्यादा प्रिय था । मैं नही जानता कि मेरे प्रति सख्य या बंधु भाव के पीछे उनका रमणीय भाव कितना था । था कि नही । किन्तु इतना विश्वास जरूर था कि इनके मन मे मेरे लिए प्रिय भाव अवश्य था । एम० ए० के द्वितीय वर्ष में बाहर से प्राइवेट परीक्षा देने वाली लड़कियां आ गयी थी । उनमें एक बहुत ही बोल्ड और आधुनिक किस्म की थी, एकदम अभावुक और मुखर । ऐसा लगता था जैसे इसका किसी से कोई लगाव ही नही है । मुझसे पूछती-पाछती थी, दोस्त की तरह खुलकर बात करती थी । एम० ए० की परीक्षा हो गई थी । परीक्षा होते ही मैं ससुराल चला गया, क्योंकि श्रीमतीजी ससुराल में ही थी । चार-पांच दिन बाद लौटा तो मेरे एक मित्र ने बताया कि वह लड़की आज घर जा रही है, तुमसे न मिल पाने के कारण बहुत परेशान है । तुम्हें कई बार पूछ चुकी है । कृपया स्टेशन पर चले जाओ । मैं पहुंचा तो स्टेशन पर बैठी थी । मुझे देखते ही भावुक हो उठी । गाड़ी आने का समय हो चुका था । उसने कहा—"तुम भी हमारे घर चलो ।" "आऊंगा जब तुम्हारी शादी होगी ।" धत्त कहके वह लजा गई ।

गाड़ी आयी । वह खिड़की के पास वाली सीट पर बैठ गई । फिर उसने कहा—"चलो, तुम भी मेरे साथ चलो ।" मैंने भी दुहराया—"जब तुम्हारी शादी होगी तब आऊंगा ।" फिर उसने धत्त कहा ।

"क्यों, शादी नहीं करोगी ?" गाड़ी रेंगने लगी थी । मैं साथ-साथ चलने लगा । उसने कहा—"कर लूंगी, तुम्हारे जैसा कोई लड़का मिल जायेगा तो !"

गाड़ी जोर से झकझकायी और तेज हो गयी । मैं रुक गया । वह देर तक हाथ हिलाती रही । और मुझे विश्वास हो गया कि सादगी में भी जरूर कोई आकर्षण होता होगा और यह भी कि मन की परतें न जाने कितना कुछ छिपाये रहती हैं, कुछ खुलकर भी बन्द रहता है, कुछ बन्द रहकर भी खुलता रहता है ।

लड़कियों के साहचर्य से मैं बहुत घबराता रहा हूं । ऐसा नहीं है कि यह साहचर्य

मुझे अच्छा नहीं लगता। अच्छा तो लगता है किन्तु अटट देहाती संस्कार का मेरा झेंपू स्वभाव इनके साहचर्य से घबराता था। बी० ए० में था तो मेरे मित्र विपिन के एक दोस्त आये। विपिन ने मुझे अपने कमरे में बुलाया। वहां विपिन के दोस्त के साथ एक बहुत सुदर्शना और आधुनिक किस्म की महिला बैठी थीं। विपिन ने मेरा परिचय कराया तो महिला तपाक से बोली—"मैं अमुक हू और ही इज माई हसबेंड।" किसी महिला की इस प्रकार की बोल्डनेस का पहला परिचय था। विपिन ने कहा—"भाभी जी बी० ए० का इम्तहान देने आई हैं, इन्हें हिन्दी में जरा मदद कर दो।" यह तय हुआ कि मैं कल महिला छात्रावास जाऊंगा, वहां गेट पर वे मिलेंगी या मैं रजिस्टर में नाम लिखकर उन्हें बुलवा लूंगा। फिर वे अन्दर ले जायेंगी और किसी नियत स्थान पर पढ़ेंगी।

मैंने हां तो कह दिया किन्तु घबराहट के मारे मुझे रात-भर नींद नहीं आई। प्राचीरों से घिरा हुआ महिला कालेज और छात्रावास मुझे बहुत आतंकित करता था। उसके आतंक-द्वार पर न जाने कितने मिलन-प्रार्थी धैर्य के साथ प्रतीक्षा करते रहते, किन्तु मैं तो दूर से ही डर जाता था। आज सुबह से ही मन में हो रहा था, वहां जाना है। नियत समय पर मैं धीरे-धीरे वहां पहुंचा। गेट से कुछ दूर खड़ा होकर देखता रहा कि वे महिला बाहर आयी हैं कि नहीं। दिखाई नहीं पड़ी। गेट पर जाकर उन्हें भीतर से बुलवाने की हिम्मत नहीं पड़ी। न जाने द्वार-रक्षक जी कितने सवालों के घेरे में मुझे जकड़ेंगे। मैं कुछ देर तक वहां टहलता रहा। टहलना भी बुरा लग रहा था। कोई यह न समझ ले कि मैं भी किसी का प्रत्याशी हूं। इसलिए धीरे-धीरे मुडा और जल्दी-जल्दी चलकर हॉस्टल आ गया। विपिन ने पूछा तो डांट दिया—"मैं नही जाता-वाता उस जेल में।"

लेकिन आखिर इस जेल में एक दिन फंस ही गया। मैं एम० ए० प्रथम वर्ष में था और मेरी पत्नी सरस्वती जी की एक शिक्षिका एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा देने आयी थीं। सरस्वती जी ने लिखा था कि मैं इनकी कुछ सहायता करूं। वे काफी वयस्का थीं, अपनी मां के साथ आयी थीं। कभी अपनी मां के साथ मेरे कमरे में पढ़ने आ जातीं, कभी अपने डेरे पर मुझे बुला लेतीं। वे ठेठ मध्यवर्गीय रूढ़ मानसिकता की महिला थीं। पति-परित्यक्ता थीं इसलिए उनकी मानसिकता और भी असहज हो उठी थी। रूढ़ धार्मिकता के जाल में बुरी तरह उलझी थीं। पता नहीं यह जाल पति-परित्यक्ता होने का कारण था या परिणाम। वे घनानंद पढ़ती थीं तो मुझे बहुत हंसी आ जाती थी। वे पढ़ते-पढ़ते कहती थीं—"हाय रे, बेचारे को कितना कष्ट उठाना पड़ा था।" मैं पढ़ाना रोक देता। फिर पढ़ाता और फिर उनका यही रिमार्क सुनता। मुझे लगता है कि वे घनानंद की वेदना से अपनी वेदना का तादात्म्य कर लेती थीं। एक दिन वे बोलीं कि मुझे महिला छात्रावास में रहना है। आज प्रिंसिपल ने (या वार्डन ने) बुलाया है बात-चीत करने के लिए। हम लोग डेरे पर से महिला कालेज की ओर चले। गेट पर आकर मैं बिछड़ने लगा तो वे बोलीं—"आप भी अन्दर चलिए न।" "ना बाबा ना, मैं अंदर क्या करने जाऊं? मुझे तो बाहर से ही बहुत डर लगता है।" वे हंसकर बोलीं—"अरे

मैं हूं न, इसमें डरने की कौन-सी बात है ?" मन मारकर मैं उनके साथ पहली बार इस महाकारागार में प्रविष्ट हुआ। उनके साथ होने के बावजूद भीतर से घबराया हुआ।

हम अंदर की ओर चलते गये। ज्ञात हुआ कि छात्रावास पीछे की ओर है। काफी फासला पार कर हम छात्रावास तक पहुंचे। उन्होंने गेट पर पहुंचकर कहा—"आप यहीं खड़े रहिए, मैं वार्डन से बातचीत करके अभी आती हूं।" वे मुझे छोड़कर अंदर चली गयीं। बसंत की शाम थी। अंधकार गहरा रहा था। चारों ओर पार्क में फूल खिले हुए थे। सुगंध की खुमारी-भरी बसंती हवा सांसों से टकरा रही थी, लेकिन महिला छात्रावास में उमड़े हुए बसंत के बीच मैं डरा-डरा-सा खड़ा था। श्रीमती शिक्षिका जी अंदर गयीं तो गयीं ही रह गयीं और मैं इस झुटपुटे में अकेला खड़ा सोच रहा था कि क्या करूं ? कोई मुझे इस तरह खड़ा देखे तो क्या कहेगा ? इच्छा होती थी कि वापस लौट चलूं, लेकिन गेट तक पहुंचते-पहुंचते मैं बीच में ही पकड लिया जाऊंगा। इलजाम लगेगा कि मैं कोई गुंडा एलिमेंट हूं, अन्दर घुसकर कुछ अनर्थ करना चाहता था। क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मन-ही-मन शिक्षिका जी पर क्रुद्ध हो रहा था—"अहमक औरत।" तब तक सुना कि अंदर से हंसी का कोलाहल बाहर की ओर आ रहा है। मैं घबराया कि अब मेरी गत बनी। दस-बारह लड़कियां हंसती हुई ज्योंही गेट पर आईं मुझे देखकर चिल्ला उठीं—"भूत भूत भूत" और भीतर की ओर भागीं। मेरी क्या हालत हुई होगी, कल्पना कर सकते है। मैंने अपने कपड़ों की ओर गौर किया। अरे, यह काली पेंट और शर्ट मुझे आज ही पहननी थी ! कुछ देर बाद देखा कि दस-पंद्रह लड़कियां टार्च और लालटेन लिए बाहर निकलीं और जहां मैं खड़ा था उधर इशारा करके बोलीं—"वह देखिए।" तब तक श्रीमती शिक्षिका जी झपटी हुई अन्दर से आईं और बोलीं—"अरे, ये तो मेरे साथ हैं।" लड़कियां खिलखिलाकर हंसने लगीं, उनका डर विनोद में बदल गया और मेरे चलते-चलते एक ने कहा—"देखना, यह समाचार कल पेपर में जरूर आ जायेगा।" मैं मारे गुस्से के चुप था। शिक्षिका जी ने जब कुछ पूछा तो मैं गुस्से में उबल पड़ा—"यह कौन-सा करतब किया आपने कि इस सुनसान में लाकर खड़ा कर दिया और स्वयं अंदर जाकर गुम हो गईं ? यह भी खयाल नहीं आया कि इस खतरनाक माहौल में बाहर किसी को खड़ा कर आई हैं ?" वे सफाई देने लगीं कि बातचीत में देर हो गई। मैं मन-ही-मन क्रोध से सोचने लगा कि यह मूर्ख और पति-परित्यक्ता होने ही लायक है, तब तक वे बोलीं—"कोई बात नहीं, आप कवि हैं, आपको किसी अनुभव से डरना नहीं चाहिए। यह भी आपके लिए अमूल्य अनुभव रहेगा।" उनकी इस बात ने मुझे भीतर से एकदम हलका कर दिया। तो यह महिला भीतर से कहीं विनोदी भी हैं।

29

मेरी क्लास में एक थे बिंदेश्वरीप्रसाद साहू। बांके यार थे। अच्छे खाते-पीते घर के मालूम पड़ते थे। चाल-ढाल-मुद्रा से वे परम रसिक लगते थे। प्रथम वर्ष में मेरा उनसे

कोई लगाव नहीं बन पाया था। जब मैं एम० ए० अंतिम वर्ष में बिड़ला छात्रावास में दाखला लेने आया तो यह जानकर हैरान हुआ कि बिन्देश्वरीप्रसाद साहू मेरा कमरा बुक करा चुके थे। यानी आगे के कमरे में वे स्वयं और पीछे के काउंटर कमरे में मैं। मेरे आते ही मुझसे मिले जैसे मेरे इंतजार में ही थे, और इस व्यवस्था की सूचना दी। मेरा मुंह उतर गया बल्कि तीता हो गया। साहू समझ गये। बोले—"यार, तुम डरते हो न कि मैं अच्छा आदमी नही हू ठीक है। मैं अच्छा आदमी नहीं हूं, किन्तु अच्छा दोस्त तो हो ही सकता हूं। पता नहीं शुरू मे ही मेरे मन में तुम्हारे प्रति एक अबोला लगाव क्यों रहा है? पिछले साल हम दूर-दूर ही रहे किन्तु मेरी इच्छा थी कि काश, मैं तुम्हारे संपर्क में आता। इसी भाव ने तुमसे पूछे बिना ही मुझसे यह काम करा दिया। मेरी सोहबत से डरते हो तो ठीक है, दूसरा कोई कमरा देख लो।"

साहू की इस आत्म-स्वीकृति ने मेरे भीतर उसके प्रति एक दूसरे भाव का संचार कर दिया और साथ ही मैंने चुनौती महसूस की। मैं ठीक रहूंगा तो क्या कर लेगा यह मेरा? मैं तो न जाने कितनी विपरीत स्थितियों में जीता रहा हूं और अपनी अस्मिता बनाये रहा हूं। सच बात तो यह है कि अनेक बिगड़ैल चालचलन वाले भी मेरे प्रति एक भद्र भाव रखते हैं। मेरा विल पावर कमजोर नहीं है तो मैं किसी से क्यों डरूं?

"क्या सोचा?" साहू ने पूछा।

"ठीक है, तुम्हारा निर्णय मेरे सिर-माथे।"

"मैं विश्वास दिलाता हूं कि इसके लिए तुम्हें पछताना नही पड़ेगा।" साहू ने बहुत दृढ़ता से कहा।

और वास्तव में पछताना नही पड़ा। साहू मेरे सुख-दुःख के साथी हो गए। वे रसिया थे। घुंघराले बड़े-बड़े बाल, फंसी धोती और कुर्ता, बड़ी-बड़ी आंखों में लाल-लाल डोरे। लड़कियों को देखते ही बहुत आर्द्र हो जाते थे। उनके पास एक रैले साइकिल थी। वह घूमती ही रहती थी। लड़कियों के वे बिना दाम के सेवक थे। उनके लिए किताबें और नोट मुहैया करने में उन्हें सुख मिलता था। किन्तु इस रसिकता के साथ-साथ वे बहुत अच्छे इंसान थे। उदारदिल, दोस्तों के सुख-दुःख में काम आने वाले, मनुष्य की पीड़ा से विचलित होने वाले। इसलिए वे अपनी भ्रमरवृत्ति के बावजूद, एक अच्छे व्यक्ति के रूप में जाने जाते थे। वे अपना ही नुकसान करते थे, दूसरों का नही। उनका सदाशयी रूप उन्हें मुझसे लगातार जोड़ता गया। वे अपनी साइकिल पर बैठाकर हमें शहर ले जाते थे। मेरे साथ साहित्यिक सभाओं में भी जाने लगे थे। मेरी सुविधा-असुविधा का ख्याल करते थे। उन्हें इस बात का बोध था कि मुझे प्रथम श्रेणी लानी है और उनका अपना क्या? परीक्षा देंगे, देंगे, नही देंगे। इसलिए उन्होंने मेरे खाने-पीने-नाश्ते-दूध आदि का हिसाब अपने पास रख लिया था और मुझे हिसाब-किताब से छुट्टी देकर केवल पढ़ने में लगा रखा था। जब कोई मुझसे मिलने आता तो साहू कह देते, अभी उनके पढ़ने का समय है, बाद में आइएगा। यानी वे मेरे अभिभावक बन गये थे। मैं उनके साथ घूमने जाया करता था, किन्तु कभी-कभी वे अकेले जाया करते थे। जब मैं भी चलने का आग्रह करता तो कहते—"नहीं, यहां मैं अकेला ही जाऊंगा।" मैं अपने लिए उनके इस

विवेक भाव के प्रति कृतज्ञता अनुभव करने लगता। यह व्यक्ति अपनी रसिकता की कमजोरियों से विवश है, किन्तु अपने एक दोस्त को उससे दूर रखना चाहता है। वह नहीं चाहता कि दोस्त का अच्छा इमेज कहीं कलंकित हो।

साहू में एक अद्भुत खुलापन था। क्लास की बहुत-सी लड़कियां प्राइवेट इम्तहान देने के लिए इस वर्ष आयी थीं। शहर में 'दीन विद्यालय' चलता था। वहां शाम को एम० ए० की पढ़ाई होती थी। ये लड़कियां वहां जाती थीं और आठ-नौ बजे वे महिला छात्रावास लौटती थीं। साहू भी जाते थे। पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि उनका साथ देने के लिए। उनके रिक्शे के पीछे अपनी साइकिल डाल देते थे और उनकी रखवाली करते आते थे। किसे किस पुस्तक की, किस नोट की आवश्यकता है, इसका खयाल रखते थे। इस प्रक्रिया में वे इस या उस लड़की के समीप होने की चेष्टा करते रहते थे और आकर मुझसे कहते थे—"यार, वह तो मुझे घास ही नहीं डालती। वह तो बार-बार तुम्हारी ही बात करती है। कहती है, वे बहुत अच्छे आदमी हैं, बहुत प्यारे आदमी हैं। हुंह, ससुरा सिर खपाता फिरूं मैं और प्यारे हो गये तुम।" लेकिन साहू यह बात बहुत प्यार से कहते थे। इसमें ईर्ष्या नहीं, मेरे प्रति उनका प्यार झलकता था। मैं हंसकर रह जाता।

कुल मिलाकर साहू मेरे बहुत प्यारे दोस्त बने। उनके साथ अनेक स्मृतियां जुड़ी है। आखिर उन्होंने एम० ए० की परीक्षा नहीं दी और नहीं दी तो नहीं ही दी। हा 'ला' किया, वह भी कई वर्षो में। लेकिन परीक्षा के पीछे वे कभी हलकान नहीं हुए। अपनी मस्ती बरकरार रखी और पास हुए तो उसी मस्ती से पास हुए, मस्ती छोड़कर पास होना उन्हें मजूर नहीं था। लगता है आखिर परीक्षा को ही हार माननी पड़ी।

एम० ए० द्वितीय वर्ष में मेरे जीवन में एक बहुत बड़ा दुष्ट ग्रह उदित हुआ था। वह ग्रह यदि सफल हो गया होता तो मेरे जीवन की दिशा ही बदल गई होती। वह भारतीय गणतंत्र का पहला चुनाव था। भइया से तमाम लोगों ने आग्रह किया कि एम० एल० ए० के चुनाव में मुझे उम्मीदवार बनायें। उन्होंने मुझसे कहा। मैं तो यह प्रस्ताव सुनते ही घबरा गया। व्यावहारिक राजनीति में मैं शून्य था। उसके प्रति मुझे कोई लगाव नहीं था। फिर एम० ए० का अंतिम वर्ष था। मुझे अच्छी श्रेणी में पास होना था। पास होने के बाद साहित्य और शिक्षा-जगत् में कुछ करने के सपने पाले हुए था। ये सारी बातें मैंने बतायीं किन्तु सबका समाधान कर दिया गया। भइया ने कहा—"तुम्हें अपना समय नहीं लगाना पड़ेगा, चुनाव-प्रचार मैं करूंगा और जहां तक बात साहित्य और शिक्षा-जगत् में कुछ करने की है वह एम० एल० ए० होने से कहां आहत हो रही है।" उन्होंने कई प्रसिद्ध साहित्यकारों और अध्यापकों के नाम गिना दिए जो व्यावहारिक राजनीति में सक्रिय थे। उन्होंने बार-बार कहा—"अपने जर-जवार के लोग तुम्हें चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कोई युवा व्यक्ति आये जो उनका दु:ख-दर्द ऊपर तक पहुंचा सके।" मैं भीतर से सहमत नहीं हुआ। मैं जानता था कि राजनीति का खेल मुझसे नहीं हो सकेगा, फिर भी मन मारकर स्वीकृति दे दी।

वैसे तो भइया प्रचार करेंगे ही, लेकिन एक बार तो जनता के दर्शन कर लेना

जरूरी होगा। अतः तय हुआ कि दिवाली की महीने-भर की छुट्टियों में मैं चुनाव-क्षेत्र में घूमूंगा। मैं छुट्टियों में घर पहुंचा और पहला भाषण अपने गाव मे ही दिया और गांव मेरे साथ हो गया। मेरे पास राजनीति की भाषा नही थी, साहित्य की भाषा थी। उसी भाषा में कुछ राजनीतिक ज्ञान का संस्पर्श देकर भाषण करने लगा। गाव-गांव घूमने लगा। पहले आसपास के गांवों में घूमा और लगा कि लोग मुझसे प्रभावित हो रहे हैं। एक तो लोग युवा व्यक्ति को चाहते थे जो मैं था, दूसरे कविता और साहित्यिक पुट वाले भाषण से प्रभावित हो रहे थे। मैं आसपास के गांवों के पढे-लिखों के बीच कवि के रूप मे जान लिया गया था। वहा जब मैं जाता और बोलता तो पढ़े-लिखे लोग अपनी सांस्कृतिक ऊचाई व्यक्त करने के लिए मेरी कविताओं और भाषण की सराहना करते थे, किन्तु मैं स्वयं अपने भाषण के खोखलेपन को समझता था। मेरे साथ मेरे गांव के और आसपास के गांवों के कई लोग होते थे जिनमें मदनेश जी का नाम विशेष महत्त्व का है। वे मेरे काव्य-गुरु रहे है और उन्हें मेरी उन्नति से निर्व्याज सुख मिलता था। हमारे पास कोई सवारी तो थी नही, बस पैदल घूमते थे। कभी उसी दिन, कभी दूसरे-तीसरे दिन शाम को घर लौटते थे। शरद की चादनी रात होती थी। आसपास के नालों मे अपना अवशेष छोडकर बाढ़ लौट गई थी और उनके किनारे कास के सफेद जगल फूले हुए चांदनी मे नहा रहे होते थे। आसपास गन्ने के खेतों का विस्तार था। मैं वहा से होकर लौटता था तो मेरा कवि-मन राजनीतिक यात्रा की सारी थकान भूलकर ताजा हो उठता था। चुप-चुप उनसे कहता था—दोस्तो, देख रहे हो न, लोग मुझे कहां लिए जा रहे हैं, मैं जहां कही रहूं, मेरा साथ न छोडना।

मेरा चुनाव-क्षेत्र काफी बडा था। महीना-भर हम पैदल गांव-गांव घूमते रहे। हमारे साथ कभी कोई होता, कभी कोई। जिस क्षेत्र में जिसका प्रभाव होता उसे हम साथ ले लेते। दोपहर और शाम को गांव के किसी व्यक्ति के यहां डेरा जमता, खाना बनता, भाषण होता, कुछ योजनाए बनती, वहां के लोगों से आश्वासन प्राप्त होता, हम आगे बढ़ते। हमारे साथ बरही के एक बाबू साहब, प्रभाकर सिंह, भी थे जो भइया के दोस्त थे। वे हमारे साथ थे। इतना ही नही, वे हमारे लिए जीवंत उत्साह थे। वे काली के पुजारी भी थे। उनके एक पट्टीदार भी उम्मीदवार थे, किन्तु बाबू साहब हमारे साथ थे। कहते थे—"तनी हेहर देखी, अरे ई मोहन जनखा आदमी क्या जीतेगा! अरे कवी जी प्रतापी आदमी है। भगवती मुझसे कह रही है कि कवी जी जीतेंगे और वोट गजो से ठूस-ठूसकर भरा जायगा।" उनकी बातों से हमारा खूब मनोरंजन होता था और हम अपनी थकान भूल जाते थे। इस तरह हम पूरे चुनाव-क्षेत्र का दौरा कर आये और हमारी गाठ से एक पैसा भी खर्च नही हुआ। पैसा खर्च न करना हमारी मजबूरी थी, किन्तु इसका नैतिक पहलू भी है। वह पहलू लोगों को प्रभावित कर रहा था। नैतिक पहलू यह कि उम्मीदवार पैदल चलकर अपने मतदाताओ के पास आया। जो लोग चुनाव जीतने के लिए बेतहाशा खर्च-वर्च करते है वे अपने गुणो से नहीं, पैसे से मत बटोरते हैं और ऐसे ही लोग जीतने के बाद अपना सारा खर्च कई गुना सूद के साथ जनता से वसूल करते है। चुनाव के क्षेत्र में इतनी गलाजत और क्रूरता इन्हीं लोगों ने

पैदा की है। मुझे इस बात का बड़ा सुख था कि मैं पूरी तहसील के गांव-गांव का दौरा कर आया और अनेक तरह के लोगों का साक्षात्कार किया।

मैं निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में खड़ा था। निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में और कई लोग थे जिनमे गोरखपुर के एक वकील साहब भी थे। कांग्रेस के उम्मीदवार बाबू अक्षयवर सिंह थे। वे पहले भी इस क्षेत्र से एम० एल० ए० थे। जनसंघ के उम्मीदवार ब्रह्मपुर के दूबे कपिलदेव वकील थे। पंडित विद्यानिवास मिश्र जी भी उम्मीदवार थे। बाद मे हट गये थे। सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार का नाम याद नहीं आ रहा। राजनीनि की दुनिया का पहला अनुभव था और पहला अनुभव यह हुआ कि इसमे कोई किसी का नही होता, सब कुछ अपना या अपने दल का स्वार्थ होता है। मेरे सबसे कट्टर विरोधी हुए मेरे प्रिय मित्र कपिलदेव। हमारी इतनी लम्बी दोस्ती राजनीति के क्षेत्र में आकर टकरा गयी। मैं तो साहित्य की ओर बढ़ता गया और वे राजनीति की ओर। वे समाजवादी दल के सदस्य थे और काफी दिनों से थे। उनके दल का भी व्यक्ति उठा था इसलिए उन्हें मित्र और दल के सदस्य के बीच चुनाव करना था। उन्होन एक राजनीतिक व्यक्ति की तरह दल का चुनाव किया जो ठीक ही था। अपनी सारी भावुकना के बावजूद मैं उनकी भूमिका के औचित्य को भीतर-भीतर समझ रहा था, किन्तु जिस तरह वे मेरा विरोध कर रहे थे और मुझमे एक कटाव अनुभव कर रहे थे, वह मुझे नागवार गुजर रहा था। नही मालूम उनके विरोध के मूल में दल-समर्थन कितना था और कितना मात्र विरोध-भाव। हा, उनके विरोध में विरोध-भाव भी हो सकता था। वे सोच सकते थे कि वे राजनीति के व्यक्ति होकर भी राजनीति का लाभ नही पा रहे है और मैं साहित्य का आदमी होकर राजनीति का लाभ उठाने आ रहा हूं। जो भी हो, उनके विरोध में कुछ ऐसा अवश्य था जिसे शुद्ध सैद्धांतिक विरोध नही कह सकते। बहरहाल राजनीति की दुनिया में प्रवेश करने से पहले ही सम्बन्धों पर उसके आघात को देख रहा था।

गोरखपुर के वकील साहब भी निर्दलीय थे। वे बहुत शौकीन तबीयत के थे। उन्होने अनेक शौक पाल रखे थे, सोचा कि एक और शौक पाल लें। वे जहां कहीं प्रचार को जाते थे मेरा ही नाम सुनते थे, इसलिए उन्हें महसूस हुआ कि उनका असली प्रतिद्वन्द्वी मैं ही हूं। हालाकि उन्हें कोई भी अपना प्रतिद्वन्द्वी नही मानता था, उनकी कोई बिसात ही नही थी। वैसे वे पैसे वाले थे और कई स्थानीय संस्थाओं मे प्रभावशाली सदस्य या पदाधिकारी थे, किन्तु देहाती जनता के बीच इस शहरी बाबू का कोई अस्तित्व नहीं था। फिर भी उन्हें भ्रम था कि मैं उनके रास्ते से हट जाऊं तो वे जीतेंगे। अंततः उन्होंने मुझे अपने रास्ते मे से हटा देने में सफलता पा ली, किन्तु उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ, उनकी जमानत जब्त हो गई।

हुआ यह कि मेरा परचा दाखिल कराया मेरे चचेरे भाई प्रतिष्ठित बैरिस्टर श्री कैलाशपति मिश्र ने। उन्होंने वह परचा एक दूसरे साथी वकील को दिखा दिया। उस वकील ने ओ० के० कर दिया। रिटर्निंग आफिसर (एक मजिस्ट्रेट) के इजलास में परचे की जांच-पड़ताल का दिन आ गया। हम जुटे तो मेरे प्रतिस्पर्धी वकील साहब ने

मेरे परचे को सदोष बताया। तब हमें मालूम हुआ कि ओ० के० कहने वाला वकील हरामी था, उसने गलती देख ली थी और चुपके से इन्हें बता दिया था। बात इतनी थी कि मैंने अपने भाई साहब को अपना चुनाव प्रतिनिधि बनाया था, उसके नीचे हस्ताक्षर नही किया था। यह दोष जब एकाएक सामने आया तो क्षण-भर के लिए कैलाशपति भाई भी अप्रकृतिस्थ हो उठे, किन्तु फिर वे बहस करते हुए यह सिद्ध करने मे जुट गए कि यह गलती नही है और अततोगत्वा उन प्रतिस्पर्धी वकील साहब के विरोध के बावजूद दो दिन बाद की तारीख डलवाने में सफल हो गये।

कांग्रेस के उम्मीदवार अक्षयवर सिंह, जनसंघ के उम्मीदवार वकील कपिलदेव दूबे का व्यवहार मेरे प्रति बहुत शिष्ट था। उसमे राजनीतिक प्रतिस्पर्धा की कोई गंध नही थी। दो दिन का मौका मिला था। कैलाशपति भाई के सहयोग से हम शहर के दो नामी वकीलों—श्री सुखदेव सिंह और श्री सान्याल की सहायता पाने मे सफल हो गये। इन लोगो ने केवल एक युवा व्यक्ति का केस मानकर इसमे बहस करना स्वीकार किया, इसके लिए उन्होने एक पैसा भी फीस नही ली और न ही तो अपने पैसे से रिक्शे पर आये-गये। बहस के दिन दोनो वकील आये और एक मजमा लग गया। श्री सुखदेव सिंह ने बहुत सहज भाव से मजिस्ट्रेट को समझा दिया कि परचे मे कोई गलती नही है। प्रतिस्पर्धी वकील साहब की बोलती बन्द हो गयी थी और मजिस्ट्रेट के चेहरे को देखकर लग रहा था कि वह सुखदेव सिंह के तर्क से सहमत हो गया है।

वे बहस करके चले गये तो उम्मीदवार वकील साहब न कोर्ट मे एक दूसरा पासा फेका। वह यह कि मेरी उम्र अपेक्षित उम्र से कम है। और उन्होने न जाने कहा से मेरे मिडिल स्कूल का एक जाली सर्टिफिकेट बनवा लिया। मैने अपना मैट्रिक का सर्टिफिकेट दिखाया। मजिस्ट्रेट ने मेरा सर्टिफिकेट गौर से देखा और उन वकील साहब से कहा—"नो नो मिस्टर, आपकी सर्टिफिकेट सही नही है।" मैने तैश मे आकर कहा—"देखिये सर, ये फ्राड कर रहे है।" वकील साहब ने तुरन्त मजिस्ट्रेट से शिकायत की—"देखिये सर, ये मुझे फ्राड कह रहे है।" मजिस्ट्रेट ने मुझे घूरकर देखा। तब तक वकील कपिलदेव दूबे मेरी बाह पकडकर खीच ले गये—"चलिए मिसिर जी, बाहर चला जाय।" बाहर आकर कहा—"कचहरी में इस तरह नही कहा जाता।" और मैं आज तक नही समझ सका कि कचहरी में फ्राड को फ्राड क्यों नही कहना चाहिए। मजिस्ट्रेट स्वयं भी अनुभव कर रहा है कि मेरे खिलाफ फ्राड रचा जा रहा है और उसने उस फ्राड के विरुद्ध अपना निर्णय दिया। तब भी फ्राड को फ्राड कहने मे कौन-सा नैतिक या कानूनी दायित्व बाधक हो रहा है! यह अजीब है न कि कचहरी में दिन-रात फ्राड होता है, किन्तु उसे फ्राड कहना गैरकानूनी है।

खैर, पीछे से भइया, कैलाशपति भाई और अन्य लोग आये और बताया कि लंच के बाद फैसला सुनाया जाएगा। देखा गया कि प्रत्याशी वकील मजिस्ट्रेट के साथ-साथ जा रहे थे। आशंका हुई कि कहीं वकील उन्हें समझा-बुझा न रहा हो। किसी ने बताया, संभव हो सकता है क्योंकि दोनों हमप्याला है। कैलाशपति भाई ने प्रतिवाद किया—"नही, ऐसा नही होता है," किन्तु हुआ वैसा ही। लंच के बाद हम मजिस्ट्रेट

के सामने गये तो वे बोले—"सॉरी मिस्टर मिश्रा, आपका परचा खारिज करना पड़ रहा है।" फिर वे मेरे प्रति व्यक्तिगत हो आये, बोले—"अरे, अभी आपके पढ़ने का समय है, आप अच्छे विद्यार्थी हैं, कहां इस झमेले में पड़ गये।"

वैसे उनकी बात सही थी और भीतर से मैं भी इसे झमेला ही समझता था, किन्तु जब इस झमेले में किसी वजह से उतर ही गया था तो उससे एक हलका-सा लगाव भी हो गया था। इसलिए परचा खारिज होने की सूचना से मैं एकाएक उदास हो आया और उनकी सीख पर क्रुद्ध भी। बोला—"धन्यवाद महाशय, इस नेक सलाह के लिए, किन्तु मैं अच्छी तरह जानता हूं मुझे क्या करना है।" मैंने मजिस्ट्रेट की ओर गुस्से से देखा और बाहर आ गया।

मैं तो लौटकर अपनी पढ़ाई-लिखाई में जुट गया किन्तु भइया चैन से नहीं बैठे। उन्होंने हाईकोर्ट में रिट दाखिल कर दिया। कुछ खास हुआ-वुआ नहीं किन्तु मजिस्ट्रेट और उनके आफिस के लोग परेशान तो हुए ही। उनके लोग हाईकोर्ट तक दौड़े। हाईकोर्ट में भी भइया ने खर्च नहीं किया, वहां पंडित रामवृक्ष मिश्र मुफ्त में यह केस लड़े। सुना कि मजिस्ट्रेट चुनाव-क्षेत्र में जाने की प्रक्रिया में घोड़े से गिर पड़े और उनकी एक टांग टूट गई और यह भी सुना कि वे कह रहे थे कि जहां जा रहा हूं उस लड़के के पक्ष में लोगों को देख रहा हूं। लगता है उसका परचा खारिज करके मैंने गलती की। कांग्रेस के उम्मीदवार अक्षयवर सिंह जीते। भइया ने उनकी सहायता की। बाकी सभी लोगों की जमानत जब्त हो गई। और मैं एम० एल० ए० होते-होते रह गया और मेरा भाग्य राजनीति की कुचक्री दुनिया में फंसते-फंसते रह गया। वहां गया होता तो न माया मिलती न राम। साहित्य की दुनिया में राजनीति का कुचक्र कम तो नहीं, चाहे प्रतिष्ठा और पुरस्कार पाना हो, चाहे आलोचकों के मूल्यांकन से गुजरकर स्थापित होना हो। राजनीति की माया यहां भी दिखाई पड़ रही है और यदि साहित्य की राजनीति मेरी समझ में नहीं आयी तो राजनीति की राजनीति मेरी समझ में कहां आती? और तब मैं न साहित्यकार रह पाता और न राजनीतिक। फिलहाल साहित्यकार तो हूं और पूरे मन से हूं। साहित्य की राजनीति किसी को तात्कालिक लाभ भले दे दे, किन्तु साहित्य को स्थायी होने के लिए अन्ततोगत्वा साहित्य ही होना चाहिए। किसी का स्थायी साहित्य होता है कि नहीं, इसका फैसला वह तो नहीं कर सकता, किन्तु इतना तो वह जानता ही है कि साहित्य-कर्म से उसका जुड़ाव कितना आन्तरिक या कि कितना फैशनपरस्त है। यदि उसका जुड़ाव आन्तरिक है, यदि साहित्य-कर्म उसकी वरीयता है, यदि वह जानता है कि साहित्य-कर्म के बिना उसका जीवन अधूरा या असार्थक है तो वह अपनी शक्ति-भर साहित्य को स्थायी साहित्य बनाने की दिशा में प्रयत्नशील है। और मैं आज अपने निर्णय के प्रति नहीं, उस मजिस्ट्रेट के निर्णय के प्रति कृतज्ञ हूं कि उसने मुझे साहित्यकार रहने दिया।

एम० ए० की परीक्षा हुई। मेहनत करते-करते लस्तपस्त हो गया था। पंडित जी प्रायः शाम को टहलते हुए मिल जाते थे। मैं एक दिन बहुत दुःखी था। मध्यकालीन कविता का पेपर किया था। सूरदास पर एक प्रश्न था। मैंने बहुत इतमीनान से सवाल

करना शुरू किया। चार पृष्ठ लिखने के बाद मैंने प्रश्न फिर देखा और यह देखकर घबरा गया कि प्रश्न भ्रमरगीत पर आधारित है और मैं पूरा सूरसागर लेकर चल रहा हूं। आधा घंटा व्यतीत हो चुका था। मैने चार पृष्ठ काटे और जल्दी-जल्दी लिखने लगा। प्रश्न तो सारे कर लिए किन्तु मन को सन्तोष नहीं हुआ। पंडित जी मिले तो उन्हें बताया। वे हंसे और बोले— 'तब तुमने फालतू नही, टू द प्वाइंट लिखा होगा।" मैं समझा कि मुझे दिलासा दे रहे हैं। और परीक्षाफल निकलने पर मुझे यह देखकर हैरत हुई कि सचमुच उस पेपर में मुझे सबसे अधिक अंक मिले थे।

पंडित जी के ही निर्देशन में एम० ए० का लघु शोध-प्रबन्ध लिख रहा था। उन्होंने विषय दिया था—'ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा'। शाम को टहलते समय वे प्रायः इस विषय पर बातें करते थे और सहज बातचीत में ही एक-एक अमूल्य सूत्र प्रदान करते थे। मैं उन सूत्रों का मूल्यवान उपयोग नहीं कर सका तो यह मेरी सीमा थी।

एम० ए० की परीक्षा के बाद लघु शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर मैं गोरखपुर चला गया। कभी गांव जाता, कभी गोरखपुर आ जाता। यों तो गोरखपुर मे मेरी ससुराल थी, किन्तु मेरा अधिक समय बीतता विद्याधर द्विवेदी विज्ञ के यहां। बल्कि मैं ससुराल की अपेक्षा वहां ज्यादा ठहरता। मेरी पत्नी भी मेरे साथ होतीं। विद्याधर से बरसों में मेरी गहरी मैत्री हो चुकी थी। वह निरन्तर बढ़ती ही गई। वे धीरे-धीरे कवि बनते गये और बहुत अच्छी कविताएं लिखने लगे। बहरहाल इनमे आप मेरे बाद में अनेक आत्मीय प्रसंगों में मिलेंगे इसलिए यहां केवल इतना ही कहना है कि मैं उनके यहां ठहरा हुआ था। परिणाम आया। मैने देखा—प्रथम श्रेणी में प्रथम। मैंने खुशी से पुकारा, "विज्ञ जी !" "हां," वे दौड़े हुए आये। "मैं प्रथम श्रेणी में प्रथम आया।" लगा जैसे वे स्वयं आये हों। सचमुच मेरी खुशी और गम उनकी खुशी और गम से एक हो गये थे। वे खुशी से नाचने लगे। उन्होंने मिठाइयां बांटीं। घर आया। भइया ने सुना, परिवार के अन्य लोगों ने सुना। भइया को लगा कि उनकी साधना पूरी हो गई। पत्नी की आंखें उत्साह और गर्व से छलक रही थीं।

जब खुशी का दौर थमा तो सोचा—'अब ?' भइया की नौकरी ठंडी हो चुकी थी तो भी उन्होंने अपना पूरा जोर लगाकर मुझे एम० ए० की मंजिल तक पहुंचा दिया। मैं एम० ए० करने के बाद अपना नैतिक दायित्व समझने लगा कि अब मैं घर की सहायता करूं। भइया नौकरी की पराधीनता से ऊब चुके थे। वे सामाजिक सेवा और राष्ट्रीय गतिविधियों में अपने को नियोजित करना चाहते थे। इस इच्छा को वे कब से दबाए चले आ रहे थे—घर के कारण और विशेषतया मेरे कारण। कोई काम न होने के बावजूद बच्चा बाबू उन्हें नौकरी में उलझाए हुए थे और भइया का कर्मठ स्वभाव इस स्थिति के विरुद्ध बार-बार विद्रोह कर रहा था। अतः वे एक दिन पगहा तुड़ाकर वहां मे चले ही आये और बच्चा बाबू की नाराजगी मोल ले ली। ऐसी स्थिति में मेरा दायित्व बढ़ गया था। उन्होंने दायित्व की मशाल मुझे थमायी तो नहीं, किन्तु मैं अनुभव करने लगा कि मुझे उसे अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।

इसी मानसिकता में मैं खड़ा था। पीछे मुडकर देख रहा था—रोशनी की अनंत पगडंडियां थीं जो टूट-टूटकर भी मुझे एक-दूसरे से जोड़ती चली गई थीं और अंततोगत्वा इस मंजिल पर पहुंचा दिया और मैं फिर आगे की ओर देख रहा था—दायित्व से भरा हुआ एक भविष्य जो कभी कोई रूप लेता था, कभी एकदम निराकार हो जाता था।

टूटते-बनते दिन

एम० ए० करने के बाद पी-एच० डी० तो करना ही था। प्राध्यापकी का लक्ष्य तो निश्चित था ही इसलिए जुलाई शुरू होते ही बनारस पहुंचना था किन्तु एम० ए० पास करने के बाद परिवार के प्रति मेरी जिम्मेदारी बढ़ गई थी। भइया अब नौकरी मे नहीं थे इसलिए मुझे लगता था कि मुझे अब अर्जन करना चाहिए। 'अर्जन करना चाहिए' इच्छा होना ही तो पर्याप्त नही था, उसे व्यवहार में उतारना तब सम्भव कहां था? फिर भी पत्नी की पूरी जिम्मेदारी तो मुझे भी उठानी ही थी। यानी उन्हें अपने साथ ले चलना था। वे मैट्रिक पास हो गयी थी। इंटरमीडिएट मे उनका दाखिला भी कराना था। किन्तु किस आधार पर ले चलू ? अभी आर्थिक आधार क्या है? यही सब सोचता हुआ परेशान था लेकिन यह तो निश्चित कर ही लिया था कि पत्नी को साथ ले जाऊंगा।

बिना किसी व्यवस्था के पत्नी को साथ ले जाना तो सभव नही था अतः पहले पी-एच० डी० मे दाखिला लेने के लिए अकेला ही बनारस पहुंचा। पी-एच० डी० का फार्म भरा। गुरुवर द्विवेदी जी के निर्देशन में ही मुझे काम करना था। उन्होंने विषय दिया—'हिन्दी साहित्य की दसवी से तेरहवी शताब्दी तक की सामग्रियों का पुनः परीक्षण'। भारी-भरकम विषय था किन्तु विश्वास था कि गुरुदेव की कृपा से विषय निभ ही जाएगा। उनसे घरेलू बात भी की। उन्होने आश्वस्त किया कि स्कालरशिप तो मिल ही जाएगी। इस आश्वस्ति से मैंने निश्चित कर लिया कि दो-चार दिन में गोरखपुर जाकर पत्नी को लाऊंगा। समस्या मकान की थी। अतः मैंने मकान की तलाश की। मुझे याद नही, किस स्रोत से पता लगाकर मैं भक्ति-भवन, सिगरा पहुंच गया। एक बडा-सा मकान था, उसका बहुत बडा अहाता था। मुख्य मकान से सटे हुए बैरकनुमा सात-आठ कमरे बने हुए थे। वे किराये पर उठाये जाते थे। कमरों के पीछे नीबुओं का विशाल बगीचा था। अहाते मे कुछ पेड थे और आगे एक बडा-सा पोखरा था। यानी कुल मिलाकर यह एक निचाट स्थान था। और तो और, मुख्य सड़क से इस मकान तक आने की जो फर्लांग-भर लम्बी सड़क थी, उसके अगल-बगल कोई मकान नही था। मकान के मुख्य भाग में उसके बूढ़े मालिक और मालकिन थे और उसके नीचे के भाग में एक परिबार किराये पर रहता था। बाद में मालूम पड़ा कि वे मित्तल साहब थे।

मकान लेने गया तो मकान मालिक के साथ मित्तल साहब भी मिले और मित्तल साहब ज्यादा मुखर थे। बल्कि, मकान मालिक की ओर से किराये आदि की

बातचीत भी उन्होंने ही की। बहरहाल उस बैरक में दो कमरे बीस रुपये में तय हुए। मन में भय तो था कि इस सुनसान निचाट जगह में कैसे रहा जा सकता है किन्तु बीस रुपये में दो कमरे और कहां मिलेंगे और जिसे सुनसान और निचाट समझ रहा हूं वहां खुलापन भी तो है। सघन बसे हुए बनारस शहर में इतना खुला अहाता, ये पेड़-पौधे, यह खुली हवा कहां नसीब है? इस तर्क ने मकान पाने के उत्साह को दुगुना कर दिया। गोरखपुर जाकर पत्नी को ले आया।

सुबह-सुबह पत्नी को लेकर सरोसामान के साथ भक्ति-भवन पहुंचा तो मकान मालिक चाचा जी अहाते मे टहल रहे थे। उन्होंने हमें देखकर पूछा—"कौन है आप लोग, कैसे आये है?"

"हम आपके किरायेदार है। यहा रहने आये है।"

"यहां कोई कमरा-वमरा खाली नही है।"

"अरे, अभी तो चार दिन पहले आपसे बात करके गया हूं, दस रुपये एडवास भी दे चुका हूं।" मैं रुआंसा-सा हो आया कि सामान लेकर कहा जाऊंगा! तब तक मित्तल साहब निकल आये और बोले—"आइये, आइये, स्वागत है।"

"लेकिन यह तो कह रहे है कि यहां कोई जगह ही नही है।"

"अरे, आप आइए!" और उन्होने मकान मालिक की ओर मुडकर कहा—"आप भूल जाते है चाचा जी! अभी चार दिन पहले तो ये बेचारे आये थ और कमरा ठीक करके गये थे।"

"अच्छा-अच्छा, ठीक है, जाइए साहब, कमरे मे सामान रखिए।"

कुंजी मित्तल साहब के ही पास थी। उन्होंने साथ जाकर कमरा खोला और मुझे जो परेशानी हुई थी उसे कम करने के लिए कहा—"माफ कीजिए, चाचा जी जरा भूल जाते हैं। इसका बुरा मत मानिए।" मेरी तो जान में जान आयी थी इसलिए परेशानी के बावजूद राहत अनुभव कर रहा था।

"कोई जरूरत हो तो मुझसे निस्संकोच कहिएगा। मेरा परिवार नीचे वाले हिस्से में रहता है।"

"जी-जी, बहुत-बहुत धन्यवाद। अब तो आप ही लोग हमारे सुख-दुःख के साथी हैं।"

"श्योर, श्योर!" और वे चले गये।

बैरकनुमा कमरे जहां से शुरू होते थे वहां के पहले और दूसरे कमरे मुझे मिले थे। एक कमरा तो मुख्य मकान के अन्तर्गत ही था, दूसरा उससे बाहर होकर था। पीछे एक आंगन था। आंगन मे ही रसोईघर था और आंगन के पीछे नींबुओं का जंगली बगीचा था जहां दिन को भी अंधकार घिरा रहता था। आंगन से नींबुओं के बगीचे की ओर निकलने के लिए एक खिड़की थी और वही बाहर शौचालय बना हुआ था। मैं इस कल्पना से ही डर गया कि रात-बिरात कैसे कोई इस शौचालय मे आएगा। रात को तो इस आंगन में ही निकलना कठिन है, शौचालय की तो बात दूर रही।

मुख्य मकान में ऊपर बूढ़े मकान मालिक और मालकिन रहते थे। नीचे मित्तल

साहब और एक कमरे में गोपाल जी नाम के एक व्यक्ति थे जो मकान मालिक के भानजे लगते थे। बाद में पता चला कि लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० दीनदयाल गुप्त मकान मालिक के दामाद हैं और गोपाल जी उन्हीं के भतीजे। मकान मालिक चाचा और मालकिन चाची के नाम से जाने जाते थे। गोपाल जी के बगल वाले कमरे में मैं था। उसके बाद पांच-छः कमरे खाली पड़े थे। जहां कमरे खत्म होते थे वहां मकान की चहारदीवारी थी, उसके बाद चाचा जी के ही एक भतीजे प्रकाश जी अपने परिवार के साथ रहते थे। वे लोग चाचा जी के विपरीत काफी तंगी की हालत में थे। धीरे-धीरे पता चला कि चाचा जी बी० एच० यू० से रिटायर्ड इंजीनियर हैं। मित्तल साहब एल० आई० सी० में आफिसर हैं और गोपाल जी भी कहीं काम करते हैं।

मकान के निचले हिस्से में आगे की ओर एक बहुत गहरा कुआं था। पानी का स्रोत वही था। वहीं से सभी लोग पानी भरते थे और नीचे के भाग के चारों ओर तहखाने बने हुए थे। बाद में हम लोगों ने गर्मी की दोपहरी में इस तहखाने का खूब उपयोग किया। बहुत ठंडी जगह थी। यहां अहाता बहुत बड़ा था। उसका रख-रखाव हो नहीं पाता था। चारों ओर घास-पात का फैलाव था, बीच-बीच में पत्थर के बेंच बने थे। दिन को ही लोमड़ी, नेवले, विषखोपड़े आदि अहाते में घूमते रहते। इस मकान की पहली रात थी। शाम होते ही चारों ओर सन्नाटा छा गया। पत्नी ने शाम को ही खाना बना लिया और खाना खाकर रात गहराने से पहले ही हम किचन से बरतन-बरतन उठाकर कमरे में आ गये। आंगन की ओर से कमरा बन्द कर लिया। नीबुओं के बगीचे से सियार बोलने लगे, आगे की ओर सुनसान पोखर में से उनका जवाब आने लगा। रह-रहकर कुत्ते पुंआने लगे। चारों ओर सन्नाटा झांय-झांय करने लगा। हम दोनों बन्द कमरे में सहमे पड़े थे। लगता था अब कोई दरवाजे पर थाप देगा या पीछे से दरवाजा तोड़ने की कोशिश करेगा। रह-रहकर लगता था कि जंगले से कोई झांक रहा है। उठकर जंगला भी बन्द कर दिया। अपने पास पंखा तो था नहीं, बल्कि यों कहिए तब तक पंखे के सुख के अभ्यस्त नहीं हुए थे। अगस्त के महीने में बन्द कमरे में पड़े होने की नियति झेल रहे थे। रह-रहकर पहरेदारों की आवाजें लूक की तरह उठती थीं और दूर तक अपनी रेखाएं खींचती हुई चुप हो जाती थीं। हम दोनों एक अजीब दहशत में फंसे थे। ऐसे खौफनाक सन्नाटे में हमारा दाम्पत्य जीवन शुरू होगा, यह हमने कहां सोचा था। दम्पती तो हम चार साल पहले बन चुके थे लेकिन हमारा वास्तविक और अलग दाम्पत्य जीवन तो अब शुरू हो रहा था। इसे इस तिलिस्मी घर में ही शुरू होना था।

किसी तरह रात टूटी तो सुबह-सुबह मित्तल साहब आये और कहा—"नहा-वहा लीजिए, हर प्रातः चाचा जी और चाची जी सामूहिक भजन करते हैं। यानी इस मकान में जो भी होते हैं उसमें शामिल होते हैं।" सुनकर बहुत खराब लगा। इस प्रकार के चुगदपन में मेरा विश्वास अब तो नहीं ही है, तब भी नहीं था लेकिन नये-नये किरायेदार को शामिल तो होना ही था। यह तो मुझे ज्ञात हो गया था कि चाचा जी सनकी आदमी हैं, न जाने पर न जाने क्या सनक कर बैठें। शामिल हुआ। रोते हुए मन

से उनके भजन में स्वर मिलाया। मित्तल साहब मेरी परेशानी को भांप गये थे। भजन समाप्त होने पर जब अलग हुए तो वे मेरे पास आये और हंसकर बोले—"बुरा लगा न! आप भी सोचते होंगे कि नये-नये दाम्पत्य जीवन की रंगीनी में यह भजन-वजन कहां से घुस आया। लेकिन चिन्ता न कीजिये, यह चलेगा नही। चाचा जी को झक सवार होती है, दस-पांच दिन रहती है, फिर उतर जाती है।" वे हंसकर चले गये।

मुझे लगा कि मित्तल साहब बहुत चालाक और व्यावहारिक व्यक्ति है। वे चाचा जी को खूब समझते है, उन्हें संभालते हैं, उनके कहे पर चलते भी हैं और उन्हें चलाते भी है। पता चला कि वे केवल मैट्रिक पास है और फिर भी अपनी योग्यता के बल पर एल० आई० सी० के अच्छे आफिसर के पद पर विराजमान है।

धीरे-धीरे दिन बीतने लगे और मैं इस परिवेश का अभ्यस्त होने लगा। मित्रों का आना-जाना शुरू हुआ। इस मकान को देखकर कई लोगो ने रिमार्क कसे कि लगता है देवकीनन्दन खत्री ने इसी मकान में अपने तिलिस्मी उपन्यास लिखे थे। धीरे-धीरे यहां के आसपास के लोगों से पहचान होने लगी या उनकी शक्लें पहचानने लगा। मकान मालिक चाचा जी और चाची जी के व्यक्तित्व की परतें खुलने लगी। दोनो ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और दोनों ही असामान्य थे। हां, उनकी असामान्यता के रंग अलग-अलग थे। चाचा जी झक्की स्वभाव के थे किन्तु निश्छल थे और चाची जी ठंडे स्वभाव की महिला थीं। चाचा जी समझ में आते थे किन्तु चाची जी अबूझ थीं। कभी वे बहुत मृदु व्यवहार करती, उदारता दिखाती और ब्राह्मण के प्रति उनका वणिक मन श्रद्धालु हो उठता, कभी अत्यन्त क्रुद्ध और कृपण हो जातीं। पति-पत्नी दोनों ही बहुत सफाई-पसंद थे। धार्मिक व्यक्तियों की सफाई में एक मानसिक संकुचन होता है। वे इस सफाई के नाते अपने को महत्त्वपूर्ण और दूसरो को अस्पृश्य समझने लगते हैं और उनकी सफाई जितनी बाहरी होती है उतनी भीतरी नहीं। भीतरी सफाई से मेरा तात्पर्य है दूसरों के वास्ते मन का खुलापन—मैले-कुचैले गरीब लोगों को अपने में समेटने की पीडा। ऐसे सफाईपसंद धार्मिक ईश्वर को पूजा-पाठ-स्थल, कपड़े-लत्ते, पूजा-पात्र आदि की सफाई मे ही देखते हैं; मैले-कुचैले गरीब लोगों की वेदनाभरी आंखों में, उनकी सेवा में, उनकी भोली-भाली इन्सानियत में नहीं देखते।

चाचा-चाची की छाया में हम सहज नहीं बन पाये और जितना बच सकते थे बचते ही रहे। कभी-कभी वे कई-कई महीने के लिए बाहर चले जाते, तब हम बहुत सहजता अनुभव करते। ऐसा कई बार हुआ लेकिन यह कोई अकेला केस नहीं। यह तो एक शाश्वत सत्य बन चुका है कि मकान मालिक और किरायेदार के सम्बन्ध सहज नहीं बन पाते। बहुत सहज दीखने वाले व्यक्तियों का किरायेदार बनकर देख चुका हूं (और तब तक देखता रहा हूं जब तक अपना मकान नहीं बन गया) कि सब कुछ ठीक होने के बावजूद संबंधों में कुछ न कुछ असहजता आ ही जाती है। दोष किसी ओर भी हो सकते हैं किन्तु उन दोषों को पचाने की जितनी ताकत मकान मालिक में होती है बेचारे किरायेदार में कहां हो सकती है? वह चाहे पद तथा मर्यादा में मकान मालिक से कितना भी बड़ा हो लेकिन आखिर मकान मालिक मकान का मालिक है। उसे

बदतमीजी करने का सहज अधिकार प्राप्त हो जाता है, कुछ न कुछ टुन्न-फुन्न करता ही रहता है। इसलिए असहज से दीखने वाले चाचा-चाची के व्यवहार में हम कुछ असहजता अनुभव करते रहे तो कौन-सी अनोखी बात हो गयी। अनोखी बात तो नहीं हुई किन्तु हम पहली बार किरायेदार बने थे। और इस असहजता का अनुभव पहली बार कर रहे थे। इसलिए यह अनुभव कुछ अधिक ही लग रहा था। बाद में तो अभ्यस्त हो गये कि किरायेदार होना इसी अनुभव का नाम है—कहीं कम गहरा, कहीं ज्यादा गहरा।

पत्नी का नाम लिखा दिया था वसंता कालेज में—आई० ए० में। वे सुबह चली जाती थीं। मैं घर पर होता था। जब दोपहर बाद वे आती थीं तो मैं नागरी प्रचारिणी सभा चला जाता था—शोध के सिलसिले में। मेरे पास साइकिल थी, उसी से दिग्विजय करता कहीं भी आ-जा सकता था। शाम को जल्दी लौटने की कोशिश करता क्योंकि बताया था कि सडक से भक्ति-भवन तक की फर्लांग-भर की दूरी निपट सुनसान थी। एक ओर किसी पुराने शाही भवन की ऊंची लम्बी चहारदीवारी की दीवार थी और एक ओर जंगलनुमा बगीचा। वह एक फर्लांग की दूरी न जाने कितने कोस की दूरी लगती थी। इस दूरी में कहीं कोई किसी को पकड़कर कुछ भी कर सकता था। इस रास्ते रात को मुझ जैसे इक्के-दुक्के लोग ही आते-जाते थे। वैसे मेरे पास साइकिल के सिवा था क्या, लेकिन उस जमाने में साइकिल का कोई कम महत्त्व तो नहीं था। आखिर साइकिल चोरियां होती ही थीं (अब भी होती हैं) और मेरे लिए तो वह सर्वस्व थी। यदि कोई छीन लेता तो मेरे लिए साइकिल का खरीदना असंभव हो जाता, केवल स्कालरशिप का वायदा। पता नहीं कब मिलेगी? अभी तो पी-एच० डी० का बाकायदे रजिस्ट्रेशन भी नहीं हुआ। घर से कुछ लाया था, उसी से काम चल रहा था। साइकिल छिन जाने का मतलब था मेरी गति का कुन्द हो जाना। न बी० एच० यू० जा सकता था न नागरी प्रचारिणी सभा। इसलिए इस दूरी से बहुत डरता था। मेरी शामें बाहर डराने लगती थीं। ज्यों-ज्यों शाम गहराती थी, यह दूरी मेरे भीतर अपने डरावने स्वर मे बजने लगती थी और मैं चाहे किसी कवि-सम्मेलन या गोष्ठी में जाऊं, चाहे किसी मित्र के यहां किसी उत्सव में या नागरी प्रचारिणी सभा में या सिनेमा हॉल में या गंगा तट पर या गोदौलिया या चौक की हसीन चहल-पहल में, कमबख्त यह दूरी मेरे भीतर उभर आती थी और मैं अप्रकृतिस्थ हो उठता था। मैं जहां होता उसका आनन्द नहीं ले पाता था। मैं जैसे ही सड़क से इस सुनसान गली या सड़क पर आता, एक बार दूर तक कुछ अकनने की कोशिश करता और फिर बड़ी तेजी से साइकिल चलाता और भक्ति-भवन के महाद्वार पर आकर सांस लेता। दिक्कत यह थी कि भक्ति-भवन के महाद्वार पर लोहे के ग्रिलनुमा फाटक थे। साइकिल से उतरकर उसे खोलना पड़ता था। यह महाद्वार सुनसान सड़क की ओर खुलता था। अतः मैं सोचता था कि मेरे इतना तेज चलाकर आने से क्या फायदा जबकि यहां आकर मुझे रुकना पड़ता है। मुझे कोई यहां भी पकड़ ले तो कौन देखता है। फिर भी अपने घर के पास आ जाने की एक आश्वस्ति तो मन में होती ही थी। जिस दिन इधर आने वाला कोई साथी मिल जाता, उस दिन मेरे भीतर कोई पर्व-सा मन जाता।

सोचता रहा कि अब रजिस्ट्रेशन हो जाएगा और स्कालरशिप शुरू हो जाएगी। ज्यों-ज्यों पास की पूंजी खत्म हो रही थी डर भीतर भरता जा रहा था। तभी एक दिन द्विवेदी जी ने कहा—"देखो भाई, तुम मेरे निर्देशन में काम नहीं कर सकते।" मैं सुनते ही रुआंसा हो गया। "क्यों पंडित जी ?" मैंने दीन भाव से कहा। मैं उनकी ओर देखने लगा। वे कुछ द्विधा मे दीखे। लगता था वे कहना नही चाहते थे किन्तु कहे बिना अपने शिष्य को आश्वस्त भी कैसे कर सकते थे।

"बात यह है कि मेरे पास जगह नहीं है।"

"पंडित जी, यह एकाएक कैसे हो गया ?"

"अब इसमे क्या रस है कि कैसे हो गया ? इसे छोड़ो और कोई विकल्प सोचो।"

मैं बेहद उदास हो गया। पंडित जी चुप रहे। लेकिन उनकी चुप्पी उन्हें स्वयं सालती-सी लगी। शायद सोच रहे होगे कि मैं उनकी बात टालने वाली बात मान रहा हूं। किन्तु भला मैं ऐसा क्यों सोचता और मैं ऐसा सोचूंगा ऐसा वे भला क्यों सोचते ! गुरु-शिष्य के बीच विश्वास न हो तो फिर क्या बचेगा ?

"बात यह है कि लोगों ने वी० सी० से शिकायत की है कि सारे छात्र मेरे ही पास आ रहे है अतः संख्या निर्धारित होनी चाहिए। तय हुआ है कि मेरे पास आठ से अधिक छात्र शोध नही कर सकते। आठ तो पहले ही हो चुके है। अब तुम्हारे लिए क्या करूं ?"

"एकाध साल रुक जाता हूं।"

"नही, यह समझदारी नही है। पता नही मेरे पास कब जगह हो। साल लग सकता है, दो साल लग सकते है, तीन भी लग सकते हैं। पी-एच० डी० कोई एम० ए० थोड़े है कि साल के अन्त में परीक्षा देनी होगी। करना हो तो दो साल में कर लिया, नहीं तो बरसों इसकी डाल पकडकर लटके हुए है।"

मैं कुछ पूछ नही पा रहा था। वे फिर बोले, "और प्रश्न तुम्हारे स्कालरशिप का भी तो है। यदि विषय रजिस्टर्ड नहीं होगा तो कैसे मिलेगी या कही नियुक्ति का जुगाड़ बनता है तो क्या होगा ?"

मैं पडित जी के यहां से लौटा तो मन बहुत भारी था, कुछ निर्णय नही कर सका था लेकिन निर्णय तो करना ही था। पंडित जी ने बताया था कि शर्मा जी (डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा) और मिश्र जी (पडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र) दोनों ही गाइड हैं और उनके पास जगह है। किसी के पास चले जाओ। मुझे सभी गुरुओ का स्नेह प्राप्त रहा है और सबके लिए मन में आदर का भाव रहा है इसलिए किसी के निर्देशन में काम करने मे मुझे कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु पंडित जी की सर्जनात्मक दृष्टि अन्यत्र कहां मिलती ? उस सर्जनात्मक दृष्टि के कारण ही छात्र उनकी ओर आकृष्ट होते थे। पंडित जी जैसे अपनी जड़ शोध सामग्रियों को गतिशील चिन्तन और मानववादी सर्जनात्मक दृष्टि से स्पंदित कर देते हैं, उन्हें जीवन्त बना देते हैं, वैसे ही कुछ अपना शोध भी बन जाएगा यह इच्छा उनसे गहरे जुड़े छात्रों के मन में होती थी।

मेरे मन में भी थी किन्तु जब यह सम्भव नहीं हुआ तो विकल्प तो ढूंढना ही था। मैंने सोचा, विश्वनाथ जी पंडित तो हैं किन्तु उनकी दृष्टि में खुलापन नहीं है। उनकी इतिहास-दृष्टि नयी नहीं है। वे विकास की गति को चक्रवत मानते हैं अतः उनका पांडित्य मेरे शोध-कार्य को सर्जनात्मकता नही दे पाएगा और मेरी छोटी-सी सर्जनात्मक शक्ति उनके अगाध पांडित्य के आगे बहुत दबाव महसूस करेगी। डा० शर्मा आधुनिक साहित्य के उपाध्याय तथा आलोचक है और स्वभाव से भी मस्त है। मेरे कार्य में वे बहुत हस्तक्षेप नही करेंगे। जहा तक संभव होगा, वे मेरी गाड़ी मेरे ढंग से ही चलने देंगे। यही सोचकर उनके पास गया। उन्होंने तुरन्त फार्म पर हस्ताक्षर कर दिया और कहा—"देखो भाई, तुम्हारा प्रस्तुत विषय मेरे वश का नहीं है। तुम यदि अपने बल पर यह काम कर सकते हो तो करो, मुझे आपत्ति नही होगी किन्तु यदि मेरी सहायता चाहते हो तो कोई आधुनिक विषय लो।"

डाक्टर साहब की स्पष्टवादिता से मैंने बहुत राहत महसूस की। वास्तव में प्रस्तुत विषय भारी था ही और मेरी अपनी रुचि भी आधुनिक साहित्य में ही रही है। यह विषय केवल पंडित जी के भरोसे लेकर चल रहा था, उसमें मेरी रुचि बन नहीं पा रही थी। शर्मा जी के स्पष्ट कथन से मुझे इस विषय से भागने का अवसर मिल गया और आलोचना को शोध का विषय बनाया। शीर्षक रखा गया—'हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियां और उनकी आधार-भूमि'। यह शोध-प्रबन्ध पूरा होने पर 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' नाम से छपा तथा उसका संशोधित स्वरूप हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ' नाम से प्रकाशित हुआ।

नया शोध-कार्य शुरू हो गया। उसमें मेरी बुद्धि स्वयं धंस रही थी। विषय पकड में आ रहा था। कुछ सवालों से स्वयं जूझता था और कुछ के लिए शर्मा जी के पास पहुचता था। कार्य मे रस आने लगा था। किन्तु जीविका की समस्या बनी हुई थी। अभी तक कुछ हुआ नही। एक दिन पंडित जी (द्विवेदी जी) ने बताया कि उन्होंने कमच्छा स्थित सेंट्रल हिन्दू कालेज (इंटर सेक्शन) मे हिन्दी की एक अस्थायी लेक्चररशिप के लिए मेरा नाम भेज दिया है। वास्तव में अगस्त में ही उस पोस्ट का इण्टरव्यू हुआ था। उसमे मैं भी उम्मीदवार था, ठाकुरप्रसाद सिंह भी थे। किन्तु डा० सुधीर उम्मीदवार के रूप मे आये थे और चुन लिए गये थे। वे आये नहीं और वह पोस्ट खाली की खाली रह गयी। इसलिए अप्रैल तक काम चलाने के लिए उस पर मेरी अस्थायी नियुक्ति कर दी गयी। मुझे बहुत राहत मिली। तात्कालिक राहत के साथ-साथ भविष्य की एक आशा भी बनी कि शायद मैं स्थायी रूप से ले लिया जाऊं।

कमच्छा में डा० राजपति दीक्षित अध्यक्ष थे और श्री बच्चनसिंह तथा श्री रामनरेश वर्मा उनके सहयोगी थे। नियुक्ति तो मेरी हो गयी किन्तु कक्षा के भय से प्राण कांप रहे थे। ज्वाइन करने से पूर्व डर के मारे नींद नहीं आयी। यही सोचता रहा कि कैसे पढ़ाऊंगा? कक्षा का सामना कैसे करूंगा? छात्रों को कैसे नियंत्रित करूंगा? अजीब मानसिक तनाव का समय था। भूख-प्यास, नींद सभी गायब। सबेरे ज्वाइन करने के लिए कालेज पहुंचा तो पता चला कि परीक्षाएं चल रही हैं। बड़ी राहत

महसूस हुई। कुछ दिन तो चैन से गुजरेंगे। मुझे भी ड्यूटी दे दी गई और एक हॉल में जाकर खड़ा हो गया। उसमें तीन प्राध्यापक और ड्यूटी दे रहे थे। उन्होंने बहुत स्नेह और आत्मीयता से मेरा स्वागत किया। मैं देख रहा था कि लोग घूम-घूमकर निगरानी कर रहे थे, संदेह होने पर किसी छात्र के पास ठहरकर 'वाच' करते थे। उसकी उत्तर-पुस्तिका उलटते-पुलटते थे। कभी किसी को डांट देते थे, किसी को आगाह करते थे और मैं सहज संकोच लिए जहां का तहां खड़ा रहता या कुर्सी पर बैठ जाता। मुझसे छात्रों के बीच टहलते भी नहीं बनता था। मुझे लगता था कि मैं तो स्वयं उनके बीच का हूं।

आखिर इम्तहान के दिन खत्म हुए और क्लास लेने का दिन आ गया। क्लास लेने जा रहा था तो बाहर खड़े लड़कों में से एक ने कहा—"यह नया लेक्चरर है।"

"अरे, यह तो खुद ही लड़का लग रहा है, क्या क्लास पढ़ाएगा ?"

इस रिमार्क से मेरी धुकधुकी और बढ़ गयी और भीतर से उत्तेजित हो गया और क्लास में जाकर पूरे जोश-खरोश के साथ बोला। उस क्लास में द्विवेदी जी के सुपुत्र बबुआ (जगदीशप्रसाद) भी बैठे थे और बहुत उत्सुकता से मुझे देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं पहले तो नर्वस हुआ (नर्वस इसलिए कि मेरी रिपोर्ट पंडित जी के पास पहुंचेगी) किन्तु बाद में मैं और ताव में आ गया और अपनी पूरी ताकत लगाकर पढ़ाने लगा। पहले दिन की सारी कक्षाएं सकुशल सम्पन्न हुईं और मैंने बहुत राहत अनुभव की। बाद में बबुआ ने बताया कि पंडित जी पूछ रहे थे कि कैसा पढ़ाया ? मैंने कहा—"भइया ने जमा दिया था।" मुझे यह जानकर राहत मिली कि पंडित जी के पास मेरी रिपोर्ट ठीक-ठाक पहुंच गई है।

बारी-बारी आर्ट्स, कामर्स और विज्ञान के सेक्शन पढ़ा लिए तथा क्लास में अपने को तथा छात्रों को आजमा लिया। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। कक्षाओं में जैसा होता है होता रहा यानी तीते-मीठे दोनों प्रकार के अनुभवों से गुजरता रहा। वाणिज्य और विज्ञान के छात्रों के लिए हिन्दी लगाव का विषय नहीं होती; उसे उन्हें किसी तरह परीक्षा पास करने तक अनिवार्य भाव से ढोना पड़ता है किन्तु कक्षा में कुछ छात्र ऐसे होते हैं जो साहित्यकार या साहित्य-प्रेमी बनने का संस्कार लिए होते हैं और वे हिन्दी के प्रति एक गहरा लगाव रखते हैं। यह लगाव परीक्षार्थी के लगाव से कुछ ज्यादा होता है। इसलिए कई विद्यार्थी मेरे बहुत निकट आने लगे। सबको मालूम था कि मैं कवि हूं। मेरी कई कविताएं बहुत मशहूर हो चुकी थीं यानी हिन्दी-प्रेमी छात्रों में मेरी अच्छी इमेज थी। वे छात्र कक्षा में भी कुछ साहित्यिक चर्चा छेड़ देते थे, कभी मुझसे कोई कविता सुनाने का आग्रह करते थे और कक्षा के बाहर भी मिलते थे, घर भी आने लगे थे। इन छात्रों के नाते कक्षा में एक आत्मीय वातावरण बनने लगा था। इनमें से कुछ छात्र कुछ लिखते भी थे। वे मुझे अपना लेखन दिखाते थे तथा सलाह मांगते थे। आज के हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित कवि विजेन्द्र तथा कथाकार काशीनाथ सिंह उसी बैच के छात्र थे।

अपने विभाग द्वारा दूसरे विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापकों का भी भरपूर स्नेह मिला। अर्थशास्त्र या वाणिज्य के प्रवक्ता (नाम नहीं याद आ रहा है) वार्षिक समारोह के इंचार्ज थे। उन्होंने एक नाटक के लिए मुझसे एक गीत लिखवाया और

रिहर्सल के समय मुझे आमंत्रित करते रहे। अपने किसी गीत को स्टेज पर पहली बार देख रहा था। जब बी० ए० में था तो अखबार में पढ़ा कि कलकत्ते की किसी सांस्कृतिक संस्था ने वर्षा-मंगल मनाया था और उस अवसर पर हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों की कविताओं के साथ मेरी भी एक कविता 'मैं अषाढ़ का पहला बादल, मेरी राह न बांधो' अभिनीत की थी किन्तु देखने का यह पहला अवसर था। बहुत अच्छा लगा था और उस गीत के माध्यम से साथियों और छात्रों का लगाव और भी बढ़ा था।

देखते-देखते अप्रैल भी आ गया और मेरी अस्थायी नियुक्ति का समय पूरा हो गया। फिर चिंता सवार हुई किन्तु एक तो पत्नी ने कुछ पैसे बचा लिए थे, दूसरे, भरोसा हो गया था कि जुलाई में जब यह जगह भरी जाएगी तो शायद मुझे मिल जाएगी। छः महीने का अनुभव हो गया है, प्रिंसिपल मलानी की भी अनुकूलता प्राप्त है, साथियों का स्नेह है।

31

कमच्छा के इण्टर कालेज मे अध्यापन से मुक्ति पाकर हम लोग गर्मी की छुट्टियों में यानी मई, 1953 में गोरखपुर आ गए। ठहरे विद्याधर द्विवेदी विज्ञ के यहां। हेमन्त पेट मे था और जून में उसके आविर्भाव की आशा थी। यद्यपि मेरी ससुराल गोरखपुर में ही थी किन्तु मेरी पत्नी वहां नहीं गयीं। इसका एक कारण तो यह था कि मैं उनके साथ ससुराल में दो-ढाई महीने लगातार रह नहीं सकता था और मैं स्वयं इस अवस्था में पत्नी की देखभाल करना चाहता था। दूसरे, विद्याधर के स्नेह का आग्रह था। वे मेरे इतने निकट के मित्र थे कि उनके यहां महीनों ठहर जाने मे भी मुझे संकोच नहीं होता। उनके साथ मेरे श्वसुर जी के गांव के पास के मित्र (जो बहुत दिन तक श्वसुर जी के साथ ही रहे) आद्याप्रसाद मिश्र अपनी मां के साथ रहते थे अतः यहां भी एक घरेलू वातावरण था। तीसरी बात थी कि मेरी ससुराल की ओर से हमें वहां ले जाने का कोई आग्रह नहीं था। बाद में ज्ञात हुआ कि इसका कारण सासु जी का विश्वास था। हेमन्त से पहले का बच्चा ससुराल में ही पैदा हुआ था और वह बच नहीं सका। सासु जी को डर था कि उनके यहां बच्चा पैदा होने पर फिर कहीं कुछ अनिष्ट न हो जाए।

जो हो, विद्याधर के आत्मीय साहचर्य में वे दो महीने बहुत सुखद बीते। वे हमारी हर आवश्यकता का खयाल रखते थे। सुबह हम लोग रेलवे के खुले वातावरण में टहलते थे और पार्क में घूमते थे। फूलों से लदे गुलमुहर और अमलतास के वृक्षों से एक अपनापन बन गया था। दिन-भर तो विद्याधर रेलवे के दफ्तर में होते पर हमारी शामें साहित्यिक चर्चाओं में बीततीं। प्रगतिवाद की ओर उनका झुकाव भी हो गया था और

वे गोरखपुर के बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों में सम्मानित स्थान बना रहे थे। वे मुझे लेकर कभी किसी गोष्ठी मे, कभी किसी साहित्यकार के यहा जाते और कविता-पाठ तथा साहित्य-चर्चा का क्रम चलता रहता। विद्याधर मे उदग्रता थी और वाक्पटुता भी। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी को अपनी तर्कशक्ति से पराभूत करने की चेष्टा में उग्र भी हो उठते थे और मार्क्सवाद, प्रगतिवाद को उन्होने ज्यादा उग्रता से अपनाया था।

हम दोनो साहित्य के अनुशासन मे रहकर ही मार्क्सवाद को अपना रहे थे। इसलिए हम प्रकृतिपरक और प्रेमपरक गीतों से परहेज नही करते थे किन्तु उन्ही मे से ऐसी कोई व्यंजना पैदा करते थे जिससे वे गीत प्रगतिवाद के स्वर से स्पदित हो उठते थे। इसके अतिरिक्त हमने ठेठ प्रगतिवादी कविताए भी लिखी किन्तु जहा तक मैं समझता हूं हम लोग 'लाउड' नही हुए।

विद्याधर की प्रगति-स्वर वाली कई कविताए वातावरण मे गूज रही थी।

'धरती पर आग लगी
पछी मजबूर है
क्योकि आसमान बडी दूर है।'

गीत बहुत ख्यात हो गया था। इसके अतिरिक्त जलते प्रह्लाद, गरम कोट जैसी अनेक कविताएं आगे-पीछे आयीं और उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व की गवाही देती रही। विद्याधर बहुत कर्मठ व्यक्ति थे। वे केवल कवि ही नही थे, कविता के लिए जीवन जीते थे यानी जिन विसंगतियों पर वे अपनी कविताओ मे व्यग्य कसते थे जीवन मे उनके विरुद्ध लडाई भी करते थे। जिन मानवीय सवेदनाओ को कविता मे उतारते थे जीवन मे उनकी रक्षा के लिए कर्मशील भी होते थे। वे उदार मित्र थे, सचेत और प्रबुद्ध नागरिक थे, जीवंत सहकर्मी थे। वे प्रखर व्यंग्य कर सकते थे, अत्याचार पर क्रोध करते थे, दूसरो के दु:ख मे करुणा-विगलित हो उठते थे, जरूरतमदों के लिए अपनी उदारता खोल देते थे। उनके व्यक्तित्व की ठेठ सादगी उनकी कविताओ में उतरती थी। यदि वे आगे चलकर पागल न हो गए होते तो मुझे पूरा विश्वास है कि वे एक प्रखर साहित्यिक व्यक्तित्व बने होते। वे वास्तव मे गोरखपुर की सही पहचान बने होते। उनके आगे-पीछे गोरखपुर से कई अच्छे साहित्यकार उपजे। उनमे से कइयों ने अपनी मुशी मेधा से साहित्य में अपनी जगह बनायी किन्तु उनमे गोरखपुर कही नही है। उनके व्यक्तित्व गोरखपुर की मिट्टी मे सनकर नही, उसे धो-पोछकर बने और वास्तव मे वे केवल लेखक बने, आदमी का व्यक्तित्व नही।

हेमन्त के जन्म की तिथि पास आती जा रही थी। हमने पास ही रहने वाली एक ईसाई नर्स को तय कर रखा था। सुनने मे आया था कि वह बहुत होशियार है, डाक्टर की अपेक्षा पूरी कर देगी। 26 जून, 1953 की रात थी। घनघोर वृष्टि हो रही थी। वातावरण बहुत भयानक हो रहा था। पत्नी को दर्द शुरू हुआ। क्या किया जाए? लेकिन विद्याधर के रहते हुए 'क्या किया जाए' सोचने का प्रश्न ही नही था। वे

उस तेज हवा और बारिश में छाता लेकर निकल पड़े और कुछ देर बाद नर्स को लिए हाजिर हो गये। मालूम पड़ा कि वह नर्स रास्ते में फिसलकर गिर पड़ी और उसका हाथ टूट गया। फिर भी उस नर्स की मानवता और उत्तरदायित्वशीलता थी कि वह लौटकर घर नहीं गयी। आकर उसने एक हाथ से ही शिशु-जन्म का सारा कार्य सम्पन्न किया। वह अपने दर्द को भूली रही। जब बच्चा हो गया और लौटने लगी तब उसने अपने दर्द की अनुभूति को अभिव्यक्त होने दिया। हां, इसी तूफानी मौसम में हेमन्त का आविर्भाव हुआ। शायद इसीलिए उसके व्यक्तित्व में 'जून की गर्मी', 'हवा का वेग' और 'वर्षा की आर्द्र उद्दामता' है।

छुट्टियों तक यानी जुलाई तक हम वहीं रहे। विद्याधर, आद्याप्रसाद मिश्र और उनके परिवार की देख-रेख में जच्चा-बच्चे की कुशल देखभाल होती रही। सासु जी भी आ गयी थी। छुट्टियां बीतीं। हमें लौटकर बनारस जाना ही था। चिंता बनी हुई थी कि कैसे काम चलेगा? किन्तु वह जगह विज्ञापित हो गयी थी जिस जगह पर मैं काम कर चुका था। अतः आशा थी कि कुछ महीनों के भीतर मैं उस पर नियुक्त हो जाऊंगा और आर्थिक चिन्ता दूर हो जायेगी। फिलहाल कुछ रुपये पत्नी ने बचा रखे थे।

हम फिर भक्ति-भवन, सिगरा बनारस पहुंचे। दायित्व-बोध तो बढ़ गया था किन्तु पुत्र के सान्निध्य का सुख भी तो जुड़ गया था। शीघ्र ही इण्टरव्यू का दिन आ गया। मैं काफी दूर तक आश्वस्त था। यहां का 'टापर' छात्र, इसी स्थान का अनुभव और सबसे बडी बात यह थी कि पंडित जी (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) मुझे चाहते थे। प्रिंसिपल मलानी ने भी एक अच्छा प्रमाण-पत्र दिया था। इण्टरव्यू मेरे लिये सबसे बडा 'हौआ' रहा है। मैं इण्टरव्यू के नाम से भयानक घबराहट महसूस करता रहा हूं; अब तक करता रहा।

विशेषज्ञों में नन्ददुलारे वाजपेयी और सम्भवतः रामकुमार वर्मा थे। इण्टरव्यू दे आया। ठीक-ठीक ही हुआ और उम्मीद थी कि ले लिया गया हूंगा किन्तु शाम को पंडित जी ने अपनी शैली मे बताया कि तुम्हारे मामले में थोड़ा बट (But) लग गया। पैनल में तुम्हारा दूसरा नाम है। मैं हताश हो गया। पंडित जी ने समझाया कि घबराने की बात नहीं है, कुछ न कुछ तो होगा ही। अब तुम्हारे विरुद्ध एक अत्यधिक क्वालीफाइड उम्मीदवार आ गये तो क्या करता! वे डबल एम० ए० हैं, पी-एच० डी० हैं और कुछ शिक्षण-अनुभव भी है। उन्हें कैसे अनदेखा किया जा सकता था। वे थे डा० भोलाशंकर व्यास। मेरे साथ प्रेमशंकर तिवारी भी थे। वे मुझसे एक या दो साल आगे थे और शुरू से ही हम लोग कविता के माध्यम से मित्र बन गये थे। वे भी नियुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे। अपनी सारी योग्यता लिए-दिए वे भी मेरी तरह परेशान हो रहे थे और अन्त में उन्हें भी मेरी ही तरह बनारस छोड़कर अनजाने शहर में जाना पडा और उसे कर्मभूमि बनाना पड़ा।

मैं मर्माहत रह गया। क्या करूंगा? कैसे काम चलाऊंगा? अब तो घर में एक सदस्य और भी आ चुका था। पत्नी द्वारा बचाए गए पैसे समाप्त हो गये थे। बच्चा

(हेमन्त) बीमार रहने लगा था। डा० सेन हमारे पारिवारिक चिकित्सक थे। उनकी दूकान दशाश्वमेध घाट पर थी और घर औरंगाबाद में (पं० कमलापति त्रिपाठी के पास)। हम लोग हेमन्त को लेकर उनकी दूकान और घर तक दौड़ते ही रहते थे। उनकी दवा हमें (मुझे, पत्नी और हेमन्त को) रास आती थी। लेकिन न जाने क्या बात थी कि हेमन्त ठीक-ठाक होकर फिर बीमार पड जाता था। वह चार-पांच दिन भी सही-सलामत नहीं रह पाता था। कुछ ठीक हुआ कि फिर अस्वस्थ। उसे प्रायः दस्त की शिकायत रहती थी और शिकायतें तो थी ही। उसके लिए लगातार दवा लानी पडती थी।

कुछ दिनों के बाद पंडित जी ने बताया कि उन्होने यू० जी० सी० से लेक्चरर की दो अस्थायी जगहें मांगी है। उन्हें विश्वास था कि जगहें मिल ही जाएंगी। एक पर नामवर जी को नियुक्त कर दिया, एक पर मुझे। मेरी चिन्ता दूर हुई। हम दोनों पढाने लगे। नामवर जी शुरू मे ही अच्छे वक्ता रहे और साहित्य मे तो उनकी अच्छी पैठ थी ही। वे बहुत अच्छे अध्यापक के रूप मे ख्यात होने लगे। मेरी तो बात क्या, काफी पुराने-पुराने गुरुओ की क्लास मे भाग-भागकर छात्र उनकी कक्षा मे जाते थे। उनकी कक्षा में बैठने की जगह नही मिलती थी। यह मेरे लिए तो कम किन्तु सिद्ध गुरुओ के लिए बडी हैरानी की बात थी। मेरी तो अध्यापक के रूप मे अभी कोई जगह बनी ही नहीं थी। मेरे गाव का एक लडका केदारनाथ राय मेरे साथ ही रहता था और वह नामवर जी की क्लास में पढ़ता था। वह नामवर जी की अध्यापन शैली की बहुत प्रशसा करता था। मैंने उससे कहा, "हा भाई, नामवर जी सुपठ व्यक्ति है और अच्छे वक्ता भी है, उनकी क्लास जमनी ही चाहिए।" उसने कहा, "नही, एक बात और है जो उन्हे इतना छात्र-प्रिय बनाये है।" "क्या ?" मैने पूछा।

"वे क्लास मे खूब मजाक भी करते है। लडके मजाक मे खूब खुश रहते है।"

मुझे मालूम था कि नामवर जी मजाकिया स्वभाव के व्यक्ति हैं। विटी तो हैं ही, साथ रहने पर अपने मजाक और व्यंग्य-विनोद से साहचर्य को जीवत बनाए रखते है। इसलिए क्लास मे भी उनकी यह प्रकृति निश्चय ही जागरूक रहती होगी।

"किन्तु एक बात है चाचा जी !" "क्या ?" "यही कि कभी-कभी तो वे बहुत हलका शृंगारिक मजाक कर बैठते है।" केदार ने कहा।

लगभग दो महीने पढ़ाने के बाद मुझे अपनी तनख्वाह की चिन्ता होने लगी। चूंकि अभी तक दोनों जगहें स्वीकृत नही हुई थी इसलिए अभी तक तनख्वाह मिलने का प्रश्न नही उठता था। हम तो भविष्य की आशा लिए काम मे जुटे थे। तभी शायद डा० बच्चनसिंह ने मुझे बताया कि पडित जी बहुत परेशान है। मैने कारण जानना चाहा तो उन्होंने बताया कि दरअसल यू० जी० सी० ने दो जगहों मे से केवल एक जगह की स्वीकृति दी है। पंडित जी परेशान है कि आप और नामवर सिंह में से किसे हटने को कहा जाए। मैं लपका हुआ पंडित जी के कमरे में गया। मैंने कहा, "पंडित जी, नामवर जी मुझसे वरिष्ठ है, नियमतः उन्हें इस जगह पर बने रहना चाहिए। मैं स्वयं अपने को वापस ले रहा हूं।"

पंडित जी ने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। उनकी बोझिल आंखों में उनकी सहज तरलता स्पंदित हो उठी। उन्होंने कहा, "तुमने मेरा बोझ हलका कर दिया। मैं बहुत द्विधा में पड़ा था, क्या करूं। दोनों व्यक्तियों को एक साथ एक शर्त पर नियुक्त किया था। कैसे किसी को हटने को मैं कहता। मैं तो टॉस से फैसला करने वाला था किन्तु तुमने समस्या हल कर दी।" पंडित जी ने उसी समय एक सौ रुपये की स्कालरशिप मेरे लिए प्रस्तावित की और स्वीकृति के लिए उसे आगे भेज दिया।

कक्षाएं मैं लेता रहा। हां अब कक्षाएं थोड़ी ही लेनी पड़ती थी। मेरे अध्यापन मे ऐसी कोई विशेषता नहीं रही कि उसकी चर्चा की जाये। बस, कक्षाएं लेनी थी, लेता रहा। मेरी कक्षा के लिए और मेरे लिए छात्रों में कोई विशेष आकर्षण नहीं था। मुझे विशेष आकर्षण में कोई रुचि भी नहीं रही। बस, सामान्य आदमी की तरह सामान्य गुरु बनकर धीरे-धीरे सहज भाव से अपना ज्ञान छात्रों में उतार सकूं, यही बहुत है। फिर भी कोई बात अवश्य थी कि कुछ बहुत प्रबुद्ध छात्र मेरा साहचर्य पाने को उत्सुक थे। शायद वह मेरी सर्जनात्मक प्रकृति रही हो। अच्छे छात्रों को मेरे कवि होने का बोध हो ही जाता था और वे स्वयं भी कुछ लिखने का सपना मन में पाले होते थे। इसलिए उन्हें कक्षा मे प्राप्त करने के अतिरिक्त भी कुछ पाने की तड़प होती थी। शायद इसीलिए वे ऐसे सर्जनात्मक व्यक्तित्वों से जुड़ते थे जो अपने और उनके बीच बहुत दूरी न बनाये रहें। जाहिर है मै अपनी सर्जनात्मक शक्ति में भी सामान्य ही था और मेरे-उनके बीच वय की भी कोई बहुत चौड़ी खाई नही थी, इसलिए मुझसे जुड़ने में वे आतंक नहीं महसूस करते थे जो चमत्कृत करने वाली प्रतिभाओं तथा गम्भीर गुरुओं के सम्पर्क में आकर करते हैं। कमच्छा के छः महीने के अध्यापन में भी बहुत-से छात्र जुड़े थे। वे मेरे घर आते थे, कविताएं सुनते-सुनाते थे। क्लास में भी, क्लास से बाहर भी साहित्यिक जिज्ञासाएं प्रस्तुत करते थे। यहां भी कुछ छात्र जुड़े। मेरी भी दृष्टि उन पर गयी और उनकी भी दृष्टि मुझ पर टिकी। शुकदेव सिंह उन्हीं छात्रों में से एक थे। बल्कि कहा जाए कि उनमें अति विशिष्ट थे। कक्षा में मैं उनकी मेधा पहचान गया था और वे मुझसे बहुत गहराई से जुड़े, जुड़ते चले गये और मेरे प्रति उनका अंतरंग आदर-भाव आज तक वैसा ही बना हुआ है। वे अब भी उसी तरह मेरे सामने वही छात्र हो आते हैं। छात्रावस्था में ही वे मेरे साथ 'साहित्यिक संघ' के सहमंत्री बने और अनेक गतिविधियों में भाग लिया। शुकदेव सिंह की प्रतिभा में गांव, घर की अभावग्रस्त सादगी और संघर्षशीलता घुली-मिली थी। छात्र और गुरु-सम्बन्धों में एक और सम्बन्ध धीरे-धीरे घुलता गया। वह था गांव की मिट्टी और सुख-दुःख का सम्बन्ध। उनकी आंखों में गांव की धूमरता और अभाव की तरलता थी जो भीतर-भीतर मेरी आंखों में समा जाती थी। वे धीरे-धीरे मेरे परिवार के सदस्य बनते चले गये। आज तक बने हुए हैं।

दूसरे शिष्य थे राजेन्द्रप्रसाद अग्रवाल जो राजेन्द्र कृष्ण के नाम से कविताएं लिखते हैं, तब भी लिखते थे। ये शुकदेव सिंह के सहपाठी थे और उन्हीं के समान मेरे प्रिय छात्र। इन्हें भी न जाने मुझमें क्या दीखा कि मेरी आत्मीयता पाने के लिए उत्सुक हो उठे। ये भी शुकदेव जी के साथ साहित्यिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होते थे और मेरा

सहयोग करते थे। ये भी धीरे-धीरे मेरे परिवार के सदस्य बन गये—मेरे परिवार के साथ सुख-दुःख की चिन्ता करने वाले सदस्य। राजेन्द्र कृष्ण सम्पन्न परिवार के थे इसलिए उन्हें शुकदेव की तरह आर्थिक संघर्ष नही करना पड़ा। लेकिन उनमें सम्पन्नता की दुर्गंध नहीं थी बल्कि शिष्टता की एक खुशबू थी, एक गहरा मानवीय सरोकार था। राजेन्द्र कृष्ण आज एक ऊंचे सरकारी पद पर हैं किन्तु मेरे प्रति उनकी आदर-भाव की ताजगी वैसी ही बनी हुई है। राजेन्द्र कृष्ण अच्छे गीत लिखते थे, गाते भी अच्छा थे, किन्तु सरकारी नौकरी के दबाव मे उनकी साहित्यिक प्रतिभा अपने विकास का मार्ग नहीं निकाल सकी।

और भी कई छात्र थे जो लिखते थे या सर्जनात्मक लेखन से गहरा लगाव अनुभव करते थे। इन विशिष्ट छात्रों के नाते ही मैं अपनी सामान्यता में भी गहरी तुष्टि का अनुभव करता था और मुझे लगता था कि मुझमे भी ऐसा कुछ है जिसे बांटने का सुख पाया जा सकता है। बिना किसी शोर-शराबे के, बिना किसी मंच-विजय के, बिना तालियों की गड़गड़ाहट के यह सुख पैदा होता है और जैसे एकांत अंधेरे मे कोई पौधा चुपचाप बढ़ता, फूलता, महकता रहता है वैसे ही यह सुख चुपचाप मेरे भीतर महकता रहा है।

तब तक शिवप्रसाद सिंह भी एम० ए० हो चुके थे। उन्होंने अपने बैच में 'टॉप' किया था। वे भी शोध-छात्र बन चुके थे। उनके साथ विष्णुस्वरूप, हरिमोहन आदि भी थे। कुछ आगे-पीछे के सभी लोग शोध-छात्र के रूप में कक्षाएं लेते थे। शिवप्रसाद सिंह को यू० जी० सी० की स्कालरशिप मिलती थी। हम नये लोगों की एक अपनी दुनिया थी—मस्ती से भरी हुई। शिवप्रसाद सिंह के अतिरिक्त हम सभी अभावग्रस्त थे किन्तु उस अभाव में भी मस्ती बनी हुई थी। हम सभी कक्षा में आने वाली कठिनाइयों को, पाठ्य-पुस्तकों में उठने वाली अर्थ सम्बन्धी दुरूहताओं को आपस में बांटते थे, हल करते थे। एक कठिनाई आयी थी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक निबंध को लेकर। उस निबंध मे दुर्गाकुंड का कंकड़ अपना बखान करता हुआ अपने को बहुत कुछ कहता है, उसी क्रम में कहता है कि 'मैं कामदेव की पताका हूं।' कंकड़ कामदेव की पताका कैसे हो सकता है ? इस चिंता से हम सभी अलग-अलग परेशान थे। हम सबने एक-दूसरे से पूछा। किसी को इसका सही अर्थ नहीं सूझा। क्या करें ? कक्षा में हम इसका क्या अर्थ करेंगे ? हम सबने तय किया कि पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र से पूछना चाहिए। हम लोग उनके पास गये। वे मुसकराए, "कहो। कैसे सब लोग एक साथ ?" "पंडित जी, हम लोग एक मुसीबत के मारे आपकी शरण मे आए है।" "कैसी मुसीबत आई है ?" "काम के अर्थ की मुसीबत।" पंडित जी इस शाब्दिक उलटबांसी से खिल उठे। बोले, "वैसे तो न मैं काम की मुसीबत हल कर सकता हूं न अर्थ की फिर भी कहो।" "नहीं पंडित जी, आप ही हल कर सकते हैं। आप रीति काव्य के भी आचार्य है और अर्थ-विश्लेषण के भी।" हमने अपनी कठिनाई बतायी। एक सेकण्ड कुछ सोचकर फिर मुसकराए, "इतनी-सी बात ? अरे भाई, देखो, जब कोई प्रेम-पत्र लिखता है और अपनी प्रेयसी की छत पर या खिड़की में से कमरे में फेंकना चाहता है तो उसे कंकड़ पर लपेट देता है ताकि कंकड़ के

साथ पत्र अपने लक्ष्य तक जा सके। पत्र के साथ कंकड़ उड़ता-सा लगता है मानो कंकड़ प्रेम-पत्र (कामदेव) रूपी पताका लहराता हुआ अपने लक्ष्य पर जा रहा हो।"

पंडित जी फिर मुसकराए और हम 'खुल गया पंडित जी, खुल गया' कहकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने लगे। मिश्र जी अर्थ लगा लेने की अद्भुत तृप्ति से मुसकराते रहे। वास्तव में मैंने अनुभव किया कि विश्वनाथप्रसाद मिश्र और उन जैसे सच्चे सरस्वतीसाधक लोगों की वास्तविक तृप्ति यही रही है। जीवन में उन्होंने अर्थ लगा लेने की ही शक्ति अर्जित की है। सारी पारिवारिक और सांसारिक कठिनाइयों और समस्याओं के बीच समाधिस्थ होकर चटाई पर बैठे हुए हैं। आगे कोई पोथी खुली हुई है और वे उसकी अर्थ-मीमांसा मे डूबे हुए है।

एक बार मिश्र जी ने बताया था कि वे कई बार कई-कई दिन और कई-कई रात एक शब्द के पीछे पड़े होते हैं और जब उसका अर्थ खुल जाता है तब ऐसा अनुपम सुख मिलता है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता। बस, उसे सारस्वत सुख कहा जा सकता है।

बस, ऐसे ही चलता रहा सब कुछ। मित्रों की छेड़छाड़, गुरुओं से जुड़े मानवीय प्रसंग हमारे अभावों को भरते रहे। हम लोग क्लास लेने मे पूर्व साथ बैठे होते और ज्यों-ज्यो क्लास का समय पास आता, हरिमोहन की घबराहट बढ़ती जाती और ज्यों ही घंटा बजता, हरिमोहन बोल उठने—"आहि दादा, लगता है ई घंटवा माला मेरी छतिए पर बज रहा है।" वे मर्माहत मे क्षण-भर बैठे रहते। हम लोग मुसकराते हुए उन्हें देखते रहते। वे फिर अपनी घबराहट झाड़कर उठ खड़े होते और हंसकर साथ हो लेते। "बस भाई ई घंटवा बजने तक मुझे घबराहट होती है। क्लास में जाता हूं तो सब कुछ ठीक हो जाता है।"

परीक्षा हो रही थी। पंडित जी (हजारीप्रसाद द्विवेदी) परीक्षा के सुपरिंटेंडेंट थे और हम लोग इनविजिलेटर थे। हम लोगों के साथ शायद दूसरे विभागों के भी कुछ लोग रहे होंगे। पंडित जी ने कहा, "चलो चाय पीते हैं।" हम लोग उनके कमरे में गए। चाय आयी, समोसे आए। हम लोग खाते-पीते रहे, बतियाते रहे। पंडित जी का साथ किसी भी बहाने मिले, यह हमारे लिए सौभाग्य और आनंद का प्रसंग होता था। बहुत देर तक हम लोगों को अपने साहचर्य में आनंदित करने के बाद पंडित जी एकाएक गंभीर हो गये और हमारी ओर देखकर बोले, "तुम लोगों को शायद याद नहीं कि परीक्षा की ड्यूटी देने आये हो? वैसे याद भी कोई अच्छी चीज नहीं है, उसे खो देना ही सुखद होता है।" वे ठठाकर हंसे और हम लोग कुछ लज्जित-से भागते हुए परीक्षा-कक्ष मे आ गये। पंडित जी का अपना ढंग था। हंसी-विनोद में वे बड़ी और गंभीर बात कह देते थे। यदि आप नहीं समझे तो भी कोई बात नही और यदि समझ गये तो फिर क्या कहना?

32

मैं कवि-रूप में काफी जान लिया गया था। धीरे-धीरे मेरा झुकाव प्रगतिवाद की ओर हो रहा था। मैं मार्क्सवाद पढने भी लगा था और उससे प्रभावित साहित्य की छवि भी धीरे-धीरे मेरी समझ में उतरने लगी थी। धीरे-धीरे मेरा छायावादी भाषा-संस्कार टूटने लगा था और लोक-सम्पृक्ति की काव्य-भाषा और चेतना मेरे गीतो में उभरने लगी थी। मैं इस तथ्य को शुरू मे ही अनुभव करता था कि साहित्य एक लम्बी दौड है, इसमें जल्दी नही पडी होती। जैसा आप अन्दर मे हों, वैसा ही दीखिये यानी अपने अनुभव में उतरे हुए सत्य को ही कहिये। हुआ यह कि कुछ नये-नये लड़के रातों-रात मार्क्सवादी पैदा हो गये और वे सभी स्थापित कवियों को प्रतिक्रियावादी और बूर्ज्वा कहने लगे। छाती तानकर और आंखें तरेरकर चलते थे, दो साल बाद वे एकाएक कांग्रेसी हो गये। मैं अपने स्वभाव को छिपाकर नही, उसे नये सस्कार देकर साहित्य के नये जगत् की ओर पैर बढा रहा था। इसलिए जब पूरी समझदारी और अनुभव के साथ प्रगतिवादी चेतना और दृष्टि से जुडा तो जुडता ही गया। प्रगतिवाद न तो मेरे लिए तेवर-प्रदर्शन की चीज बना, न कम्युनिस्ट देशों मे कुछ पाने का प्रलोभन। वह मेरी भीतरी आवश्यकता बना। मेरे भीतर जो अपने अभावग्रस्त परिवेश की पीड़ा और अनुभव व्याप्त था उमे एक दृष्टि या दर्शन प्राप्त हो गया था जिसके नाते सामान्य जन के अभाव और दर्द को, उमकी जडों को, उसके कारणो को और उमके निदान को समझने की चेतना प्राप्त हुई। इसलिए मै अपने को प्रगतिवादी साहित्यकारों की जमात मे जुड़ा हुआ अनुभव करने लगा लेकिन मै उस जमान की शर्त पर उस जमात में कभी शामिल नही हुआ। उस जमात में बहुत से लोग साहित्य के नाम पर एकत्र तो होते थे किन्तु उनकी साहित्यिक समझ बहुत उथली और प्रचारवादी होती थी। वे नये लेखकों को फतवे देते थे। उन्हें लेखकों के अपने लेखकीय व्यक्तित्व की अपेक्षा उनका दलबद्ध व्यक्तित्व अधिक सार्थक लगता था। वे कथ्य और शिल्प को एक खास ढांचे मे फिट करके देखना चाहते थे। यह क्रम अभी टूटा नही है। इसलिए मैं कभी भी इस दल में या उस दल में दीक्षित नहीं हुआ। सामाजिक नजरिए से अपने ढंग से अपने अनुभव में उतरे हुए यथार्थ को देने की कोशिश करता रहा। आज तक मेरी कोशिश यही रही है।

बहरहाल वह साहित्य की खुशबू से भरा हुआ समय था। 'नयी कविता' का सर्जन प्रारम्भ हो गया था, भले ही अभी वह आन्दोलन के रूप मे नही उभरी थी। इलाहाबाद और बनारस साहित्य की गहमागहमी के दो केन्द्र बन गये थे। इलाहाबाद में परिमल की गोष्ठियां होती थीं और बनारस मे साहित्यिक संघ की। परिमल की शाखा भी स्थापित हुई थी—'चेतना' संस्था के नाम से। 'चेतना' के संचालक शंभूनाथ सिंह थे और विजयदेवनारायण साही भी एम० ए० करके बनारस में ही आ गये थे और कुछ दिन विद्यापीठ मे पढ़ाया था।

साहित्यिक संघ की स्थापना ठाकुरप्रसाद सिंह ने की थी। उस संस्था की चेतना प्रगतिशील थी यद्यपि इस पर न कम्युनिस्ट पार्टी का ठप्पा था न प्रगतिशील लेखक

संघ का। इसके सदस्य भी घोषित कम्युनिस्ट नहीं थे किन्तु कुल मिलाकर यह संस्था प्रगतिशील चेतना की वाहक थी। इसके लेखकों में एक साहित्यिक संस्कार था। उस संस्था में ठाकुरप्रसाद के अतिरिक्त त्रिलोचन, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, मंगलनाथ सिंह, विष्णुचन्द्र शर्मा, विद्यासागर नौटियाल, शिवमूर्ति शिव, मैयालाल, राममेवक सिंह, भगवती सिंह, रामविनायक सिंह, नर्मदेश्वर उपाध्याय, लालजी सिंह, सत्यव्रत अवस्थी, पारसनाथ सिंह आदि अनेक ख्यात और नये लेखक आगे-पीछे शामिल हुए। मैं भी था।

दूसरी 'चेतना' गोष्ठी थी जिसमें शंभूनाथ सिंह, विजयदेवनारायण साही, हरिमोहन, शिवप्रसाद सिंह, ब्रजविलास, रवीन्द्र भ्रमर, विष्णुस्वरूप, प्रमोद आदि थे। दोनों संस्थाओं के लोग एक-दूसरे के कार्यक्रमों में जाया करते थे। कोई वर्जनात्मक रेखा नहीं थी। उस समय का साहित्यिक वातावरण बहुत प्रसन्न था। एक-दूसरे की टांग खींचने के स्थान पर एक-दूसरे को सुनने और समझने की उत्सुकता थी। मूल स्वर साहित्य का ही था चाहे संस्था का मिजाज सामाजिक रहा हो, चाहे व्यक्तिवादी। त्रिलोचन शास्त्री कई वर्षों तक नव संस्कृति संघ के मंत्री रहे। इसके बावजूद हम एक-दूसरे के गहरे मित्र थे। यानी मित्रता के लिए विचारधारा बाधक नहीं थी। इसी से साहित्यकारों के लचीलेपन की बात समझी जा सकती है। गोष्ठियां खूब होती थीं। साहित्यिक मित्र एक-दूसरे के यहां खूब जाते थे। इसलिए भक्ति-भवन का मेरा सूना मकान भी सूना नहीं लगता था। कालेज के विद्यार्थी तो आते ही थे, साहित्यिक मित्र भी खूब आते रहते थे। कई बार वहां गोष्ठियां भी हुईं। गोष्ठियों में बहसें होती थीं, पकौड़ियां लूट-लूटकर खायी जाती थीं। बाहर के साहित्यकार मित्र भी आते रहते थे। कोई मित्र रात को मेरे यहां आकर ठहरता था तो मुझे बहुत अच्छा लगता था क्योंकि उस निर्जन स्थान की भयावहता कुछ कम हो जाती थी।

हम लोग जो भी नया लिखते दूसरों को सुनाते थे—गोष्ठियों में और अलग-अलग भी। मुझे लग रहा था कि मेरे लेखन में एक नया रंग उभर रहा है—पिछले लेखन से। कुछ भिन्न, सामान्य और लोक-जीवन की सहजता उभर रही थी। गीतों में उच्छ्वसित भावुकता की जगह एक ठोस अनुभव की दुनिया करवट ले रही थी जिसे मैं अपनी नयी मार्क्सवादी दृष्टि से एक सांकेतिक प्रगति चेतना दे रहा था। मैं स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में तो खूब छपा किन्तु अब बाहर की सम्मानित पत्रिकाओं में छपने के लिए संघर्ष कर रहा था। कविताएं लौट आती थीं। लौटने से मैं निराश नहीं था क्योंकि कविताएं तो मैं लिखता ही था, पत्रिकाओं में छपने और न छपने से उनके सर्जन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला था और जब लिखता तो उनके लौटने पर दूसरी कविताएं भेजता था। एक दिन पंडित जी (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) से रचनाओं के लौटने की बात कही तो उन्होंने समझाया—"देखो, तुम पान नहीं खाते हो, सिगरेट नहीं पीते हो यानी तुम्हें कोई खर्चीली आदत नहीं है इसलिए तुम कुछ पैसे लगातार डाकखर्च के रूप में इस्तेमाल करो। लगातार रचनाएं भेजते रहो। तुम अच्छा लिखते हो, छपेंगी ही।" बल्कि उन्होंने मेरी कुछ कविताएं कुछ पत्रिकाओं को अपने पत्र के साथ भेजीं भी किन्तु वे फिर भी नहीं छपीं। कुछ समय बाद 'आजकल' के संपादक श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

जब साहित्यिक संघ के अधिवेशन में बनारस आये तो मालूम पड़ा कि वे 'आजकल' का भारतीय कविता अंक निकाल रहे हैं और उन्हें मेरी एक कविता बहुत पसंद आयी जिसे विशेषांक के लिए रख लिया और छापा भी। उस समय मैंने उनसे कहा—"महाराज, आपको मेरी यह कविता प्रिय लगी तो पहले क्यों नहीं प्रिय लगी? द्विवेदी जी ने उसे भेजा था।"

वे हंसकर बोले—"हां। वह कविता मिली थी लेकिन मुझे चिढ़ हो गई कि मांगने पर वे स्वयं अपनी कोई चीज तो नहीं भेजते, शिष्य की रचना भेज दी।"

मैं भी हंसने लगा। इसी प्रकार एक दिन पंडित जी के यहां गया तो वहां भवानीप्रसाद मिश्र मिल गये। पंडित जी ने परिचय कराया और भवानी भाई से पूछा भी कि इनकी कविताएं तुम लोग 'कल्पना' में क्यों नहीं छापते हो? पंडित जी वहां भी मेरी कविता भेज चुके थे। भवानी भाई ने कहा—"हां, मुझे तो इनकी कविताएं अच्छी लगती हैं किन्तु सम्पादक मंडल के और लोगों को ज्यादा ही नयी लगती है।"

मुझे लगा कि भवानी भाई बहाने से यह कहना चाहते हैं कि 'कल्पना' जैसी आधुनिक पत्रिका के हिसाब से मेरी कविताएं नयी नहीं हैं। उन्होंने अपने अन्दाज से उलटी भाषा मे बात कही। बात जो भी रही हो किन्तु सच यही था कि वहां काफी दिन तक मेरी रचनाएं नहीं छपी—यद्यपि मैं भेजता रहता था। 'कल्पना' एक ऐसी पत्रिका थी जिसमें छपने की हसरत हर एक नये लेखक को होती थी। शिवप्रसाद जी की कहानियां छपने लगी थीं। शंभूनाथ जी भी छपते थे। आखिर मेरी एक रचना छपी किन्तु वह कविता नहीं थी—कहानी थी। उस कहानी 'लोचन' की चर्चा भी हुई किन्तु मैंने उसे अपने किसी संग्रह मे नहीं दिया।

उस वक्त कुछ आगे-पीछे अनेक स्तरीय पत्रिकाएं निकली। कहा जा सकता है कि पत्रिकाओं की दृष्टि से यह स्वर्णिम युग था। 'कल्पना', 'आजकल', 'नया पथ', 'अवन्तिका', 'पाटल', 'अजंता', 'युग-चेतना', 'नयी कहानी', 'प्रवाह', 'हंस' न जाने कितनी ही अच्छी पत्रिकाएं निकलती थीं और सभी का स्तर और स्वरूप अखिल भारतीय था। वे गली-मुहल्ले से निकलने वाली पत्रिकाएं नहीं थी वरन् पूरे देश के हिन्दी साहित्यकार इन पत्रिकाओं के मंच पर उपस्थित थे। उनमें दल, विचार, वाद आदि के व्यवधान नहीं थे, सभी छपते थे छपने लायक रचनाओं के साथ।

धीरे-धीरे मेरा प्रवेश इन पत्रिकाओं में हो रहा था। आगे-पीछे मैं सभी मे छपने लगा। मै प्रगतिवाद की ओर झुक तो रहा था किन्तु इस प्रक्रिया में न तो वर्जना की कोई रेखा खींची और न प्रगतिवाद का ठेठ चालू मुहावरा अपनाया। इसलिए कई बार प्रगतिवादी मित्रों को मेरी कविताओं को प्रगतिवादी मानने में बड़ी परेशानी होती थी और आज तक हो रही है। एक मजेदार घटना घटी। 'नया पथ' से मेरा थोड़ा सम्बन्ध बन चुका था। तब वह बम्बई से निकलता था। मैंने एक कविता भेजी 'तुम्हें क्या दिया, तुम्हें क्या दिया जिन्दगी की राह में'। सम्पादक थे शिव वर्मा और शील जी उनकी सहायता करते थे। पत्र आया शील जी का। उन्होंने लिखा कि कविता प्रगतिवादी नहीं है। मैंने उनकी आपत्तियों का जवाब देते हुए एक लम्बा पत्र लिखा और बतलाया कि

कविता कैसे प्रच्छन्न रूप में वे सारी बातें संकेतित कर रही है जिनकी मांग शील जी कविता के ऊपरले स्तर पर कर रहे हैं। इस बार पत्र आया शिव वर्मा जी का। उन्होंने लिखा कि 'कविता बहुत अच्छी है। उस दिन शील जी अपना चश्मा भूल आए थे। इसलिए कविता ठीक से पढ़ नहीं सके। कविता शीघ्र ही छप रही है।' कविता छपी और सम्मान के साथ छपी। मैं शिव वर्मा के प्रति कृतज्ञ हो आया जो क्रांतिकारी होते हुए भी साहित्य की व्यंजना के प्रति अधिक सहृदय दिखाई पड़े। जहां साहित्य के लिए ही अपने को अर्पित करने वाले बहुत-से लेखक और आलोचक लाठी भांज रहे थे (और अब तक भांज रहे हैं) वहां शिव वर्मा जैसे राजनीतिक सरोकार के व्यक्ति का एक अत्यन्त नए कवि की रचना की व्यंजित प्रगतिशीलता को सम्मान देना कितना प्रीतिकर प्रतीत हुआ।

मैं साहित्यिक संघ का मन्त्री बना दिया गया। यद्यपि किसी संस्था का नेतृत्व करना मेरे वश का नहीं है फिर भी मित्रों के आग्रह के कारण इस कार्य को स्वीकार करना ही पड़ा। मंच-भीरु स्वभाव और नेतृत्व की प्रतिभा की कमी इन दोनों ही कारण से मैं भीड़ या समुदाय के आगे नहीं चल सकता, उसके साथ चलना अच्छा लगता है। मैं अपने में डूबा रहने वाला व्यक्ति नहीं हूं, जिन्दगी की चहल-पहल मुझे बहुत अच्छी लगती है इसीलिए मैं लेखन भी रात के सन्नाटे में नहीं कर पाता। मैं लेखन सुबह करता हूं जब मेरे कमरे में चारों ओर जीवन-प्रवाह का संगीत बजता रहता है। मैं कमरे में थोड़ा अकेला रहूं और बाहर दुनिया चलती रहे, मेरे लेखन की इतनी-सी मांग होती है। तो मैं स्वभावतः लोगों के साथ रहकर सुख पाता हूं किन्तु उनके बीच से सिर उठाकर नहीं, उनके बीच कहीं खोकर। इसलिए साहित्यिक संघ का मन्त्री बनकर मैं बहुत आश्वस्त नहीं था, आश्वस्त था तो बस इस बात से कि यों तो मन्त्री मैं हूं किन्तु नेतृत्व ठाकुरप्रसाद सिंह ही करेंगे। वैसे भी इस संस्था के व्यवस्था पक्ष की बागडोर उन्हीं के हाथ में थी और साहित्यिक संचालन भी उनके परामर्श से ही होता था चाहे मंत्री कोई बनता रहा हो। उनमें संगठन तथा साहित्यिक नेतृत्व दोनों को सभालने की अद्भुत क्षमता थी और बनी रही। इसलिए मन्त्री-पद का भार संभालने के बावजूद मैं आश्वस्त था।

गोष्ठियां पहले भी होती थीं, मेरे मंत्रित्वकाल में भी खूब हुईं। शुकदेव सिंह मेरे सहयोगी थे। वे मेरे शिष्य थे। बहुत प्रबुद्ध छात्र तथा साहित्य-चेता थे। इसलिए मुझे उनसे सहयोग लेने का पूरा अधिकार था और वे देते थे। राजेन्द्र कृष्ण भी मेरे प्रिय प्रबुद्ध छात्र थे तथा कविताएं लिखते थे। वे भी सहयोगी के रूप में हमसे जुड़े थे। न जाने कितनी गोष्ठियां हुईं, किन-किन विषयों पर हुईं और कितने-कितने लोगों ने भाग लिया। उन गोष्ठियों का कोई लिखित हिसाब तो अपने पास नहीं है किन्तु उनकी खुशबू मन में बसी हुई है।

ठाकुर और अन्य मंत्रियों के मंत्रित्वकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण वार्षिक अधिवेशन हुए और हिन्दी के अनेक विद्वानों और लेखकों ने भाग लिया। कुछ में मैं उपस्थित रहा, कुछ में संयोग नहीं मिला किन्तु अपने मंत्रित्वकाल में होने वाले वार्षिक अधिवेशन की

याद अभी तक ताजा है। पहली बार मुझे हिन्दी के अनेक जाने-माने लेखकों से पत्र-व्यवहार करने का सुख मिला। डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शमशेर और न जाने कितने लोग। केदारनाथ अग्रवाल को छोड़कर लगभग सारे आमंत्रित लेखक अधिवेशन में आए। केदारनाथ अग्रवाल का बहुत आत्मीय पत्र आया। उन्होंने बहुत स्नेह से अपने न आ पाने की विवशता व्यक्त की। मैंने नागार्जुन और अश्क दोनों से ही अपने यहां ठहरने के लिए निवेदन किया था। नागार्जुन मेरे यहां ठहरे। आये अश्कजी भी किन्तु ठहरे नहीं, खाना खाकर कही और चले गये। उनके साथ कौशल्या जी भी थीं। गोरखपुर से विद्याधर द्विवेदी विज्ञ और योगेन्द्र पाडेय भी आ गए।

नागार्जुन जी को पहले भी एक बार देखा था किन्तु उनका साहचर्य पाने का यह पहला अवसर था। गोरखपुर के मित्रों का उनसे परिचय कराया। वास्तव में कई कवि ऐसे होते हैं जिनकी रचना और ऊपरी व्यक्तित्व में साम्य नहीं होता, उनमे से एक नागार्जुन भी है। वे तब तक अपनी प्रगतिशील विद्रोही कविताओं द्वारा जाने जा चुके थे और पाठक के मन मे इस कवि के विद्रोही प्रखर व्यक्तित्व का बिम्ब बना हुआ था किन्तु जब पाठक उन्हें पहली बार देखता तो चौंक जाता (मैं भी चौंका था) कि यही है नागार्जुन ? एक निपट देहाती किस्म का सीधा-सादा आदमी जिसकी शक्ल-सूरत भी ठेठ देहाती मिट्टी से बनी हुई है। गोरखपुर से आये मित्रों ने कहा—"यही हैं नागार्जुन ?" मैं समझ गया वे क्या कहना चाहते है।

हम लोग खा-पीकर सोए। रात को देखा कि दूसरे कमरे में (जिसमें नागार्जुन जी थे) लाइट जल रही है। जब-जब नीद खुली, देखा लाइट जल रही है। मैंने एक बार उठकर झांका, देखा नागार्जुन जी लिख रहे हैं। सवेरे मैंने उनसे पूछा, "आप रात-भर सोए नही क्या ?" हंसकर बोले, "मच्छरों ने सोने नही दिया तो सोचा कविता ही लिख लूं। सो रातभर कविता के द्वारा मच्छरों से लड़ाई करता रहा।" मुझे बहुत अफसोस हुआ कि मेरे यहां इतनी सुविधा नही कि अपने सम्मानित अतिथि को मच्छरों के आतंक से बचा सकूं। पेड़, पौधों, ताल, जंगली घासों के बीच बसा हुआ भक्ति-भवन वैसे ही मच्छरों के आकर्षण का केन्द्र रहा है, दूसरे फरवरी-मार्च का महीना जिसमें मच्छरों की फसल पैदा होती है। इसमें बिजली का पंखा भी तो नहीं चल सकता और चल भी सकता तो अपने पास पंखा था कहा और न जाने कब तक नहीं रहा। मेरी चिन्ता को समझकर नागार्जुन ने मच्छर-प्रसंग को हंसकर उड़ा दिया और कहा, कविता सुनो। उन्होंने कविता सुनाई। कविता बहुत छोटी थी, कुम्भ मेले पर थी। उसी साल अव्यवस्था के कारण न जाने कितने लोग भगदड़ में मरे थे। उसी को केन्द्रित करके यह कविता लिखी गई थी। मैंने कहा, "क्या बात है, बहुत छोटी-सी किन्तु कितनी मारक कविता !'

"पसन्द आई ?"

"हां, बहुत।"

"अब बताओ ये मच्छर न होते तो यह कविता कैसे बनी होती ?"

हम हंस पड़े। नागार्जुन ने अपने कष्ट को कैसे एक जीवन्त वातावरण में बदल दिया और मेरे अपराध-बोध को कैसे हंसी में उड़ा दिया, देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ।

नागार्जुन देखते-देखते मेरे घर के अभिभावक बन गए। चौके में चले गये और पत्नी के पास बैठकर अपनी भोजन-रुचियां बताने लगे और वैसी ही चीजें बनवाने भी लगे। हमें कितना अच्छा लगा यह देखकर कि जिसे हमने अतिथि के रूप में बुलाया था वह तो घर के बुजुर्ग की तरह सबको स्नेह और आत्मीयता बांटने लगा। व्यक्ति नागार्जुन की प्रगतिशीलता उनकी विद्रोही भंगिमाओं में नहीं बल्कि लोगों के लिए बहते हुए स्नेह में रही है। वे और उनकी पीढ़ी के अनेक प्रगतिशील लेखक बहुत अच्छे इन्सान रहे हैं—स्नेहशील साथी इन्सान।

गोष्ठी बी० एच० यू० के एक कक्ष में आयोजित थी। हम वहां समय से पहुंचे। अध्यक्षता रामविलास जी को करनी थी। शमशेर, त्रिलोचन, प्रकाशचंद्र गुप्त, अश्क, कौशल्या अश्क, महादेव साहा, महेन्द्रचन्द्र राय, रुस्तम सैटिन आदि अनेक लोग आ गए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी पधारे थे। नये-पुराने स्थानीय साहित्यकार तो थे ही, इलाहाबाद से कमलेश्वर (और शायद मार्कंडेय भी) आये थे। डा० रामविलास शर्मा की प्रतीक्षा थी। वे रिक्शे से उतरकर आते दिखाई पड़े—धोती और बुश्शर्ट पहने हुए। रामविलास जी को वेश-विन्यास का क्या बन्धन! भला धोती और बुश्शर्ट का कोई मेल है किन्तु रामविलास जी के लिए सब ठीक है। गोष्ठी शुरू हुई। कई-कई विचारों के लोग बोले। वैचारिक टकराहटों की गरमागरमी रही। अन्त में रामविलास जी का अध्यक्षीय भाषण हुआ। उन्होंने अपनी जीवन्त शैली में अनेक बातें उठाईं। लगा कहीं-कहीं वे द्विवेदी जी के विचारों पर प्रकारांतर से व्यंग्यात्मक शैली में प्रहार कर रहे हैं। पंडित जी बैठे थे और सुन-सुनकर अट्टहास करते रहे। रामविलास जी खुली शैली में जो जी में आया बोले। मसलन उन्होंने शमशेर को सुझाव दिया कि उन्हें कविता करना छोड़कर कुछ ठोस काम करना चाहिए—मसलन बसूला-रुखानी लेकर लकड़ी का काम करना चाहिए। शमशेर ने उठकर आदाब अर्ज कहा। फिर रामविलास जी उपन्यास की ओर घूम गए और कहा कि इन दिनों एक बहुत अच्छा उपन्यास आया है। यह बात कहने के साथ उन्होंने हंसकर नागार्जुन से कहा—"तुम क्या मेरी ओर देख रहे हो नागार्जुन। मैं तुम्हारी बात थोड़े ही कर रहा हूं, मैं तो 'बलचनमा' की बात कह रहा हूं।" हंसी हुई और रामविलास जी आगे बढ़ गये।

दोपहर के बाद दूसरा सत्र था और शाम को नौका-विहार का कार्यक्रम रखा गया था। नौका-विहार के समय अश्क जी ने समा बांधा। वे नाटकीय अंदाज में चुटकुले सुनाते रहे और सबको हंसाते रहे। अपने नाटक के कुछ संवाद भी नाटकीय अन्दाज में सुनाए, दूसरे लेखकों की आलोचना भी की। इस प्रक्रिया में उन्होंने बार-बार कुछ लेखकों के लिए 'चुगद' शब्द का प्रयोग किया। जब भी वे 'चुगद' शब्द का प्रयोग करते थे द्विवेदी जी समेत सारे लोग हंस पड़ते थे। कविता-गोष्ठी भी हुई। हम चांदनी रात में गंगा की लहरों पर बहते रहे और हमारे बीच बहती रही साहित्यधारा। हम नये

लोग साहित्य-सिद्धों के इतना निकट बैठकर उनकी प्रतिभा के ही नहीं, उनकी सहज आदमियत के रस में भीग रहे थे—यह कितना अविस्मरणीय प्रसंग था। वार्षिक अधिवेशन सम्पन्न हो गया। लोग चले गये और मैं हलका महसूस करने के साथ-साथ अपनी कमियों की व्याख्या करने लगा—मेरी भूमिका कहां कमजोर थी। मुझे और अच्छे ढंग से क्या-क्या करना चाहिए था। मेरी यह आदत आज तक नहीं गई। मैं अवसर पर प्राय: चूक जाता हूं और बाद में सोचता हूं कि ऐसा हुआ होता तो ज्यादा अच्छा रहा होता।

मैं मार्च सन् '56 तक बनारस में रहा और कह सकता हूं कि यह समय काशी में साहित्यिक विचारगोष्ठियों और साहित्यिक समारोहों की गहमागहमी का काल था। हिन्दी साहित्य का पूरा साहित्यिक वातावरण अच्छी पत्रिकाओं से तो भरा ही हुआ था। मुझे इस दौर में काशी में होने वाली गोष्ठियों और समारोहों का तिथि-क्रम याद नहीं, बस याद है तो उनका होना। कह चुका हूं कि काशी में प्रगतिशील चेतना के 'साहित्यिक संघ' के अतिरिक्त 'चेतना' नामक एक गोष्ठी चलती थी जिसका सम्बन्ध इलाहाबाद की 'परिमल' संस्था से था। इन्हीं लोगों के नेतृत्व में काशी विद्यापीठ में 'नव संस्कृति संघ' नामक एक संस्था भी चली थी। यह भी कह चुका हूं कि वैचारिक मतभेदों के बावजूद हम सभी गोष्ठियों में जाया करते थे, रचनाएं पढ़ते थे, सुनते थे और उन पर जमकर आलोचनाएं होती थीं। मित्रता की कोई रियायत नहीं होती थी।

चेतना का वार्षिक समारोह था। यदि साहित्यिक संघ में रामविलास शर्मा, शमशेर, नागार्जुन, अश्क आदि आये तो चेतना में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, विजयदेव-नारायण साही, सर्वेश्वर आदि को आना ही था। काफी अच्छी भीड़ थी। सुबह के सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे डा० देवराज और मुख्य वक्ता थे द्विवेदीजी। द्विवेदी जी को तो लगातार सुनता आया था किन्तु कभी-कभी तो वे अपने भाषणों में इतनी ऊंचाई तक उठ जाते थे जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस ऊंचाई तक उठते उन्हें कई बार बाद में भी देखा। उस दिन उन्होंने एक विराट ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भ में मानव-शक्ति की जो व्याख्या की, वह अद्भुत थी। न जाने कितने-कितने सन्दर्भ, अर्थ और नये विश्लेषण सहज भाव से बहते हुए उनके भाषण का अंग बन जाते थे और सब मिलकर एक विराट् आशय की रचना कर देते थे। लगता था जैसे विराट् श्रोता-समुदाय अनायास भाव से उनके स्वर के साथ बंधा हुआ एक बड़े विचार और अनुभव का अंग बन गया है और कुछ समय के लिए कालबोध, स्थानबोध से मुक्त हो गया है। उस दिन भी यही स्थिति हुई। 'परिमल' की कलावादी रुझान से जुड़ी 'चेतना' की गोष्ठी में द्विवेदी जी ने प्रगतिशील सामाजिक चिन्तन और मूल्यबोध का सहज भाव से जो आख्यान किया उसके प्रभाव ने या तो आंदोलित किया या स्तब्ध कर दिया। उनके भाषण के बाद किसी के भाषण के प्रभावशाली होने का प्रश्न ही नहीं उठता था किन्तु प्रश्न केवल प्रभावशाली होने का नहीं था, तथ्यों और सत्यों के विवेचन का भी था। अज्ञेयजी का भाषण प्रभावशाली न भी हो, सारगर्भित तो होता ही है। उन्होंने सम्भवत: दूसरे सत्र में बहुत धीरे-धीरे टुकड़ों में सारगर्भित बातें उठाईं। डा० देवराज

ने भी अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण तथ्यों और विचारों की अभिव्यक्ति की। भारती जी भी बोले। अच्छा बोलते थे, अच्छा बोले।

शाम को कविता-गोष्ठी थी। इलाहाबाद और काशी के सभी उपस्थित महत्त्वपूर्ण कवियों ने कविता-पाठ किया। भारती जी को पहली बार सुना। उन्होंने गाकर अपनी गजल 'द्वार कुछ बन्द कुछ खुला रखिए' सुनाई। धीरे-धीरे अच्छा गा लेते हैं। वैसे भारतीय जी स एक बार मेरी भेंट इलाहाबाद में 'परिमल' की एक गोष्ठी में हो चुकी थी। शंभूनाथ जी के साथ मैं एक काव्य-समारोह में इलाहाबाद गया था। संयोग से दूसरे दिन परिमल की गोष्ठी थी। शंभूनाथ जी के साथ मैं भी निमन्त्रित हुआ था। वहां जाने के बाद शंभूनाथ जी ने मेरा परिचय कराया तो भारती जी समेत कई लोगों ने पूछा, " 'उमड रही पुरवइया कुंतल जाल सी' कविता आपकी ही है न ?" मैंने परम सुख के साथ कहा, "हां।" उसके बाद जो भी सदस्य आता उससे मेरा परिचय कराया जाता। ये हैं रामदरश मिश्र, 'उमड़ रही पुरवइया कुंतल जाल सी' के कवि। 'अच्छा-अच्छा, आप है' कहकर वह व्यक्ति मेरी ओर गौर मे देखता।

वास्तव में हुआ यह था कि संगम में मेरा एक गीत छपा था जिसकी पहली पंक्ति थी, 'उमड रही पुरवइया कुंनल जाल सी, लहर रहे अम्बर में काले-काले बदरा'। यह गीत मुझे बहुत प्रिय था, और लोगों में भी प्रिय हुआ था। इसी गीत की बगल में भारती जी का भी एक गीत छपा था, 'अगर डोला कभी इस राह से गुजरे कुबेले'। उनका यह गीत भी काफी ख्यात हुआ था। जाहिर है इस गीत के साथ मेरा गीत पढ़ा गया होगा और सभवतः सबसे पहले भारती जी ने ही पढा और सराहा होगा, उन्होंने दूमरों मे इसकी प्रशसा की होगी। वैमे भी उस ममय लोग अच्छी चीजें पढ़ते और सराहते थे। मैं काशी का एक नया अप्रचारित कवि अपनी एक कविता के माध्यम से इलाहाबाद के लोगों के बीच चर्चा का विषय बना हुआ था। यह उस समय के साहित्यिक वातावरण की शुद्धता का एक उदाहरण है। उस गोष्ठी मे मैंने अपनी एक और बहु-चर्चित कविता मुनाई, 'जग में मैं सबका आभारी, सबने जीवन को दान दिया'। किंतु इसे सुनने के बाद लोगों ने 'उमड़ रही पुरवइया' वाले गीत को सुनने की इच्छा व्यक्त की। मैंने वह गीत सुनाया। काफी दुबले-पतले थे भारती जी। इतने दुबले कि पीठ निकली हुई मालूम पडती थी। संघर्ष के दिन थे। सामान्य कुर्ता-पाजामा में थे और एक पुरानी साइकिल पर चलकर आए थे। किंतु चाहे भारती जी हों, चाहे हम लोग, अभाव के उन दिनों में कितनी सर्जनात्मक ऊर्जा और खुशबू महसूम होती थी। भारती जी ने अपनी मर्जना की सारी खुशबू उन्हीं दिनों बिखेरी थी। मोहन राकेश की स्मृति में लिखी गई उनकी कविताओं में इन दिनों की खुशबू झांकती दिखाई पड़नी है। उन्हीं दिनों वे अपनी पुरानी साइकिल पर कमलों से भरी दुपहरिया ढोकर लाते थे। उन्ही दिनों 'उन्मन यह फागुन की शाम है' जैमी कविता उनके अन्तर से फूटी थी। यानी उन दिनों की उनकी कविनाओं और कथा-माहित्य में इलाहाबाद की कस्बाई गंध अपनी पूरी सघनता के साथ अभिव्यक्त हुई थी—इलाहाबाद के कस्बाई त्योहार, पर्व, ऋतु, मौसम, ताल, तलैया, लोगबाग, गलियां, सड़कें सभी तो कवि-मन की कच्ची जमीन से फूट रहे

थे। उसके बाद आज भारती जी को देख रहा था। सब कुछ वैसा ही।

दूसरे दिन सुबह शंभूनाथ जी मेरे घर आए (या संदेश भेजा) यह कहने के लिए कि अज्ञेय जी मुझे पूछ रहे थे। उन्होंने मेरी कविता पसन्द की है। आज मुझसे मिलना चाहा है। यह मेरे लिए बड़ी खुशी की बात थी। अज्ञेय जी ने मेरी कविता पसन्द की है, यह समाचार सुगंध बनकर मेरे भीतर व्याप गया। आज गोष्ठी का दूसरा दिन है। वहां उनसे भेंट होगी ही।

गोष्ठी का प्रातःकालीन सत्र समाप्त हो गया। लोग चाय ले-लेकर कमरे में टहल रहे थे। यही समय था अज्ञेय जी से मिलने का। मैं उनके पास गया। नमस्कार करके खड़ा हो गया। वे चुप खड़े रहे। मुझे विचित्र लगा। मुझे मिलने के लिए बुलाकर चुपचाप खड़े हैं, कुछ बोलते ही नहीं। फिर मैंने ही कहा—"जी, आपने मुझे याद किया था ?"

"हां-आं-आं।" अपनी अभिजात भंगिमा में अज्ञेय जी बोले—"मुझे आपकी कल वाली कविता पसंद आयी थी, आप मुझे दे सकते है क्या ?"

"क्यों नही, यह तो मेरा सौभाग्य होगा। मै आपके पते पर भेज दूगा।"

"हां। और वैसी कुछ और कविताएं हों तो उन्हें भी भेज दें।"

"जी, बहुत अच्छा।"

फिर वे धीरे-धीरे दूसरी ओर सरक गए। मैं भी उनकी उपस्थिति का भारीपन महसूस कर रहा था, हलका हो गया। भीतर-भीतर प्रसन्न था यह सोचकर कि अज्ञेय जी की पारखी नजर जिस पर पड़ जाती है वह प्रकाश में आ जाता है। कइयो के साथ ऐसा हुआ है। 'दूसरा सप्तक' के अधिसंख्य कवि उनकी पारखी दृष्टि का स्पर्श पाकर जगमगाए है। यही स्थिति बाद मे तीसरे सप्तक की भी हुई। मुझे याद है कि जब नरेश मेहता बनारस में थे तो हम लोगो की गोष्ठियो में आया करते थे और जब वे कुंकुम गहराई जैसे शब्दों से युक्त कविताएं पढ़ते थे तो लोग उनकी छायावादी रंगमयता पर व्यंग्य से मुसकराते थे। जब वे 'दूसरा सप्तक' के कवि हो गए तो लोग चकित थे। कविताएं उनकी बदली हों या न बदली हों, लोग उन्हें गंभीरता से लेने लगे। अतः अज्ञेय जी ने मेरी कविता पसंद की है, यह बात मेरे लिए निश्चय ही बड़ी आह्लादक थी। बाद में मैंने उन्हें अपनी कुछ कविताएं भेजी किन्तु उनका क्या हुआ, मुझे पता नही चला। यानी मैं उनकी पारखी दृष्टि का स्पर्श नही पा सका। बहुत बाद में (दिल्ली आने पर) उनसे भेंट-मुलाकात होती रही और तब उन्होंने अपना कठोर मोन तोड़कर लोगों से बोलना भी शुरू कर दिया था किन्तु उनके लोग ही धीरे-धीरे उनसे कटते गए और वे वत्सल निधि के शिविरों में चलने के लिए, जय जानकी यात्रा में भाग लेने के लिए न जाने किसे-किसे आमन्त्रित करते रहे। मुझसे भी बार-बार आग्रह किया किन्तु जब उनसे जुड़े लोगों ने ही लाभ लेकर उनसे किनारा कर लिया था तो, मैं तो अलग विचारधारा का व्यक्ति हूं और उचित समय पर उनके तवज्जुह से सर्वथा वंचित रहा, मैं अब उनसे क्यों जुड़ता ? खैर, यह बाद की बात है।

मैं कवि-सम्मेलनी कवि कभी नही रहा, हो भी नहीं सकता था किन्तु कवि-

सम्मेलनों में जाया करता था। मेरी ही तरह और भी अनेक अकवि-सम्मेलनी कवि कवि-सम्मेलनों में जाया करते थे। तब कवि-सम्मेलनों का रूप सम्मान-च्युत नहीं हुआ था। तब तक भांडों को कवि का दरजा नहीं मिला था और न गवैयों के आगे और लोग खारिज हुए थे। गवैये भी वे ही सम्मानित थे जो कवि भी थे। बच्चन जी अच्छा गाते थे, गोपालसिंह नेपाली अच्छा गाते थे किन्तु धीरे-धीरे भांडों और गवैयों की ऐसी प्रभुता बढ़ी कि कवि-सम्मेलनों की दुनिया से कवि लापता हो गए। किन्तु मैंने कहा न कि जब की बात मैं कह रहा हूं तब तक ऐसा अवमूल्यन नहीं हुआ था। आज की तरह उनमें शरीक होने पर अपराध-बोध नहीं महसूस होता .था। कविता का गायन या अगायन कोई मापदंड नही था और यह भी था कि प्राय: सभी कवि अच्छे-बुरे स्वर में गाते ही थे। हमारे समकालीन कवि परिवेश में शंभूनाथ सिंह, नामवर सिंह (जिन्होंने बाद में कविता लिखना छोड़ दिया था), ठाकुरप्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, श्रीपाल सिंह क्षेम, रवीन्द्र भ्रमर, हरिमोहन और अन्य अनेक कवि कवि-सम्मेलनों में गाते थे। मैं भी गाता था। कुछ लोग अच्छा गाते थे, कुछ लोग सामान्य। यानी उन दिनों गाने या न गाने की कोई कैद नही थी। कवि-सम्मेलनों में जाने का मुझ जैसे लोगों के लिए एक दूसरा कारण भी था, वह यह कि उन गहरे अभाव के दिनों में उनसे कभी-कभी कुछ सहारा मिल जाता था। बनारस, देवरिया, गोरखपुर, बलिया, छपरा, इलाहाबाद, जौनपुर, आजमगढ़, बस्ती आदि आसपास के जिलों में आयोजित कवि-सम्मेलनों में हम जाया करते थे, उन कवि-सम्मेलनों के खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरा करते थे। न जाने कितने अनुभव हुए होंगे जो अब अवचेतन की पर्तों के नीचे दबे पड़े हैं।

गोरखपुर के ए० डी० गवर्नमेंट गर्ल्स हाई स्कूल (बाद में इंटर कालेज) में एक कवि-सम्मेलन हुआ। उसमे मैं भी बुलाया गया। वहां जाने का एक विशेष आकर्षण था, वह यह कि मेरी पत्नी वहां की छात्रा रही हैं और उनकी अनेक सखियां अभी भी वहां पढ़ रही थीं। वे मुझे जानती थीं। सो एक तरह से सालियों के बीच कविता पढ़ने की महक भीतर भर उठी थी। इसके अतिरिक्त गोरखपुर अपने जिले का शहर तो था ही।

बनारस से मेरे अतिरिक्त शंभूनाथ सिह, केदारनाथ सिंह, रवीन्द्र भ्रमर थे। शमशेर जी तब बनारस मे थे, वे भी साथ में थे। भ्रमर बहुत अच्छा गाते थे (अब भी गाते हैं)। जब कवि लोग साथ होते थे तो चुप कहां रह सकते थे, सुनते-सुनाते थे। भ्रमर जी ने लोकगीत छेड़ दिया। मधुर कंठ से वे एक कहरवा गाने लगे :

बाजत आवेला ढोल से ढमाका
कि नाचत आवेला
ओई विसुनी कंहरवा
रामा नाचत आवेला

लोकगीत का जादू भ्रमर जी के कंठ के जादू से मिलकर एक अद्भुत तरल प्रभाव पैदा कर रहा था। हम सभी उस रस में भीग रहे थे किन्तु मैंने देखा कि शमशेर जी की आंखों से आंसू झर रहे थे। मार्मिक पंक्तियां सुनकर सद्य:द्रवित मैं भी हो जाता हूं किन्तु मैं तो अपने को भावुक स्वभाव का मानता ही हूं। शमशेर के बारे में तो इतना

ही जानता था कि बुद्धिवादी मानी जाने वाली प्रयोगवादी कविता (और नयी कविता) के प्रमुख कवि हैं। उनकी कविताओं की दुरूहता भी उनके अभावुक होने की गवाही देती है किन्तु यहां तो शमशेर का एक दूसरा ही रूप सामने आ रहा था। चश्मे के भीतर रससिक्त आंखों मे आसू झरते जा रहे थे, वे उन्हें पोंछ भी नही रहे थे।

इसी बीच औडिहार आया। शंभूनाथ जी पान खाने उतरे। पान बेचने वाला एक लडका था। पता नही क्या हुआ कि शभूनाथ सिंह जी ने उसे एक झापड रसीद कर दिया और मेरा नाम लेकर चिल्लाए—"रामदरश, जरा पकडना इसको, इसकी मरम्मत कर दें।" भला मैं क्यो पकडता किन्तु हम सभी उतरकर नीचे आ गए और शभूनाथ जी की गलती समझकर चुप रहे। कुछ सयाने पान वाले आ गए और शंभूनाथ जी से बोले—"बाबू, आपने काम तो अच्छा नही किया किन्तु बेहतर है आप जाकर गाडी में बैठ जाइए, बहुत उलझिए नही।" हम लोग शभूनाथ सिंह को अंदर खीच लाए। ज्यो ही गाडी सरकी उस लडके ने बडा सा पत्थर शभूनाथ की ओर फेका। गनीमत थी कि वह पत्थर खिडकी की लकडी से टकराकर बाहर ही गिर गया। अब हमारे माहौल मे रौद्र रस और भयानक रस का संचार हो उठा था। हम लोग स्तब्ध थे। कुछ देर बाद भ्रमर जी ने फिर कुछ गाकर माहौल बनाने की कोशिश की, किन्तु बना नही।

रात को कवि-सम्मेलन हुआ। हम लोगो के अतिरिक्त गोरखपुर के स्थानीय कवि भी थे। उनमे रामलाल जी प्रमुख थे। अध्यक्षता सभवत: शभूनाथ जी ही कर रहे थे। महिला विद्यालय का कवि-सम्मेलन। पूरे वातावरण मे सुगध व्याप्त थी। हर व्यक्ति जमने की कोशिश मे था। मेरे लिए तो जमना और भी आवश्यक था क्योंकि मेरी पत्नी की सखिया यहा थी जो मेरे नाम से परिचित थी, बाकी रही-सही कसर शंभूनाथ जी ने पूरी कर दी—यह परिचय देकर कि इस शहर मे मेरी ससुराल है और मेरी पत्नी इसी स्कूल की छात्रा रही हैं। कवि-सम्मेलनो मे जमना न जमना निश्चित नही होता। एक ही कविता कही जम जाती है, कही उखड जाती है। इसलिए अपनी अच्छी से अच्छी कविता पढने के लिए तैयार मन मे धुकधुकी लगी होती है। बहरहाल मैंने अपनी कविता पढी, मित्रो ने वाहवाही दी और सबसे बडी बात यह हुई कि गोरखपुर के कवि रामलाल ने घोषणा कर दी कि वे मेरी कविता पर प्रसन्न होकर मुझे पुरस्कृत करेगे। रामलाल जी पुरस्कृत करेगे या नही (और नही किया) मेरे लिए इसका कतई महत्त्व नही था। महत्त्व इस बात का था कि उन्होंने यह घोषणा करके सामान्य लडकियो के मन में भी मेरी कविता के महत्त्व को सम्प्रेषित किया।

कवि-सम्मेलन की सयोजिका लडकी प्रबन्ध के सिलसिले मे हम लोगो से प्राय: मिलती थी। वह रूपरग, वेशभूषा और व्यवहार मे बहुत आकर्षक थी। शमशेर जी हम लोगो मे सबसे वरिष्ठ कवि थे इसलिए उनके प्रति उसका अतिरिक्त सम्मान-भाव स्वाभाविक था। शमशेर जी की भावुकता का दूसरा रग उभर रहा था। उस लडकी की वे बार-बार प्रशसा कर रहे थे। उनकी आखो मे उस लडकी के सुन्दर व्यक्तित्व की छाया साफ पढ़ी जा सकती थी। उनकी आंखें भावुकता से भीग आयी थी और लौटते समय रास्ते-भर बहुत सयत रूप मे उस लडकी की चर्चा वे करते रहे। मुझे शमशेर जी

की भावुकता का यह रंग बहुत मानवीय और प्रीतिकर लग रहा था।

रवीन्द्र भ्रमर न जाने कब किसी स्टेशन पर छूट गए। उनका सामान हमारे ही पास था। मैं उनका सामान अपने साथ ले गया और वे दूसरी गाड़ी से पहुंचे।

सिगनल के पास गाड़ी रुकी तो शंभूनाथ जी वहीं उतर गए किन्तु पटरी से सड़क तक की उतराई काफी सीधी थी। उतरते हुए वे तेजी से नीचे की ओर दौड़ने लगे। हमें लगा कि अब गिरे तब गिरे लेकिन वे सकुशल सड़क तक पहुंच गए। शमशेर जी घबरा गए और टिप्पणी की—"शंभूनाथ जी वयस्क हो गए है, इन्हें इस तरह बच्चों का-सा व्यवहार नहीं करना चाहिए।" इस यात्रा में शमशेर जी से पहला लम्बा साहचर्य रहा। यह इस यात्रा का अतिरिक्त सुख था।

33

इन्ही वर्षों में इलाहाबाद मे प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन हुआ। गोरखपुर से विद्याधर भी आ गए। हम लोग इलाहाबाद पहुंचे। हिन्दी और उर्दू लेखकों का भारी जमघट था। बार-बार विचारगोष्ठियां हो रही थीं। बार-बार काव्य-पाठ हो रहा था। रामकेर जैसे कुछ लोक-कवि भी आए थे। कवियों ने लोक-कवियों को बहुत सम्मान से सुना। बार-बार वे मंच पर बुलाए गए। आश्चर्यजनक बात यह थी कि सबसे अधिक आकर्षण के केन्द्र प्रेमधवन बने हुए थे। वे नाचने की मुद्रा मे अपने प्रगतिशील फिल्मी गीत गाते थे और लोग बार-बार उन्हें सुनना चाहते थे। भीड भी अभिजात दीखने वाले स्त्री-पुरुषों की थी। वे चाहे प्रगतिशील रहे हों चाहे और कोई, आम आदमी-से नहीं दीखते थे। बहरहाल हिन्दी उर्दू के अनेक कवियों का जमघट अपने-आप मे बहुत सुखद था और उनमे से अधिसंख्य को पहली बार देख रहा था। अतः मेरे लिए यह और भी हर्षपूर्ण अनुभव था। मुझे इस अधिवेशन की विस्तृत और ठोस गतिविधियों की तो याद नहीं है किन्तु विचार-गोष्ठी और कवि-सम्मेलन का कुछ प्रभाव अवश्य मन पर अंकित है। पूर्वाह्न में विचार-गोष्ठी हो रही थी। अध्यक्ष मंडल मे कई लोग थे जिनमें फ़िराक़, यशपाल के अलावा और कई व्यक्ति थे (नाम याद नहीं)। फ़िराक़ साहब ने अपनी हिन्दी कुंठा के अनुकूल ही हिन्दी-विरोधी भाषण दिया। उन्होंने कहा कि उर्दू कविता की परम्परा प्रगतिशील रही है और हिन्दी की प्रगति-विरोधी। उन्होंने कहा—"हिन्दी कवियों को देश की राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं था। जब बादशाह भक्त कवि को बुलाता है—आओ, सीकरी आओ, हम लोग धर्म और समाज की बेहतरी की बातें करें तो संत मना करता है—'संत को सीकरी सों' कहां काम।" रामविलास जी बीच में बोल पड़े—"अरे भाई, उसकी पनही टूट गयी थी।" एक हंसी पड़ी और फ़िराक़ साहब का कुंठाग्रस्त भाषण चलता रहा। जब वे बैठ गए तब रामविलास शर्मा बोलने खड़े हुए। रामविलास जी ने प्रमाणों और तर्कों के सहारे फ़िराक़ साहब की स्थापना को धो दिया

और दिखा दिया कि यह है हिन्दी कविता-परम्परा और यह है उर्दू कविता-परम्परा। देख लो कौन-सी परम्परा प्रगतिशील रही है। यशपाल जी बोले और उन्होंने आलोचकों को आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा—"आलोचकों ने हमेशा मेरे मार्ग में रोड़े ही अटकाए हैं। उनकी आलोचना से मुझे अपने को पहचानने में तनिक भी सहारा नही मिला, इसलिए मैंने भी उनकी परवाह नही की। मैंने पाठकों की आलोचनाओं को हमेशा तरजीह दी है क्योंकि वे ईमानदारी मे बात करते है। उनकी आलोचनाओ के अनुसार मैने अपने लेखन मे फेरबदल भी किया है। वे ही मेरे सच्चे पथ-प्रदर्शक है।" जाहिर है उनका इशारा प्रमुखतः रामविलास शर्मा और डा० भगवतशरण उपाध्याय (संभवतः वे भी वहा थे) की ओर था।

शाम को कवि-सम्मेलन था जिसमें हिन्दी और उर्दू के कवियों ने कविताएं पढ़ी। कल मे ही काव्य-पाठ के कई छोटे-छोटे दौर हो चुके थे किन्तु यह प्रमुख दौर था। उसमे मैंने अली सरदार जाफ़री की कविता भी सुनी और भाषण भी। सरदार जाफ़री की कविताओं में खेतों, खलिहानों आदि के बहुत व्यापक और ताजा बिम्ब आए थे। उन बिम्बो के नयेपन से मैं अभिभूत था। यह और बात थी कि उस नयेपन मे अनुभवों की गहराई नही थी। मन को झकझोर देने वाले संवेदनात्मक आघात नही थे। इस बात का अनुभव मुझे बाद में और भी स्पष्टता से हुआ जब अपनी समझ थोड़ी और विकसित हुई और ऐसी कविताओं के ऊपरी नयेपन का उफान थम गया। हां, सरदार के भाषण से मैं बहुत प्रभावित हुआ। वे बहुत अच्छे वक्ता है। इसलिए प्रगतिशील लेखक संघ को अनुदान राशि देने के लिए कवि-सम्मेलन में उपस्थित जनता से अपील का काम सरदार को ही सौंपा गया और उन्होंने बहुत प्रभावशाली ढंग से यह काम पूरा किया। याद नहीं कि कुछ पैसे मिले कि नही किन्तु यदि नही मिले तो इसमे सरदार जाफ़री के भाषण का कोई दोष नही था। स्टेज पर एक और दृश्य देखने को मिला, वह था जाफ़री और फ़िराक़ मे मुह-फुलौवल। मालूम हुआ कि दोनों मे मान-मनुहार की नोक-झोंक चलती रहती है। इसका अनुभव कुछ समय बाद और गहराई से हुआ।

उस वर्ष भी प्रगतिशील लेखकों का जमावड़ा था (संभवतः चीनी शिष्टमंडल आया था)। काफी संख्या मे बाहर से लेखक आये थे। शाम को पहले कवि-सम्मेलन हुआ, बाद में मुशायरा। उस कवि-सम्मेलन में पहली बार कमलेश्वर से भेंट हुई थी। उन्होंने कविता लिखनी शुरू की थी और मुझसे उनका परिचय एक कवि के रूप में ही कराया गया। कहानीकार के रूप मे वे बाद में आये। उस कवि-सम्मेलन के बाद शायर लोग आने लगे।

मुशायरे का समय देर से ही शुरू होता है और जब हम लोग स्टेज पर थे तभी देखा कि सरदार जाफ़री झटके से हाल के अन्दर आये। उनका चेहरा तमतमाया हुवा था। कुछ क्षणों के बाद देखा कि फ़िराक़ साहब गाली बकते गेट से अन्दर होना चाहते थे। छड़ी फटकार रहे थे और जोर-जोर से बोल रहे थे। गेट पर खड़े स्वयंसेवकों ने उन्हें रोक लिया। फ़िराक़ साहब ने जबरदस्ती की तो उन्होंने उन्हें पीछे धकेल दिया। उस हाल में कई गेट थे। फ़िराक़ साहब एक गेट पर रोके जाते तो दूसरे गेट पर जाते

थे। वहां भी उन्हें पीछे धकेल दिया जाता था। कुछ गेट तो बंद कर लिए गए। आखिर वे अन्दर नहीं घुस पाये।

कवि-सम्मेलन समाप्त होने के बाद हम लोग कुछ देर के लिए बाहर निकले तो देखा, फ़िराक़ साहब बाहर आहत शेर की तरह टहल रहे थे तथा गरज रहे थे—"आओ साले, अब देखता हूं।" कुछ देर बाद वे घर लौट गये। मुझे बहुत अजीब लगा यह सब देखकर। चाहे वे जितने बड़े शायर और जीनियस हों, सामाजिक स्थानों पर इस तरह की फूहड़ हरकत क्षम्य नहीं मानी जा सकती। बल्कि वे बड़े शायर है इस नाते उनसे शिष्ट आचरण और सभ्य व्यवहार की अधिक आशा की जाती है। अधिक मात्रा में शराब पीकर स्टेज पर आने वाले चाहे फ़िराक जैसे बड़े शायर हों, चाहे अनेक छुटभैये मंचीय कवि, ये जनता के बीच कवि का बिम्ब विकृत करते हैं। लोग सोचते हैं, यही लोग है जो मनुष्यता, सदव्यवहार, सौन्दर्यबोध और सुरुचि की बात करते हैं और बात ही नहीं करते, उसे जनता के भीतर उतारना चाहते हैं। क्या लोगों को मन-भर की सीख पिलाने के स्थान पर स्वयं छटांक-भर की तमीज नहीं सीख सकते? फ़िराक का हिन्दी-विरोध मशहूर है किंतु विरोध करने का उनका जो फूहड़ तरीका था वह क्या एक बड़े शायर और विद्वान् का तरीका कहा जा सकता है? विचित्र बात यह भी है कि फ़िराक़ को उर्दू की अपेक्षा हिन्दी वाले ज्यादा प्यार और सम्मान देते थे।

हमे यह जानने की जिज्ञासा थी कि क्या हुआ कि सरदार जाफ़री इस तरह झटके से भागकर अदर आये और फ़िराक़ साहब उनके पीछे-पीछे इस रूप में आये। दूसरे दिन इसका रहस्य खुला। कमलेश्वर, मार्कंडेय और दुष्यंत कुमार (तीन मित्र) फ़िराक़ साहब से मिलने गये तो देखा, फ़िराक़ साहब जाफ़री साहब से पूछ रहे थे—"अरे यार, क्या कल ज्यादा पी लिया था?" हुआ यह (और अक्सर यही होता था) कि पीने के बाद दोनों में कोई बहस छिड़ गई। सरदार जाफ़री तो पीने के बाद भी संयम में होते थे पर फ़िराक़ साहब बहक जाते थे और तब वही होता था जो हुआ।

इस बार के सम्मेलन की एक बड़ी छोटी-सी सुखद अनुभूति हुई। उस दिन तिजहर को हिंदी और उर्दू के कवियों की एक छोटी-सी गोष्ठी हुई। उसमें मैं और केदारनाथ सिंह भी गये। केदारनाथ सिंह ने अपना कोई गीत सुनाया, शायद 'गीतों से भरे दिन फागुन के ये गाये जाने को जी करता' और मैंने सुनाया—'चैत आया है, चैत आया है, चैत आया चैता के फूल लाया है'। हम दोनों उन दिनों लोक-धुन से प्रभावित लोक-चेतना और प्रकृति-चेतना के गीत लिख रहे थे। ये गीत हम कई बार सुना चुके थे और प्रशंसा भी पा चुके थे किंतु जो प्रशंसा यहां सरदार जाफ़री की छोटी-सी टिप्पणी में मिली वह हमारे लिए बहुत उत्साहवर्धक थी। उन्होंने कहा, "काश, उर्दू में भी ऐसे लोकपरक ताजा गीत लिखे जाते।"

कह चुका हूं कि गोष्ठियों और साहित्यिक समारोहों का सिलसिलेवार लेखा-जोखा मेरे पास नहीं है। उन दिनों न जाने कितनी विचार और काव्य-गोष्ठियां बनारस में हुईं; कितनी इलाहाबाद में, कितनी गोरखपुर में और कितनी अन्य शहरों में। वे

ठीक-ठाक कब हुई और किस क्रम में हुई इसका दस्तावेज मेरे पास दर्ज नहीं है। अतः मै अपने को उनके सामूहिक माहौल मे फेंककर उनसे प्राप्त और स्मृति मे सचित सुगधित अनुभवो को दे पा रहा हू। यह भी एक इतिहास है—किसी समय के समाज और साहित्य का भावात्मक इतिहास।

इलाहाबाद से मेरा कोई रागात्मक सम्बन्ध नही बना—आज तक नही बन पाया किंतु उन दिनो कभी-कभी साहित्यिक कार्य से—चाहे रेडियो के कार्य से, चाहे गोष्ठियो या कवि-सम्मेलनो मे भाग लेने के लिए इलाहाबाद जाना पड जाता था। 'परिमल' के ग्रुप के विरुद्ध प्रगतिशील ग्रुप सक्रिय था। उसमे वयस्क लोगो के अतिरिक्त मार्कंडेय, दुष्यत और कमलेश्वर की तिगडी थी। ये तीनो बडे गहरे दोस्त थे। बाद मे दुष्यंत की 'कल्पना' मे एक कविता भी छपी थी—'हम तीन मित्र'। प्रगतिशील सूत्र मे मैं इन तीन मित्रो से जुडा था। मैं इलाहाबाद जाता था तो नर्मदेश्वर उपाध्याय (जो इलाहाबाद रेडियो मे पहुच गये थे) के यहा ठहरता था। नर्मदेश्वर पुराने दोस्त तो थे ही, बडे ही स्नेही और भावुक व्यक्ति थे (उनका स्नेही और भावुक रूप अभी तक कायम है)। अच्छे गीतकार थे। हमारे-उनके गहरे पारिवारिक सम्बन्ध थे और मैं उनके यहा गृहता की आश्वस्ति अनुभव करता था। उनके पडोस मे ही भैरवप्रसाद गुप्त रहते थे। मार्कंडेय, दुष्यत और कमलेश्वर जब सुनते थे कि मै आया हू तो स्नेहवश आते थे और गपशप होती थी। हम सभी साहित्यिक भविष्य की आकाक्षाए लिए चलने वाले युवक साहित्यकार थे। अतः साहित्यिक वर्तमान और भविष्य को लेकर न जाने कितनी-कितनी बाते होती थी। दुष्यत मे एक खास शरारती मस्ती थी। उसने एक बार कहा, "भैरव भाई, चाय पिलाओ।" भैरव जी ने कहा—"भाई, मेरी पत्नी कहीं गई हुई है और नौकर भी नही है।"

"अरे भैरव भाई, कोई बात नही। मै किस काम आऊगा, चलिए चाय बनाता हू।" कहते हुए दुष्यत कुमार उठ खडे हुए। भैरव भाई को लगा कि अब बहाना नही चलेगा तो दुष्यत को रोकते हुए बोले—"अरे भाई, रुको-रुको, कोई इतजाम करता हू।" मार्कंडेय ने कहा—"अरे यार दुष्यत, मै तो तेरी इसी अदा पर मरता हू।" भैरव भाई ने चाय पिलाई। देर तक गपशप हुई। एक-दूसरे के नये साहित्य पर चर्चा हुई। कौन क्या लिख रहा है? क्या नया आया है? यह सारा कुछ हमारी चर्चाओ मे उभरा। इस तिगडी ने कहा क्या-क्या शरारते की है इसका भी बखान हुआ। हम अलग हुए तो काफी भरे-पूरे थे। ऐसा प्रायः होता था।

पडोस मे ही अश्क जी रहते थे। इलाहाबाद जाऊ और अश्क जी से न मिलू यह सभव नही था और विशेषतया तब जब पडोस मे ही यानी नर्मदेश्वर उपाध्याय के यहा ठहरा होऊ। कभी अकेले गया, कभी तिगडी के साथ गया। अश्क जी मेरे यहा आ चुके थे इसलिए भी, और साहित्यिक कारण से भी उनसे एक सम्बन्ध बन चुका था। जाने पर वे बहुत स्नेह देते थे और कौशल्या जी बडी आत्मीयता से खिलाती-पिलाती थी। अश्क जी खूब साहित्यिक चर्चाए करते थे। वे पढते बहुत है, उन्हे नये से नये लेखन का परिचय होता है, इसलिए वे बहुत विश्वास से नये-पुराने लेखन पर अपने ढग से,

अपने टोन में बातें करते थे। वे अपने विरोधियों के भी साहित्य की चर्चा करते थे। उनका आत्म-प्रचार वाला अंश निकाल दिया जाये तो कहा जा सकता है कि उनका साथ बहुत जीवंत, रोचक और ज्ञानवर्धक होता है।

इलाहाबाद के और न जाने कितने संदर्भ हैं जो मेरी स्मृति में बसे हुए हैं। एक बार मैं ठाकुरप्रसाद सिंह के साथ किसी साहित्यिक समारोह में इलाहाबाद पहुंचा। इलाहाबाद के बाहर ही विजयदेवनारायण साही मिल गये। उन्होंने सूचना दी कि धर्मवीर भारती की आज शादी है। कल शाम को उनके घर पर ही स्वागत-समारोह है। आप लोग आइये। हम लोग थोड़े पसोपेश में पड़े कि इस तरह कैसे जाया जा सकता है। क्या इस तरह अनाहूत जाना ठीक रहेगा? साही जी हमारे संकट को भाप गये और बोले, "अरे भाई, भारती जी को क्या मालूम था कि आप लोग यहां होंगे। और मैं उनकी ओर से आप लोगों को आमंत्रित कर रहा हूं।"

"ठीक है, हम लोग आएंगे।" कहकर हम लोग अलग हो गये किंतु मन का द्वंद्व गया नहीं। अश्क जी के यहां पहुंचे। मालूम पड़ा कि जिस लड़की से भारती जी की शादी हो रही है वह अश्क जी की सुपरिचित है और अश्क जी के ही प्रयत्नों से यह शादी हो रही है। किन्तु न जाने क्या बात थी कि वे भारती जी से नाराज लग रहे थे और ठान बैठे थे कि शादी में नहीं जायेंगे। एक ओर वे शादी में न जाने की जिद पकड़े हुए थे, दूसरी ओर यह जिद कि हम लोग जरूर जायें। भारती जी को क्या पता कि आप लोग यहां होंगे नहीं तो जरूर आमंत्रित करते। कौशल्या भी जायेंगी।

बहरहाल हम लोग संकुचित भाव से शाम को भारती जी के यहां पहुंचे। स्थानीय साहित्यकार तो थे ही किन्तु जब किसी ने भारती जी को हमारे आने की सूचना दी तो वे लपके हुए आये और धधाकर गले मिले। हमारा सारा संकोच झड़ गया। कुछ देर बाद कांता जी कमरे में से निकलीं। उन्हें साहित्यकारों के बीच घुमाकर उनसे परिचय कराया गया। कांता जी के आने से लगा कि सभा में उजाला हो गया। बाद में जब भारती जी और कांता जी के सम्बन्धों में दरार की बात सुनी तो मेरे सामने यह शाम उतर-उतर आई। न जाने क्या बात है कि एक लम्बी जीवन-यात्रा में काफी टूट-फूट जाता है किंतु उसका कोई एक बिन्दु सौन्दर्य-बिम्ब बनकर पूरी गहराई के साथ मन में यों समाया रहता है कि न टूटता है, न फूटता है, सब कुछ के बावजूद भीतर बना होता है और बाद की यात्रा की टूटन-फूटन को एक अजीब दर्द से भरता रहता है।

निराला (और महादेवी) इलाहाबाद की आत्मा थे। लोगों से (चाहे वे बड़े लोग ही क्यों न हों) मिलते-जुलते रहने की मेरी आदत नहीं है। यह आदत अच्छी नहीं है किन्तु है तो है, किया क्या जा सकता है। उससे प्राप्त होने वाले ज्ञान तथा सुख-सुविधाओं के लाभ से वंचित होने का अभिशाप यही आदत झेलती है न। दूसरों का इससे क्या बनता-बिगड़ता है? मैं भी झेलता रहा हूं। अतः मेरी इस आदत की कमजोरी से दूसरों को नहीं, मुझे ही शिकायत होनी चाहिए। मुझे शिकायत नहीं है क्योंकि यह आलस भाग-दौड़ की थकान से बचाता भी तो है।

अतः मैं जहां रहा, वहां के बड़े आदमियों के साहचर्य-जन्य सुख से वंचित रहा। साहित्यकार होकर भी मैं निराला या महादेवी का परिचय-पात्र नहीं बन सका। इलाहाबाद न जाने कितनी बार गया किन्तु इन लोगों से मिलने नहीं गया। वैसे दो बार निराला जी से मिला और एक बार महादेवी जी से। मेरा पहला काव्य-संग्रह 'पथ के गीत' निकला था। मैं किसी काम से इलाहाबाद गया था। एक मित्र के यहां ठहरा था। इच्छा हुई कि निराला जी के दर्शन कर आऊं और उन्हें पुस्तक की एक प्रति भेंट कर दूं। हम पहुंचे तो वहां डा० उदयनारायण तिवारी बैठे थे। निराला जी लगातार उन्हें डाट रहे थे और वे 'हां निराला जी, हां निराला जी' कहते हुए चुपचाप सब कुछ झेल रहे थे। राजेन्द्रप्रसाद सिंह भी बैठे थे। निराला जी ने उनसे पूछा—"कसरत करते हो?" मित्र ने मेरा परिचय कराया। उन्होंने बहुत मन से हालचाल पूछा। मै बहुत संकोच से उनका उत्तर दे रहा था कि कही किसी बात से रुष्ट न हो जायें लेकिन बहुत सहजता और स्नेह से मुझे वे अपना रहे थे। उन्होंने सुरती मलकर मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया। मैं सुरती नही खाता और निराला जी को मना नही करते बन रहा था कि कही नाराज न हो जायें। वे मेरा संकट भाप गये और कहा—"अच्छा-अच्छा, आप नही खाते, कोई बात नही।" थोड़ी देर बाद चन्द्रमुखी ओझा सुधा डब्बे में कोई चीज लाईं और उसे निराला जी को दे दिया। उनके सामने ही निराला ने प्रेम से लाई हुई वह निधि लोगों में बांट दी। निराला जी ने कहा—"लीजिए आप लोग। बहुत नायाब चीज है। विश्व में और कही नही मिलती।" लोगों ने हाथ पसार दिये और ले-लेकर सुडकने लगे। जब मेरी बारी आई तो देखा, वह घी था। मैने भी लेकर सुडक लिया।

चलने लगा तो निराला जी से निवेदन किया कि इस संग्रह पर आपका आशीर्वाद चाहता हूं। उन्होंने बहुत उत्साह से कहा—"हां, हां, मै पढ़ूंगा और अपनी राय बताऊंगा। वैसे एक ग्लास में ही इसे देख लिया है।" मैं वहां से चला तो सोचने लगा कि उन्होंने एक वाक्य में ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी। उन्होंने एक ग्लांस मे ही देख लिया है। यदि देख लिया है तो एकाध वाक्य में अपनी राय भी जाहिर कर सकते थे। नहीं की तो स्पष्ट है कि उन्हें पुस्तक प्रभावित नही कर सकी। यह सोचकर अपने को संतोष दिया कि इसमें है क्या कि इतने बड़े कवि को प्रभावित करेगी।

निराला जी का एक प्रसंग और याद आ रहा है। वह प्रसंग भी मेरे लिए एक मूल्यवान अनुभव था। दिसम्बर या जनवरी का महीना रहा होगा। मैं काशी के कई कवियों के साथ इलाहाबाद के एक कवि-सम्मेलन में गया। कविता-पाठ चल रहा था। ठीक बारह बजे निराला आये। कम्बल ओढ़े हुए थे। उनसे 'राम की शक्तिपूजा' पढ़ने का निवेदन किया गया। वे खड़े होकर कविता पढ़ने लगे। उनके एक भक्त उनके साथ खड़े हो गये। कविता पढ़ने की प्रक्रिया में उनका कम्बल बार-बार नीचे सरक आता था और उनके भक्त बार-बार उन्हें ओढ़ा देते थे। झल्लाकर निराला जी ने वह कम्बल उठाकर दूर फेंक दिया। घुटने तक की धोती पहने निराला जी कमर के ऊपर निपट नंगे खड़े थे। पठार जैसा उनका नंगा शरीर और 'राम की शक्तिपूजा' का पाठ। लगता

था जैसे स्वयं वनवासी राम गरजते समुद्र के पास चट्टान पर खड़े हों। इस कठोर ठंड में नंगे शरीर निराला को 'राम की शक्तिपूजा' का पाठ करते देख मन ओज और करुणा से एक साथ भर उठा।

34

दूसरा साल भी बीत गया। स्कालरशिप तो मेरी स्वीकृत हो गयी थी। किन्तु उसका मिलना बहुत कठिन था। बहुत भागदौड़ करने पर तीन-तीन, चार-चार महीने बाद कहीं कुछ हाथ लगता था और इस बीच उधार इतना चढ़ चुका होता था कि पैसा आते ही समाप्ति की स्थिति में हो जाता था। हमारा जो नियमित खर्चा था वह तो था ही, एक अतिरिक्त व्यय की निरंतरता ने हमें अपने में कस रखा था। कह चुका हूं कि हेमन्त निरंतर बीमार रहने लगा। चार-पांच दिन ठीक-ठाक रहा नहीं कि फिर बीमार। उसे मुख्यतः पेट की बीमारी थी। दस्त लगते थे। हम लोग उसे लिए-दिए अपने पारिवारिक चिकित्सक डॉ० सेन के घर और दुकान तक भागते ही रहते थे। दवा और फल का व्यय हमारे नियमित व्यय के साथ जुड़ गया था। और व्यय तो हम काट सकते थे किन्तु बच्चे की दवा और फल का व्यय कैसे काटते। इसलिए रोटी, कपड़ा और मकान से संबंधित हमारी अर्थव्यवस्था और विषम हो उठी थी।

ये हमारे आर्थिक संघर्ष के विकट दिन थे। आर्थिक अभाव और तज्जन्य अपमान की स्थितियां बचपन में भी झेली थीं किन्तु तब मैं उत्तरदायित्व से मुक्त था और जैसा था वैसा रह लेने में कोई कुंठा नहीं व्यापती थी किन्तु अब तो बीबी और बच्चे का भार मेरे ऊपर था और वैसे था तो शोध-छात्र किन्तु कक्षाएं लेने की वजह से कितने छात्रों का गुरु भी था। इसलिए मुझे प्रवक्ता की पद-गरिमा भी निभानी ही थी। इस आर्थिक संघर्ष के साथ बच्चे की स्वास्थ्य-चिंता हमें भीतर से तोड़े जा रही थी।

इस विषम स्थिति में मेरी शक्ति थी सरस्वती जी। वे अर्थोपार्जन में तो मेरी सहायता नहीं कर सकती थी किन्तु अपने कुशल प्रबंध से थोड़े में गृह-संचालन कर लेती थीं और सबसे बड़ी बात तो यह कि उन्होंने कभी भी अपने लिए किसी चीज की मांग नहीं की और कभी भी किसी चीज के लिए गिला-शिकवा नहीं किया। वे मेरे सुख-दुःख में रच-पचकर एक संघर्षमयी, निस्पृह सहधर्मिणी की तरह सहयात्रा करती रहीं और हमेशा बाहर से लुट-पिटकर आए हुए मेरे उदास थके मन को सहारा देती रहीं। वे सही अर्थों में मेरी शक्ति रही है। वे एक साथ पत्नी, प्रेयसी, साथी सब कुछ थीं। उनमें अथक श्रमशीलता की चमक है, दूसरों के लिए मानवीय संवेदना है और गहरी सादगी है जिसे बहुत स्वाभिमान के साथ जीती हैं। उनमें एक सात्त्विक बोध है जो गलत काम के विरुद्ध फनफना उठता है। इस गुण के कारण वे तमाम बातें लोगों के मुंह पर कह देती हैं जिन्हें मैं या तो कहता नहीं या घुमा-फिराकर कहता हूं। इस कारण

मैं अपने ही घर में अपने दोस्तों और मेहमानों के बीच अजब स्थिति में पड़ जाता हूं। मुझे इन पर गुस्सा आता है किन्तु गुस्सा उतरने पर सोचता हूं तो पाता हूं—हा, ठीक तो कह रही थी। मैं नही कह पाता, शिष्टता के कारण छिपा जाता हूं, यह और बात है। इसलिए पास-पड़ोस मे जो अच्छे लोग है उनसे उनकी खूब पटी और नकली धूर्त लोगो से वे नहीं निभा पायी और प्रायः टकराव की स्थिति आती रही। बनारस से दिल्ली तक यह सिलसिला चलता रहा। पास-पडोस मे जहा कही उन्होने दु.ख-दर्द देखा, उसे बंटाने के लिए चली गयी। वहां उनकी मानवीय तरलता सक्रिय हो उठी। उस दुःख-दर्द को घर मे भी उठा लाया और मुझे उसमे शरीक कर बैठी। तब से आज तक यह उनका जीवन-क्रम बना हुआ है। जहा कही से आएगी, किसी न किसी का दुःख लिए आएंगी और मेरे सामने उसे उड़ेल देगी। किसी अभावग्रस्त को कोई सुख मिला तो उसकी अनुभूति से सम्पन्न हो उठेगी और मेरे भीतर उसे सम्प्रेषित कर देंगी। कहीं कोई अन्याय हो रहा हो तो उनकी बेचैनी देखने लायक होती है। वश में हुआ तो विरोध भी करेंगी अन्यथा भीतर-भीतर तिलमिलाकर रह जाएंगी। वे मेरी साथी नहीं, पूरक भी है।

हा, तो बात बनारस की हो रही थी। समाज के अफाट सन्नाटे मे उनकी सहन-शीलता और धैर्य की लय बजती रहती थी। उधार चढता रहता किन्तु एक बात अवश्य थी कि हमें उधार पाने मे कोई कठिनाई नही होती थी। सब लोग जानते थे कि इनका पैसा कही जाएगा नही। हमने और कुछ अर्जित किया हो या न किया हो, विश्वसनीयता अवश्य अर्जित की है। हम पति-पत्नी दोनो सिद्धान्त रूप से इस बात के कायल रहे हैं कि किसी की एक पाई का भी ऋण अपने ऊपर रहना नही चाहिए और इस सिद्धान्त को पूरी निष्ठा से व्यवहार में उतारते रहे हैं। पहले दूसरों का उधार चुकाओ फिर जो बचे उसका अपने लिए उपयोग करो। हमारा यह व्यवहार हमारे मित्रों से लेकर बनिया, धोबी, दूधवाले, अखबारवाले आदि तक स्वतः ही सम्प्रेषित हो जाता है। कभी-कभी इनमे से कोई अपनी आवश्यकता के दबाव से अपना पैसा मांगने आ भी गया तो मेरी बेबसी देखकर और भारी हो आया और चुपचाप लौट गया। इसलिए हमे उधार पाने में कठिनाई नही हो रही थी किन्तु पेमेंट मे विलंब हो जाने पर हम स्वयं बहुत दुःखी और शर्मिन्दा हो उठते थे। आगे उधार लेने की हिम्मत नही होती थी। स्वाभिमान आड़े आ जाता था। और बहुत-सी चीजें ऐसी थीं जिन्हें उधार नही मागा जा सकता था। सब्जी, फल, दवा जैसी अनेक चीजे थी जिनके लिए तुरत नकद चुकाना पड़ता था।

हम लोगों के मित्रों मे सभी फटेहाल थे। विष्णु स्वरूप तो भक्ति-भवन मे ही रहते थे—हमारे बगल के कमरे मे। उनकी अपनी सघर्ष-गाथा थी। हम लोग एक-दूसरे के दुःख-सुख में शरीक थे किन्तु दोनों ही खाली जेब वाले। शिवप्रसाद सिह घर से भी सम्पन्न थे और उन्हें अच्छी स्कालरशिप भी मिलती थी। उनसे निसस्कोच मांगा जा सकता था और एक-दो बार कुछ लिया भी था। कई बार जेब में एक पैसा नहीं होता था और घर में आवश्यकता दहाड़ रही होती थी। मैं घर से सोचकर निकलता था कि

अमुक मित्र से मांगूंगा। वहां जाकर उनके साहित्य की बातें करने लगता और भीतर-भीतर सोचता रहता था कि पैसे की बात अब कहूंगा, अब कहूंगा लेकिन कुछ कहे बिना चुपचाप लौट आता था—अभाव से लदी घर की उस सुनमान उदासी के बीच। मेरा चेहरा देखकर पत्नी सब कुछ समझ जाती थी और कुछ पूछती नहीं थीं। अंधेरी रात, आगे दूर तक फैला हुआ सुनसान, पीछे नींबुओं के बाग में पसरा हुआ डरावना सन्नाटा, गिरगिटों, नेवलों, विषखोपड़ों और सांपों की सरसराहट, तमचर मनुष्यों के पैरों की आहट, अंधेरे में से झांकती उनकी डरावनी आंखें और लूक-सी जल-जलकर बुझती पहरेदारों की 'जागते रहो' की आवाज और कमरे में अभाव का गहरा सन्नाटा ···उसमें डूबा हुआ मैं, पत्नी और सब कुछ से अनभिज्ञ एक अबोध शिशु··· ।

हमारी विडम्बना यह थी कि हम मन से चाहते थे कि कोई न कोई अतिथि यहां आता रहे किन्तु हमारी व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि कोई आ जाएगा तो हम उसका सत्कार कैसे करेंगे ? मन का और व्यवहार का यह द्वन्द्व हमें भीतर ही भीतर तोड़ता रहता था। वैसे खाने-पीने, चाय-चीनी, दूध की स्थायी व्यवस्था तो उधार के रूप में हो गयी थी और तीन-तीन, चार-चार मास बाद स्कालरशिप के पैसे मिलने के समय उधार चुकाकर कुछ पैसे बच जाते थे तो कुछ दिनों तक हमे आश्वस्त किए रहते वे किन्तु प्रायः जेब खाली रहती थी। एक दिन मैं दशाश्वमेध घाट पर घूम रहा था। प्रायः घूमता था, घूमने के लिए पैसे थोड़े न लगते हैं। अपनी साइकिल थी, उसे रपटाया करता था और भक्ति-भवन से दशाश्वमेध घाट दूर भी नहीं था, पैदल भी आता-जाना रहता था। उस दिन मेरा मैट्रिक और बी० ए० का सहपाठी विपिनकुमार षडंगी मिल गया। विपिन से आप परिचित हो चुके हैं। वह बी० ए० पास कर अपने शहर रायगढ़ चला गया था। कई वर्षों बाद उससे भेंट हो रही थी। हम धधाकर मिले। उसने कहा—"चलो, चाय पीते हैं।" मैं बहुत संकट में पड़ा। मेरी जेब में एक पैसा भी नहीं था। हालांकि विपिन पैसे चुकाएगा, वही अब तक चुकाता रहा है किन्तु तब की बात और थी, अब की और है। मैं काशी में हूं, वह अपने शहर से काशी में आया है, वह हमारे शहर का और हमारा अतिथि है। क्या उसका पैसा चुकाना अच्छा लगेगा ? क्या यह मेरा अपमान न होगा ? दरअसल मुझे अपनी ओर से चाय पीने का प्रस्ताव रखना चाहिए था और मैं प्रस्ताव रखने के स्थान पर उसके प्रस्ताव के प्रति उदासीनता दिखाने लगा। उसने कहा—"चलो यार, इतने दिनों पर मिले हैं, वहीं बैठकर गपशप होगी।" आखिर मैं खिंचा हुआ-सा सामने की दूकान पर गया। आर्डर उसी ने दिया। चाय के साथ पकौड़ी का भी। उल्लास से बातें करने लगा। मैं भीतर से खोया हुआ-सा बाहर उसकी बातचीत में शरीक था। चाय-पकौड़ी मेरे गले के नीचे नहीं उतर रही थी। काफी देर के बाद महसूस हुआ कि अब उठने का समय आ गया है। मैं पास पड़ा अखबार देखने लगा, बल्कि उसमे अपने को खो देने का अभिनय किया। विपिन धीरे से उठा और काउंटर पर पैसा चुकाने लगा। तब मैं अखबार रखकर उसकी ओर लपका—"अरे विपिन, तुम यह क्या कर रहे हो ?" तब तक वह पैसे दे चुका था और प्यार से बोला—"अरे, कुछ नही दोस्त, बहुत दिनों बाद तुमने अपने साथ चाय पीने का मुझे सौभाग्य दिया। तुम्हारे लिए यही बहुत

है । हम लोग तो तुम जैसे साहित्यकार मित्र पर नाज करते हैं ।"

"अरे, यह क्या कह रहे हो विपिन ! यह सब तो तुम लोगों की आत्मीयता है ।" मुझे लगा जैसे विपिन ने अपने इस स्नेहमयव्यवहार से मुझे और भी छोटा बना दिया। हम दोनों कुछ देर तक साथ घूमते रहे, फिर उसने कहा—"अच्छा मित्र, चलते हैं, देर होगी ।"

"अच्छा भाई, बहुत अच्छा लगा तुम्हारा इतने दिनों बाद अचानक मिलना ।" वह चला गया और मैं अपने को धिक्कारता रहा—'कैसा भाग्य लेकर जन्मा है तू कि अपने इतने नजदीकी दोस्त से एक बार यह तक न कह सका कि मेरे घर चलो, अपनी भाभी और भतीजे से तो मिल लो !'

श्रीश कुमार और शुकदेव सिंह प्रायः साथ रहते थे। श्रीश कुमार कुछ दंद-फंद करते रहते थे और अपने खर्च के लिए यहां-वहां से पैसे निकाल लेते थे। शुकदेव सिंह को भी अपने क्रियाकलापों में शामिल किये हुए थे। अतः शुकदेव सिंह भी अपनी अभावग्रस्तता में से जीने का मार्ग निकाल रहे थे। अपने अभावों से परेशान होकर कभी-कभी मैं श्रीश कुमार के यहां पहुंचता था। वे मेरे परम प्रिय व्यक्ति थे। वे दुनिया-भर के लिए परम शरारती थे किन्तु मेरे सामने वे अति बिनम्र हो उठते थे और मेरे सुख-दुःख में सही मन से साथ देते थे। इसलिए जब कहीं कुछ न होता था तो उनसे अपनी बात कहता था और वे अपनी आवश्यकता के पैसों में से निकालकर दो-एक रुपये दे देते थे। न होने पर पीडित हो उठते थे। उनकी मां और पिता का भी मैं परम स्नेह-भाजक था और उनके यहां कई बार ठहर चुका था।

कई बार मैंने पत्नी को गोरखपुर भेजा। सोचा उनका मन बहल जायेगा। बच्चे के लिए भी शायद बदला हुआ वातावरण लाभकर होगा और अभाव का बोझ थोड़े दिन के लिए थोडा हल्का हो जायेगा। लेकिन उनके जाने के बाद उनकी चिट्ठी आती थी कि बच्चे का स्वास्थ्य और बिगड रहा है। मैं तार देता कि चली आओ और वे दूसरे या तीसरे दिन उसे लिए-दिए फिर बनारस आ पहुंचतीं और मेरी गोद में आते ही हेमंत की तबीयत संभल जाती। यह बात दूसरी है कि दो-एक दिन बाद वह फिर बीमार पड जाता।

वास्तव में हेमंत मुझसे बहुत हिला-मिला था। मां के बिना तो उसके रहने की कल्पना ही नहीं की जा सकती किन्तु मेरे बिना भी नहीं रह पाता था। अतः गोरखपुर जाकर मेरे लिए हुड़कने लगता था और वहां से आते ही मेरी गोद में टूट पड़ता था और कुछ समय के लिए अपना दुःख-दर्द भूल जाता था। वैसे भेजने को तो मैं उन्हें गोरखपुर भेज देता था किन्तु दो ही दिन बाद इनकी अनुपस्थिति भारी पड़ने लगती थी और अपना अभावग्रस्त सन्नाटा और भी घना हो आता था। मैं अकेलेपन में बहुत घबरा जाता हूं। इसलिए परिवार में पत्नी का और बाहर मित्रों का साहचर्य मुझे मेरे संकट में संभाले रहता है। इसलिए दो दिन बाद ही उन्हें बुलाने की सोचने लगता और ज्यों ही उनका पत्र आता, मैं तार दे देता—चली आओ।

हेमंत बचपन से ही बहुत विचित्र था। उसकी इच्छा-अनिच्छा बहुत साफ थी।

वह बन्द वातावरण में रहने की अपेक्षा खुले में आने का आग्रही था। शायद इसीलिए वह मां से जुड़ा रहकर भी पिता की ओर ज्यादा लपकता था। जब वह पिछले साल चार-पांच महीने का था तो हम गांव जा रहे थे। चौरी-चौरा उतरे। वहां पत्नी के लिए पालकी भेजी गयी थी। पत्नी हेमंत के साथ पालकी में बैठ गयीं। कुछ दूर चलने के बाद हेमंत रोने लगा, चुप ही न हो। मैं समझ गया कि वह पालकी के बन्द वातावरण में घुटन महसूस कर रहा है। मैंने पालकी रुकवायी और उसे अपनी गोद में ले लिया। मेरी गोद मे आते ही शांत हो गया, लगा जैसे खुले वातावरण की ताजा हवा ने अपने स्पर्श से उसे ताजा कर दिया। पालकी लिए कहार आगे-आगे भागने लगे और मैं पांच महीने के बच्चे को गोद में लिए पीछे-पीछे चलने लगा। कहार तो तेज गति से काफी आगे निकल गये और मैं बच्चे को लिए अपनी चाल से चलता रहा। मेरी अजीब हालत थी। लोग एक अकेले पुरुष की गोद में पांच महीने के बच्चे को देखकर चकित हो रहे थे और करुणा से पूछते थे, इसकी मां कहां है ? मैं रास्ते-भर सबको सफाई देता फिरा। हेमंत गोद में सो गया था। मैं कहारों पर काफी गुस्सा हो रहा था कि कमबख्त यह जानते हुए कि छोटा बच्चा मेरी गोद में है, पालकी लिए भागे जा रहे हैं और पत्नी पर भी क्रोध आ रहा था कि वे उन्हें रोकतीं क्यों नहीं ? छः मील चलने के बाद पालकी रुकी हुई दिखाई पड़ी। जाते ही मैं कहारों पर बरस पड़ा।

हेमंत डेढ़ साल का था। थोड़ा-थोड़ा चलने लगा था, थोड़ा-थोड़ा बोलने भी लगा था। हम लोग गोरखपुर गये हुए थे। जाड़े के दिन थे। मैं गांव जा रहा था तो उसने भी साथ चलने की जिद पकड़ ली। मन तो मेरा भी हो रहा था ले चलने का लेकिन डेढ़ साल के बच्चे को बीस मील साइकिल पर ले जाना आसान काम तो नहीं था और चिन्ता थी कि यह मां से अलग चार-पांच दिन रह पाएगा क्या ? उसकी जिद देखकर साथ ले जाना पड़ा। साइकिल के आगे राड पर गदिया बांध दी। उस पर उसे बैठा दिया और निकल पड़ा। हेमंत भी बहुत आराम से साइकिल पर विराजे हुए थे और रास्ते में कभी बन्दर देखकर बोल पड़ते 'बंदर', कभी गाय देखकर 'गाय'। बीस-बाईस मील की यात्रा बिना थकावट के पार कर गये। गांव गये। वहां भी उन्होंने मेरे परिवार के लोगों के स्नेह का भरपूर आनन्द लिया और लोगों ने भी इनकी लीलाएं देखकर गहरा आनन्द-लाभ किया। वहां से लौटने लगे तो भइया भी साथ हो लिए। तय हुआ कि कौड़ीराम चलेंगे, वहां से बस पकड़ लेंगे। दिक्कत यह हुई कि भइया के साथ होने के कारण मैं साइकिल चला नहीं सकता था, उस पर हेमंत को बैठाकर ठेल रहा था। उस पर बैठे-बैठे हेमंत को नींद आने लगी। अतः यह भी देखना पड़ रहा था कि कहीं बैठे-बैठे नीचे न गिर जाए। इसलिए एक हाथ से उसे पकड़े हुए भी था। खैर, किसी तरह कौड़ीराम पहुंच गए। वहां बस के इन्तजार में अपार जनता खड़ी थी। टिकट लेने के लिये लम्बी-लम्बी लाइनें और ज्यों ही टिकट मिलना शुरू होता लाइन घनाकार हो जाती। लोग गड्ड-मड्ड होकर एक-दूसरे पर चढ़ जाते। भला ऐसे में अपना निर्वाह कहां था ? एक अधिकारी से बात की कि हमारे साथ डेढ़ साल का बच्चा है। उसकी मां गोरखपुर में है। हमें गोरखपुर जल्दी पहुंचना है, कोई व्यवस्था कीजिए।

उसने बहुत सहानुभूति से हमारी बात सुनी। बच्चे के प्रसंग ने उसकी मानवता को स्पंदित कर दिया और उसने आश्वस्त किया।

बस आयी तो उसने आकर पूछा, "अरे भाई, बच्चे वाले सज्जन कहां है ?" मैंने कहा, "यहां हूं।" उसने कडक्टर को हिदायत दी कि इनको दो टिकट दे देना। मैंने आभार व्यक्त किया। गाडी में बैठ गये। उन दिनों बसों मे उच्च और निम्न दो श्रेणियां होती थी। हमे निम्न श्रेणी मे सीट मिली थी। गाडी चल पडी। बैठने के बाद हेमंत रोने लगा। पूछने पर उसने कहा—"मैं आगे बैठूगा।" मैंने बहुत समझाया किन्तु वह रोता ही गया और आगे बैठने के लिए जिद पर अडा रहा। आगे के एक सज्जन ने द्रवित होकर कहा—"अरे भाई, बच्चे को आगे भेज दीजिए मेरे पास।" हेमंत को आगे बिठाया गया। वहां बैठकर फिर रोने लगा। "अब क्या हुआ भाई ?" "पापा···पापा भी बैठेंगे।" बड़ा सकट उपस्थित हुआ। बच्चे को बिठाना तो आसान किन्तु मुझे कोई कैसे बिठाएगा ? मै समझा-समझाकर हार गया किन्तु उसकी जिद कायम रही। आखिर एक सज्जन मेरी ओर मुखातिब होकर बोले—"आइये, मैं आपकी जगह बैठ जाऊंगा।" मुझे बहुत सकोच हो रहा था किन्तु करता क्या ? वहां जाकर बैठना पडा। अब जाकर हेमंत पूर्ण आश्वस्त हुआ और चुप होकर इधर-उधर देखने लगा। मैं संकोच-बोध से पीडित हो रहा था और सोच रहा था कि लोग कह रहे होगे कि कितना उद्दण्ड लडका है इन सज्जन का। तब तक बगल में बैठे एक सम्भ्रात-से सज्जन बोले—"देखिए, आपका बच्चा बहुत इंटेलीजेंट है और बहुत स्ट्रांग लाइकिंग-डिसलाइकिंग का है। इसके विकास पर बहुत ध्यान रखिएगा। इसमें बहुत सम्भावनाएं छिपी हुई है।" मैं कृतज्ञता से भर आया। उन्हें धन्यवाद दिया और मन पर जो बोझ लदा था हलका हो गया।

हेमंत अभाव के फूल की तरह महकता रहा, हमारे खालीपन को तिल-तिल भरता रहा। अपनी मेधा मे भविष्य की सम्भावनाएं जगाता रहा। किन्तु उसकी अनवरत बीमारी हमारे भीतर एक ऐसा दर्द पैदा करती रही जो सोते-जागते हमें सालता रहा। दवा पीते-पीते हेमंत लाचार हो गया था। दवा पीने के समय जब वह कहता—"मम्मी, मेरा हाथ पकड़ लो तब न दवा पीऊंगा।" तब हमारे भीतर एक ऐसी अहक भर जाती जिसे हम व्यक्त नही कर पाते, भीतर-भीतर पी जाते थे। उसकी मां बुदबुदा उठती—"पता नहीं कैसे लोगों के बच्चे स्वस्थ रहते हैं। वह दिन कब आएगा भगवान्, जब मैं भी स्वस्थ बच्चे का सुख अनुभव कर सकूंगी।"

लेकिन रुग्णावस्था में भी हेमंत की बाल-सुलभ लीलाओं में कोई कमी नहीं आयी। जैसे ही थोडा स्वस्थ होता अपनी बाल-सक्रियता से पूरा घर स्पंदित कर देता। शारीरिक गतिविधियों से तो खुश करता ही, अपनी इंटेलीजेंट बातचीत से भी करता। उसकी इंटेलीजेंट बातचीत तो बीमारी की अवस्था में भी चला करती। ठाकुरप्रसाद सिंह प्रायः हमारे यहां आया करते थे और हेमंत उनके आकर्षण का केन्द्र था। दोनों में खूब पटती थी। आते ही ठाकुर उसे छेडते—"हंस मेरे यार !" और हेमंत हंसने लगता। ठाकुर भी हंसने लगते, आसपास खड़े हम सभी लोग हंसने लगते। जब ठाकुर चुप हो

जाते तो हेमंत कहता, "चाचा, हंसो" और खुद हंसने लगता और ठाकुर भी हंसने लगते। वह ठाकुर को बिस्कुट खिलाता—"खाओ चाचा और चाय पीओ।" हेमंत में कुछ ऐसी बात थी कि पास-पड़ोस के परिवार उसे प्यार करते थे तथा हमारे सारे मित्र भी उसे प्यार करते थे। पास में ही एक गुप्त परिवार था। हेमंत उस परिवार का बड़ा दुलारा था। हमारे अन्य बच्चे भी पड़ोस के किसी न किसी घर से बहुत गहराई से जुड़े रहे हैं।

हेमंत में एक अद्भुत शक्ति थी—चीजों की पहचान की। चाय, चीनी, मसाला आदि के तमाम डिब्बे ऊपर-नीचे रखे रहते थे। हम लोगों को कुछ निकालना होता था तो डिब्बे खोल-खोलकर देखते थे किन्तु हेमंत बिना खोले ही पहचानकर उठा लाता था। 'हेमंत, चाय लाओ।" हेमंत ठुमुक-ठुमुक चलते जाते और दो डिब्बों के नीचे रखे चाय के डिब्बे को पहचान जाते। जाते ही दोनों ऊपर के डिब्बे उतार देते और नीचे का डिब्बा लेकर चले आते और हम खोलकर देखते तो वह चाय का ही डिब्बा होता।

एक ओर हेमंत की अति आनंदप्रद बाल-क्रीड़ाएं और वार्ताएं थीं, दूसरी ओर उसकी कष्टदायक बीमारी की निरन्तरता और तीसरी ओर अपने आर्थिक अभाव का अटूट क्रम। हमने इसी सुख-दुःख के संघर्ष मे दो साल काट दिए। हेमंत के दो साल तीन महीने बाद बेटी अंजलि का जन्म हुआ। कहीं कोई तैयारी नही—न डाक्टर, न नर्स, न किसी अस्पताल में रजिस्ट्रेशन। बस, एक दाई ठीक कर ली गई थी, बाकी सब भगवान् के भरोसे था जैसे गांवों में या शहरों के सामान्य घरों में होता है। बेटी काफी स्वस्थ पैदा हुई और बाद में भी स्वस्थ ही रही। उसने हमारे अभाव को पहचान लिया था, इसलिए बिना किसी विशेष सुविधा के (बल्कि असुविधाओं के बीच) स्वस्थ और प्रसन्न चलती रही। और चमत्कार तो यह हुआ कि उसके आ जाने के बाद हेमंत भी स्वस्थ हो गया। विचित्र बात हुई कि जब हेमंत ने मां की गोद में अंजलि को देखा तो ईर्ष्या से दग्ध हो गया। यह दूसरा कौन आ गया मां की गोद में ? यह गोद तो उसकी है। और अंजलि की ओर यह कहते हुए झपटा कि लाओ, इसे फेंक दें। वही अंजलि हेमंत की रोगनाशक बनकर आयी। उसकी मां बाद में प्रायः कहती, "मेरी बेटी भाई के लिए दुखहरन बनकर आयी है।" अंजलि के आ जाने से हमने जाना कि स्वस्थ बच्चे का सुख क्या होता है और यह सुख अंजलि के स्वास्थ्य का तो था ही, अब हेमंत के स्वास्थ्य का भी था।

35

भक्ति-भवन के उजाड़ वातावरण में न जाने कितने मित्र आये, साहित्यकार आये, कितनी गोष्ठियां हुईं और कितने जीवन-व्यापार चले। अभावों के बीच भी यह सब होता रहता था क्योंकि साहित्य हम लोगों के जीवन का अंग बन गया था। हम उसके लिए अपनी

सुविधाओं का त्याग करते थे। और मेरा अभाव अभाव भी इसलिए था कि स्कालरशिप के पैसे समय पर नहीं मिलते थे। जब मिलते थे तो जमा हुआ अभाव कुछ समय के लिए कट-छंट जाता था। इसलिए हमने अभाव के उन्हीं दिनों में प्रगतिवाद सम्बन्धी अनेक पुस्तकें और पत्रिकाएं खरीदी, नियमित रूप से खरीदीं और गोष्ठियों के लिए खर्च करते रहे। गोष्ठियां खूब होती थीं, कभी किसी के यहां, कभी किसी के यहां, कभी किसी सार्वजनिक स्थान पर। त्रिलोचन, ठाकुरप्रसाद सिंह, रमेशकुंतल मेघ, शंभूनाथ सिंह, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, विष्णु स्वरूप, हरिमोहन, केदारनाथ सिंह, विष्णुचन्द्र शर्मा, विद्यासागर नौटियाल, शुकदेव सिंह, राजेन्द्र कृष्ण आदि न जाने कितने नये और अनि नये लोग होते थे और कभी-कभी वरिष्ठ साहित्यकार और प्रोफेसर भी होते थे। कई गोष्ठियां हमारे निवास-स्थान पर हुई थीं जिनकी स्मृति आज भी एक सुगंधित ताजगी दे जाती है।

गोष्ठियां तो होती ही थीं, हम लोग शाम को वैसे भी कहीं न कहीं मिलते थे—दशाश्वमेध घाट पर या किसी के घर या किसी चाय की दुकान पर। गोदौलिया पर एक रेस्त्रां था। वहां प्रगतिवादी लोग मिला करते थे। एक दिन ठाकुरप्रसाद सिंह को एक विशेष विनोद सूझा (कोई न कोई विनोद तो रोज ही होता था)। हम लोग जुट गये तो नामवर जी ने कहा—"ठाकुर भाई, चाय पिलवाइये।" "हां-हां, क्यों नही, यह तो आप लोगों की दुकान है, आर्डर दे दीजिये।" नामवर जी ने सात-आठ कप चाय का आर्डर दे दिया। चाय पीने के बाद ठाकुर धीरे से उठे और दुकान से बाहर हो लिये। मुझे तो इस नाटक का पूर्व पता था, दूसरों को नही था। जब नामवर जी को ज्ञात हुआ कि ठाकुर जा रहे हैं तो घबरा गये और 'ठाकुर भाई' आवाज लगाते हुए उनके पीछे-पीछे भागे। जाड़े का समय था। ठाकुर लम्बा कोट पहने भीड़ में भागे जा रहे है और नामवर जी उन्हें पुकारते हुए उनके पीछे-पीछे। उनकी परेशानी यह थी कि उनके पास भी पैसे नहीं थे और चाय का आर्डर उन्होंने ही दिया था। उस समय ठाकुर एक इंटर कालेज में प्रिंसिपल थे। अतः हम मित्रों के बीच उनकी आर्थिक स्थिति ठीक-ठाक थी। कुछ दूर भागने के बाद ठाकुर रुक गये, मुसकराये और लौटकर चाय के पैसे चुकाये। हम लोगों ने इस प्रसंग का भरपूर मजा लिया। वैसे जहां-तहां ऐसे मजेदार प्रसंग उठते ही रहते थे।

मैं शोध के क्रम में नागरी प्रचारिणी सभा जाया करता था। वहां स्थानीय और बाहर से आये अनेक शोधार्थियों से भेंट-मुलाकात होती थी। साइकिल अपने पास थी—जहां चाहे चला जाता था। जब चाहे लौटता था सभा से या मित्रों के यहां से या घूमकर लौटते-लौटते शाम हो जाती थी। कभी-कभी साइकिल के लैम्प की चैकिंग हो जाती थी। मैं भी कई बार पकड़ा गया। पहली बार पकड़ा गया तो आठ आना जुरमाना हुआ। मेरी जेब की कुल पूंजी वही थी। जुरमाना चुकाकर यानी अपनी सारी पूंजी गवाकर लौटने लगा तो बहुत दुःख भी हुआ और गुस्सा भी। गुस्सा इस बात पर था कि सजा देने वाला अधिकारी मुझे उपदेश देने लगा था : "आप लेक्चरर हैं, आपको तो नियम का पालन करना चाहिए।"

"साहब, आप जुरमाना कर ही रहे हैं तो उपदेश क्यों दे रहे हैं ?" कहकर वहां से चल पड़ा और जिस म्युनिसपिलटी का यह अधिकारी मुझे सजा के साथ-साथ उपदेश दे गया, उसी म्युनिसपिलटी की तमाम विसंगतियां मेरे सामने साकार होने लगीं। यह मुझे तो साइकिल में लैम्प लगाने को कह रहा है और रास्ते के तमाम खंभों पर लैम्प नही हैं, केवल टंगे हुए हैं। तमाम गलियां अंधकार में डूबी हुई है जिनमें सवारियां सवारियों से, पैदल पैदल से टकराते हैं और अंधेरे में लूटपाट होती है। मैंने घर आकर गुस्से में एक कविता लिखी और लगा कि कुछ बदला ले लिया है।

इसके बाद मैंने चाहा कि साइकिल में लैम्प लगवा लू किन्तु इतना पैसा कहां था कि तमाम जरूरी चीजें छोड़कर लैम्प खरीदता। इसलिए एक दिन फिर पकड़ा गया। अबकी बार दूसरी जगह पकड़ा गया और संयोग से उनमें मे एक सिपाही ऐसा था जो पहले दिन वाली चैकिंग में था और उसने बहुत अपमानजनक शब्दों में कहा—"अरे, तुम उस दिन पकड़े गये थे फिर भी होश नही आया !" मैंने उसकी ओर हिकारत से देखा—'ये टके-टके के आदमी, भूजा छोर, दुनिया-भर के अनैतिक कार्यों में लिप्त रहने वाले शैतान मुझे उपदेश दे रहे है।' इच्छा हुई कि उसके ऊपर खंखारकर थूक दू लेकिन ऐसा कहा संभव था। बस अपनी आखों से ही उस पर लानत बरसाता रहा। अबकी दो रुपये जुरमाना हुआ। पैसा तो पास में था नहीं, साइकिल वहीं छोड़ आया। दूसरे दिन पैसे लेकर गया। छुड़ाकर लाया।

शोध-प्रबन्ध का कार्य चलता रहा और साहित्य-साधना भी चलती रही बल्कि यों कहिए कि साहित्य-साधना तो चलती ही थी, शोध-प्रबन्ध का कार्य भी चल रहा था। साहित्य-साधना तो अपने रक्त में समा गयी थी किन्तु शोध-कार्य व्यावसायिक जीवन का हिस्सा था, उससे नौकरी मिलनी थी। अब तक मैं लगभग सभी अच्छी पत्रिकाओं मे छप चुका था। पत्रिकाओं के नये-नये अंकों की प्रतीक्षा रहती थी। नयी-नयी पत्रिकाओं की अद्भुत सुगंध व्याप्त थी। 'कल्पना', 'कहानी' ये दो पत्रिकाएं विशेष रूप से हमारे आकर्षण का केन्द्र थीं। 'कल्पना' तो मेरे पास डाक से आती थी किन्तु 'कहानी' के लिए हम चौक जा-जाकर पूछा करते थे कि नया अंक आया कि नहीं और विशेषतया जिस अंक में अपनी कहानी घोषित होती थी उसकी प्रतीक्षा की तड़प तो अद्भुत होती थी।

उन्हीं दिनों अश्क जी 'संकेत' निकाल रहे थे। कविताएं मांगी थीं। मैं किसी काम से इलाहाबाद गया तो कविताएं लेता गया। अश्क जी के घर गया तो वहां साहित्य की गहमागहमी देखी। वहीं 'रेणु' से भेंट हुई। उनका 'मैला आंचल' निकलकर चर्चित हो चुका था। उन्होंने किसी पत्रिका में सद्यःप्रकाशित प्रयोगवाद सम्बन्धी मेरे लेख की प्रशंसा की थी और कहा था कि इस दिशा में आप आगे बढ़िए। नागार्जुन भी अश्क जी के यहां ही बैठकर 'संकेत' के लिए 'वरुण के बेटे' उपन्यास लिख रहे थे। कमलेश्वर और मार्कंडेय तो 'संकेत' के सहायक सम्पादक थे ही, वे वहां प्रायः डटे रहते। अश्क जी ने मेरी दो लम्बी कविताएं चुनीं और मेरे सामने ही उन्हें पढ़कर मेरी अनुमति से कुछ संशोधन किए। 'संकेत' में छपने का सुख भीतर-भीतर महकता रहा। उसमें अपने समय के अनेक प्रतिष्ठित और नये रचनाकारों के साथ छपने का आनंद कुछ और ही था। जगदीश

गुप्त 'नयी कविता' निकालते थे। 'परिमल' से अपना कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः जाहिर है उसमें मेरे छपने का सवाल ही नहीं था। बनारस से शंभूनाथ जी तथा आस-पास के अनेक लोगों की कविताएं छपी। एक दिन जितेन्द्रसिंह मिले। उन्होंने आग्रह करके कविता मांगी। मैंने सुखपूर्वक दी। वह कविता 'बादल चले जा रहे' छपी और मुझे बहुत अच्छा लगा। बाद में कितना छपा, कितना यश पाया किन्तु उस समय की पत्रिकाओं और पुस्तकों में छपने की जो खुशी थी, खुशबू थी, वह फिर महसूस नही हुई।

शोध-कार्य पूरा होने को आ गया था। विष्णुस्वरूप ने सूचना दी कि दुर्गाकुंड पर एक मकान है जिसकी ऊपरी मंजिल पर शितिकंठ मिश्र रहते हैं। नीचे का हिस्सा खाली है। हम दोनों मिलकर ले लें। मुझे बात पसंद आयी और भक्ति-भवन छोड़कर वहा चले गये। वह मकान संस्कृत विभाग के पं० विश्वनाथ पाडेय का था जिनके सुपुत्र डा० शिवनाथ पांडेय इन दिनो भगतसिह कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। कुछ महीनों का वह समय अच्छा रहा।

शितिकंठ और उनका परिवार हेमंत को बहुत प्यार करता था। उनकी एक प्यारी-प्यारी-सी बेटी थी जो हेमंत की दोस्त थी। हेमंत प्रायः उन्ही के यहां रहता था। शितिकंठ की पत्नी भी बहुत भद्र थी किन्तु बीमार रहती थी।

सुबह चार बजे शितिकंठ और मैं घूमने निकल जाते थे। बी० एच० यू० के परिसर में घूमते घामते कभी-कभी गुर्टू छात्रावास चले जाते थे और जाकर शिवप्रसाद सिंह को जगाते थे। हमारी हिमाकत यह थी कि एक तो हम सोये हुए शिवप्रसाद को जगाते थे, दूसरे उनसे चाय मंगाने को कहते थे। पहले तो उठाए जाने के कारण शिवप्रसाद थोड़े अन्यमनस्क दीखते थे फिर प्रसन्न होकर गपशप में शरीक हो जाते थे। बी० एच० यू० के खुले प्रसन्न वातावरण मे सुबह-सुबह का यह भ्रमण दिन-भर के लिए कितनी ताजगी भर देता था! किन्तु इस मकान का निवासकाल बहुत थोड़ा रहा। शोध-प्रबन्ध तैयार हो गया था। प्रस्तुत करना था किन्तु फीस जमा करने के लिए पैसे नही थे। बनारस के एक प्रकाशक रमाशंकर जी ने मेरा एम० ए० का शोध-प्रबन्ध छापा था और 'पथ के गीत' की प्रतियां उठवाकर उस पर 'राजेन्द्रप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, बलिया' प्रकाशन का ठप्पा लगा दिया था। इस पुस्तक को मैंने अपने पैसे से छपवाया था। अतः उठवाने वाले को कम-से-कम मेरा खर्च तो चुकाना ही चाहिए था। रमाशकर बहुत मीठे आदमी थे। पैसे के लिए बार-बार वायदे करते थे, मीठी-मीठी बातें करते थे। मैं दौड-दौड़कर उनके यहां जाता था। प्रायः घर मे होते हुए भी वे कहला देते कि नही है किन्तु जब दूकान में ही पकड़े जाते तो क्या करते? फिर तो मीठी-मीठी बातें और वायदे करते। मैंने उन्हें अपने अभाव का वास्ता दिया, बताया कि शोध-प्रबन्ध टंकित हो रहा है। उसके टंकण और फीस के लिए पैसे चाहिए। मैं बहुत परेशानी में पड़ जाऊंगा। उन्होने छाती ठोंककर वायदा किया—"मेरे रहते आपको परेशानी नही होगी। अमुक दिन आइये, अवश्य प्रबंध करके रखे रहूगा।" उस दिन गया और वे गायब थे। अंत तक उस आदमी ने मुझे एक भी पैसा नही दिया और मेरे लेखकीय

जीवन में प्रकाशक का जो पहला बिंब निर्मित किया वह बहुत ठंडा, क्रूर और अमानवीय था। अंत में पंडित जी से पैसे लेकर मैंने फीस चुकायी और शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया। आगे फिर एक सन्नाटा पसरा हुआ था। अब क्या हो ? क्या किया जाये ?

बी० एच० यू० में नौकरी की कोई आशा नहीं रह गयी थी। पांच-छः महीने पहले (जब मैं भक्ति-भवन में रहता था) नौकरी की एक आशा फिर बंधी थी और फिर टूट गयी। बी० एच० यू० के इण्टर कालेज (जहां मैं पढ़ा चुका था) में लेक्चरर की फिर एक जगह रिक्त हुई। लगा कि शायद इस बार बात बन जाए। पर आशा इसलिए भी बंधी थी कि इस बार दीनदयाल गुप्त जी एक्सपर्ट थे। गुप्त जी भक्ति-भवन के मालिक (जिन्हें चाचा जी कहा जाता था) के दामाद थे। चाचा जी ने गुप्त जी से मेरी सिफारिश की। उनसे मिलने मेरे शोध-निर्देशक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा आये। मैं पहुंचा तो उन्होंने मेरे बारे में गुप्त जी से चर्चा की। इससे मुझे और भी विश्वास हो गया। मेरे विरुद्ध एक उम्मीदवार थे विद्याभूषण मिश्र। वे बुजुर्ग थे और बसंता कालेज में पढ़ाते थे। लोगों ने मुझे सावधान किया कि वे तुम्हारे आड़े आ सकते हैं। वाजपेयी जी एक्सपर्ट है, ये उनके सहपाठी है और दीनदयाल गुप्त जी से भी उनकी अच्छी जान-पहचान है और डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा से भी उनकी यारी है। मुझे फिर भी विश्वास नहीं हुआ। विश्वास तब हुआ जब मेरी नियुक्ति नहीं हुई। पंडित जी (द्विवेदी जी) ने टहलते हुए कहा, "फिर 'बट' लग गया भाई।" वे बहुत दुःखी थे। गुस्से में बोले—"तुम्हारे एक हितैषी लखनऊ तक गए थे, विद्याभूषण जी के लिए कहने को।"

मैं बहुत दुःखी हो गया। अपनी असफलता से तो हुआ ही, पंडित जी की असफलता से भी हुआ। यह कैसी विडम्बना है कि बाहर के एक्सपर्ट जो अपने यहां अपने मनोनुकूल नियुक्तियों के लिए न जाने कितना कुछ करते हैं और अपने प्रतिकूल नियुक्तियां नहीं होने देते, वे ही इतने बड़े व्यक्तित्व की इच्छा का बेशर्मी से विरोध कर उसी के विभाग में उसके प्रतिकूल नियुक्तियां करा लेने के षड्यंत्र में सफल हो जाते हैं। पंडित जी का महान् व्यक्तित्व तिकड़म और जोड़-तोड़ की भाषा नहीं जानता। अपने विभाग में अपने छात्रों की नियुक्ति न करा पाने की असफलता से पंडित जी को भीतर-भीतर कितनी पीड़ा होती होगी, सोचकर मैं और भी दुःखी हो रहा था।

अब लगता था कि बी० एच० यू० में ठिकाना नहीं मिलेगा। पत्नी और बच्चों को पहले ही गोरखपुर भेज दिया था। शोध-प्रबन्ध जमाकर मैं भी गोरखपुर जाने लगा। सामान का क्या किया जाये ? श्रीश कुमार आए, आते ही रहते थे। तय हुआ कि कुर्सियां, मेज, तख्ते यहां रख दिये जायें। मेरे श्वसुर जी फुरसत से उन्हें ले जायेंगे। रिक्शे पर सामान लादकर श्रीश कुमार के घर की ओर चले। हमारे यहां बांस का एक लम्बा डंडा था। मैं उसे छोड़ रहा था किन्तु श्रीश कुमार ने उसे भी ले लिया। मैं रिक्शे पर था और सामान भी रिक्शों पर लदा था, श्रीश कुमार साइकिल पर थे। उनके हाथ में वही डंडा था। वे उस डंडे का रास्ते-भर विदूषकी उपयोग करते रहे। वे किसी आने-जाने वाले आदमी के सामने डंडे को हिलाते थे, इस मासूमियत और कौशल से हिलाते थे कि उसे स्पर्श न करे और लगे कि कोई अनजाने हिला रहा है।

वह आदमी चौंक-चौंककर पीछे हटता था और श्रीश कुमार अनजान से बने रहते। कभी किसी आदमी के आगे या पीछे डंडे को ठक से जमीन पर मारते और वह आदमी उछलकर आगे या पीछे हो लेता। ऐसे ही उन्होंने एक दाढ़ी वाले आदमी के पीछे डंडा ठोंका तो वह आदमी उछलकर आगे बढ़ गया। जब मुड़कर देखा तो चिंचिया उठा, "अमां मियां, जमादार हुए होते तो पूरी सड़क की सफाई कर डालते, देखने में तो किसी शरीफ घर के लगते हो।" मेरा और रिक्शे वाले का तो हंसते-हंसते बुरा हाल था किन्तु श्रीश कुमार बिलकुल चुप थे।

श्रीश कुमार शरारत के पर्याय बन चुके थे। उनकी अनेक शरारतों का मैं साक्षी रहा हूं किन्तु मेरे साथ होने पर वे जो शरारतें करते थे वे सभ्य होती थीं। जैसे एक बार नागरी प्रचारिणी सभा में एक विशाल सभा थी। उसमें हमारे पास गुरुजन बैठे थे। श्रीश ने कहा, "पंडित जी, एक आनंद करता हूं।" मैंने कहा, "करो।" उन्होंने पास बैठे एक गुरु के कान में कहा, "गुरु जी, आपकी बगल में एक पाकेटमार बैठा हुआ है।" उन गुरुदेव ने अगल-बगल देखा और अपने कोट की दोनों जेबें समेटकर आगे की ओर कर लीं।

"प्रणाम पंडित जी।" मैं चौंककर देखता हूं—रिक्शे पर एक सज्जन धोती-कुर्ता-टोपी पहने लाल टीका लगाये मगन होकर चले जा रहे हैं। श्रीश के प्रणाम से वे चौंके और 'प्रणाम भाई प्रणाम' कहकर दोनों हाथ जोड़ दिये। मैं पूछता हूं—"श्रीश, ये सज्जन कौन थे?" "पता नहीं कौन था यह उल्लू। मैंने तो मजा लेने के लिए उसे प्रणाम कर दिया।" श्रीश कुमार की शरारतों में से यह एक खास शरारत थी। आज भी उसे दुहराया। मैंने देखा कि वह प्रणाम लेने वाला व्यक्ति हैरान-सा पीछे मुड़-मुड़कर देख रहा था कि मुझे प्रणाम करने वाला यह डंडे वाला व्यक्ति कौन है?

गोरखपुर लौट आया। अब तक शोध-प्रबन्ध बहाना था और अनियमित ही सही, एक सौ रुपए की स्कालरशिप तो मिलती थी। अब? अब कहां जायें? क्या करें? इतनी योग्यता लेकर बेकार रहने से आसपास के लोगों में मान घट जाता है बल्कि अपमान की स्थिति पैदा हो जाती है। ससुराल में था। मेरी पत्नी के फूफा जी कालपी में गांधी आश्रम में थे। वे दर्जा सात फेल थे किन्तु धीरे-धीरे अपनी दूसरी योग्यताओं से काफी सम्पन्न और सम्मानित व्यक्ति बन गये थे। बाद में वे एम० एल० ए० भी हुए थे। मेरी बेकारी पर तरस खाकर मुझे समझाने लगे—"अरे क्या रखा है कविता-सविता लिखने में और पी-एच० डी०-बी-एच० डी० करने में? कुछ और किया होता तो कोई काम-धंधा चल निकला होता।" मैं उन्हें क्या कहता? कुछ कहने से वे कुछ समझते क्या? उनके पास पैसा था, नेतागीरी थी, साहित्य उन तक कैसे पहुंचता? अतः उनका उपदेश सुनकर मुसकरा भर दिया। उन्होंने पत्नी को समझाया, "चल, कालपी चल, वहां शहीद नगर में एक मिडिल स्कूल खोल रहा हूं, तुम्हें प्रिंसिपल बना दूंगा। रामदरश से ज्यादा पैसा कमाओगी।" पत्नी भला कहां मानने वाली थीं। उन्होंने उनकी भाषा में समझा दिया—"फूफा, पैसे तो कमा लूंगी लेकिन जिन्दगी-भर आपकी तरह इस्तीफा की जगह इस्थापा ही बोलूंगी।" मेरी मुसकान की व्यंजना तो उन तक नहीं

पहुची किन्तु पत्नी का अभिघात्मक शब्द-प्रहार उन तक अवश्य पहुंचा। वे तिलमिला उठे और बहुत दिन तक नाराज रहे।

गांव के लोग भी हैरानी से कहते—"अरे इतना पढने के बाद भी कोई नौकरी नही लग रही है। पढ़ना बेकार ही है न।"

कई जगह आवेदन-पत्र दे रखा था। एम० एस० यूनिवर्सिटी बड़ौदा में भी आवेदन भेज रखा था। दानापुर, पटना से मेरे मित्र रामचन्द्र मधुप का मुझे तार मिला। मधुप जी मेरे बहुत स्नेही मित्र तथा मेरे काव्य के प्रशंसक थे। मैं प्रायः उनके छात्रावास में जाया करता था। वे भी मेरे होस्टल और बाद मे मेरे घर आया करते थे। उन्होंने मनोविज्ञान मे एम० ए० किया था और दानापुर के कालेज में प्राध्यापक हो गये थे। उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी। उन्होंने तार देकर दानापुर बुलाया था। मैं पहुंचा तो उन्होंने बताया कि इस कालेज में हिन्दी प्रवक्ता की एक जगह है। मैं पूरी कोशिश करूंगा कि आप ले लिए जायें किन्तु आप पता मेरा दीजियेगा।

मधुप जी ने नया-नया प्रेम-विवाह किया था। नव-दाम्पत्य के आह्लाद और उत्साह से भरे पारिवारिक वातावरण में दम्पती के स्नेह और आत्मीयता का सुख पाकर बहुत प्रसन्न हो आया था और दो दिन बाद गोरखपुर लौट आया। मैं इन दिनों गोरखपुर में (ससुराल में) ही था क्योंकि आवेदन-पत्रों में यहीं का पता दे रखा था। गाव में तो सप्ताह में एक बार डाक बंटती थी, वहां जाऊंगा तो इंटरव्यू के बाद चिट्ठी मिलेगी। दानापुर के इंटरव्यू की चिट्ठी आ गयी, साथ ही बडौदे के इंटरव्यू की भी। बडौदे का इंटरव्यू पहले था। जाहिर था कि मैं बडौदा जाता ही। वहां हो गया तो ठीक, नही तो दानापुर चला जाऊंगा।

36

बडौदा के लिए रवाना हो गया। इतने लम्बे सफर पर पहली बार निकला था। कुछ पता ही नही था कौन-सा रास्ता है ? कितनी दूर का रास्ता है ? श्वसुर जी रेलवे में थे अतः उन्होने काफी जानकारी दे दी थी। जून की तपती गरमी मे एक अनजान लम्बे सफर के लिए निकला हुआ यात्रा-भीरु मैं गाडी में से खाली-खाली आसमान, सूनी-सूनी दिशाओं को निहारता चला जा रहा था। घर तो बहुत पहले छूट गया था किन्तु घर छूटने के बाद नये घर बनते गये थे। बनारस उन्हीं घरों में से एक बहुत प्यारा घर था। ये सारे घर बहुत पास-पास थे, इसलिए अपने वास्तविक घर से छूटकर भी बहुत दूरी नहीं अनुभव होती थी। अब एक बहुत दूर के स्थान पर जा रहा था, जहां कोई अपना नही है। इन घरों के छूटने का तो दर्द था ही, एक नये स्थान पर भटकने की आशंका भी भीतर भरी थी और सबसे बड़ी चिंता यह थी कि इतनी लम्बी यात्रा तय करने के बाद नौकरी लगेगी भी कि नहीं। जहां मेरे इतने सारे लोग थे और स्वयं द्विवेदी जी की वरद छाया

थी, वहां से तो मैं विस्थापित हो गया, जहां कोई नहीं है वहां मुझे कौन पूछेगा? एक ही आश्वासन था, वह यह कि एम० एस० यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार बी० के० ज्युत्सी डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के मित्र थे और शर्मा जी ने मेरे आवेदन-पत्र को अग्रसारित किया था।

आगरा पहुंचा, वहां से बयाना पहुंचा। वहां से फ्रंटियर मेल पकड़ना था। इस भाग-दौड़ में सो नहीं पाया था। आंखें जल रही थीं, शरीर में भारी थकान भर गई थी। जब फ्रंटियर आया तो मेरे होश उड़ गये। उसमें सामान्य डिब्बे दो ही थे और वे बुरी तरह भरे हुए थे। फ्रंटियर छोड़ दिया तो कल साक्षात्कार के समय नहीं पहुंच पाऊंगा और डिब्बों में तिल रखने की जगह नहीं। भीतर का रेला बाहर के रेले को ठेल रहा था। मैं खिडकियों के पास जा-जाकर अनुनय कर रहा था—कृपया मेरा होल्डाल अदर जाने दीजिये, कल मेरा इंटरव्यू है किन्तु कोई सुनता ही नहीं था। आखिर मैंने एक खिड़की से होल्डाल अन्दर ठेल ही दिया और स्वयं दरवाजे पर लटके हुए कुछ लोगों के साथ लटक गया। भीतर घुसने की कोई गुजाइश नहीं थी। इतनी तेज गाड़ी पर पहली बार चढ़ा था, उसकी गति का पूर्व अनुभव नही था। जब फ्रंटियर ने तेज रफ्तार पकड़ी तो हवा और उसके साथ उड़कर आने वाले छोटे-छोटे कंकड़ मुझसे टकराने लगे। वे मेरी कनपटियों को पीटने लगे। मुझे डर लगा कि कही गिर न जाऊं। आखिर कब तक इस तरह लटके-लटके चलूंगा। उतरना भी विकल्प नहीं था। दूसरी किसी गाड़ी से समय से नही पहुंच पाऊंगा और मेरा होल्डाल पता नही कहां किस हाल मे होगा, उसे भीतर से कौन निकालकर देगा? अतः मैं थकी देह, जलती आंख लिए लटके-लटके यात्रा करने के लिए अभिशप्त था। लेकिन अद्भुत शक्ति होती है मनुष्य की। वह किसी परिस्थिति में अपने लिए रास्ता निकाल ही लेता है। स्टेशन पर जो भीड़ फैली होती है, गाड़ी छूटने के बाद धीरे-धीरे वह सिमटने लगती है और डिब्बों में समा जाती है। अजनबी की तरह धक्का-मुक्की करने वाले लोग कुछ देर बाद साहचर्य की उष्मा अनुभव करने लगते है और एक-दूसरे के लिए जगह बनाने लगते है। धीरे-धीरे पायदान पर लटकी हुई भीड़ अन्दर हो गई। मैं भी अन्दर हो गया किन्तु बड़ी मुश्किल से पांव टिकाकर खड़ा होने की जगह मिली। लटकने के बाद अन्दर पांव टिकाकर खड़ा होने मे एक आश्वस्ति प्राप्त हुई किंतु यह आश्वस्ति कुछ देर बाद पांव के साथ थरथराने लगी। कब तक खड़ा चलता रहूंगा? अब तो जलती आंखों मे नींद भी उतरने लगी थी किन्तु ठहरती कैसे?

ऊपर की एक बर्थ पर एक सरदार जी लेटे हुए थे। उन्हें इतनी भीड़ में पता नहीं मुझी पर क्यों रहम आ गया और बोले—"आओ बादशाहो, तुम भी एक किनारे बैठ जाओ।" मेरे लिए तो यह वरदान था। किसी तरह आगे बढ़कर ऊपर की बर्थ पर चढ़ गया और एक किनारे बैठ गया। अब नींद फिर उतरने लगी थी और अब तो उसे मेरी आंखों में ठहरने का आधार भी मिल गया। किनारे बैठा हुआ था। नींद के झोंके आने लगे और मुझे डर लगा कि मैं कहीं लुढ़ककर नीचे न गिर जाऊं। अतः अपने झोले में रखी चादर निकालकर अपने को पास वाली लोहे की जंजीर से बांध दिया।

दो बजे रात को बड़ौदा आया। बड़ौदा आने से पहले नीचे उतरा। खोजकर अपना होल्डाल संभाला। वह किसी की सुराही का पानी गिरने से भीग गया था।

उतरकर बहुत आश्वस्ति अनुभव की। प्लेटफार्म पर ही होल्डाल खोलकर सो गया। सवेरे उठा तो एक आदमी मेरे पास आया। उसने पूछा—"लॉज में रहना है?" "हां" कहकर उसके साथ हो लिया। लॉज स्टेशन से सटा ही हुआ था। वहां गया। पहली समस्या यह आई कि रास्ते में होल्डाल के भीग जाने से मेरे कपड़े भीग गये थे और मुचड़ गये थे। मालूम हुआ कि धोबी तीन-चार घंटे में धोकर दे देगा। नहा-धोकर बाहर निकल आया इस बड़े नगर का जायजा लेने के लिए। यह नगर बहुत साफ-सुथरा और खुला-खुला लग रहा था। मैं घूमता-घूमता एक बड़े पार्क में पहुंच गया। मालूम पड़ा, उसका नाम है कमाटी बाग। यों ही घूमता रहा और उस विशाल बाग की सुन्दरता मे गुजरता रहा। घूमते-घूमते देखा, इसमें 'जू' भी है। तरह-तरह के जीव-जंतुओं मे आंखें मिलाता घूमता रहा। इस शहर के आदमियों से पहचान होने से पहले जीव-जंतुओं से पहचान हो रही थी। दो घंटे बाद लॉज लौटा। खा-पीकर सो गया।

शाम चार बजे साक्षात्कार था। रजिस्ट्रार आफिस लॉज से दूर नहीं था। अतः आश्वस्त था। समय मे पहुंच गया। साक्षात्कार में बैठने वाले सभी लोग मेरे लिए अपरिचित थे। कुलपति हंसा मेहता, रजिस्टार वी० के० ज्युत्शी, डीन श्री कंटक (अंग्रेजी के प्रोफेसर) और श्री उदयसिंह भटनागर (हिन्दी विभागाध्यक्ष)। मेरा सौभाग्य कि हिन्दी का कोई महारथी नही था। इन लोगो ने खुलकर बातें की और मुझे इण्टरव्यू के बाद ही ज्ञात हो गया कि मै ले लिया गया हूं।

श्री उदयसिंह भटनागर बड़े उल्लास से मुझे अपने साथ ले चले। रास्ते में विभाग के दूसरे सज्जन भारतेन्दु सिन्हा मिले। भटनागर जी ने उन्हें सूचना दी। अपने घर ले गये। अपने घरवालों से परिचय कराया। चाय पीने के बाद बोले—"चलिए, लॉज से आपका सामान लाने है।"

मैं बहुत संकोच मे पड़ा। पता नही कब मकान मिले, तब तक भटनागर जी के घर कैसे रहूंगा? मेरा संकोच समझकर वे बोले—"चलिए, चलिए, इसे भी अपना घर ही समझिए।" वे हमे अपने घर पर ले आये। पूरे घर ने मुझे देखते-देखते अपना अभिन्न सदस्य बना लिया। इस परिवार से बहुत प्यार मिला। श्रीमती भटनागर तो बहुत ही प्यारी और स्नेहमयी महिला थी। बच्चे भी बहुत सुसंस्कृत और प्यारे थे। भटनागर जी के साथ मैं रोज मकान की खोज करता था। आखिर एक नयी बन रही चाली में दो कमरे मिल ही गये। राहत की सांस ली। भटनागर परिवार से मिलता हुआ सहज प्यार मेरे लिए भारी पड रहा था इसलिए मकान मिलते ही हलकापन महसूस किया। गोरखपुर सूचित किया। पत्नी और बच्चे आ गये और सही अर्थों में मेरी गृहस्थी शुरू हुई।

बड़ौदा में नौकरी मिली तो मेरी जीवन-यात्रा में एक निश्चितता आई और यह सोचकर आंखें भर आईं कि अपने परिवेश ने मुझे अपने भीतर से निकाल फेंका और

एक निपट अनजाने परिवेश ने प्यार से अपना लिया। भटनागर जी के साथ शाम को एक लम्बी सैर पर निकलता था और लगता था कि नया परिवेश धीरे-धीरे मुझसे परिचित होकर मेरे भीतर उतरता था, वह मुझसे बातें करता था, मेरा सुख-दुःख पूछता था और मेरे परिवेश को बड़ा बना रहा था। 'बड़ौदे की शाम' नामक निबंध मैंने इसी मानसिकता में लिखा।

बडौदा का सामाजिक और शैक्षिक परिवेश मेरे लिए बहुत नया था। यहां के सामाजिक जीवन में अपने यहां की अपेक्षा बहुत खुलापन था, उत्सवधर्मिता थी, शृंगार-प्रियता थी। हमारे मोहल्ले से थोडी ही दूर पर कमाटी बाग था जिसका दर्शन मैंने बड़ौदा मे आते ही किया था। हर रविवार को यहां घूमने वालों का मेला-सा लगता था। उसके केन्द्रीय स्थल पर बेंड बजता रहता था और लोग झूमते थे, घूमते थे, खाते-पीते थे। उस दिन कामवालियां भी खूब सज-धजकर बालों में फूलों की वेणी सजाये निकलती थी और यहां यह निर्णय करना कठिन होता था कि कौन स्त्री मध्यवर्गीय है, कौन निम्नवर्गीय? कौन पढ़ी-लिखी है, कौन अनपढ़? मेरी पत्नी तो एक बार चकरा गईं। एक दिन एक सजी-धजी औरत हमारे घर आई और पत्नी से पूछा—"बेन जी, आपको कामवाली चाहिए?"

"चाहिए तो।"

"क्या देंगी?"

"कामवाली को भेजिए तो उससे बात कर लूंगी।"

"मैं ही हूं।"

"आप?" पत्नी चकित भाव से बोलीं। उन्हें यह डर समा गया कि इतनी सजी-धजी औरत यदि काम करेगी तो पता नहीं कितना मांगेगी और न जाने इसके कितने नखरे उठाने पड़ेंगे। अतः उन्होंने बहाना बना दिया कि एक से बात की है, यदि वह नहीं आयेगी तो आपको बता दूंगी, अपना पता बता जाइए।

जब वह चली गई तो पत्नी ने राहत की सांस ली और भटनागर जी को यह घटना सुनाई। भटनागर जी हंसे—"आप नाहक डर गईं। अरे, वह अपने टूटे घर में जाकर एक पुराना मामूली पेटीकोट पहनकर बैठी होगी। ये बाहर निकलती है तो सज-धजकर ही निकलती है। आपके यहां काम करने आयेगी तो इस तरह सज-धज-कर थोड़े आयेगी।" धीरे-धीरे हमें इस सत्य का ज्ञान हो गया। हमने जान लिया कि यहां के लोग अपनी थोडी सुख-सुविधाओं का भी सलीके से इस्तेमाल करते है। इन औरतों के पास कपडे बहुत नही है किन्तु यहा रोज कपड़े घर पर धुलते है। गृहिणियों के कर्तव्य में से एक मुख्य कर्तव्य होता है—रोज कपड़े धोना। धोकर वे कपड़े खुद प्रेस कर लेती है या करा लेती है। गली-गली प्रेस करने वाले धोबी फैले होते हैं। पुरुषों को काम पर भेजकर सवेरे-सवेरे औरतें नल के नीचे कपड़ों का ढेर और पीटने की मुंगड़ी लेकर बैठ जाती है और धुलाई की आवाज एक लय मे बजने लगती है। गुजरात आकर पत्नी ने यह नया काम सीखा। इससे हम लोगों को बहुत राहत मिली। मुझे याद है कि बनारस में मेरे पास कई धोतियां और कई कुर्ते थे किन्तु सभी धोबी के यहां

धुलते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि कालेज जाते समय धोबी कपड़े नहीं लाया तो उस दिन छुट्टी लेनी पड़ जाती थी। धीरे-धीरे यहां इस संकट से मुक्ति मिली।

चाहे छोटी हों या बड़ी, लड़कियों का मुख्य पहनावा फ्राक था। शुरू-शुरू में यह मेरे उत्तर भारतीय संस्कार को बहुत कोंचता था। उत्तर भारत में लड़की जहां बड़ी हुई, वह या तो साड़ी पहनने लगती है या सलवार। साड़ी के साथ वक्ष को ढकने के लिए आंचल काफी होता है किन्तु सलवार के साथ दुपट्टा जरूरी है। यहां एक तो पिंडलियों तक उघड़ी टांगें और दूसरे, वक्ष पर फ्राक के सिवाय कुछ नहीं। जब मैं क्लास में जाता था तो पहली बेंच पर बैठी लड़कियों पर नजर पडते ही मैं नजर चुराने लगता था। विशेषतया कुछ स्थूल लड़कियों के वक्ष उनके खुले गले के फ्राक में से आधे उभरे होते थे। पढ़ाने की प्रक्रिया में उन पर नजर पडते ही मैं झट से अपनी आंखें पीछे की बेंचों की ओर डाल देता था। किन्तु धीरे-धीरे मैं इस परिवेश का अभ्यस्त हो गया और कुछ दिन बाद उनकी वेशभूषा मुझे वैसी ही सहज दीखने लगी जैसे अपने यहां की साड़ी और सलवार। वास्तव में हर नया दृश्य पहले आंखों को चौंकाता है फिर लगातार अपने सम्पर्क से उन्हें सामान्य कर देता है।

कह चुका हूं कि यहां का वातावरण खुला हुआ था। लड़के-लड़कियां साथ बैठते थे, खुलकर बातें करते थे, साथ घूमते थे, साथ खेलते थे। यहां भी और बाद में अहमदाबाद तथा नवसारी में भी अनुभव किया कि पिकनिकों में जब खेल होते थे तो लडके-लड़कियां एक-दूसरे को निस्संकोच पकड़ते थे। हमारे यहां तो जैसे एक-दूसरे को छूना वर्जित है। छूना तो दूर, खुलकर बातचीत करना भी वर्जित है। यहां लड़कियां किसी 'सर' के आगे हाथ पसारकर बैठ जातीं—"सर, आपको हाथ देखना आता है, मेरा हाथ देखिए न।" और सर हाथ देखने की क्रिया में अनभिज्ञ होकर भी हाथ मसल-मसलकर उसकी रेखाएं पढ़ने का नाटक करते रहते। बाद में अहमदाबाद में जब मैं गया तो वहां एक दिन मैं स्टाफ रूम के सामने बाहर खड़ा था तो एक लड़की आयी और बोली—"सर, आपको हाथ देखना आता है, मेरा हाथ देखिए न।" मुझे तो हाथ देखना आता ही नहीं और यदि आता भी तो क्या मैं इस तरह छात्र-छात्राओं की भीड़ में खड़ा होकर उसका हाथ देखता? वह हाथ फैलाये खड़ी थी और मैं अपनी असमर्थता जाहिर करता रहा। वास्तव में जो चीज मेरे उत्तर भारतीय संस्कार के लिए चौंकाऊ थी वह उनके लिए सामान्य थी। उन्हें लगता ही नहीं था कि इसमें कोई दोष है। जब मैं बनारस में था तो एक फिल्म देखी थी जिसमें पिकनिक पर गये लड़के-लड़कियां आपस में पकड़म-पकड़ायी खेल रहे थे। मैंने गुस्से में कहा था—"ऐसा भला कहीं होता है, फिल्म झूठी है।" यहां आकर लगा कि नहीं, वैसा भी होता है।

उनके महिला छात्रावासों के आसपास कोई चहारदीवारी नहीं थी और न वहां छात्रों के जाने की कोई मनाही थी। छात्र जाते थे, अपनी मित्र छात्रा के कमरे में बैठते थे और उसे लेकर घूमने निकल जाते थे। प्रेम भी काफी कुछ खुलकर होता था। ऐसा नहीं था कि प्रेमी-युगल सर या किसी बड़े व्यक्ति के आगे एकदम झेंप जाते हों या छिप जाते हों या बहाना बनाने लगते हों। दरअसल लड़के-लड़की में बातचीत और

उन्मुक्त व्यवहार की तो सामाजिक छूट यहां है ही, अब कौन-सी बातचीत और उन्मुक्त व्यवहार प्रेम के तहत हो रहा है और कौन-सा यों ही, यह निर्णय करना सहज नहीं होता था। इसलिए देखने वाले भी इसकी चिंता नहीं करते थे और प्रेम करते हैं तो करें, देखने वाले को कौन मुसीबत आ रही है। किन्तु उत्तर भारत में सबसे अधिक मुसीबत देखने वालों पर ही आती है। वे इस चिंता में ज्यादा रहते हैं कि लड़का-लड़की मिल रहे हैं तो उनका अभिप्राय क्या है? हालांकि न उस लड़के से उनका कोई सम्बन्ध होता है, न उस लड़की से। यह नया वातावरण लगातार मेरे उत्तर भारतीय संस्कार से टकरा रहा था और उसे अपने में जज्ब कर उदार बना रहा था।

विश्वविद्यालय के एक समारोह में कुलपति हंसा मेहता के सामने लड़के-लड़कियों ने खुलकर फिल्मी प्रेम-गीत गाये तो मैं चकित रह गया। उत्तर भारत की शैक्षिक संस्थाओं के समारोहों में आज तक फिल्मी गीत नहीं सुने थे। उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वहां तो शास्त्रीय संगीत या साहित्यिक गीत का ही रस झरता था। यहां तक कि परिवारों में भी बड़े-बूढ़ों के आगे लोग फिल्मी गाने नहीं गाते थे। याद है, एक बार डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के यहां बैठा था। उनकी छोटी लडकी एक फिल्मी प्रेम-गीत गुनगुनाती हुई आयी। मैंने चकित भाव से शर्मा जी की ओर और उन्होंने मेरी ओर देखा। वे बोले—"देख रहे हैं न, जाने यह पीढी कहां जायेगी? अभी से यह हाल है।" यही संस्कार लिए मैं महिला कुलपति की उपस्थिति में विश्वविद्यालयी महोत्सव में फिल्मी गीत सुन रहा था। कल्पना की जा सकती है कि मेरी मनःस्थिति कैसी हुई होगी। उत्तर भारत के स्कूलों, कालेजों में अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताएं होती थीं जिनमें चुनी हुई कविताएं पढ़ी जाती थीं। यहां अनुभव किया कि अन्त्याक्षरी में फिल्मी गाने गाये जाते है। किन्तु धीरे-धीरे मैं इस वातावरण का अभ्यस्त हो गया और कुछ दिनों बाद ये चीजें सहज लगने लगीं।

यहां के शैक्षिक वातावरण में उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक हलकापन देखा। वैसे कक्षाओं के छात्र कहां नही शोर करते है, कहां नहीं बदतमीजियां करते हैं और कहां नहीं मनोरंजन चाहते हैं किन्तु अनुपात में ये चीजें यहां ज्यादा देखीं। यहां छात्र-छात्राएं कक्षा में मनोरजन अधिक चाहते हैं और ज्ञान-गुरुता कम। इसलिए यहां उन अध्यापकों को ज्यादा सफल होते देखा जो अपने विषय के मर्मज्ञ नहीं हैं बल्कि ज्ञान में सपाट हैं किन्तु जो फिल्मी संवाद के ढंग से भाषा बोलते हैं, चुटकुले सुनाते हैं, किस्से-कहानियां सुनाते हैं। यानी फिल्मी दुनिया ने यहां के सामाजिक जीवन को तो प्रभावित किया ही है, शैक्षिक जगत् को भी किया है। यानी ज्यादा किया है। यह बात मैं सन् '56 की कह रहा हूं, बाद में तो धीरे-धीरे फिल्मी प्रभाव की गिरफ्त में पूरा देश आ गया।

हिन्दी इण्टरमीडिएट तक अनिवार्य थी। पूरे गुजरात में अनिवार्य थी। हमें कला, वाणिज्य, विज्ञान, ललित कला सभी संकायों में हिन्दी की कक्षाएं लेनी पड़ती थीं। हम तीन अध्यापक थे। दरअसल अनिवार्य विषय होने के कारण छात्रों को हिन्दी की कक्षाओं में आना ही होता था किन्तु मुझे नहीं लगता था कि वे गहरे रागात्मक

लगाव से कक्षा में बैठते थे। इसका कारण मैं भी हो सकता हूं। हो सकता है उन्हें मेरे अध्यापन में ही कोई आकर्षण न दिखाई पड़ता रहा हो। मुझे लगता है कि गुजरात से लेकर दिल्ली तक मैं छोटी कक्षाओं के छात्रों को बांध पाने में समर्थ नहीं हुआ। इसके उलट हिन्दी ऑनर्स और एम० ए० की कक्षाओं के छात्र मुझसे अधिक लगाव रखते रहे। इसका कारण यही हो सकता है कि मेरे पास वह वाक्-कौशल नहीं है जिसके जादू से बी० ए० तक के छात्र सम्मोहित हो जाते हैं या वह आतंककारी तरीका नहीं है जिससे डरकर छात्र चुप रहते हैं। मैं जो कुछ जानता हूं उसे एक आत्मीय वातावरण में धीरे-धीरे खोलता चल सकता हूं और चूंकि बी० ए० हिन्दी ऑनर्स और एम० ए० हिन्दी के छात्र हिन्दी के साथ गहरा अपनापन रखते हैं और वे वाक्-कौशल की अपेक्षा या उसके साथ-साथ ठोस सामग्री चाहते हैं इसलिए मेरे जैसे अकुशल वक्ता भी वहां खप जाते हैं। बल्कि एक सीमा तक उनके अपने लगते हैं।

मैं पहले कह चुका हूं कि बी० एच० यू० में मेरे अध्यापक की पहचान एक कवि-रूप में भी होती थी। हिन्दीभाषी छात्रों में से लेखकीय प्रतिभा या रुचि वाले अनेक छात्रों का मुझसे कवि होने के नाते ही गहरा लगाव बन जाता था किन्तु गुजराती-भाषी छात्रों में तो मैं केवल हिन्दी का एक सामान्य अध्यापक ही माना जाता था। अत: मुझे उनसे ऐसा कोई अपनापन नहीं मिलता था जो मुझे तोष दे सके। हां, बी० ए० ऑनर्स, जो इसी वर्ष शुरू हुआ था, में चार छात्र थे। उन्हें मेरे लेखकीय रूप का भी बोध था। उन्हें मेरे अध्यापन से भी काफी तोष मिलता था। वे चारों परिवार के व्यक्ति बन गये थे। उन चारों में से एक थे रमणलाल पाठक जो इन दिनों वहीं रीडर है। इन चार छात्रों की छोटी-सी दुनिया में जितनी तृप्ति मिल सकती थी, वही वहां के अध्यापन की तृप्ति थी।

कला-संकाय से दो फर्लांग की दूरी पर ललित कला-सकाय था। वहां भी मुझे क्लास लेने जाना पड़ता था। कला-संकाय की क्लास के तुरत बाद वाली क्लास लेने वहां जाना पड़ता था। साइकिल से जाने के बावजूद दस-पन्द्रह मिनट लेट वहां पहुंचता था। छात्रों को (और शायद डीन को भी) यह भ्रम हो गया था कि मैं हमेशा लेट पहुंचने वाला अध्यापक हूं। डीन ने तो शायद लिखित शिकायत भी भेज दी थी। छात्र इंतजार करते रहते। खैर, उन्हें हिन्दी में रुचि कहां थी? बस पढ़ लेते थे। एक दिन मैंने एक निबन्ध लिखने को दिया। जांचने लगा तो एक निबन्ध बहुत अच्छा दिखाई पड़ा। वह बहुत काव्यात्मक ढंग से लिखा गया था। मैंने पूछा—"किसका है?" छात्र खड़ा हो गया।

"आपने बहुत अच्छा निबंध लिखा है। आपका नाम क्या है?"

"गुलाम मुहम्मद शेख।"

"ललित कला में आपका विषय क्या है?"

"चित्रकला।"

"आपमें बहुत अच्छी काव्य-प्रतिभा छिपी है, मि० शेख। आप कविताएं लिखते हैं क्या?"

"जी सर, गुजराती में कविताएं लिखता हूं और हिन्दी की भी कविताएं पढ़ता हूं। आपकी कई कविताएं मैंने पत्रिकाओं मे पढी हैं।" उसने कुछ पत्रिकाओं में छपी कविताओं के नाम गिनवा दिये। मुझे यह जानकर बहुत तोष मिला कि यहां भी मुझे कवि-रूप में जानने वाले कुछ छात्र हैं। मैंने गुलाम मुहम्मद को सलाह दी कि वे सुरेश जोशी से मिलें। सुरेश जोशी गुजराती विभाग मे प्राध्यापक थे और गुजराती मे नयी प्रयोगवादी कविता और कलावादी चिन्तन के सूत्रधार थे। वे हिन्दी साहित्य के भी अध्येता थे और अज्ञेय के लेखन के प्रशंसक थे। एक बार अज्ञेय को लेकर उनके साथ मेरी बहस हो गयी। वे 'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' से बहुत प्रभावित लगे। प्रेमचंद और उन जैसे सामाजिक चेतना के साहित्यकार उन्हें या उन जैसे साहित्यकारो को पसंद नही हैं। उनके लिए जो कहा जा रहा है उसकी सामाजिक और मानवीय मूल्यवत्ता का कोई महत्त्व नहीं था, महत्त्व था वह कैसे कहा जा रहा है। इसलिए उनके उपन्यासों और कविताओं में छिन्न-भिन्न मन की जटिल यौन संवेदनाओ को कलात्मक प्रयोग के साथ चित्रित कर देना ही उद्देश्य होता है। जो भी हो, सुरेश जोशी गुजराती में नये लेखन और चिन्तन के प्रखर व्यक्तित्व के रूप में उभर रहे थे। वैचारिक और दृष्टिमूलक मतभेद होने के बावजूद नया लेखक होने के नाते हम दोनों एक-दूसरे को स्नेह देते थे। लेखकीय रिश्ता एक बडा रिश्ता होता है। गुलाम मुहम्मद शेख का रुझान भी प्रयोगवादी कला की ओर था—चित्रों मे भी और कविताओं मे भी। चित्रों में कलावाद के विभिन्न आन्दोलन चलते रहते हैं अतः बहा चित्रकार का कलावादी हो जाना बहुत स्वाभाविक हो जाता है और उसके चित्र के कलावाद का असर उसकी कविताओ पर भी पडता है। दूसरे, गुलाम मुहम्मद कविता के लिए सुरेश जोशी मे जुडने लगे, अतः उनकी कविताओं मे कलावाद का गहरा प्रभाव भर गया किन्तु यह सब तो बाद की बात है, फिलहाल तो इतना ही था कि शेख एक नवसिखुआ कवि थे और सुरेश जोशी से जुडने के लिए अग्रसर हो रहे थे। बाद में तो वे एक अच्छे प्रयोग-वादी कवि और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के चित्रकार बने और उसी सकाय में प्रोफेसर के रूप में कार्य कर रहे है। जिस चाल मे मैं रहता था उसी मे बगल वाले कमरे मे रहने के लिए शेख भी आ गये अपने एक दूसरे कलाकार मित्र के साथ। अतः कक्षा के सम्बन्ध के साथ-साथ पड़ोसी का भी सम्बन्ध हो गया। शेख हिन्दी के विद्यार्थी नहीं थे। हिन्दी तो उनके अपने प्रमुख कला पाठ्यक्रम के साथ सामान्य रूप से जोड दी गयी थी किन्तु फिर भी उन्होने तब और बाद मे भी मुझे गुरु का गहरा सम्मान दिया। मै भी उन्हें अब तक अपने बहुत आत्मीय व्यक्ति के रूप मे याद करता हू। उन्होने मेरे उपन्यास 'पानी के प्राचीर' और कविता-संग्रह 'बैरग बेनाम चिट्ठिया' की कवर डिजाइन भी बनायी। 'जल टूटता हुआ' की भी कवर डिजाइन उनसे बनवायी थी और वे उसे लेकर बड़ौदा से दिल्ली आये थे किन्तु प्रकाशक ने कांजिलाल से दूसरी ही कवर डिजाइन बनवा रखी थी। अतः शेख की डिजाइन नही जा पायी।

37

बड़ौदा में नौकरी मिली और भटकते हुए जीवन को एक सहारा मिला किंतु पहली बार अहिन्दीभाषी लोगों के वातावरण में आया था और इतनी दूर आया था, इसलिए मन उदास रहता था । अंतरंग हिन्दीभाषी मंडल मे भटनागर जी का परिवार था और कक्षा में हिन्दी ऑनर्स के चार छात्रों का छोटा-सा मंडल था। होने को हिन्दी विभाग के दूसरे प्रवक्ता श्री भारतेन्दु सिन्हा भी थे, उनका परिवार भी था किंतु वे अबूझ व्यक्ति थे। कभी तो बहुत खुले हुए प्रसन्नचित्त नजर आते थे, कभी उलझे हुए। कभी खुलकर स्वागत करते थे, कभी ऐसा रुख दिखाते थे कि वे बहुत व्यस्त हैं और मैं वहां अवांछित पहुंच गया। यह व्यवहार मेरे ही साथ नही था, यह उनका स्वभाव था। भटनागर जी भी उनके इस प्रकार के व्यवहार के भुक्तभोगी थे । परिवार में उनकी मा थीं, पत्नी थीं, एक बच्ची थी, दो बहनें थी । वहां जाने पर सभी स्वागत-सत्कार करते थे, खिलाते-पिलाते थे। उनकी मां तो अत्यन्त वत्सला थी किंतु कुल मिलाकर वहां एक सहजता लक्षित नही होती थी क्योंकि यह पूरा परिवार अपनी ही प्रशंसा में लगा रहता था। कभी भारतेन्दु जी की प्रतिभा और शैक्षिक उपलब्धियों की चर्चा चल पड़ती, कभी बच्ची को केन्द्रित कर प्रशंसाओं का प्रवाह बहता रहता, कभी बहनों की उपलब्धियों की प्रशंसा होती । तारीफ यह थी कि एक व्यक्ति जो बात उठाता, सारा परिवार तह पर तह जमाने लगता । उस परिवार के साथ रहने का मतलब था चुपचाप उनकी आत्म-प्रशंसाओं का निरीह श्रोता बना रहना । मैं सह तो बहुत कुछ लेता हूं, इसे भी सह लेता था किंतु भीतर ही भीतर मैं इस स्थिति के साहचर्य का सुख नहीं ले पाता था बल्कि एक ऊब अनुभव करता था। किंतु मैं उनका सहकर्मी था और मेरे लिए अभी हिन्दीभाषी लोगों की दुनिया बहुत छोटी थी अतः उनके यहां जाता ही रहता था । मैंने यह अनुभव कर लिया था कि भटनागर जी और सिन्हा जी में व्यक्तिगत और विभागीय सौमनस्य नही है । भटनागर जी सीधे और खुले व्यक्ति थे और सिन्हा साहब चालाक और जटिल व्यक्ति । भटनागर जी कायस्थ होने के बावजूद नाम के साथ जुड़े सिंह (उदयसिंह) को सार्थक करते थे । इसलिए किसी भी अधिकारी या प्रोफेसर को नापसन्द करने पर या तो उससे टकरा जाते थे या उदासीन हो जाते थे। सिन्हा साहब सबसे सम्बन्ध जोड़ते रहते थे और उन पर अपनी योग्यता की धाक बैठाते रहते थे। हिन्दी न जानने वालों और हिन्दी के शिक्षण से सम्बन्ध न रखने वालों ने मुझसे सिन्हा साहब के पांडित्य की बात कही और भटनागर जी के विरोध में भी कुछ कहा। मुझे आशंका हुई कि सिन्हा साहब अपने अनुकूल और भटनागर जी के प्रतिकूल वातावरण बनाने में सक्रिय थे। मुझे अपने बारे में भी सन्देह हुआ। उसका कारण था मेरा भटनागर जी के निकट होना। मेरा स्वभाव रहा है कि मैं अपने विभागाध्यक्ष को हमेशा सहयोग देता रहा हूं, वह चाहे मुझसे जूनियर हो, चाहे सीनियर, चाहे विद्वान् हो, चाहे दुनियादार। अत: मैं भटनागर जी को पूरा सहयोग दे रहा था। दूसरी बात यह थी कि भटनागर जी ने मेरे आते ही मुझे अपने सहज स्नेह भाव से प्रभावित कर दिया था। इसका यह अर्थ नहीं था कि मैं सिन्हा

साहब का विरोधी था किंतु लगता है कि मैं भटनागर जी के साथ जोड़कर सिन्हा-विरोध में शामिल कर लिया गया था।

मैं तो यों ही इस दूर शहर में पहली बार आकर उदास रहता था, दूसरे यह शहर मेरे और परिवार के स्वास्थ्य को रास नहीं आ रहा था। हाइपर एसिडिटी मेरा पुराना रोग था किंतु मैं इसके असली रूप से परिचित नहीं था, केवल पेट का कोई रोग मानकर इसके उभरने पर पेट की गोलियां ले लिया करता था। यह क्या है? क्यों है? इसकी दवा क्या है? क्या खाना-पीना चाहिए आदि बातों से मैं बिल्कुल अनभिज्ञ था। बड़ौदा आने पर इसका भीषण प्रकोप हुआ। भटनागर जी ने सलाह दी कि डा० कुलश्रेष्ठ को दिखाऊँ। डा० कुलश्रेष्ठ उत्तर भारत के थे और बड़ौदा के राज-परिवार के डाक्टर थे। भटनागर जी मुझे लेकर वहां गये। उन्होंने देखा और बताया कि हाइपर एसिडिटी है। दवा लिखी। उस वक्त उनकी फीस पंद्रह रुपये थी किंतु मुझसे फीस नहीं ली। भटनागर जी ने बताया कि वे प्राध्यापकों से फीस नहीं लेते और उत्तर भारत के होने के नाते हिन्दी के लोगों से तो उनका खास जुड़ाव है। धीरे-धीरे उनकी दवा से लाभ हुआ और सबसे बड़ी बात यह हुई कि मुझे अपने पुराने रोग की सही जानकारी मिल गई तथा कौन-सी दवा और क्या भोजन लेना चाहिए—इसका ज्ञान हो गया।

मैं संभला भी नहीं था कि पत्नी रोग की चपेट में आ गईं। उनके पूरे शरीर में फफोले निकल आये। उन फफोलों में भयानक जलन और खुजली होती थी। पत्नी एक अकथ वेदना से गुजरने लगीं। डा० कुलश्रेष्ठ की शरण मे गये। उन्होंने देखा-दाखा और काफी दिनों में बड़ी मुश्किल से वह संभाल में आयीं।

पत्नी संभलीं नहीं कि एक भयानक समय हमारे ऊपर टूट पड़ा। दशहरे-दीवाली की लम्बी छुट्टी हो गई थी। एक लम्बा सन्नाटा हमारे बाहर-भीतर पसरा था। पढ़ाई के दिन होते थे तो कालेज आना-जाना लगा होता था, लोगों से भेंट-मुलाकात होती रहती थी और हिन्दी ऑनर्स के चार विद्यार्थियों का मेरे घर आना-जाना लगा होता था किंतु छुट्टियों में वे भी अपने-अपने गांव चले गये थे। क्वार की धूप में एक गहरी उदासी व्यापी हुई थी। अपने यहां के दशहरे की बहुत याद आ रही थी और वह याद धूप की उदासी को और गहरा कर रही थी। गांव बहुत याद आ रहा था। अलगनी पर पसरी हुई मक्के की लाल बालियां, बरसाती सीलन से मुक्त होने के लिए फैली हुई धराऊ साड़ियां दूर से अपनी महक और रंग फेंक रही थीं। अपने पूरे भीतरी-बाहरी परिवेश के साथ घर बहुत याद आ रहा था। आज तक घर से बाहर रहा, किंतु बाहर रहकर भी अपनों की गहमागहमी के बीच रहा। इन दिनों पहली बार लग रहा था कि घर से दूर हूं, घर से कटा हुआ हूं। लगा जैसे मां-बाप, भाई-भाभियों आदि की ममताभरी आंखों में हमारे लिए दर्द छलछला आया था। वे आंखें भी मेरी आंखों में उतर आई थीं।

इसी उदासी में हेमंत की बीमारी एक भयानक यातना बनकर उभरी। हमने एक दिन अनुभव किया कि हेमत का सिर बाईं ओर को झुक आया है। हेमंत बचपन से ही बहुत नाटकी रहा है। वह दूसरों की नकल करता रहा है। इसलिए हमने पहले यह समझा कि यह कमबख्त किसी की नकल करके गर्दन टेढ़ी किए हुए है। उसकी मां ने उसे पीट

भी दिया लेकिन जब दूसरे दिन उसकी गर्दन और झुक आई और बायां पांव लड़खड़ाने लगा तो हमें कुछ चिंता हुई। पास की डिस्पेंसरी में गये। वहां डा० पाठक इंचार्ज थे। वे बहुत भले डाक्टर और मनुष्य थे, हमें बहुत मानते थे। उन्होंने देखा और सुझाव दिया कि बच्चे को डा० जैन को दिखाऊ। डा० जैन बाल-रोग के विशेषज्ञ थे। मैं हेमंत को लेकर घर आया। पत्नी ने बेचैनी से पूछा, "क्या कहा डॉक्टर ने?" "उन्होंने डा० जैन को दिखाने को कहा है।" पत्नी की घबराहट और बढ़ गई। अब प्रश्न था कि पता नहीं डा० जैन की फीस क्या होगी? पास पैसे नहीं थे और शनिवार होने की वजह से 12 बजे ही बैंक बन्द हो गया था। भटनागर जी के पास गया। उनके पास भी पैसे नही थे और किसी से हम मांग भी नहीं सकते थे। पैसे मांगे जा सकने वाला सम्बन्ध और किसी से नही था। वैसे भी पैसे मांगने में मैं बहुत भीरु हूं, अभिन्न लोगों से भी बहुत मुश्किल से मांग पाता हूं और वह भी तभी जब शीघ्र वापस करने की स्थिति में अपने को पाता हूं। बच्चे की अबूझ बीमारी की व्यथा को हमारी तात्कालिक अर्थ-हीनता ने और भी भारी कर दिया। पता नही डाक्टर की क्या फीस होगी और जब मैं फीस नहीं दे पाऊंगा तो वे क्या व्यवहार करेंगे? अब जो भी हो बच्चे को तुरन्त दिखाना ही था, उसके बाद जो होगा देखा जाएगा।

बच्चे को लेकर डाक्टर के यहां गया। उन्होने विस्तार से जानकारी ली और यह बात बार-बार पूछी कि आपके खानदान मे किसी को टी० बी० तो नही थी। मेरे 'नही, नहीं' कहने पर भी वे बार-बार पूछते रहे कि सोचिए ऐसे किसी व्यक्ति के सम्पर्क में तो नहीं रहे जिसे टी० बी० रही हो। मुझे कुछ याद नही आ रहा था इसलिए इसे भी इनकार किया। बाद में घर पहुंचने पर पत्नी ने एक मित्र की याद दिलाई कि उनकी पत्नी को टी० बी० रही है और हेमंत को उस परिवार से बहुत प्यार मिला था। प्यार के साथ यह असर भी मिल गया होगा। काफी जांच-पड़ताल करने के बाद डाक्टर ने बताया कि बच्चे को पोलियो है। पोलियो का नाम सुनते ही मेरे होश उड़ गये। डाक्टर ने कहा, इसे तुरन्त अस्पताल में भरती कराइए। बच्चों के वार्ड का इंचार्ज मैं ही हूं। चिट्ठी लिख दे रहा हूं, कोई परेशानी नहीं होगी।

डाक्टर की फीस पूछी। उन्होंने बताया—पन्द्रह रुपये। मैंने साहस जुटाकर कहा, "डाक्टर साहब, मैं आज फीस नहीं दे पाऊंगा, परसों दूंगा।" वे थोड़ा अचकचाये। उन्हें कुछ अजीब-सा लगा होगा कि यह कौन आदमी उधार चिकित्सा कराने आ गया है। मैंने कहा, "डाक्टर साहब, मैं विश्वास करने योग्य व्यक्ति हूं। विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में लेक्चरर हूं। आज एकाएक आपके पास आ जाना पड़ा, न मेरे पास पैसे थे न मेरे मित्रों के पास। परसों बैंक खुलते ही आपका पैसा चुका दूंगा।"

वे लेक्चरर का नाम सुनकर आश्वस्त-से हो गये। पूछा, "कब आये हैं?"

"तीन-चार महीने पहले आया हूं।"

"कोई बात नहीं, पैसे मिल जाएंगे, बच्चे की चिन्ता कीजिये। आज ही, अभी इसे लेकर अस्पताल जाइये।"

किसी तरह गिरता-पड़ता घर पहुंचा। पत्नी बहुत बेचैनी से प्रतीक्षा कर रही

थीं। जाते ही पूछा, "क्या हुआ ?"

"पोलियो।"

"यह क्या है ?"

"एक तरह का लकवा।"

उन्होंने झपटकर हेमंत को अपनी गोद में ले लिया और भींचकर रोने लगीं। हमारे आसपास सामान्य तबकों के ही लोग रहते थे। वे जुट आये और आर्द्र कंठ से समझाने लगे, "मत रो बाई, भगवान् सब भला करेगा।" हम दोनों हेमंत को लेकर अस्पताल पहुंचे। वह तुरन्त भर्ती कर लिया गया। रात हो आई थी। हेमंत की चैकिंग शुरू हुई। उसे एक कमरे में ले जाया गया। हम लोग बाहर निष्प्राण-से बैठे उसके निकलने का इन्तजार करते रहे। जब निकला तो उसकी बुशशर्ट खून से भीगी थी। पत्नी चीख-सी उठी। नर्स ने समझाया, "रोओ मत बेन, यह तो उनकी बैकबोन से पानी निकालकर जांच की गई है।" हेमंत अचेत-सा था। उसे ले जाकर खाट पर सुलाया गया और आक्सीजन की नली उसकी नाक में लगा दी गई। हाथ-पांव भी जकड़ दिये गये। हम तो बाहर खड़े रहे। जब उसकी यह सारी गत बना दी गई तब हमें अन्दर बुलाया गया। उसे इस हालत में देखते ही हृदय चिंघाड़ उठा। पत्नी मुंह दबाकर हुबसने लगी। मैं सारी वेदना दबाकर हतप्रभ-सा खड़ा रहा, फिर बाहर आकर निढाल-सा बैठ गया। डा० जैन दिखे। "कहिए डाक्टर साहब, क्या हालत है ?"

"देखिये, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। आज की रात गुजर जाये तो कुछ कहा जा सकता है।" नर्स ने आकर कहा, "देखिये, वक्त हो गया है, आप बाहर जाइए। मिसेज मिश्रा चाहें तो ठहर सकती हैं।"

समस्या अंजू बेटी की थी। छोटी-सी बेटी को लेकर वे अस्पताल में कैसे ठहर सकती हैं और बेटी मेरे साथ रात को रहेगी नहीं। अतः तय हुआ कि पत्नी घर जाएं, मैं यहां बाहर बेंच पर सो लूगा। वे चली गईं। मैं नीचे चला आया। नर्सों से कह आया कि मैं बाहर बेंच पर रहूंगा, कोई आवश्यकता हो तो बुला लिया जाऊं।

वह कयामत की रात थी। कार्तिक के प्रथम पक्ष की कुछ भीगी हुई रात। खुले आकाश के नीचे नंगी बेंच पर मैं लेटा हुआ। नींद कहां आनी थी। लगता था अस्पताल-भर का दर्द मेरी छाती में समा गया है। दो-एक बार रोने की आवाजें सुनाई पड़ीं, लगा कोई गुजर गया है। विलाप की आवाजें लूक की तरह मुझे भीतर तक चीरतीं और अपने पीछे दहशत का भयानक सन्नाटा छोड़ती गुजर गईं। घर में जागती पत्नी के हुबसने की आवाज मेरे भीतर बज रही थी। बिटिया को छाती में दबकाए इस भयानक रात से लड़ रही होंगी। यहां मैं लड़ रहा था। जागते-जागते नींद आ जाती थी तो चौंककर जाग जाता था कि ऊपर से कोई बुरी खबर न आ रही हो। सारी रात बुरी खबरों की आशंका से लद गई थी और मैं उसे जागते-सोते ढो रहा था। आखिर रात बीती। ऊपर गया। हेमंत अभी उसी अवस्था में पड़ा था। डाक्टर की बात याद आई कि आज की रात बीत जाये तो कुछ कहा जाये। आज की रात तो बीत गई। डाक्टर दिखाई पड़े। उनसे पूछा तो बोले, "पहले से तो ठीक हालत है किंतु अभी भी कुछ कहा नहीं जा सकता।

अभी भी वह खतरे से बाहर नहीं है ।" यानी चिंता और आशंका का जो पहाड़ हमारे ऊपर लदा था वह ज्यों का त्यों लदा रहा, एक इंच नहीं सरका ।

पत्नी आईं और मैं अंजू को लिए घर चला गया । गुजरात में लोहे या बेंत की एक टोकरी मिलती है जिसे साइकिल के आगे टाग देते हैं और उसमें बच्चे को बैठा देते है । जहां चाहे जाइए, बच्चे थकते नहीं है । मैंने भी अपने बच्चों को खूब घुमाया है और इस समय तो यह टोकरी बहुत काम आ रही थी । अंजू को बैठाकर अस्पताल जाता था, घर आता था, बाजार जाता था । और कौन था देखभाल करने वाला ?

मैं कह चुका हूं कि जहां मैं था वह मोहल्ला प्रायः सामान्य लोगों का था । हमारे मकान मालिक सम्पन्न थे और कुछ पारसी-परिवार थे जिन्हें सम्पन्न कहा जा सकता था । हमारे मकान के ठीक सामने एक ग्वाला-परिवार था । परिवार गरीब था किंतु लोग बहुत अच्छे थे । उस घर मे एक जवान बेटी थी काशी जो हमारे घर से बहुत हिली-मिली थी । इस परिवार के लोग अपनी सारी मानवीय आर्द्रता हम पर उड़ेल देना चाहते थे । उसकी बगल में एक पटेल-परिवार था । मालकिन थी एक मोटी पटेलानी जो ठेठ औरत थी और उसका पति पटेल पियक्कड़ था । उसके यहा उसी तरह के यार-दोस्त आया करते थे । कभी-कभी पटेल-पटेलानी आपस मे खूब गाली-गलौज, मार-पीट करते थे । आसपास के लोग इनसे डरते थे । मुझे बड़ी घिन थी इस परिवार से । सुना था कि पटेलानी पटेल की ब्याहता बीवी नही थी । इन्हें कोई सन्तान नही थी । दिन को पत्नी अस्पताल चली गई थी । मैं घर पर अंजू बेटी को लिए-दिए कुछ घरेलू काम निबटा रहा था । पटेलानी आई । मैंने पूछा, "क्या है ?"

"अरे कुछ नही रे मास्टर, जब से तमरे बच्चे का हाल सुना है, पटेल को और मुझे नीद नही आई । भगवान् भी कैसा है कि तमेरे जैसे अच्छे लोगों को मुसीबत में डाल देता है । अरे हमेरे को सताता है तो ठीक है । हम लोग तो पापी हैं, न जाने क्या-क्या पाप करते है पण तमेरे का क्यो सताता है ?" उसकी आखें भर आई थी ।

मै विश्वास-अविश्वास के द्वन्द्व में पड़ा रहा । इस औरत के प्रति जमे हुए तिरस्कार भाव की चादर एकदम जगह-जगह से दरक उठी किन्तु उसे मैं झटककर फेंक नही सका । हम लोग पढ़ते आये है और सिद्धान्ततः इसका समर्थन भी करते है कि सफेदपोश लोग भीतर से बहुत ठंडे और निस्संग होते है और बाहर से गंदे दिखाई पड़ने वाले लोग वास्तव में भीतर से बहुत भावोष्ण और मानवीय सरोकार वाले होते है किन्तु जब इस सिद्धान्त को व्यवहार में उतारने का समय होता है तब द्विधा में पड़ जाते हैं । उनके हृदय के क्रिया-व्यापार हमारे ऊपर इतने हावी हो जाते हैं कि हम उनके अदृश्य आलोक को नही पहचान पाते । उसमें एक तो हमारे मध्यवर्गीय संस्कार बाधक होते हैं, दूसरे यह आवश्यक नहीं कि हर पिछड़े हुए आदमी में अनिवार्यतः वह आलोक हो ही । कई बार हम उनसे गुजरते हुए उनके अमानवीय क्रिया-व्यापारों के अनुभवों से भी गुजरे होते हैं । अतः हम हर समय यह निश्चय नही कर पाते कि बाहर से गंदा दीखने वाला व्यक्ति भीतर से अच्छा होगा ही ? मैं पटेल-परिवार के दृश्यों, क्रिया-व्यापारों का द्रष्टा रहा हूं और ये क्रिया-व्यापार किसी भी पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए सह्य नहीं

हो सकते और वह इनसे दूर-दूर रहने में ही अपनी प्रतिष्ठा और हित समझता है। किन्तु पटेलानी को आज नजदीक से देखकर और उसकी बातचीत से उसके अदृश्य का एक आभास पाकर मेरी तटस्थता हिल गई थी और पटेलानी को गौर से देखने लगा था।

"मास्टर, तुम इस बच्ची को हमेरे पास छोड दो, हम इसे प्यार से रखेगा और तुम बच्चे का ख्याल करो।"

उसका प्रस्ताव सुनकर मैं अजीब पसोपेश मे पड गया। बच्ची को उसके पास छोड दू ? न जाने ये उसके साथ क्या व्यवहार करे ?

"क्या सोचने लगे मास्टर ? यही न कि हम लोग गदे है, शराब पीते है, झगड़ा करते है। अरे, यह सब तो हमरा मामला है। इस बच्ची को तो देवता की तरह रखेगे।" मै कुछ नही बोला। पटेलानी ने बाहें पसार दी। मुझे डर लगा कि बच्ची उसे देखकर चिल्ला न पडे किन्तु वह उसकी गोद में चली गई। शायद उसकी निश्छल आखे पटेलानी की भीतर की निश्छलता और सोये हुए ममत्व को अधिक सहजता से पहचान गईं।

मैं थोडा निश्चिंत होकर गृह-कार्य करने लगा किन्तु फिर भी चिंता बनी हुई थी कि बच्ची को पता नही ये कैसे रखें। खाना खाकर थोडा सो लिया तो पत्नी को भेजने के लिए अस्पताल जाने की तैयारी की। बच्ची को लेने गया तो देखा—पटेल-पटेलानी बच्ची को गोदी मे लेकर नाच रहे थे। उसके हाथ मे लालीपाप था। उसे चूसती हुई पटेल-दम्पती के नाचने-गाने की लय पर खिलखिलाकर हस रही थी। मै उसे लेने गया था किन्तु उसे खुश देखकर विचार बदल दिया। पटेलानी को बोल दिया कि मैं अस्पताल जा रहा हू इसकी मां को भेजने।

"जाओ मास्टर। कोई फिकर मत करो। यह छोकरी तो हमसे थोडी ही देर में हिलमिल गयी।"

छुट्टियों के इस सन्नाटे में कोई भी साथ नही था। यदि ऑनर्स के छात्र होते तो शायद भागदौड करते और हमारे इस भयावह समय मे हमारे साझीदार होते। इस सन्नाटे में पटेल-पटेलानी का घुस आना मुझे अच्छा लगा। चलो कोई तो आया हमारे दर्द का साझीदार बनकर।

दूसरा दिन भी बीता। उसी तरह मै रात को अस्पताल के बाहर बेंच पर सोया और उसी तरह रात चिंता बनकर मेरी नीद पर सवार रही और आशकाओ की कौंध भरती रही। उसी तरह डा० जैन ने जवाब दिया कि अभी कुछ कहा नही जा सकता। फिर भी हालत कुछ बेहतर लगी, आक्सीजन की नली-बोली निकाल दी गई थी। तीसरे दिन मैं सुबह-सुबह गया तो हेमत अपने बैड पर बैठा हुआ था। उसे देखकर मै बाथरूम चला गया। वहा से वापस आने को जैसे ही मुडा, देखा—हेमन्त लगड़ी मारता हुआ, हंसता हुआ, मेरी ओर लपका आ रहा है। करुणा से मन भर आया। लपककर उसे उठा लिया और आखो मे आसू छलछला आये। सुबह-सुबह पत्नी भी घर से आ गयी। डा० जैन प्रसन्न मुद्रा में थे और हंसते हुए पत्नी से कहा—"बेन, मैं आपको दीवाली का एक बहुत बडा तोहफा देना चाहता हू।"

"वह क्या डाक्टर साहब ?"

"आपका मुन्ना। कल इसे ले जाइये और खूब खुशी के साथ दीवाली मनाइये। इतनी शुभ दीवाली आपने कभी नहीं देखी होगी।"

"देखी है डाक्टर साहब, अपने पति को भी एक बार दीवाली के आसपास ही वापस पाया है।"

"तब तो दीवाली आपके लिये बहुत शुभ त्योहार है, बधाई !"

"हम लोग आपके बहुत आभारी हैं डाक्टर साहब, किन शब्दों में धन्यवाद दें।"

"नहीं, प्रो० मिश्र, धन्यवाद की कोई जरूरत नहीं। आप नहीं समझ सकते कि एक बच्चे को उसके मां-बाप की झोली में डालकर डाक्टर को कितनी खुशी होती है। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है इस बच्चे को वापस पाकर।" हमारी आंखें खुशी और कृतज्ञता के कारण आंसुओं से भर आई थीं, बरसने लगी थीं। पांचवें दिन हेमंत को अस्पताल से छुट्टी देते समय डाक्टर ने कहा था—"देखिये प्रो० मिश्र, इस रोग के असर को दूर करने के लिए कोई दवा नहीं है। बस, जितना हो सके इसे अंडा, मांस, मछली खिलाइये, यही एकमात्र इलाज है।"

मुन्ने को वापस पाकर हमने एक नई जिन्दगी पा ली थी। पत्नी स्वयं शाकाहारी हैं, पर बच्चे के लिये मा क्या नहीं कर सकती ? उन्होंने अडा, मछली, मांस, सब कुछ पकाना शुरू कर दिया और वास्तव में उसका अच्छा प्रभाव पाया। महीना-भर मे ही हेमंत का पोलियो-प्रभाव काफी दूर हो गया और वह लाल हो गया। डाक्टर जैन ने उसे देखकर कहा—"वाह, कमाल किया मिसेज मिश्रा आपने। आज तक पोलियो से ऐसी रिकवरी नहीं देखी थी।"

38

हम तो यों ही घर से दूर इस नये शहर में आकर एक उदासी और अकेलापन अनुभव कर रहे थे, इन घटनाओं ने और भी हमें उदास और अकेला बना दिया। ऐसा नहीं है कि यहां के लोगों में हमारे प्रति कोई उदासीनता रही हो, हम जिस किसी के यहां गये, स्नेह पाया, सद्भाव पाया। लागणी या उष्मा गुजरातियों के व्यवहार की अपनी वस्तु है किन्तु जिस माहौल में रहने का मेरा संस्कार बना था, वह यहां कहां था ? किसी के घर जाओ और सद्व्यवहार पाओ इतना ही तो पर्याप्त नहीं है। आखिर किसके घर जाओ ? कितने लोग हैं जिनके घर जाया जा सकता है और गोरखपुरी या बनारसी ढंग से उनके बीच घंटों खुलकर जिया जा सकता है। यहां तो इस बात की भी सावधानी बरतनी पड़ती थी कि कहीं हमारे किसी व्यवहार से ये हमें असभ्य न समझ लें और 'हमें' का अर्थ होता है हमारे यहां के लोगों को। पड़ोस में हमारे छात्र शेख थे और एक बंगाली सज्जन थे। शेख और मुझमें उम्र का फासला था, अतः उनसे भी बहुत अनौपचारिकता नहीं हो

सकती थी। बंगाली सज्जन खुलकर, घुल-मिलकर बातें करते थे, क्योंकि उन्हें भी तो कलकत्ता छोड़ने का दर्द था किन्तु ये रेलवे में इंजीनियर जैसी कोई चीज थे अतः उन्होंने मजदूरो के साथ अपनी साहबी के अनेक रिश्ते कायम करके और अर्थोपार्जन में अपने को अधिकाधिक मशगूल करके शीघ्र ही अपने दर्द का इलाज ढूढ लिया। हां, सामने का ग्वाला-परिवार और पटेल-पटेलानी-परिवार अपनी तरह से अवश्य हमारे सुख-दुःख में शामिल था किन्तु वह हमारा वह परिवेश तो नही बन सकना था जिसमे हम अपने को डुबा दें।

इसलिए जब कोई अपनी ओर का व्यक्ति मिल जाता था तो हमारे सुख की सीमा नही रहती थी। एक दिन मै शाम को घर आया तो ज्ञात हुआ कि वृन्दावनलाल वर्मा के सुपुत्र सत्यदेव वर्मा मुझसे मिलने आए थे। भेंट न हो पाने की कचोट से मन भर गया किन्तु यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि वे कल फिर आएंगे। कल फिर आए। मैं उनकी प्रतीक्षा मे ही था। वे बहुत जिन्दादिल इन्सान के रूप मे दिखाई पड़े। उन्होंने कहा—"मै तो आपको जानता ही था, आपने पिताजी पर एम० ए० का लघु-प्रबन्ध लिखा है। मैंने उसे पढ़ा है, बहुत अच्छा लगा। किन्तु यह नहीं जानता था कि आप यहां है। पड्या जी ने कहा—'आप आए हैं तो हिन्दी विभाग के एक व्यक्ति से अवश्य मिलिए—रामदरश मिश्र से।' मैने कहा कि मै उन्हे जानता हू यदि वे वही है जिन्होने मेरे पिताजी पर एम० ए० का लघु-प्रबन्ध लिखा है। 'हा, वही है।' उन्होंने ही कहा। उन्होंने ही आपका पता बताया है। फिर मैं बहुत उत्साह से आपसे मिलने आया किन्तु भेंट न होने से दुःखी हो गया। आज मुझे लौटना था किन्तु कल भेंट न होने से आज रुकना पड़ा।"

कह नही सकता कि गृह-ममता से पीडित मेरे मन में सत्यदेव वर्मा के साहचर्य ने कितना कुछ भर दिया। थोडी देर बाद उन्होने कहा—"अब जाऊंगा, रात की गाड़ी से बम्बई जाना है।" मुझे धक्का लगा और आग्रह कर बैठा—"नही, आप आज मत जाइए, आज रात हमारे साथ रहिए। हमें बहुत अच्छा लगेगा।" वे हमारे आग्रह का सम्मान करके रुक गए। ढेर सारी बातें हुईं। बहुत देर से सोये। किन्तु जब मेरी आंख खुली तो देखा वर्माजी नहा-धोकर तैयार हैं और बूट पर पालिश कर रहे है। "अरे बहुत जल्दी जाग गए!" "हां, सुबह जल्दी उठने की आदत बन गई है।" मै बाथरूम मे गया तो देखा टब भरा हुआ है। वास्तव मे बाथरूम में नल नही था। नल बरामदे के ठीक नीचे लगा हुआ था। वहा बाल्टी भरते थे और बाल्टी उठा-उठाकर टब मे पानी डालते थे। यह काम आज हमारे उठने से पहले हो गया था। पत्नी से कहा, "देखती हो वर्मा जी ने क्या किया है?"

"क्या किया है?"

"इन्होने अच्छी मेहमाननवाजी निभाई है। सुबह उठकर मेजबान का टब भर डाला है।" वर्मा जी हल्के-हल्के मुस्करा रहे थे।

"यह क्या किया भाई साहब आपने?" पत्नी ने शर्मिन्दगी-भरे स्वर में कहा।

"अरे कुछ नहीं भाभी जी, सबेरे उठने की आदत है और उठकर बैठा तो रहूंगा

नहीं, कुछ न कुछ करूंगा ही। अब अपना काम सम्पन्न करने से भी समय नहीं कटा तो टब भी भर दिया। और आप लोग मुझे मेहमान बनाकर क्यों अपने से अलग करना चाहते है। मैं तो थोड़ी ही देर में इस परिवार का सदस्य बन गया। क्या आप लोग मेरे इस अधिकार को छीनना चाहते हैं?"

अब इस पर कोई क्या जवाब देता। मैं कृतज्ञ भाव से बोला—"ईश्वर करे आप इस परिवार के सदस्य बने रहें और हम आपके परिवार के।" वर्मा जी हमारे कुछ समय को अपने साहचर्य मे अधिक आत्मीय बनाकर बम्बई चले गये, किन्तु उनसे एक गहरा सम्बन्ध जुड़ गया। झांसी से उनका तो पत्र आया ही, आदरणीय वृन्दावनलाल वर्मा का भी पत्र आया। उन्होंने लिखा था—"मैं बहुत कृतज्ञ हूं कि मेरे पुत्र को आपके यहां इतना स्नेह मिला।"

ऐसे ही जब कोई अपनी ओर का मिल जाता था तब थोड़ी देर के लिए सन्नाटा थरथरा उठता था। त्योहार आते थे और लगता था कि वे हमें दूर से पुकार रहे हैं। हम तो अपने प्रदेश और उसके परिवेश के विविध रंगों और अनुभवों के भोक्ता थे इसलिए इस नये परिवेश मे वह हमें पुकारता-सा लगता था किन्तु हेमंत जिसने अभी उत्तर भारतीय परिवेश को बहुत थोड़ा देखा था इस नये परिवेश में उदास हो उठा था। बडौदा आने के दो-तीन दिन बाद की बात है। हम बरामदे में बैठे हुए थे। हेमंत अहकने लगा।

"क्या बात है बेटा? क्यों रो रहे हो?"

"पप्पा, मुझ यहां अच्छा नही लगता। मुझे अपना घर बुला रहा है। कहता है—मुन्ना, मुन्ना, तुम कहां हो?—लौट आओ।"

हम भीतर तक हिल गये। वास्तव में घर तो हमें भी बुला रहा था किन्तु हम किससे कहते? हेमंत के मां-बाप तो साथ थे। वह उनसे कह सकता था। लगता है हेमंत का यही सूनेपन का बोध पोलियो का संकट बन गया और हेमंत अपने-आप मे भले ही सूनापन अनुभव कर रहा हो, वह मेरे लिए तो सूनापन काटने का अच्छा साथी था। वह अपनी छोटी उम्र में ही न जाने कितना कुछ जानता और साथी का-सा संवाद करता था। एक दिन मै उसे साईकिल पर लिए जा रहा था। जाते-जाते मैंने सड़क पर थूक दिया। उसने कहा—"पप्पा, सडक पर नही थूका करते, इससे बीमारी फैलती है।" मैं लज्जित हो उठा किन्तु अपने बच्चे के इस नागरिक-बोध से मन गर्व से भर आया। जहां बड़े-बड़े लोग सडकों और जन-स्थानों को छिलकों, थूक, बलगम और घर की गन्दी चीजों से पाटते रहते हैं वहां यह तीन साल का बच्चा सहजता से अनुभव करता है कि सड़क पर थूकना नहीं चाहिए। एक दिन उसके सौन्दर्य-बोध का एक और आयाम खुला। हम बरामदे मे बैठे थे। ये हजरत मेरी बगल में थे। सामने वाली लड़की काशी कुछ काम कर रही थी। इन्होंने पुकारा—"काशी, ओ काशी, काम छोड़ो और आकर बैठो। देखो कितनी प्यारी-प्यारी चांदनी रात है।"

हम लोग हंसने लगे। काशी भी हंसती हुई आई और आकर इसकी बगल में बैठ गयी। "हां, अब ठीक है।" हेमंत ने कहा। हम फिर हंसने लगे। लेकिन मुझे आश्चर्य

हो रहा था कि यह बोध इसे कहां से मिला ?

बड़ौदा में कुछ और लोगों से परिचय हुआ था। पंड्या जी पहले कला-संकाय के डीन थे और इतिहास के प्रोफेसर थे। हिन्दी मे उनकी गहरी रुचि थी और ब्रजभाषा साहित्य में अच्छी पैठ भी थी। वे मुझे मानते थे। उनकी दृष्टि में मैं हिन्दी का समझदार प्रवक्ता था। उनमे मेरे साहित्यिक सम्वाद होते रहते थे। नंददुलारे वाजपेयी बड़ौदा आते थे तो उन्ही के यहां ठहरते थे। पता नही किन कारणों से भटनागर जी पंड्या जी और वाजपेयी जी इन दोनो से चिढ़े हुए थे और वे दोनों इनसे चिढ़े हुए थे। वाजपेयी जी का मैं सम्मान करता था किन्तु उन्होने कई-कई बार बी० एच० यू० में मेरा विरोध किया और मुझे नियुक्त नहीं होने दिया और द्विवेदी जी के प्रति अप्रीतिकर भाव रखते थे, इसलिए मैं भीतर-भीतर उनसे खिन्न था। उनके आने पर मन मे यह भाव उठा कि आते है तो आएं, जाते हैं तो जाएं, मुझे क्या लेना-देना है इस द्वेषी व्यक्ति से? अतः मैं मिलने नहीं गया। पंड्या जी मिले तो उन्होंने बताया कि वाजपेयी जी आए थे, हिन्दी विभाग का कोई व्यक्ति उनसे मिलने नही आया। आपको तो आना ही चाहिए था। "मुझे पता नहीं चला।" मैं झूठ बोल गया। बहरहाल वे दूसरी बार आए तो उनसे मिला। वे बड़े स्नेह से मिले। पिछले प्रसंगों का कोई आभास उनकी बातचीत मे नहीं उभरा। मेरे भी मन की कड़वाहट बहुत कुछ धुल गयी किन्तु यह सच्चाई तो अपनी जगह शेष रह ही गयी और रहेगी कि मुझे तो बनारस छोड़ना पड़ा और इस छोड़ने का जो सुख-दुःख मैंने झेला, उसका बहुत कुछ श्रेय उनको भी है।

भटनागर जी हिन्दी विभाग को सांस्कृतिक गतिविधियों से भी जोड़े हुए थे। हिन्दी विभाग की ओर से उनका नाटक 'जागीरदार' खेला गया। नाटक अच्छा है और तमाम सीमाओं के बीच भी अच्छे ढग से प्रस्तुत किया गया। वसंत पंचमी के अवसर पर कवि-दरबार का कार्यक्रम रखा गया जिनमे हिन्दी साहित्य के कई वरिष्ठ कवियों की भूमिका निभाते हुए छात्रों ने उनकी कविताएं पढ़ी। उद्घोषक के रूप मे मैं कार्य कर रहा था। जहां तक मुझे याद है सिन्हा जी की कोई भूमिका नही थी। सम्भवतः ये सब भी कारण थे (जिनका अनुमान मैंने बाद में लगाया) जिन्होंने मुझे भटनागर-सिन्हा-विरोध कांड मे भटनागर जी के साथ जोड़ दिया।

फागुन आ गया। मेरे प्रवासी मन को इस ऋतु में अपना गंवई परिवेश और याद आने लगा। गोरखपुर के ही एक सज्जन किसी ट्रेनिंग के सिलसिले में कुछ दिनो के लिए बड़ौदा आए थे। वे मुझसे मिलते थे। मिलते थे तो गोरखपुर के मिलने की एक अनुभूति होती थी। होली के आस-पास आये और बोले—"होली में गोरखपुर जा रहा हूं। होली के बाद आ जाऊंगा।" मुझे धक्का-सा लगा। कितना सुखी आदमी है यह कि होली में घर जा रहा है। काश, मैं भी जा पाता और साल-भर की जमी हुई जड़ उदासी झाड़ आता किन्तु मेरे भाग्य कहा? मैं तो फागुन आते ही फागुन को खोजने लगा था। रंगों से भीगे राही, उड़ते हुए फागुनी गीत, फसलों का उमड़ता यौवन, मस्त हवा में झरझराकर उड़ते हुए पत्ते, वसंत को धारण करने के लिए नंगे होते पेड़, बहुत कुछ खोज रहा था मैं। कहां हैं वे सब? कहां है फागुन? फागुन में फागुन को न पाकर मेरा मन

कितना सूना हो चला था, तिस पर यह आदमी यह समाचार लेकर आ गया कि वह होली मनाने गांव जा रहा है। उस समाचार ने मेरे सूनेपन को और दहका दिया। होली आयी। हमने अपने में रंग खेल लिए। यह अच्छा हुआ कि बिना किसी पूर्वपीठिका के होली के दिन होली आ गयी। यानी हमारे मोहल्ले के सामान्य लोगों में होली की थोड़ी हुडदंग एकाएक जाग उठी। भला हो उस बूढ़े-से सिंधी का जिसने अपने स्वांग के जीवन की एकरसता में होली की थोड़ी जान डाल दी। वह मुर्दा बनकर खाट पर सोया था और कुछ व्यक्ति खाट को कंधे पर उठाये हुए 'राम-नाम सत्य है' कहते हुए चले जा रहे थे और मुर्दा बना वह बूढ़ा बार-बार उठकर बैठ जा रहा था और विचित्र-विचित्र भंगिमाएं करने लगता था। लोग हंसते-हंसते लोट-पोट हो रहे थे। कितना अजीब था न कि एक मुर्दा कितने जिन्दा लोगों को जीवंतता प्रदान कर रहा था। होली बीत गयी लेकिन लगा कि इस बार की होली और वसन्त ऋतु बिना जिए ही चली गयी और अब तो हर साल ऐसे ही चली जाएगी, अब मैं वसंत को कभी नहीं जी पाऊंगा।

रजिस्ट्रार ज्युत्शी जी की कृपा से मुझे अध्यापक कुटीर में जगह मिल गयी। प्रसन्नता हुई। वह अच्छी जगह थी। विश्वविद्यालय के बहुत-से प्राध्यापक और रीडर यहां रहते थे। भटनागर जी भी यहां रहते थे। विश्वविद्यालय की बिल्डिंग होने की वजह से यह सस्ता भी था और प्रशस्त तथा सुन्दर भी। साल का अंत आ गया था। परीक्षाएं हो रही थीं। पहले ही वर्ष मैं परीक्षा-कार्य से लद गया। अपने यहां का परीक्षक था ही, एस० एस० सी० का भी परीक्षक बन गया और अपने-आप गुजरात विश्वविद्यालय की इंटर परीक्षा का परीक्षकत्व आ गया। इतना सारा काम अपने-आप पाकर खुशी तो हुई किन्तु सारा काम लगभग एक ही अवधि में निबटाना था। परीक्षण के अनुभव से विहीन मैं इस कार्यभार के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। एस० एस० सी० का काम ठीक एक विशेष अवधि में करना ही था। स्थानीय अध्यक्ष भटनागर जी पास ही थे, वे भी अपना काम समय से मांग रहे थे। ये सब काम पहले निबटाने पड़े। बाकी बचा गुजरात विश्वविद्यालय का काम। वही सबसे बड़ा था और उसके भी काम की अवधि पूरी होने आ रही थी। मुख्य परीक्षक की बार-बार चिट्ठियां आ रही थीं। मैंने बीमारी का बहाना बनाकर एक सप्ताह की अवधि बढ़वा ली और जम गया। सुबह चार बजे से रात दस बजे तक कापी देखता था। इस काम में एक कठिनाई आयी थी। वह यह कि इसमें एक प्रश्न अनुवाद का था—हिन्दी से गुजराती अनुवाद का। गुजराती मुझे बिलकुल नहीं आती थी। इसे कैसे देखूं? सुरेश जोशी (जो कुटीर में ही रहते थे) से अनुवाद कराया और अपनी इंटर की एक छात्रा आबान को यह काम सौंपा कि इस मॉडल अनुवाद के आधार पर तुम अनुवाद की गलतियां काटती चली जाओ, उन गलतियों के आधार पर मैं अंक देता चला गया। आबान पारसी लड़की थी—बहुत सुंदर, सुशील, प्यारी-प्यारी-सी। उसकी आवाज में अद्भुत माधुर्य और शील था। पहले मैं जिस मकान में रहता था, उसके मालिक के मकान की बगल में ही उसका मकान था। वह मेरी क्लास में भी थी और पड़ोस में भी। उसने मुझसे विनती की थी कि मैं हिन्दी में उसकी मदद कर दूं। इसलिए वह मेरे घर आया-जाया करती थी। एक तरह

से वह हमारे परिवार का अंग बन गयी थी। इसलिए उसे यह काम सौंपा था। उसने नियमित रूप से आकर बहुत निष्ठापूर्वक मेरे काम में सहायता की। आखिरी दिन के आखिरी क्षण तक साथ रहकर उसने उत्तरपुस्तिकाओं की चैकिंग भी की और उनके अंक भी चढ़वाए। जिस दिन यह काम समाप्त हुआ मैंने राहत की सांस ली और लगा कि अपने तमाम कामधाम मे लदा यह वर्ष मेरे सिर से उतर गया और कल परिवार के साथ गांव जा सकता हूं। गांव जा सकने की खुशी से रात महकती रही। रात की ऐसी महक कभी-कभी ही अनुभव होती है। तब तक आरक्षण का चक्कर नहीं चला था और भीड़ भी ऐसी नहीं होती थी। बहरहाल दूसरे दिन किसी गाड़ी से घर के लिए रवाना हो गये। हम बड़ौदा से मथुरा आये। मथुरा से छोटी लाइन की गाड़ी मे कानपुर आये। कानपुर में प्लेटफार्म पर सोये थे। पता नहीं हमें सावधान करने के लिए या कोई करिश्मा दिखाने के लिए पुलिस का एक सिपाही आया और डंडा पीटते हुए उसने पुकारा—"ऐ मुसाफिर, ऐ मुसाफिर !" हम जगें तब तक हेमंत जागकर बैठ गया था और बोला—"कहिए, क्या है ?" हमने जगकर हेमंत की लीला देखी, सिपाही कह रहा था, "अरे ई देखो इम लड़के को। यही रखवाली कर रहा है।" हेमंत कुलियों को देखकर कह उठता था—"पापा, पोलई आया।" दरअसल पोलई हमारे गांव के हरिजन थे। पिछली बार अपनी बैलगाड़ी से हमें चौरी-चौरा छोड़ने आये थे और हमारा सामान चढ़ाया-उतारा था, इसलिए हेमंत को हर कुली पोलई लगता था।

गोरखपुर पहुंचे। कुछ दिन ससुराल में रहे। फिर गांव पहुंचे। इस बार गांव नया-नया सुख दे रहा था। इसी बीच मेरे भतीजे रामनिवास की शादी तय हो गयी। शादी का दिन हमारे कालेज खुलने के बाद पड़ रहा था अत: मैं बहुत पसोपेश में था। मुझे ठीक पता नहीं था कि विश्वविद्यालय खुलने पर पहले दिन मेरी उपस्थिति अनिवार्य है कि नहीं। मेरी समझ से अनिवार्य ही थी अत: मैंने रजिस्ट्रार ज्युत्शी जी को पत्र लिखकर पूछा कि वे कोई मार्ग सुझाएं। उन्होंने उत्तर दिया—"आप अपने मित्र उदयसिंह भटनागर से सलाह लीजिये, जिनसे लेते रहे हैं।" पत्र पाकर मैं असमंजस में पड़ गया कि आखिर इस पत्र का आशय क्या है ? अपने प्रति ज्युत्शी जी के स्नेह को देखते हुए मैंने इसका यही अर्थ लिया कि रजिस्ट्रार होने की वजह से स्वयं कुछ कहना नहीं चाहते, भटनागर जी से पूछने के लिए कह रहे हैं, किन्तु भटनागर जी से पूछने के लिए मेरे पास समय नहीं था, अतः यही उचित समझा कि पहले दिन उपस्थित होकर छुट्टी लेकर चला आऊं। यही किया। बड़ौदा पहुंचा तो ज्ञात हुआ कि भटनागर जी नहीं आये हैं। फिर पता लगा कि छुट्टी के एक ओर उपस्थित होना आवश्यक है। मैं उस ओर उपस्थित था अत: इस ओर अनुपस्थित हो सकता था। व्यर्थ में ही इतनी लम्बी यात्रा की।

छुट्टी लेकर फिर पहुंच गया। रामनिवास की शादी हो गयी। शादी के बाद बड़ौदा पहुंच गया। भटनागर जी भी आ गये थे। एक दिन प्यून ने एक खत दिया। मैं उसे खोलकर पढ़ ही रहा था कि संयोग से उसी समय सिन्हा जी आ गये। मुझे तो लगता है कि यह संयोग नहीं था क्योंकि मेरे इतने सारे खत आते थे, कभी उन्हें मेरे किसी खत में रस नहीं हुआ। किन्तु इस खत को पढ़ते देख पूछ बैठे—"क्या है ?" और

झपटकर मेरे हाथ से खत लेकर पढ़ने लगे। पढ़कर सिर हिलाते हुए वापस कर दिया। खत मेरी नौकरी के कनफर्मेशन से सम्बन्धित था। उसमे मेरा प्रोबेशन पीरियड छः महीने के लिए बढा दिया गया था। पत्र पढकर मैं झल्ला उठा। मैं सीधे प्रिंसिपल के पास गया। उन्होंने कहा—"मुझे कुछ पता नही कि यह सब कैसे हुआ। मैंने आपके विपरीत कोई रिपोर्ट नही की, मैं तो आपसे बहुत प्रसन्न हूं।" डीन कंटक के पास गया। उन्होंने भी अनभिज्ञता जाहिर की। पंड्या जी तो मेरे प्रशंसक ही थे। सुनकर उन्हें भी हैरानी और पीडा हुई। अजीब बात थी कि किसी को न पता था, न किसी को मेरे प्रति असंतोष, तो फिर यह हुआ कैसे? ज्युत्शी जी से मिलने गया। मेरे प्रति उनका सहज स्नेह एक उदासीनता में बदला दिखाई पडा। उनसे पूछा तो वही जवाब—"अपने रहनुमा भटनागर जी से पूछिए।" मैं समझ गया कि इस काड के पीछे कही भटनागर जी के साथ मेरे गहरे सम्बन्धों का हाथ है। लगता है जमकर ज्युत्शी जी के कान भरे गये है। इस अपमान पर दुःखी तो था ही, एक क्रोध की लहर मेरे भीतर लहर रही थी। इच्छा होती थी यह नौकरी इन लोगों के मुह पर मारकर कहीं चला जाऊ। किन्तु जिस नौकरी के लिए इतने-इतने कष्ट झेले, उसे पाया भी तो हजार मील की दूरी पर, उसे छोड पाना इतना आसान है क्या?

किन्तु कभी-कभी चमत्कार हो जाता है और सोची हुई बात व्यवहार मे उतर आती है। इस पत्र की प्राप्ति के तीन-चार दिन बाद ही दस बजे रात को दरवाजा खटका। मैं सोने जा रहा था। दरवाजा खोला तो देखा कि एक अपरिचित सज्जन सामने खडे है। बोला, "आइए।" अन्दर आते ही उन्होंने अपना परिचय दिया, "मेरा नाम विश्वनाथ शुक्ल है। मैं डा० सतीश मिश्र का सम्बन्धी हूं। उन्होने ही आपके पास भेजा है।" डा० सतीश मिश्र इतिहास के प्रवक्ता थे, 'कुटीर' में ही रहते थे और वे मेरे तथा मेरे साहित्य के प्रशंसक थे। "कहिये, क्या सेवा करूं?" मैंने कहा।

"मैं सेंट जेवियर्स कालेज, अहमदाबाद में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष हूं। कालेज दो वर्ष पहले खुला है। वहां इस वर्ष गुजरात विश्वविद्यालय का हिन्दी मे अनुस्नातक केन्द्र खुल रहा है। केन्द्र खुलने की शर्त यह है कि विभाग में कम से कम दो व्यक्ति ऐसे हों जो एम० ए० क्लास लेने के योग्य हों। योग्यता का तात्पर्य यह है कि या तो एम० ए० में उनकी प्रथम श्रेणी हो या द्वितीय श्रेणी तथा पाच वर्ष का बी० ए० शिक्षण का अनुभव हो। मैं तो योग्य हूं किन्तु मेरे साथ जो दूसरे सज्जन हैं वे योग्य नहीं हैं। अतः किसी व्यक्ति की तलाश मे निकला हू। आपकी दृष्टि में कोई व्यक्ति हो तो बताइये।"

मैंने छूटते ही कहा—"मैं स्वयं चल सकता हू।"

"आप चल सकें तो फिर क्या कहना?"

बात की बात में सब कुछ तय हो गया। तय हुआ कि मैं परसों अहमदाबाद आकर प्रिंसिपल से मिल लूंगा और तब निश्चय करूगा। "यानी महीने-भर बाद मैं वहां आकर ज्वाइन करूंगा।"

"नहीं, महीने-भर बाद का प्रश्न ही नही है। हमें तो तत्काल चाहिये, तभी केन्द्र की अनुमति मिलेगी। आपको यहां तुरत त्यागपत्र देना होगा।"

प्रश्न यह था कि बिना मेरे त्यागपत्र दिये सेंट जेवियर्स कालेज के प्रिंसिपल नियुक्तिपत्र नही देंगे और बिना नियुक्तिपत्र पाये मैं त्यागपत्र दे दू तो बाद मे कोई गडबडी न हो जाये।

"देखिये, आप चिन्ता न कीजिये। प्रिंसिपल जो कह देंगे उसे पक्का समझिए। हिज वर्ड्स आर ऐज प्रीसियस ऐज गोल्ड।" शुक्ल जी ने मुझे आश्वस्त किया।

"ठीक है, मै परसो आऊगा।" मेरा मन तो तत्काल प्रतिशोध ले लेने के भाव से पुलकित हो रहा था। लगता था कि मेरे मन की बेचैनी समझकर ईश्वर ने ही शुक्ल जी को भेजा था।

नियत दिन अहमदाबाद पहुचा। सम्भवतः जुलाई (1957) का महीना था। स्टेशन से बस से लाल दरवाजा आया। वहा से यूनिवर्सिटी की बस पकडनी थी। टिकट लेने के लिए ज्यो ही जवाहर जैकेट की जेब मे हाथ डाला, मेरे होश उड गये। मनी बैग गायब था। अब क्या करू? दूसरी जेब मे दस पैसे थे। कडक्टर से कहा—"भाई, मेरे पास केवल दस पैसे है, मुझे जाना तो यूनिवर्सिटी है किन्तु इतने पैसे मे जहा तक का टिकट मिलता हो, काट दो। किसी ने मेरा मनी बैग उडा दिया।" कडक्टर ने टिकट देकर कहा—"जहा आपका उतरना हो वहा उतरियेगा, बीच मे उतरने की जरूरत नही।"

इस शहर मे आते ही दुःख और सुख के अनुभव साथ ही हुए। आते ही किसी ने जेब काट ली। इस शहर ने पहला स्वागत इसी तरह किया किन्तु इस कडक्टर ने उस स्वागत को काटकर इस शहर के स्वागत के दूसरे आयाम की रोशनी दिखा दी। चिन्ता थी—लौटूगा कैसे? अभी किसी से परिचय भी नही हुआ, किससे पैसे मागूगा? सुख-दुःख की मिली-जुली मानसिकता लिए मै यूनिवर्सिटी स्टैंड पर उतरा और पूछता-पाछता सेंट जेवियर्स कालेज जा पहुचा। विश्वनाथ जी मिले। उन्होने प्रिंसिपल से मिलवाया। बातचीत हुई। तय हो गया कि मै त्यागपत्र देकर दो-तीन दिन बाद यहा आ जाऊ।

विश्वनाथ जी ने स्टाफ मे सबसे परिचय कराया। श्री सी० एल० शास्त्री (संस्कृत), वारिस अलवी (उर्दू), चिम्मन भाई पटेल (अर्थशास्त्र) और बहुत-से लोग। लोगो ने बडी उष्मा के साथ मेरा स्वागत किया। मुझे यहा का माहौल अच्छा लगा। मैने सहज भाव से अपने जेब कटने की कहानी सरका दी। चिम्मन भाई ने ही लौटने के लिए दस रुपये दिए।

शाम की गाडी पकडकर बडौदा लौटना था। बस स्टैंड पर पहुचने से पहले ही जोर की बारिश आ गयी। मै एक पेड के नीचे खडा होकर भीगता रहा। भीगकर लथपथ हो गया। बारिश कम हुई तो बस पकडकर स्टेशन पहुचा। भीगे कपडो मे ही बडौदा पहुचा।

दूसरे दिन मैने त्यागपत्र दे दिया। भटनागर जी भी इस बात से प्रसन्न थे कि मुझे अपने अपमान का बदला लेने का अवसर शीघ्र ही मिल गया। उन्होने कहा, "मारिए पंडित जी त्यागपत्र इन सबो के मुह पर।" त्यागपत्र लेकर प्रिंसिपल के पास पहुचा तो वे अचकचा गये। उन्हे आश्चर्य हुआ कि क्यो यह आदमी लगी-लगायी नौकरी

छोड रहा है । कारण, मैंने प्रोबेशन का एक्सटेंशन दे रखा था । इस बात से तो वे पहले मे ही चिंतित थे । आज भी चिंता व्यक्त की—"न जाने किस कारण से प्रोबेशन को एक्सटेंड किया गया । मुझसे तो पूछा नही गया । फिर भी आपको नौकरी छोड़नी नहीं चाहिए । अब कहां जायेंगे ?"

"गांव जाऊंगा । मेरे पास खेत है, खेती करूंगा ।" झूठ बोल गया ।

"ठीक है, मै इसे रखे ले रहा हू, आप और मोचिए । मैं इसे अभी आगे नही भेजूगा ।"

"धन्यवाद सर, आपके सद्भाव के लिए, किन्तु सर, अब मुझे इम पर कुछ सोचना नही है । मै आज ही से अपने को मुक्त समझ रहा हूं ।"

आज मैं बड़ौदा छोड़ रहा था । वैसे तो अनेक कारणों से बडौदा मुझे अपने मे जोड़ न सका और एक तरह की सीलन मेरे भीतर भरता गया किन्तु आखिर साल-भर रहा, इसने मुझे पहली नौकरी दी, यहां के प्राकृतिक परिवेश ने एक आत्मीयता दी, समाज ने जीवन जीने के लिए कुछ नये तौर-तरीके दिये, एक नयी सस्कृति से पहचान कराकर मेरे मानमिक क्षितिज का विस्तार किया और कुछ लोगो के आत्मीय साहचर्य का रस दिया । इसलिए इसे छोड़ते हुए मन भर आया ।

प्यारे जू है जग की यह रीनि
विदा के समै मब कंठ लगावैं

लगा कि यह शहर भरी-भरी आंखों से मुझे जाते हुए देख रहा है । किन्तु अभी तो परिवार यही है । आधा तो मैं यही छूटा जा रहा हू । अभी तो लौटकर आऊंगा, फिर इस शहर को अतिम अलविदा कहूंगा ।

39

सेंट जेवियर्स कालेज ज्वाइन कर लिया । छात्रावास में ही एक कमरे मे मुझे रहने के लिए जगह मिली । उस कमरे में गुजराती के एक नये प्राध्यापक भी ठहरे हुए थे । दो-एक दिन विश्वनाथ जी के माथ मकान की तलाश मे घूमा ही था कि बीमार पड़ गया । बीमार पड़ते ही मुझे एक दूसरे कमरे में डाल दिया गया । तेज बुखार मे तपता रहा । कालेज के एक ब्रदर (जो मैकेनिक थे और दवा-ववा का भी काम देखते थे) मुझे देखने आये और सुई घुसेड़ गये । कोई फायदा नहीं हुआ । कमरे में अकेला मैं तपता-तड़पता रहा । लड़के आते थे, जाते थे । मैंने बड़ी मुश्किल से एक लड़के को बुलाया और कहा, फादर प्रिंसिपल से कह दो कि किसी डाक्टर को बुला दें और एनासिन या कोडोपायरिन मिल सकती है तो मंगवा दो । वह चला गया । मैं बुखार में बुत्त पड़ा रहा । हॉस्टल के कारीडोर से लड़के आते रहे, जाते रहे, उनके

मजाक का शोर उमड़ता रहा। कालेज के शोर की बजबजाहट भी आती रही और मैं अपने बुखार के गहरे ताप के साथ इसे भी झेलता रहा। खिड़की से अहमदाबाद दिखाई पड़ता रहा और मैं कल्पना करता रहा कि इन मकानों में कहां क्या होगा ? मैं इस शहर के भूगोल से बहुत थोड़ा परिचित था किन्तु बीमारी के अकेलेपन में उस शहर के मकानों को देख-देखकर कल्पना में उड़ने से कौन रोक सकता था ? वहां मुझे अब रहना है, एक शहर से ऊबकर उसमें मन रमाना है। फिलहाल तो लक्षण अच्छे नहीं दीख रहे थे। आते ही जेब कटी, बीमार पड़ा, मकान की दिक्कत हो रही है। पता नहीं यह शहर मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा ? इस कालेज में आते ही बीमार पड़ा। बीमार तो पड़ना ही था। उस दिन जाते हुए बुरी तरह भीग जो गया था और घंटों वे भीगे हुए कपड़े पहने रहा। कालेज में अभी कोई व्यापक और गहरे सम्बन्ध नहीं बन पाये थे। बन पाये होते तो यों अकेले न तड़पता। कोई न कोई आता रहता।

अकेलेपन में बुखार से तपता हुआ मैं अंड-बंड कल्पनाओं और सपनों में फंसा था कि देखा डाक्टरनुमा एक व्यक्ति कमरे में आये। बोले—"मैं डाक्टर देरासरी हूं। प्रिंसिपल का फोन गया था। यू आर प्रो० मिश्रा। है न ?"

"जी डाक्टर साहब।"

उन्होंने देखा। बताया कि फ्लू है। सुई दी, दवा दी।

फिर पूछा—"फीस कौन देगा ?"

"मैं खुद नहीं जानता डाक्टर साहब कि कालेज देगा या मैं दूंगा। आपकी फीस मिल जायेगी इतना जानता हूं।"

"आलराइट।" कहकर वे चले गये। (बाद में उनकी फीस मैंने चुकायी थी और वे एक तरह से मेरे फैमिली डाक्टर बन गये थे।)

दवा ने फायदा किया। दो दिन बाद बुखार एकदम उतर गया किन्तु कमजोरी भयानक थी। उसी बीच प्रिंसिपल साहब सी० एल० शास्त्री के साथ आये और बोले—"मिस्टर शास्त्री हैज ए गुड न्यूज फॉर यू।"

शास्त्री जी ने बताया—"मेरे विभाग में एक व्यक्ति की नियुक्ति हुई थी। उनके लिए एक मकान ले लिया गया था। उसका अग्रिम किराया दे दिया गया है किन्तु अब वे नहीं आ रहे है। अब वह मकान आपको मिल सकता है।"

मैं बहुत प्रसन्न हुआ। "तो अब मैं अपना परिवार ला सकता हूं।"

"हां-हां, क्यों नही ? अब क्या रुकावट है ?"

मैंने राहत की सांस ली। सोचा, एकदम ठीक हो जाऊं तो बड़ौदा जाकर परिवार लाऊं। तभी भटनागर साहब का तार मिला—"वाइफ ऐट लेबर।" शशांक पेट में था और नवां महीना लग गया था, कभी भी प्रसव हो सकता था। तार पाकर घबरा गया। गाड़ी के समय का पता लगाया। विश्वनाथ जी को बुलवाकर बड़ौदा जाने की बात कही और कहा कि प्रिंसिपल से कह दें कि मैं दो दिन बाद आऊंगा। एक छात्र से आटोरिक्शा बुलवाया। चला नहीं जा रहा था, पांव डगमगा रहे थे किन्तु बड़ौदा जाना ही था। पता नहीं, पत्नी किस हाल में होंगी।

धीरे-धीरे चलने लगा तो चलने की ताकत आ गई। शाम के झुटपुटे में अध्यापक कुटीर पहुंचा तो पत्नी को देखा—वे लेटी हुई थीं। मुझे देखते ही उनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकान आ गई। "कैसी हो ?"

"ठीक हूं किन्तु आप कैसे हैं ? आपको क्या हो गया था ?"

"मैं तो जब से गया बीमार रहा। फ्लू से उठकर आ रहा हूं। तुम्हारा तार मिला तो घबड़ा गया।"

"हां, दर्द उठा, लगा कि वह समय आ गया है। भटनागर जी ने घबड़ाकर तार कर दिया।" दोनों बच्चे मा के पास उदास बैठे थे। मुझे देखकर उनके चेहरों पर रौनक आ गई।

"ये बेचारे भी दो दिन से ठीक से कुछ खा-पी नहीं सके। किसी तरह खिचड़ी-उचड़ी पका लेती हूं। कभी ब्रेड मंगा लेती हू। ये खेलने भी नहीं जाते। मुझे घेरकर बैठे रहते हैं।"

"ठीक है, आज मैं खाना पकाऊंगा।"

"हां, आप बहुत भले-चंगे है न। और खाना पकाने में बेहद एक्सपर्ट भी तो है।" व्यंग्य करके वे मुसकराने लगी।

"अरे, आज तो मैं ठीक हूं। ठीक-ठाक ढग से खाना बना लूंगी।"

दूसरे दिन हम ले चलने-भर के लिए सामान पैक करते रहे। हम दोनों बीमार थे, अतः सारा सामान पैक करके ले चलने की स्थिति मे नहीं थे। तय हुआ कि शेष सामान मैं बाद में आकर ले जाऊंगा। तीसरे दिन मैंने सपरिवार बड़ौदा को अलविदा कह दिया। पास-पड़ोस के लोग निकल-निकलकर झांकने लगे। किसी ने मुंह से कहा, 'आउजो।' किसी ने आंखों से मौन भाव से कहा—'आउजो।' मैं भी मौन भाव से लोगों से, आसपास के पेड़ों, मैदानों, सडकों से मौन विदा ले रहा था और उनके 'आउजो' के उत्तर मे मानो कह रहा था कि आऊंगा तो जरूर लेकिन दूसरे रूप में।

अहमदाबाद पहुंचे तो शाम हो गई थी। सीधे सी० एल० शास्त्री के घर पहुंचे। उन्हें साथ लेकर उस मकान पर पहुचे जिसमें हमें रहना था। वह मकान एक कालेज में संस्कृत के अध्यापक मिस्टर जेतली का था। जेतली ने कहा—"यह मकान तो किसी और को देने का वायदा कर चुका हूं। आपके आदमी नही आये तो मैंने यह निर्णय लिया।" शास्त्री जी क्रुद्ध हो गये। "आपको इस पूरे महीने का एडवांस दे रखा था, आपको महीना-भर प्रतीक्षा करके ही कोई निर्णय लेना था। आपने मुझसे पूछे बिना कैसे किसी को दे दिया।"

"आज बीस तारीख है। आपके आदमी नहीं आयेंगे तो क्या मैं मकान खाली रखूंगा ?" यात्रा की थकान, बीमारी की थकान, उस पर से मकान न मिलने की थकान। हम दोनों थके-हारे से दोनों बच्चों के साथ तांगे पर बैठे थे और सोच रहे थे, अब क्या होगा ? सारा सामान लिए-दिए क्या हम सड़क पर रहेंगे ? शास्त्री जी जेतली जी से उलझे हुए थे। शास्त्री जी ने प्रस्ताव रखा कि इस महीने के अन्त तक रहने की अनुमति दे दीजिये। जेतली इसके लिए भी राजी नहीं थे। शास्त्री जी ने क्रोध में जेतली

को काफी खरी-खोटी सुनाई और झल्लाकर मुड़े—"चलिए मिश्र जी, इसने बहुत क्रूर व्यवहार किया है लेकिन मेरा घर तो है।" हम ऐसे दुःखी थे जैसे कोई भारी अपराध किया हो। कुछ भी न कहा—न अहो, न अहा। शास्त्री जी के घर गये। उनका मकान तिमजिले पर था। ऐसी हालत मे पत्नी का चढना-उतरना कितना कठिन था लेकिन करता क्या ?

शास्त्री जी के घर पर आत्मीयता मिली। उन्होंने बहुत सहज भाव मे हमे पारिवारिक स्नेह दिया किन्तु आखिर हम वहा शास्त्री जी के मेहमान बनकर तो आये नही थे। हमे अपना घर चाहिए था। वह चिंता हमे खाए जा रही थी। गहरी उदासी की मीलन भीतर भर गई थी। हम शास्त्री जी के परिवार मे सब कुछ पाकर भी खाली थे, उदास थे। हम पति-पत्नी के बीच एक डरी हुई चुप्पी छाई हुई थी। वे मेरी बीमारी के दुहराव की आशका से चिंतित थी, मैं इस हालत मे उन्हें इस तरह कष्ट पाते देखकर भीतर तक हिल उठा था। जो महिला गृहस्वामिनी रही हो, वह मेहमान के रूप मे दूसरो के घर पडी हुई इस अवस्था मे यो डरी हुई खामोशी जी रही हो, यह मेरे लिए कितना दुःखदायक था। वे आसन्न प्रसवा थी। कभी भी दर्द उठ सकता था। तब क्या होगा ? इस मकान मे लैट्रिन-बाथरूम सब नीचे ही थे। तिमजिले मे उन्हें बार-बार नीचे आना पडता था, यह और भी कष्टप्रद था।

शास्त्री जी ने चिम्मन भाई पटेल का जमानत पर जेतली को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे इस महीने के अन्त तक उस मकान मे हमे रहने देगे। वास्तव मे जेतली को डर था कि हम वहा जाकर खाली नही करेंगे। लाद-फादकर उस मकान मे गये। गये तो, लेकिन चिंता बनी रही कि सात दिन बाद क्या होगा ? वास्तव मे जेतली की इच्छा के विरुद्ध आये है अतः जेतली-परिवार सात दिनों मे ही न जाने कितनी हिकारत हम पर उड़ेल देगा। मैं फिर बीमार पड गया। मेरी शका सही हुई। एक तो वर्तमान मे जेतली-परिवार की हिकारत, दूसरे सात दिन बाद मकान छोडने की चिंता, तीसरे मेरी बीमारी, चौथे आसन्न प्रसवा पत्नी की शारीरिक और मानसिक वेदना, पाचवें बादलों की छाह से लदे दिनो का अवसाद···एक गहरे संश्लिष्ट दर्द के माहौल मे हम जी रहे थे।

यद्यपि अहमदाबाद मे हमारे सम्बन्धी भी थे (और बहुत-से लोग थे जिनसे बाद मे परिचय हुआ) किन्तु न उन्हे मेरा पता था, न हमे उनका। इन्ही दिनों एक सज्जन मेरे यहा आये। नमस्कार किया। बोले—"मेरा नाम रमाकात शर्मा है। कामर्स कालेज में हिन्दी पढाता हू। आपको पढ़ा है। किसी से सुना कि आप आये है तो आ गया। मेरा घर भी गोरखपुर जिले में ही है।" बातचीत के सिलसिले मे वे हमारे गांव के पद से सम्बन्धी निकल आये। हमारी पहली ससुराल उसी गांव में थी जहा इनकी ससुराल है। बहरहाल वे मेरी परिस्थिति से बहुत विचलित हुए। बताया—"मेरा परिवार गांव गया था, अब तक मेरा घर खाली ही था। अब परिवार आ गया है, नही तो कुछ दिन आप लोग हमारे साथ रह सकते थे।"

वे फिर बोले—"मैं आपके लिए मकान खोजूंगा लेकिन पहले जेतली से तो बात

कर लूं।" मैंने मना किया किन्तु वे नहीं माने। मुझे लेकर जेतली के घर पहुंचे। शाम के आठ-नौ बजे होंगे। हम गये तो शर्मा जी ने जेतली से सीधे कहा—"क्यों आप मिश्र जी को हैरान कर रहे हैं?" इस पर जेतली भड़क उठे। बोले, "क्या बकवास करते हो, गेट आउट।" मैंने शर्मा जी की बांह पकड़ी और खींचते हुए कहा, "चलिए यहां से।" शर्मा जी खड़े हो गये और घूरकर जेतली को देखा और मेरे खींचने पर खिंचते हुए से मेरे साथ चले आये। किन्तु लगा कि वे खाली मेरा खयाल कर मेरे साथ आ रहे हैं, उनके भीतर उथल-पुथल मची है।

मेरे साथ मेरे कमरे पर आये। मैंने कहा—"अब जाइए, देर हो रही है।" वे चले गये। किन्तु कुछ देर बाद मालूम हुआ कि वे सीधे घर नहीं गये। मेरे यहां से जेतली के यहां गये और पुकारकर कहा—"अरे प्रोफेसर जेतली, निकल घर में से, मैं तुझे गेट आउट का अर्थ बताता हूं।" शर्मा जी का गर्जन सुनकर जेतली अन्दर छिप गए और उनकी पत्नी ने उन्हें सावधान किया कि निकलना मत नहीं तो मारेगा। जेतली की सारी अकड़ गुम हो गई। शर्मा जी ललकारते रहे और वह घर में छिपकर बैठा रहा। पास-पड़ोस के लोग निकल आये। शर्मा जी ने पड़ोसियों से कहा—"देखिए, यह प्रोफेसर है, इसे इतनी तमीज नहीं है कि घर आये दो प्रोफेसरों से कैसे व्यवहार किया जाता है। संस्कृत का प्रोफेसर है, कक्षा में भारतीय संस्कृति पढाता होगा और घर आये पढ़े-लिखे लोगों को 'गेट आउट' कहता है। मैं उससे गेट आउट का अर्थ समझना चाहता हूं लेकिन निकलता ही नहीं।" पड़ोस के लोगों ने जेतली के व्यवहार के लिए क्षमायाचना की और शर्मा जी को घर वापस भेज दिया। शर्मा जी घर नहीं गये। फिर लौटकर मेरे यहां आये और सब कुछ बता गये।

शर्मा जी के व्यवहार से मुझे चोट पहुंची। इसलिए नहीं कि उनका व्यवहार अशोभन था (उनका व्यवहार तो एक स्वाभिमानी व्यक्ति के अनुकूल ही था, उचित और सुन्दर था) बल्कि इसलिए कि जेतली कहेगा—"देखिए, मैं इसीलिए मकान नहीं दे रहा था। मैं जानता था कि उत्तर भारत के लोग लड़ाकू होते हैं।" मैं जिस स्थिति और मानसिकता में जी रहा था, उसे यह प्रसंग और भी जटिल तथा विषम बना सकता था। सवेरे टहलते हुए जेतली साहब मेरी ओर आये। बोले—"देखिए, रात शर्मा जी बिला वजह मुझसे टकरा गये। मैंने ऐसा क्या किया था?"

इच्छा तो हुई इस असुन्दर व्यक्ति को ललकारकर कहूं कि आपने कुछ नहीं किया था, केवल बेहूदगी के साथ 'गेट आउट' कहा था किन्तु जिस स्थिति में था उसमें यह नहीं कह सका। कहा—"जाने दीजिए, मैं शर्मा जी के व्यवहार के लिए अपनी ओर से खेद व्यक्त करता हूं। मुझे पता नहीं था कि वे मेरे यहां से आपके यहां 'गेट आउट' का अर्थ पूछने जा रहे है।"

"अब देखिए मेरा क्या दोष? अगले महीने की पहली तारीख को प्रिंसिपल आ जायेंगी। उन्हें मैंने वायदा कर रखा है। एडवांस ले रखा है।" मुझे लगा कि जेतली जी सोच रहे हैं कि यहां आ जाने के बाद मैं कहीं समय पर मकान न छोड़ूं अतः बहाने से मुझे मेरे कर्तव्य की याद दिला रहे हैं। "चिन्ता न कीजिए जेतली साहब, मुझे चाहे

सड़क पर रहना पड़े, मैं इस महीने की अंतिम तिथि को मकान खाली कर दूंगा।"

"मेहरबानी।" कहकर वे चले गये।

इस बीच मकान की खोज होती रही, नहीं मिला। लॉ कालेज में अंगरेजी के प्राध्यापक भगवती सिंह को मेरे आने की खबर मिली तो वे भी मिलने आये। वे हमारे बनारस के साथी थे। साहित्यिक संघ मे साथ रहे। महीना बीत गया, मकान नहीं मिला। भगवती सिंह हमें अपने यहा ले गए। उनके मकान मालिक और मालकिन हमारी, विशेषतया पत्नी की दुर्दशा की बात सुनकर सहानुभूति से भर गये किन्तु उनकी सहानुभूति केवल दो दिन रही। यहां भी लैट्रिन नीचे ही थी और हम रहते थे पहली मंजिल पर। पत्नी को इस हालत में बार-बार नीचे जाना पड़ता। मकान मालिक ने पत्नी से कहा—"जितनी बार बाथरूम जाती हो पानी डाल दिया करो।" यद्यपि लैट्रिन मे नल लगा था किन्तु मकान मालकिन चाहती थीं कि साफ पानी डाला जाये। साफ पानी का नल बाउंडरी के पास था। पत्नी इस हालत में वहा से बाल्टी भरकर लानी थी और लैट्रिन में पानी डालती थी। अपनी असहायता का इतना गहरा अहसास पहले कभी नहीं हुआ था। गुजराती लोग घर, बर्तन, कमरे की सफाई का बहुत ध्यान रखते है। इसी के तहत पत्नी को इस हाल में यह सजा भोगनी पड़ रही थी किन्तु इस सफाई का दूसरा पक्ष यह था कि ये लोग स्वय स्नानघर में पेशाब करते थे। शौच के बाद खाली पानी से हाथ धो लेते थे और मटके के ऊपर रखे गिलास को मटके मे डुबा-डुबाकर एक के बाद एक पानी पीते थे, गिलास का बचा हुआ पानी मटके मे चला जाता था। यह बात मैं किसी को सम्मानित या अपमानित करने के लिए नही लिख रहा हू, सफाई अन्तर्विरोध की बात कर रहा हूं और यह भी इसलिए कि बहुत सफाईवाद कही-कहीं अमानवीय हो जाता है जिसे हम इस समय भोग रहे थे। किसी सफाईवादी मकान मालिक का किरायेदार बनने के बाद जो यातना झेलनी पड़ती है उसे बहुतो ने अनुभव किया होगा।

मेरा बुखार तो उतर गया था किन्तु कमजोरी बहुत थी। भगवती सिंह जी मकान खोज रहे थे और एक मकान देखकर आये तो बोले, "शाम को चलकर देख लीजियेगा।" मुझे प्रसन्नता हुई। शाम को पहुंचा तो एक बूढ़े सज्जन झूले पर झूलते हुए मिले। उन्हीं से भगवती सिंह की बातचीत हुई थी। उन सज्जन ने कहा कि मेरी मां ने मकान देने से मना कर दिया है। भगवती सिंह क्रोध में आ गये। बोले—"आपको शरम नहीं आती। स्वयं बूढ़े होकर कुछ निर्णय नही ले सकते। सुबह 'हां' कह दिया था और जब ये बीमारी की हालत में मकान देखने आये तो 'नहीं' कह रहे हैं और बच्चे की तरह मां का बहाना बना रहे हैं। लगता है अभी तक आप मां के आंचल में छिपकर मां का दूध पीते हैं?" वे सज्जन चुपचाप सुनते रहे और उनका मौन एक ठंडा क्रूर मौन बनकर हमें बेधता रहा। हम लौट आये।

मैं अजीब चक्रव्यूह में फंसा था। मेरा अपना बुखार, मकान न मिलने की तड़पन, आसन्न प्रसवा पत्नी की दुर्दशा तो थी ही, एक और बात मुझे भीतर तक बेचैन बनाए

हुए थी। प्रिंसिपल क्या सोचते होंगे। इस आदमी ने नौकरी शुरू की नहीं कि छुट्टियां ही छुट्टियां···। मेरे बारे में उनका क्या विचार बन रहा होगा। रमाकांत, जो हमारे लिए बहुत परेशान थे, एक दिन आये और बोले कि पास मे ही एक मकान खाली हो रहा है। मैंने बातचीत की है। चलिए, तय कर लिया जाये। वहा गये, खैर वहां भी बहुत निश्चय-अनिश्चय का दौर चला। मकान मालिक से भगवतीसिंह की कहा-सुनी भी हो गयी किन्तु अंत में मकान मिल गया। मकान क्या था—एक मकान के भीतर एक अंधेरा कमरा और किचेन था। मकान मालिक के आगन मे होकर वहा जाना पडता था। वह ऐसा स्थान था जहां किसी को बुलाने में शरम आती थी। विश्वनाथ जी एक दिन आये और बोले—"अच्छा, इसी कमरे के लिए मकान मालिक ने इतनी हुज्जत की थी और वह भी किराया साठ रुपये।" बहरहाल बेघरपन की इस यातनाप्रद यात्रा मे इस घर ने एक आश्वस्ति दी। धीरे-धीरे जिन्दगी सामान्य होने लगी। पढ़ाने भी लगा। मालूम पड़ा कि पास मे ही प्रफुल्ल मुशी का प्रसूतिगृह है। वहां पत्नी का नाम रजिस्टर्ड करवा दिया और थोड़े ही दिन बाद 17 अगस्त, 1957 को शशाक का जन्म हुआ। गोरा-चिट्टा अत्यन्त सुन्दर-सा बच्चा शशाक। यहा एक नयी बात देखी, वह यह कि प्रसूति के अधिसंख्य डाक्टर पुरुष है। उत्तर भारतीय सस्कार के लिए यह बात असह्य थी किन्तु गुजरात में यह बहुत सहज ही थी और उस परिवेश मे जो सहज थी उसे स्वीकार करने के लिए मैं लगातार अपने को तैयार करता रहा। मेरे सामने ही उत्तरप्रदेश के एक सज्जन डा० प्रफुल्ल मुशी से बहस कर रहे थे कि मैं तो अपनी पत्नी का प्रसव आपके हाथों नही कराऊंगा। किसी नर्स को यह काम सौप दीजिए।

"देखिए जी।" मुशी भाई बोले, "डाक्टर न स्त्री होता है न पुरुष, डाक्टर, डाक्टर होता है और यदि आप चाहते है कि आपकी पत्नी की देखभाल कवल नर्स करे तो कोई खतरा होगा तो मैं जिम्मेदार नही होऊंगा। और आपको लिखकर देना होगा कि आप अपने रिस्क पर उन्हें नर्स के हवाले कर रहे है।"

वे सज्जन चले गये। पता नही अपनी पत्नी को लाये कि नहीं, मगर मुझे लगा कि मुशी भाई का प्रसूतिगृह बहुत उच्चकोटि का प्रसूतिगृह है। मुंशी भाई को अपने मरीजों के लिए जूझते देखा है, उनकी सुख-सुविधा और बेहतरी की चेष्टा में लगे देखा है और तमाम मरीजों की गालियां सुनकर भी प्रकृतिस्थ रूप मे काम करते देखा है। पुरुष हुए तो क्या हुआ, यहां औरत को भरती करके निश्चित हुआ जा सकता है।

मैं अकेला-अकेला जूझ रहा था। खाना बनाता था। पत्नी के लिए दूध में मेवे डालकर पुष्टई तैयार करता था। कालेज जाता था और सारे काम करने होते थे। शशांक रात-भर जागता था। दिन को सोता था। पत्नी उसके इस क्रम से बेहद थकान अनुभव करने लगी थीं। मकान का यह भीतरी अंधेरा कमरा स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत खराब था, तिस पर मकान मालकिन की टोका-टोकी शुरू हो गयी थी। "आपके आदमी इधर से न आयें, उधर से आयें, यह मत करो, वह मत करो।" जैसे सीलन के भीतर सीलन भरती जा रही थी और मन अवसाद से लदा जा रहा था। कुल मिलाकर

अहमदाबाद-आगमन के प्रारंभिक दिनों में हमने जो कड़वा जीवन-रस पिया उसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता ।

40

स्थितियां धीरे-धीरे सामान्य हो रही थीं । सेंट जेवियर्स कालेज में अनुस्नातक केन्द्र खुल गया था । अहमदाबाद और उसके आसपास के नगरों और गावो के हाई स्कूलों मे काम कर रहे तमाम हिन्दी शिक्षक और अन्य सारे स्नातक भरभराकर प्रवेश के लिए टूट पडे और जब शिक्षण-कार्य आरंभ हुआ तो बहुत सारे विद्यार्थी परिचय मे आये । उनमें से अनेक उत्तर भारत (बिहार, यू० पी०, पंजाब, राजस्थान) के थे । अनेक विद्यार्थी मेरे लगभग हमउम्र थे । धीरे-धीरे हमारी दुनिया बड़ी होती गयी । हमारे सुख-दु ख में सहायक होने वाले लोग हमसे जुड़ते गये और अकेलेपन के सीलन-भरे सन्नाटे को फाड-कर एक नया आत्मीय अहमदाबाद उभरने लगा । पहले बैच में हमारे सम्बन्धी अवध-नारायण त्रिपाठी भी थे । इनके बड़े भाई रामअवधेश जी भी यही थे । ये लोग हमारी ससुराल के गांव के थे इसलिए हमसे वही नाता मानते थे । अवधनारायण तो हमारे साथ ढरसी के स्कूल में पढ़ भी चुके थे । किन्तु हमारे यहा आने का इन्हें ज्ञान नही था । इसलिए हमें इतने दिन तक अपना दुःख अकेले झेलना पड़ा । उम बैच में अरविन्द जोशी, अखिलेश, दीक्षित, प्राणशंकर प्रभाकर, हरीश पडित आदि अनेक ऐसे छात्र थे जो मेरे आत्मीय वृत्त में लगातार आते गये और हमारी दुनिया बडी करते गये । एम० ए० की क्लास लेने के लिए कालेजों से वरिष्ठ अध्यापक आते थे । श्री रणधीर उपाध्याय, भगवतशरण अग्रवाल, अम्बाप्रसाद शुक्ल आदि कई लोग कक्षा लेते थे । विश्वनाथ शुक्ल इंचार्ज थे । वे बहुत व्यावहारिक और प्रबन्ध-कुशल प्राध्यापक थे । कालेज के स्टाफ में भी अपनी धाक जमाये हुए थे और प्रिंसिपल डिसूजा के भी बहुत नजदीक थे । इनके अतिरिक्त अलवी, सी० एल० शास्त्री, चिम्मन भाई पटेल, मिस्टर वकील आदि अनेक प्राध्यापक कालेज में थे जो कालेज की शक्ति थे । बाद मे बाबा भाई चिम्मन त्रिवेदी, महेन्द्र दवे आदि भी आगे-पीछे आये ।

प्रिंसिपल फादर डिसूजा अंगरेजी के प्राध्यापक थे और बहुत अच्छे वक्ता, वाक्पटु तथा कुशल प्रशासक थे । उनके प्रशासन में चुस्ती तो थी ही आतंक भी था । दो साल पहले खुले हुए कालेज को बहुत तेजी के साथ ऊंचाई की ओर ले जा रहे थे । बिल्डिंग के सन्दर्भ में नये-नये निर्माण हो रहे थे और पूरे परिवेश का सुन्दरीकरण हो रहा था । कालेज बिल्डिंग और हॉस्टल के बीच की दूरी में फूलों से भरा उद्यान-सा था । कालेज के आगे की ओर भी फूलों का शृंगार था । प्रिंसिपल फादर और अन्य फादर तथा ब्रदर कालेज बिल्डिंग के ऊपरी भाग में रहते थे । प्रिंसिपल की स्मरणशक्ति अद्भुत थी । वे

प्रायः सभी छात्रों और शिक्षकों को उनके पारिवारिक इतिहास के साथ जानते थे। उनके पास सबका रेकार्ड रखने वाला एक बड़ा-सा रजिस्टर था जिसे वे मजाक में 'चित्रगुप्त नो चोपडा' (चित्रगुप्त की किताब) कहते थे। प्रिंसिपल के अथक परिश्रम से कालेज उन्नति के पथ पर अग्रसर था। पहले की अपेक्षा अच्छे छात्र आ रहे थे और बाद के वर्षों में तो वहां प्रवेश पाना बहुत कठिन हो गया। उच्च प्रतिशत अंक पाने वाले ही वहां लिए जाने लगे और रिजल्ट भी बहुत अच्छा आने लगा। खेलकूद, सांस्कृतिक गतिविधियां, सभी क्षेत्रों में यह कालेज तेजी से ऊंचे उठने लगा और देखते-देखते यह एक अत्यन्त स्पृहणीय कालेज बन गया।

बी० ए० ऑनर्स में छात्रों की अच्छी सख्या थी। नवनीत गोस्वामी, करुणेश शुक्ल आदि कई ऐसे छात्र उसमें थे जो धीरे-धीरे मेरे परिवार के अंग बन गए। और भी बहुत-से छात्र थे जो मेरे यहा आते-जाते थे। अहमदाबाद में बडौदा के विपरीत हिंदी-भाषी लोगों की एक बडी दुनिया थी जो मुझे मिल रही थी। इसलिए मेरी ऊब टूट रही थी। गुजराती परिवेश भी यहां ज्यादा अपना लगने लगा था क्योंकि बहुत-से गुजराती छात्र हिंदी के विद्यार्थी थे और वे मुझे अपने पारिवारिक वातावरण से जोड़ रहे थे। यहां का पडोसपन भी बडौदा की अपेक्षा अधिक उष्म था।

हिन्दी विभाग में हम तीन लोग थे—विश्वनाथ शुक्ल, हरिहर शुक्ल और मैं। कालेज में हरिहर शुक्ल जी मुझसे वरिष्ठ थे किन्तु एम० ए० पढ़ाने के लिए अभी योग्य नही हुए थे। कुल मिलाकर हिंदी विभाग सभी दृष्टियों से ठीक था। हममें सौमनस्य था। दोनो शुक्ल अपने-अपने ढंग से बहुत व्यावहारिक और प्रबन्ध-पटु थे। इसके विपरीत मैं था किन्तु तीसरा व्यक्ति होने के कारण प्रबन्ध-पटुता की कोई आवश्यकता मुझे नहीं पडती थी और अव्यावहारिकता का भी फिलहाल कोई खमियाजा नहीं उठाना पड़ रहा था, यद्यपि बाद में तो उठाना बहुत पड़ा। मैं कुछ निजी लोगों से ही खुलकर बात कर सकता हूं। स्टाफ की मीटिंगों में भी मैं प्रायः चुप ही रहता था, चुप ही रहता हूं। यहां चुप रहने का एक कारण और था, वह यह कि बहस प्रायः अंगरेजी में होती और मैं अंगरेजी में बातचीत तो कर सकता हूं, बहस नही। और मेरा दिमाग अनेक प्रबंधात्मक प्रशासनिक मुद्दों पर सक्रिय भी नही हो पाता, जिनकी चर्चा बैठकों में उठती रहती थी। इसलिए लोगों के बीच मेरा इमेज संभवतः एक गंभीर और सीधे-सादे आदमी का था। एक दिन मैंने विश्वनाथ जी से एक मजाक किया। विश्वनाथ जी बहुत खुश हुए और ठठाकर हंसे। मैं भी अट्टहास कर उठा। वे बोले—"इतना अच्छा और बारीक मजाक मैंने बहुत दिनों बाद सुना है। मैं तो समझता था कि आप बहुत गंभीर और सीधे-सादे आदमी हैं, आज पहली बार आपकी विनोदप्रियता और बारीकी का पता चला।" जहां मैं उनकी इस टिप्पणी से खुश हुआ, वहीं यह सोचकर तकलीफ भी हुई कि लोगों तक मेरी विशेषताएं पहुचने में इतना समय क्यों लगता है? एक ओर तो वे लोग हैं जो अपनी प्रथम उपस्थिति के समय ही अपनी सारी असली और नकली विशेषताएं एक अतिरिक्त चमक के साथ सामने वालों पर उड़ेल देते हैं, दूसरी ओर वे लोग हैं जो काफी दिन तक अपने साहचर्य में रहने वालों पर भी अपन गुणों को खोल

नहीं पाते, एक लम्बा समय ही धीरे-धीरे उसकी परतें खोलता है। मुझे लगता है कि मैं भी दूसरी श्रेणी के लोगों के बीच का एक छोटा-सा आदमी हूं। विश्वनाथ शुक्ल बहुत खुशदिल, व्यावहारिक और चालाक व्यक्ति थे। वे प्रिंसिपल के मुंहलगे भी थे। उन्होंने गुजरात विश्वविद्यालय के सभी बड़े अधिकारियों तथा गुजराती साहित्य के वरिष्ठ लेखकों से भी सम्बन्ध बना लिया था। उनकी व्यवहार-बुद्धि के कारण हिन्दी विभाग काफी तवज्जुह पा रहा था। विश्वनाथ जी से मेरी अच्छी मैत्री हो गयी। पारिवारिक सम्बन्ध भी गहराया। हम दोनों अलग-अलग स्वभाव के बावजूद एक-दूसरे को बहुत स्नेह करते थे, सहयोग देते थे और भरोसा करते थे। हरिहर जी से भी मेरा बहुत प्रिय सम्बन्ध था। हरिहर जी कालेज में मुझसे वरिष्ठ थे और मैं किसी के रास्ते में आने वाला महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति नहीं हूं, न कभी रहा। इसलिए सबसे निभ जाती रही। हरिहर जी भी एक अच्छा आदमी होने के साथ-साथ गहरी व्यवहार-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति थे। इसीलिए वे बाद में प्रिंसिपल बने और प्रिंसिपल बनकर कई कालेजों का बहुत अच्छा संचालन और विकास किया।

समग्रत: कालेज का वातावरण बहुत अच्छा था। स्टाफ में हम सभी एक-दूसरे के मित्र और सहायक थे। अहमदाबाद में मुझे एक अच्छा सामाजिक और साहित्यिक वातावरण मिला। यहां उत्तर भारतीय समाज था। इलाहाबाद बैंक के मैनेजर पांडे जी उसके संचालक थे। सामाजिक और साहित्यिक उत्सव होते रहते थे। रखियाल की मिल एरिया के कितने ही व्यक्ति हमारे छात्र बन गये थे। कभी-कभी वे भी अपने यहां के स्कूलों में होने वाले समारोहों में अतिथि बनाकर ले जाते थे। मेरे इर्द-गिर्द हिन्दी से जुड़े तमाम छात्रों का समूह घिर आया था। इसलिए धीरे-धीरे अहमदाबाद मुझे अपनेपन से जोड़ने लगा था। करुणेश बी० ए० के छात्र थे और रिची रोड पर उनकी बाजे की दूकान थी। वहां प्राय: शाम को अपनी ओर के छात्रों का जमघट लगता था। अवधनारायण, नवनीत, उनके छोटे भाई विनीत रावत, रघुनाथ भट्ट और अन्य सारे छात्रों की भीड़ जुटती थी। बाजार करने के लिए निकलता था तो मैं भी वहां जा पहुंचता था। वहां उनके बीच अच्छा लगता था। हम एक-दूसरे के सुख-दु:ख से परिचित होते थे। समस्याओं के समाधान भी होते थे।

मेरा पी-एच० डी० का रिजल्ट आ गया था। उसकी भी एक कहानी है। यों तो मुझे गत दिसम्बर में सम्पन्न होने वाले दीक्षांत समारोह में डिग्री मिल जानी चाहिए थी किन्तु नहीं मिली। मेरे शोध-प्रबन्ध के एक परीक्षक डा० केसरी नारायण शुक्ल लेनिनग्राड में थे। दीक्षान्त समारोह के दिन के आसपास जब उन्हें केबुलग्राम दिया गया तो उन्होंने जवाब दिया कि शोध-प्रबन्ध उन्हें मिला ही नहीं। यूनिवर्सिटी ने मुझे लिखा कि मैं 50 रुपये भेज दूं ताकि हवाई डाक से दुबारा शोध-प्रबन्ध भेजा जा सके। यह सब हुआ और गत मई में जब मैं गोरखपुर गया तब मौखिकी सम्पन्न हुई। उसके परिणाम की प्रतीक्षा थी। घोषित हुआ किन्तु जो डिग्री मुझे 56 में मिलनी चाहिए थी, 57 में मिल रही थी। खैर, मित्रों और छात्रों में एक उत्साह उमड़ा। एम० ए० की कक्षा में छात्रों ने मेरा अभिनंदन किया। भगवतशरण अग्रवाल स्वस्तिक कालेज में पढ़ाते थे। बाद में

एल० डी० आर्ट्स कालेज में आ गये। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में हिन्दी मे एम० ए० किया था इसलिए हमारे यहा एम० ए० की कक्षा लेने आते थे। वे कवि भी थे। पाडे जी द्वारा आयोजित समारोहो मे उन्हे कविता पढते सुना था, तभी जाना था कि वे कवि हैं। जब वे हमारे यहा क्लास लेने आने लगे, तब उनसे परिचय बढा और निरन्तर सघन होता हुआ मैत्री मे बदल गया। हम दोनो प्राय: समारोहो मे साथ जाते थे, एक-दूसरे के घर आना-जाना तो था ही। रमाकान्त शर्मा से आप परिचित हो चुके है। उन्होने तो मेरे गाढे दिनो मे मेरा साथ देकर मेरी मैत्री छीन ली थी। वे मेरे बहुत गहरे मित्र बने। रिश्ते मे तो आते ही थे। पारिवारिक सम्बन्ध भी बहुत गहरे हुए। बनारस से श्यामसुन्दर शुक्ल भी एक महिला कालेज मे आ गये थे। जगन्नाथ पाडेय भी कालेज मे पढाते थे। वे प्रतापगढ के थे। बडे मस्त और सहयोगी व्यक्ति थे।

रणधीर उपाध्याय एल० डी० आर्ट्स कालेज मे पढाते थे और राष्ट्रभाषा प्रचार सभा से गहरे जुडे थे। अहमदाबाद मे उनकी अच्छी पहुच और जगह थी। गुजराती और हिन्दी के बीच वे सेतु थे। गुजराती के सारे शीर्षस्थ और नये साहित्यकारो से उनका लगाव था। उनसे मेरा पहला परिचय हुआ तो वे अचकचा गये। बोले—"आप वे रामदरश मिश्र तो नही है जो 'कल्पना', 'राष्ट्रवाणी', 'कहानी' आदि पत्रिकाओ मे छपते है?"

मैंने सकोच से कहा — हा हू तो वही रामदरश मिश्र।"

"अरे वाह वाह वाह-वाह। क्या बात है तो आप है! वह रामदरश मिश्र? अरे, मै तो समझता था कि इतना लिखने वाला यह व्यक्ति काफी वयस्क होगा, मगर आप तो..."

"नाबालिग निकले।" मैंने जोडा।

वे ठठाकर हसे। "सचमुच, सचमुच आप कवि है? वाह-वाह!" और उनकी आखो मे, चेहरे पर तरल हसी उमड आयी थी। पास बैठे विश्वनाथ जी तथा अन्य मित्र विभिन्न भावो से वह प्रसग देख रहे थे।

एम० ए० कक्षा ठीक चलती थी। शुक्ल जी शिक्षण के अतिरिक्त विभिन्न सास्कृतिक आयोजन भी करते रहते थे। इसलिए गहमागहमी बनी रहती थी। एम० ए० कक्षा सुबह होती थी, उसके बाद कालेज की कक्षाए शुरू होती थी। यह बहुत बडी विडम्बना प्रतीत होती थी कि एम० ए० की कक्षा लेने के बाद फर्स्ट इयर बी० ए० को पढाने जाना पडता था। 'कामायनी' पढाकर उसके स्वाद मे भरा हुआ सीधे फर्स्ट इयर मे पहुचता था—कोई मामूली निबन्ध पढाने के लिए। वयस्क छात्रो के बीच चिंतन और अनुभव की गहराई में एकाग्र होने की प्रक्रिया से निकलकर मनोरजन की मुद्रा मे आये छात्र-छात्राओ के बीच थानेदारी करने जाना पडता था। उन्हें हिन्दी पढानी पडती थी जिन्हे हिन्दी की परीक्षा पास तो करनी थी किन्तु उसके साथ जिनका सहज लगाव नही था। कुछ सेक्शन अगरेजी माध्यम मे पढे लडको के थे और कुछ गुजराती माध्यम वालो के। अगरेजी वाले कानवेंटी प्रभाव मे ग्लैमरवश अगरेजी को मातृभाषा मानते है और गुजराती तो गुजराती वालो की मातृभाषा थी ही। हिन्दी के साथ किसका लगाव हो?

बहुत थोड़े विद्यार्थी थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी और जो हिन्दी को प्यार और आत्मीयता से देखते थे। हिन्दीभाषियो मे से भी बहुतेरे कानवेंटी शिक्षा से आए थे इसलिए उनमे अगरेजी के प्रभाव के बावजूद हिन्दी के प्रति एक लगाव था और वे प्यार से हिन्दी पढ़ते थे। वैसे हिन्दी अनिवार्य थी, पढनी तो सबको पडती ही थी। हा, बी० ए० ऑनर्स मे अनेक हिन्दीभाषी छात्रो के साथ अनेक गुजरातीभाषी छात्रो ने हिन्दी ली थी। एम० ए० मे तो गुजरातीभाषी छात्रो की ही सख्या अधिक थी। वे बुद्धिमान थे। वे जानते थे कि गुजराती तो उन्हें आनी ही है, हिन्दी का अतिरिक्त ज्ञान और उपाधि पाकर अपनी उपयोगिता और ज्ञान बढा लेगे और गुजरात मे तथा गुजरात के बाहर हिन्दी के कारण मिलने वाली सुविधाओ का लाभ उठा सकते है। इसलिए ऐसे अनेक छात्र मिले जो लेखन-कार्य तो करते थे गुजराती मे और व्यवसाय के लिए अपनाया हिन्दी को। यह चर्चा बाद मे होगी फिलहाल इतना ही कि एम० ए० और बी० ए० ऑनर्स की कक्षाओ के कारण मुझे अध्यापन की तृप्ति मिलती रही।

41

जिस मकान में था उसकी सकीर्णता मे ऊबा हुआ था। सेलटैक्स मे काम कर रहे मेरे एक विद्यार्थी मालवीय जी अपने विभाग के महत्त्व के कारण बहुत प्रभावशाली थे। उनकी कृपा से काकरिया मे एक मकान मिल गया। वह अच्छा मकान था, खुला हुआ था। यद्यपि पहले मकान की अपेक्षा वह कालेज से बहुत दूर था किन्तु दूरी मुझे कबूल हुई। मेरे प्रिय छात्र कांकरिया पर भी जाया करते थे। अतः आत्मीयता की रौनक वहा भी लगी रहती थी। पडोस मे कुछ बहुत अच्छे स्नेही गुजराती-परिवार थे जिनसे हमारा गहरा पारिवारिक सम्बन्ध बन गया था। पडोसी देसाई और उनकी पत्नी बीना बेन का हमे गहरा सहयोग और प्यार मिला।

कालेज दूर होने के कारण दिनचर्या थोडी कठिन हो गयी। वहा से कालेज पाच-छः मील से कम नही पडता रहा होगा। सुबह 7 बजे एम० ए० की क्लास होती थी। साइकिल से छः बजे भागना पडता था और वहा से लौटते-लौटते ढाई-तीन बज जाते थे। खूब कसकर भूख लग आती थी। गुजरात का प्रभाव मुझ पर भी पड गया था यानी यहा लोग प्रायः सुबह नाश्ता नही करते, खाली पेट चाय पीते हैं और खाना खाने के पहले तक खाली चाय पीते रहते है। मैं भी यही करता था। चाय के साथ कुछ लेना चाहिए, इसकी न चिन्ता थी न ज्ञान। इसका बडा खराब असर पडा। इसके कारण मेरी हाइपर एसिडिटी बढ गयी। यह रहस्य कई साल बाद तब खुला,जब डाक्टर ने मुझसे पूछा कि आप चाय के साथ कुछ लेते हैं कि नही ? मेरे 'नही' कहने पर उन्होने कहा—"यह तो आप अपने ऊपर बहुत ज्यादती करते हैं। एसिडिटी उसी का परिणाम है। आपको चार-चार घंटे बाद कुछ लेते रहना चाहिए और चाय की जगह दूध लेना

चाहिए।" खैर, यह तो सब बाद की बात है, फिलहाल तो खाली पेट चाय पीने का एक ही असर महसूस कर रहा था कि घर पहुंचते-पहुचते खूब भूख लग जाती थी। इस मकान मे भी हम देर तक नही रह सके। इसका कारण दूरी तो थी ही, उस मकान के एक खड मे रह रहे दूसरे किरायेदार भी थे। वास्तव मे हमने यह अनुभव किया कि मकान में यदि लैट्रिन-बाथरूम, बरामदा, आगन या इनमे से कोई चीज 'कॉमन हो तो निभनी नही है। किसी न किसी वजह से टकराहट हो ही जाती है। दोष किसी का भी हो सकता है। इस मकान मे एक बरामदा कॉमन था जिसे पहले किरायेदार ने छेका रखा था और उसका बूढा बीमार बाप वही बैठा खांसता-थूकता रहता था। मेरे कमरे का द्वार उसी बरामदे मे खुलता था। किरायेदार से कई बार कहा गया कि इन्हें अदर बैठाया कीजिए किन्तु पहला किरायेदार होने के कारण वह उस पर अधिकार जमाए बैठा था। लैट्रिन-बाथरूम भी कॉमन थे जो तरह-तरह की समस्या पैदा करते रहते थे। रह-रहकर कहा-सुनी हो जाती थी। जगन्नाथ पाडेय से मालूम पडा कि गुजरात विद्यापीठ के सामने एक नयी कालोनी बन रही है और उस कालोनी मे फिलहाल तीन-चार घर ही बने है और दो कमरे का एक फ्लैट हमे मिल सकता है। तब हम काकरिया वाला मकान छोड-कर उस मकान मे चले गये।

यह नया मकान कालेज के बहुत समीप था और जगन्नाथ पाडेय हमारे पडोसी थे। मकान के दूसरे फ्लैट मे एक झा साहब आ गए। अतः यह हमें अच्छा लगता था। मकान मालिक भी इसी मकान मे रहते थे। वे रिटायर्ड थे, अच्छे थे। बस, एक ही बात थी कि यहा बडा सुनसान था। साबरमती नदी के किनारे यह मकान था। वहा के आस-पास दूर-दूर तक मकान नही थे। यहा भी भक्ति-भवन वाला मामला था। गुजरात विद्यापीठ के पास मुख्य मार्ग छोडकर अति सुनसान मार्ग से इस मकान तक आना पडता था किन्तु कभी कुछ अवाछित नही घटा।

सुनसान का अपना सौन्दर्य होता है, इसे मैने प्राय: अनुभव किया है और यह अनुभव यहां और गहरा हो उठा था। मकान के पीछे साबरमती-तट की विषम जमीन थी—कटे हुए कगार, उनमे कही गड्ढे, कही खाई-सी बनी हुई, उनमें उगे हुए जंगली पौधे और छोटे-छोटे पेड़, तट पर फैले हुए रेत ढोने वाले लोग और उनके गदहे, बीच में नदी की बहुत पतली-सी, उथली-सी धारा, उस पार फिर वही रेत का विस्तार, इस पार और उस पार कपडे धोती औरतें, नहाते लोग, खेलते बच्चे और विस्तार के बाद कगार और कगार के पास से शुरू होते सघन मकानों के जगल, चिमनियों के धुएं। मैं नदी के किनारे खड़ा होकर देर तक उसे देखता था और कल्पना करता था, कहा से आती है यह नदी? कहा को जाती है यह नदी? यह उथली क्यों है? थोडी ही दूर पर साबरमती आश्रम है। सुन रखा था, देखा नही था किंतु उसकी महक मेरे भीतर छाई रहती थी। कभी चलकर देखूगा गाधी जी के आश्रम को। मेरा भी स्वभाव अद्भुत है। अनेक स्थानों की निकटता अनुभव करता हूं किन्तु उन्हें देखने की उतावली नही होती। लगता है उनके पास तो हू ही, कभी भी चलकर देख लूगा। कल्पना में सदा हाथ पसार-कर उन्हें छूता हुआ प्रतीत होता हूं। इसी प्रक्रिया में कभी-कभी वह शहर छूट जाता है

और वह स्थान नहीं देख पाता। यह बात स्थान तक ही सीमित नहीं, व्यक्तियों और वस्तुओं तक फैली हुई है। अतः साबरमती आश्रम की सुगंध अनुभव करता हुआ भी साल-भर तक उसे देख नहीं सका और जब बाहर से एक मित्र आये और उन्होंने आश्रम देखने-दिखाने का आग्रह किया तो उनके साथ वहां गया।

इस मकान के एक ओर के सुनसान के बाद सुल्तानपुर गांव था, दूसरी ओर सुनसान के बाद गांधी पुल और उसके पास आई० टी० आई०, आकाशवाणी भवन आदि थे। सामने की ओर गुजरात विद्यापीठ था। सुनसान के छोटे से सागर के बीच द्वीप-सा दो-तीन मकानों का यह मल्ल प्रकृति का खुला सुख भोग रहा था। अभी मकान में बिजली नहीं आई थी किंतु साबरमती की ओर से आती हुई हवाएं तो हमारे साथ थीं और सुनसान का खुलापन प्रकाश की कमी की कुछ पूर्ति कर देता था। वैसे भी हमारे पास अभी तक बिजली का पंखा नहीं था। अतः हवा के सन्दर्भ में बिजली होने के और न होने के सुख-दुःख से हम परे थे। हम तो अभी तक बिजली के पंखे के सुख से वंचित थे अतः कोई असुविधा नहीं अनुभव करते थे किंतु उन्हीं दिनों हमारे गुरु डा० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा हमारे यहां पधारे। वे विश्वविद्यालय के काम से बड़ौदा आते थे। हमारी प्रार्थना पर वहां से यहां आये। डा० शर्मा मौज-मस्ती की प्रकृति के व्यक्ति थे—अनेक सुविधाओं के बीच रहने वाले। हमारे यहां बिजली का पंखा तक नहीं। उन्होंने कहा कुछ नहीं किंतु उनकी परेशानी का मैं अनुभव करता रहा। वे अपनी परेशानी को मौन भाव से पीते रहे, यह हमें और भी बेचैन करने वाली बात थी। मैंने कहा—"पंडित जी, आप कृपा कर हमारे यहां पधारे, यह हमारे लिए कितने गौरव की बात है किंतु अभी इस मकान में बिजली नहीं लगी और आपको गर्मी की यातना झेलनी पड़ रही है यह कितनी कष्टकर बात है।" पंडित जी ने अपने मस्त अंदाज में इन बातों को टाल दिया किंतु मैंने तय किया कि बिजली की फिटिंग होते ही मैं पंखा खरीदकर लाऊंगा।

वैसे तो मेरा संसार इतना बड़ा हो गया था कि यह सुनसान भी मित्रों और शिष्यों के आने-जाने के क्रम से गुंजान रहता था किंतु यहां आकर गुजरात विद्यापीठ के लोगों से परिचय हुआ। उनमें विशेष नाम है अम्बाशंकर नागर का। उनसे परिचय बढ़ता गया। हम लोग एक-दूसरे के यहां आने-जाने लगे और परिचय मैत्रीभाव में बदलने लगा। नागर जी वहां हिन्दी पढ़ाते थे। उनके यहां रखे संगीत के साज-बाज से ज्ञात हुआ कि संगीत में भी उनकी पैठ है। नागर जी बिना इस्त्री किये खादी के मोटे कपड़े पहनते थे। मैं यह जान न पाता था कि बिना इस्त्री किये कपड़े पहनना गुजरात विद्यापीठ के परिवेश का परिणाम है या नागर जी की रुचि की सादगी का या अभाव का। बहरहाल, मैं उनकी रुचि की सादगी का ही परिणाम मानकर मन ही मन उनकी सादगी की बहुत प्रशंसा करता था। वे मुझे अपनी मीठी बातों, सौम्य दीखने वाले आचार-व्यवहार और सादे रहन-सहन से बहुत प्रभावित करते थे। कुछ दिनों बाद बड़ौदा में लेक्चरर की एक जगह निकली तो हमें (मुझे और विश्वनाथ जी को) लगा कि वहां इन्हें जाना चाहिए। नागर जी जाने में संकोच कर रहे थे किंतु हम लोगों के आग्रह से उन्होंने वहां आवेदन-पत्र दिया और ले लिए गये। नागर जी बड़ौदा चले गए

और हमसे दूर हो गए किन्तु मन से हम दोनों एक-दूसरे के और निकट आते गए।

इस वर्ष एक और घटना घटी। हा, मै इसे घटना ही कहूंगा क्योंकि इसने मेरे जीवन को दूर तक अपने से जोडा। किन्तु उस वक्त तो यह घटना नही लगी थी, शैक्षिक जीवन के कार्यक्रम का एक साधारण-सा अग लगी थी। पढाता हू, छात्र तो आते ही रहते है किंतु उस दिन मेरे घर एक ऐसा छात्र आया जिसे कभी देखा नही था। वह मेरा छात्र भी नही था। उसका हुलिया ठेठ देहाती लडके का—मोटे खद्दर का पाजामा या धोती, कुरता और टोपी। आखो मे और चेहरे पर अटट देहात की धूसरता। अपने पूरे देहातीपन मे यह लडका कुछ अतिरिक्त लग रहा था।

"आइए, बैठिए।"

वह सहज ढग से बैठ गया।

"कहिए ?"

"जी सर, मै पास के एक गाव मे आया हू। सेंट जेवियर कालेज से हिन्दी मे बी० ए० (ऑनर्स) करना चाहता हू।"

"बहुत अच्छा। नाम लिखा लिया ?"

"जी सर, नाम लिखा लिया। आपसे कालेज मे तो भेट होगी ही, किन्तु घर पर मिलने की इच्छा हुई। चला आया।"

उसके कथन मे कोई सकोच या झिझक नही थी, बल्कि सहजता और सादगी थी। उसे विश्वास था कि वह जो कर रहा है, ठीक कर रहा है और जिसके यहा आया है, वह व्यक्ति भी उसे सहज रूप मे ही लेगा।

मै इस व्यक्ति को देख रहा था—कोई बनावट नही, कोई दुराव-छिपाव नही। खालिस देहाती व्यक्तित्व, जिसमे से सीधी-सादी बेलाग और खुरदरी आत्मीयता की चमक फूट रही थी। उसकी भाषा मे भी वही आत्मीय खुरदरापन था।

"आप सोचते होगे कि क्लास मे तो भेट होती ही, यहा क्यो चले आये ? लेकिन सर, पता नही कौन-सी प्रेरणा मुझे आपके पास तक खीच लाई। सोचा, आपसे आपके घर पर मिलू—आपके परिवार से मिलू।"

"नही, आपका आना मुझे बहुत अच्छा लगा। अच्छा किया आप आये। आप मेरे लिए एकदम नये है किन्तु नये नहीं लग रहे है।"

"धन्यवाद सर, वास्तव मे आपके लिए मैं एकदम नया हो सकता हूं किन्तु आप मेरे लिए एकदम नये नही है। आपकी कुछ चीजे मैंने पढी है। मेरे हिन्दी शिक्षक भोलाभाई पटेल भी आपकी चीजें पढते रहते है और वे मुझसे चर्चा करते रहते हैं। सर, आपकी रचनाए पढकर ही हमे लगता रहा है कि आपसे मिलने मे हमे सकोच नही होगा।"

"धन्यवाद! आप गुजरात के देहात मे रहकर मेरी रचनाएं पढते रहे है यह मेरे लिए बहुत प्रसन्नता की बात है। सचमुच आपसे मिलकर बहुत अच्छा लगा। अरे हा, आपने भोलाभाई का नाम लिया था। वे तो बहुत प्रबुद्ध ज्ञात हो रहे हैं।"

"हां सर, वे भी इसी वर्ष एम० ए० करने आने वाले हैं। तब आपसे उनकी भेंट होगी।"

वह लड़का देर तक बैठा रहा। घर-द्वार की बातें होती रहीं।

"अच्छा सर, चलता हूं। आता रहूंगा।"

"हां-हां, जरूर आते रहिएगा।" वह चलने लगा तो मैंने कहा, "अरे, इतनी बातें हो गईं, आपका नाम तो पूछा ही नहीं।"

"रघुवीर।"

हां, मैं रघुवीर चौधरी की बात कर रहा था। वे एक बार मेरे साथ, बल्कि मेरे परिवार के साथ जुड़े तो जुड़ते ही चले गये और उसके अभिन्न अंग बन गये। मेरा सुख-दुःख उनका सुख-दुःख बन गया। मेरे उत्कर्ष का आनन्द और संकट की यातना उनका आनन्द और यातना बन गयी।

सेंट जेवियर कालेज मे मेरा यह दूसरा साल था और इस साल के अन्त में ही जेवियर छोड़कर नवसारी चला गया किंतु एक ही साल में रघुवीर मेरे साथ गहराई से जुड़ गए। रघुवीर तेज छात्र थे। उनकी तेजी उन्हें कक्षा की बनी-बनायी पद्धति में फिट नहीं होने देती थी। कक्षा मे अध्यापक प्रायः नोट लिखाते थे। रघुवीर चुपचाप बैठे रहते थे। अध्यापक डांटते थे—"बैठे क्यों हो, लिखते क्यों नही?"

"सर, लिखने लायक कोई बात हो तो लिखूं। ये बातें तो हमें नोटबुकों मे मिल जाएंगी। मैं तो कुछ नयी बात जानना चाहता हूं।"

"अच्छा-अच्छा, आप अपने को बहुत तीसमार खां समझते हैं, लेकिन ये ही बातें इम्तहान मे काम आएंगी। इम्तहान में भी बैठे रहिएगा नयी बात खोजते हुए।"

रघुवीर या तो निरुद्वेग भाव से बैठे रहते या ऐसी कोई बात कह देते जिससे शिक्षक की गुरुता आहत हो जाती। इसलिए प्रायः शिक्षक उनसे रुष्ट रहते, उन्हें उद्दण्ड और अशालीन कहते और प्रायः मेरे सामने कहते क्योंकि वे जानते थे कि रघुवीर मेरे बहुत निकट है। मैं या तो चुप रहता या उन्हें समझाता कि 'रघुवीर मुझे तो ऐसे नहीं लगते।' और बात सही थी।

रघुवीर उद्दंड या अशालीन कतई नहीं थे। वे सच को छिपाने की कला नहीं जानते थे। उसे बहुत बेलाग ढंग से व्यक्त कर देते थे। गलत बात (जो उन्हें गलत लगती थी) को सहन नहीं कर पाते थे, उसका खुला प्रतिवाद कर देते थे। वे किसी को आहत करने के लिए कोई कार्य नही करते थे, वे अपने सच की अभिव्यक्ति के लिए कार्य करते थे। इसलिए आहत होने वाले लोग आहत उनकी उद्दण्डता से नहीं, सच की अभिव्यक्ति से होते थे। अन्यथा रघुवीर में अपने गुरुओं, सहपाठियों और मनुष्य मात्र के लिए गहरा इन्सानी प्यार था। वे सबके सुख-दुःख में साथ देने वाले व्यक्ति थे। चूंकि रघुवीर को केवल छात्र के रूप में नहीं, बल्कि निकट के एक व्यक्ति के रूप में जानने का मुझे अवसर मिला था अतः मैं उनके असली रूप को जानता था कि बहुत गुरुभक्ति दिखाने वाले, श्रद्धा से विगलित होकर नाटकीय मुद्रा से गुरुओं के पांवों पर लोट जाने वाले छात्रों की अपेक्षा उद्दंड और खुरदरे कहे जाने वाले रघुवीर ज्यादा गुरु-भक्त थे।

42

गर्मी की छुट्टियों में साले की शादी पड़ी। पत्नी गोरखपुर चली गईं। मैं अकेला रह गया। वैसे तो अकेला पड़ गया किंतु अकेला भी कहां पड़ा। प्रायः अरविन्द जोशी, नवनीत गोस्वामी, करुणेश शुक्ल, अवधनारायण त्रिपाठी आते ही रहते थे। शाम को कोई न कोई मेरे साथ घूमने निकलता था। पड़ोस मे पांडे जी थे ही, फिर भी बाहरी दुनिया की गहमागहमी मेरे साथ चाहे कितनी ही क्यों न हो, परिवार की अनुपस्थिति में मैं बहुत अकेला हो जाता हूं। परिवार मेरी बहुत बड़ी कमजोरी है। पत्नी गईं तो न कोई चिट्ठी न पत्री। महीना गुजर गया। मेरी चिन्ता बढ़ गई कि आखिर हुआ क्या? हर गाड़ी के समय उनके आने की आशा में मेरी आंखें रास्ते पर बिछ जाती और एक अरसे के बाद अपने में निराश लौट आतीं। आखिर हुआ क्या? वे सही-सलामत गोरखपुर पहुंचीं भी कि नहीं? मेरे तारों का भी कोई जवाब नहीं। आशा, चिंता और क्रोध की एक संश्लिष्ट अनुभूति ने मुझे इतना बेचैन कर दिया कि मुझे बुखार आ गया।

कमरे में अकेला लेटा था। बुखार आया और मेरे साथ हो लिया। वह मुझे अपने में कसता चला गया। मैं कराहने लगा। कोई आगे न पीछे। बगल के कमरे में झा साहब का परिवार रहता था। उन्हें सूचित करने के लिए मैं और जोर-जोर से कराहने लगा। घंटों कराहता रहा लेकिन मेरी कराह किवाड़ के उस पार नहीं पहुंची। उस जलती व्यथा में भी सोचने लगा कितने बहरे लोग है ये। इन्हें यह जानने की उत्सुकता भी नही हो रही है कि कमरे में कौन जोर-जोर से कराह रहा है। दो घण्टे बाद मैं झा के नौकर का नाम लेकर पुकारने लगा। अब उन लोगो को मेरे वजूद का पता चला। पांडे जी को बुलाया। दवा मंगवाई। सयोग यह कि हमारे यहां नियमित आने वाले लोगो मे दो-तीन दिन तक कोई नही आया।

बुखार उतर गया था। उस दिन नवनीत गोस्वामी आ गये। मेरी हालत पर उन्हें अफसोस हुआ और इससे अधिक अफसोस इस बात पर हुआ कि वे इस बीच आये नही। आज खाना खाने की इच्छा हो रही थी। नवनीत ने कहा—"सर, मैं कुछ बनाता हूं, क्या खाइएगा?"

"खिचडी।" मैंने कहा।

नवनीत ने बड़े प्रेम से खिचड़ी बनायी और जैसे ही मैंने पहला कौर मुह में डाला, सांस टंगी की टंगी रह गयी।

"क्या हुआ सर?"

"नवनीत, तुम्हारे प्यार में मिर्च बहुत पड़ गयी है।"

"सर, मैंने मिर्च की छौंक लगायी थी।"

"अरे भाई, बीमार आदमी का पथ्य बना रहे थे, मिर्च तो नहीं डालनी थी।"

"सर, मिर्च की छौंक के बिना स्वादिष्ट खिचड़ी कैसे बन सकती है।"

"अरे भाई, तुम मुझे स्वादिष्ट खिचड़ी खिला रहे थे कि एक बीमार को पथ्य दे रहे थे।"

बहरहाल खिचडी छोड़ दी। नवनीत बहुत दुखी हुए और दुबारा सादी खिचड़ी बनायी। बाद में हम दोनों इस प्रसंग पर खूब हंसते थे।

फिर तो और शिष्य भी आ गये और सबको दुःख हुआ कि वे मेरी बीमारी में नहीं आ सके और मुझे अकेले इतनी यातना झेलनी पड़ी। एक दिन बिना किसी सूचना के श्रीमती जी भी आ गयीं। उन्हें सही सलामत देखकर चिंता तो दूर हुई किन्तु उनकी पत्र-विषयक उदासीनता को लेकर जो क्रोध मेरे भीतर जमा हुआ था, वह भी व्यक्त होने से नहीं रह सका।

मैं अध्यापक हूं तो अध्यापक के कर्म का पूरा निर्वाह करने का प्रयत्न करता रहा। यानी नियमित रूप से कक्षाएं लेकर छात्रों को अपनी शक्ति-भर सामग्री देता रहा। कक्षा मे पाठ्य-क्रम मे सम्मिलित पुस्तको और विषयों को पढाने मे जिस एकाग्रता और श्रम की आवश्यकता होती है उसमे मैंने प्रमाद नही किया किन्तु अध्यापक के साथ-साथ एक कवि और लेखक होने के कारण मैं कक्षा के बाहर अपने छात्रो से रचनात्मक सम्बन्धों मे जुडना चाहता रहा हूं। अतः जो छात्र रचनात्मक प्रतिभा और रुझान के रहे हैं वे कक्षा के अतिरिक्त समय मे भी मुझसे जुड़ते रहे है और मैं भी उनसे जुडता रहा हूं। अतः प्रायः मेरे घर काव्य और विचार-गोष्ठिया होती रही। कभी-कभी मित्र और शिष्य भी अपने यहां गोष्ठियां रखते थे यानी गोष्ठियो का क्रम चलता रहता था।

गोष्ठियो के अतिरिक्त साहित्यिक सभाएं भी होती थी। वैसे उत्तर भारतीय समाज और भिन्न-भिन्न कालेजो के हिन्दी विभाग सांस्कृतिक पर्वों पर तथा विशिष्ट लेखकों की जयंतियों के अवसरो पर साहित्यिक आयोजन रखते रहते थे किन्तु सबसे अधिक प्रभावी संस्था थी करुणेश शुक्ल की। अखडानद हॉल मे इस संस्था (नाम याद नही आ रहा) की प्रायः महीने मे एक सभा हो ही जाती थी। इस सस्था का कोई औपचारिक रूप नही था। करुणेश जी इसके संयोजक थे और उन्होने मुझे अध्यक्ष बना रखा था। इसके साथ पैसे और पद की कोई औपचारिकता नही जुडी थी। करुणेश जी सब अपने पुरुषार्थ से सम्पन्न करते थे। उनके इस काम मे उनके अभिन्न मित्र अवधनारायण त्रिपाठी, नवनीत गोस्वामी, उनके अनुज विनीत गोस्वामी और रखियाल इलाके के अनेक शिक्षक मित्र सहयोग करते थे। निमत्रण जबानी बंट जाते थे और हर सभा मे अच्छी-खासी भीड हो जाती थी। हिन्दी के लेखको और विद्वानो के अतिरिक्त उर्दू, गुजराती और अंगरेजी के विद्वानो के भी भाषण होते थे। वह एक जीवंत संस्था थी जो हिन्दी के छात्रो, अध्यापको और लेखको मे एक रचनात्मक उत्साह पैदा किये हुए थी। जब तक मैं गुजरात मे था यह सस्था सक्रिय रही, मेरे वहा से आने के बाद क्या हुआ पता नही। आशा है, करुणेश शुक्ल की सक्रियता मे यह सस्था बहुत बाद तक सक्रिय बनी रही होगी।

यह नयी कविता का दौर था। गुजराती मे भी नयी कविता लिखी जा रही थी। अभी तक गुजराती साहित्य से मैं बहुत परिचित नही हो पाया था किन्तु भाषा और साहित्य दोनों से एक सामान्य परिचय अवश्य बन गया था। पोस्टर पढ़-पढ़कर गुजराती लिपि सीख गया था और बहुत-से शब्द भी जान गया था। साहित्य मे उमाशंकर

जोशी के नाम से पहले से ही परिचित था; गुजरात में आकर और भी जान गया था। बड़ौदा में सुरेश जोशी से परिचित हो चुका था। गुजरात में रह रहे हिन्दी मित्रो और शिष्यो के माध्यम से निरजन भगत, प्रियकात मणियार, राजेन्द्र शाह और अन्य अनेक नामो से परिचित हो गया था किन्तु मै व्यक्तिगत रूप से सुरेश जोशी को छोडकर अन्य किसी कवि या लेखक से परिचित नही हो सका था। इसका कारण मेरा सकोची स्वभाव है। उमाशंकर जोशी को रोज अपने कालेज के सामने से छाता लगाए हुए भाषा भवन जाते देखता था। वे भाषा साहित्य भवन के निदेशक थे। सामने पड गए तो नमस्कार भी कर लेता था किन्तु उनसे परिचय नही हो पाया। उनसे परिचय की एक ललक मेरे मन में महकती रहती थी। विश्वनाथ जी अपने स्वभाव के अनुसार उनसे परिचित हो चुके थे। कुछ और भी नाम उस समय गुजराती भाषा के साहित्यिक और शैक्षिक क्षेत्र मे चर्चित थे—यशवत शुक्ल, झीना भाई, 'स्नह रश्मि', एम० आर० भट्ट आदि। ये लोग साहित्यकार तो थे ही कालेज या स्कूल के प्राचार्य भी थे। शुक्ल जी इनमे भी परिचित थे और मैं अपरिचित। ऐसा नही है कि मुझे इनमे परिचय की आकांक्षा न रही हो। थी, परन्तु इनसे मिलने-जुलने का कोई आधार तो चाहिए था। खाली किसी से मिलने और परिचय करने के लिए मैं हाथ जोडे हुए कही भी नही जा पाता। कुछ प्रसंगों मे मिलते-जुलते लोगों मे सहज ही परिचय बनता चला जाता है तो अच्छा लगता है। गुजराती के इन साहित्यकारों से भी मेरा परिचय हुआ और उमाशंकर जोशी का तो मैं बहुत स्नेहभाजन बन गया किन्तु एकाएक नही, धीरे-धीरे। और इन लोगो ने भी मुझे धीरे-धीरे मेरी कुछ विशेषताओ के आधार पर जा जाना वह जानना टिकाऊ हुआ। उस जानने मे मेरे प्रति स्नेह था और मेरी अस्मिता के प्रति स्वीकार का भाव।

लेकिन जो गुजराती साहित्यकार मित्र मेरे साथ शिक्षक थे या किसी दूसरे कालेज मे शिक्षक थे और हिन्दी के शिक्षको के माध्यम से मेरे साहित्य के बारे मे सुनते थे, उनसे मेरा परिचय बड़े सहज भाव मे हो जाता था। उनसे मै कविताए सुनता था, उन्हे सुनाता था और समग्र भाव से हिन्दी और गुजराती कविता के एक खुले बड़े परिवेश में जी रहा था।

कह चुका हूं मकान सूने में था और हमारे पास न पंखा था, न मकान में बिजली। इसलिए गर्मियो में हम लोग बाहर ही सोते थे। मकान मालिक का पूरा परिवार अंदर ही सोता था। चारों ओर फैले हुए सुनसान के बीच बाहर सोना कम खतरनाक नही था किन्तु एक तो भीतर सोना संभव नही था, दूसरे हमें गर्मियों में बाहर (वह सुनसान ही क्यों न हो) सोने की आदत बन गयी थी। सबसे बड़ी चिंता तो तब होती थी जब मैं बाहर जाता था। तब भी पत्नी बच्चों के साथ बाहर ही सोती थी। हां, मेरी खाट पर वे तकिया-वकिया लगाकर चादर उढ़ा देती थी और मेरे वहां होने का भ्रम पैदा करती थीं। वैसे वे बहुत निर्भीक महिला है। आपदाओं और खतरो से लड़ने से वे घबराती नहीं हैं। भक्ति-भवन (बनारस) में भी कई बार वे अकेली रह जाती थीं और बंगलों से चोरों की आंखें घूरती थी, कभी किवाड़ों पर ठकठकाहट होती थी तो

वे मुझे ऐसे पुकारती थीं जैसे मैं दूसरे कमरे में सोया होऊं। फिर चोर धीरे से सरक जाते थे। कई बार तरह-तरह के खतरों ने उन्हें घेरा किन्तु उनकी बुद्धि उनसे निकलने का रास्ता खोज लेती थी और यों भी किसी के सामने डर से भीगी बिल्ली कभी नहीं बनीं, तन जाती हैं, चाहे जान चली जाये। इसलिए वे मेरे न रहने पर भी आत्मविश्वास के साथ बाहर सोती थीं। वैसे यहां कभी कोई खतरा उपस्थित नहीं हुआ। गुजरात का माहौल शांत और सुरक्षित है। अपवादों को छोड दिया जाए तो यहां स्त्री की अस्मत, धन, जान सभी की सुरक्षा है। कितनी भी रात को स्त्रियां लौट रही हैं, उन्हें डर नहीं है। कोई रास्ते में चाकू की नोक पर आपको लूटने के लिए तैयार नहीं मिलेगा, किराने के दूकानदार के यहां आर्डर देकर घर आ जाइये, ठीक नाप-तौल के साथ चीज आपके घर पहुंच जायेगी और आप किसी भी मुसीबत में पड़िये, आपके पड़ोसी आपकी मदद के लिए आ जायेंगे। साल-भर मे ही हमने इस नये परिवेश की इस सुन्दरता का अनुभव कर लिया था।

43

बरसात आ गयी थी। इस साल पानी अच्छा बरस रहा था। एक रात सोने में साबरमती की उद्दाम घरघराहट सुनायी पडने लगी। एकाएक क्या हो गया साबरमती को? सबेरे उठकर देखा तो साबरमती उफनती आ रही थी। रेत के चोड़े पाटो के बीच पतली रेखा-सी सरकती साबरमती में उन्मुक्त उफान आ गया था। रेत के पाट तो कब के डूब चुके थे, अब तो वह निचाई पर बसे झोंपड़ों और मकानों को निगलती हुई ऊंचे-ऊंचे कगारों को लांघने के लिए पागल हो रही थी। किनारे की बस्तियां भय से कांप रही थी। हमारे मकान की ओर के तट बहुत ऊंचे थे और उस पार की ओर के तट अपेक्षाकृत नीचे थे। हमें यह भय नही था कि साबरमती अपने ऊंचे कगारों को लांघकर हमारे घरों तक पहुंच जायेगी। इसलिए हम इस भय से मुक्त होकर तट पर खड़े होकर, बैठकर साबरमती के प्लावन का दृश्य देख रहे थे। मेला-सा लग रहा था। तमाम लोग साबरमती के उन्मत्त क्रोध का दृश्य देखने के लिए एकत्र हो गये थे। पानी हरहराता हुआ वेग से दौड रहा था। लहरें बडी-बड़ी चट्टानों की तरह उठती थीं, गिरती थीं। बड़े-बड़े पेड़, झोंपडियां, जानवर बहते जा रहे थे। पेड़ ऊपर-नीचे होते थे तो बड़ा भयानक दृश्य होता था जैसे कोई उन्मुक्त कुंतला डायन पानी मे ऊपर-नीचे हो रही हो। रघुवीर भी आ गये थे और साथ खड़े थे। कभी-कभी कोई आदमी इस हरहराते प्लावन में भी घुसकर कोई बहती हुई लकड़ी खींच लाता था और सिद्ध करता था कि प्रकृति कितनी ही दुर्धर्ष क्यो न हो, मनुष्य को अपने अगम क्षेत्र में आने से रोक नहीं सकती।

पानी बढ़ता ही जा रहा था। अभी तक तो हम धारा के भीषण खेल को एक द्रष्टा की तरह देख रहे थे किन्तु उसके निरन्तर उफनते रूप को देखकर डर लगने लगा कि कहीं इसके भोक्ता न बन जायें। रात को सोये तो चौंक-चौंककर जागते रहे। भादों की काली रात की गाढ़ी छाया के नीचे साबरमती की घरघराहट सुनते रहे और कल्पना करते रहे कि वह हमारी ओर बढ़ी आ रही है। यदि घर तक आ गयी तो कहां जाएंगे ? मकान तो एक मंजिला है। दुश्चिंता में फंसी, टूटती-जुड़ती नींद का भार ढोते हुए रात कटी तो सबसे पहले नदी की ओर दृष्टि गयी। यह देखकर संतोष हुआ कि नदी का जल अपना उफान खींचकर नीचे उतर रहा था। देखते-देखते काफी नीचे उतर गया। साबरमती कितनी भावुक नदी है—उत्तेजना में फनफना उठी और दूसरे ही क्षण उत्तेजना शांत होने पर सहज हो गयी। नदी धीरे-धीरे फिर काफी नीचे उतरकर बहने लगी और किनारे पर धीरे-धीरे रेत फैलने लगी।

मैं आभारी हूं अपने इस मकान का जो मेरे और प्रकृति के बीच महानगर की दीवार बनकर नहीं खड़ा था, बल्कि वह आश्रय था जिसकी छांह में खड़ा होकर मैं प्रकृति के विविध रूपों को जीता हुआ उससे अपना क्रमागत तादात्म्य बनाये रख सका। चारों ओर के खुलेपन में हर ऋतु, हर मौसम अपने को खोलता हुआ फैल जाता था और अपने साथ बने मेरे अनुभवों को लगातार ताजा करता रहता था। उनये-उनये बादलों का साबरमती के जल के ऊपर बरसना कितना सुंदर लगता था। लगता था जैसे बादलों और साबरमती के बीच जल का संगीत मूर्त हो उठा हो। इस संगीत में ठंडी पुरवा हवा में बजता पेड़ों का संगीत मिलकर एक रागचक्र की सृष्टि करता था। भीगे आकाश में उडते बगुलों और सारसों के श्वेत पंखों की गति और पेड़ों की धुली हरीतिमा के बीच से उठती पपीहों की पुकार, मोरों की पिहुक से यह रागचक्र और भी वर्तुल और सघन हो उठता था। बिजली चमकती थी तो ऊंचे-ऊंचे घरों के पीछे लुप्त नहीं हो जाती थी, बल्कि सामने नदी के मीलों खुले हुए विस्तार मे अपनी आभा-लिपि अंकित कर जाती थी और चिमनियों तथा व्यवसाय के इस महानगर में भी मैं प्रकृति का यह राग जीता रहता था।

बरसात बीत गयी। शरद् ऋतु आ गयी। शरद् वैसे तो अपने-आप में बड़ी प्यारी ऋतु है, सब जगह अपनी छवि बिखेरती है किंतु उस छवि के साथ मानवीय छवियां अलग-अलग ढंग से जुड़ती हैं। उत्तर भारत में शरद् की छवि में रामलीला की छवि जुड जाती है, गुजरात में यह छवि घनीभूत होती है, देवी की आराधना मे चलने वाले गर्वा नृत्य से। नवरात्र शुरू होते ही घर-घर में त्योहार की उष्मा और महक भर जाती है। हर दरवाजे पर रंगोली सजायी जाती है, उस पर फूल बिखेरे जाते हैं और पास-पड़ोस की तमाम औरतें मिलकर गर्वा नृत्य शुरू कर देती हैं। कृष्ण और देवी के गीतों के साथ गर्वा नृत्य चक्राकार उठता-गिरता चलता रहता है। स्त्रियां ताली बजा-बजाकर मुड़ती, उठती एक मंडल में नाचती रहती हैं। पुरुष भी शामिल होते हैं। ढोलक भी बजती है। यह सामूहिक नृत्य वास्तव में सरल लोकनृत्य है, इसे किसी कला-मंदिर में नहीं सीखना पड़ता। बस, नृत्य चलता रहता है। जो भी आता है शामिल हो जाता

है। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष का भेदभाव नही होना किन्तु इस लोकनृत्य को कलानृत्य के रूप मे भी परिणत कर लिया गया है। अभिजात घरो की लडकियां और महिलाएं कुछ मंडलियां बनाए हुए है, जहा इस नृत्य को अनेक कलात्मक भगिमाएं देने की शिक्षा दी जाती है और ये मंडलिया विशेष समारोहो पर विशिष्ट जनसमुदाय के सामने कलात्मक गर्बा प्रस्तुत करती हैं। जहा सामान्य जन-समुदाय इस नृत्य के माध्यम से सामूहिक लय मे अपनी आराधनामूलक अनुभूति व्यक्त करता है, वहा अभिजात गर्बा-मडलिया इस नृत्य के माध्यम से अपने कलात्मक वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति करती है। सामूहिक लय दोनो मे है किन्तु एक लय बडी है, भले ही वह बहुत सधी हुई नही है और उस बडी लय मे हर व्यक्ति अपने को समर्पित कर देना चाहता है किन्तु दूसरे की लय छोटी है—दस-बीस व्यक्तियो की है और वहा हर व्यक्ति कला के प्रति और उसके माध्यम से अपने प्रति सजग है। वह चाहता है कि लोगो की नजर उसके वैशिष्ट्य पर टिके। लोक-कला को अभिजन-कला बनाने या अभिजन-कला को लोक-कला का रग देने की स्थिति सर्वत्र ऐसी ही है। कालेजो के समारोहो म या टाउन हॉल मे आयोजित होन वाले विशिष्ट सास्कृतिक अधिवेशनो मे इसी प्रकार के गर्बा के दर्शन होते थे।

शरद् की शाम बहुत प्यारी होने लगी थी। वातावरण मे उमस के स्थान पर एक खुली शीतलता तैरने लगी थी। हरसिगार के फूलो की महक स हवा मे एक सात्त्विक मादकता भर जाती है और जहा से गुजरते थे वहीं महिलाओ का समूह गर्बा नृत्य करता दिखाई पडता था। घर पहुचते थे तो नदी के तट के आसपास के हरसिगार के फूलो की महक का आभास होता था। रात-भर फूल चूते रहते थे झर···झर ··झर··· झर··। सबेरे-सबेरे उठकर नदी के किनारे जा बैठता था, देखता था—पेडो के नीचे फूल बिछे हुए हैं। मन फूलो की खुशबू के साथ उनके अंत की करुणा मे भर जाता था। फूल डाली पर मुरझाते है या लोगो द्वारा तोड लिए जाते है किन्तु इस वृक्ष को क्या अभिशाप लगा है कि इसके फूल खिलते ही अपनी पूरी जवानी मे आसू की तरह टपकने लगते है। तब तक नदी की आर्द्र रेन पर कोई सारस केकार उठता था, पछियो के झुड जल मे अपनी लघु-लघु छायाए छोडते जल के ऊपर खुले विस्तार मे पख मारने लगते थे।

हम कुछ मित्रो ने निश्चय किया कि शरद् पूनम की रात को अहमदाबाद के भिन्न-भिन्न मुहल्लो मे साइकिल से घूमेंगे और गर्बा देखेंगे। भगवतशरण अग्रवाल, अवधनारायण त्रिपाठी (और शायद कुछ और लोग रहे) साइकिल से निकले और दो-तीन बजे रात तक घूमते रहे। भिन्न-भिन्न इलाकों में घूमे। पुराने शहर के केन्द्र में गये। वहां तो न जाने कितना बडा जनचक्र था। जो आता शामिल हो जाता और इतने बड़े मडल के बावजूद कहीं कोई अव्यवस्था नही, कोई गडबड़ नही क्योंकि अनुशासन भीतर का था। सचमुच इस लोकनृत्य ने मुझे बहुत प्रभावित किया, भीतर से भर दिया और मैं सोचने लगा कि अपने यहां ऐसा कोई लोकनृत्य क्यों नही है जिसमें मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के लोग भी शामिल होते हो। लोकनृत्य केवल तथाकथित छोटी जातियों का है, वह भी इतने विशाल पैमाने पर नही। वास्तव मे उच्चवर्गीय लोग नृत्य

को बहुत हेय दृष्टि से देखते हैं। उनके घरों का कोई लड़का या लड़की नृत्य में दीक्षित हो जाये तो जैसे भूचाल आ जाता है।

नवरात्र से लेकर दीपावली तक गुजरात में शरद् ऋतु अपनी प्राकृतिक और सांस्कृतिक छवि के साथ छायी रहती है। क्वार की पूर्णिमा के गर्वा महोत्सव के बाद दीपावली की आहट बजने लगती है और वह आहट धीरे-धीरे पटाखों की धूम के साथ घनी होती चली जाती है। दीपावली के दिन तो फिर पटाखों के धूम-धड़ाके का कहना ही क्या? लक्ष्मी के स्वागत में जाने लक्ष्मी का कितना व्यय हो जाता है। मिट्टी के दीपों के साथ विद्युत् दीपों की जगमगाहट से पूरा शहर गूंज उठता है। श्री श्री को खींचती है। व्यापारिक और व्यावसायिक नगर अहमदाबाद में श्री की श्री से इतनी धूमधाम से पूजा हो तो स्वाभाविक ही है। वैसे पूरा गुजरात बहुत सलीके से श्री की आराधना करना जानता है, इसलिए अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक हर कोई इस पर्व को बहुत उत्साह से मनाता है। दीपावली के दूसरे दिन इनका वेस्ता वर्ष (नया वर्ष) शुरू होता है। उस दिन सबेरे ही तैयार होकर लोग निकल जाते है एक-दूसरे को नववर्ष की बधाई देने के लिए। यह पूरा दिन बहुत चहल-पहल का होता है। इस दिन के साथ ही शरद् की चहल-पहल ठंडी पड जाती है। उत्तर भारत मे शरद् और उसकी गतिविधियो का विस्तार कार्तिक पूर्णिमा तक होता है।

मेरे लिए शरद् मात्र शहरो की चहल-पहल का नाम नही है। इसलिए चाहे गुजरात के नगर रहे हो, चाहे उत्तर भारत के, मैंने वहां शरद् को पूरा-पूरा नहीं पाया। मन उस शरद् को जीने के लिए हुटकता ही रह गया जिसे मैंने अपने गांव के खेतों, बगीचों, नदियो, तालो, मेलो, पर्वो में जिया था। उस शरद् मे सद्य जुती हुई मिट्टी की गंध थी, उसमे भविष्य के सपनो की तरह फसलो की डीभिया उगती थी, उसमे ताल-तलैयो और नदियो का निथरा हुआ जल था, जिसमे पूरा आकाश प्रतिबिंबित हो उठता था। उसमे अभावग्रस्त लोगो की आखों में एक सामाजिक उत्साह लेकर उतरने वाले पर्व-त्योहार थे। उस शरद् की दीपावली मे मिट्टी के दीये छोटे-छोटे माटी के घरों के सपनों की तरह टिमटिमा उठते थे। हम लोग घरों के कोने-अतरों में दीयों की रोशनी रख आते थे। उन कोने-अतरो मे जमा हुआ वर्ष-भर का अंधकार उस नन्ही रोशनी में नन्ही हंसी बन जाता था। हम नवांकुरित खेतो में दीये रख आते थे। नन्ही रोशनी में नन्हे-नन्हे दीये भविष्य की मुसकान की तरह पुलकित हो उठते थे। माटी के दीये में से निकलती हुई रोशनी माटी में से उगते अंकुरों की रोशनी से गले मिलकर माटी से जुड़ी गांव की जिन्दगी की हंसी बन जाती थी। उस दीपावली में मिट्टी की जो खुशबू थी, अब कहां नसीब होती है? वह शरद् ऋतु अब कहां दिखाई पड़ती है? दशहरे के मेलों और कार्तिक पूर्णिमा के स्नान, पर्व के अवसर पर घरों में बंद गांव की औरतों का झुंड का झुंड लोकगीतों की लय पर प्रवाह की तरह उमड़ पड़ना था और रात-दिन का वातावरण थोड़े समय के लिए मुक्त पंख उड़ते उनकी खुशियों के छोटे-छोटे पंछियों से भर जाता था। शरद् तो अब भी है किन्तु कहा है वह शरद्?

44

दूसरे साल एक और घटना घटी। बड़ौदा के श्री उदयसिंह भटनागर के विरुद्ध जांच समिति बैठा दी गयी थी। वे पिछले वर्ष भाषण देने के लिए जेवियर में बुलाये गए थे तो संकेत कर रहे थे और दु.खी लग रहे थे। छुट्टियों में ज्ञात हुआ कि जांच समिति ने उनके विरुद्ध निर्णय दे दिया है। यानी वे निलंबित कर दिये गये हैं। बहुत दुःख हुआ और सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का हुआ कि उस जांच समिति में हिन्दी के एक आचार्य और एक ख्यात कवि भी थे। भटनागर जी के कथनानुसार कवि जी उनके सहपाठी रह चुके थे। इस बात की और पीड़ा थी। भटनागर जी के बड़े परिवार की असहायता का ध्यान आ-आकर मुझे बुरी तरह साल रहा था। भटनागर जी ने मुकदमा कर दिया था और इस सिलसिले में वे अहमदाबाद मेरे यहां भी आये थे। कुछ दिनों बाद भटनागर जी का पत्र आया कि उन्हें गार्डा कालेज, नवसारी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और अनुस्नातक केन्द्र के प्रभारी के रूप में नियुक्ति मिल गयी है। वहां श्री पतराम गौड़ पढ़ाते थे। उनके पिलानी चले आने से वह जगह खाली हो गयी थी और मैं लिख चुका हूं कि उस समय केन्द्र के प्रभारी होने के योग्य वहां बहुत कम व्यक्ति थे। इस समाचार से मुझे बहुत राहत मिली। लगा, एक भरा-पूरा परिवार अभाव के जबड़े में फंसने से बच गया। केन्द्रों पर स्थानीय योग्य व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त नहीं होती थी इसलिए व्याख्यान देने के लिए बाहर से बुलाये जाते थे। भटनागर जी ने मेरा नाम प्रस्तावित किया और प्रिंसिपल ए० के० त्रिवेदी ने सहर्ष अनुमति दे दी। हर शनिवार की रात को हम बम्बई पैसेंजर से नवसारी के लिए रवाना होते थे और इतवार की सुबह यहां पहुंचकर व्याख्यान देते थे। कालेज की ओर से ही वहां हमारे ठहरने और भोजन की व्यवस्था होती थी। ए० के० त्रिवेदी राजा तबीयत के आदमी थे। वे तपे हुए प्रिंसिपल थे। कोई उनका हाथ रोक नहीं सकता था। वे काफी बुजुर्ग हो गये थे, तो भी प्रिंसिपल बने हुए थे। हमारे ठहरने और भोजन की व्यवस्था करना उनका उत्तरदायित्व नहीं था (यह और कहीं नहीं था) किन्तु उन्होंने अपने अतिथि अध्यापकों का सम्मान करने के लिए यह व्यवस्था कर रखी थी। टी० ए०, डी० ए० और पारिश्रमिक के तत्काल भुगतान की भी व्यवस्था उन्होंने करवा रखी थी। मेरे साथ अहमदाबाद से नवसारी जाने वाले और कई व्यक्ति थे। मनोविज्ञान के व्यास जी, अर्थशास्त्र के चारी जी। भगवतशरण अग्रवाल भी सूरत जाते थे अतः सूरत तक और वहां से वापसी में उनका भी साथ रहता था। अच्छा साथ था। हर सप्ताह की यह यांत्रिक यात्रा इस साथ से आनंद से कट जाती थी।

इस साल के लगभग अंतिम भाग में फिर एक गाज गिरी। मैं एम० ए० की कक्षा लेकर भटनागर जी के साथ निकल ही रहा था कि चपरासी ने मेरे पास आकर कहा—"प्रिंसिपल साहब बुला रहे हैं।"

जाते ही उन्होंने कहा—"डा० मिश्र, हमारे विद्यार्थी आपसे बहुत प्रभावित हैं इसलिए मैं आपको अपने यहां आने का निमंत्रण दे रहा हूं।"

"मैं समझा नहीं सर।"

"बात यह है कि गुजरात विश्वविद्यालय भटनागर जी को एम० ए० केन्द्र के इंचार्ज के रूप में मान्यता नहीं दे रहा है। मैंने बहुत कोशिश की किन्तु बात नहीं बनी क्योंकि बी० ए० में उनका थर्ड क्लास है। अतः बहुत दुःख के साथ मुझे कोई और व्यवस्था करनी पड रही है। चूंकि आप यहां पढ़ा रहे हैं और छात्र आपको चाहते हैं इसलिए मैं चाहता हूं कि आप हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और केन्द्र के इंचार्ज होकर आ जाएं।" मैं चुप रहा।

"वहां आप बेसिक क्या पा रहे हैं ?"

"दो सौ बीस रुपये सर।"

"मैं आपको चार सौ रुपये दूंगा। बोलिए, आपको मंजूर है ?"

"सर, भटनागर जी मेरे मित्र है। आप उन्हीं को विस्थापित कर मुझे सुस्थापित करना चाहते है। इतने कष्ट के बीच तो उन्हें आपके यहां नौकरी मिली है। अब मैं अपनी तरक्की के लिए अपने ही मित्र की पीठ पर बैठ जाऊं।"

मेरा मन गीला हो आया था। त्रिवेदी जी बोले—"डा० मिश्र, आप मेरी बात नहीं समझ रहे है। इस व्यक्ति की पीडा को मैं खूब समझता हू और मुझे इस अवस्था मे इन्हे सहारा देकर बहुत आत्मिक शांति मिली थी। मैं इन्हें बहुत चाहता हूं किन्तु यह अप्रिय निर्णय मेरा नही है। मैंने गुजरात विश्वविद्यालय से इनके लिए बहुत लड़ाई की है किन्तु विश्वविद्यालय सुनने को तैयार नहीं और वह भी क्या करे, अपने नियम मे बंधा है। यद्यपि इतने सीनियर आदमी के लिए बी० ए० का थर्ड डिवीजन रास्ते में नही आना चाहिए किन्तु वाइस चांसलर अपनी जिद पर अड़ा है। अब मुझे अपना सेंटर तो चलाना ही है, बोलिए क्या करूं ?"

"फिर भी सर।"

"देखिए डाक्टर मिश्र, आपका अपराध-बोध बेकार है क्योंकि मुझे तो किसी आदमी को नियुक्त करना ही है। आप नहीं आयेंगे तो कोई और आयेगा। आपको जानता हूं अतः आप आएं तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।"

"ठीक है सर, थोडा सोचने का अवसर दीजिए।"

"ठीक है, आप अगले रविवार तक अपना निर्णय दे दीजिए।"

"थैंक्यू सर।" कहकर मैं उठ आया।

भटनागर जी बाहर मेरा इन्तजार कर रहे थे। उन्हें कुछ शंका हो गई थी क्योंकि उन्हें पता तो था ही कि गुजरात विश्वविद्यालय उन्हें मान्यता नहीं दे रहा है। आते ही पूछा—"प्रिंसिपल साहब क्या कह रहे थे ?" मैंने बहाना बनाकर कुछ और कह दिया। इनसे कैसे कहता कि वे आपकी जगह मुझे नियुक्त कर रहे हैं। और न कहने का भी दर्द कम तो नहीं था, भीतर भीतर साल रहा था कि यह व्यक्ति नहीं जानता कि प्रिंसिपल साहब उसके स्थान पर किसी को नियुक्त करने की तैयारी कर रहे हैं। एक दिन जब इन्हें इस बात का पता चलेगा तो कैसा अनुभव करेंगे और मेरे बारे में

क्या सोचेंगे ? मैंने मन ही मन निर्णय कर लिया था कि इनसे बताये बगैर मैं अपना निर्णय नही लूगा ।

अगले सप्ताह अपने बडौदा वाले मुकदमे के सिलसिले मे भटनागर जी अहमदाबाद आये, मेरे यहा ही ठहरे। बात उन्होने ही चलाई कि 'गुजरात विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर मगन भाई एक विशेष कारण से उनसे चिढे हुए है इसलिए मान्यता नही दे रहे हैं।' अवसर पाकर मैने प्रिंसिपल के साथ हुई बातचीत उन्हे सुना दी। वे थोडी देर हतप्रभ रहे किन्तु लगता था जैसे वे उसके लिए तैयार थे। बोले—"पडित जी, जब मुझे हटना ही है तो आप अवश्य वहा जाइये। आप नही जायेगे तो कोई और जायेगा। अपने मित्र को ही यह सुविधा मिले तो अपना दुःख कुछ कम हो जाएगा।"

दर्द से वे भर आये थे। मै उनके दर्द और उदारता से भीतर तक सहम गया था। बोला— "ठीक है भटनागर जी ! किन्तु फिर भी ।"

"फिर भी-फिर भी कुछ नही, पडित जी, भावुक मन बनिए और इस बार जाइये तो प्रिंसिपल को अपना निर्णय दे दीजिए। मेरा तो जो होगा देखा जायेगा।"

मैंने अगली बार निर्णय दे दिया। सेंट जेवियर कालेज मे भी लोग इस समाचार से परिचित हो गये। चिम्मन भाई पटेल बोले—"मैंने प्रिंसिपल डिसूजा से कितनी बार कहा—इन्हे प्रोफेसर ग्रेड दे दीजिए। इतने अधिक क्वालिफाइड को जूनियर ग्रेड मे आप कब तक रख पायेंगे। किन्तु उन्होने मेरी नही सुनी। कहते रहे—'एक ही विभाग मे दो व्यक्तियो का कैसे प्रोफेसर ग्रेड दिया जा सकता है ?' अरे क्यो नही दिया जा सकता ? ऐसा कोई नियम है क्या ?"

बहरहाल मेरा नवसारी जाना तय हो गया। मुझे कालेज की ओर से विदाई दे दी गई। प्रिंसिपल ने बहुत गद्गद भाव से मेरे शिक्षण तथा शिक्षणेतर कार्यों की सराहना की। एम० ए० के और बी० ए० ऑनर्स के छात्रो ने भरी आखो से विदाई दी। यह तय हुआ कि गर्मी की छुट्टियो मे हम गोरखपुर जायेंगे और वही से सीधे नवसारी चले जायेंगे। नवसारी मे एम० ए० अध्यापन के सिलसिले मे नवसारी, सूरत तथा अन्य स्थानो के कई प्रौढ शिक्षक तथा अन्य नौकरियो मे कार्यरत व्यक्ति मेरे छात्र बन गये थे और मुझे उनका आदर और स्नेह मिला था। सूरत के ही एक शिक्षक देसाई ने मकान खोजने का जिम्मा लिया था। उन्होने गोरखपुर के पते पर मुझे सूचित कर दिया था कि मकान मिल गया है और वे सूरत मे मेरे साथ हो लेंगे। ऐसा ही हुआ। जब हम नवसारी जाने के लिए सूरत पहुचे तो वे स्टेशन पर उपस्थित मिले। साथ गये और हमे हमारे नये मकान मे स्थापित कर आये।

नवसारी ने मुझे बहुत स्नेह और सम्मान दिया। गार्डा कालेज के प्रिंसिपल ए० के० त्रिवेदी ने मुझे पद और पैसा देकर वहा के स्टाफ मे पहले वैसे ही मेरा रुतबा बढ़ा दिया था और एम० ए० पढाने के क्रम मे वहा के प्रभावशाली छात्रो का पहले ही सद्भाव अर्जित कर चुका था, यहा आ जाने पर धीरे-धीरे स्नेह-सद्भाव का दायरा विस्तृत और सघन होने लगा। यो तो मुझे लेकर स्टाफ मे भीतर-भीतर एक असंतोष लहरा रहा था। इतने दिनो से काम कर रहे लोगो की अपेक्षा प्रिंसिपल ने मुझ जैसे नये

आदमी को इतनी अच्छी तनख्वाह दे दी और पद तो दिया ही। किसी-किसी को कहते सुना—"भाई, यहां पैसा मिलता नहीं, सौदा करके लिया जाता है।" किन्तु धीरे-धीरे लोगों ने मुझे अपना लिया। मेरे स्वभाव को देखते हुए उन्हें टकराने का अवसर ही नहीं मिला, अतः मेरे लिए उनका स्नेह ही उभरता गया और सभी लोग मेरे अपने बन गये। आफिस, लाइब्रेरी सभी से सम्बद्ध छोटे-बड़े लोगों का मुझे गहरा सद्भाव मिला। कस्बे में जगह-जगह सभायें हुईं और मुझे अध्यक्ष या मुख्य वक्ता के रूप मे बुलाया जाने लगा। याज्ञवल्क्य अग्निहोत्री, देसाई, वकील तथा कई लडकिया सूरत से पढ़ने के लिए आते थे। दूसरे कस्बों से नारणभाई पटेल, के० सी० भट्ट आदि आते थे। दिनकर देसाई नवसारी के ही थे और नेता थे। ये सभी मेरे बहुत निकट के छात्र थे और चूंकि सभी प्रौढ थे इसलिए मित्रवत् भी थे।

बी० ए० ऑनर्स मे उर्मिला देसाई, विनोद पटेल, रमण नायक, देवदत्त पटेल आदि कई छात्र थे जो धीरे-धीरे मेरे परिवार के अभिन्न अग बन गये। बी० ए० ऑनर्स में एक घटना घटी। मैं बी० ए० ऑनर्स की पहली क्लास ले रहा था। मैं क्लास ले चुका तो पूछा—"आप सभी ऑनर्स के छात्र हैं?" गुजराती बहुत स्पष्टवादी होते है। वे बिना लाग-लपेट के बात करते है। एक लडकी बोली—"सर, मैं ऑनर्स की छात्रा नही हू और कई लोग नही है। हम यह देखने आये है कि आप कैसा पढ़ाते है। उसे देखकर ही निर्णय करेंगे कि हिन्दी ऑनर्स लें कि न लें।"

"ठीक है, मुझे तो सुन लिया, अब फैसला कर लीजिएगा।"

"कर लिया सर।"

मैंने यह नही पूछा कि क्या फैसला कर लिया। यदि वह विपरीत फैसला कर बैठी हो तो पूछने पर स्पष्ट कह देगी और कक्षा मे अपमान अनुभव करूंगा। दूसरे दिन देखा कि वह कक्षा मे सबसे आगे बैठी थी। वह उर्मिला देसाई थी—कक्षा की अत्यन्त होनहार और 'बोल्ड' छात्रा। वह मेरी बहुत प्रिय छात्रा बन गई। मेरी पत्नी का भी उसे भरपूर स्नेह मिला। उसने भी हम दोनो को बहुत सम्मान दिया।

रमण नायक स्कूल में शिक्षक थे. वे भी हमारे अच्छे छात्र थे और बहुत अतरंग रूप मे हमसे जुड़े। विनोद पटेल और देवदत्त पटेल भी मेरे परिवार के अग बन गये। बाद में सभी किसी न किसी अच्छे पद पर नियुक्त हुए और आज तक मेरे प्रति उनका गहरा आदर-भाव बना हुआ है।

नवसारी छोटा-सा शहर था बल्कि पचास हजार की आबादी वाला एक बडा कस्बा कहा जा सकता है। यहां पारसियों की संख्या अच्छी-खासी है। मैंने कई मायनों में इसे बहुत फारवर्ड कस्बा पाया। लडके-लडकियों में रोमांटिक सम्बन्ध यहां ज्यादा ही दिखाई पडा। लगता था हर लडकी का कोई लडका मित्र है। यहा वर्जना कम ही देखी। साथ-साथ घूम रहे हैं, खुलकर प्रेम-सम्बन्धी चर्चायें कर रहे है, पिकनिक में खूब खुलकर खेल रहे है और धर-पकड कर रहे हैं। यानी स्पर्श की वंजना से वे पीड़ित नहीं थे। पारसी लडकियों में और ज्यादा खुलापन था। कभी-कभी कक्षा लवंडर की तेज महक से भर जाती थी और मेरा सिर भन्ना उठता था। जो भी हो वहां का वातावरण

युवाकाल की महक और उमंग से भरा हुआ और बहुत जीवंत लगता था।

सब कुछ था किन्तु मेरे लिए यह शहर बहुत छोटा पड़ता था। अधिकांश प्रौढ़ छात्र बाहर से आते थे, अतः उनके यहां जा नहीं सकता था। दो-चार घर ऐसे थे जहां जाया जा सकता था किन्तु वहां कब तक जाता। सुबह तो लिखने-पढ़ने मे बीतता था किन्तु क्लास के बाद क्या किया जाये ? मन ऊबता था। किसी के यहां बैठकर गपशप करने की इच्छा होती थी किन्तु कहा न कि ऐसे घर बहुत थोड़े थे जहां हम जाकर गपशप कर पाते। कही जाते भी थे तो वहां मेरे प्रति सम्मान बिछ जाता था, बराबरी के स्तर पर आकर मन को खोल जाने वाले संवादों की जगह सम्मानसूचक औपचारिकता घेर लेती थी। घूमने निकलता था तो पन्द्रह-बीस मिनट में लौट आता था। घर से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा बाजार था, आखिर वहा कब तक घूमता। अकेले-अकेले बड़ी घुटन महसूस होती थी। पूरा शहर मुझे बंद पिजड़े-सा लगने लगा। कभी-कभी सूरत या अन्य किसी स्थान पर कोई गोष्ठी या सभा होती थी तो वहां जाने पर मन थोडा बदल जाता था। विभाग में हम तीन थे, बल्कि ढाई थे। मेरे बाद श्रीमती सुधा फडके थीं जो काफी सख्त लगती थी। उनके वहा जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उनके बाद थे के० सी० भट्ट जो पार्टटाइम लेक्चरर थे। वे चूंकि मेरे शिष्य रह चुके थे, इसलिए उनके यहां आना-जाना था। यहां एकमात्र साथी वही थे। मै उनके यहां जाता था, वे हमारे यहां आते रहते थे। उन्हीं के साथ प्रायः घूमता था किन्तु घूमे कहा ? यही प्रश्न था।

मेरे घर से थोड़ी ही दूर पर एक बहुत बड़ा तालाब था। जब आया था तो सूखा था, बरसात मे भर गया। उसके किनारे-किनारे भी कभी घूमता था। किंतु किनारा इतना साफ नहीं था कि आनद मे घूम सकू। उसके किनारे एक बाध-सा बधा था। उस बांध पर बहुत छोटी-छोटी झोंपड़ियां थीं। वे इतनी नीची थीं कि आदमी लेटकर ही उनके अन्दर जा सके। उनमे अनत अभिशप्त इन्सान कीड़े-मकोड़ो की तरह रहते थे और उन झोपड़ो के सामने उनके गंदे सामानो की दुनिया फैली होती थी। कहीं-कहीं ताल के किनारे के रास्ते कीचड़ से भरे होते थे। अतः इतने बड़े ताल के किनारे घूमने का जो सुख हो सकता था उससे वंचित होना पड़ता था।

जिस मोहल्ल में मै था, वह प्रायः सामान्य वित्त के लोगो का था। अनेक अभावग्रस्त अभिशप्त जिन्दगी ढोने वाले लोग यहा थे। एक लोअर डिवीजन के क्लर्क सामने के मकान में रहते थे। उनकी एक बहुत प्यारी-सी बेटी थी। वह मेरी बेटी अजू की मित्र थी। वह अंजू के साथ प्रायः मेरे ही घर रहती थी। बारिश हो रही थी, रात को अरराकर कुछ टूटने की आवाज आई। पूरा मोहल्ला जाग गया। मालूम पड़ा वह उसी लडकी का घर था। वह लड़की अपने मां-बाप सहित उस मकान में दब गई। अस्पताल की गाड़ी आई, उन्हें लेकर अस्पताल गई। और लोग तो बच गये किन्तु वह लड़की चल बसी। सबेरे देखा लड़की का बूढ़ा दादा मकान के खंडहर पर बैठा खामोश ठंडी निगाहों से कुछ देख रहा था। अंजू ने पूछा—"पापा, गीता (उस लड़की का नाम था) के यहां खेलने जाऊं ?"

पहले तो मैंने बहुत बहकाया फिर बताया कि वह मर गई बेटा।

"मरना क्या होता है?" वह पूछती रही और परेशान होती रही।

"वह भगवान् के घर गई।"

"कब आयेगी?"

"कभी नहीं आयेगी।" कहकर छुट्टी पा ली किन्तु कुछ देर बाद देखा अंजू एक कोने मे गुमसुम बैठी सिसक रही है। लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे कि यह घर भुतहा है। उसमे एक आदमी आत्महत्या करके भूत बन चुका है। अजीब लगा कि ये लोग अपनी-अपनी स्थितियो के मूल कारणों को नही जानते, नही जानते कि एक गरीब क्लर्क अच्छे मकान मे नहीं रह सकता। उसे एक सस्ता मकान चाहिए। सस्ता मकान तो खस्ता हालत में ही होगा। खस्ता मकान कब गिर पड़ेगा, कौन जानता है? इन्हें जानना चाहिए कि मीना को भूत ने ही नही, गरीबी के भूत ने मारा है और वही इन सबको अलग-अलग तरह से मार रहा है।

45

मेरे मकान के दो हिस्से थे। यहां मकानों की बनावट विचित्र तरह की होती है। एक कमरा, उसके पीछे एक कमरा, फिर रसोईघर। यानी मकान लम्बे-लम्बे बने होते हैं। एक हिस्से में हम थे, एक में एक पटेल-परिवार था। ये लोग गांव के पिछड़े हुए वर्ग से थे। पति को कही एजेंटी की नौकरी मिल गई थी, अतः ठीक-ठाक ढंग से रहते थे। उनके यहां काफी आधुनिक सामान थे। हम दोनों के कमरो के पीछे एक बड़ा-सा आंगन था। चूंकि वे पहले से रहते थे अतः काफी कुछ छेंक रखा था और हमारे संकेत पर भी वे सुविधाओं में बंटवारा करना नहीं चाहते थे। इसको लेकर पत्नी के मन मे असंतोष था जो वहा से मेरे पास तक आता रहता था। एक बात और थी जो हमें बुरी लग रही थी। उनका लडका बहुत दुष्ट था। वह प्रायः अंजू को पीट दिया करता था और मां एक पुचकारभरी मनाही करके रह जाती थी। कभी-कभी वह भी नहीं करती थी। बच्चे तो शरारती होते ही है। यदि मां-बाप उचित तरीके से बच्चों को डांट-डपट दें तो पिटने वाले बच्चे का पक्ष संतोष पा लेता है। एक दिन उसने पास में ही खेलती हुई अंजू को काठ पर ढकेल दिया। अंजू रोती और खून चुआती घर आई तो मुझे स्वयं अंजू पर गुस्सा आ गया और पटेलानी के सामने ही उसे दो चपत लगाकर डाटने लगा—"रोती क्यों आती है, तुझे मारना नही आता? वह क्या तुझसे बड़ा है? खबरदार, यदि फिर पिटकर आयी तो।"

पटेलानी ने सब सुना और पटेल के आने पर नमक-मिर्च के साथ सुनाया। पटेल अपना सारा आवरण उतारकर अपने ठेठ रूप में आ गए और आंगन मे खड़े होकर मुझे ललकारने लगे और न जाने क्या-क्या आक्षेप करते हुए धमकियां देने लगे।

मैं उनकी धमकियों का क्या उत्तर देता ? वैसी भाषा और मानसिकता कहां से लाता ? थोड़ा-बहुत प्रतिवाद करके अपने कमरे मे आ गया और उद्विग्न हो गया । लगा कि मैं इस व्यक्ति के साथ इस मकान मे नही रह सकता । वैसे भी मैं स्वभावतः कुछ कहा-सुनी के बाद अप्रकृतिस्थ हो जाता हू और बार-बार मन उसी घटना पर चक्कर काटने लगता है और सोचने लगता है : इसमे मेरी अपनी गलती कहा थी ? मैंने पत्नी से सलाह की । उनकी भी इच्छा थी कि यह मकान छोड दिया जाये, इन असभ्यो के साथ नही रहा जा सकता । बारिश हो रही थी । मैं उसी मे छाता लेकर दिनकर भाई की ओर निकल गया ।

"कैसे गुरु जी ? इस बरसात मैं कैसे कष्ट किया ?"

मैंने पूरी घटना सुनाते हुए उनसे कहा, "चलिए, मेरे लिए कोई मकान ढूढिए ।"

वे बहुत जोर से हसे । बोले—"अरे गुरु जी, आप इतनी-सी बात से परेशान हो गये । यदि दिन-भर मे चार-पाच बार किसी से मेरी टकराहट न हो जाये तो मुझे रात मे नीद नही आती और आप है कि इस जरा-सी बात पर इतना परेशान हो गये ।"

"भाई, यह अतर मेरा और आपका नही, साहित्यकार और राजनेता का है ।"

दिनकर भाई फिर जोर से हसे और बोले—"गुरु जी, मकान छोडने की क्या जरूरत है, चलिए उस पटेल नाम के जन्तु को ठीक करा देते है ।"

"अरे नही भाई, यह सब कुछ नही, मुझे उसके साथ किसी भी हालत मे रहना नही है ।"

"अच्छा चलिए ।" और मै उसी बरसात मे उनके मोपेड के पीछे मकान ढूढने निकल पड़ा । सयोग था कि पारसियो के मोहल्ले 'गार्डा हिल' मे एक मकान खाली हुआ था । उसके मालिक सूरत मे रहते थे । वे हाड वैद्य थे और हर रविवार को अपने इस मकान मे आते थे—रोगियो को देखने के लिए । वे आये हुए थे । उनसे बातचीत हुई और चालीस रुपये मे उनका तीन मजिला मकान मिल गया । यह मकान स्वतन्त्र था इसलिए और भी अच्छा लगा । यह मोहल्ला थोड़ी ऊचाई पर बसा हुआ था अतः उसका नाम था 'गार्डा हिल' । मै दूसरे दिन इस मकान मे आ गया ।

उस मकान से जुडा हुआ एक मकान था जिसमे एक पारसी-परिवार रहता था । मालिक रिटायर्ड थे । उनकी पत्नी, दो पुत्रिया और पुत्र था । बहुत अच्छे लोग थे । इस परिवार से हमे बहुत पारिवारिक प्यार और सहायता मिली । शशाक तो इस परिवार का ही बच्चा हो गया था । दोनो लडकिया और लडका जैसे हमारे ही घर के बच्चे लगते थे । इस परिवार के लोग जैसे मन से सुन्दर थे वैसे ही तन से भी । इस परिवार की समुद्र के पास कोई छावनी थी । हम उनके वहा पिकनिक मनाने गये और जो आनन्द आया वह वर्णनातीत है । उस मोहल्ले के और भी पारसी लोग हमे बहुत प्यार करते थे । कोई पारसी छात्रा मिल जाती तो बहुत आग्रह से अपने घर ले जाती और घर वाले जैसे प्यार मे बिछ जाते ।

मैंने कहा न कि यह मकान तिमंजिला था । नीचे के हिस्से में केवल पानी का

नल था, छोटा-मोटा स्टोर था और सबसे ऊपर के हिस्से में एक बहुत बड़ा हॉल था। वास्तव में बीच का हिस्सा ही रहने के लिए था। उसमें दो कमरे, किचन, शौचालय आदि थे। परिवार इतना छोटा था कि ऊपर के हॉल में जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। मकान के सामने एक खुला मैदान था। उसके दूसरी ओर एक मकान था, जिसमें होम्योपैथी के एक डाक्टर अपनी दुकान चलाते थे। यानी इस मकान की बाहरी और भीतरी स्थिति इतनी खुली हुई और प्रिय थी कि मैं निश्चिंत भाव से अपना लिखने-पढने का काम कर सकता था। इस मकान में कई महत्त्वपूर्ण कविताएं लिखी। 'आत्महत्या से पहले' कविता यहीं लिखी गयी। 'आते घिर-घिर, जाते फिर-फिर' बादल सम्बन्धी कविता भी यहीं लिखी। 'पानी के प्राचीर' का लेखन तो बड़ोदा मे ही शुरू कर दिया था किन्तु संभवतः उसे पूरा नवसारी में ही किया। मेरे कई महत्त्वपूर्ण निबंध भी यहीं लिखे गये।

सब कुछ के बावजूद मेरा मन यहां ऊबता था। लिख चुका हूं कि यहां की दुनिया बहुत छोटी पड़ती थी। बहुत कम लोग थे जिनमें संवाद हो सकता था। घूमने-फिरने के लिए निकलता था तो दस-पन्द्रह मिनट में लौट आता था। इसलिए अपना जिला, अपना घर बहुत याद आता था। मै प्रायः ऊंची खिडकी के पास बैठकर अपने प्रदेश के आकाश की ओर निहारा करता था। उधर से आते और इधर से जाते उडते पंछियों को देखा करता था। सोचता था कि ये कितने भाग्यशाली हैं कि जहा चाहते हैं जा सकते है। शायद ये मेरे घर की ओर से भी होकर निकलते हों। उधर की ओर जाते बादलो के टुकडो को देखता रहता। दिल्ली की ओर जाती रेलगाडी की धड़कनें मेरी धडकनो मे समा जातीं और सोचता, कब इस गाडी मे सवार होऊंगा। नदी के पास जाता, लौट आता। एक दिन दिनकर भाई से कहा कि शहर के बाहर खुली प्रकृति के बीच मुझे घुमाइए। उनके मोपेड पर बैठकर नदी के पार के इलाकों मे यों ही चक्कर काट आया। थोडा ताजा हो आया था कि फिर इस कस्बे के सीलन-भरे वातावरण में आ गया। इस मानसिकता को मैंने 'पिंजडा' नामक कहानी में व्यक्त किया।

मैंने श्री विश्वनाथ शुक्ल से अपने यहां कक्षा लेने के लिए निवेदन किया था। वे हर रविवार को कक्षा लेने के लिए अहमदाबाद से आते थे जैसे पहले मैं आया करता था। वे मेरे आत्मीय मित्र थे और जीवंत व्यक्ति थे। उनके आने मे रविवार का दिन गहमागहमी में बीत जाता था।

नवसारी के समाज के प्यार और सम्मान के बीच अपना अकेलापन लिए-दिए यों ही चलता रहा। छात्रों के साथ भी पिकनिक पर जाकर जी बहला आया, कभी सूरत चला गया, कभी अमलसाड़। कभी और किसी समारोह में चला गया। ऐसे ही साल बीतने को आया। सारा साल तो सामान्य रूप मे काट सकता था किन्तु होली का त्योहार यों ही तो जाने नहीं दिया जा सकता। किन्तु होली का माहौल कहां से लाया जाए ? यहां तो कोई गतिविधि ही नही। मैंने होली की शाम को अपने घर एक गोष्ठी रखी जिसमें कालेज के अनेक छात्रों और अध्यापकों को आमंत्रित किया किन्तु हमारे लिए होली एक गोष्ठी का नाम नहीं है, वह तो रंग का महोत्सव है

जिसका यहां कोई पद-संचार ही नहीं। बहरहाल हमने अपने परिवार में ही रंग का महोत्सव मनाया। मैं, पत्नी, बच्चे आपस में ही रंगोत्सव मनाने लगे। इसी बीच के० सी० भट्ट अपने बच्चों के साथ आ गये। भट्ट यों भी मस्त आदमी थे, दूसरे हमारे और हिन्दी के सम्पर्क मे आने के कारण उत्तर भारतीय मानसिकता के समीप थे। वे भी रंगोत्सव में शामिल हो गये। उसी बीच पारसी-परिवार की दोनों लड़कियां (परवीन और छोटी का नाम भूल रहा हूं) आ गयी और रंगोत्सव के आकर्षण ने उन्हें भी अपने में समेट लिया। वे भी खुलकर रंग खेलने लगीं। काफी देर तक मेरे घर में रंगोत्सव की चहल-पहल मची रही। परवीन अपनी बहन के साथ लौटी तो हमने उसे अपनी मां से कहते सुना—"मा, बहुत आनन्द आया। हमारे यहां ऐसा कोई त्योहार क्यों नहीं है?" के० सी० भट्ट लौट गये। शाम को मालूम पड़ा कि उनके मकान मालिक ने उन्हें रंग खेलने के लिए गंवार की संज्ञा दी और भर्त्सना की तो भट्ट ने उन्हें काफी खरी-खोटी सुनायी। शाम को गोष्ठी हुई, जिसमें कविता, गीत, चुटकुले आदि सुनाये गये और लोगों ने होली का आनन्द लिया। अच्छी तरह होली मन जाने से मेरा मन हल्का हो आया था। उदासी छट गयी थी।

एम० एस० सी० (मैट्रिक) का मैं तीन साल से परीक्षक था। इस साल मॉडरेटर के रूप मे कार्य करने का निमंत्रण मिला। इस कार्य के लिए महीना-भर पूना में रहना था। पूना देखने की इच्छा तो जगी किन्तु अपरिचित शहर में जाने से मन घबरा रहा था। साथ में गुजराती विभाग के एक सज्जन मिल गये, फिर तो उत्साह हुआ। चला गया। एक गुजराती लाज मे ठहरा। वहीं अहमदाबाद के कुछ साथी मिल गये, जिनमें रमाकान्त शर्मा और जगन्नाथ पांडे भी थे। उनके मिल जाने से अकेलेपन का भारीपन कम हो गया। फिर बम्बई से आये हुए कुछ प्राध्यापकों से भेंट हुई और पूर्व परिचय गाढ़ा हुआ। उनमे पारसनाथ मिश्र प्रमुख थे। एक दिन घूमने-फिरने डा० रामयतन सिंह भ्रमर भी आ गये और उनको देखते ही बम्बई वालों ने काफी जश्न मनाया। बहरहाल मॉडरेशन के उबाऊ काम के बीच इन मित्रों का साहचर्य मुझे सुख देता रहा। शाम को पूना के बाजार में घूमते-घामते थे। यह शहर मुझे साफ-सुथरा और अच्छा लगता था। लोग स्वस्थ थे। स्त्रियों के स्वास्थ्यजन्य सौन्दर्य की आभा और ही प्रकार की थी। परेशानी भोजन करने की थी। उस लॉज मे गुजराती खाना बनता था जो मुझे रास नहीं आता था। अतः उत्तर भारतीय भोजन की तलाश में बाजार में भटकते फिरते थे। कभी किसी पंजाबी होटल में खा लेते, कभी किसी मारवाड़ी भोजनालय में।

वैसे मॉडरेशन का कार्य बहुत उबाऊ और नीरस होता है, वह भी घर से दूर स्थान में। किन्तु कह चुका हूं कि कई पुराने मित्र मिल गये थे और कई नये मित्र बन गये थे। इस मित्र-संगम में इन नीरस दिनों का उबाऊपन काफी कम हो गया था। मैं, रमाकान्त शर्मा और जगन्नाथ पाण्डे लॉज के एक ही कमरे में थे। शर्मा जी मेरे साथ खूब जोर-जोर से हंसते थे। पाण्डे जी भी बहुत विनोदी स्वभाव के थे और वे स्वयं विनोद के आलम्बन भी थे। वे एक-एक घराऊं बात निकाला करते थे। विचित्र-विचित्र

विनोदी हरकतें भी करते थे। वे कपड़े धोकर इस्त्री नहीं कराते थे, बल्कि उनमें से एक-एक को बारी-बारी से गद्दे के नीचे डाल लेते थे और गद्दे पर लेटकर अपनी पीठ हिलाते रहते थे। यह दृश्य बहुत मनोरंजक होता था। हम कहते थे—यह देखो, पंड़वा पिठिया रहा है। पाण्डे जी मंद-मद मुसकराते थे।

शाम को हम लोग घूमने निकल जाया करते थे और पूना के नागरिक और थोड़े-बहुत प्राकृतिक सौन्दर्य का जायजा लेकर दिन-भर की थकान मिटा लेते थे। कभी-कभी बड़ी विचित्र घटनाएं घट जाया करती है जिनका तर्क समझ मे नही आता। एक दिन हम लोग नदी का पुल पार कर इस पार से उस पार जा रहे थे। उधर से एक पागल आ रहा था। पाण्डे जी बीच मे चल रहे थे। वह पागल सबको छोड़ता हुआ जब पाण्डे जी के पास आया तो जोर से अंउवाना हुआ उनकी छाती पर झपटा। पाण्डे जी एकाएक घबड़ा गये और जोर से डपटकर झटके से उससे अपना पिण्ड छुडाया। हम लोग मजाक करने लगे कि लगता है पाण्डे जी से उसकी पुरानी जान-पहचान है नही तो आगे के इतने लोगो को छोडकर इन्ही पर क्यो झपटता ? पाण्डे जी की विनोद-मुद्रा गायब हो चुकी थी। उन्होंने झेंप मिटाने के लिए कहा, "नही-नही, यह केवल आकस्मिक था।" बात आयी-गयी हो गयी। कई दिन बाद हम लोग पूना के एक भीडभरे बाजार से गुजर रहे थे। मैने देखा, वही पागल भीड मे गुजर रहा था। दूसरो को भी दिखाया। एकाएक उस पागल की नजर पाण्डे जी पर पडी और वही से आऊं-आऊं करता हुआ पाण्डे जी की ओर लपका। हम लोगो ने डाट-डपटकर भगाया किन्तु उसके बाद हंसते-हंसते बुरा हाल हो गया और पाण्डे जी की हंसी फिर गायब हो गयी।

"अब बोलो पाण्डे जी ?" मैंने कहा।

"हां हां. कोई बात तो है कि यह ससुरा मेरी ओर झपट रहा है।" पाण्डे जी गभीर होकर बोले। विनोद की बात तो अपनी जगह थी किन्तु अब तक मैं नही समझ पाया कि वह पागल पाण्डे जी के साथ ऐसा क्यो करता था।

पूना आने से पहले ही मुझे विश्वनाथ शुक्ल से सूचना मिल गयी थी कि वे प्रिंसिपल होकर रुडकी जा रहे है। उनके विकल्प के रूप मे कौन आये, इसके बारे मे न उन्होने मुझसे बात की, न मैने। पूना आया तो अहमदाबाद से मेरे पास कुछ पत्र आए (मैने रघुवीर चौधरी को पत्र लिखकर पूना का पता दे दिया था) कि मै विश्वनाथ शुक्ल के स्थान पर अहमदाबाद लौट आऊ। मेरी परेशानी नैतिक थी। प्रिंसिपल ए० के० त्रिवेदी ने इतने महत्त्वपूर्ण ढग से मुझे नवसारी मे बुलाया था और साल-भर नही हुआ, मैं कैसे छोड जाऊ। यह सकेत भी मिल गया था कि विश्वनाथ जी अपने स्थान पर पोरबन्दर मे काम कर रहे नित्यानद पटेल को लेने की सिफारिश कर रहे है। मैने रघुवीर को लिख दिया कि भाई, सुना है वहा नित्यानंद जी के आने की बात हो रही है, मैं कैसे आ जाऊं ? रघुवीर का पत्र आया—"सर, सीता के स्वयंवर में तो बहुत से राजे-महाराजे आये, रावण भी आया था किन्तु जयमाला तो राम के गले में ही पड़ी न।" मैं समझ नही रहा था कि रघुवीर किस हैसियत से मुझे बुला रहे हैं। आखिर वे जेवियर के छात्र हैं, प्रिंसिपल तो नही किन्तु तभी बारिस अलवी का लम्बा पत्र मिला। उन्होंने भी

मुझे अहमदाबाद आने के लिए आमंत्रित किया। अब मैं समझ गया कि इन पत्रों के पीछे स्वयं प्रिंसिपल की प्रेरणा है। बम्बई के मित्रों से बात की। उन्होंने निर्भ्रान्त भाव से सलाह दी—"आपको अहमदाबाद जाना चाहिए। नवसारी में क्या रखा है। अहमदाबाद केन्द्रीय स्थान है। जब वहां विभाग खुलेगा तो उसमें आपके रीडर-प्रोफेसर होने का अवसर होगा। आप भावुक मत होइए।"

मैंने आधा मन बना लिया। अलवी साहब को पत्र लिख दिया कि अभी तो परीक्षा-कार्य मे व्यस्त हूं। आपके प्रस्ताव पर विचार कर रहा हूं। उनका पत्र आया कि परीक्षा-कार्य से निवृत्त होते ही प्रिंसिपल साहब से मिल जाइये। रघुवीर को भी अपनी स्वीकृति-सी दे दी। घर की बहुत याद आ रही थी और इस उबाऊ काम के बीच तो और भी। एक-एक दिन पहाड़-सा छाती पर लदा मालूम होता था जो सरकने का नाम नहीं लेता था। आखिर अवधि समाप्त होने को आयी। मन घर लौटने के उत्साह से भर गया। बम्बई तक का आरक्षण करा लिया था। इसलिए वहां तक तो आराम से आया किन्तु वहां से अहमदाबाद जाने वाली गाड़ी के लिए बडी विकराल भीड प्लेटफार्म पर खड़ी थी। कुली की कृपा से एक सीट मिल गयी, न मिलती तो घर लौटने की ऐसी बेचैनी थी कि किसी तरह डब्बे में समाता ही। गाडी नवसारी एक बजे रात को पहुंची। डर था कि इतनी रात को कोई सवारी मिलेगी कि नहीं। नही मिली तो कहां रहूंगा? खैर, उतरते ही एक तांगा मिल गया। भूंकते हुए कुत्तों से भरी गलियों से होता हुआ तांगा घर पहुंचा तो मुझे बहुत गहरे आनंद की अनुभूति हुई। नीचे से आवाज देना शुरू किया किन्तु यह क्या? कोई आहट नही। पुकार-पुकारकर मै थक गया किन्तु न बत्ती जली, न कोई आहट हुई। जो उत्सुकता लिए मैं इस रात को चीरता घर पहुंचा था वह तो थककर खामोश हो गयी। आखिर पड़ोसी पारसी मित्र का जंगला खुला और गृहिणी ने सिर निकालकर पूछा—"कौन है?"

"मैं।" और उन्होने आवाज पहचानकर कहा, "रुकिए, मैं खुलवाती हू।" उन्होने बीच की खिड़की से पत्नी को पुकारा। अब जाकर उनकी नींद टूटी। लपककर नीचे आयी और दरवाजा खोलते हुए दुखी कंठ से कहा—"अभी तक प्रतीक्षा में जागती रही, जागते-जागते अभी-अभी नींद लग गयी और लगी तो ऐसी कि बस···।" बच्चे जग गये। महीने-भर के तरसे हुए बच्चे हेमंत और अंजू गले से लिपट गये। हेमंत तो सो गया किन्तु अंजू तो मेरा मुंह देखती हुई, हें-हें करती हुई लगातार मुझे प्यार करती रही। चिट्ठियों का ढेर सामने पड़ा था। सरसरी निगाह से उन्हें उलटा-पलटा। पत्नी से सुख-दुःख की बातें की। अहमदाबाद के पत्रों की बात बतायी। परिवार में आकर लगा जैसे महीने-भर की नहीं, साल-भर की जेल काटकर आया हूं।

गुजरात यूनिवर्सिटी से उत्तर-पुस्तकें आयी थी—चार-पांच सौ के करीब। उन्हें भेजने का समय समाप्त-सा हो रहा था और अभी तक मैंने देखना भी शुरू नहीं किया था। सोचा, इन्हें देख लूं तो साथ लेकर अहमदाबाद निकल जाऊं और जेवियर के प्रिंसिपल से भी बात कर लूं। मेरे मुख्य परीक्षक थे अम्बाप्रसाद शुक्ल। बार-बार उनके पत्र आ रहे थे। एक उबाऊ काम से छूटकर आते ही दूसरे उबाऊ काम में डूब गया और

जल्दी-जल्दी निबटाकर उन्हें लेकर अहमदाबाद पहुंचा। मेरे मित्रों और शिष्यों ने धधाकर स्वागत किया। प्रिंसिपल से बात हो गयी। समस्या थी नोटिस देने की। उन्होंने कहा—"नोटिस दे दीजिए। अभी तो छुट्टिया है। यदि उसके बाद भी उन्होंने नहीं छोड़ा तो महीना-भर और सही।" चूकि प्रिंसिपल मुझे चाहते थे, दूसरे माध्यमो से मुझे पाने की इतनी कोशिश की थी इसलिए उन्हें मेरी सुविधा का ध्यान तो रखना ही था।

मैं नवमारी लौट गया किंतु त्यागपत्र लेकर प्रिंसिपल के पास जाने की हिम्मत नहीं हुई। एक अपराध-बोध से मन ग्रस्त था। दिनकर भाई को बुलाया। त्यागपत्र लिखकर उन्हें दिया और कहा कि आप कह दें कि मैंने अहमदाबाद में आपको यह पत्र दिया है। कहिएगा कि फिलहाल मैं अहमदाबाद में ही हूं। दिनकर भाई गये और लौट-कर खबर दी कि त्यागपत्र पाते ही द्विवेदी जी ने माथा पकड लिया। बोल उठे, "अब ये भी।" बात यह थी कि मेरे पहल दो व्यक्ति त्यागपत्र दे चुके थे जिससे वे परेशान थे। यह तीसरा त्यागपत्र पाकर व विचलित हो गये और कहने लगे कि खिस्ती ने बदला लिया है और अधिक पैसा दकर बुला लिया। अरे, "मुझसे कहा होता तो उतना ही पैसा मैंने दे दिया होता।" दिनकर भाई ने प्रतिवाद किया—"नहीं-नहीं, वहा अधिक पैसे नहीं मिले है। वहा तो कुछ लोगो द्वारा पोरबन्दर के नित्यानद पटेल के लिए कोशिश की जा रही थी किन्तु प्रिंसिपल ने मिश्र जी को ही चाहा और मिश्र जी पैसे के लिए नहीं, भविष्य के लिए गये है।"

नित्यानद का नाम सुनते ही प्रिंसिपल को डूबते का सहारा मिल गया क्योंकि और कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो एम० ए० केन्द्र का प्रभारी होने के योग्य भी हो और यहा आने के लिए तैयार हो। बहरहाल उन्होने बाद मे नित्यानंद जी से लिखा-पढ़ी की और अपने यहा नियुक्त कर लिया। मै छुट्टियो म गाव चला गया। प्रिंसिपल के पत्र आते रहे कि यथासभव मैं छुट्टियो के बाद शीघ्र जेवियर ज्वाइन कर लू। छुट्टियो के बाद मैं नवसारी गया क्योंकि अभी नोटिस काल मे एक महीना बाकी था। मैंने सोचा कि अब त्रिवेदी साहब से मिलकर अपनी सफाई दे लू। अब वे तात्कालिक धक्के से उबर चुके होंगे और नित्यानंद की नियुक्ति भी कर ली है। उनसे मिला। शिकवा-शिकायत हुई और उन्होंने मुझे बाकी समय से मक्ति देकर कहा, "आप जाइए, जेवियर ज्वाइन कर लीजिए।" मैंने आभार माना।

46

सेंट जेवियर में अपने पुराने मित्रो के बीच पहुचकर बहुत सुख माना। कुछ नये लोग आ गये थे जिनमें गुजराती विभाग के चिम्मन त्रिवेदी और महेन्द्र दवे भी थे। महेन्द्र दवे कवि थे। अरविन्द जोशी के माध्यम से मेरे बारे में बहुत सुन चुके थे अतः बड़े प्रेम से मिले। चिम्मन त्रिवेदी पिछले साल ही आ गये थे। मेरे पुराने शिष्यों में भी बहुत

उत्साह था। एम० ए० मे बी० ए० के छात्र आ गये थे और बहुत-से और नये छात्र थे। रघुवीर चौधरी, करुणेश शुक्ल, रावत, नवनीत गोस्वामी एम० ए० मे आ गये थे। रघुवीर को बी० ए० मे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी जो इस कालेज के लिए बड़े गौरव की बात थी। रघुनाथ भट्ट, महावीरसिंह चौहान, सुमन अजमेरी, रामकुमार गुप्त आदि भी एम० ए० के नये बैच म थे। गाव के स्कूलो से भी अनेक लोग आये थे।

बी० ए० मे नये छात्र के रूप मे आये थे विनीत गोस्वामी, कमलेश अग्रवाल, भंवरलाल गुर्जर, प्रेम पालीवाल, हसीना कादरी, सर्वेन्द्र मणि त्रिपाठी, दयाशकर त्रिपाठी, गुलाबसिंह। मेरे भतीजे रामनिवास भी वहा से बी० ए० करने आये थे।

हिन्दी विभाग मे मेरे स्थान पर गत वर्ष जगदीश शर्मा आ गये थे। इस वर्ष याज्ञवल्क्य अग्निहोत्री और रघुवीर चौधरी आ गये थे—पार्टटाइम लेक्चरर के रूप मे। बी० ए० मे प्रथम आ जाने पर यहा पार्टटाइम लेक्चरर के रूप मे नियुक्ति हो जाती है इसलिए रघुवीर की नियुक्ति हो गई थी। हरिहरजी तो पहले से थे ही। कुल मिलाकर हम पाच थे। एम० ए० टीचिंग के लिए मेरे अतिरिक्त केवल जगदीश शर्मा ही मान्य थे। बहुत अच्छा लग रहा था। काफी गहमागहमी थी। विश्वनाथ शुक्ल की सी प्रबधपटुता, सामाजिक सम्बन्ध-निर्माण-क्षमता और हसते-हसाते रहने की चेष्टा मुझमे नही थी। फिर भी लोग मुझे पसद करते थे। प्रिंसिपल के पास आते-जाते रहने और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करते रहने का न मेरा स्वभाव था न इच्छा। इसलिए विश्वनाथ शुक्ल की सी धाक मैं बैठा नही सकता था। मुझे सभी लोग निरापद मानते थे, इसलिए मुझसे लोगो का एक सहज लगाव था।

यहा मेरी पुनर्नियुक्ति मे एक अप्रिय स्थिति पैदा हो गई थी। कहा जा चुका है कि विश्वनाथ जी अपनी जगह नित्यानद पटेल को लाना चाहते थे। इस सम्बन्ध मे न उन्होने मुझसे बात की थी न मैंने। मैं तो यहा आने के लिए उत्सुक ही नही था, अतः उनसे अपने लिए क्या बात करता और शायद उन्होने मेरी निरुत्सुकता भापकर नित्यानद के लिए बात चलाई थी। कह चुका हू कि जेवियर के अधिकारी नित्यानंद को न चाहकर मुझे चाह रहे थे और मेरे आत्मीयो के माध्यम से मुझ पर आने के लिए दबाव डाल रहे थे। अत मे मुझे आना पडा। इसमे मेरी ओर से कोई पहल नही थी किन्तु सभवतः विश्वनाथ जी यह समझ बैठे कि मैंने एक तो पहले अपने आने की इच्छा नही जाहिर की दूसरे जब उन्होने नित्यानद पटेल के लिए प्रयत्न किया तो उनके इस प्रयत्न मे बाधक बनकर मैंने उनका अपमान किया। अतः हमारी मैत्री मे अकारण खिचाव आ गया। वास्तव मे मेरी-उनकी भेट नही हुई और न आमने-सामने कहा-सुनी हुई किन्तु जेवियर के ही मित्रो और कुछ आत्मीय शिष्यो के द्वारा उनकी नाराजगी का पता चल गया। प्रिंसिपल डिसूजा ने भी हसी-हसी मे बहुत-से सकेत दे दिये। विश्वनाथ जी के साथ बने सबधो मे आयी दरार को लेकर मैं दुःखी था। मैंने अपनी ओर से कुछ नही किया और इतना सब हो गया। उनसे मेरे गहरे पारिवारिक सम्बन्ध थे। एक-दूसरे पर गहरा विश्वास था। हम सुख-दुःख के साथी थे। अलग अलग स्वभाव के होकर भी एक-दूसरे को पसद करते थे। फिर यह क्यो हो गया ? क्यो हो जाता है ऐसा ? मगर हो गया तो

हो गया और दोनों पक्षों में जाने-अनजाने एक खिचाव आता गया। अन्य लोग इस स्थिति का लाभ उठाना चाहते हैं। पिछले साल के कुछ ऐसे छात्र थे जो विश्वनाथ जी के प्रिय छात्र थे और जाहिर है कि मुझसे परिचित नहीं थे। उन्होंने कक्षा में मुझसे कुछ प्रश्न किये। उत्तर तो मैंने दे दिए किन्तु कुछ छात्रों ने बताया—"सर, ये विश्वनाथ जी के प्रिय छात्र रहे है और आपको परेशान करने के लिए सवाल पूछते है।" मैंने समझाया—"नहीं सवाल पूछने का उन्हें अधिकार है। किसी को भी अधिकार है और अधिकार की बात क्यों उठाई जाए। यह क्यों न कहा जाये कि उनके मन में कोई जिज्ञासा है इसलिए अपने गुरु से उसका उत्तर पाना चाहते हैं। और जहां तक रही परेशान करने की बात तो मैं इनके प्रश्नों से परेशान होने वाला नहीं। मुझे अपने-आप पर भरोसा है।" "नहीं सर, आप नहीं जानते इन्हे। वे आपको परखना चाहते है।" कहकर उदास मन से वे चुप हो गये। मैं सवाल करने वालों के स्वर को समझ रहा था और शिकायत करने वालों की बात सही थी किन्तु मैं इस तरह की सस्ती बातों को बढ़ावा देना नहीं चाहता था। किन्तु शीघ्र ही वे छात्र अपनी तात्कालिक ऐंठ छोड़कर सहज रूप मे आ गये और मेरे बहुत प्रिय और होनहार छात्रों में शुमार हो गये। कुछ छात्रों के प्रश्नों में शरारत थी। वे वास्तव में मजाकिया लहजे में मुझसे भिड़ना चाहते थे। मैंने उन्हें संभाला और वे कुछ दिन बाद गंभीर और मेरे भक्त छात्र बन गये। उन्होंने स्वीकार किया—"सर, हम तो क्लास मे मौज-मजा लेने आते थे किन्तु आपके सम्पर्क में आकर हमारे भीतर पढ़ने की इच्छा जाग गयी और हम आपके बहुत ऋणी है।" वे छात्र लेक्चरर बने, प्रिंसिपल बने। मुझे सचमुच अपने अध्यापन-कार्य की यह उपलब्धि लगती है कि उसने कुछ छात्रों को पढ़ने की ओर प्रवृत्त किया। दरअसल मैंने यहां बी० ए०, एम० ए० के छात्रों का असीम प्यार पाया। इससे बड़ी उपलब्धि एक अध्यापक की क्या हो सकती है? प्यार तो मुझे अपने कालेज के साथियों का भी मिला, आसपास के नागरिकों का भी मिला। धीरे-धीरे गुजरात मेरे लिए प्यार का नाम हो गया।

गुजरात कालेज में दो नये प्राध्यापक आए थे—श्री गोवर्धन शर्मा और श्री प्रभास शर्मा। दोनों ही एम० ए० के अध्यापन के लिए मान्य थे। मैंने इन्हें इस वर्ष एम० ए० की क्लास दी। श्यामसुंदर शुक्ल भी मान्य थे किन्तु उन्हें अभी तक क्लास नहीं मिली थी। उन्होंने अपने एक अवांछित लेख से विश्वनाथ जी तथा हिन्दी के सभी प्राध्यापकों को नाराज कर लिया था, साथ ही कुछ प्रिंसिपल भी नाराज हो गए थे। किन्तु इस साल मैंने उन्हें आमंत्रित किया। पहले के अध्यापक तो थे ही। मैंने जब विषय बांटे तो सबने अपनी-अपनी पसंद के विषय ले लिए। बचा भाषा-विज्ञान। भाषा-विज्ञान मेरा अपना विषय कभी नहीं रहा किन्तु विडम्बना देखिये कि वही मेरे पल्ले पड़ा। भाषा-विज्ञान पढ़ाने मे मैं आश्वस्ति अनुभव नहीं करता था। मेरा उस पर अपना कोई विशेष अध्ययन-मनन नहीं था। इसलिए मैं पुस्तकों से नोट बनाता था और क्लास में लिखवाता था। हर बार कक्षा मे मैं अपनी योग्यता के लिए क्षमा-याचना करता था और यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि यह विषय मेरे गले पड़ा है अतः ढो रहा हूं। ऐसे ही सब कुछ चलता रहा। एक दिन कुछ छात्र आए और हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—"सर, हम कुछ

निवेदन करना चाहते हैं।"

"कहिए ?"

"सर, आप भाषा-विज्ञान जैसा पढाते हैं वैसा तो कोई भी पढा सकता है किन्तु जो आपका अपना विषय है उसे आप जैसा आप ही पढा सकते है। हम आपका सर्वश्रेष्ठ पाने से वंचित हो रहे है।" भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अपने अध्यापन की कमजोरी तो मैं खुद जानता था और बार-बार उसे व्यक्त भी कर चुका था किन्तु करता क्या ? बहरहाल मित्रो स बात की तो प्रभाम शर्मा और श्यामसुदर शुक्ल इस विषय को लेने को तैयार हो गए। मैंने राहत की सास ली। इसके बाद सब कुछ ठीक चलता रहा। भगवतशरण अग्रवाल के मित्र डा० गोवर्धन शर्मा मेरे भी निकट आते गए।

मेरे जीवन का यह बहुत सुखद काल था। अहमदाबाद हर तरह से मुझे पूरा भा गया था और अब घर तथा बनारस जैसा ही अपना लगने लगा था। बल्कि कई अर्थों मे यह बनारस स भी प्यारा लगने लगा था। बनारस की अपेक्षा यहा सामाजिक खुलापन अधिक था। यहा मुझे भौतिक और मानसिक सभी दृष्टियो से एक तृप्ति प्राप्त हो रही थी और यदि चार वर्षों बाद अहमदाबाद छोडना न पडा होता ता इसे नही छोडता। हमने 'आस्था' नामक एक साहित्यिक सस्था बना रखी थी। उसकी गोष्ठिया लगातार होती थी। प्रायः मेरे ही घर (समस्त ब्रह्म क्षत्रिय सोसायटी) पर होती थी। उसमे साहित्य-रसिक प्राध्यापक तो भाग लेते ही थे, छात्र भी आते थे बल्कि छात्रो को प्रोत्साहित करना इसका प्रमुख लक्ष्य था। पढी गयी रचनाओ पर चर्चा भी होती थी। रघुवीर चौधरी भी उन दिनो हिन्दी मे लिखने लगे थे। मुझे याद है कि मेरे घर आयोजित एक गोष्ठी मे रघुवीर ने एक कविता पढी। भाई लोग इस उभरती हुई प्रतिभा की कविता के वस्तुगत सत्य को पहचानने के स्थान पर उसके हिन्दी उच्चारण पर टिप्पणी करने लगे। मुझे लगा कि यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। मैने हस्तक्षेप किया, "गुजराती होने से उच्चारण का यह स्वरूप होना स्वाभाविक है जैसे हमारे उच्चारण मे हमारी स्थानीयता दखल देती है। वास्तव मे देखने की बात तो यह है कि रघुवीर की जो कविता है वह कविता की दृष्टि से कितनी सशक्त या कमजोर है। मुझे तो इनकी कविता मे बहुत जान दिखाई पड रही है। मैं इसके लिए इन्हे बधाई दूगा।" लोग मेरी टिप्पणी पर तो चुप हो गए किन्तु उनका मन चुप नही हुआ। वास्तव मे रघुवीर चौधरी कही न कही लोगो को खटकते थे। इसलिए लोग उनके प्रति अपना भाव किसी न किसी रूप मे व्यक्त कर देते थे।

गोष्ठिया शहर मे भी होती थी, नवजीवन कालोनी मे भी होती थी। गुजराती कवियो की गोष्ठियो मे भी मैं जाता था। गुजराती साहित्य-परिषद् मे मैंने हिन्दी कविता पर लेख पढ़ा। विद्यालयो और महाविद्यालयों मे भी हिन्दी साहित्य के कार्यक्रम आयोजित होते थे, वहा भी मैं बुलाया जाता था। गर्ज कि जो साहित्यिक वातावरण मेरे जीने के लिए आवश्यक था, वह अहमदाबाद मे बन गया था।

उमाशंकर जोशी गुजराती के बहुत सम्मानित साहित्यकार और विद्वान् थे। वे एकाध बार सेंट जेवियर मे भाषण देने आ चुके थे किन्तु उनसे मेरा परिचय नही हो

सका था। किसी भीड़ में किसी का परिचय कैसे कराया जाता है वैसा ही मेरा भी करा दिया गया था किन्तु मैं इनसे निकट सम्पर्क चाहता था। एम० ए० के इंचार्ज के रूप में मैंने हिन्दी विभाग की एक वार्षिक संगोष्ठी की, जिसमें कविता-पाठ का भी आयोजन किया गया। कविता-पाठ वाले सत्र के लिए अध्यक्ष के रूप मे उमाशंकर जोशी को आमन्त्रित किया। कृपा कर वे आये। कविताएं पढ़ी गयीं। उन्होंने कविता में बिम्ब पर अपने विचार व्यक्त किए और इस संदर्भ में पठित कविताओं की चर्चा की। मुझे आश्चर्य हुआ कि उन्हें मेरी पूरी की पूरी छन्दात्मक कविता भाव की दृष्टि मे याद हो गयी। उन्होने उसमे आये एक-एक बिम्ब को लेकर जो व्याख्या की, उससे मैं अपने काव्य के सौन्दर्य और उनकी स्मृति तथा विश्लेषण-क्षमता पर चकित रह गया। सबसे अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात से हुई कि उमाशंकर जी के निकट आने की मेरी आकाक्षा फलवती होनी शुरू हुई। फिर तो मै धीरे-धीरे उनके बहुत निकट आ गया। उनका बहुत गहरा स्नेह और आत्मीयता मिली। यह गुजरात-निवास की मेरी बहुत प्रिय उपलब्धि रही। उनके घर आने-जाने लगा। साहित्य पर चर्चायें होने लगी। उमाशंकर जी अच्छी हिन्दी बोलते थे, हिन्दी मे भाषण दे लेते थे और जब भी मिलते हिन्दी में सृजित होते नये साहित्य के बारे मे पूछते और चर्चाए करते थे।

यह समय हिन्दी शिक्षण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। वल्लभ विद्यापीठ मे मोहनवल्लभ पंत प्रोफेसर के रूप मे आये थे। रामेश्वर खंडेलवाल रीडर बनकर आ गये थे। इनके अतिरिक्त ओमानद सारस्वत, जगदीशचन्द्र जोशी, पवनकुमार, सुरेशचन्द्र त्रिवेदी आदि अनेक युवा पीढी के प्राध्यापक वहा थे। इनके कारण वहा के वातावरण मे एक जीवतता बनी हुई थी और हम लोग एक-दूसरे के यहां आया-जाया करते थे। बड़ौदा विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग मे यद्यपि प्रोफेसर, रीडर की नियुक्ति हो गयी थी किन्तु वह विभाग लगातार दुर्भाग्यपूर्ण और हास्यास्पद बना रहा। वहा लोगो के साथ प्राकृतिक हादसे होते गये और जिनके साथ प्राकृतिक हादसे घटित नही हुए, उनमे से कई अपने चरित्र से अपने लिए और विभाग के लिए स्वयं हादसा बन गये। लागो के मन मे इस विभाग के अनेक चरित्रो के प्रति सम्मान का भाव तो नही ही था, उलटे उपहास का भाव था। पूरा हिन्दी साहित्य जगत् जानता है कि बाद में विभाग के दो वरिष्ठ सदस्यो मे कैसी कुत्सित लड़ाई हुई और कैसे दोनों ने एक-दूसरे को नगा किया।

मै बड़ौदा से एक बार हटा तो फिर नही जुड़ा और अहमदाबाद का हिन्दी साहित्य का वातावरण वल्लभ विद्यापीठ के प्राध्यापक साहित्यकारों से खूब जुड़ा। बड़ौदा के पास कुछ था ही नहीं जो हमे उससे जुड़ने के लिए प्रेरित कर सकता। वल्लभ विद्यापीठ के पं० मोहनवल्लभ पंत बुजुर्ग प्रोफेसर होकर भी हम सबसे मित्र भाव रखते थे। हमें उनका बड़ा गहरा स्नेह प्राप्त था। वे हमे प्रायः अपने यहां बुलाते थे और हमारे बुलाने पर हमारे यहां आते भी थे। रामेश्वर खंडेलवाल रीडर तो थे किन्तु उससे पहले वे कवि थे और यह कवि-रूप उन्हें नये साहित्यकारों के साथ भी सहभाव प्रदान करता था। हम लोग बड़ी मस्ती से एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे, आते-जाते थे,

कविताएं पढ़ते थे।

इसी वर्ष (यानी 1960 में) किसी काम से बम्बई गया। भानुकुमार जैन के यहां ठहरता था। पिछली यात्राओं मे वीरेन्द्रकुमार जैन मित्र बन चुके थे। रामावतार चेतन तो मित्र थे ही। दोनों 'धर्मयुग' मे काम करते थे। 'धर्मयुग' कार्यालय में गया। शुरू में वीरेन्द्र जी मिले। उन्हें नमस्कार किया। उन्होने नमस्कार के उत्तर मे सिर ऊपर उठाया, फिर सिर झुकाकर काम करने लगे। मैं चकित था, अपमानित अनुभव भी किया। फिर चेतन मिले। उनसे जिक्र किया। उन्होंने कहा—"आप वीरेन्द्र जी पर नाराज मत होइए। वे इस समय बहुत अपसेट हैं।"

"क्यों भला ?"

"उन्हें उम्मीद थी कि सत्यकाम जी के अवकाश ग्रहण करने के बाद 'धर्मयुग' के सम्पादक बन जाएंगे। दूसरे नम्बर पर होने के कारण उनका ऐसा सोचना उचित ही था किन्तु वे सम्पादक नही बन सके। डा० धर्मवीर भारती को सम्पादक बना दिया गया।"

"अच्छा ! वे आ रहे हैं ?"

"आ गए। आज ही ज्वाइन किया है।"

मेरे मन में एक बात उठ रही थी कि चेतन जी ने स्वयं उसे उजागर कर दिया।

'अब तो 'धर्मयुग' परिमल का पर्याय बन जायेगा। देखिये अब इलाहाबाद ही होगा 'धर्मयुग' में।"

खैर, जो भी हो यह जानकर बहुत अच्छा लगा कि 'धर्मयुग' को धर्मवीर भारती जैसा योग्य और सर्जक सम्पादक मिला। मैं उनसे मिलने उनके केबिन में गया। वे तपाक से मिले और मेरे संशय को काटते हुए बोले—"देखिये, मैंने एक बड़ा दायित्व लिया है। उसके निर्वाह के लिए आप लोगों का सहयोग चाहिए। हमारे लिए लिखते रहिए।" फिर बहुत स्नेहपूर्ण बातें होती रहीं। यह शायद पहला अवसर था जब भारती जी से मैं अकेले में इतनी अतरगता से बात कर रहा था। सत्यकाम जी आये। बैठे और जाते समय उपदेश दिया, "देखिये, मैंने बड़ी मेहनत से इस पत्रिका को बनाया है, पचास हजार तक इसकी बिक्री बढ़ा दी है। आप नये सर्जक हैं। देखिएगा इसकी बिक्री घटने न पाये।"

भारती जी ने बहुत विनयपूर्वक आशीर्वाद के रूप में उनका उपदेश ग्रहण किया। कहा—"कोशिश करूगा कि आपकी उम्मीद टूटने न पाये।"

भारती जी को मैं कविताएं, कहानियां भेजता रहा, छपती रही। वे एक अतराल के बाद पत्र लिखकर रचना भेजने का आग्रह करते रहते। थोड़े ही समय में अनुभव हो गया कि भारती जी ने 'धर्मयुग' को 'परिमल' से अलगा लिया है और अपने पत्र को साहित्यकारों की एक बड़ी दुनिया से जोड़ा है। मैंने उन्हें अपने कालेज की 'हिन्दी साहित्य सभा' की ओर से अहमदाबाद आने के लिए आमंत्रित किया। वे सहर्ष आये। साहित्यकारों और प्राध्यापकों में उनके आने से बड़ा उत्साह फैल गया। कई जगह

साहित्यिक आयोजन हुए। वे मेरे ही घर ठहरे थे। उन्होंने अपने चुटकुलों और विनोदात्मक संस्मरणों का खजाना खोल दिया। मेरी छोटी बिटिया अंजू भारती जी से खूब हिलमिल गयी। वह उनका साथ नहीं छोड़ती थी। इस चार वर्षीय बिटिया का सौन्दर्य-बोध बहुत जाग्रत् था। जब कोई काला-कलूटा या असुंदर व्यक्ति (चाहे वह मेरा छात्र हो, चाहे दोस्त, चाहे और कोई) मेरे यहां आता था और हम लोग कहते थे कि बेटा, अंकल को नमस्ते करो तो वह मुंहफट लड़की एकदम कह उठती, "धत्, ऐसे आदमी को मैं अंकल नहीं कहूंगी।" इसके विपरीत कोई ठीक-ठाक आदमी होता तो उसके साथ घुलमिल जाती। ऐसा कोई अतिथि आता तो उसके आते ही यह सवाल करती, "पापा, ये कब जाएंगे?" वह आदमी एकाएक अचकचा जाता। मैं मुसकराता और आश्वस्त करते हुए कहता—"घबराइए नहीं, इसके पूछने का आशय यह है कि आप आते ही चले तो नहीं जाएंगे। इसे ठीक-ठाक दीखने वाले लोगों से बातचीत करने, उनके साथ समय गुजारने में आनंद आता है।" तब वह व्यक्ति ठठाकर हंसता। अंजू ने शायद ऐसा ही प्रश्न भारती जी से भी किया था और भारती जी को मेरे घर पर दो-तीन दिन ठहरने की प्रक्रिया में यह ज्ञात हो गया कि अंजू के पूछने का आशय क्या था?

मेरी पत्नी अपनी ओर से अच्छे से अच्छा खाना बनाती ही रहीं, फिर भी उन्हें लगा कि अतिथि के मनपसंद खाने की भी जानकारी ले लेनी चाहिए। उन्होंने भारती जी से कहा—"भाई साहब, मुझे लग रहा है कि आपको मेरा खाना पसंद नहीं आ रहा है।"

"अरे नहीं-नहीं भाभी जी, यह आप क्या कह रही हैं?"

"तो फिर मन से खाते क्यों नहीं?"

"अरे इतना तो खाता हूं, फिर मन से न खाने का प्रश्न कहां?"

"नहीं, मैं चाहती हूं आपकी पसंद की कोई चीज बनाऊं। बताइए, आपको क्या पसंद है?"

"भाभी जी, मेरी कोई खास पसंद नहीं।"

"फिर भी।"

"बासी पूड़ी और भरी मिर्च का अचार।"

हम हंसे और प्रसन्न भी हुए। मैंने कहा—"हमारी ही तरह आपके खानपान की रुचि में भी बचपन जीवित है, वह महानगरी रुचि से आक्रांत नहीं हुआ।"

पत्नी उन्हें बासी पूड़ी तो नहीं खिला सकीं किन्तु जाते समय उन्हें एक डिब्बा भरी मिर्च का अचार जरूर दे दिया और भारती जी उसे बहुत प्रेम से ले गये।

उन्हीं दिनों वल्लभ विद्यापीठ में भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन का आयोजन किया गया। इस परिषद् से मेरा कोई सरोकार नहीं बन पाया था। इसलिए मैं इसके किसी अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुआ था और इस अधिवेशन को छोड़कर बाद में भी किसी में सम्मिलित नहीं हुआ। इसके दो कारण हैं: (1) स्वभाव ही ऐसा है कि मैं बहुत कम आता-जाता हूं। दिल्ली में आने के बाद देखा—यहां मंत्रालयों, दूतावासों में न जाने कितने जलसे होते हैं (जहां जाकर लोग अनेक तरह के सम्बन्धों की

रचना करते हैं) पर मैं नहीं जाता। वहीं जाता हूं जहां कुछ साहित्यिक परिवेश हो और अनौपचारिकता हो। (2) मुझे लगता था कि भारतीय हिन्दी परिषद् में प्रोफेसरों का वर्चस्व है, बाकी लोग तो भीड के रूप में जाने जाते हैं। लेकिन भीड़ के रूप में जाने वाले भी अपना-अपना काम वहां करते है—यानी पारम्परिक सम्बन्ध बनाते हैं, परीक्षकत्व तथा ऐसी ही लाभ की चीजों के लिए गोटी फिट करते हैं। न मैं प्रोफेसर हूं, न गोटी फिट करने वाला भीड का कोई व्यक्ति। फिर क्या करने जाऊं ? इस न आने-जाने की हानि तो मैंने काफी उठायी किन्तु लाभ-हानि मे ही तो जीवन नहीं चलता। अपने भीतर का सुख कम मूल्यवान तो नही।

वल्लभ विद्यापीठ वाले अधिवेशन मे भी मैं गया नही, मुझे जाना पडा। परिषद् के सचिव ने हमारे कुलपति को गुजरात विश्वविद्यालय मे प्रतिनिधि भेजने को कहा। एम० ए० केन्द्र का प्रभारी होने के कारण मुझे भेजा गया। मैं गया। हमारे बहुत-से छात्र और मित्र भी गये। डा० नगेन्द्र तो उस समय तपे हुए अध्यक्षों में से थे, बल्कि सबसे अधिक प्रतापी अध्यक्ष थे। परिषद् पर भी उनका सर्वाधिक प्रभाव था। वे तो थे ही, और भी अनेक प्रोफेसर, अध्यक्ष, रीडर, प्राध्यापक आदि थे। चहल-पहल थी। मिलना-जुलना, देखना-दिखाना और सांठ-गांठ की प्रक्रिया जारी थी। मेरे कई विद्यार्थी नगेन्द्र जी को देखने आये थे और वे बहुत खुश थे कि उन्होंने उन्हें पान खिलाया है। मैं भी उन्हें दूसरी बार देख रहा था। पहली बार निराला-जयंती-समारोह मे नाव पर बनारस मे देखा था आज यहां देख रहा था। गुजरात से गाव जाने की प्रक्रिया मे दिल्ली से कई बार गुजरा किन्तु स्वभाव के अनुसार उनसे या किसी अन्य साहित्यकार से परिचय प्राप्त करने के लिए मैं दिल्ली के भीतर नही गया। मुझे अपनी बनावट पर आश्चर्य होता है कि जहां अनेक नये-नये साहित्यकार या प्राध्यापक बड़े लोगो से परिचय प्राप्त करने की योजना बनाकर यहा-वहा अभियान करते है, वहां किसी शहर से गुजरते हुए भी वहा के प्रतापी लोगों से परिचय का प्रसाद पाने की कभी मेरी इच्छा ही नही हुई। प्रथम दर्शन के समय नगेन्द्र जी के चेहरे पर जो गर्व का आकुंचन देखा था, वही इस समय भी देख रहा था और बाद मे तो देखता ही रहा।

बहरहाल विचार-गोष्ठिया हुईं। बहसें हुईं। पाठ्यक्रमों पर विचार हुआ। मैंने भी गुजरात विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम का हवाला दिया। इस अधिवेशन में तमाम बातें हुईं जैसी प्रायः होती हैं, किन्तु कुछ बातें ऐसी थी जो अपनी जीवंतता के कारण मुझे याद हैं और जो अधिवेशन की ऐकेडेमिक जड़ता को तोड़कर अनौपचारिक उत्सव की तरह उगी थीं। उनमे से एक था—कवि-सम्मेलन। कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता शंभूनाथ सिंह और संचालन ओमानंद सारस्वत कर रहे थे। शंभूनाथ जी के साथ नंददुलारे वाजपेयी बैठे हुए थे। ठीक याद नहीं कि वरिष्ठ प्रोफेसरों में से और कोई वहां था कि नहीं क्योंकि प्रोफेसर और सर्जनात्मकता का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता। प्रायः विपरीत ही होता है। जाहिर है शुरू में कनिष्ठ और स्थानीय कवियों से पढ़वाया जाता है। वाजपेयी जी ने शंभूनाथ सिंह से कहा, "किसी अच्छे कवि से कविता पढ़वाइए।" शंभूनाथ सिंह के पास मैं भी बैठा हुआ था। उन्होंने कहा, "जिसका नाम

सबसे अच्छा हो, उसी को बुलाता हूं।" उन्होंने सूची देखी और ओमानंद से कहा, "इस कवि को बुलाइये।" ओमानंद ने अपने विदूषकी लहजे में पुकारा—"अब आपके सामने स्वर्णकिरण जी कविता पढ़ेंगे।" कोई उठा ही नहीं। लोगों ने चारों ओर देखा कि इस नाम का कवि कहां है ? है कि नहीं ? तब तक एक कवि उठे। उन्हें देखते ही लोग चिल्लाये—यमदूत, यमदूत। स्वर्णकिरण जी इस उपाधि से एक बार स्तब्ध होकर ठिठके, फिर धीरे-धीरे माइक पर आ गये किन्तु उन्हें लेकर श्रोताओं का मन विनोद पर उतर आया था। बात यह हुई कि पहले दिन शाम को गुजराती के स्थानीय कलाकारों ने सार्त्र के नाटक 'नो एक्जिट' का गुजराती रूपान्तर मंच पर प्रस्तुत किया था। उसमें काली पैंट और काला अगरखा पहने यमदूत आया था। स्वर्णकिरण ने भी काली पैंट और काली शेरवानी पहन रखी थी। बस, श्रोताओं को मसाला मिल गया।

स्वर्णकिरण भी श्रोताओं के उपहास का बदला लेने पर तुल गये। यानी वे किसी की भी परवाह किये बिना कविता पढते रहे। श्रोता उनकी ऐसी की तैसी करते रहे और वे श्रोताओं की। एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी कविता। हाहाकार मच गया। श्रोता चिल्लाते रहे। अध्यक्ष और सयोजक उन्हें आगे बढने से रोकते रहे। मेरी बगल मे बम्बई से पधारे एक विद्वान् बैठे हुए थे जो शुरू मे ही आकर्षण का केन्द्र बने हुए थे। लगता है बम्बई वाले उन्हें अपने मनोरजन के लिए ही मनाकर लाये थे। उनका नाम था—सर्वतंत्र स्वतंत्र विद्या मार्तंड। वे गोष्ठियो मे और बाहर गुर्राते घूम रहे थे और अपने पांडित्य मे लोगों को चुनौतियां दे रहे थे। एक चुनौती यह भी थी कि कवि-सम्मेलन मे वे चौबीस भाषाओं मे कविताए पढ़ेंगे। संस्कृत से शुरू करके न जाने किन-किन भाषाओ मे गुजरते हुए हिन्दी तक आएंगे। मैंने उनसे कहा, "पंडित जी, इस कवि के बाद आपका ही नम्बर है।" इस पर उन्होंने बहुत क्रोध से कहा, "अरे, यह हटे तब तो पढ़ूं।" मैंने कहा, "आप खुद उठ जाइये तो ये खुद वहा से सरक लेंगे।" किन्तु मार्तंड जी विवश क्रोध के साथ बैठे रहे। आखिर स्वर्णकिरण जी ने श्रोताओं के सतत अनियंत्रित शोर का सम्मान करके माइक छोड दिया। फिर सारस्वत जी ने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए और विदूषकी ढंग से उच्चारण करते हुए घोषणा की—अब आपके सामने आ रहे है सर्वतंत्र स्वतत्र विद्या मार्तंड··· विद्या मार्तंड जी के उठते ही बम्बई वालों ने हो हो हो हो करना शुरू किया, जैसे कह रहे हो—आ गया, आ गया। हमारे मनोरंजन का बादशाह। मार्तंड जी ने कृपा की कि चौबीस भाषाओं वाला इरादा छोडकर केवल हिन्दी में काव्य-पाठ आरंभ किया। कविता भक्ति की थी। लोग शुरू मे ही शोर करने लगे। मार्तंड जी का क्रोध उफन पड़ा—"अरे मूर्ख प्राध्यापको, शृंगार रस पढ़ते-पढ़ते तुम्हारे कान में कीड़े पड़ गये हैं, भक्ति रस तुम्हें कैसे सहन हो।" उनके क्रोध-कथन पर हल्ला और तेज हो गया। आखिर मन ही मन मूर्ख समुदाय को गाली देते हुए और उस पर आंखों से घृणा उगलते हुए मार्तंड जी बैठ गये और अपने ज्ञान के अपमान पर बहुत देर तक गुमसुम रहे। कवि-सम्मेलन चलता रहा। अच्छी-बुरी कविताएं पढ़ी जाती रहीं किन्तु मार्तंड जी अपमान से अपने में खोये रहे और उठकर चले गये।

इस अधिवेशन का एक दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष रहा—भोजन। उत्तर भारतीय लोगों के लिए गुजराती भोजन बहुत ग्राह्य नही होता किन्तु यदि ढंग का भोजन हो तो स्वाद बदलने के लिए दो-एक दिन खाया जा सकता है। गुजराती भोजन समृद्ध और शुद्ध हो तो अलग स्वाद का होकर भी बहुत अच्छा लगता है किन्तु विद्यानगर में जो खाना मिला वह बहुत दरिद्र खाना था। उत्तर भारत के आदमी को मूगफली के तेल में छनी पूड़ी के साथ कटोरी भर दूध दे दिया जाये और ऐसे ही कुछ मामूली-सी गुड़-डली सब्जी तो वह क्या खायेगा? इसलिए बहुत-से लोग तो खाना खा ही नही सके और कई लोगों का पेट खराब हो गया।

इस अधिवेशन की एक उपलब्धि यह भी मानता हूं कि कई नये लोगों से मेरी पहचान हुई। नंदन जी मे तो दोस्ती हो गयी। न जाने उन्हें मुझमें क्या दीखा कि एक दिन खाना खाते समय (वे मेरे पास ही बैठे थे) कह उठे—"तुम मुझे बहुत अच्छे लगे।" मैंने भी तहेदिल से यही वाक्य दोहराया। और तब मे हम दोनों एक-दूसरे को अच्छा लगते आ रहे है। जब वे 'धर्मयुग' में गये और फिर दिल्ली आये तो लगातार हमारे सम्बन्ध हमारे सम्पर्कों से गाढ़े होते रहे। अधिवेशन सम्पन्न होने पर बहुत-से लोग अहमदाबाद गये। शंभूनाथ, ब्रजविलास नंदन तो मेरे साथ ही गये और मेरे साथ ही ठहरे। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा में काव्य-गोष्ठी हुई तथा और भी साहित्यिक आयोजन हुए। उन्हीं दिनों मेरा शोध-प्रबंध 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' बी० एच० यू० से प्रकाशित हुआ था। अतः इस साहित्यिक परिवेश की महक और गाढी हो गयी।

47

चिम्मन भाई पटेल कांग्रेस के नेता तो थे ही, लगातार बड़े नेता बनते गये। उनका स्नेह मुझे प्राप्त था। अतः कांग्रेस द्वारा संचालित कक्षाओं मे भाषण देने के लिए मुझे बुलवाते थे। मेरे मना करने पर भी उनका स्नेह खींच लाता था। वे सरदार पटेल कालेज के प्रिंसिपल होकर चले गये। कालेज अहमदाबाद में ही था अत: भेंट-मुलाकात होती रहती थी। भेंट-मुलाकात का एक माध्यम और था, वह थी हिन्दी पाठ्यक्रम समिति। पाठ्यक्रम समितियो की विडम्बना की मत पूछिये। सीनेट के सदस्य ही उसके सदस्य होते थे। इसलिए हिन्दी पाठ्यक्रम समिति से हिन्दी वालों का कोई सरोकार नही था। सीनेट के सदस्य ही चुनते थे कि वे किन्हीं दो समितियों के सदस्य रहेंगे और अध्यक्ष का चुनाव भी वही करते थे। हिन्दी समिति में चिम्मन भाई बहुत सक्रिय थे। उन्हीं के कालेज के अर्थशास्त्र विभाग के प्रवक्ता जयेश भाई अध्यक्ष बनाये गये। चिम्मन भाई के स्नेह से मुझे और बड़ौदा के अंबाशंकर नागर को सदस्य के रूप में को-आपट किया गया। नागर जी तो बड़ौदा में थे और जयेश भाई हिन्दी से अनभिज्ञ। अतः व्यावहारिक रूप में मुझी को सब कुछ देखना पड़ता था। कोफ्त भी होती थी कि क्या

थे हम दोनों (मैं और नागर जी) में से किसी को अध्यक्ष नहीं बना सकते थे ? किन्तु उन लोगों के स्नेह और आत्मीय भाव को देखते हुए कोफ्त का भाव टिकता नहीं था—चलो कोई हो अध्यक्ष, काम होता रहना चाहिए।

हमारे सहकर्मी हरिहर शुक्ल जेवियर छोड़कर चिम्मन भाई के कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर चले गये थे। वे हमारे पड़ोसी थे। हम लोगों में गहरे पारिवारिक सम्बन्ध थे। हरिहर भाई बहुत व्यावहारिक व्यक्ति थे अतः चिम्मन भाई को प्रसन्न रखते थे। विभाग का संचालन वे ठीक करते थे और मोहल्ले में पड़ोसियों के साथ अच्छे व्यवहार और सहायक प्रवृत्ति के लिए जाने जाते थे। वैसे तो जब वे हमारे साथ जेवियर मे थे तब भी हमारी-उनकी कोई टकराहट नहीं थी। अब तो वे दूसरे कालेज में थे और एम० ए० अध्यापन के लिए जेवियर में आते थे। अब टकराहट की कोई बात ही नहीं उठ सकती थी। वे व्यवहार-बुद्धि वाले कुशल व्यक्ति थे और मैं मूलतः सर्जनात्मक वृत्ति वाला व्यक्ति। अतः वे मुझे अच्छे व्यावहारिक सुझाव देते थे, कुछ व्यक्तियों और स्थितियों के खतरों से सावधान भी करते थे और अपने कालेज के प्रिंसिपल चिम्मन भाई तथा हिन्दी समिति के अध्यक्ष जयेश भाई के रुख की सूचना देते रहते थे। कुल मिलाकर वे मेरे शुभचिन्तक थे और एक ही मोहल्ले में पड़ोसी होने के कारण मुझे उन पर बहुत भरोसा था। बाद में हमारे सम्बन्ध और भी सघन हुए—दिल्ली आने पर। उसके बाद मे वे प्रिंसिपल हो गये और बड़ी कुशलता से कई कालेजों की प्रिंसिपली की। अंत मे वे अपने गांव के पास के ईडर नामक स्थान पर एक कालेज के प्रिंसिपल हुए और उसे बहुत खूबसूरत कालेज के रूप में सर्जित किया। उसमें उन्होंने अनेक गुजराती-हिन्दी साहित्य-संगोष्ठियां आयोजित की जिनमें मुझे बार-बार बुलाया। किन्तु यह बाद की बात है यानी मेरे दिल्ली आने के बाद की।

'समस्त ब्रह्म क्षत्रिय सोसायटी' (जहां मैं रहता था) नया मोहल्ला था—बहुत खुला हुआ मोहल्ला। छोटा-सा मोहल्ला। हम सभी एक-दूसरे को जानते थे। मैं जिस मकान में था वह बहुत अच्छा मकान था। उसका बहुत बड़ा अहाता था। अहाते में चारों ओर कैक्टस की बाड़ लगी थी और मुख्य द्वार पर ग्रिल का फाटक था। अहाते में घास उगी होती थी। इतने बड़े अहाते में जंगली घास उगी हो, यह बात मेरे मन को जंचती नहीं थी। चाहता था—उसमें कुछ फूल हों, कुछ सब्जियां हों, सुबह-सुबह उठते ही फूलों और सब्जियों की शोभा में नहाकर मन और नेत्र ताजा हो उठें किन्तु इतना श्रम करना मेरे वश का नहीं था। माली रख सकता था किन्तु एक बड़ी दिक्कत थी और वह दिक्कत शुरू से ही मेरा साथ नहीं छोड़ रही थी। वह यह कि उस बड़े मकान के एक छोटे से हिस्से में एक दूसरा परिवार रहता था। वह परिवार थोड़ा विचित्र था। उससे हम लोग बचते रहते थे। उसके कारण अहाते का फाटक बंद नहीं रख सकते थे।। हम बंद करते थे तो वे लोग आने-जाने की प्रक्रिया में उसे खोलकर छोड़ देते थे। भला इस स्थिति में कैसे कोई फूल और सब्जी उगा सकता था। आवारा पशु अंदर घुस आते थे और घास चरते थे। मैंने कभी-कभी फूल लगाने का प्रयत्न किया भी किन्तु इन पशुओं ने आकर सत्यानाश कर दिया। इसलिए अपने अहाते को फूलों

और सब्जियों की शोभा से भरा-पूरा देखने की इच्छा मन में ही रह गई। पहली बार तो इतना बड़ा अहाता मिला था, वह भी मेरे सपनों का अहाता नहीं बन सका।

मेरे मकान में दो बड़े कमरे थे। एक रसोई थी, बड़ा आंगन था, गैलरी थी, सामने एक छोटा-सा बरामदा था। कुल मिलाकर पहली बार एक सुंदर मकान मिला था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसकी विधवा मालकिन बम्बई में रहती थीं। मकान मालिक और किरायेदार की टकराहट और तज्जन्य अशांति का प्रश्न नहीं था किन्तु टकराहट से बचाव कहां हुआ? ऊपर जिन पड़ोसी की बात की थी उनसे टकराहट हो ही जाती थी। परिवार के मालिक किसी सेठ के यहां कार ड्राइवर थे। वे बहुत तेज बोलते थे। अपने घर में तो उनकी आवाज अशांति पैदा करती ही थी, कुछ टुन्न-फुन्न के अवसर पर हमारे दरवाजे पर उफनकर हमारी शांति भी भंग करती थी। उस परिवार का बड़ा लड़का बहुत सीधा था। वह भी कोई छोटी-मोटी नौकरी करता था। उसकी बीवी बड़ी ही दयनीय थी। सीधे-सादे लड़के की बीवी दयनीय हो ही जाती है। उसके शरीर में रक्त नहीं था। पीली दुर्बल देह लिए रात-दिन गृहकार्य में खटती रहती थी और अपनी सास, ननद और देवर की निरंतर ताड़ना सहती रहती थी। हां, उस परिवार में जो गृह-स्वामिनी थीं वे टिपिकल सास थीं। एक लड़की थी, जो पढ़ती थी। पढ़ाई में फेल होने लगी तो पढ़ाई छुड़ा दी गयी और घर पर रहकर अशोभन हरकतें करती रहती। भाभी के प्रति अपनी मां के कठोर व्यवहार में शामिल होती रहती थी या उसकी खातिर बाहर लड़ाई होती रहती थी। दो लड़के और थे। एक लड़का पढ़ता-लिखता था और अपने परिवार के उजड्ड रूप से शर्मिन्दा होता रहता था। वह हम लोगों के साथ उठता-बैठता था और अपने परिवार वालों से अलग अपनी एक पहचान बनाने की बेचैनी उसमें थी। कुछ दिनों बाद उसे इस पारिवारिक वातावरण से मुक्ति मिली तो बहुत प्रसन्न हुआ यानी वह एक नौकरी पाकर अहमदाबाद से बाहर चला गया। सबसे छोटा लड़का भी अपढ़ था और दुनिया-भर का गुस्सा आंखों में कसे घूमता रहता था। कभी इससे लड़ाई, कभी उससे लड़ाई। इसलिए पड़ोस की अशान्ति ने हमें शान्त रहने नहीं दिया। बार-बार बहू की यातना और उसका क्रंदन हमें बेचैन कर देता था। बार-बार उसके विरुद्ध उस परिवार का सम्मिलित हाहाकार हमारे कमरे, आंगन और हमारे मन में उबलने लगता था और कभी-कभी इस परिवार की टकराहट हमारे दरवाजे से ही उठती थी। इस मोहल्ले में यह परिवार अकेला और उपेक्षित पड़ गया था।

अहाते की दूसरी ओर एक सभ्य परिवार था जिसमें एक अवकाश-प्राप्त दुर्बल व्यक्ति को गिरते-पड़ते सुबह से रात तक काम करते और गाली खाते देखता था। गालियों की बौछार के बीच धम्म-धम्म पीटने की आवाजें प्रायः उठती रहती थीं। गृह-स्वामिनी एक मोटी-सी औरत थी जो संभवतः इस वृद्ध की भयहु (भ्रातृजाया) लगती थी। वह कुछ करती-धरती दिखाई नहीं पड़ी, केवल इस वृद्ध को गालियां देती दिखाई पड़ी। सुना था कि वृद्ध ने अपनी सारी आमदनी और पी० एफ० के पैसे इस परिवार के लिए लगा दिये थे। अब उसके पास कुछ नहीं बचा था। उसी का पुरस्कार यह

परिवार उसे दे रहा था। उस वृद्ध व्यक्ति की मौन यातना सारी खिड़कियां तोड़कर हमारे घर में पैठ आती थी। मन बार-बार अशांत हो उठता था। इन दो यातनाओं के बीच हमारा अपना सुख सुख कैसे रह सकता था।

वैसे यातनाओं की कमी नहीं थी इस मोहल्ले में। लेकिन सबसे हमारा सीधा सरोकार तो नहीं न बन सकता था। जो दूर के थे उनकी यातना के बारे में सुनता था, जो नजदीक के थे उनकी यातना कहीं न कहीं हमारे अनुभव का अंग बन जाती थी। यहां कुछ और उत्तर भारतीय परिवार थे जिनसे स्वभावतः पारिवारिक सम्बन्ध बन गया था। एक थे कपूर साहब—किसी बैंक में ऑफीसर। उनकी दो पुत्रियां थीं। बड़ी पुत्री पोलियो से अपंग हो गयी थी। घिसटकर चलती थी। बहुत प्यारी लड़की किन्तु अपंगता की यातना झेल रही थी और मां-बाप की यातना की तो इंतहा ही नहीं थी। उसकी प्यारी-प्यारी तरल आंखों ने हमारे साथ इतनी गहरी आत्मीयता स्थापित कर ली थी कि उसके सामने पड़ते ही मन दर्द से झनझना जाता था। इतनी बड़ी दुनिया को अपने सामने से गुजरते देखती तो उसकी आंखों में न जाने कैसे-कैसे असहाय सपने बनते-टूटते रहते थे।

एक दूसरा परिवार था जिसके गृहस्वामी अच्छी नौकरी में थे। उनके पास आधुनिक जीवन के सारे साजो-सामान थे। उनके स्वयं के उपयोग के लिए कई-कई जोड़े जूते, कपड़े आदि थे किन्तु पत्नी सादे की (जोड़ वाली) मामूली साड़ी और हवाई चप्पल पहनकर घूमती थी। बच्चे भी बिना इस्त्री किये कपड़े और हवाई चप्पल पहनकर स्कूल जाते थे। पत्नी की जिंदगी गहरी उदासी से भरी हुई थी। उनकी बातों से संकेत मिलता था कि घर में उनकी कोई इज्जत नहीं है। अपमान होता है, उपेक्षा होती है, अच्छी आमदनी के बावजूद पति उन्हें गृह-खर्च के लिए बहुत कम देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी स्थिति का कारण होती है—सुरा-सुंदरी। वह कारण यहां भी उपस्थित था। उनकी पत्नी मेरी पत्नी की मित्र थीं, इसलिए उस परिवार की व्यथा छन-छनकर हमारे यहां आती रहती थी।

दर्द कहां नहीं है, यातना कहां नहीं है और टकराहटें कहां नहीं होती है ? और मैं अपनी लघुता में यह अहंकार क्यों पाल रहा हूं कि लोगों का दर्द मेरा दर्द बन गया था। मुझे कहना चाहिए कि सब कुछ के बावजूद यहां मुझे अच्छा लग रहा था। इस मोहल्ले में भाईचारा था। लोग मुझे प्रेम से अपनाए हुए थे। शहर के तमाम आत्मीय लोग इस मकान में आते रहते थे। बाहर के अनेक साहित्यकार मित्र आये, इस मकान में ठहरे। इसी मकान में अनेक साहित्यिक गोष्ठियां हुईं और मैंने न जाने कितनी कविताएं-कहानियां लिखीं। 'जल टूटता हुआ' इसी मकान में लिखा गया। बहुत कुछ मिला यहां रहते हुए।

इस मोहल्ले से थोड़ी दूर साबरमती नदी बहती थी। सुबह-सुबह मैं उधर घूमने निकल जाता था। नदी-तट तक कच्ची सड़क थी। सड़क के दोनों ओर खेत पड़ते थे जिनमें मौसमी फसलें लहराती रहती थीं। नदी में पानी की धारा तो बहुत पतली थी जिसे लोग हलकर पार किया करते थे। मैं तट पर आकर घूमता था या बैठ जाता

था। बगलों की पंक्ति उड़ती थी, सारस कॅंकारते हुए तट के आर्द्र बालुका विस्तार पर घूमते थे। पास के बगीचे से मोर पिहुंकता था। वैसे मोर की पिहुंक तो मैं रात को भी सुनता था। बालुका राशि पर कहीं-कहीं लंबी-लंबी जंगली वनस्पतियां उगी होती थी। नदी के इस पार ही शहर समाप्त हो जाता था। उस पार दूर-दूर तक बस्तियां नहीं थीं, खेत थे, तमाम लोग पानी हल-हलकर उस पार जाते थे। मैं सोचता था, कहां जा रहे हैं लोग ? इसी मानसिकता में मैंने अपना प्रिय गीत लिखा था—

रात रात भर मोरा पिहुंके
बैरिन नींद न आए
बड़े भोर सारस कॅंकारे
नदिया तीर बुलाए।

साबरमती तट से लौटकर मैं ताजा हो उठता था और अपने में पूरे दिन को ताजगी से जी लेने की शक्ति भर लेता था।

इस मोहल्ले के चारों ओर खाली जगहें थीं, खुले मैदान और खेत थे। इसलिए प्रकृति के बीच रहने का भी सुख अनुभव होता रहता था। मन्दिर थे, जिनमें घंटियों और भजनों के कोमल स्वर के साथ माइक पर प्रवचनों के कर्कश स्वर उठते थे और प्रकृति के इस सुखद खुलेपन को अपनी असुन्दरता से बोझिल कर देते थे। एक तो प्रवचन वैसे ही अवांछित चीज है, दूसरे, यदि भोंडे स्वर में उगला जाए तो उसकी अवांछनीयता अधिक घनी हो जाती है। प्रवचन कौन देता है, प्रवचन की सार्थकता-निरर्थकता इस पर निर्भर होती है। जो प्रवचन के सत्य को स्वयं अपने आचरण में उतार लेता है उसका प्रवचन तो सार्थक लगता है किन्तु जो आचरण में सत्य को उतारता है वह प्रवचन नहीं देता; उसका तो आचरण ही उसका प्रवचन होता है। प्रवचन देने वाले सत्य-व्यवसायी होते हैं। वे किताबों के सत्य को रटकर उसे प्रवचन के रूप में धर्मभीरु जनता की भीड़ में फेंकते रहते हैं। वे स्वयं अपने प्रवचन से एकदम विरुद्ध आचरण करते हैं, प्रवचन के लिए वे सत्याचरण की आंच अर्जित करने के स्थान पर वाणी का कौशल अर्जित करते हैं और उनका प्रवचन जनता को सुधारने के लिए नहीं, अपना उल्लू सीधा करने के लिए होता है। आध्यात्मिक सत्य का प्रवचन करने वाले भौतिक सुख में जितना डूबना चाहते हैं उतना और कोई नहीं। ईश्वर, धर्म, नैतिकता, आदर्श—ये सब प्रवचनकारियों के लिए वस्त्र होते हैं जिन्हें पहनकर वे भीड़ में जाते हैं और जब अकेले होते हैं तो उन्हें खूंटी पर टांगकर निपट नंगे हो जाते हैं और प्रवचन सुनने वालों पर व्यंग्य से मुसकराते हैं। प्रवचन की यह विडम्बना धर्म, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था आज सर्वत्र अपनी कुरूपता के साथ व्याप्त हो उठी है। बहरहाल और क्षेत्रों के प्रवचन तो कभी-कभी होते हैं और एक ही स्थान पर नहीं होते किन्तु धर्म के प्रवचन तो रोज सुबह-शाम, कभी-कभी दिन-भर आपके पास के धर्मस्थान में दहाड़ते रहते हैं। आप उन्हें झेलने के लिए अभिशप्त होते हैं। उस मन्दिर और मेरे घर के बीच खुला आकाश था अतः माइक से उछाला गया प्रवचन मेरे घर में आकर गिरता था। धर्मप्राण लोगों को तो घर बैठे धर्म का अमृतपान करने का अवसर प्राप्त हो जाता है किन्तु मैं क्या करूं ? मैं तो

सारस्वतधर्मी व्यक्ति हूं, मेरे लिए तो यह प्रवचन गरल ही सिद्ध होता था।

दिन बीत रहे थे। बच्चे बड़े हो रहे थे। हेमंत, अंजू दोनों स्कूल जाने लगे थे। दोनों पास के किसी गुजराती स्कूल में जाते थे। हेमंत को हिन्दी तो आती ही थी, अखबार पढ़-पढ़कर गुजराती भी सीख गया था। मेरी चिन्ता यह थी कि यदि हम कल गुजरात में नहीं रहे तो इन बच्चों की गुजराती का क्या महत्त्व रहेगा? उत्तर भारत के स्कूलों में तो हिन्दी ही देखी जाएगी। गुजराती के साथ-साथ ये हिन्दी और अंगरेजी पढ सकें, तब तो ठीक, नहीं तो परेशानी हो जाएगी। कारपोरेशन के हिन्दी स्कूल तो थे किन्तु एक तो वे बहुत दूर थे, दूसरे उनकी स्थिति बहुत स्पृहणीय नही होती।

वैसे मैं कानवेंटी शिक्षा का विरोधी रहा हूं। मेरा दृढ़ विश्वास रहा है कि यह शिक्षा हमारे बच्चों को अपनी जड़ों से काटती है और उन्हें जन-सामान्य से अलगाकर पश्चिमोन्मुख आभिजात्य के सपने दिखाती है। कारपोरेशन के स्कूलों में आने वाले बच्चे यदि निम्नवर्गीय और निम्नमध्यवर्गीय स्थितियों और संस्कारों के कारण देशी मुहावरे में लाता-लूती और गाली-गलौज करते हैं तो कानवेंटी बच्चे सभ्यता के आवरण में छिपी अपनी गालियां और बेहूदी हरकतें सभ्य मानी जाने वाली अंगरेजी भाषा में उगलते है। यदि कारपोरेशनी बच्चे एक-दूसरे की मां-बहन को गाली देते हैं तो कानवेंटी बच्चे पूरे देश की मां (भारतमाता) को, उसकी धूलि-धूसरित सन्तानो को, उसकी अपनी भाषा और परम्पराओं को, उसके पर्वों और त्योहारों को गाली देते हैं। उन्हें अपनी उधार ली हुई भाषा और अमरबेलि वाली संस्कृति पर नाज करना सिखाया जाता है। मैं यह सब जानता हूं किंतु यह भी जानता हूं कि फिलहाल अंगरेजी के बिना निबाह नही है और वह जहां रहिए वहां साथ रहेगी। गुजराती तो गुजरात में ही छूट जायेगी। सेंट जेवियर कालेज में पढ़ाने वाले अधिसंख्य प्राध्यापकों के बच्चे जेवियर स्कूल में या माउण्ट कारमल स्कूल में पढ़ते थे। विवश होकर मैंने भी सोचा कि अपने बच्चों को वहीं डाल दूं। फादर प्रिंसिपल से पत्र लिखवाया और बच्चों का दाखिला हो गया। अंजू को माउंट कारमल में डाल दिया और हेमंत को जेवियर स्कूल में। शशांक भी चार साल का हो गया था, उसे भी कुछ दिनों बाद जेवियर में डाल दिया।

हेमंत का माध्यम गुजराती ही रहा क्योंकि वह शुरू से गुजराती पढ़ रहा था। वह अंगरेजी माध्यम से चल नही सकता था किंतु शशांक और अंजू का माध्यम अंगरेजी रखा। हेमंत ज्यों-ज्यों बड़ा हो रहा था पढ़ाई के प्रति उसकी संलग्नता कम हो रही थी। मोहल्ले के सामान्य किस्म के बच्चों के साथ खेलने-कूदने, ऊधम मचाने में और कोर्स से बाहर की चीजें पढ़ने में उसे अधिक रस मिलता था। समझाने-डांटने के बावजूद वह अपने रास्ते पर चल रहा था। एक ओर उसकी सामान्य प्रतिभा का विकास हो रहा था, दूसरी ओर स्कूली रुचि का ह्रास। जब हम पहली बार अहमदाबाद में आए थे और कांकरिया पर रह रहे थे तो हेमंत वहां के एक स्कूल के पास जाकर बैठ जाता था। बच्चों को आते-जाते, पढ़ते, खेलते-कूदते देखता था और कहता था, हम भी स्कूल में पढ़ेंगे। हम समझाते थे कि अभी तुम्हारी अवस्था नहीं हुई है, थोड़ा इन्तजार करो। हम सोचते थे कि स्कूली शिक्षा के प्रति इसमें गहरी रुचि और लगन है। स्कूल में भरती

होते ही यह अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाएगा। उसने अखबार देख-देखकर गुजराती पढ़ना सीख लिया था, यह भी उसकी भावी प्रगति का सूचक था किंतु अब लग रहा था कि इसकी लाइन अलग है। छोटी अवस्था मे ही उसने कोर्स की किताबो के साथ अन्य किताबों के माध्यम से अपने देश के इतिहास, पुराण, महापुरुषो, वर्तमान राजनीति और जीव-जन्तुओ के बारे में बहुत कुछ जान लिया था। लेसन करने मे उसका मन ही नहीं लगता था। एक बात स्वीकार लू कि बच्चो की स्कूली पढाई की तैयारी मे आजकल मा-बाप जो भूमिका निभाते है, हमने नही निभाई। न मैने, न मेरी पत्नी ने कभी बच्चो का लेसन कराया। कभी-कभार ध्यान तो दिया नही तो सब उनकी अपनी इच्छा पर चलता रहा। तब भी देखा और आजकल भी देख रहा हू कि विशेषतया कानवेंटी बच्चो की आधी से ज्यादा पढाई घर मे होती है। मास्टर लोग उन पर लेसन का एक मन बोझ लाद देंगे। घर आकर बच्चे उनके नीचे दबे ही रह जायें यदि मा या बाप सहायता न करे। सहायता नही बल्कि पूरा का पूरा करवाते है। एक मोटे बस्ते मे बधे अनेक विषयो का बोझ ढोते इन छोटे-छोटे बच्चो का विकास होता है कि ह्रास, मैं नही कह सकता किंतु मां-बाप की मुसीबत जरूर बढ जाती है। इसीलिए पब्लिक स्कूल इन दिनो भारी डोनेशन लेने के साथ-साथ बच्चो के साथ उनके मा-बाप का भी इन्टरव्यू लेते है।

शशाक भी पढाई के साथ नही जुड पा रहा था। इसका कारण शायद अंगरेजी माध्यम का होना था। हमारा नियमित रूप से लेसन न तैयार कराना भी हो सकता है। उसका तो स्कूल जाने का मन ही नही होता था। घर से थोडी ही दूर पर बस-स्टेंड था। वह बस उसके स्कूल के पास से गुजरती थी। हेमत और शशाक दोनो उसी बस से जाते थे और उसी से आते थे। दो छोटे बच्चो का अकेले बस से स्कूल जाना विचित्र लग सकता है किंतु अहमदाबाद मे यह विचित्र नही था, सामान्य था। यहा की बसो के ड्राइवर और कडक्टर दिल्ली के कडक्टरो और ड्राइवरो से एकदम अलग थे। यहा आराम से सबके चढ-उतर जाने के बाद कडक्टर सीटी मारते है और यदि बच्चे है तो उन्हें तो बहुत आराम से चढाते-उतारते है। दिल्ली की तरह नही कि औरत या बच्चे या बूढे किसी की परवाह नही। कडक्टर को सीटी मारनी है और ड्राइवर को गाडी चलानी है, बस ये इतना ही जानते है। लोग बस पकडने के लिए बस के पीछे-पीछे भागते है तो भागे, आधे लटके हुए हैं तो लटके रहे, उतरते समय वे पूरे नही उतरें तो न उतरे, बूढे या बच्चे या औरते है तो रहा करे और चढ़ते-उतरते इनकी टाग टूटती है, सिर फूटता है तो टूटे-फूते, इनकी बला से। इन्हे अपनी सीटी दिखाई पडती है और ड्राइविंग। यदि खाली बस लेकर ही इन्हे समय से पहले मंजिल तक पहुच जाने का चास मिल गया तो ये यह भी करते है। आप खड़े-खडे सोचते रहिए कि ये बसें जनता के चढ़ने के लिए है या ड्राइवर के खेल के लिए। किन्तु गुजरात मे ऐसा नही है। यदि ड्राइवर देख लेगा कि बच्चे चढ़ने के लिए भागे आ रहे है और थोडी दूर पर हैं तो थोडा रुक जायेगा, कडक्टर उन्हें प्यार से चढ़ा देगा।

मेरे बच्चो के साथ भी ऐसा होता था, इसलिए हम निश्चिन्त थे। दोनों बच्चे

स्कूल जाने में बहुत उत्साह अनुभव नहीं करते थे, इसलिए मां की कोशिश के बावजूद जरा विलम्ब से तैयार होते थे और जिस बस से इन्हें जाना होता था उसका समय निश्चित था। ये खरामा-खरामा स्टैंड की ओर जाते थे। यदि ड्राइवर इन्हें आते देख लेता था तो रुक जाता था और ये भी भाग लेते थे किंतु शशांक एक खेल प्रायः करता था। स्कूली ड्रेस से सजधजकर बस्ता लटकाये मस्ती से झूमता हुआ वह हेमंत के साथ बस स्टैंड की ओर चलता था। स्टैंड पर जाकर खड़ा होता था और ज्यों ही दूर से बस आती दिखाई पड़ती थी, सिर ऊंचा करके उसे देखता था और बस्ता लटकाए खड़-खड़-खड़-खड घर की ओर भाग खड़ा होता था। हेमंत कभी तो उसे पकड़कर वापस ले जाने में सफल होता था, कभी उसका पीछा करता-करता स्वयं घर लौट आता था। प्रायः यह दृश्य चलता ही रहता था। हम बहुत दिन तक परेशान रहे।

शशांक की एक दूसरी आदत ने हमें बहुत हैरान कर रखा था। वह बहुत लापरवाह और भुलक्कड था। रोज कोई-न-कोई चीज स्कूल में छोड़ आता था। नाश्ते का डिब्बा तो प्रायः रोज ही खोता था। मजे की बात तो यह कि स्कूल से लौटता था तो एक पाव में जूता नहीं है। मस्ती मे लंगड़ी मारता हुआ, फदर-फदर करता, हंसता हुआ घर की ओर आता था। मां पूछती थी कि एक जूता कहां गया तो अचकचाकर खुद अपना पांव देखता था। सामान तो हेमंत भी खूब खोता था किंतु शशांक उससे आगे था।

उसकी एक तीसरी और आदत थी—चटोरेपन की, जो प्रायः सभी बच्चों के लिए बहुत स्वाभाविक होती है। उन्हें हम रोज जेब-खर्च और बस का किराया देते थे। शशांक कई बार किराये के पैसे खाने मे खर्च कर देता था। हेमंत के पास पैसा हुआ तो किराया वह दे देता था। किन्तु होता प्रायः यह था कि जिस दिन वह किराये के पैसे खाने में खत्म कर देता था उस दिन हेमंत से मिलता ही नहीं था, अकेले पैदल घर की ओर मार्च कर देता था। हेमंत के आने पर हम पूछते थे कि "शशांक कहां है ?" "वह तो आते समय मिला ही नहीं।" हम लोग हैरान हो जाते थे। मैं साइकिल से स्कूल भागता था। प्रिंसिपल से पूछता था। पुलिस में रपट लिखाता था। इधर-उधर खोज करता था और जब घर पहुंचता था तो यह घर पहुंचा मिलता था। क्रोध के बदले करुणा उमड़ती थी कि इतनी दूर यह पैदल चलकर आया है। एक बार तो गजब ही हो गया। काफी समय गुजर गया। मैं स्कूल जाकर और थाने में रपट लिखाकर लौटा था। स्कूल से लेकर घर तक की सड़क का गहराई से मुआयना किया किंतु कहीं भी शशांक का पता नहीं, अब तो हमारे होश उड़ गये। पूरे मोहल्ले को पता चल गया और लोग हैरान-से इधर-उधर खोजने लगे। आठ-साढ़े आठ बजे के लगभग देखा, श्याम सुन्दर शुक्ल उसे साइकिल पर बैठाकर ला रहे हैं। अब सांस में सांस आई। श्याम सुन्दर जी ने बताया—"वह स्कूल से सीधे मेरे घर आया, पैदल। वहां मेरी पत्नी ने उसे खिलाया-पिलाया। मैं था नहीं। मैं होता तो तुरंत लेकर आता। मैं अभी घर आया तो सारा किस्सा मालूम पड़ा और इसे लिए भागा आ रहा हूं।" बात यह थी कि शुक्ल जी का घर शशांक के बस के रास्ते में पड़ता था, हालांकि यह बस का रास्ता काफी लम्बा था।

वह सीधे रास्ते से जल्दी घर आ सकता था किंतु बच्चे की मस्ती ठहरी, उधर मुड़ गया। शायद उसे रोज-रोज किराये के पैसे खाकर घर आने में डर लगा हो, शायद उसे खूब भूख लगी हो और उसने सोचा हो कि शुक्ल चाचा के घर जल्दी पहुच जाऊंगा। जो भी हो उसने पूरे वातावरण को कंपित तो कर ही दिया था। अब सबकी जान मे जान आई।

अंजू शुरू से ही व्यवस्थित थी। उसने किसी रूप मे हैरान नही किया। वह छोटी थी किंतु टाउन हॉल पर बस से उतरकर लगभग आधा किलोमीटर की दूरी पैदल पार कर स्कूल पहुंचती थी और उसे लेकर कभी कोई परेशानी अनुभव नही हुई। वह अपने सामान को भी ठीक-ठाक रखती थी और अपने पाठ भी तैयार रखती थी। यानी इन दोनों बच्चो की अपेक्षा वह अधिक गंभीरता और तेजी से विषय को पकड़ रही थी। थोड़े ही दिनो मे उसे अगरेजी के वाक्य बोलने आ गये थे। उसने कुछ अच्छे मित्र बना लिए थे। उसका अंग्रेजी बोलना मुझे एक दिन चौंका गया। उसने कहा—"पापा, हिन्दी इज वेरी बैड लैंगवेज।"

"क्या कहा ?"

"हिन्दी इज वेरी बैड लैंगवेज।" उसने दुहराया।

"तुमसे किसने कहा ?"

"पापा, लडकिया सब ऐसे ही बोलती है।"

कानवेंटी शिक्षा का पहला तमाचा मेरे गाल पर लगा। कानवेंटी परिवेश भोल-भाले बालकों को उनकी मातृभाषा के प्रति अपमान और घृणा का भाव नही सिखाएगा तो क्या सिखाएगा ? अगरेजी को सबसे सभ्य भाषा मानकर उसी जुबान मे इन बच्चो को अपनो मा को गाली देना सिखाया जाता है। इन छोटे-छोटे बच्चों को नही पता कि वे क्या सीख रहे है और क्या कह रहे है। इस परिवेश मे कुसंस्कृत होकर जब वे एक दिन बडे हो जाते है तो वे भी अपने को अगरेजी परिवार का ही समझने लगते है और अभिजात बनने और बने रहने के मोह और दभ मे ये अपने बच्चों को मां की गाली देना सिखाते है। इस देश मे कब से यह परम्परा चल रही है।

मेरा माथा झन्ना उठा। उसे समझाया—"नही, बेटे, ऐसा नही कहते। ऐसा कहने वाले तुम्हारे स्कूल के छात्र और शिक्षक अज्ञानी है या खुद गंदे है। हिन्दी तुम्हारी मातृभाषा है और तुम्हारी ही तरह कितनों की मातृभाषा है और बहुतो की मातृभाषा गुजराती होगी, कुछ की मराठी होगी, कुछ की दक्षिणी भाषाएं होगी। जिस भाषा मे तुम्हारे मां-बाप बोलते है, तुम लोगो को प्यार करते है, सुख-दुःख की बाते करते है वह भाषा खराब कैसे हो सकती है ? क्या तुम्हारी मा और मैं खराब लोग है ? और जो लोग तुम्हारे स्कूल मे अगरेजी बोलते हैं और तुम लोगों के अपने-अपने घरों की भाषाओं को खराब भाषा कहते है वे क्या तुम्हारे मा-बाप से अच्छे लोग हैं ?"

"नही।" उसने बलपूर्वक कहा।

"तो अपनी मातृभाषा को खराब नही कहते।"

"और लड़कियां कहती है तो उनका क्या किया जाये ?"

"तुम उनका क्या कर सकती हो ? सुनकर हंस दो या कम से कम जो तुम्हारी दोस्त हैं उन्हें समझा दो। जब इस देश के बहुत बडे-बडे लोग भाषा का यह जहर पूरे देश के जीवन-प्रवाह मे घोल रहे हैं तब तुम क्या कर सकती हो ? बस, खुद इस बात को समझ जाओ, यही बहुत है।"

मैं स्वयं सेंट जेवियर में पढाता था और देशी लौडो के विदेशी तेवर का साक्षात्कार करता था किंतु लडको की अपेक्षा लड़कियो मे यह तेवर ज्यादा देखा। एक बार माउंट कारमल में बच्ची की फीस देने गया तो देखा, कुछ लडकियां हिन्दी पुस्तकों के नामो का उच्चारण बहुत उपहास के साथ कर रही थी—अक्षरो को बिगाड-बिगाड़कर पढती थी और हंसती थी। कालेज मे भी कुछ लडकिया ऐसी थी जो अपने को अंगरेजों की भतीजी समझती थी। लगता ही नही था कि ये गुजराती परिवार मे पैदा हुई है। ये अगरेजी भाषा और परिवेश से जुडकर अपने जीवन को धन्य मानती थी। यदि कोई देशी बडा आदमी कालेज मे अतिथि के रूप मे आ गया तो इनके लिए कुछ नही होता था किंतु यदि विदेशी आ गया तो उसके स्वागत मे बिछ जाती थी और उसके साहचर्य से कृतार्थ हो उठती थी।

ऐसे माहौल मे मेरी बच्ची 'हिन्दी इज वेरी बैड लैंगवेज' सीखेगी ही। किंतु मेरी मजबूरी थी कि उसे अगरेजी भाषा वाले स्कूल मे डाले हुए था। भाषा के रूप मे अगरेजी भाषा सीखना अच्छा ही है और विशेषतया तब जब कि अंगरेजी नौकरी-चाकरी के लिए अनिवार्य शर्त बन गई है। और यह बात तो थी ही कि गुजरात मे हमेशा के लिए हमारा रहना तय नही था और उत्तर भारत मे गुजराती की अपेक्षा अगरेजी ही बच्चो के काम आती और यह भी विश्वास था कि कानवेंटी माहौल के बावजूद हमारे बच्चो मे पारिवारिक देशीपन बना रहेगा। उनकी जड़ें अपनी मिट्टी से कभी उखड नही पायेगी क्योकि हमारे परिवार मे अगरेजी और उसके माहौल के प्रति गर्व का अनुभव नही किया जाता, बल्कि रहन-सहन, खान-पान, सोच-विचार, बोल-चाल, भाषा-भाव सबमे देशीपन का सम्मान गहरे स्तर पर होता है।

चौथी सतान थे विवेक। यह दौर साहित्यिक प्रसन्नता के साथ-साथ पारिवारिक प्रसन्नता का भी रहा। वैसे तो हमारे तीन बच्चे हो चुके थे—दो बेटे और एक बेटी और परिवार-नियोजन की दृष्टि से यह संख्या ज्यादा ही कही जायेगी और मैं स्वयं अधिक सतान नही चाहता था किंतु तब परिवार-नियोजन का न इतना हल्ला-गुल्ला था, न उसके उपाय थे। जो कुछ उपाय थे उन्हें आदमी शर्म के मारे दुकान मे या अस्पताल से ले नही पाता था। अतः हमारे न चाहने पर भी चौथी संतान जब मा के पेट मे आई तो हमें न सुख हुआ न दुःख किंतु उसके पैदा होने पर सुख ही सुख हुआ। 17 जनवरी को 10 बजे दिन को पुत्र का जन्म हुआ—10 पौंड के बहुत स्वस्थ बच्चे का जन्म। उस दिन विवेकानन्द जयन्ती थी अतः मेरे मन मे सद्यः उस बच्चे का नाम उग आया - विवेक। कह चुका हूं, चौथी सन्तान न चाहते हुए भी सन्तान की दृष्टि से यह वर्ष उपलब्धि-वर्ष था। कारण इसका यह था कि अनेक दृष्टियों से विवेक इस घर की रौनक बना। यानी पहले से वर्तमान रौनक को उसने और विस्तार तथा सघनता

प्रदान की। वह अपनी स्वस्थ सुन्दर काया और बाल-सुलभ चेष्टाओं से सबके आकर्षण का केन्द्र बन गया था।

48

हमारे साथ जगदीश शर्मा, रघुवीर चौधरी, सुरेन्द्र रावत और याज्ञवल्क्य अग्निहोत्री थे। अग्निहोत्री तो साल-भर के लिए ही थे, साल-भर बाद भडौच चले गये लेक्चरर होकर। जगदीश शर्मा भी राजस्थान चले गये। उनके राजस्थान चले जाने के कारण एम० ए० के अध्यापन के लिए एक प्रवक्ता चाहिए था।

अगले वर्ष किसी की नियुक्ति करनी थी। रमाकान्त शर्मा मेरे नजदीकी मित्र थे। वे कॉमर्स कालेज मे हिन्दी पढाते थे। एम० ए० के अध्यापन की योग्यता प्राप्त कर ली थी। उन्होने इच्छा व्यक्त की हमारे यहा आने की। मैंने प्रिंसिपल साहब से बात की। पहले तो वे राजी हो गये, बाद मे उदासीनता दिखाने लगे। बात यह थी कि प्रिंसिपल के कुछ मुहलगे प्राध्यापक थे, जो उनके कान भरते रहते थे। शर्मा जी के कथनानुसार जब वे एन० सी० सी० मे थे तो प्रिंसिपल के एक मुहलगे प्रवक्ता और एन० सी० सी० आफीसर से किसी कैंप मे उनकी कहा-सुनी हो गयी थी। उसने जब सुना कि वे जेवियर में आ रहे है तब उसने प्रिंसिपल साहब को उनके बारे मे उलटा-सीधा सिखा दिया। शर्मा जी हार मानने वाले जीव नही थे। वे पहुच गये प्रिंसिपल के पास और अपना पक्ष बहुत बलपूर्वक रखा। प्रिंसिपल ने उनसे कहा, "सुना है मिश्र जी आपके सम्बन्धी है ?"

"जी नही, मेरे सम्बन्धी नही है। मेरे मित्र है।"

शर्मा जी प्रिंसिपल से बातचीत करके मेरे घर आये और प्रिंसिपल से हुई सारी वार्ता सुनायी और सम्बन्धी होने वाली बात भी कही। मैं समझ गया कि प्रिंसिपल को किसने यह बात बतायी होगी। हर आदमी से डरा हुआ वह व्यक्ति आफिस के काम से आफिस मे घुसे रहने और समर्थ लोगो की प्रिंसिपल से शिकायत करने को ही अपनी सारी शक्ति बना रहा था। इस तरह के नये लोगो का एक छोटा-सा दल था। इस दल का यहा के अलावा और कोई ठिकाना नही था, इसलिए हर तरह से अपनी जगह मजबूत बनाने मे सलग्न था।

मैंने सम्बन्ध वाले आरोप को लेकर प्रिंसिपल साहब को एक खत लिखा जिसमे मैंने इस आरोप को बेहूदा करार देते हुए शुद्ध अकादमिक आधार पर शर्मा जी के प्रति अपने समर्थन को स्पष्ट किया था। इसमे मैंने शर्मा जी की अपेक्षा संस्था के प्रति अपना लगाव व्यक्त किया था। मैं समझ गया था कि प्रिंसिपल अनेक कारणो से शर्मा जी को नही चाहते है। यह देखते हुए मुझे शर्मा जी के अति उत्साह के प्रति थोड़ी चिढ़ भी हो

रही थी, आखिर अपने को न चाहने वाले प्रिंसिपल के पीछे वे क्यों पड़े हैं ? क्यों चाहते हैं कि वह आपको किसी न किसी तरह चाहें ही। किन्तु यह बात मैं शर्मा जी से कह नहीं सकता था। उसके दूसरे अर्थ भी निकल सकते थे। शर्मा जी बहुत जिद्दी व्यक्ति हैं—एक अच्छे अर्थ में जिद्दी। वे जिस काम में हाथ डालते हैं उसे पूरा करने के लिए लहू-लुहान हो जाते हैं। यदि उनके काम में कोई अनुचित बाधा आती है तो वे और भी जिद्दी हो उठते है। यदि प्रिंसिपल ने शुरू में ही मना कर दिया होता तो वे आगे नहीं बढ़ते किन्तु आगे बढ़ने के बाद जब किसी की झूठी शिकायत पर प्रिंसिपल अन्यमनस्क हो उठे तो शर्मा जी भी जिद पर आ गये। वास्तव मे अब सवाल केवल नौकरी का नहीं था, सवाल था अपने चरित्र पर लगाये गये झूठे आरोप का प्रतिवाद करने का। शर्मा जी यह नौकरी पाकर इस आरोप का प्रतिवाद करना चाहते थे।

मेरा पत्र पाकर प्रिंसिपल ने अपनी अनिच्छा के बावजूद शर्मा जी को नियुक्ति दे दी और उनसे या किसी और से कहा—"डा० मिश्र कभी-कभी बहुत तुर्श हो उठते हैं।" शर्मा जी विभाग में आये यह मेरे लिए बहुत हर्ष का विषय था। उनके आने से मेरी शक्ति बढ़ी थी। वे मेरे परम सहायक मित्र तो थे ही, अब सहायक सहकर्मी भी हो गये। किन्तु उनकी विरोधी शक्तियां लगातार सक्रिय रहीं। प्रिंसिपल भी प्रीत दृष्टिगत नहीं होते थे। मेरे विपरीत शर्मा जी अधिक मुखर व्यक्ति है। जहां मैं स्टाफ कौंसिल की बैठकों में चुप रहता था वहां शर्मा जी गरगराकर बोलते थे। इस तरह बोलकर वे अनेक लोगों को चौंकाते थे और प्रियता हासिल करने के स्थान पर लोगों को अपने प्रति शंकालु बनाते थे। वैसे शर्मा जी शिष्य-वत्सल अच्छे शिक्षक थे। छात्रों में घुल-मिलकर उनकी समस्याओं को समझते थे, उनसे निकटता स्थापित करते थे और साफ-सुथरे ढंग से पढाते थे। अत: छात्र वर्ग उनसे प्रसन्न था।

शर्मा जी कविता भी लिखते थे (लिखते हैं) और बहुत अच्छा गाते थे। घर में गोष्ठियां होती ही रहती थीं, हम दोनों घूमते-घामते कहीं भी बैठ जाते थे, चाहे कोई पार्क हो चाहे कालेज का लॉन हो, चाहे और कोई एकांत जगह; कवितायें सुनने-सुनाते थे। शर्मा जी मेरे गीत गाते थे तो मुझे अपने गीत और अच्छे लगते थे।

1960 में मेरा शोध-प्रबन्ध आया था। 1961 में 'पानी के प्राचीर' उपन्यास छपकर आ गया। उपन्यास दो साल पहले ही पूरा हो गया था किन्तु 'हिन्दी प्रचारक संस्थान' ने छापने में विलम्ब कर दिया। छपना भी '60 में ही शुरू हो गया था किन्तु दो फर्मे छपकर ठप्प हो गया था। गर्मी की छुट्टियों में स्वयं वाराणसी गया और 15 दिन रहकर सारे प्रूफ देखे, तब जाकर छपाई किनारे लगी। 'पानी के प्राचीर' के छपने की महक मेरे तन-मन में भर गयी थी। लगता था कि अपने कछार-जीवन की सारी महक जो मेरे भीतर अंटी पड़ी थी, इस उपन्यास के माध्यम से व्यक्त हो उठी थी। उसमें कथा भी थी, कविता भी थी, मैं भी था और मेरा परिवेश भी था। जो रचनात्मक तृप्ति इस कृति के माध्यम से हुई वह इससे पहले नहीं हुई थी। अहमदाबाद के हिन्दी परिवेश में उसकी गंध छा गयी। कुछ गुजराती साहित्यकारों ने भी उसे पढ़ा और सराहा। नामवर जी का भी पत्र आया जिसमें उन्होंने बहुत आत्मीयता से उपन्यास

के बारे में लिखा था और एक बात को रेखांकित किया था कि 'ब्राह्मणों के विरुद्ध लिखने का आपने जैसा साहस दिखाया वैसा साहस मैं ठाकुरो के विरुद्ध लिखने मे न दिखा पाता। पर यह विरोध कुछ ज्यादा ही हो गया है।' अहमदाबाद मे गोष्ठिया हुई। उन्ही दिनो कृष्णचन्द्र बेरी का पत्र आया कि चरनीशोव जी इस उपन्यास का अनुवाद रूसी मे करने जा रहे हैं। यह समाचार मुझे हर्ष मे भिगो गया और आत्मीय लोग भी मेरी इस उपलब्धि से बहुत तृप्त हुए। कुछ पत्र-पत्रिकाओ मे समीक्षाएँ भी छपी किन्तु हिन्दी साहित्य के समीक्षक वर्ग मे कोई हलचल नही पैदा हुई। कोई आग नही लगी। मेरी रचनाओ में आग लगाने जैसी बात होती भी नही। और न मुझमे ही कोई ऐसी बात है कि मैं कुछ ऐसे समीक्षको को तैयार कर लू जो मेरी कृति आते ही चिल्ला उठे, "आग है, आग है इसमे।" और वह आग जगल की आग की तरह एक कोने से दूसरे कोने तक फैलती चली जाये। किन्तु मुझे सुख इस बात का है कि 'पानी के प्राचीर' धीरे-धीरे पाठको, विद्वानो और शोधार्थियो के भीतर अपनी पखुडिया खोलता गया और धीरे-धीरे चर्चा के भीतर आ गया। यही स्थिति मेरी अन्य अच्छी रचनाओ की भी हुई है। तीन साल बाद डा० प्रभाकर माचवे ने इसके बारे मे लिखा कि यद्यपि इसकी चर्चा 'मैला आचल' और 'बलचनमा' की तरह नही हुई किन्तु है यह तगडी कृति।

साहित्य-रचना और प्रकाशन की दृष्टि से चार-पाच वर्षों का यह काल मेरे लिए महत्त्वपूर्ण रहा। 'पानी के प्राचीर' के प्रकाशन के बाद ही मैंने 'जल टूटता हुआ' का लेखन आरभ कर दिया था। यद्यपि पूरा किया दिल्ली जाने के बाद 196७ मे, किन्तु काफी कुछ अहमदाबाद मे ही लिख चुका था। बहुत सी कविताए, कहानिया पत्र-पत्रिकाओ मे छपी और विशेष बात यह हुई कि कहानी लेखन मे भी मैं अधिक सक्रिय हो गया। मेरी अनेक कहानिया 'धर्मयुग', 'सारिका' आदि मे छपी। आलोचना मे भी सक्रियता आयी। 'साहित्य सदर्भ और मूल्य' नाम से मेरे समीक्षात्मक निबन्धो का सग्रह आया और 'आजकल' के सम्पादक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार ने मेरे एक लेख 'रवीन्द्रनाथ टैगोर और छायावाद' से प्रभावित होकर छायावाद पर कुछ नये लेख लिखने का आग्रह किया और उन्होने तार भेज-भेजकर छायावाद पर छ:-सात निबध लिखवा लिए तथा धारावाहिक रूप मे 'आजकल' मे प्रकाशित किया। इन लेखो की भी खुशबू मेरे भीतर भरी थी। बाद मे ये निबध क्रमशः साथी प्रकाशन मे 'छायावाद का पुनर्मूल्याकन' और ऋषभचरण जैन एव सतति से 'छायावाद का रचनालोक' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए।

सन् 1962 मे मेरे मित्रो के सहयोग से 'बैरग बेनाम चिट्ठिया' मेरा काव्य-सग्रह प्रकाशित हुआ। 'आस्था' हम लोगो की साहित्यिक गोष्ठी थी, उसी के नाम (यानी आस्था प्रकाशन) से इसका प्रकाशन हुआ। इसमे रमाकान्त शर्मा और रघुवीर चौधरी का गहरा सहयोग तो था ही, राजेन्द्र कडिया का भी कई स्तरो पर व्यावहारिक सहयोग मिला। उस पुस्तक की अच्छी चर्चा हुई। पत्र-पत्रिकाओ मे उसकी अच्छी समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। नामवर जी ने व्यक्तिगत पत्र लिखा कि यह सग्रह उन्हे बहुत अच्छा लगा। वे इस पर अवश्य कही लिखेंगे। यह उनकी आत्मा का स्फूर्जित संकल्प है। उसी

पत्र में केदारनाथ सिंह का भी पत्र था। उन्होंने इन कविताओं की ताजगी की खुले मन से सराहना की थी। नामवर भाई ने यह भी लिखा था कि इस पुस्तक के प्रकाशन का जो काम हिन्दी जगत् को करना चाहिए था उसे गुजराती मित्रों ने किया, उनके प्रति हिन्दी जगत् आभारी है। सबसे सुखद बात यह हुई कि बच्चन जी का पत्र आया कि यह पुस्तक वी० पी० पी० से उनके पास भेज दी जाए। बच्चन जी इस पुस्तक को पढ़ने के लिए उत्सुक हुए, यही इसका मूल्य था। वी० पी० पी० से भेजने का प्रश्न ही नहीं था। उन्हें पुस्तक की एक प्रति भेंटस्वरूप भेज दी और तभी से बच्चन जी के साथ मेरे सम्बन्ध बने। उनका स्नेह मुझे प्राप्त होता रहा।

यह सब कुछ हुआ किन्तु पुस्तक के बिकने की समस्या अपनी जगह स्थिर रही। मित्रों ने कुछ प्रतियां बेचीं, कुछ प्रकाशकों को दे दी गयीं किन्तु अधिकांश तो मेरे ही पास रहीं और जब दिल्ली आया तो बची हुई प्रतियां भी ढो लाया। बाद में एक प्रकाशन ने औने-पौने दाम पर सारी प्रतियां उठा लीं। और अब स्थिति यह है कि शोधार्थियों द्वारा उसकी मांग होने पर कोई प्रति नहीं मिलती।

इन्हीं दिनों भावनगर में कांग्रेस का अधिवेशन था। सरकारी अधिकारी की हैसियत से ठाकुरप्रसाद सिंह वहां आए हुए थे। एक दिन सुबह-सुबह मेरे घर उपस्थित हो गये। उन्हें इतने दिनों बाद अपने घर देखकर मुझे कितने आह्लाद की अनुभूति हुई होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। वे अपने पुराने दोस्त मास्टर हेमंत को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वे किसी सरकारी काम से आये थे अतः मेरे यहां चंद घंटे ही ठहरे और अपना काम करके भावनगर लौट गये। वे मुझे आमन्त्रित कर गये। साथ में हेमंत को भी। वहां वे उत्तरप्रदेश मंडप की ओर से कोई साहित्यिक आयोजन कर रहे थे। वह साहित्यिक आयोजन क्या था, मुझे बुलाने का बहाना था।

हेमंत के साथ भावनगर पहुंचा। मेले में हम लोग खूब घूमे-घामे, आसपास की जगहों का भ्रमण किया। समुद्र-तट पर गये। उन्मत्त हवा के साथ घंटों सागर-तट पर बिताए। एक शाम को ठाकुर भाई के सहयोग से श्री जयेन्द्र त्रिवेदी ने एक हॉल में एक साहित्यिक आयोजन किया, जिसमें भावनगर के अनेक साहित्यकार, साहित्य-प्रेमी स्त्री-पुरुष उपस्थित थे। हम लोग हॉल में पहुंचे तो जयेन्द्र भाई ने हमें मंच पर बैठाया और परिचय कराया। हेमंत हम दोनों के बीच बैठा हुआ था। ठाकुर भाई ने अपने मजाकिया लहजे में हेमंत का परिचय कराते हुए कहा—"ये छोटे रामदरश मिश्र हैं और आज की सभा के अध्यक्ष ये ही हैं।" हेमंत ने हंसकर एक अंगड़ाई ली और अध्यक्ष की अदा में बैठे रहे।

हम दोनों के भाषण के बाद ठाकुर ने कहा कि अध्यक्ष जी कुछ कहेंगे? हेमंत ने निर्भीक रूप से गुजराती कविता का पाठ शुरू किया। लोग अभिभूत थे, प्रसन्न थे और उसके साथ-साथ वह कविता दुहरा रहे थे। हेमंत ने कविता समाप्त की और कहा—"थोड़ी देर बाद मैं फिर पढ़ूंगा।" लोग हंसने लगे। सभा समाप्त हुई। हेमंत की धाक जम गयी थी। लड़कियों ने उसे घेर लिया और उससे बातें करने लगीं और वह अकड़ के साथ ऊनी चादर लहराता हुआ भीड़ में से बाहर हो लिया। जयेन्द्र भाई के

आग्रह पर मैं कई बार भावनगर गया था और उनके साहित्य को समर्पित स्नेह और व्यक्तित्व का साहचर्य पाकर बहुत सुखी हुआ था किन्तु इस बार का माहौल कुछ अलग ही था। इसमें ठाकुर और जयेन्द्र भाई दोनों के व्यक्तित्व का रस मिला हुआ था।

अकादमिक, साहित्यिक और पारिवारिक सभी दृष्टियो मे यह मेरा सुखद काल था किन्तु रह-रहकर कुछ अप्रिय घटनाएं मुझे उद्विग्न कर जाती थी। 1960 मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कई महारथी शिक्षको के साथ बी० एच० यू० से हटाये गये थे। जिस विश्वविद्यालय मे मालवीय जी भारत के कोने-कोने से योग्य विद्वानो को खोज-खोजकर लाते थे वहा मे इतने ऊचे विद्वान् चुन-चुनकर निकाले जा रहे है, शिक्षा-जगत् की यह विडम्बना शिक्षा-जगत् मे जुड़े किसी भी व्यक्ति के लिए उद्विग्नकारी हो सकती है। मैं तो बी० एच० यू० का और आचार्य द्विवेदी का प्रिय छात्र रहा हू। आचार्य द्विवेदी का हटाया जाना हम सबके लिए उद्विग्नकारी तो था ही, अपमानजनक भी था। जिन लोगो ने यह अपकृत्य किया था, वे बहुत छोटे थे और अपनी छोटी मानसिकता के तहत द्विवेदी जी का नही, बी० एच० यू० का और पूरे शिक्षा और साहित्य-जगत् का अहित और अपमान किया था। वे द्विवेदी जी जैसे ज्ञान-शिखर का क्या बिगाड सकते थे? उन्हें पंजाब विश्वविद्यालय ससम्मान ले गया और गौरवान्वित अनुभव किया किन्तु गंदी राजनीति से प्रेरित क्षुद्र लोगो ने बी० एच० यू० का जो अहित किया वह अक्षम्य है, साथ ही हम लोगो के मनो को जो सदमा पहुचाया, उसका असर जा नही रहा था, अब तक बना हुआ था।

इसी क्रम मे हमारे अपने परिवेश मे कुछ छोटे-छोटे सदर्भ घटित हुए जो उस सदमे की पीडा को एक निरन्तरता देते रहे। यह बात दूसरी है कि यहा मे जो भी निकला, बाद मे अच्छी जगह ही गया। अभिशाप वरदान बनता गया। जिन रघुवीर चौधरी ने प्रिंसिपल की ओर से मुझे नवसारी मे अहमदाबाद की ओर खीचा था उन्ही पर प्रिंसिपल की नाराजगी की चोट हुई। रघुवीर चौधरी अपनी साफगोई मे और निरावृत आचरण से अनेक लोगो को नाराज कर देते थे। वह दल जो शर्मा जी के विपरीत सक्रिय था, इनके विरुद्ध भी सक्रिय हो उठा। कमजोर आदमी अपनी सुरक्षा के लिए औरो मे डरने लगता है। इस दल के सुनियोजित प्रयास से और आहत गुरुओ की शिकायत से प्रिंसिपल साहब रघुवीर के विरुद्ध हो गये और मुझे बुलाकर उनकी शिकायत की तथा अपना निर्णय सुनाया कि अब इस कालेज मे रघुवीर के लिए जगह नही है। मैंने रघुवीर की ओर से प्रिंसिपल को बहुत आश्वस्त किया किन्तु वे नही माने। मैंने कहा—"मैं उनकी जिम्मेवारी लेता हू।" इस पर बोले—"डा० मिश्र, इस संसार मे कोई किसी की जिम्मेवारी नही ले सकता।" मुझे प्रिंसिपल के इस निर्णय से बहुत धक्का लगा। चूकि रघुवीर की एम० ए० फाइनल की परीक्षा चल रही थी इसलिए उनसे कुछ नही कहा। लेकिन यह बात मेरे भीतर उद्वेग मचाये हुए थी। रघुवीर एम० ए० का आखिरी प्रश्न-पत्र देकर मेरे साथ मेरे घर आये। उस अवसर पर उन्हें इस अप्रिय निर्णय की सूचना दी। एकाएक वे स्तब्ध रह गये। तुरंत उठकर चले गये। याद नही कि इसके बाद प्रिंसिपल से उनकी कुछ कहा-सुनी हुई कि नहीं।

दूसरी घटना घटी रमाकांत शर्मा के बारे में। साल बीतने से पहले ही प्रिंसिपल ने मुझे सूचित कर दिया कि अगले साल से शर्मा जी की आवश्यकता नहीं है। मुझे काटो तो खून नहीं। अपने पूर्व कालेज से इस्तीफा देकर आया हुआ यह व्यक्ति एकाएक कहां जाएगा ? मैंने इस क्रूर निर्णय का बहुत विरोध किया किंतु प्रिंसिपल को इससे क्या मतलब कि कौन कहां जाएगा, उसे तो बस यह देखना होता है कि वह उसके यहां रहेगा कि नही। शर्मा जी एन० सी० सी० कैंप में कूदने की प्रक्रिया मे गिर पड़े थे। उनकी टांग टूट गयी थी और प्लास्टर चढ़वाकर घर में विश्राम कर रहे थे। उस हालत में भी उन्हें अपनी कक्षा की चिन्ता बनी हुई थी। उन्हें पता नही था कि कालेज-व्यवस्था ने उनके विरुद्ध बहुत क्रूर अमानवीय निर्णय ले लिया है। मेरी हिम्मत नही होती थी कि उनसे कहूं। आखिर कहना तो था ही। किसी तरह कहा और कल्पना की जा सकती है कि उनकी क्या दशा हुई होगी। मैं भयानक अपराध-बोध से पीड़ित था कि मेरे कारण इस आदमी की जमी-जमाई नौकरी गयी किन्तु शर्मा जी बार-बार मेरे अपराध-बोध का निराकरण करते हुए कहते थे—"इसमे आपका क्या दोष है ? दोष तो मेरा है कि अपनी महत्त्वाकांक्षा के कारण इस कालेज में आना चाहा और आपको भी हैरान किया। मुझे पहले ही समझ लेना चाहिए था कि जो बेमन से मुझे ले रहा है वह घात करेगा ही।" बहरहाल शर्मा जी अपनी वेदना का असहनीय बोझ ढोते हुए भी अपने बचाव के प्रयत्न मे जुटे रहे और एक दूसरे फादर को विश्वास में लेकर उनसे अपनी करुण कहानी कही और मुझसे कहा कि फादर ने बहुत सहानुभूति से मेरी बात सुनी और आश्वस्त किया कि सब ठीक हो जायेगा। किन्तु एक दिन जब फादर प्रिंसिपल उस दूसरे फादर के साथ शर्मा जी की हुई बातचीत का हवाला देकर उनके प्रति अपनी नापसंदगी और क्रूर निर्णय को और तर्कसंगत बनाने लगे तो मैं दंग रह गया। दंग रह गया यह जानकर कि जिस फादर के सामने शर्मा जी ने मानवीय रिश्ते से अपना दु:ख-दर्द कहा, उसने पता नहीं प्रिंसिपल में क्या आग लगा दी कि प्रिंसिपल और उत्तेजित हो उठे।

खैर, शर्मा जी को जाना था, गये और थोड़ी भटकन के बाद दूसरी जगह लग भी गये। रघुवीर ने एम० ए० किया, वे भी विद्यापीठ में लग गये। योग्य व्यक्तियों का अवरोध तो बना जा सकता है, उनका भविष्य नही। अब बचा मैं और रावत जी। लेकिन मुझे लगने लगा कि यहां अब रावत ही बचेंगे। इसकी दो वजहें थीं। एक तो शर्मा जी को निकालकर प्रिंसिपल ने एम० ए० सेंटर तोड़ दिया। सेंटर एल० डी० आर्ट्स कालेज में चला गया जहां रणधीर भाई विभागाध्यक्ष थे। वे ही केन्द्र प्रभारी बने। दूसरा कारण यह था कि गुजरात विश्वविद्यालय मे त्रिवर्षीय डिग्री कोर्स हुआ। हिन्दी इंटरमीडिएट में अनिवार्य थी, अब वह केवल प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स में एक वैकल्पिक भारतीय भाषा के रूप में रह गई या फिर बी० ए० ऑनर्स कोर्स में रह गई। हिन्दी का प्रच्छन्न विरोध पालकर चलने वाले शिक्षाशास्त्रियों को हिंदी को स्थान-च्युत करने का बहाना मिल गया। इस अवसर का जेवियर कालेज ने दूसरा लाभ यह उठाया कि अपने यहां हिन्दी ऑनर्स समाप्त कर दिया। अब मेरे लिए बचा ही क्या? केवल प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स पढ़ाने के लिए तो कालेज मुझे सबसे अच्छी तनख्वाह देगा नहीं। वह तो

एक पूरी योजना के तहत मुझे हटाना चाहता था। प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स के लिए रावत जी पर्याप्त थे या उनकी रक्षा के लिए प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स पर्याप्त था। कालेज ने मुझसे सीधे-सीधे कुछ न कहकर बहुत कुछ कह दिया।

49

डाक्टरो की दुनिया भी पुलिस की दुनिया की तरह जनता मे भयावह दुनिया मानी जाती है। दोनो दुनियाओ से लोग बचना चाहते है किन्तु जाना दोनो जगह पड जाता है। फर्क इतना है कि कभी-कभी पुलिस आपको पकडकर ले जाती है और डाक्टरो के यहा आप खुद जाते है और पुलिस के चगुल से आप छूट नहीं सकते किन्तु डाक्टर तो बदल सकते है या पैसे नही है तो बीमार रहकर भी, कष्ट झेलकर भी घर बैठे रह सकते है। किन्तु यह भी तो है कि आपका पाला पुलिस से कभी-कभी ही पडता है, डाक्टरो से तो प्राय. पडता है। पुलिस आतक का नाम है और आतंकित करती है किन्तु डाक्टर तो सभ्य, सुशील और शिक्षित व्यक्ति के रूप मे सामने आता है और आपकी जेब काटकर भी सभ्य और संभ्रात बना रहता है। हा साहब, डाक्टरी जैसा मानवीय पेशा आज शुद्ध कमाऊ पेशा बन गया है। देहातो के अस्पतालो मे प्रथम तो ये जाते नही हैं और जाते है तो सरकारी अस्पतालो मे बैठकर जन-सेवा करने के स्थान पर साइकिल पर गाव-गाव घूम-कर सरकारी दवाओ का निजी सम्पत्ति के रूप मे इस्तेमाल करते है और उन दवाओ के दाम तथा फीस दूहते फिरते है और अस्पताल मे आई जनता डाक्टरो का इतजार करती रह जाती है और डाक्टर मिलते है तो दवा नही मिलती।

शहर मे प्रैक्टिस करने वाले बडे डाक्टरो की तो बात ही न पूछिए। लगता है पैसा ही उनका माई-बाप है। मरीज का मर्ज दूर करने का लक्ष्य रखने के स्थान पर यह देखते हैं कि इससे कितना दूहा जा सकता है। चाहे वे अस्पताल मे हो, चाहे निजी क्लीनिक मे, उनके आचरण मे भयानक यांत्रिकता और सवेदनहीनता लक्षित होती है। एक सधी हुई व्यावसायिकता उनके पूरे आचरण मे कसी होती है। वे यह भी नही देखते कि कोई व्यक्ति कितना मजबूर है, कितना अभाव-शापग्रस्त है। उससे लेने की नहीं, उसे देने की आवश्यकता है। उनकी फीस और दवा के दाम की एक यान्त्रिकता बनी है, सब पर समान भाव से लागू होती रहती है। इसलिए गरीब व्यक्तियो की सही इलाज के पास तक पहुंच ही नही होती। सरकारी अस्पतालो मे भी (जहा मुफ्त इलाज होता है) उन्ही की पहुच होती है जो रुतबे वाले हैं, बाकी सामान्य जनता तो वहा भी दिन-दिन-भर लोटती है, कराहती है, दुत्कारी जाती है और भगवान् के भरोसे जीती है।

इतने मानवीय कर्म (जिसकी वे शपथ लेते हैं) से जुड़े ये डाक्टर दर्द की भाषा

के स्थान पर केवल पैसे की भाषा समझते हैं, कितनी बड़ी विडम्बना है। किन्तु ऐसा नहीं है कि इस पेशे की मानवता की पूजा करने वाले डाक्टर नहीं हैं। बहुत थोड़े ही सही, किन्तु हैं जो दर्द की भाषा भी समझते हैं, जो पैसे का स्वागत तो करते हैं किन्तु उसकी आराधना नहीं करते और वे थोड़े-बहुत पैसों पर सामान्य जन की भी सेवा करते है। अहमदाबाद में डा० गनपत पटेल एक ऐसे ही डाक्टर थे। उनके यहा अच्छी-खासी भीड़ होती थी किन्तु उन्होंने नित्य प्रति अपना कुछ समय गरीबों को दे रखा था। वे उस समय बिना फीस के उन्हें देखते थे। आवश्यकता पडने पर उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे।

मेरी आख में सफेद झिल्ली पैदा हो गई थी जो आख की कोर से पुतली की ओर बढती आ रही थी। रमाकान्त शर्मा से उनका परिचय था। वे मुझे उनके यहा ले गये। पाच रुपये फीस देकर पर्ची कटाई और अपने नम्बर पर डा० पटेल के पास पहुंचे। शर्मा जी ने उनसे मेरा परिचय कराया--"ये डा० मिश्र है, सेंट जेवियर कालेज के प्रोफेसर।" वे बच्चे की तरह खिलखिलाकर हसे। आख देखी और कहा, "कल-परसों में किसी दिन आइये, ऑपरेशन कर दूगा।" चलने लगे तो उन्होंने अपने क्लर्क को बुलाकर उसके कान मे कुछ कहा। वह क्लर्क बाहर जाकर फिर अदर आ गया और पाच रुपये मुझे लौटाने लगा। मैंने कहा—"यह क्या डाक्टर साहब ? नही-नही, फीस तो आपको रखनी पडेगी।" वे खिलखिलाए, बोले—"अरे, हम दोनो ही डाक्टर है। मैं आज आपकी दवा कर रहा हू, कल आप कर दीजिएगा।" बहरहाल उन्होंने रुपये वापस कर दिय।

दूसरे दिन मैं जब सहायक पुलिस कमिश्नर दास साहब के घर से लौट रहा था, कार डाक्टर साहब के यहा रुकवा दी। चुपचाप डाक्टर के यहां जाकर आंख का आपरेशन करवा लिया। डाक्टर साहब ने सप्ताह-भर की दवा दी और कहा—"कल दिखा जाइएगा।"

मैं स्कूटर पकडकर घर आया तो मेरी आखो पर बधी पट्टी देखकर पत्नी चौंक पडी—"यह क्या ?"

"ऑपरेशन करवाया है।"

"अरे, बताया तक नही। चुपके से कराकर अकेले-अकेले चले आ रहे हैं ? बताया होता तो मैं आ गई होती।"

"अरे, इसमे बताना क्या और आना क्या ? सोचा, दास साहब की गाड़ी छोड़ जायेगी।"

"तो फिर उसने छोड़ा क्यों नही ?"

"अब वे जाने। मैंने उनसे यह तो नही कहा कि वे मुझे ऑपरेशन के बाद घर तक छोड़वा दे किन्तु यह बात तो चला ही दी थी कि रास्ते में ऑपरेशन कराना है, पच्चीस-तीस मिनट लगेंगे। अब यह तो उन्हें स्वयं कहना चाहिए था कि कोई बात नहीं, कार इंतजार कर लेगी। आखिर उनकी कार रोज घर तक आती ही है।"

"वे क्यों कहेंगे, उन लोगों को तो अपने काम से काम होता है। अपने काम से

उनकी कार घर आती है, आपको ले जाती है फिर घर तक छोड़ जाती है। आज आपको काम पड़ गया तो उनकी कार आधा घटा इंतजार नही कर सकती थी।"

"छोडो, दूसरो को क्या करना चाहिए यह तो दूसरे जानें, मुझे जो करना था करके आ गया। अब इसमे परेशान होने की क्या बात है ?"

दूसरे दिन विनीतलाल गोस्वामी आ गये। उनके साथ डाक्टर के यहा जाना हुआ। डाक्टर उन्ही के मोहल्ले (दरियापुर) मे थे। विनीतलाल मेरे प्रिय शिष्यो मे अपना निराला स्थान रखते है। वैसे तो दोनो भाई मेरे अति आत्मीय शिष्य रहे हैं किन्तु दोनो के स्वभाव मे बहुत अतर है। नवनीत गभीर स्वभाव के कम बोलने वाले पतले व्यक्ति है और अध्ययन के प्रति भी उनकी रुचि शुरू से रही है। विनीत शरीर मे स्थूल, अधिक बोलने वाला चचल व्यक्ति है। सुना था कि पढाई-लिखाई मे उसकी गहरी रुचि नही रही। शुरू-शुरू मे जब विनीत मेरे सम्पर्क मे आया तो उसके इसी रूप का परिचय मिला था किन्तु धीरे-धीरे साहित्य के अध्ययन मे उसकी रुचि धंसती गयी और एम० ए० पास करते-करते साहित्य की अच्छी सोच-समझ वाला आत्मविश्वासी व्यक्ति बन गया। उसका मोटापा, चचलता और वाचालता तो ज्यो की त्यो बनी रही किन्तु साहित्य-चेतना मे काफी अतर आ गया।

इसका श्रेय विनीतलाल के पिता गोस्वामी जी और स्वय विनीत मुझे देते रहे। पता नही यह कितना सत्य है किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि विनीत के मन मे मेरे प्रति अगाध श्रद्धाभाव भरा रहा है। विनीत अधिक-से-अधिक मेरा साथ चाहता और मेरी सेवा करने के अवसर की प्रतीक्षा मे रहता। मेरे घर पर और अपने घर पर भी मेरा शरीर दबाता, सिर पर तेल मालिश करता। मेरे न चाहने पर भी उसकी श्रद्धा-भावना अपनी ओर खीच ही लेती और यह सेवा का अवसर निकाल ही लेता।

पत्नी विनीत के बडबडियापन से चिढती थी। उन्हे यह भी शिकायत थी कि यह वक्त-बेवक्त मुझे जहा-तहा बिलगा देता है। वे विनीत को डाटती भी रहती थी किन्तु इस चिढ और डाट के पीछे विनीत के प्रति उनका गहरा स्नेह था। वैसे मिलने आने वाले छात्रो और मित्रो के प्रति उनके मन मे गहरा सद्भाव रहा है और वक्त-बेवक्त उनके चाय-पान की व्यवस्था करती रही है किंतु जो छात्र किसी प्रकार अशोभन लगते हैं उनके प्रति वे सहृदय नही हो पाती। आवश्यक व्यवहार उनके प्रति भी करती है किंतु उस व्यवहार मे मात्र औपचारिकता होती है, सौहार्द नही। मै तो सबको झेल लेता हू और कई बार रुचियो का भी अतर हो जाता है। जो छात्र उन्हे अप्रिय लगता है आवश्यक नही कि मुझे भी अप्रिय लगे। किंतु कह चुका हू कि विनीत को स्नेह देती हुई भी उसे डाटती थी।

अत: दूसरे दिन जब विनीत मुझे डाक्टर के यहा ले जाने लगा तो उन्होने हिदायत दी कि देखो इन्हे सीधे घर ले आना। विनीत ने वहा तो अपने बातूनीपन से पत्नी को आश्वस्त कर दिया किंतु जब डाक्टर को दिखाकर मेरे लौटने का समय आया तो विनीत विनीतपन पर उतर आया। उसने आग्रह किया—"सर, बगल मे ही तो घर है। चलिये, थोड़ा विश्राम कीजिये।" उसके आत्मीय आग्रह ने मुझे घेर लिया। मैं उसके घर गया।

उसने देर तक मेरी सेवा की, खिलाया-पिलाया। दो घंटे बाद हम चले तो विनीत की रूह कांपने लगी। वह स्कूटर पर घर के पास तक जाकर रुक गया, बोला—"सर, अब तो आगे आप अकेले ही जाइये।"

"क्यों ?" मैंने मुसकराकर पूछा।

"सर, भाभी जी बहुत क्रोध में होंगी। आज उनके सामने पड़ गया तो मेरी खैर नही, मुझे लौटने दीजिये।"

"क्यों, आज सारा कोप मुझे अकेले ही सहना पड़ेगा ?"

"नहीं सर, आपको भला वे क्या कहेंगी लेकिन मेरी तो सचमुच खैर नहीं होगी।"

मुझसे आज्ञा लेकर वह लौट गया और जैसे ही स्कूटर की आवाज आयी, पत्नी घबरायी हुई-सी बाहर निकलीं।

"क्यों, क्या हो गया था ? सब ठीक तो है ?"

"लेकिन तुम इतनी घबराई हुई क्यों हो ?"

"अरे, इस हालत में आप गये थे और आने मे कई घंटे लग गये, घबराने की बात ही है। कहां देर लग गयी ?"

"अरे विनीत अपने यहां लेकर चला गया था।"

"मैं जानती थी। उसको मैंने यहीं मना किया था किन्तु वह सुनता थोड़े ही है, अपनी ही करता है और आप हैं कि उसके साथ खिचे चले जाते हैं। उससे यह भी नहीं हुआ कि घर तक छोड़ ही जाये। अबकी आना है तो खबर लेती हूं।"

मैं उस भावी दृश्य की कल्पना कर हंसता रहा जिसमें विनीतलाल पत्नी के सामने पड़ेंगे। फिलहाल कुछ बोलना उचित न समझकर खाट पर जाकर लेट गया।

"कमबख्त तीन घंटे तक चिंता में डाल दिया। यह भी नहीं हुआ कि घर तक छोड़ जाये।" पत्नी बडबडाती रही।

"अरे भाई, छोड़ने आया था लेकिन तुम्हारे डर से मोहल्ले के बाहर ही उतार-कर लौट गया।"

अपने डर के भारीपन के अहसास से पत्नी मुसकरायी और फिर अपना वाक्य दोहराया—"अबकी मिले विनीतलाल तो बताती हूं।"

तो मैं बात कर रहा था डाक्टर की। विनीतलाल तो अपने स्नेहाधिकार से जबरदस्ती घुस आये। एक सप्ताह बाद आंख का टांका कटा तो मैंने पूछा—"डाक्टर साहब, आपको क्या दे दूं ?"

"कुछ नहीं।" वे खिलखिलाये।

"नहीं डाक्टर साहब, इतना बोझ मैं नहीं उठा पाऊंगा।"

"और मैंने अगर पैसे ले लिए तो उसका बोझ मैं नही उठा पाऊंगा।"

"यह क्या बात हुई डाक्टर साहब ?"

"बात हुई न डाक्टर साहब, वास्तव में आप मेरी पुत्री के गुरु हैं।"

"मैंने उसे पढ़ाया है क्या ?"

"नहीं पढ़ाया है तो क्या, वह उसी कालेज की छात्रा रही है जिसमें आप पढ़ाते हैं। आप गुरु हुए कि नहीं ?"

कृतज्ञता से मेरा माथा झुक गया, आंखें भर आयीं। मुझे संकोच में गड़ा देख वे फिर खिलखिलाये—"अरे डाक्टर, हम दोनों ही डाक्टर हैं। एक पेशे के लोग एक-दूसरे से फीस नहीं लेते। कल आप मेरी दवा कर दीजिएगा।"

यह बात व्यक्तिगत नहीं है। कह चुका हूं कि डा० पटेल सामान्य जनों की भी सेवा करते थे। मेरे साथ तो एक नैतिकता जुड़ गयी कि उनकी पुत्री उस कालेज की स्नातिका थी जहां मैं पढ़ा रहा था किन्तु सामान्य जनों के लिए किसी जान-पहचान या सम्बन्ध-मूलक नैतिकता की आवश्यकता नहीं थी, केवल उनका सामान्य होना ही काफी था।

डा० प्रफुल्ल मुंशी का जिक्र कर चुका हूं जिनके प्रसूतिगृह में शशांक और विवेक का जन्म हुआ था। पहले तो उनके साथ हमारा सम्बन्ध डाक्टर और मरीज का था। उनके यहां बच्चे हुए, उन्होंने फीस ली बस, किन्तु कह चुका हूं कि डाक्टर के रूप में वे अपना दायित्व बहुत पवित्रता से निभाते थे। मरीजों के साथ उनका सम्बन्ध बहुत स्निग्ध और सहिष्णुतापूर्ण था। मरीज औरतों की भयानक से भयानक गालियां सुनकर भी वे सारू बेन (ठीक है बहन) कहकर रह जाते थे और उनके लिए जो उपयुक्त होता था वही करते थे किन्तु बाद में मैंने उनका एक छोटा-सा निजी काम कर दिया। उसके बाद डा० मुंशी हमारे कितने अपने हो गए, कह नहीं सकता। वे मूलतः प्रसूति के और नारी-रोग के विशेषज्ञ थे किन्तु हमारे हर रोग में वे सहायक होना चाहते थे। वे चाहते थे कि हमारा एक पैसा भी खर्च न हो और हमारा रोग-संकट दूर हो जाये। दोनों बच्चे तो पहले ही हो चुके थे और वे उनकी फीस ले चुके थे। उसके बाद तो उन्हें इस सम्बन्ध में मेरा अर्थ-भार कम करने का अवसर ही नहीं मिला किन्तु अन्य प्रकारों से वे मेरा अर्थ-भार कम करने में जुटे रहे। अपने यहां से दवाइयां भेजते रहे। और जब हम अहमदाबाद से चलने लगे तो लगा जैसे रो देंगे।

हमारे मोहल्ले के पास एक डाक्टर थे—बाबू भाई। सामान्य डाक्टर थे किन्तु बनारस से लेकर दिल्ली तक यह हमारा सौभाग्य रहा है कि सामान्य डाक्टर भी हमारे लिए बहुत सफल सिद्ध होते रहे। बाबू भाई की दवा हमें रास आती थी और उनका मस्त व्यवहार डाक्टर का नहीं, आदमी का व्यवहार लगता था। वे दवाओं का दाम भी कम लेते थे। मैं तो दिल्ली पहले ही आ गया था। पत्नी महीना-भर बाद आयीं और उन्होंने उन दिनों बाबू भाई से इलाज करवाया था। पैसे देने लगीं तो वे बोले, "सरस्वती बेन, मैं जाने वालों से पैसे नहीं लिया करता।" पैसे थोड़े ही रहे होंगे किन्तु बात पैसे की नहीं भावना की थी। यह बात उन्होंने कही तो थी अपनी सहज मस्ती में किन्तु उनकी आंखें भर आयी थीं।

इन डाक्टरों को देखकर इस अमानवीय होते हुए पेशे के प्रति टूटता हुआ विश्वास टूटते-टूटते रह जाता है। लगता है अभी कुछ लोग हैं जो इस पवित्र पेशे को पैसे की ही दृष्टि से नहीं, मनुष्य की दृष्टि से भी देखते हैं और मन में एक सपना

जगाते हैं। काश, काफी डाक्टर इस पेशे को केवल व्यावसायिक पेशा न मानकर कुछ दूर तक मानव-सेवा भी मानते।

50

मैं एक नयी उद्विग्न मानसिकता के चक्रव्यूह में पड गया। भीतर और बाहर की गहमा-गहमी ठंडी पड़ने लगी। जब मैं साठ मे नवसारी से अहमदाबाद आया था तब मैं पुराने और नये मित्रो के बीच बडा भरा-पूरा अनुभव करता था। उनके साथ न जाने कितनी बैठकें हुईं, गोष्ठिया हुईं। गुजरात हिन्दी प्राध्यापक परिषद् बनी, मैं उसका उपाध्यक्ष बनाया गया था। नदियाड मे उसका वार्षिक अधिवेशन हुआ और रात को एक कमरे मे जो विनोद-समारोह हुआ, वह अविस्मरणीय था। एक बड़े कमरे मे मेरे साथ भगवतशरण अग्रवाल, गोवर्धन शर्मा, प्रभास शर्मा, श्याम सुन्दर शुक्ल, रामलखन शुक्ल और कई लोग थे, कुछ छात्र भी थे। प्रभास जी को नायक बनाकर भगवतशरण ने नौटकी की तर्ज पर मुह से जो तबला बजाया और लोगो ने गाया, वह अद्भुत था। उस विनोद के उछाह मे रात-भर जागते रहे किन्तु उसी मे प्रभास जी को कही कुछ लग गया और बाद मे कुछ लोगो ने उन्हे समझा दिया कि आपका उपहास किया गया है। तब से प्रभास जी कई लोगो से खिच गये।

इस बार जब मै अहमदाबाद आया था तब कई लोग मेरे मित्र बनकर बहुत नजदीक आये थे। उनका मेरे यहा (और मेरा उनके यहा भी) आना-जाना लगा था। भगवतशरण अग्रवाल तो काफी पहले से मेरे मित्र थे, गोवर्धन शर्मा उनसे और मुझसे जुडने वाले नये मित्र थे। न जाने क्या हुआ कि कुछ समय बाद भगवतशरण अग्रवाल और गोवर्धन शर्मा दोनों के मन मे मुझे लेकर उदासीनता आ गयी, बल्कि खिचाव आ गया। बोलचाल थी किन्तु उसमे ठंडापन स्पष्ट झलकता था और जब मैं अपने कालेज की उपेक्षा की मार झेलने लगा, तब तो मुझे लगा कि मैं एक अद्भुत गहरी उदासी और उपेक्षा के सन्नाटे में फंस गया हू। एम० ए० केन्द्र तो छिन ही गया था अतः उस नाते प्राप्त होने वाला लोगों का लगाव तो ठंडा हो ही गया था, जब बी० ए० ऑनर्स भी समाप्त कर दिया गया तब तो जैसे लोगों ने किनारा ही कस लिया। मेरी स्थिति मेरी अपनी दृष्टि में चाहे दयनीय न रही हो, लोगो की दृष्टि में दयनीय बन गयी। सम्बन्धों का इतना ठंडापन मैंने कभी अनुभव नहीं किया था। रमाकान्त शर्मा तो मेरे गहरे दुःख के साथी रहे, इसलिए इस दुःख में वे मेरे प्रति अपने आत्मीय सरोकारों में और भी सघन हो आये थे। जेवियर के दुःख को वे भोग चुके थे और उस दुःख से लड़कर बहुत कुछ उबर चुके थे—इसलिए मेरे प्रति उनकी छटपटाहट जैसे स्वयं उनके अपने प्रति लग रही थी। वे लड़ना जानते हैं इसलिए मेरे लिए भी लड़ने का हौसला बटोरे हुए

थे। उनके अतिरिक्त रघुवीर चौधरी, करुणेश, नवनीत, विनीत, महावीरसिंह चौहान, भंवरलाल गुर्जर, भोला भाई पटेल आदि शिष्य मेरे दुःख में साथ खड़े थे। वे क्या कर सकते थे किन्तु मेरे आसपास एकाएक घिर आये गहरे सन्नाटे में उनकी उपस्थिति की छोटी-छोटी पुकारें सहारा दे रही थीं। अवधनारायण त्रिपाठी तो अपने सम्बन्धी ही थे। उनकी चिन्ता स्वाभाविक ही थी। हरिहर जी पड़ोसी थे अतः आते-जाते उनसे भेंट हो जाती थी और वे हालचाल पूछ लेते थे।

इस वर्ष प्रतिकूल घटनाएं बडी तेजी मे घट रही थीं। इसी वर्ष (यानी '63 मे) हिन्दी पाठ्यक्रम समिति के अध्यक्ष का फिर चुनाव होना था। जयेश भाई अहमदाबाद से बाहर चले गये थे। उनकी जगह पर किसी को नियुक्त होना था। मैं और अंबाशकर नागर मनोनीत सदस्य थे। बेहतर यही होता कि हममें से कोई व्यक्ति अध्यक्ष हो जाता। हमारे प्रिंसिपल भी चाहते थे। जेवियर से मैं बैठक में पहुचा। पाच मिनट विलंब से पहुंचा तो ज्ञात हुआ कि अध्यक्ष का चुनाव हो गया। चिम्मन भाई की कृपा से कलोल के कोई हाई स्कूल के गुजराती टीचर अध्यक्ष बना दिये गये थे। इतनी शीघ्रता मैंने कम देखी थी। शायद मेरा पांच मिनट बाद पहुंचना उनके निर्णय के लिए सुविधाजनक हो गया। किन्तु अध्यक्ष बनने की मेरी कोई स्पृहा नहीं थी। खामखाह लोग मुझे अध्यक्ष के रूप मे देखना चाहते थे। जब मैं अपने कालेज में महत्त्वहीन हो गया तो बोर्ड का अध्यक्ष बनकर क्या पा जाता? चिम्मन भाई तो नेता थे—आनन-फानन में काम करके जाने वाले व्यक्ति। वे तुरंत चले गये तो नागर जी ने इस निर्णय की विद्रूपता का रोना रोना शुरू किया। मेरी अनुपस्थिति मे जो कुछ हुआ उसे बताया और चिम्मन पटेल नाम के नये अध्यक्ष की अयोग्यता का रोना रोये। यह भी बताया कि वे तो मुझे चाहते रहे।

कालेज पहुंचा तो प्रिंसिपल ने उत्सुकता से पूछा—"क्या हुआ?" मैंने बता दिया और नागर जी ने जो बताया था वह भी बता दिया। प्रिंसिपल को न जाने मेरे अध्यक्ष होने की इतनी चिन्ता क्यों सता रही थी कि फोन पर चिम्मन भाई से शिकायत की कि जान-बूझकर डा० मिश्र को आप लोगो ने काटा और एक अयोग्य व्यक्ति को चेयरमैन बना दिया। चिम्मन भाई ने इसका प्रतिवाद किया और यह जानकर कि मैंने प्रिंसिपल से यह सब कुछ कहा है मुझसे नाराज हो गये। परीक्षा सम्बन्धी एक काम से नाराज तो वे मुझसे पहले ही हो चुके थे और उसी संदर्भ मे डा० नागर से प्रसन्न भी हुए थे, अब और नाराज हो गए। नागर जी बहुत कुशल और सफल व्यक्ति है। वे लोगो की शिकायत करके भी उनके प्रिय बने रहते है। चिम्मन पटेल के क्रिया-कलापों की मुझसे शिकायत करते रहे और उनके प्रिय बने रहे, उलटे अप्रियता मैंने प्राप्त की। इसी तरह वे कुंवर चन्द्रप्रकाश का और उनके परिवार के न जाने किन-किन अशोभन क्रिया-कलापो का कच्चा चिट्ठा मेरे सामने खोलते रहे और जब रीडरशिप की प्राप्ति की बात आयी तो कुंवर साहब की अनुकूलता उन्होंने प्राप्त की और प्रतिकूलता मैंने। इसी प्रकार विद्यापीठ के गिरिराज किशोर का मजाक उड़ाते रहे किन्तु अवसर पर उनकी भी अनुकूलता प्राप्त कर ली। उनके व्यक्तित्व में ऊपरी तौर पर ऐसी मिठास है कि सामने

वाला व्यक्ति सहज ही उसमें भीग जाता है और किसी को यह शंका ही नहीं हो पाती कि इतना सुशील, सभ्य और मृदु व्यक्ति किसी की शिकायत कर सकता है और यदि करता है तो निश्चय ही वह सही होगी।

हां, तो सन् '63-64 के सूनेपन की बात कर रहा था। मैं प्रिंसिपल के रुख को समझ गया था और अन्यत्र जाने की योजना बना रहा था किन्तु नौकरी रखी तो नहीं हुई है कि जब चाहा एक को छोड़कर दूसरी पकड़ ली। फिर एक नया सहारा उदित हुआ था—सोचता था, शायद मिल जाये। यानी गुजरात विश्वविद्यालय में रीडरशिप की जगह विज्ञापित हो गई थी। प्रिंसिपल को भी उम्मीद थी कि मैं ले लिया जाऊंगा। शायद इसीलिए वे मेरे प्रति कोई अन्तिम निर्णय नहीं ले रहे थे। फिर भी मेरे प्रति अपनी उदासीनता से वे अपना रुख जाहिर कर ही रहे थे। प्रिंसिपल कुशल प्रबन्धक थे अतः वे पदानुक्रम का बड़ा ध्यान रखते थे और पदानुक्रम की दृष्टि से उस कालेज में मेरा वरिष्ठ स्थान था और वे कालेज के अकादमिक मामलों में मेरे महत्त्व को सुरक्षित रखते थे किन्तु अब उन्होंने महत्त्व देना छोड़ दिया था। मेरी उपेक्षा कर रहे थे। कमेटियों में मेरा नाम गायब रहने लगा, परीक्षा सम्बन्धी कार्यों में मेरी पूछ खत्म हो गई। प्री-यू० कोर्स पढ़ाकर चुपचाप स्टाफ रूम में बैठा रहता और कालेज के महत्त्वपूर्ण कार्यों की धाराएं मुझे अनछुए अगल-बगल से निकल जाती थीं। मेरे वरिष्ठ सहकर्मियों को इस बात से बड़ी पीड़ा हो रही थी। चिम्मन भाई त्रिवेदी, बाबा भाई पटेल, रजनी पटेल आदि मेरे प्रति प्रिंसिपल के रवैये से बहुत दुःखी थे। सी० एल० शास्त्री, वारिस अलवी आदि भी खिन्न थे किन्तु कोई कर क्या सकता था?

गुजरात विश्वविद्यालय में रीडरशिप की जगह विज्ञापित हो गई थी। अब मेरे लिए केवल इसी का अवलम्ब था किन्तु क्या इसे पाना इतना आसान था? मेरे परिचय की दुनिया इतनी छोटी थी कि बड़े लोगों में सहारा पाने की कोई आशा ही नहीं थी और केवल अकादमिक योग्यता से तो इसे पाया नहीं जा सकता था। ये मेरे बुरे दिन चल रहे थे और लोग अकारण नाराज होते जा रहे थे। एक दिन हरिहर शुक्ल जी मिले और पूछा, "रीडरशिप में क्या हो रहा है?"

"होना क्या है, आवेदन-पत्र दे दिया है किन्तु होना-हवाना थोड़े ही है। रणधीर भाई यहां के वरिष्ठ प्राध्यापक है और यहां के सभी प्रभावशाली लोगों से उनका सम्बन्ध है। उनका ही होगा और होना भी चाहिए।"

"ना-ना, आप भ्रम में है। आपके प्रतिद्वन्द्वी रणधीर भाई नहीं, आपके परम मित्र अंबाशंकर नागर हैं। उनसे बचिये।"

मैं एकाएक विश्वास नहीं कर सका किन्तु हरिहर भाई जब कह रहे हैं तब सत्य ही होगा क्योंकि वे चिम्मन भाई पटेल के कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं और नागर जी ने अनेक कारणों से चिम्मन भाई की गहरी अनुकूलता प्राप्त कर ली है। कालेज में इस पद को लेकर कुछ चर्चाएं भी होती होंगी। हरिहर जी उसे सुनते होंगे। मुझे यह भी ज्ञात हो गया कि नागर जी का सौम्य व्यक्तित्व बहुत दुरूह है। मुझसे चिम्मन भाई की शिकायत करते रहे और उनसे मेरी। मैं चिम्मन भाई का क्या बिगाड़ सकता था किन्तु

चिम्मन भाई मेरा तो बिगाड़ सकते थे और मेरा बिगाड़कर नागर जी का बना सकते थे। और हो सकता है कि जो नागर जी बड़ौदा में बैठे हुए मुझे नये पद की शुभकामनाए दे रहे हैं, वे स्वयं उसे प्राप्त करने के लिए जाल बिछा रहे हों। हरिहर जी चतुर व्यक्ति हैं, उनकी पहचान गलत नही होगी। अब मेरा ध्यान रणधीर भाई की ओर से हटकर नागर जी की ओर चला गया। किन्तु मैं कर क्या सकता था। इस समय तो अपने लोग भी पराये हो रहे थे। परायों के अपने होने की आशा कौन करता ?

इसी समय मेरे विरुद्ध एक धमाका हुआ। हिन्दी वालों की रणनीति का गदा और घिनौना रूप यहा भी दिखाई पडा। एक चिट्ठी बहुत व्यापक पैमाने पर वितरित की गई। कालेज के प्रिंसिपल, रजिस्ट्रार, वी० सी० और शहर के तमाम प्रभावशाली लोगों के पास वह भेजी गई। एक प्रति मुझे भी मिली। पढ़कर जी तिलमिला गया। उसमे मेरे चरित्र-हनन के लिए अनेक काल्पनिक, अश्लील बातें कही गई थी। इस तरह की गन्दी रणनीति से मेरा दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा इसलिए इसे सह पाना मेरे लिए कठिन हो रहा था किन्तु करता क्या ? यह घिनौना काम किसने किया है ? दृष्टि कभी किसी पर जाती, कभी किसी पर। मैं तो वैसे ही बहुत भावुक हू, इस घटना ने मुझे बहुत उत्तेजित कर दिया और इस पत्र को लेकर पहले प्रिंसिपल से मिला। वे हंसे और बोले, "इन गन्दे लोगों को प्रहार भी नही करना आता। डा० मिश्र को जानने वाला कौन आदमी विश्वास करेगा कि सेक्स के मामले मे उनका चरित्र कमज़ोर है। आप इनकी परवाह न कीजिये डा० मिश्र और पूरे मन से अपनी लड़ाई लड़िए। गुमनाम पत्र नपुसक लोग लिखते हैं और उनका कोई महत्त्व नही होता।" मेरा जी हल्का हुआ और अपने बारे मे प्रिंसिपल की टिप्पणी के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त किया।

रजिस्ट्रार से मिला। उन्होंने भी कहा कि ऐसे समय आये इन पत्रो का कोई महत्त्व नही और ऐसे पत्रों से हम लोग कोई राय नही कायम करते और आपके बारे में ऐसी बाते स्वतः गलत प्रमाणित हो जाती है। इसके बाद उन्होंने पूछा कि आपको किस पर सन्देह है। जुबान पर नाम तो आया किन्तु बचा ले गया और कहा कि सन्देह तो सन्देह ही होता है। बिना प्रमाण के किसी का नाम कैसे लिया जाये। बहरहाल वह पत्र मेरे चरित्र के बारे में किसी पर असर नही डाल सका किन्तु किसने पत्र लिखा होगा इसकी कल्पना कर-करके लोग उसके चरित्र की छानबीन अवश्य करने लगे।

मार्च में मै एस० एम० सी० का डिप्टी चीफ माडरेटर होकर बड़ौदा चला गया। मेरे साथ रमाकात शर्मा भी थे और जगन्नाथ पांडे भी थे जो चीफ माडरेटर थे। हम लोग एक ही लॉज में ठहरे थे। बडौदा जाने मे पूर्व ही ज्ञात हो गया था कि विशेषज्ञ समिति बन गई है। समिति अद्भुत थी, न भूतो न भविष्यति। चिम्मन पटेल ने अपना रग दिखाना शुरू कर दिया था। सीनेट में उन्होंने तीन नाम प्रस्तावित किए : (1) कुंवर चन्द्रप्रकाश, (2) डा० सरनाम सिंह, (3) गिरिराज किशोर। कुंवर चन्द्र-प्रकाश, यानी डा० अंबाशंकर नागर के वर्तमान विभागाध्यक्ष। डा० सरनाम सिंह यानी डा० नागर के शोध-प्रबन्ध के निर्देशक और गिरिराज किशोर, यानी गुजरात विद्यापीठ के हिन्दी-सेवी और नागर जी के विद्यापीठ काल के मित्र और अध्यक्ष। एक व्यक्ति के

सुरक्षा-कवच की तरह उसके तीन सम्बन्धी। और योग्यता भी देखिए। डा० सरनाम सिंह उस समय केवल रीडर थे। यानी हिन्दी-जगत् में प्रोफेसरों का अकाल था कि रीडर की नियुक्ति के लिए एक रीडर से ही सन्तोष किया गया। गिरिराज किशोर इतिहास मे बी० ए० थे और हिन्दी प्रचारक थे। साहित्य और विशेषतया हिन्दी साहित्य से उनका छत्तीस का सम्बन्ध था। जाहिर था कि ये तीनों नाम डा० नागर की इच्छा से प्रस्तावित किये गये थे और हिन्दी से अनभिज्ञ सीनेट के लोगों को इन नामों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही हुई। चिम्मन भाई कांग्रेस के नेता थे। सीनेट में भी उनका वर्चस्व था। इसलिए कुछ विरोध होता तो भी बहुमत से पास हो गया होता। श्री उमाशंकर जोशी इस खेल को समझते हुए भी विवश थे। बस, वे इतना भर कर सके कि एकेडेमिक कौंसिल मे डा० नगेन्द्र का नाम प्रस्तावित कर स्वीकृत करा लेने मे सफल हो गए। वैसे मेरे लिए बचा क्या ? केवल नगेन्द्र जी से अकादमिक न्याय की आशा थी किन्तु उनसे भी मेरा परिचय नहीं था। फिर भी इतना विश्वास था कि नगेन्द्र जी साहित्य के माध्यम मे अवश्य मुझे जानते होगे।

बड़ौदा मे माडरेशन करने के क्रम में ही ज्ञात हुआ कि साक्षात्कार का दिन तय हो गया। माडरेशन का काम जिस दिन समाप्त हो रहा था संयोग से उसके दूसरे दिन साक्षात्कार की तिथि पडी थी। कह चुका हूं कि डा० नागर कलाकार व्यक्ति है। वे आज तक मुझसे कुवर चन्द्रप्रकाश और उनके परिवार की शिकायते करते थे किन्तु जब स्वार्थसिद्धि का समय आया तब उन्होंने कुवर साहब को पटा लिया, खूब पटा लिया। कुवर साहब का बाहरी-भीतरी व्यक्तित्व मुझे कभी सुन्दर नहीं लगा था और उनसे मेरी सम्पृक्ति नही हो पाई थी किन्तु मैंने उनके विरुद्ध कुछ नही किया, पर कलाकारों ने उन्हें इस समय मेरे विरुद्ध तान दिया, खूब तान दिया। डा० सरनाम सिंह से भी मेरा कोई भला-बुरा परिचय नही था, उन्हें भी तान दिया गया। यानी मेरे प्रति उनकी उदासीनता तो समझ में आती है किन्तु अकारण मेरे प्रति उनका क्षोभ समझ में नही आता। सुना था कि ये लोग कटिबद्ध थे कि मेरा नाम पैनल मे भी न आने पाये।

कह चुका हू कि आशा नगेन्द्र जी मे थी किन्तु यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि मेरे विरुद्ध उनके भी कान भरे जा चुके है। उत्तर भारत मे विराजमान इनके एक प्रतिनिधि और मेरे भूतपूर्व मित्र (जो नगेन्द्र जी के समीप थे) ने अपना काम कर दिया था। वे नगेन्द्र जी को समझाने में सफल हो चुके थे कि मै उनके खिलाफ बोलता हूं, लिखता हूं। तो भी मुझे आशा थी कि नगेन्द्र जी जैसा ऊंचा व्यक्ति इन शिकायतों मे परिचालित न होकर अकादमिक और साहित्यिक दृष्टि से जो ठीक समझेगा, करेगा।

माडरेशन-कार्य समाप्त हो गया। हम लोग अपराह्न की गाड़ी से अहमदाबाद रवाना होने के लिए स्टेशन पर आये। बम्बई से अहमदाबाद जाने वाली गाड़ी मे बड़ौदा मे दो डिब्बे जुडते थे। हम लोग उसी में बैठने के लिए गये। हम यानी मैं, रमाकात शर्मा और केदारनाथ दूबे 'यतीन्द्र'। दो बर्थों पर एक व्यापारी-परिवार पसरा हुआ था। यानी आवश्यक रूप से सारी जगह छेंके हुए था। काया से सभी स्थूल थे। हम लोग खड़े थे और उनसे निवेदन किया कि वे लोग थोड़ा अपने को समेटें और हम लोग बैठ

आयें। वे लोग नहीं माने तो रमाकांत जी एक बर्थ के कोने पर बैठ गये। उस परिवार में खलबली मच गई। परिवार का मालिक और सबसे मोटा व्यक्ति बोला, "आप बिना मेरी इजाजत के कैसे बैठ गये?" रमाकांत जी ने कहा, "क्यों, क्या आप देश के राष्ट्रपति हैं कि आपकी आज्ञा ली जाये और गाड़ी में बैठने के लिए तो राष्ट्रपति की भी आज्ञा नहीं चाहिए।" उस आदमी को गुस्सा आ गया और उठकर रमाकांत जी का कालर पकड़ लिया और गाली देते हुए बोला, "उठ यहा से।" हम लोग सकते मे आ गए। कल मेरा साक्षात्कार है। सोचा, क्यो बिना वजह झगड़ा बढ़ाया जाये। हम कम्पार्टमेंट के बाहर आ गये। इस घटना के बाद उस मोटे के छोटे भाई (जो मध्यप्रदेश में कहीं इंटर कालेज में प्राध्यापक था) को भी कुछ होश आया और हम लोगो से बातें करने लगा। बोला, "आपके साथी ने अनावश्यक झगडा पैदा करा दिया।"

"भाई, झगडा तो आपके भाई साहब ने बढ़ाया। सीट पर बैठना कोई गुनाह तो है नही।"

हम दोनों देख रहे थे कि घटना के बाद शर्मा जी अदृश्य है। 'कहा गये' यह चिन्ता हमें साल रही थी। मैं सोच रहा था कि शर्मा जी स्वस्थ होते तो इस मोटे के शरीर पर चढ़ बैठते। कहा जा चुका है कि एन० सी० सी० कैंप में उनकी टाग का फ्रैक्चर हो चुका था और अभी तक उनकी टाग मचकती थी और वे छडी के सहारे चलते थे।

देखा, शर्मा जी पुलिस के दो सिपाहियों के साथ छड़ी के सहारे जल्दी-जल्दी चले आ रहे है और आते ही सिपाहियो को ललकारकर कहा, "यह रहा रास्कल, पकड लो इसको।" अब तो सारा दृश्य ही बदल गया। उन सिपाहियों ने उस मोटे को पकडा और कहा, "चल थाने।" वह मोटा घिघियाने लगा। लेकिन सिपाहियो ने उसे दबोच लिया और उस मोटे का जो मोटा परिवार अपने वीर पुरुष की बहादुरी पर मुग्ध होकर अब तक प्रसन्न हो रहा था, रोने-घिघियाने लगा। थाना पास ही था। मैं भी गया। थानेदार से घटना बताई गई। शर्मा जी ने उन सिपाहियो पर जिस बात से रुआब डाला, उसी से थानेदार पर भी डाला। बात यह थी कि बड़ौदा के पुलिस उप-कमिश्नर श्री निरंजनदास मेरी शिष्या के पिता होने के कारण मेरे मित्र बन गये थे। वे पहले अहमदाबाद में थे। हम लोग एक दिन उनसे मिलने भी गये थे। शर्मा जी ने प्लेटफार्म पर ड्यूटी पर तैनात सिपाहियों से यही कहा था कि दास साहब हमारे मित्र है। दारोगा से भी यही कहा गया। मैंने दारोगा से कहा, "जरा दास साहब को फोन मिलाइए।" दारोगा ने कहा, "अरे साहब, दास साहब को क्यों तकलीफ देंगे, मैं तो हूं ही।" उन्होंने दोनो सिपाहियो से कहा, "इसको हवालात मे बन्द कर दो और इसे बन्द करके इसके साथियों को भी पकड़ लाओ।" उस मोटे की हालत देखने लायक थी। हलचल-हलचल कांप रहा था। सिपाही उसे लेकर हवालात की ओर चले तो शर्मा जी ने मुझसे कहा, "आप चलिए, आपको कल इण्टरव्यू देना है। मेरी गाड़ी छूट जायेगी तो कोई बात नहीं, मैं इसे ठिकाने लगाकर ही आऊंगा।"

गाड़ी का समय हो रहा था। अतः मैं गाड़ी की ओर चला। वहां जाने के बाद

मोटे के परिवार वालों की बेहाली देखी। मैंने बताया कि वे हवालात गये, आप लोग गाड़ी से उतरने की तैयारी कीजिए। तब तक देखा कि शर्मा जी आगे-आगे और पुलिस वालों के साथ मोटेराम पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। गाड़ी में आने के बाद शर्मा जी चीखकर बोले, "टच माई फीट रास्कल। तूने सबके सामने मेरा अपमान किया है इसलिए सबके आगे पांव छू-छूकर माफी मांग।" मोटेराम सबके सामने शर्मा जी के पाव छू-छूकर माफी मांगने लगे। फिर सब कुछ शान्त हो गया। शर्मा जी ने बताया कि मोटा हवालात के आगे मेरा पांव छूकर माफी मांग रहा था तो मैंने कहा—"यहां नही, सबके सामने माफी मांग।" फिर बड़ौदा से अहमदाबाद तक मोटे-परिवार ने कोई बात नही की, आपस में भी चुप ही रहे, जैसे सहम गये हों।

51

इण्टरव्यू का आतंक कई दिन पहले ही मुझ पर सवार हो गया था। वास्तव में इण्टरव्यू मेरे लिए आतंक का पर्याय ही रहा है। आज तो वह अपनी पराकाष्ठा पर था। और इण्टरव्यू सहज भाव से आतंक बनते है किन्तु यह तो सुनियोजित आतंक बनकर आया था। पहले से तय था कि जो चाहे हो जाये मुझे नहीं लिया जायेगा, पैनल मे नाम भी नहीं रखा जायेगा। 'नही लिया जायेगा' इतना ही काफी नही था, नहीं लेने के लिए आखिर उन्हें कोई आधार तो बनाना पड़ेगा और वह आधार होगा उलटे-सीधे सवाल करके मुझे अपमानित करना। शर्मा जी घर पहुंचकर दस बजे रात को मेरे यहां आये। मुझे ढाढ़स देते रहे, यतीन्द्र जी भी मेरे यहा ठहरे थे और इधर-उधर की बातें करके आश्वस्त करते रहे।

बहरहाल इण्टरव्यू का समय आया। नागर जी पहले गये। काफी लम्बा इण्टरव्यू। फिर मैं गया। यह अच्छा था कि उम्मीदवार की कुर्सी के ठीक सामने नगेन्द्र जी की कुर्सी थी और उनकी बगल में कुलपति की। इन तीन विशेषज्ञों (?) की कुर्सी उम्मीदवार की बगल में एक पंक्ति में थी। जाते ही एक बार इन आला विशेषज्ञों पर नजर पड़ी थी, फिर तो मैं नगेन्द्र जी की ही ओर देखता रहा। इन तीनों के सवालों के जवाबों के समय भी मैं नगेन्द्र जी की ही ओर देखता रहा। सबसे पहले नगेन्द्र जी ने सवाल पूछे और मेरे उत्तरों पर अपनी सन्तुष्टि प्रकट की। वे हर बार कहते रहे—"यस, इट इज वेरी गुड आनसर।" कह चुका हूं कि मेरे विरुद्ध उनके कान भरे गये थे और मैंने कुछ माध्यमों से अपने प्रति उनका मन साफ करने का प्रयत्न किया था। उनका मन साफ तो नही हुआ था किन्तु उन्होंने आश्वस्त किया था कि वे मेरा अहित नहीं करेंगे। वे यह जानते थे कि तीनों लोग मेरे विरोध में हैं और वे अकेले हैं, किन्तु हमें विश्वास था कि नगेन्द्र जी चाहें तो अकेले काफी हैं। उस समय उनके प्रताप का ताप पूरे हिन्दी-जगत् पर छाया हुआ था, किसी की हिम्मत नहीं थी कि खुलकर विरोध करे।

इन तीनों में से दो तो उनके कृपाकांक्षी ही हैं, वे उनके विरोध में कैसे जा सकते हैं ? किन्तु विडम्बना तो यही थी कि नगेन्द्र जी के मन मे मेरे प्रति भ्रान्तियां थीं जिन्हें उन्होंने स्पष्ट कर दिया था। इसलिए डर था कि मेरे प्रति उनका समर्थन इतना वेगवान नहीं होगा जो इन तीनों के विरोध को साफ-साफ काट सके। और वही हुआ। एक ओर ये तीनो नागर जी के लिए तैयार होकर आये थे, दूसरी ओर नगेन्द्र जी की सहानुभूति नागर जी, रणधीर भाई सबके प्रति थी।

नगेन्द्र जी के बाद इन तीनों ने सवाल पूछे और मैंने बिना उनकी ओर देखे उत्तर दे दिये। जितना सभव था, इन्होंने ऊट-पटांग सवाल पूछे और मुझे उत्तेजित करने का प्रयत्न किया और जितना सम्भव हो सका मैंने संयम बरता। एक बिन्दु पर तो कुवर साहब ने मुझे 'डाउन' करने की बड़ी कोशिश की। डा० नगेन्द्र ने पूछा—"मान लीजिये आप रीडर चुन लिए जाते है तो शोध-क्षेत्र मे कौन-से नये काम कराइयेगा ?"

मैंने कहा—"गुजरात मे बहुत-से गुजराती हिन्दी लेखक हुए है, उनकी हिन्दी कृतियों का अध्ययन कराऊंगा और तुलनात्मक अध्ययन की भी बहुत सभावनाए है।"

"गुजरात के गुजराती हिन्दी कवियो पर तो यहा काम हो रहा है, हुआ है।" कुवर साहब बोले।

"हां, हुआ है किंतु खतियौनी वाला काम हुआ है। मैं पहले तो यह देखूंगा कि ये कृतिया साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान है कि नहीं। और मैं खतियौनी न कराकर साहित्यिक विश्लेषण कराऊंगा।"

"खतियौनी वाला काम किसने किया है ?" कुवर साहब बोले।

"मै नाम नही लूंगा।"

"नही, आपको नाम लेना चाहिए। बताइये न किसने खतियौनी की है ?" वे तुले हुए थे।

मैंने बार-बार कहा—"मै नाम नहीं बताऊंगा।" वे भी जानते थे कि मै नाम क्यो नही बता रहा हू और मैं भी जानता था कि वे बार-बार नाम उगलवाने पर जोर क्यों दे रहे है ? नाम लेने पर वे कुलपति से यही कहते, "देखिये साहब, ये दूसरे उम्मीदवारो के विरुद्ध प्रचार कर रहे है।"

मैंने कुलपति जी से यह कहा, "महोदय, मैं किन्हीं कारणो से नाम नहीं लेना चाहता, मुझे बाध्य न किया जाये।"

"आलराइट।" कहकर दूसरे विशेषज्ञ से सवाल पूछने का इशारा किया।

खैर, किसी तरह उस चक्रव्यूह से बाहर आया। इण्टरव्यू कुल मिलाकर अच्छा ही हुआ था और नगेन्द्र जी के सहायक व्यवहार से आशा बंध गई थी कि सब कुछ ठीक ही होगा।

मेरे बाद रणधीर भाई का साक्षात्कार था। मैं घर चला आया। बाद मे मालूम पड़ा कि नगेन्द्र जी के प्रयत्नों से पैनल में मेरा नाम रख लिया गया था। वे लोग तो पूर्व निर्णय के अनुसार इस बात पर तुले हुए थे कि मेरा नाम पैनल मे भी न हो। तीन नामों

(मेरे, नागर जी तथा रणधीर भाई के नामों) का एक पैनल बना दिया गया था, कोई वरीयता-क्रम नहीं दिया गया था। यह निर्णय लिया गया था कि सिंडिकेट फिर हमारा साक्षात्कार लेगी और वही रीडर का चुनाव करेगी।

मैं तो थककर बैठ गया किंतु रमाकान्त शर्मा आये और बोले—"ना, हम लोग सामान्य हुए तो क्या हुआ, संघर्ष जारी रखेंगे।" वे मुझे लेकर सिंडिकेट के कई सदस्यों के पास गये। सेंट जेवियर कालेज के प्रिंसिपल ने भी कुछ सदस्यों से कहा। श्री सी० एल० शास्त्री और श्री के० एन० शाह ने भी कुछ लोगों से कहा। वास्तव में सिंडिकेट के ऊंचे लोग मुझे जानते नहीं थे। चिम्मन पटेल तो सिंडिकेट के सदस्य थे ही, उनका प्रभाव भी खूब था। उनके माध्यम से नागर जी का प्रचार बहुत आसानी से हो गया था। उनका नागर होना भी उनके पक्ष में था। वे गुजरातियों के बीच गुजराती नागर थे और राजस्थानियों के बीच राजस्थानी नागर। इसलिए हमारा प्रयत्न यही था कि सिंडिकेट के लोग मुझे जान लें, मेरी योग्यता से थोड़ा-बहुत परिचित हो लें और हमें लगा कि हम लोग अपने इस प्रयत्न में सफल हो गये।

सिंडिकेट के लोगों के सामने हमारी पेशी हुई। उनमें हिन्दी साहित्य से परिचित या साहित्य से परिचित मुश्किल से दो-एक लोग थे। लॉ कालेज के प्रिंसिपल मिस्टर पंडित ने रस, ध्वनि आदि पर प्रश्न पूछे। गुजरात के शिक्षा निदेशक मिस्टर शर्मा मेरे विरुद्ध तैयार होकर आये थे और अज्ञेय पर प्रश्न पूछे। ऐसे-ऐसे शर्माओं को मैं क्या खनि ।ता किन्तु यहां प्रश्न वोटिंग का था। बहुत विचित्र-विचित्र प्रश्न पूछे गए। एक ने पूछा—"प्रेमचंद को जानते है?" चिम्मन भाई ने पूछा—"हिन्दी के बारे में कुछ बताइये।" साक्षात्कार के समय देखा कि विक्रम साराभाई आये और चले गये। उनके चले जाने से मुझे चिंता हुई, क्योंकि मुझे विश्वास था कि उनका वोट मेरे पक्ष में जायेगा।

शाम को पता चला कि चिम्मन भाई जीत गए। वास्तव में यह जीत उन्हीं की थी। उनकी कृपा से नागर जी को आठ वोट मिले और मुझे अपनी दौड़-धूप से सात वोट। विक्रम भाई के लौट जाने का फल मुझे भोगना पड़ा। अब मुझे अंतिम रूप से लग गया कि गुजरात से मेरा दाना-पानी उठ गया।

अपनी नियति की कल्पना कर मैं गुजरात से बाहर कई जगह आवेदन-पत्र दे चुका था। धुलिया गया। वहां के कालेज के एक्सपर्ट मेरी किताबें देखकर आतंकित हो गये और प्रस्ताव किया कि पार्टटाइम लेक्चररशिप स्वीकार करनी हो तो करें। मन में उन्हें भद्दी-सी गाली देकर मैं लौट आया।

आगरा के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के इण्टरव्यू में गया। वहां से भी अपमानित होकर लौटा क्योंकि वहां भाषा-विज्ञान के सवालों से ताबड़तोड़ टकराना पड़ा। उसी क्रम में डा० रामसिंह तोमर से कहा-सुनी हो गयी। वहां से लौटने के बाद वहां के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव को पत्र लिखा और अपमानजनक साक्षात्कार-प्रक्रिया की शिकायत की। राव साहब का एक बहुत आत्मीय पत्र आया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मैं स्वयं नहीं चाहता था कि आप संस्थान में आएं, यह आपके लिए उचित जगह नहीं

थी किंतु जिस ढंग से आपका इण्टरव्यू लिया गया, उससे मैं स्वयं असंतुष्ट हूं। बहरहाल इस बहाने आपसे मित्रता हुई, यह सुख कम नही है।

वास्तव मे मेरे लिए यह बहुत बड़ा सुख हुआ। इसके बाद मै राव साहब का आत्मीय बन गया। उनके व्यक्तित्व मे एक सहज बडप्पन था जिसका प्रसाद मुझे मिलता रहा। इनकी चर्चा फिर होगी।

नागपुर विश्वविद्यालय मे आवेदन-पत्र दिया था। वहा हो जाने की सभावना थी क्योंकि पडित मोहनवल्लभ पत (जो कि मेरे लिए बहुत चितित हो रहे थे) वहा एक्सपर्ट थे किंतु मुझे समय से इण्टरव्यू लेटर ही नहीं मिला। वहा पहुचकर पत जी ने मुझे नही देखा तो बहुत दुःखी हुए।

एक इण्टरव्यू मे दिल्ली भी गया। वह साल-भर की जगह थी। वैसे मुझे पता था कि डा० नगेन्द्र का मन मेरी ओर से साफ नही हुआ था, होने का कोई आधार भी उपस्थित नही हुआ था अतः वहा लिए जाने का प्रश्न ही नही था। वैसे भी उनसे डर लगता था। एक तो वैसे ही उनकी आकुंचित मुद्रा, दूसरे मेरे प्रति उनका भाव। उनके सामने जाने मे डर लगता था किन्तु नौकरी के लिए तो उनके सामने जाना ही था। इण्टरव्यू के बाद मिले, हलका-सा मुसकराए और बोले—"सिंडिकेट मे तुमने अच्छी फाइट दी।"

कालेज, यूनिवर्सिटी तथा अपने कहे जा सकने वाले तमाम मित्रो और छात्रो की ओर से एक अद्भुत उदासीनता और उपेक्षा बरस रही थी। उसके चक्रव्यूह मे घिरा मैं मौन-मौन छटपटा रहा था। किसी ओर से उत्साहवर्धक खबर नही मिल रही थी। मैंने पी-एच० डी० गाइड होने के लिए आवेदन-पत्र दिया। मेरे ही साथ गोवर्धन शर्मा ने भी दिया। एक्सपर्ट हुए सोमनाथ गुप्त। उन्होने जो रिपोर्ट भेजी वह उन्हीं के योग्य थी। उन्होने फरमाया कि गोवर्धन शर्मा का कार्य शोध-कार्य है और रामदरश मिश्र का कार्य समीक्षा-कार्य। अतः गोवर्धन शर्मा ही गाइड होने योग्य है। उनकी रिपोर्ट से लगा कि जैसे उन्हे हम दोनो मे से एक का चुनाव करने को कहा गया है। यह भी विचित्र ही था कि हिन्दी के इतने विद्वानो के बीच सोमनाथ गुप्त ही एक्सपर्ट के रूप मे प्राप्त हुए। वे सभवतः गोवर्धन शर्मा के गाइड रह चुके थे। मै यह देखकर हैरान था कि गुजरात मे सुशोभित राजस्थान और उससे जुड़े हुए राजस्थान मे राजस्थान मेरे पीछे पड़ा था?

मेरे थोड़े-से हितैषी मुझे लेकर चिंतित थे किंतु विश्वास था कि चाहे जो हो मेरी नौकरी तो बनी रहेगी। इस बीच हरिहर भाई ने चिम्मन भाई पटेल का संदेश दिया। उन्होने कहलाया था कि मिश्र जी के प्रति मेरे मन मे बहुत सद्भाव है। यदि उन्हे नौकरी का खतरा हो तो हमारे कालेज मे जब तक चाहे रह सकते है। मुझे उनका यह रवैया अच्छा लगा और उनके कालेज जाकर उन्हे धन्यवाद दे आया। वहा भी उन्होंने अपनी बात दुहरायी और मैंने जवाब मे कहा—"आभारी हू। जब वैसी नौबत आयेगी तब देखा जायेगा।"

नयी नौकरी की तलाश मे मेरे दिन बीतने लगे। प्रिंसिपल मुझे नौकरी न

मिलते देख परेशान हो रहे थे और धैर्य चुकता जा रहा था। वे चाहते थे कि मैं स्थिति को भांपकर जल्दी से जल्दी यहां से चला जाऊं। वैसे वे कहते कुछ नहीं थे, केवल मेरी उपेक्षा को मौन भाषा में वे मुझे लगातार चेतावनी दे रहे थे। वे मुझे हटाने वाले थे ही, आज नहीं तो कल, इसलिए लगातार मुझमें गलतियां खोज रहे थे। वे इस टोह में थे कि मैं कहां क्या गलती करता हूं और कुछ लोग स्वभावतः मेरी सहज बात को भी गलती बनाकर प्रिंसिपल के दरबार में पहुंचाया करते थे। साइंस के एक वरिष्ठ प्राध्यापक ने किसी संदर्भ में उभरे मेरे सहज क्षोभ को एक अलग अर्थ देकर प्रिंसिपल के पास पहुंचा दिया। प्रिंसिपल ने मुझे कटघरे में खड़ा कर दिया। मैंने उन्हें सही बात बतला-कर उनका मन साफ करना चाहा। वे चुप तो हो गए किंतु उनका मन भला क्यों साफ होता ?

उन्हीं दिनों छमाही परीक्षा थी। अब मैं सीनियर सुपरवाइजर से जूनियर सुपरवाइजर बना दिया गया था। जिस दिन मुझे ड्यूटी देनी थी, मुझे बहुत तेज जुकाम हो गया। मैंने फोन से प्रिंसिपल को अपनी बीमारी से सूचित कर दिया। जुकाम मुझे बहुत तेज होता है। एक तरह से वह मुझे चारपाई पर पटक देता है। मैं जुकाम में पड़ा था। रघुवीर चौधरी आए और मेरी हालत देखकर बोले—"सर, ऐसी स्थिति में आप बाहर निकले थे क्या ?"

"नहीं भाई, मैं तो जुकाम में इस तरह लस्त-पस्त हो जाता हूं कि दो दिन पूर्ण विश्राम करता हूं, निकलूं तो मुझे फ्लू हो जाये।"

"बड़े धूर्त लोग हैं। साइंस वाले त्रिवेदी ने प्रिंसिपल से कह दिया कि आप शहर में घूम रहे थे। चूंकि आप सीनियर सुपरवाइजर से इनविजिलेटर बना दिये गये हैं इसलिए बीमारी का बहाना बनाकर नहीं आये हैं।"

"आपसे किसने कहा ?"

"चिम्मन भाई रास्ते में मिल गए थे, वही बता रहे थे।"

मुझे बहुत गुस्सा आया। यह तो स्पष्ट ही था कि इस समय प्रिंसिपल क्या चाहते थे और अपने चाहने को न्यायसंगत बनाने के लिए एक न एक दोष खोज रहे थे किंतु इतना तथ्यात्मक झूठ मेरे सिर लादा जा सकता है इसकी कल्पना तक नहीं की थी। मैं फ्लू की परवाह किये बिना तुरत उठा, स्कूटर किया और प्रिंसिपल के कमरे में पहुंच गया। उस समय तक शिक्षक जा चुके थे, केवल आफिस के लोग और प्रिंसिपल थे। प्रिंसिपल ने मुझे देखकर उसी तरह तनाव पहन लिया जैसे किसी अपराधी को देख-कर पहन लिया जाता है। उन्होंने सोचा होगा कि मैं अपने अपराध के लिया क्षमा-याचना करने आया हूं। किंतु मैं तो गुस्से में था। जाते ही पूछा—"आपसे किसने कहा कि मैं शहर में घूम रहा था ? मेरी हालत देख रहे हैं। इस हालत में मैं घूम सकता हूं ? इस बात ने मुझे इतना उद्विग्न कर दिया कि मैं इसी समय यहां आने से अपने को रोक नहीं सका। सर, त्रिवेदी तो क्या यदि ईश्वर भी आपसे आकर कहता तो मैं उसे कहता, तू झूठ बोल रहा है ईश्वर।"

प्रिंसिपल को लग गया कि यह आदमी अपराध-बोध लेकर नहीं, विरोध-भाव

लेकर आया है और मेरे कथन में उन्हें सच्चाई दिखाई पड़ी । वे बोले—"डाक्टर मिश्र, मुझसे जिस व्यक्ति ने कहा मैं उस पर अविश्वास नही कर सकता और आप पर भी अविश्वास नही कर सकता । आप दोनो व्यक्ति मेरे लिए समान भाव से विश्वसनीय हैं। उन्होंने कहा तो मैने विश्वास कर लिया, आप कह रहे है तो आपकी बात पर भी अविश्वास करने का कोई कारण नही है । जाइये, आराम कीजिये, कोई बात नही ।"

मैं चला आया किन्तु जानता था कि प्रिंसिपल भीतर-भीतर और चिढ गये होगे । मैंने दो-तीन दिन बाद डा० त्रिवेदी को पकडा तो उन्होंने मासूमियत से कहा, "आप जैसा ही व्यक्ति मैंने देखा था । हो सकता है आप न रहे हो ।"

"हो सकता है क्या ? मै कह रहा हू कि मै नही था तो आपको विश्वास नही होता । इसमे हो सकता है लगाने की मुसीबत क्यो पाल रहे है और कौन कहा जा रहा है, कहा दिखाई पड रहा है, इसकी सूचना देने का काम आपको सौपा गया है क्या ?"

कुछ महीने बाद फिर एक घटना घटी । फरवरी का महीना था । परीक्षा की तैयारी की छुट्टिया हो गयी थी । उन्ही दिनो दिल्ली मे नवनीत गोस्वामी की शादी पडी । नवनीत मेरे बहुत आत्मीय छात्र थे और उनसे घरेलू सम्बन्ध भी थे । उनकी शादी मे मुझे जाना ही चाहिए था किन्तु जिस मानसिकता मे मैं जी रहा था, उसमे कही जाने-आने का उत्साह नही हो रहा था । किन्तु बार-बार के आत्मीय दबाव के नाते मै जाने की पूर्व संध्या को तैयार हो गया । ऐसी स्थिति मे प्रिंसिपल से पूछने का अवसर नही मिला और मन मे यह भाव भी था कि तैयारी की छुट्टिया है ही, इन छुट्टियो मे कभी-कभी कालेज चले जाते है । दो-तीन दिन की बात है । क्या फर्क पडता है ? वैसे मन मे लगातार एक अपराध-बोध बना हुआ था कि कुछ भी हो, अहमदाबाद मे रहते हुए भले ही कालेज न जाता होऊ, बाहर जाने के लिए प्रिंसिपल से छुट्टी ले लेनी चाहिए थी । छुट्टी लेने का अवसर नही मिला किन्तु छुट्टी न ले पाने का अपराध-बोध मन को सालता रहा । तीन-चार दिन बाद लौट आया तो प्रिंसिपल ने मिलते ही सवाल किया कि आप दिल्ली मे शादी मे गये थे ? मै समझ गया, उन्हे यह सूचना किसने दी होगी । खैर, मैंने उनसे स्थिति स्पष्ट कर दी और कहा कि यहा भी तो खाली ही बैठा था । उन्होने कहा, "नही, खाली कैसे ? इन छुट्टियो मे कोई भी छात्र अपनी कठिनाई हल करने के लिए शिक्षक से सम्पर्क कर सकता है इसलिए हर शिक्षक कालेज मे या शहर मे उपस्थित रहना चाहिए ।"

"मुझसे कठिनाई पूछने वाले रहे कहां ? हिन्दी की कक्षा ही कहां रही कि कोई कठिनाई पूछने आयेगा । जब तक मै यहा रहा कोई भी तो कुछ पूछने नही आया । जो हिन्दी इस कालेज में बची है उसकी कठिनाई हल करने के लिए रावत जी पर्याप्त है ।" जाहिर था कि प्रिंसिपल को मुझसे रुष्ट होने का कोई न कोई बहाना चाहिए था । एक बहाना और मिल गया ।

इन घटनाओ के आघात से छिन्न-भिन्न मानसिकता मे जी ही रहा था कि मई में घर से समाचार आया—पिताजी का देहात हो गया । वैसे उनकी मृत्यु संभावित थी

और एक तरह से वांछनीय भी क्योंकि पक्षाघात से पीडित हो गए थे और जो जिन्दगी जी रहे थे उसे जिन्दगी जीना नही कह सकते। फिर भी इससे पिता-विहीन होने की वेदना कम तो नही हो जाती। इस अफाट सन्नाटे को पितृ-विहीनता का सन्नाटा और गहरा तथा व्यापक बना गया। इस सन्नाटे को लिए-दिए मैं दिन काट रहा था, किसी से कहने नही गया और न मित्रों मे से कोई इस सन्नाटे मे सुख-दुःख पूछने आया। केवल रणधीर भाई आये थे। आत्मीय शिष्यों का तो आना-जाना लगा ही रहता था।

यह साल भी बीत गया। गर्मी की छुट्टियां बीत गयी, कही कोई नौकरी नही मिली। एक दिन सी० एल० शास्त्री मेरे घर आये और बातचीत करते-करते बोले— "मिश्र जी, यदि कालेज आपको आधी तनख्वाह दे तो आपको स्वीकार्य होगा?" मैं चौंका। वे बोले—"नही नही, प्रिंसिपल ने मुझसे नही कहा है, यह एक आशंका जैसी है। यदि ऐसी स्थिति आये तो आपका क्या निर्णय होगा? इसके प्रति मैं सचेत करने आया हू।"

मैं व्यथा से मुसकराया।

"शास्त्री जी, मै जानता हू कि आप अपने-आप नही आये, भेजे गये है और आप भी जानते है कि यह स्थिति कितनी अप्रिय होगी। रही बात स्वीकारने-न-स्वीकारने की, तो विवशता मे तो कुछ भी किया जा सकता है।"

पहली तारीख को हम लोग स्टाफ रूम मे बैठे थे। वह 'पे डे' था। वेतन लेने के पहले मुझे छोडकर सारा स्टाफ प्रिंसिपल के कमरे मे पहुचा। मुझे किसी ने चलने के लिए नही कहा और न बताया कि वे क्यों जा रहे है। कुछ देर बाद सभी लोग मुह लटकाये लौट आये। सबने तनखाह ली, मैने भी ली। गिना तो आधी तनखाह थी। उसे लिए कुछ देर स्तब्ध खडा रहा। न लेते बनता था, न छोडते बनता था। आखिर उसे जेब मे रख लिया। रास्ते मे चिम्मन भाई त्रिवेदी ने बहुत व्यथापूर्वक बताया कि सारा स्टाफ प्रिंसिपल से यह कहने गया था कि मिश्र जी की तनख्वाह मत काटिये। काटना हो तो उन्हे बिना बताये हम लोगो की तनखाहो मे से कुछ-कुछ निकालकर उनकी तनखाह पूरी कर दीजिये, लेकिन प्रिंसिपल नही माने।

मैंने स्टाफ के लोगो के प्रति अपनी गहरी कृतज्ञता जाहिर करते हुए कहा, "यह ठीक ही हुआ चिम्मन भाई, मुझे पता चलता तो मेरे जमीर को मजूर नही होता।"

कुछ मित्रो ने सलाह दी कि कोर्ट केस कर देना चाहिए। बात तो सही थी। मैं यू० जी० सी० ग्रेड मे था। स्थायी था। कालेज को कोई अधिकार नही था कि वह मुझे निकालता या मेरी तनखाह कम करता किन्तु कोर्ट-कचहरी जाना मेरे स्वभाव के अनुकूल नही है। कोर्ट तो तब भी जाया जा सकता था जब रीडरशिप के लिए बनी विशेषज्ञ समिति मे गिरिराज किशोर जैसे सर्वथा अयोग्य सदस्य थे और डा० सरनाम सिंह शर्मा रीडर होकर रीडर की नियुक्ति के लिए आये थे और डा० नगेन्द्र को छोडकर सभी के सभी सदस्य डा० नागर से किसी न किसी रूप मे जुड़े थे। तब भी लोगों ने राय दी थी किन्तु मैंने केस नही किया। स्वभाव के साथ-साथ यह बात भी तो थी कि केस जीत जाने पर आखिर काम तो इसी व्यवस्था में करना पड़ेगा। क्या आनंद

आयेगा ? दुनिया इतनी बड़ी है तो क्यों अवांछित रूप में इस छोटी जगह के कीचड़ में हाथ-पैर मारूं।

दिल्ली यूनिवर्सिटी के कई कालेजों में जगह निकली थी। श्यामलाल कालेज नया-नया खुला था। एस० चांद एंड कम्पनी से मेरी दो पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी थीं। श्यामलाल जी चाहते थे कि मेरी नियुक्ति हो किन्तु डा० नगेन्द्र नहीं चाहते थे। डा० नगेन्द्र की एक विशेषता है कि वे स्पष्टतावादी हैं। वे अपने रोष और हर्ष को स्पष्ट प्रकट कर देते हैं, किसी को धोखे में नहीं रखते। इंटरव्यू उनके कमरे में ही था। इंटरव्यू के पहले बाहर मिल गये और मुझसे स्पष्ट कह दिया कि चूंकि नया कालेज है और विभाग के पहले आदमी की नियुक्ति है अतः आपकी नियुक्ति नहीं होगी। आप यहां के पाठ्यक्रम आदि के बारे में कुछ नहीं जानते।

मैं क्या कहता दुःखी होने के सिवाय। निर्णय तो इंटरव्यू से पहले ही ज्ञात हो गया था किन्तु जब गया था तो इंटरव्यू तो देना ही था। इंटरव्यू में गया। डा० नगेन्द्र की दूसरी बड़ी विशेषता है कि वे इंटरव्यू में किसी के कमजोर पहलू पर आक्रमण नहीं करते, उसके अपने क्षेत्र में प्रवेश कर उसकी योग्यता का आकलन करते है और एक बार उसकी योग्यता जांच लेने के बाद उसे बार-बार हैरान नहीं करते। अतएव वहां मेरे जाते ही उन्होंने अंग्रेजी में कहा—"ये डा० मिश्र हैं। बहुत योग्य हैं। मैं इन्हें जानता हूं। मुझे कुछ नहीं पूछना है, आप लोगों को कुछ पूछना हो तो पूछिये।"

रमाकान्त शर्मा ने डा० रामयतन सिंह भ्रमर के निर्देशन में शोध किया था। डा० नगेन्द्र उस शोध-प्रबन्ध के परीक्षक थे। उन्होंने मौखिकी के लिए शोधकर्ता और निर्देशक दोनों को अपने कमरे में बुला लिया था। मैं तो दिल्ली पहले से ही आया हुआ था, डा० नगेन्द्र के कमरे के पास पहुंच गया। मौखिकी के पश्चात् मैं भी कमरे में चला गया। हम लोग बैठे थे, उसी बीच रमाकान्त जी ने नगेन्द्र जी से कह दिया—"आप इनके लिए कुछ करते क्यों नहीं है। ये 'आउट आफ जाब' है।" "है !" नगेन्द्र जी चौंक उठे, "यह मुझे मालूम नहीं था। मैं समझता था कि वहां मनोवैज्ञानिक ढंग से ऊबकर नौकरी खोज रहे है।"

उन्होंने पूछा—"पी० जी० डी० ए० वी० कालेज में अप्लाई किया है ?"

"जी।"

"इंटरव्यू लेटर मिला ?"

"नहीं। मै तो कई दिन का आया हुआ हूं।"

"तो जाओ, प्रिंसिपल से कह दो कि तुम्हें इंटरव्यू लेटर दे दें। कहना—मैंने कहा है।"

मेरे 'आउट आफ जाब' की सूचना से उन्हें जो बेचैन होते देखा, वह अनुभव अद्भुत था। हम साथ ही आर्ट्स फैकल्टी से बाहर निकले। जब अलग होने लगे तो उन्होंने कहा—"लेकिन तुम पालिटीशियन हो।"

"जी नहीं, मैं पालिटीशियन नहीं हूं और चाहे जो होऊं। आपके साथ काम करने का अवसर मिलेगा, तब आप स्वयं इस बात का अनुभव कर लेंगे।"

खैर, इंटरव्यू हुआ। मैं ले लिया गया लेकिन विडम्बना यहां भी साथ लगी रही। सेंट जेवियर में मेरी 'बेसिक पे' छः सौ रुपये थी, यहां पांच सौ तीस रुपये दिये गये। इसके लिए मैं कुछ कर भी नहीं सकता था। जो भी मिला साभार स्वीकार किया।

अहमदाबाद पहुंचकर सबको सूचना दी। बहुत दिनों बाद मैं ऊर्जा और उमंग के साथ प्रिंसिपल से मिला। पहले तो प्रिंसिपल ने अभ्यस्त उदासीन भाव से देखा किन्तु जब मैंने कहा कि दिल्ली के एक कालेज में मेरी नियुक्ति हो गयी तो खिल उठे, लगा जैसे उनके ऊपर का भार उठ गया हो।

"कब जाएंगे?"

"कल।"

"नो-नो, हमें भी तो कुछ समय दीजिये कि हम आपके लिए कुछ कर सकें।" वे हमारे साथ-साथ स्टाफ-रूम में आये और एक प्रफुल्ल चहक के साथ सबको सूचना दी और बताया कि कल इनकी विदाई में स्टाफ की ओर से एक आयोजन होगा।

दूसरे दिन विदाई का आयोजन हुआ। मेरे गुणगान हुए, मेरे प्रति स्नेह की वर्षा की गयी और महीने की जो आधी तनखाह बाकी थी उसे मुझे अर्पित किया गया। 'वर्ल्ड इनसाइक्लोपीडिया' पुस्तक की एक प्रति भेंट की गयी। कालेज के मेरे आत्मीय मित्रों ने अलग से मुझे बधाई दी और उन्हें लगा कि सचमुच एक बहुत बड़ी दुर्घटना होने से बच गयी। मेरी नियुक्ति से उनके चिंतित मन खिल आये थे। सब कुछ भूलकर मेरा मन भी खिल आया था। कालेज में नियुक्ति मेरे लिए कोई उपलब्धि नहीं थी, आवश्यकता की पूर्ति थी। इस समय मेरे संतोष के लिए इतना ही काफी था।

धीरे-धीरे मित्रों और शिष्यों को भी मालूम हो गया किन्तु किसी को विदाई का अवसर दिये बिना मैं दो दिन बाद दिल्ली के लिए रवाना हो गया। जहां छः वर्षों तक मैंने इतने शिष्य बनाये, इतने मित्र बने, वहां से मैं उनके किसी आयोजन के बिना चुपचाप दिल्ली आ रहा था। परिवार को छोड़कर फिलहाल मैं अकेला ही दिल्ली आ रहा था। मुझे छोड़ने के लिए स्टेशन पर फादर प्रिंसिपल, अन्य कई फादर एवं कुछ मित्र थे।

गाड़ी सरकी और आठ वर्षों की निवास-भूमि गुजरात से मैं एक दर्द-भरी विदाई लेकर दिल्ली की ओर जाने लगा। न जाने कितने सुख-दुःखों की अनुभूतियां मेरे भीतर उथल-पुथल मचा रही थीं और दिल्ली का एक अजनबी महानगरीय माहौल मेरे भीतर एक दहशत बनकर उभर रहा था।

रास्ते में उमाशंकर भाई की बात याद आ रही थी—"जो हुआ सो बहुत बुरा हुआ और हमें उसकी गहरी पीड़ा है लेकिन एक दृष्टि से अच्छा भी हुआ। आपकी साहित्य-साधना के लिए सही जगह दिल्ली ही है। जाइए और इस भोगे हुए दर्द का सर्जनात्मक उपयोग कीजिये।"

उत्तर पथ

52

दिल्ली में उदयभान मिश्र के यहां ठहरा। वे माडल टाउन में रहते थे। पिछली बार आया था तो 'ई' ब्लाक में थे, इस बार 'जी' ब्लाक में चले गये थे। पिछली बार आया था तो अजितकुमार के बच्चे की वर्षगांठ थी। उसमें कई लोग शहर के दूरस्थ इलाकों से आये थे। उनमें अशोक वाजपेयी भी थे। रात को घर लौटने के स्थान पर वे तथा दो-एक सज्जन और (नाम नहीं याद आ रहे है) उदयभान मिश्र के यहां ही ठहर गये। मैं तो ठहरा हुआ था ही। रात काफी हो चुकी थी किन्तु जब कई साहित्यकार मिले हों तो समय का प्रतिबंध कहां रहता है? अशोक वाजपेयी तब साहित्य के स्वामी नहीं हुए थे, किसी कालेज में अंगरेजी पढ़ाते थे और हंसते भी थे (अब पता नही हंसते है कि नहीं)। वे अनेक साहित्यकारों की नकल करके हंसा रहे थे। हम लोग जोर-जोर से हंस रहे थे। फिर उदयभान मिश्र को ख्याल आया कि मकान मालिक का परिवार तो रहा है, उसे बाधा पहुंच रही होगी। उन्होंने कहा—"अब सो जाना चाहिए।"

"अरे नहीं भाई, मैं तो यह लेख पढ़कर ही सोऊगा, नही तो मुझसे पहले श्रीकांत पढ़ लेगा।" अशोक वाजपेयी बोले। इनका इशारा इनकाउंटर के नये अंक में छपे एक लेख से था।

मैं चकित रह गया। मैं नही सोच पाया कि अगर श्रीकांत ही पहले पढ़ लेंगे तो कौन आफत आ जायेगी? क्या वे उस लेख का सारा ज्ञान यों सोख जायेंगे कि बाद में पढ़ने वालों को कुछ मिले ही नहीं? अपने को अत्यधिक आधुनिक दिखाने का यह भी एक फैशन नही है क्या? अरे भाई, यदि कोई लेख स्थायी महत्त्व का है तो उसे हम दस दिन बाद भी पढ़ सकते हैं। हम पढ़ते इसलिए थोड़े है कि दूसरों को बता सकें कि हमने तुमसे पहले पढ़ लिया है, पढ़ते इसलिए हैं कि उससे हमारा विचार समृद्ध होता है, अनुभव बढ़ता है या वह रचना हमें नये सवालों के रूबरू करती है। वह हमें बाहर से मुखर नही करती, भीतर से गंभीर बनाती है। किन्तु अशोक वाजपेयी उस समय जिस मुद्रा में बड़े-बड़े साहित्यकारों की मिमिकरी कर रहे थे, यह लेख पढ़ने की उतावली का तर्क उस मुद्रा से मेल खाता था। आखिर वे लेख पढ़कर ही सोये और लोग उनके प्रतिस्पर्द्धी ज्ञानार्जन का दंड भोगते रहे—अपनी नींद पर बिजली की तीखी रोशनी झेलते हुए।

उदयभान के साथ एक नौकर था—तूफानी। उसे वे गांव से लाये थे। तूफानी अपने नाम के विपरीत बहुत बेचारा था। काम तो बहुत करता था किन्तु उसकी

गरीबी और गंवई बेशऊरी के कारण उदयभान द्वारा उसे प्रायः पिट जाना पडता था। उदयभान भावात्मक रौ वाले आदमी हैं, जिधर बह जायें। तूफानी के प्रति क्रोध की रौ में बह जाते थे और मुझे यह बात सालती थी और प्रायः अप्रिय हस्तक्षेप करना पड़ता था। वैसे उदयभान मेरी बात का बुरा नही मानते थे, मेरे प्रति उनमे गहरा सद्भाव था।

हम लोग अपनी-अपनी ड्यूटी से बचे हुए समय मे मकान खोजते थे। उदयभान मुझसे कई महीने पहले दिल्ली आ गये थे अतः वे दिल्ली-अनुभव के मामले मे मुझसे सीनियर थे। वही मुझे यहा-वहा ले जाते थे। माडल टाउन, कमलानगर, शक्तिनगर न जाने कहा-कहा हम लोग मकान की खोज मे घूमे। बहुत खट्टे-मीठे अनुभव हुए। वैसे मेरी इच्छा थी माडल टाउन मे ही रहने की क्योंकि उदयभान तो वहा थे ही और बहुत-से प्राध्यापक और साहित्यकार वहा रहते थे।

बहरहाल मैं चाहता था कि माडल टाउन मे ही मकान मिले और एक दिन खोजते-खोजते मिल भी गया। ई ब्लाक मे एक मकान बन रहा था। पूछताछ की। मकान मालिक जयभगवान गोयल ने बहुत सम्मान से बात की और बात की बात में सब कुछ तय हो गया।

अहमदाबाद पत्र लिख दिया—"आ जाओ, मकान मिल गया है।" नियत समय पर पत्नी बच्चो और सामान के साथ आ गयी। मकान अभी एकदम पूरा नही हुआ था किन्तु रहने लायक हो गया था। हमे उसमे जाना ही था, चले गये। मकान मालिक के परिवार के लोग भी उस 'अनफिनिश्ड' मकान मे आकर रहने लगे थे। मकान मालिक पहले स्कूल टीचर थे, नये-नये व्यापारी बने थे अत. अभी जीवन मे टीम-टाम नही आयी थी। पुरानी दिल्ली से आये थे—उनकी सारी पहचान बटोरे हुए। उनके और उनके परिवार की सादगी मे गहरा प्यार था और वे मूलतः शिक्षक होने के नाते दूसरे व्यापारियो से भिन्न थे और मुझ शिक्षक का सम्मान करते थे।

डी० ए० वी० कालेज म पढाते हुए मुझे महीना-भर हो गया था। स्टाफ के लोग मुझे बहुत अच्छे लगे। सभी उम्र और अनुभव मे मुझसे छोटे थे अतः सबके मन मे मेरे प्रति एक सम्मान भाव था। उम्र और अनुभव मे वरिष्ठ होने के बावजूद इस कालेज के हिन्दी विभाग मे मेरा चौथा स्थान था। डा० हरगुलाल अध्यक्ष थे, उनके बाद थे डा० जगदीशकुमार और डा० महेन्द्र। ये तीनो कमलानगर और जवाहरनगर म रहते थे—बिल्कुल पास-पास। डा० हरगुलाल मुझे प्रायः अपने यहा खीच ले जाते, खिलाते-पिलाते और हमेशा एक बडे भाई का सा सम्मान देते। हम लोग सभा-सोसाइटियो मे भी प्राय. साथ जाते। जगदीश और महेन्द्र के यहा भी प्रायः जाना था, खाता-पीता था। उनके यहा भी बहुत आत्मीयता पाता था। यानी हम लोगो का एक परिवार-सा बन गया था।

सेंट जेवियर्स कालेज मे मैं कालेज और गुजरात विश्वविद्यालय का सबसे वरिष्ठ हिन्दी प्राध्यापक था। वहा कई वर्ष तक अध्यक्ष और केन्द्र-प्रभारी होने का सुख-दुःख पा चुका था। यहां एक कालेज मे गिरा और वह भी चौथे स्थान पर। यह बात

तकलीफ देने के लिए कम तो नही थी। किन्तु मेरे स्वभाव और लेखन-कर्म ने हमेशा ऐसी बातों में सुख ही माना। औपचारिकताएं मुझे कभी रास नही आयी। अध्यक्ष होने के नाते न जाने कितनी औपचारिकताओ मे गुजरना होता है। कोई कमेटी बने तो उसका सदस्य अध्यक्ष हुआ, कोई भाषण देने आया तो स्वागत और धन्यवाद देने का काम अध्यक्ष का होगा। टाइम टेबल अध्यक्ष बनायेगा। प्रवेश की चिन्ता अध्यक्ष करेगा। विभाग के छात्रो मे झगड़ा हुआ या और कोई कठिनाई हुई तो समाधान अध्यक्ष करेगा। कोई नियुक्ति होनी है तो फाइल लेकर अध्यक्ष जायेगा विश्वविद्यालयी विभागाध्यक्ष के पास। और न जाने कितने छोटे-छोटे कार्य होते है जो अध्यक्ष या वरीयता-क्रम से दूसरो को करने पड़ते है। ये काम लोगो को सुख देते हो तो दें, मुझे नही देते। इसलिए इनसे वंचित होने का मुझे कभी दुःख नही हुआ बल्कि राहत ही अनुभव होती रही। चौथा स्थान होने के कारण अध्यक्ष से फिसला हुआ कार्य मुझ तक पहुचता ही नही था, दूसरे और कभी-कभी तीसरे व्यक्ति तक आकर अटक जाता था।

चौथे स्थान पर आकर मस्त रहने का एक दूसरा कारण था अपना लेखन-कर्म। मुझे अपने लेखन-कर्म मे जो गहरी तृप्ति मिलती रही है उसके आगे पद और वरीयता की तृप्ति की कभी याद ही नही आयी। अत अपने विभाग और अन्य विभागो के अपने से कनिष्ठ मित्रो के स्नेह और आत्मीय व्यवहार के बीच मै सुखी था।

इसके बावजूद मै यहा प्रकृतिस्थ नही हो पा रहा था। दिल्ली की पूरी दुनिया मुझे अजनबी लगती थी या मै इस दुनिया के बीच अपने को अजनबी महसूस करता था। अहमदाबाद की दुनिया के बीच मै घुलमिल गया था। वहा के लोग, वहा के छात्र, वहा के मित्र मेरी अपनी दुनिया बन गये थे। वहा की समाज-व्यवस्था, यातायात-व्यवस्था, लोगो के व्यवहार पडोसीपन आदि म जो गहरी आश्वस्ति थी वह यहा नये-नये आये मेरे और मेरे परिवार के मन को नही मिल पा रही थी। ये तीनो अध्यापक मित्र यही के छात्र रहे है और यहा कई वर्षो स पढाते रहने के कारण यहा के अपने हो गये है। मैं शिक्षा के क्षेत्र मे वरिष्ठ होने के बावजूद इस कालेज के लिए नया हू इसलिए शुरू-शुरू मे छात्रो का सौहार्द प्राप्त नही हुआ। एक नये अध्यापक के प्रति जो उनका सहज व्यवहार होता है वैसा होता रहा। कुछ कक्षाओ मे तो कुछ बहुत ही उद्दड किस्म के बडे बडे छात्र थे जो मुझे उद्विग्न कर देते थे। कुल मिलाकर यहा के छात्र शुरू के दिनो मे मुझे बहुत अप्रिय और अशोभन लगे। मैं प्रकृतस्थ नहीं हो पा रहा था और रह-रहकर गुजरात के माहौल की याद आ रही थी। शुरू मे तो मै अकेला ही आया था अतः बाहर से उद्विग्न होकर आये मन को घर मे जो शान्ति मिलती है उससे भी वंचित था।

कह चुका हू कि कालेज के स्टाफ का मेरे प्रति सद्भाव था यद्यपि अभी वह बात कहा से हो सकती थी जो सेंट जेवियर्स में थी। दूसरे विभागों के लोगो को भी ज्ञात था कि मै ख्यात लेखक हूं अतः वे मेरी सामान्यता के बावजूद मुझे विशेष स्नेह देते थे। श्री चोपडा बहुत मीठी मुसकान वाले प्रिंसिपल थे। वे आतककारी अधिकारी नहीं थे। वे मिलने पर मुसकान फेंकते हुए प्यार से बाते करते थे और बातचीत का माध्यम

हिन्दी होने के कारण और भी सहजता अनुभव होती थी किन्तु···हां 'किन्तु'। पर उसकी बात बाद में होगी।

इसके बावजूद मैं फिलहाल यहां एक भीतरी उद्विग्नता और अनाश्वस्ति अनुभव कर रहा था। उसके कुछ कारण ऊपर व्यक्त किये ही हैं, कुछ कारण और थे। एक कारण तो इस कालेज की बिल्डिंग थी। इसकी अपनी कोई बिल्डिंग ही नहीं थी, डी० ए० वी० स्कूल के ही एक विंग में कालेज चलता था। छत पर टेंट लगाकर कुछ केबिन बना दिये गये थे। सेंट जेवियर कालेज की खुली बिल्डिंग और फूलों वाले खुले परिवेश के स्थान पर घुटन-भरा एक स्कूल विंग। मन सिकुड़कर रह जाता था। दूसरा कारण था यातायात का विषम रूप। उन दिनों दिल्ली में बस पा लेना आसान नहीं था। आजादपुर और विनयनगर के बीच 15 नम्बर की बस चलती थी जिसमें चढ़ पाना टेढ़ी खीर था। बस लदी-लदी आती थी, लदी-लदी जाती थी। एक गयी तो दूसरी कब आयेगी, कोई ठिकाना नहीं। ड्राइवर जहां चाहता था आगे-पीछे बस रोक देता था या बिना रोके भगा ले जाता था। चढ़ जाइए तो आप कहां हैं इसका पता ही नहीं चलता था। लोग बसों को खदेड़-खदेड़कर चढ़ते थे। ऐसा लगता था कि बसों और सवारियों में रेस हो रही है। कभी-कभी तो मैं घंटों स्टेंड पर खड़ा रहता था। माडल टाउन से कालेज आते समय कभी-कभी लेट हो जाता था। यहां की कुरूप बस-सेवा से उद्विग्न हो उठता था। आते-जाते तन-मन थकान से भर जाता था। एक दिन बस की कृपा से थोड़ी देर से पहुंचा तो देखा छात्र लोग बाहर टहल रहे हैं। प्रिंसिपल ने उनसे कारण पूछा। उन्होंने बता दिया कि मेरी कक्षा है और मैं पहुंचा नहीं हूं। तब तक मैं पहुंच गया। प्रिंसिपल ने छात्रों के सामने ही मुझसे जो व्यवहार किया उसे शोभन नहीं कहा जा सकता। मैंने बस की अव्यवस्था का उल्लेख किया और क्लास में चला गया। किन्तु मैं उनके इस व्यवहार को पचा नहीं पाया। यह व्यवहार अभद्र था। इस मुसकराते हुए चेहरे का एक 'किन्तु' उघड़कर सामने आ गया।

नये शहर का तौर-तरीका, उससे मेरा अजनबीपन, नये परिवेश में अभी स्थिर न होकर उसमें निरंतर भटकने की बेचैनी परिवार की अनुपस्थिति में और भी सालती रहती थी। यहां की साहित्यिक दुनिया को भी पहचानने की कोशिश कर रहा था। वैसे तो मेरा बहुतों से परिचय था, बहुतों से पत्र-व्यवहार भी था किन्तु दिल्ली के माहौल में उन्हें पहचानना एक नया काम था। मुझे लग रहा था कि दिल्ली का माहौल दूसरे शहरों, कस्बों और गांवों से आये साहित्यकारों को अपनी गिरफ्त में लेकर कुछ से कुछ बना देता है और जिन्हें हम पहले से जानते भी आये हैं उन्हें यहां नये सिरे से पहचानना पड़ता है।

इस साल पानी खूब बरस रहा था। बरसात का महीना एक ओर ग्रीष्म के ताप के बाद बादलों की सघन छाया और जल से वातावरण में एक उल्लास भर देता है, दूसरी ओर न जाने कैसी एक उदासी भी छा जाती है। एक तो मैं यों ही यहां के लिए नया था, दूसरे लगातार बरसता हुआ पानी मेरी उदासी को बढ़ा रहा था।

मैं जयभगवान गोयल के मकान के पिछले हिस्से में रहता था। माडल टाउन

के मकानों की यह आखिरी कतार थी। मकान के पीछे दूर-दूर तक तालनुमा नीची जमीन फैली हुई थी जिसमें बरसात का जल भरा हुआ था। उसके बाद एक बगीचा था जिसमें जार्ज पंचम के आने के समय बना हुआ एक स्तंभ है। उसके बाद खेत ही खेत, फिर यमुना नदी···। यहां से वहा तक जल भरा था और रोज पानी बरसता था। इस जल-विस्तार पर गिरती हुई बूंदों का दृश्य बहुत मनोरम होता था। जल के ऊपर बुदबुदो का नर्तन होने लगता था और बादलों से लेकर ताल तक जल की एक लय बन जाती थी। मैं मकान के पिछले हिस्से मे रहता था, अतः यह सारा दृश्य दिखाई पड़ता था। प्रायः मैं चहारदीवारी के पास खड़ा होकर यह व्यापक प्रकृति-दृश्य देखता था। सामने जल में कुईं के फूल खिले होते थे, ऊपर अनेक जलपाखी उड़ा करते थे। दीवार के उस पार मेढक टर्राते थे, कभी कोई सांप भी दिखाई पड़ता था। मुझे अच्छा लग रहा था कि मेरे एक ओर शहर था, दूसरी एक खुली प्रकृति का विस्तार। शहर मे बैठा-बैठा मैं सहज ही गांव मे पहुंच जाता था। इस ताल के पीछे के बगीचे मे बाद मे कभी-कभी गया किंतु बैठे-बैठे कल्पना के माध्यम से वहा रोज पहुच जाता था। उसके बाद खेतों मे घूम लेता था, यमुना के तट पर टहलता हुआ उसमे नहा लेता था और इस सुखद कल्पना से भरा होता था कि किसी दिन उधर चलूंगा। माडल टाउन मे हमारे घर से थोड़ी दूर पर एक झील थी। वह कमलों से भरी थी। सुबह-शाम उसके किनारे-किनारे घूमता था और खिले हुए कमलों से देर तक मौन संवाद करता था। उसके दूसरी ओर घासो, वनस्पतियों और पेड़ो से भरा प्रकृति का विस्तार था जो मेरे अजनबीपन में अपनेपन का रंग भरता था।

53

माडल टाउन में प्रकृति के सहज रंग के साथ-साथ समाज का भी सामान्य रंग था। इसमें रहने वाले लोग बहुत ऊंची हैसियत के नहीं थे। बहुत कम लोग रहे होंगे जो उच्चवर्गीयता की सीमा को छूते होंगे। मकान मालिको मे अधिकांश सामान्य व्यापारी थे या सामान्य नौकरीपेशा वाले लोग थे। जोड़-बटोरकर या कर्ज ले-लेकर मकान बनवा लिए थे किन्तु उनके रहन-सहन का स्तर या तो सामान्य था या घटिया था। यानी जोड़-तोड़ करके ठीक-ठाक मकान तो बनवा लिए थे किंतु उन्हें अभी उनमे रहना नहीं आया था। उनमें रहने वाले अनेक परिवार तो अपढ़ या कम पढ़े थे, औरतें ठेठ गंवई संस्कार की थी—उनके बोलने-चालने, उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने के ढंग में कोई महानगरी प्रभाव नहीं था। कभी-कभी तो उनके अच्छे बने मकान में जाइए तो फूहड़पन का आलम बिखरा मिलता था।

माडल टाउन के मकान मालिकों की दुनिया कास्मोपोलिटन थी। कोई ठेठ

हरियाणा का बनिया था, कोई मुलतानी था, कोई सिन्धी था, कोई बंगाली था, कोई उत्तरप्रदेशी था, कोई राजस्थानी था। किंतु सबसे अधिक हरियाणा के बनिये थे और इनका स्तर फिलहाल इस महानगर में भी कस्बाई या गंवई था।

पर्व-त्योहारों पर उनका ठेठ लोक-रूप लक्षित होता था। चौराहों पर पूजा या टोटके के खाद्य पदार्थ पड़े होते थे, बरगद या पीपल की परिक्रमा होती थी, चींटियों को आटा खिलाया जाता था। उनके बोलने की शैली भी लट्ठमार थी। इस परिवेश में एक ओर तो मेरे देहाती परिवेश वाले मन को देहाती आश्वस्ति मिलती थी, दूसरी ओर रूढ़ियों की गलाजत के प्रति विद्रोही मेरे आधुनिक मन को कहीं बेचैनी भी महसूस होती थी। मेरे मन की बनावट भी विचित्र है न। वह एक ओर रहन-सहन, खान-पान, प्रकृति और सांस्कृतिक संस्कारों की दृष्टि से ठेठ गांव से जुड़ा है, दूसरी ओर नागरिकता की भावना, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विसंगतियों के विरुद्ध नयी चेतना की दृष्टि से आधुनिक है। इसलिए वह एक ओर तो ठेठ मध्यवर्गीय समाज के बीच रहना पसंद करता है, दूसरी ओर उसकी विसंगतियों से आहत भी होता है। उसे ऊंचे मोहल्लों का भव्य सन्नाटा बहुत डरावना लगता है और द्वीपों से एक-दूसरे से कटे हुए चिकने-चुपड़े लोग बहुत चिपचिपे और ठंडे लगते हैं। बहरहाल माडल टाउन का यह परिवेश अपनी विविधता में उसे मजेदार ही लग रहा था।

समय बीत रहा था। अभी भी यह मोहल्ला मेरे लिए नया ही था। सबको जानता भी नहीं था। किन्तु कुछ दृश्य बार-बार सामने उभर रहे थे, कुछ चरित्र बार-बार अपनी ओर खींच रहे थे। एक मकान था जिसमें बूढ़े मकान-मालिक और किरायेदार में प्रायः झगड़ा होता था। दोनों दो प्रांतों के थे और दोनों अपनी-अपनी भाषा म ठेठ गालियों का आदान-प्रदान करते थे, औरतें भी शामिल हो जाती थीं। मकान-मालिक थाने की ओर दौड़ते थे और किरायेदार लपककर उन्हें पकड़कर वापस लाते थे। हर तीसरे-चौथे यह दृश्य दिखाई पड़ता था। मकान मालिक थे कि मकान खाली कराने पर तुले थे और किरायेदार थे कि न छोड़ने की आन पर अड़े थे।

दूसरा परिवार था जिसमें गृहस्वामी आए दिन अपनी पत्नी और एक लड़की की निर्दय पिटाई करता था। हम थर्रा जाते थे और कई बार गुस्सा आता था कि पुलिस को बुलाकर इस गृह मालिक की मरम्मत करा दी जाये। माँ-बेटी की चीख से पूरा मोहल्ला थर्रा जाता था। विडम्बना यह थी कि मां-बेटी की पिटाई में बाप के साथ एक लड़की भी शामिल होती थी। बेटे चुपचाप देखते रहते थे।

एक परिवार था जिसमें बाप-बेटे में बजती रहती थी। बेटा बाप के घर में किरायेदार था। बेटा बहुत सीधा और भला था। उसकी पत्नी को उसका बाप, मां और एक बहन (जो ससुराल से भाग-भागकर मायके आती थी) सताते थे और वह लड़का इस अन्याय का प्रतिकार करता था। इस पर जो तांडव होता था वह अद्भुत था। लड़का तो अपनी शराफतवश घर में धीरे-धीरे प्रतिवाद करता था किन्तु बाप खूब चीखता-चिल्लाता था; घर में से निकल जाने के लिए कहता था। औरतों की तरह रोता था और उन्हीं की भाषा में बेटे और उसकी पत्नी को सरापता था।

"तेरी अर्थी उठेगी।"

"कोई बात नहीं।" बेटा बोलता।

"तेरी अर्थी को मैं ही कंधा दूंगा।"

"कोई बात नहीं।"

"कोई बात कैसे नहीं, हरामजादा, तेरी अर्थी उठाने से मेरा कंधा तो दुखेगा।"

"कोई बात नहीं।"

इस पर झल्लाकर वह आंगन में से सड़क पर बेटे के अरतन-बरतन फेंकने लगता था। लोग चकित थे कि इकलौता बेटा बाप के घर में किरायेदार बनकर रह रहा है और बाप उसका दुश्मन बना हुआ है। लोगों ने शुरू में एकाध बार बीच-बचाव किया किंतु बाप किसी की सुनता ही नही था और नहीं तो अपमानित कर देता था। विचित्र बात यह थी कि वह औरों के झगडे में सहज ही पंच बनकर बीच-बचाव करने आ जाता था। वह अपने स्वभाव के कारण मोहल्ले में आतंक बना हुआ था।

एक चौथा परिवार था। ठीक-ठाक कोठी थी। गृहस्वामी और उसके बच्चे छोटी-छोटी बात पर पडोसियो से झगड़ा कर लेते थे और बच्चे पनिहा सांप की तरह फुफकारते थे काटने की ताकत नही थी। छाती फुला-फुलाकर, आंखें तरेर-तरेरकर वे अपनी वाणी द्वारा शक्ति का ऐसा इजहार करते मानो शत्रु को क्षण-भर में नेस्तनाबूद करके छोड़ेंगे। रात को यों ही चिल्ला उठते थे—चोर-चोर-चोर···और पास-पड़ोस में अनावश्यक रूप से एक तहलका मच जाता। वे बहुत विश्वास से चोर के आने और जाने का हवाला देते। धीरे-धीरे लोगो को अहसास हो गया कि ये सब नाटक करते हैं। मोहल्ले के बच्चों से प्रायः इनकी लड़ाई होती। मेरे बच्चो से भी कई बार इनकी मुठभेड़ हुई।

हेमंत में एक परिवर्तन आ गया। पहले वह खेल-खेल में मार खाकर रोता हुआ घर आता था। यहा भी दो-एक बार आया किंतु एक दिन देखा कि झगड़े में पीटकर और पिटकर घर लौटा तो उसकी आंखों में आसू नही थे, गुस्सा था। और उसके बाद तो यही क्रम बना रहा। यह मोहल्ला ऐसा था जिसमें लडकों को झगड़ा करने की प्रवृत्ति पारिवारिक संस्कार में मिली थी। परिवार के बड़े लोग झगड़ते थे और बच्चों को नियंत्रित करने के स्थान पर या तो उनके झगड़े के प्रति उदासीन रह जाते थे या उनका पक्ष लेते थे। मैं और मेरी पत्नी बच्चों को नियंत्रित करना चाहते थे इसलिए हेमंत और शशांक जब कही से मारपीट करके आते थे तब हम उन्हें डांटते थे, कभी-कभी पीट भी देते थे। इससे इन बच्चों का मन दुखता था। हेमंत ने पूछा भी—"क्या आप चाहते हैं हम पिटकर आयें?"

"नहीं, पिटकर मत आओ किंतु इन लड़कों के साथ क्यों खेलते हो, क्यों घूमते-फिरते हो?"

"तब कहां जायें? मोहल्ले के लड़के तो ये ही सब है। क्या खेलना-कूदना ही छोड़ दें? और छोड़ भी दें तो ये लौंडे आते-जाते छेड़ेंगे। फिर या तो इनसे छिपो और पिटो या पीटो। आप क्या चाहते हैं?"

"मैं इनमे से कुछ नही चाहता । चाहता हू तुम मोहल्ले के अच्छे लड़कों के साथ रहो और पढने-लिखने मे मन लगाओ । तुम्हारा मन पढने-लिखने की अपेक्षा मटरगश्ती करने मे ज्यादा लगता है, इसीलिए तुम्हारी टकराहट इन टुच्चे लौडो म होती रहती है ।"

मेरी बात अनसुनी करके वह चला जाता । हेमंत की पढाई का ढर्रा ही दूसरा रहा । गुजरात मे भी उसने कोर्स के ढर्रे की पढाई मे मन नहीं लगाया किंतु बाहरी चीजे खूब पढता रहा । दिल्ली मे जब हम आये तो बच्चो के नाम लिखाने का प्रश्न पैदा हुआ । सबसे बडा प्रश्न यह था कि बच्चे सितम्बर मे आये थे और सितम्बर मे स्कूलो मे जगह नहीं बचती । जहा जाओ यही उत्तर मिलता कि जगह भर गयी है । तीनो बच्चे अहमदाबाद मे कानवेंट म पढते थे और कह चुका हू कि हेमत और शशाक कानवेंटी पढाई की ऐसी की तैसी कर रहे थ, उनका ठेठ देशी मिजाज अगरेजी शिक्षा को मुह चिढ़ाता था । दिल्ली आने पर एक बार यो ही सेंट जेवियर स्कूल म गया । मेरी आशा के अनुरूप ही बात नहीं बनी । बात बनती तो भी मै वहा बच्चो का नही पढा पाता । तीन-तीन बच्चो को वहा पढाकर जीने के लिए हमारे पास पैसे नहीं बचते । और यहा हिंदी माध्यम के अनेक अच्छे स्कूल थ जो मेरे आदर्श, इच्छा और इन बच्चो के स्वभाव के ज्यादा अनुकूल थे । हेमत को लेकर गुजराती स्कूल मे गया । गुजराती उसे आती ही थी इसलिए यह स्कूल उसके अधिक अनुकूल था । मुझे आशा थी कि गुजराती स्कूल गुजरात मे आने वाले बच्चे के प्रति सहानुभूति का रुख अपनायेगा और उसके लिए कोई जगह बनायेगा ही ।

मैं हेमत को लेकर स्कूल मे गया । वहा स्कूल के अध्यक्ष ने कुछ सवाल पूछे । सौभाग्य था कि उन्होने जनरल नॉलेज के सवाल पूछे जो हेमत के लिए अधिक अनुकूल थे । उसने उन प्रश्नो के अच्छे उत्तर दिए और अध्यक्ष ने प्रसन्न होकर प्रिंसिपल को फोन किया कि मैं एक बहुत अच्छा बच्चा भेज रहा हू, भर्ती कर ले । वह भर्ती हो गया और पढाई चलने लगी किन्तु वही बात । कोर्स से पटरी नही बैठती थी और वह इधर-उधर की चीजे खूब पढ़ता था और स्कूल और मोहल्ले के घुमक्कड लडको के साथ खेलता-कूदता, लडता-झगड़ता घूमता था ।

अजू और शशाक को माडल टाउन के ही एक छोटे से माडल स्कूल मे भर्ती कराया । इसका नाम था बसल माडल स्कूल । बसल जी इसके प्रबधक थे और श्रीमती बसल प्रिंसिपल थी । यह स्कूल उनके मकान के अहाते मे ही था । दिल्ली को यदि छोटे-छोटे पब्लिक स्कूलो की दूकान कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । पब्लिक स्कूल का पहला आकर्षण है उसका नाम—'अमुक पब्लिक स्कूल' । यदि नाम मे किसी ईसाई सत का नाम जुडा हो या अगरेजी नाम हो तो उसका आकर्षण और बढ़ जाता है । तीसरा आकर्षण है अगरेजी माध्यम का होना । बडे-बडे पब्लिक स्कूल शिक्षा की शानदार दुकानें है, जहा महगी कीमत देकर ठगे जाने के लिए मिनिस्टर, पूजीपति, अफसर, प्रोफेसर सभी लाइन लगाये रहते है । उसके आर्थिक बोझ का अनुभव करते हुए मध्यवर्गीय लोग भी इस लाइन मे खड़े होते जाते है; आये दिन उसकी आर्थिक चोट की तिलमिलाहट अनुभव करते हैं, झीकते है लेकिन उनके लाइन मे खड़ा होने की परम्परा नहीं टूटती,

प्रतिस्पर्धा बढ़ती जाती है। ये सभी ठगे जाते हैं किन्तु ये सभी जानते हैं कि ठग लिए जाने का यह सौदा महंगा नहीं है। हां, पब्लिक स्कूलों से अंगरेजी सीखकर निकलने वाले लड़के ही तो देश के मालिक बनते है। उनको पहला लाभ यह होता है कि शादी के बाजार मे बहुत ऊंची कीमत वाले बिकाऊ माल बन जाते है। उन्हें न अपने देश की सामान्य जनता की चिंता होती है और न उसकी सांस्कृतिक परम्परा की। उन्हें बस अपने पद, पैसे और अहंकार की चिता होती है और वे तरह-तरह से देश और समाज को अपने लाभ के लिए भुनाते है। वे वेचारे देश की चिंता में विदेशों मे उड़ने फिरते है। जब पब्लिक स्कूलों मे पढने मे बच्चों को देश को इस कदर भुनाने का अवसर मिलता है तो अभिभावकों को सिर मुडाकर लाइन मे खडा होने का अपमान और पैसे की चोट की तिलमिलाहट सहन कर लेने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

बड़ी दुकानों पर सबकी पहुंच नही हो पाती, इसलिए छूटे हुए अधिकांश लोग अपने बच्चो को पब्लिक स्कूल मे पढाने की हसरत लिए हुए अन्य विकल्पों की तलाश में घूमते रहते है। वे विकल्प है ये पब्लिक स्कूलनुमा छोटे-छोटे स्कूल जो किसी भी छोटे-से मकान मे या बड़े-से मकान के किसी हिस्से मे खोल दिये जाते है जिनमे स्कूल के मालिक या मालकिन यदि वे पढ़े-लिखे या पढी-लिखी है तो प्रबंधक और प्रिंसिपल बन जाते है और दो-दो सौ रुपयों पर कुछ ग्रेजुएट लडके-लडकियो (विशेषतया लडकियों) को टीचर लगा लेते है और व्यक्तिगत नौकर की तरह उनसे व्यवहार करते हैं। पब्लिक स्कूल की शान पैदा करने के लिए बच्चों की यूनिफार्म तय कर देते है, अपने ही यहां कापी-किताबों की बिक्री का प्रबन्ध कर देते है, पिकनिक और अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों का सिलसिला बनाये रखते है, स्कूल के भवन, पखा, पानी आदि के लिए बच्चों से फड वसूलते रहते है और चाहे जैसी भी टुटही अंगरेजी की व्यवस्था क्यों न हो उसे माध्यम बनाकर अभिभावकों को आकृष्ट करते रहते है।

बहरहाल माडल टाउन में छोटे बच्चो के लिए बमल माडल स्कूल ही मुझे ठीक-ठिकाने का लगा। उन्हें सरकारी प्राइमरी स्कूल मे डाल नही सकता था। उसकी हालत रोज देखता था। बमल माडल स्कूल का एक आकर्षण मेरे लिए यह था कि वहां हिन्दी शिक्षा का माध्यम थी और बमल दम्पती का स्वभाव हिन्दुस्तानी-सा लग रहा था।

स्कूल (चाहे सरकारी हो चाहे गैर-सरकारी) अपने को ही स्तरीय मानते हैं। वे समझते है कि दूसरे स्कूल से आने वाले बच्चे उनके स्तर के नहीं है इसलिए वे टेस्ट लेते है। हमारे बच्चे (अंजू और शशांक) सेंट जेवियर जैसे प्रतिष्ठित स्कूल से अपनी-अपनी कक्षाएं पास करके आये थे किन्तु बमल माडल स्कूल के आगे सेंट जेवियर स्कूल की क्या बिसात ? इस स्कूल ने जेवियर के प्रमाणपत्र को प्रामाणिक न मानकर टेस्ट लिया और कृपा करके अंजू को तो उसकी वांछित क्लास में भरती किया किंतु शशांक को एक साल पीछे कर दिया। हमें इस फैसले को स्वीकार करना ही पड़ा। शशांक तो यों ही पढने में लापरवाह था, दूसरे गुजरात से आने के कारण हिन्दी कमजोर थी। आगे वह लिथड़ता हुआ चले, इससे बेहतर था साल-भर पीछे से शुरू करे और नींव मजबूत कर ले।

विवेक (जिसे हम लोग घर में बब्बे कहते हैं) तीन साल का हो रहा था। वह तन-मन दोनों से ही बरिबंड था। खूब स्वस्थ था और मन से बहुत निर्भीक था। डर नाम की चीज उसके भीतर थी ही नहीं। वह मुझसे बहुत हिला-मिला था। जब कभी मैं बाहर जाता तो मेरे साथ जाने की जिद करता। नही जा पाता तो घंटों लोट-पोटकर रोता, रात को उठ-उठकर रोता और जैसे ही मैं लौट आता मुझे देखते ही होय-होय करके नाचने लगता। वह मेरे ही पास सोता था। यद्यपि मुझे इसमे बड़ी असुविधा होती थी फिर भी वह मेरे ही पास सोता था। मेरी नीद बहुत कच्ची है। तनिक से व्यवधान से टूट जाती है। विवेक रात को ज्यादा ही उल्हमेल करता, अपने पांव मे लगातार मेरे शरीर को कोंचता रहता, मैं उसे लगातार हटाता और वह गहरी नीद में भी लगातार मुझसे सटकर अपना पद-संचालन करता रहता। कई बार मैं झल्ला जाता और उसे पीट भी देता किन्तु वह सोता मेरे ही पास। इस पारस्परिक यातना के बावजूद हम दोनो का साथ सोना अनिवार्यता बन गया था।

वह खूब जमकर दूध पीता था। यदि बिना दूध पिये सो जाता था तो रात को उठकर दूध मागता था। यदि सोये में उसके ओठ पर अगुली फिरा दी जाती तो दूध की बोतल समझकर मुह फाड देता था। सोते में मुह मे दूध की बोतल लगा दी जाती तो नींद में ही आराम से सारा दूध पी जाता। दिल्ली आने के बाद जब पहली बार हम गोरखपुर गये थे तो वह छत से गिर पड़ा था। बात यों हुई कि विवेक और मेरे साले दीपनारायण की बेटी पुष्पा दोनों छत पर खेल रहे थे। उसमे अभी रेलिंग नही लगी थी। वे दोनों बंदरों को चिढ़ाते-चिढाते छत पर दौड रहे थे और दोनो एक साथ छत पर से गली में आ गिरे। गली मे कोई खतरनाक चीज नही थी और दोनों के शरीर के मार्मिक अंग गली की जमीन मे नही टकराये इसलिए काफी चोट के बावजूद दोनो बच गये। विवेक के ओठों पर काफी चोट आयी थी। ओठ कटकर सूज गये थे किन्तु जैसे ही दूध की बोतल उसके ओठ मे लगायी गयी मुह फैलाकर उसे पकड़ लिया और गटागट सारा दूध पी गया। खुलकर खाने-पीने के कारण ही वह इस चोट को आसानी से झेल गया और जल्दी ही अच्छा हो गया। चोट तो विवेक की क्रीडा बन गयी थी। खेलते-खेलते न जाने कहां से चोट लगा आता। चप्पल, जूते तो उसके पाव मे ठहरते नही थे, आज आये, कल कहीं छूट गये। श्रीमान् खेलने गये तो नंगे पाव भाग लिए या चप्पल पहनकर गये तो खेलने मे असुविधा महसूस होने के कारण उसे उतार दिया और न जाने कहां-कहां खेलते और छिपते फिरे। पांव में कांटा गड़ गया या शीशा चुभ गया तो जनाब को चिंता नही। खेल-खालकर आये तो घर के फर्श पर पैरों के लाल निशान देखकर मा ने घबराकर पूछा—'अरे, तुम्हारे पांवों से लाल निशान कैसे वन रहे है? कही तुम्हारे तलवे मे कुछ चुभा तो नही, कुछ कटा तो नही?"

"नही मां, मुझे कुछ नही हुआ है।"

"देखू तो।" कहकर मां ने तलवा देखा तो लम्बा-सा चीरा, जिसमें से खून बह रहा है।" घबराकर बोली—"अरे, यह चोट कहां लगी रे?"

"कहां? ओय, मुझे तो पता ही नही चला।"

ऐसा प्राय: होता था और हम लोग घबरा जाते थे किन्तु विवेक के लिए यह कुछ भी नही था। तलवार, बंदूक, गोला-बारूद आदि का खेल खेलने मे विवेक को बहुत रस आता था। इन हथियारों के नाम से उसकी आंखो में चमक आ जाती थी। उसे कहा जाता कि तुझे सेना में भेजेंगे तो खिल जाता, चहकने लगता। पाकिस्तानी हमले के दिन थे। ब्लैक आउट चल रहा था। खतरे का सायरन बजा। मेरे और मकान मालिक के परिवार के सभी लोग मकान की भीतरी गैलरी मे जमा हो गए। सभी लोग खतरे की आशका से डरे हुए थे। मकान मालिक के बच्चे तो भय से कांप रहे थे, किन्तु विवेक ने पूछा—"हम लोग यहा क्यों छिपे बैठे हैं ?"

"बेटा, पाकिस्तान ने हमला किया है। वह बम गिरा सकता है। इसलिए सायरन बजते ही लोग छिपने की जगहो मे छिप जाते है।"

अपने खिलौने की बन्दूक की ओर झपटते हुए विवेक ने कहा—"रुको, मै अपनी बन्दूक दागकर साले दुश्मनो की ऐसी की तैसी करता हू।"

बच्चे के इस निर्विकार साहस की बात सुनकर सभी लोग उस भय के आलम में भी हस पड़े किन्तु विवेक हसा नही क्योंकि वह तो पूरे मन और आस्था से गोली दागने की बात कह रहा था।

विवेक की एक बात से हम परेशान थे। वह गालिया सीख गया था। नीद में भी वह गालिया बकता था और सोये-सोये किसी को ललकारता था। लगता था कि कुछ लडकों से इसका झगडा हुआ है और नीद मे भी वह उनसे लड रहा है। जब किसी सम्मानित अतिथि या महिला के सामने उसकी गालिया सुनता तो बहुत लज्जा का अनुभव होता था। लोग उसे बच्चा समझकर हस देते थे किन्तु मैं इस भाव से पानी-पानी हो जाता था कि आखिर ये लोग मेरे पारिवारिक संस्कार के बारे मे क्या सोचते होंगे। यही न कि हम बच्चे को सही सस्कार नहीं दे पाते। हमारे परिवार मे अपरिचित कोई अतिथि तो यह भी आशका कर सकता था कि इस बच्चे के सस्कार पर कहीं मेरे पारिवारिक परिवेश की तो छाया नही है, लेकिन करते क्या ? डाट-डपटकर, समझाकर हम हार गए। बरिवंड स्वभाव वाला यह बच्चा जो चाहता था वही करता था। दरअसल हम कर भी क्या सकते थे। परिवेश के सस्कार बच्चो पर पडते हैं और जब बच्चे मिलते है तब एक-दूसरे को अपने सस्कारो से प्रभावित करते है। जब मै दिल्ली मे आया गालियो की बहार देख रहा हूं। पढे-लिखे बाबुओ को बस में, सडक पर, बाजार मे बातें करते देख लीजिए, तकिया-कलाम की तरह गालियों के फूहड-फूहड शब्द उनके मुखारविन्द से झरते दिखाई पडेंगे। कम पढ़े-लिखे या अपढ लोगों की तो पूछिये ही मत। बच्चे तो इसी परिवेश मे पनपते है न। आप अपने घर मे लाख उन्हें संस्कारित कीजिए, बाहर की दुनिया से उन्हें काट तो नही सकते और यह बाहर की दुनिया न जाने उन्हे कितना कुछ सिखाती है। बच्चे बच्चो से ज्यादा सीखते हैं। बाहर के बच्चों को कहा-सुनी, लड़ाई-झगड़े में गालिया देते सुनता हूं तो दंग रह जाता हूं इसलिए विवेक का गालिया सीखना कोई अजूबा नहीं था किन्तु हमारे पारिवारिक संस्कार को यह आहत करता था।

54

माडल टाउन विश्वविद्यालय के शिक्षको और साहित्यकारो का नगर बन गया था। माडल टाउन काफी बस गया था फिर भी बसने की प्रक्रिया मे था अतः यहा किराये के मकान आसानी मे मिल जाते थे। यह विश्वविद्यालय के समीप पडता था अतः बहुत-से प्राध्यापक यहा रहते थे। अनेक साहित्यकार भी यहा पहले से रहते थे किन्तु जब मैं 1964 मे आया उसके आसपास अनेक साहित्यकार इस मोहल्ले में आये और आते ही चले गये। वयोवृद्ध साहित्यकार श्री वियोगी हरि और अर्ण मल्सियानी बहुत पहले से यहा थे, उनका अपना मकान था। इनके अतिरिक्त आगे-पीछे आने वाले साहित्यकारो और प्राध्यापको मे थे—देवीशकर अवस्थी, अजितकुमार, स्नेहमयी चौधरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर, नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, कृष्ण शकर शुक्ल, रमेश गौड, उदयभान मिश्र, बालस्वरूप राही, पद्मधर त्रिपाठी, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, मलयज, भोलानाथ तिवारी, सत्यदेव चौधरी, रमानाथ त्रिपाठी, अवधनारायण मुद्गल चित्रा मुद्गल आदि। कुछ वर्ष बाद सावित्री सिनहा भी आ गयी।

इस मोहल्ले मे बहुत साहित्यिक गहमागहमी थी। वैसे इस समय पूरे साहित्य के क्षेत्र मे गहमागहमी थी। प्राय: गोष्ठिया होती थी। प्रायः किसी न किसी के यहा बैठक जम जाती थी और साहित्यिक-असाहित्यिक चर्चाए गर्मा जाती थी। नामवर जी तो नयी कविता और नयी कहानी के समीक्षक मसीहा बन ही चुके थे, अब देवीशकर अवस्थी साठोत्तरी लेखन—अकहानी, अकविता के लेखको का ध्यान खीचने वाले नये समीक्षक के रूप मे उभर रहे थे। वे नयी कहानी की तिगडी—मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर के तो मित्र थे ही (वे लोग प्राय: उनके यहा आते रहते थे), साठोत्तरी लेखक दूधनाथसिंह (जब आते थे), रवीन्द्र कालिया, विमल, मुद्राराक्षस आदि का भी जमावडा उनके यहा होने लगा था।

देवीशकर अवस्थी देशी-विदेशी नया साहित्य योजनाबद्ध रूप से पढकर अपना आलोचक रूप संवारने मे लगे थे और धीरे-धीरे नामवर जी के लिए चुनौती बनने जा रहे थे। दरअसल इस मोहल्ले मे प्रतिभायें बहुत थी किन्तु सर्जनात्मक प्रतिभायें थी किसी को आलोचक के रूप मे सजने-सवरने की चिन्ता नही थी, अतः वे सचेत भाव से आलोचक व्यक्तित्व बनाने के लिए, उसे सजाने-सवारने के लिए देशी-विदेशी साहित्य नही पढते थे, केवल आनद के लिए और अपने समय के साहित्य के प्रति सजगता के लिए पढते थे। सच्चे सर्जक मे अपनी रचना के प्रति आत्मविश्वास होना है, वह छोटे या बडे आलोचक का मुखापेक्षी नही होता और खासकर उस माहौल मे जब आलोचना बुरी तरह खेमो मे बट गयी हो और आलोचक के पास तटस्थ मानदड न रह गया हो, वह व्यक्तियों को देखकर उनकी कृतियो का आकलन करता हो, किसी की कविता मे छीक भी उसे महान् लगती हो और किसी अच्छी से अच्छी रचना पर न बोलने की उसने कसम खा ली हो। कहना न होगा इस समय आलोचना बुरी तरह खेमो मे बंट गयी थी। नामवर जी के अपने कवि और लेखक थे और देवीशकर जी अपना लेखक-मडल बना

रहे थे। हां, कह रहा था कि सच्चा सर्जक आलोचक का मुखापेक्षी नहीं होता फिर भी आलोचना की आवश्यकता होती है। हर छोटा-बड़ा सर्जक चाहता है कि उसकी रचनाओं का मूल्यांकन भी हो और इस समय तो (बल्कि नयी कविता के ही दौर से) हर सर्जक किसी-न-किसी रूप में आलोचक बना हुआ था। वह अपनी पीढ़ी, अपनी धारा की सर्जना का प्रवक्ता और आकलनकर्ता बना था। उसे लग रहा था कि वह जो नया लिख रहा है उसे उससे पिछले खेमे के लोग या दूसरी धाराओं के लोग नहीं समझ और सराह पा रहे हैं। उसे लिखने के साथ-साथ अपने जैसे लोगों के साथ मिलकर अपनी धारा की सर्जना को समझाने और स्थापित करने का काम भी करना चाहिए। अतः साठ के बाद के सर्जकों में भी अपनी-अपनी रचनाओं को स्थापित करने के लिए आपाधापी मची थी। वे सभी अपने-अपने और अपनी जमात में शामिल लोगों के प्रवक्ता बने हुए थे और चाहते थे कि आलोचक भी उनके प्रवक्ता बनें। इसलिए साठोत्तरी लेखकों विशेषतया अकहानी वालों का जमावड़ा देवीशंकर अवस्थी के यहां होता था।

मेरा तो किसी आलोचक से लेखकीय-आलोचकीय सम्बन्ध ही नहीं बना, किन्तु देवीशंकर अवस्थी से मेरा विश्वविद्यालयी और व्यक्तिगत सम्बन्ध तो था ही। मैं उनके यहां जाया करता था। वे मेरे यहां आया करते थे। जब कभी कई दिन बीत जाते थे तो वे कमलेश जी के साथ यह कहते हुए आ जाते—"भई बहुत दिन हो गये मिले हुए, ऐसी भी क्या नाराजगी।" वे दोस्त आदमी थे और घरेलू तथा विश्वविद्यालयी समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

देवीशंकर जी के ही आसपास अजितकुमार थे और उनकी बगल के मकान में सर्वेश्वर जी रहते थे। अजितकुमार बहुत मिलनसार व्यक्ति हैं, घर हो या बाहर सबसे बहुत प्रेम से मिलते हैं। घर, परिवार और साहित्य की बातें समान रूप से करते हैं और दूसरों को महसूस करा देते हैं कि वे उनके साथ हैं। इनसे मेरी बड़ी पुरानी पहचान थी और इन्हीं के माध्यम से देवीशंकर अवस्थी से भी भेंट हुई थी। तब ये और देवीशंकर जी कानपुर में किसी कालेज में पढ़ाते थे और 'कवितायें सन् 1954' निकालने की योजना बना रहे थे। उस प्रक्रिया में ये लोग काशी के कवियों से मिलने बनारस आये थे तो मेरे यहां भी आये थे। कविताओं के माध्यम से अजितकुमार को तो जानता था किन्तु देवीशंकर अवस्थी को पहली बार जाना था। गुजरात जाने के बाद हिन्दी के तमाम कवियों से मेरी व्यक्तिगत जान-पहचान नहीं हो पायी थी और कुछ से जो जान-पहचान थी वह विकसित नहीं हो पायी। दिल्ली आने पर बहुत-से लोगों को पहली बार देखा और जिनसे पहले हलकी-सी जान-पहचान थी उनसे बार-बार मिलने का अवसर मिला। अजितकुमार से अब प्रायः मिलना-जुलना होता था। अजित जी के घर पर मिलने का अपना आनंद था। उसमें स्नेह जी के सौम्य और सहज व्यक्तित्व का साहचर्य और उनके आतिथ्य का रस भी मिला होता था।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना से भी मेरी जान-पहचान पुरानी थी। इलाहाबाद में शंभुनाथ सिंह के साथ मैं उनके घर ठहर चुका था किन्तु इसके बावजूद जान-पहचान में कोई उष्मा नहीं आयी। सर्वेश्वरदयाल मूडी आदमी थे, कभी तो आप उनके सामने

आकर नमस्कार कीजिये तो वे मुह फेर लेते या देखते हुए भी न देखने की सी उदासीनता बरतते, कभी उनका मन हो तो आपको पुकारकर बुला लेते और शिकायत भी करते—"अरे भाई, ऐसी भी क्या बेरुखी।" कभी तो उनकी बातों से आत्मीयता की गरमाई बरसती, कभी मामूली-सी बात मे आग हो जाते और तब कुछ भी कर सकते थे। कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व अविश्वसनीय था और उनमे अपने कृतित्व के प्रति अहंकार का भाव भी जबर्दस्त था। इसलिए मैं सर्वेश्वर से बचता था। उनके यहा तभी गया जब कोई गोष्ठी हुई। बाहर या जलसों मे भी उनसे तभी मिलता था जब वे स्वयं मिलने की इच्छा दिखाते थे। प्राय: हर आदमी की सर्वेश्वर के बारे में यही राय थी।

मैं उनके लेखन को पसद करता रहा, पसंद करता हूं। उनके लेखन मे लक्षित होने वाला खुलापन और सामाजिक यथार्थ की उष्मा मेरे स्वभाव को रास आती है किन्तु 'दिनमान' मे छपी उनकी समीक्षात्मक टिप्पणियों मे उनकी अगोचकी वृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। वे किसी की भी कृति पर कैसा भी अवाछित प्रहार कर सकते थे, करते रहे थे। लगता था 'दिनमान' मे छपने वाली समीक्षा का मतलब ही हो गया था दूसरो पर चोट करना किन्तु अपने ऊपर की गयी चोट वे सहन नही कर पाते थे। एकदम उनका मिजाज उखड जाता था।

याद आता है होली प्रसंग। दिल्ली आने के बाद यह हमारी शायद पहली होली थी। धीरे-धीरे हम लोग एकत्र होते हुए रग खेलते हुए चल रहे थे और मी ब्लाक पहच गये थे। अजितकुमार के यहा होली खेलकर नीचे आये तो देखा सर्वेश्वर जी अपने गेट पर साफ-सुथरे खडे है। एक लडकी ने उन पर अपनी शीशीनुमा पिचकारी मे रग डाल दिया। सर्वेश्वर ने शीशी छीनकर गुस्से मे दूर फेंक दी। इतने पर भी नामवर जी ने सर्वेश्वर के मुह पर गुलाल मल दिया। फिर क्या था—सर्वेश्वर भिड गये नामवर जी से। पहले तो हम लोगो ने समझा कि खेल-खेल मे भिड़े है किन्तु शीघ्र ही लग गया कि वे क्रोध में है। सामने रेत की ढेर थी। वे नामवर जी का पाव पकडकर खीच रहे थे और उन्हे पटकने के प्रयत्न मे थे। नामवर जी अपने हाथ का इस्तेमाल न कर कवल पांव जमाये हुए और हॉ-हॉ कहते हुए सर्वेश्वर की इस क्रिया का प्रतिवाद कर रहे थे। सर्वेश्वर अपने सारे प्रयत्नो के बावजूद नामवर जी को गिरा नही पाये। आखिर नामवर जी को कहना पड़ा—"बस भाई सर्वेश्वर, बस।"

"बस हो गया बस? सहते-सहते आजिज आ गया हू।"

उन्होने नामवर जी को छोड दिया और हाफते-हांफते घर मे चले गये।

मुझे लगा कि 'सहते-सहते आजिज आ गया हू' कथन के पीछे सर्वेश्वर के साहित्य पर नामवर जी की टिप्पणिया या उदासीनताएं रही होगी। हम लोगो का होली का मूड बिगड गया था। फिर भी इसे भूलकर रग में आने का प्रयत्न कर रहे थे। नामवर जी तो इस घटना के प्रति यों उदासीन हो गये जैसे कुछ हुआ ही न हो।

सर्वेश्वर जी और नामवर जी दो विरोधी छोर थे। एक अति उदग्र, एक अति ठंडा। एक की उदग्रता कभी उष्मा झरती थी, कभी आग। एक का ठंडापन कभी

सभ्यता की पहचान बनता था, कभी क्रूर उपेक्षा का। दोनों में अहंकार के अलग-अलग रंग थे।

शमशेर जी भी दिल्ली आ गये थे। मलयज और प्रेमा जी भी। शमशेर जी की भद्रता और शराफत के क्या कहने ? उनसे मिलना प्रीतिकर लगता है। वे कभी भी अपनी गुरुता से सामने वाले पर हावी नहीं होते, छोटा बनकर उसके भीतर घुल जाते है, रस-बस जाते हैं। मैं उनके साहित्य का बहुत प्रशंसक नहीं रहा हूं। उनकी कविताओं की दुरूहता उनके काव्यास्वाद को टुकड़ों में बांट देती है। हम कविता से सहज ही गुजरते हुए एक साबुत अनुभव-बिम्ब नही बना पाते बल्कि पंक्ति-पंक्ति की दुरूहता से जूझते हुए बौद्धिक व्यायाम से उनका अर्थ खोलते हुए कविता के अंत तक आते है तो अनेक बटे हुए अर्थों का बोध हमारे साथ होता है। यह कविता की सीमा है या मेरे जैसी रुचि और शक्ति वाले पाठकों की, यह मैं अंतिम रूप से नही कह सकता शायद मेरी ही सीमा है क्योंकि शमशेर हमारे आलोचकों और कवियों के बहुत चहेते कवि हैं। यह बात दूसरी है कि इनमे से कितने उन्हें समझते हैं और कितने कविता की बारीक समझ का धनी बने रहने के लिए समझने का स्वांग करते है। दो-एक अपवादों को छोड़कर किसी भी आलोचक या कवि ने शमशेर की कविताओं से गुजरकर उनकी समूची समझ का परिचय नही दिया। मैं जब कभी इन प्रशंसकों द्वारा शमशेर की कविताओं के बारे मे लिखी गयी समीक्षाओं से सहारा लेने के लिए उनके पास गया तो देखा वे जार्गन के सिवा कुछ नही है। ऐसा नही है कि शमशेर की कविताएं समझने मे किसी को महारत हासिल है, किसी को नही है, सवाल है कि कहा और क्यो महारत हासिल की जाए ? एक कविता होती है जिसका सौन्दर्य अपने समय की टकराहटो मे बना होता है जिसके बिम्ब हमारे गहरे सुख-दुःख के अनुभवों मे बने होते है और जिसकी पंक्तियां अपने मे लपेटकर घटों उलझातीं नही, अपनी अर्थ-छवि को खुर्दबीन मे देखने की मांग नही करती, बल्कि वे हमें अपने में रमाती हैं और रमाकर भी आगे की पंक्तियो की ओर बहा देती हैं और धीरे-धीरे पूरी कविता हमारे भीतर उतरती चली जाती है और कविता पूरी करने के बाद हमें इतना कुछ मिल चुका होता है कि हम फिर उस कविता की ओर लौटते है और दूसरी यात्रा में कुछ और पाते है। पाने का क्रम चलता रहता है। वह कविता हमें अपनी दुरूहता के कारण बार-बार अर्थ मे जूझने के लिए अपनी ओर नही खीचती बल्कि सहज आत्मीयता के कारण बार-बार आकृष्ट करती है। वह रंगों, ध्वनियों और गंधों की अरूप अनुगूंज के स्थान पर अनुभवों के सघन और मूर्त संसार से गुजरती है जिनमे हम अपने समय की और उसके माध्यम से पूरी मनुष्यता की हलचल अनुभव करते हैं। ऐसी कविताएं यदि जटिल भी होती हैं तो उनसे जूझने और जूझकर उनके भीतर निहित एक बड़ी और सघन सामाजिक दुनिया के सत्य का साक्षात्कार करने का उत्साह होता है जैसे मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता से।

बहरहाल मैं शमशेर की कविताओं के अपने महत्त्व को कम नहीं कर रहा हूं। कविता के एक पाठक की हैसियत से अपनी कविता की पसंद की वरीयता की बात कर रहा हूं। एक सही आलोचक को तो हर प्रकार के सौन्दर्य और प्रवृत्ति वाली कविता से

गुजरना और उसका आकलन करना पड़ता है किन्तु दूसरे लोग तो अपनी पसंद की रचनाओं के ही पास बार-बार जाते है।

शमशेर जी की कविता की दुनिया भले ही अरूप हो, सूक्ष्म हो और सीमित हो किन्तु वे अपने व्यक्तित्व में अत्यंत खुले हुए और व्यापक है। वे अपनी दुनिया की सीमाओं को अच्छी तरह पहचानते है। वे प्रगतिशील लेखक संघ मे जुड़े रहे है और अनेक प्रगतिशील कविताए भी लिखी हैं फिर भी उनकी पहचान इन प्रगतिशील कविताओ के कारण नही बनी है। इन प्रगतिशील कविताओ की जय बोलने वाले प्रगतिशील आलोचको को यह बात मालूम हो या न हो शमशेर को मालूम है। शमशेर प्राय: कहते थे कि जो मैं लिखना चाहता हू लिख नही पाता और जो मैं लिखता हू उससे सन्तुष्ट नही हू। 'लिखना चाहता हू' से उनका तात्पर्य होता था सामान्य जन के सुख-दु:ख को लिखने से। और कभी-कभी जब वे सामान्य जन पर लिखते थे तो उसे बहुत उत्साह से सुनाते थे किन्तु स्पष्ट हो उठता था कि जिसे वे लिखना चाह रहे थे उसे लिख नही सके है, उसमे सपाटता आ गयी है। वह वक्रता और कलात्मक साकेतिकता नही, जो उनकी कविताओ की विशेषता है। निश्चय ही 'अमन का राग', 'बैल' आदि जैसी कविताए उनके पास है जो उनकी सामाजिक और प्रगतिशील मन:स्थिति और दृष्टि की कलात्मक अभिव्यक्तिया है और जो उनकी बहुत अच्छी कविताओ मे शुमार है किन्तु शमशेर की ये कविताएं शिल्प की दृष्टि से उनकी रुझान वाली कविताओ की ही श्रेणी मे है और शमशेर के मन मे बहुत सादगी से जनसामान्य की बात कहने की गहरी आकाक्षा जोर मारती थी किन्तु इस आकाक्षा की अभिव्यक्ति मे वे सपाट हो उठते थे।

शमशेर के साथ होना आत्मीयता से सराबोर समय के साथ होना होता था। वे अपनी बात कभी नही करते थे। वे आपकी बात, उनकी बात और उनकी बात करते थे और चाहे व्यक्ति हों चाहे साहित्य किसी के प्रति उनकी दृष्टि पूर्वग्रही नही दिखाई पड़ती थी। वे तमाम प्रगतिशीलो के विपरीत अनेक धाराओ की कविताओ की खुली चर्चा और प्रशंसा करते थे, उनके आगे व्यक्ति व्यक्ति के रूप मे आते थे, किसी पार्टी या विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप मे नही। अत: उनके लिए ऐसा नही था कि किसी विशेष विचारधारा से जुड़ा व्यक्ति प्रिय हो और दूसरी विचारधारा से जुड़ा व्यक्ति त्याज्य या अप्रिय। बच्चन, अज्ञेय और ऐसे ही अनेक व्यक्तिवादी कहे जाने वाले कवि उन्हें उतने ही प्रिय थे जितने प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवि। एक दिन जब वे अज्ञेय की कविताओ पर प्रीतिकर टिप्पणी दे रहे थे तब मैंने पूछा—"शमशेर जी, अज्ञेय मे भी व्यक्ति के सौन्दर्य और प्रेम की अभिव्यक्तिया प्रधान है और आपमे भी, फिर क्या वजह है कि प्रगतिशील लोग अज्ञेय का तिरस्कार करते है और आपको अपना चहेता कवि मानते हैं और आपकी इसी प्रकार की कविताओं को बहुत उत्साह के साथ (गोया कि वे प्रगतिशील कविताए हो) अपनाते हैं और इनके विरुद्ध कभी वे सवाल नही उठाते हैं जो अज्ञेय की इसी प्रकार की कविताओ के विरुद्ध उठाते है।

शमशेर जी मुसकराये और बोले—'यह इनायत मुझ पर इसलिए बख्शी जाती है कि मैं एक समय 'प्रगतिशील लेखक संघ' का सदस्य रहा हू।" मैं उनकी इस स्पष्ट-

बादिता और अपने प्रति अमोह से अभिभूत था। भावुक-सा लगने वाला यह व्यक्ति अपने प्रति कितना निर्मम है और दूसरों के प्रति कितना सदय।

विश्वनाथ त्रिपाठी मेरे सतीर्थ है। उन्होने मुझसे चार साल बाद एम० ए० पास किया। जब मैं पी-एच० डी० कर रहा था तब वे बी० एच० यू० में आ गये थे और धीरे-धीरे साहित्यिक क्षेत्र मे जाने जाने लगे। वे अच्छे छात्र थे। गोष्ठियो में उन्होंने कविताए सुनाईं तो ज्ञात हुआ कि उनमें अच्छी कवि-प्रतिभा भी है। दिल्ली मेआया तो ज्ञात हुआ कि विश्वनाथ जी किरोडीमल कालेज मे पढाते है और माडल टाउन के एफ ब्लाक मे रहते है। हम दोनो का एक-दूसरे के यहा आना-जाना शुरू हुआ और धीरे-धीरे हमारे सम्बन्ध निकट से निकटतर होते गये और बाद मे तो हम लोग एक ही विभाग मे सहकर्मी बन गये।

डा० रमानाथ त्रिपाठी दिल्ली विश्वविद्यालय के साध्य कालेज मे आ गये थे। वे कानपुर मे देवीशकर अवस्थी के सहकर्मी रह चुके थे अतः यहा भी उनके सम्बन्ध बने रहे और धीरे-धीरे मेरे और उनके बीच सम्बन्ध बनने गये।

पडित कृष्णशकर शुक्ल और डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी साथ-साथ घूमत मिल जाते थ। उन दोनो से परिचय हुआ। दोनो के अपने-अपने रग थे। प० कृष्णशकर शुक्ल को समीक्षक के रूप मे जानता था, उन्हे पढा था और प्रभावित हुआ था। व्यक्ति के रूप मे उन्हे बी० एच० यू० मे एक बार देखा था, प्रेमचंद के बारे मे उनका भाषण सुना था और उनकी व्यग्यात्मक शैली से प्रभावित हुआ था। दिल्ली मे आकर उन्हे निकट से जानने-बूझने का अवसर मिला। पडित जी बहुत प्रेम और सहज भाव स मिलते थे। मेरे मन मे उनके प्रति सहज आदर भाव था जो उनके व्यवहार मे और भी सघन होता गया। वे कभी-कभी मेरे घर पर भी आते थे और उनके पांडित्य के साथ-साथ उनकी व्यवहार-बुद्धि का भी हमे लाभ मिलता था। मेरी पत्नी, बच्चे सबसे वे घर के बड़े-बूढे की तरह व्यवहार करते थ और हमारी समस्याओ का समाधान भी प्रस्तुत करते थ। वे बहुत सयत व्यक्ति थे। जैसे अपने जीवन मे सयम से काम लेते थ वैसे ही दूसरो के साथ व्यवहार मे भी। व खुले होकर भी यह जानते थे कि किससे कितने समय तक किस सीमा तक बात करनी चाहिए और क्या बात करनी चाहिए। वे बहुत स्वाभिमानी ब्राह्मण थे, किसी के आगे हाथ नही पसारते थे। वे इतने बड़े विद्वान् होकर भी हिन्दू कालेज म हिन्दी के मात्र प्राध्यापक थे यह बात उन्हे भीतर से असंतुष्ट करने के लिए काफी थी और रहे भी होगे। इसके तहत कभी-कभी उनकी तल्खी बहाने से व्यक्त हो जाती थी लेकिन उन्होंने सीधे अपना असंतोष कभी व्यक्त नहीं किया। सच बात तो यह है कि उन्होने अपना निजी दर्द कभी बाहर छलकने नही दिया। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना के उपलक्ष्य मे कुछ विशेष तो नही ही पाया, उलटे बाद मे नियति ने परिवार मे दुनिया-भर का दर्द उन्हें दे दिया। जवान बेटे की मौत के कारण अवकाश प्राप्त करने पर भी पारिवारिक जिम्मेदारियों से लदे रहे और सुना है अंत में वाराणसी मे निहायत एकाकी जीवन बिताते रहे। फिर भी उनके स्वाभिमान और संस्कार ने उन्हें

कभी झुकने नहीं दिया, कभी दीन होने नहीं दिया। इनका साहचर्य मेरे लिए प्रेरणाप्रद था।

कुछ दिनों बाद नर्मदेश्वर चतुर्वेदी भी हमारे मकान की बगल के मकान में किरायेदार होकर आ गये। उनका अपना रंग था। खूब हंसते-हंसाते थे और मेरे परिवार में सहज ही घुल-मिल गये थे।

जब मैं दिल्ली में आया तो शुरू के दिनों में माडल टाउन का यही साहित्यिक और शैक्षिक वातावरण था। यह वातावरण धीरे-धीरे अधिक रंगमय और वैविध्यपूर्ण होता गया और कई वर्षों तक उसकी गहमागहमी छायी रही।

कुछ वर्ष बाद त्रिलोचन जी भी माडल टाउन में आ गये। कालान्तर में डा० सुरेन्द्र तिवारी भी आये। वे 'प्रचेता' नाम की एक पत्रिका भी निकालने लगे। उनसे भी हमारे घरेलू संबंध बने। डा० कृष्णदत्त पालीवाल प्राध्यापक हो गये थे और माडल टाउन मे रहने लगे थे। वे शुरू मे ही अच्छे अध्येता थे। उनके यहा भी मैं प्राय: चला जाता था। उनके और उनकी पत्नी के साथ साहित्य और घर-द्वार की बात करने मे आनंद आता था।

55

कालेज में अध्यापन की जिन्दगी ठीक-ठाक चल रही थी। पास कोर्स को पढ़ाने मे कोई रस नही था। पढ़ाना था, पढ़ा रहा था। हा, ऑनर्स कोर्स में कुछ तृप्ति का अनुभव होता था क्योंकि वहां लगता था कि बच्चे हिन्दी को अपना विषय और अपने अध्यापक को अपना अध्यापक मानते है। मुझे भी लगता था कि मैं हिन्दी साहित्य पढा रहा हूं और उनके बीच पढ़ा रहा हूं जो हिन्दी साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा और आदरभाव रखते है। कालेज की पत्रिका के सम्पादक का भार मुझे सौंप दिया गया था। यह भी एक अच्छी बात थी मेरे लिए। उसके माध्यम से मुझे कुछ रचनात्मक प्रतिभाओं की पहचान हो रही थी और उनसे एक अपनेपन का सम्बन्ध बन रहा था। कह चुका हूं कि डी० ए० वी० का प्राध्यापक-जगत् बहुत अच्छा था। उन सबसे मुझे बहुत प्यार और सद्भाव मिलता था। प्रिंसिपल चोपड़ा भी मधुर मुसकान वाले प्रिय व्यक्ति थे और मेरे लिए एक सुखद बात यह भी थी कि वे कुछ लिखते भी थे और वे अपने कमरे मे बुलाकर मुझे अपना लेख सुनाते भी थे। वे जानते थे कि मैं पत्र-पत्रिकाओं में खूब छपता हू अत: वे पूछते थे कि क्या यह रचना (जिसे वे खाका कहते थे) किसी पत्रिका मे छप सकती है? मैं कहता—"रचना तो अच्छी है, कही भेजूगा, उम्मीद है छप जायेगी।" दो-एक जगह भेजी, छपी नहीं किंतु चोपड़ा साहब पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। वे कोई लेखक तो थे नहीं, शौकिया कभी-कभार कुछ लिख दिया, छपे तो ठीक, न छपे तो ठीक।

इस रचनात्मक सूत्र से मैं अपने को उनसे कुछ अलग प्रकार से जुड़ा अनुभव करने लगा किन्तु यह मेरा भ्रम ही था। वे शुद्ध प्रिंसिपल थे। मेरी रचनाशीलता के प्रति उनके भीतर कोई अतिरिक्त स्नेह-भाव नही था। इसका पता तब चला जब उन्होने मुझे गुजरात विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम-समिति मे भाग लेने के लिए अहमदाबाद जाने की अनुमति नही दी। मैं इस समिति का सदस्य पहले से था और दिल्ली आने पर भी सदस्यता बनी रही, अतः मुझे आमन्त्रित किया जाता रहा। अहमदाबाद से आने के बाद अभी दिल्ली रास नही आयी थी। अहमदाबाद अपनी ओर खीचता था और जब यह निमंत्रण मिला तो उत्साह मे भर उठा। किन्तु चोपडा साहब ने बहुत ठंडे मन से उत्तर दिया—"देखिए, मैं इन सब कामो के लिए अनुमति नही देता। इससे काम का हर्ज होता है देखिये, मैंने स्वय आना-जाना छोड दिया है और छुट्टियो मे ही ये सब काम करता हू।" कुछ दूसरे साथियो मे बात की। उन्होने भी कहा कि ये हजरत अनुमति नही देते। स्वयं को तो बाहर कोई पूछता नही, हमे भी जाने नही देते।

यह विचित्र अनुभव था। मुझे तो लगा था कि इन्हे इस बात का गर्व होगा कि इनके कालेज के प्राध्यापक इतने ख्यात है कि बाहर उनकी पूछ होती है और बड़े उत्साह से जाने की अनुमति देंगे किन्तु यहा तो उलटा ही हुआ। इनके मन मे तो जैसे प्रतिस्पर्धा या जलन का भाव हो कि मुझे तो कही जाना होता नही, औरो को क्यो जाने दू। भीतर-भीतर बहुत घुटन अनुभव होने लगी।

दिल्ली मे यह पहला जाडा था। आठ साल तक गुजरात मे रहने के कारण ऊनी कपडो से सम्बन्ध छूट गया था। वहा तो बस एक हाफ स्वेटर ही काफी होता था किंतु दिल्ली की सर्दी के लिए तो पूरी तैयारी चाहिए। तमाम नये खर्चों मे यह बडा खर्चा भी जुड गया। नयी जगह होने के कारण अतिरिक्त आय के स्रोत नही बन पाये थे और खर्चे तमाम नये-नये। इस साल जैसे बहुत पानी बरसा था वैसे ही जाडा भी खूब बरस रहा था। गरम कपडो से समृद्ध होने के बावजूद बस स्टैंडो पर खडा-खडा भीतर-भीतर थरथराता था। यह शायद इसलिए भी था कि आठ वर्षो तक गुजरात मे रहने के बाद दिल्ली के पहले जाड़े का सामना कर रहा था।

दिसम्बर मे एक दिन समाचार आया कि मा नही रही। इस समाचार ने मुझे स्तब्ध कर दिया। कुछ ही दिन पूर्व पिताजी गुजरे थे, अब मा चली गयी। पिताजी के गुजरने की स्थिति के लिए तो हम प्रस्तुत थे किन्तु एकाएक मा चली जायेगी, इसकी कल्पना भी नही थी। कई वर्षों से गाव भी नही गया था अत: मा से मिले बहुत दिन हो गये थे। गर्मी की आगामी छुट्टियों में जाने का मन था कि यह समाचार ! लगा जैसे मैं सन्न मे सोख लिया गया हूं। मेरे भीतर भरी हुई मा जैसे मुझे एकाएक खाली करके चली गयी।

छुट्टी लेकर घर की ओर भागा। वे अकाल के दिन थे। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के अनेक क्षेत्र अकालपीड़ित हो रहे थे। अपने बस स्टैंड कसिहार उतरा। वहां से हमारा गाव पांच मील पड़ता है। कसिहार से हमारे गांव तक कछार का विस्तार है। नदी, नाले, खेत, बीच-बीच में कुछ छोटे-बड़े गांव। जाड़ों में दूर-दूर तक फैले हुए खेत

बहुत सुहावने लगते हैं मटर, तीसी और सरसों के फूलों से फैली हुई लम्बी-लम्बी दूरियां रंग जाती हैं। लेकिन इस बार देख रहा था कि खेतों मे कोई रौनक नही थी। लोग चलते-फिरते पुतले नजर आ रहे थे। एक गहरी उदासी की मीलन वातावरण मे व्याप्त थी। इस सीलन मे मेरे लिए मा की मृत्यु की गंध व्याप गयी थी। धीरे-धीरे घर पहुचा। भइया मिले—हाथ मे तीर वाम लिये हुए। मुझे देखकर आश्वस्त हुए। बताया कि "एक दिन उसके पेट मे दर्द हुआ। कुछ देहाती दवा की गयी। कुछ आराम पड़ा। मैं उसी के पास रहा। दूसरे दिन उसने कहा, 'अब मै ठीक हू। जाओ, खेत मे अपना काम देखो।' उसे धूप में खाट पर सुलाकर खेत चला गया। कुछ देर बाद खेत मे घर से सूचना आयी कि मा की तबीयत बिगड गयी है। घर पहुचा तो वह हमे छोडकर जा चुकी थी।" भइया उठकर कहीं चले गए। मै जहा का तहा बैठा रहा। सोचता रहा इस बार मा नही मिली। जब भी आता था आते ही पानी लेकर निकलती थी, पास आकर बैठ जाती थी, बाल-बच्चो का, अपनी बहू का हालचाल पूछती थी। जितने दिन घर रहता वह अपनी ममता की छाह मे भरती रहती और परदेश की सारी थकान जैसे खीच लेना चाहती। आज कब से बैठा हू? कहा है मा? एकाध बार तो लगा कि अब निकली तब निकली।

थोड़ी देर बाद खाना खाने गया। भतीजी खाना परस रही थी। खाने लगा तो यहा भी आभास हुआ कि अब मा पास आकर बैठ जायेगी और हालचाल पूछेगी। मै खाते-खाते मा मे खो गया और अपने-आप हाथ रुक गया और न जाने कब आखो मे आसू झरने लगे।

"क्या हाल है बाल-बच्चो का बाबू?" बडी भाभी अपने कमरे मे से निकलकर आ गयी थी और पास बैठकर हालचाल पूछने लगी थी। मै चौका और आसू पोछकर खाना खाने लगा।

मां न होकर भी पूरे वातावरण मे व्याप्त थी। गाव मे निकला तो हर औरत की जबान पर मेरी मा का नाम था। उसकी नेकी की चर्चा थी। रात को सोया तो नीद नही आ रही थी। लगता था मा का साया आस-पास डोल रहा है। बचपन से लेकर अब तक मा से जुडी न जाने कितनी स्मृतिया अधेरे मे उतरा रही थी। नीद आयी तो सपने मे भी मा आयी। मैं बहुत प्रसन्न हुआ—मा तो जीवित है, वह तो मेरे सामने है। फिर भी कुछ दूर-दूर है। क्या बात है? मा कुछ दूर-दूर क्यो है? आकर मेरे माथे पर हाथ क्यों नही फेरती? अपनी बहू और पोते-पोतियो का हालचाल क्यो नहीं पूछती? कुछ अरूप-अरूप-सी क्यो है? जो भी हो वह सामने है, इतना ही क्या कम है?

"मा!" मै उसकी ओर लपका और न जाने मा कहा छिप गयी। घबराहट में नींद टूट गयी और मैंने फिर अपने को मा की अनुपस्थिति के अधेरे सैलाब मे डूबता हुआ पाया। तब से आज तक उसकी अनुपस्थिति की अनुभूति मुझे छोड़कर नही गयी और वह अब भी प्रायः मेरे सपनों मे आती है। और पत्नी तो तब से मेरे गांव गयी ही नही। उन्हें गांव जाने पर मेरे पिताजी और मां की जो स्नेह-छाया मिलती थी अब कहां मिलेगी? जाने पर एक अभाव डंसेगा, स्मृतियां दंशित करेंगी। वैसे किसी के मरने से

कोई कहीं जाना नहीं छोड देता किन्तु मेरे गांव जाना पत्नी की अनिवार्यता तो नहीं है। वे तो निरन्तर मेरे साथ बनारस, बड़ौदा, अहमदाबाद, नवसारी और दिल्ली की दुनिया में गृहस्थी की भारी जिम्मेदारी ढोती हुई और उसे रचनात्मक रूप देती हुई चलती रही है। गांव जाना उनके लिये जरूरी नही रहा किन्तु यदि पिताजी और मां होती तो उनका दुलार और प्यार उन्हें कभी-कभी खींच ही लेता।

मां का क्रिया-कर्म किया गया। क्रिया-कर्म की प्रक्रिया में यों तो अनेक रूढ़ियां संवेदनशील और सचेत मन को सालती हैं किन्तु सबसे असुंदर और वीभत्स दृश्य होता है महापात्रों का। किसी का प्रिय दिवंगत हो गया, उसके जाने की चोट उसे क्षत-विक्षत किये हुए है, ऊपर से तमाम कर्मकांडी क्रियाओं से उत्पन्न आर्थिक बोझ उसकी गर्दन तोड़ देता है, पंडित-पुरोहित और महापात्र मिलकर उस दुखी आदमी को नंगा कर देते हैं। यदि उसके पास वित्त है तो ठीक नहीं तो अनेक गरीब लोग इस कर्मकांड की चपेट में खेत-बारी बेच देते हैं, घर-द्वार रेहन रख देते हैं और आर्थिक मार उनके प्रिय के बिछड़ने की मार से अधिक घातक बन जाती है। इस सारे परिदृश्य में महापात्रों का नाटक तो जुगुप्सा और क्रोध पैदा करता है। वैसे तो मेरे मन में इस प्रथा के प्रति शुरू से ही चिढ़ रही है किन्तु अब तो यह असह्य लगती है। बहुत लम्बे समय के बाद अपने घर में किसी के क्रिया-कर्म में महापात्रों का नाटक देखने का अवसर मिल रहा था। वैसे अब महापात्र भी समय की जागृति को समझकर नाटक को चरमोत्कर्ष तक नही ले जाते किन्तु नाटक तो करते ही हैं। मैं तो चुपचाप एक ओर बैठा था यह सोचकर कि यदि ये लोग अशोभन रूप दिखायेंगे तो देखूंगा। भाई साहब ही उनसे निबट रहे थे। उनकी दुनिया-भर की मांगों की काट वे ही कर रहे थे। वे भी इस महापात्री कांड से बहुत चिढ़ते हैं किन्तु लोक-रीति निभाने के लिए यह दृश्य झेलना ही पडता है। वे भी झेल रहे थे, मैं भी झेल रहा था। गांव मे एकाएक इस प्रथा को लाधा नही जा सकता। इससे गुजरे बिना क्रिया-कर्म ही पूरा नहीं होगा और गांव के लोग यह मानेंगे ही नही कि घर पूर्ण रूप से पवित्र हो गया है और तेरहवीं के दिन होने वाले खान-पान में सहयोग ही नहीं देंगे। इसलिए मैं या भाई साहब इस प्रसंग का निषेध न कर इसके आतंक को ही कम करने का प्रयास कर सकते थे और मुझे लगा कि महापात्रों ने कुछ नाटक-वाटक करने के बावजूद आतंक नहीं पैदा किया और यह प्रसंग आसानी से सम्पन्न हो गया।

क्रिया-कर्म के पश्चात् मैं दिल्ली लौट आया। मन प्रकृतिस्थ नहीं हो पा रहा था। इतने दिनों तक घर से दूर शहरों में अकेला-अकेला जीवन-संघर्ष करते रहने के बावजूद मां के चले जाने के बाद लग रहा था निराश्रित हो गया हूं। क्रिया-कर्म होने से पहले मैं भाई साहब के साथ गांव में निकला था कि एक औरत ने टिप्पणी कसी थी—"बेचारे टूअर (मां-बापविहीन निराश्रित) हो गये।" तब तो यह बात सुन ली थी। दिल्ली लौटने पर रह-रहकर उस औरत की बात मुझसे टकराने लगी और लग रहा था सचमुच ही मैं टूअर हो गया हूं। मरने से पहले मां को देख लिया होता, कुछ बातें कर ली होतीं तो शायद इतना नहीं अखरता। कई साल से उससे मिल नहीं पाया था। अप्रस्तुत रूप से

उसका जाना मुझमें समा नही रहा था, बार-बार मुझे चीरकर अस्थिर किये दे रहा था।

56

हिन्दी-विभाग मे डा० नगेन्द्र अध्यक्ष थे। उनके पश्चात् डा० सावित्री सिनहा (रीडर), डा० विजयेन्द्र स्नातक (रीडर), डा० ओमप्रकाश (रीडर) थे। डा० उदयभानु सिंह प्रवक्ता थे। साध्य सस्थान मे डा० दशरथ ओझा (रीडर हेड), डा० सत्यदेव चौधरी (प्राध्यापक), डा० शान्तिस्वरूप गुप्त (प्राध्यापक), डा० दवीशकर अवस्थी (प्राध्यापक) और डा० रमानाथ त्रिपाठी (प्राध्यापक) थे। डा० नगेन्द्र उन दिनो अपनी प्रभुता और यश के चरम शिखर पर थे। पूरे भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों का हिन्दी-विभाग उनकी प्रभुता की आच का स्पर्श कर रहा था। नियुक्तियो मे उनका प्रमुख हाथ था। अनेक सरकारी समितियो में भी वे थे और वहा भी नियुक्तियो मे इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। दिल्ली विश्वविद्यालय मे तो उनकी धाक के आतक का क्या कहना? उनकी मरजी के बिना हिन्दी-विभाग मे कोई पत्ता नहीं हिलता था। उनसे मिलने म लोग घबराते थे। छात्रो की तो बात ही क्या, विभाग के लोगो को भी उनकी कठोर मुद्रा विचलित कर देती थी। दूसरे विश्व वद्यालयों के वरिष्ठ-वरिष्ठ प्रोफेसरो को भी उनके सामने विचलित होते देखा है। नगेन्द्र जी अपनी वाणी मे भी बहुत कठोर थे। किसी को भी डाट-फटकार सकते थ, किसी के प्रति अपने अप्रिय और कठोर भाव का बेलाग ढग मे कठोर वाणी में व्यक्त कर देते थे। अपनी प्रीति तो वे खुलकर व्यक्त नहीं करते थे किन्तु अप्रीति को व्यक्त करने मे वाणी या मुद्रा की कठोरता पर कोई आवरण नही चढता था। किन्तु उनके आतक के पीछे उनके स्वभाव के साथ-साथ उनकी उत्कट कर्मठता थी। उन्होने अपने अथक परिश्रम, सूझबूझ और सघर्षशीलता से अगरेजियत के माहौल वाले दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग को बनाया, उसे अस्मिता दी, गरिमा दी, थोडे ही दिनो मे भारतवर्ष के गिने-चुने प्रतिष्ठित हिन्दी-विभागो के समकक्ष ला दिया, यह बहुत बडी बात थी। दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति तथा अन्य वरिष्ठ प्रोफेसरो के बीच नगेन्द्र जी की बडी प्रतिष्ठा रही और एकेडेमिक कौसिल तथा एक्जीक्यूटिव कौसिल मे उनकी बात का बहुत महत्त्व होता था।

प्रभावशाली प्रोफेसर के साथ-साथ वे वरिष्ठ आलोचक और काव्यशास्त्री थे। इन दोनो के सयोग से बना उनका व्यक्तित्व दिल्ली विश्वविद्यालय के साथ-साथ भारत के अन्य विश्वविद्यालयो के हिन्दी-विभाग को प्रभावित किये हुए था। भारतीय हिन्दी परिषद् में उनकी सक्रिय और विचारपूर्ण भूमिका उनकी प्रभविष्णुता को एक नया आयाम दे रही थी। जाहिर है नगेन्द्र जी विभागीय दायित्व और लेखकीय दायित्व

दोनों को समान गरिमा और वरीयता से निभाना चाहते थे तथा निभा रहे थे अतः उन्हें अपने समय की मूल्यवत्ता को पहचानना ही था। उसे बेकार के प्रपंचों में बरबाद होने से बचाना ही था। उन्होंने अपनी दिनचर्या कस रखी थी। प्रोफेसर के रूप में श्रमपूर्वक पढाना, अध्यक्ष के रूप में प्रशासनिक और अकादमिक व्यवस्था देखना और साहित्यकर्मी के रूप में लिखना तथा महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन करना, उस प्रक्रिया में तमाम लेखकों से काम कराना ये कितने कार्य थे जिन्हे नगेन्द्र जी कुशलता से सम्पादित कर रहे थे। इसलिए उन्होंने इन कामो के लिए अपने समय को बांट रखा था। जाहिर है यदि लोग अपनी सुविधा से लगातार आते-जाते रहे और गपशप करते रहे तो कोई काम नही हो सकता। इसलिए नगेन्द्र जी ने नियम बना रखा था कि जिसे मिलना हो फोन करके और समय लेकर आये। वे चौपाल नही लगाते थे, काम की बात करते थे—संक्षेप में। फोन पर भी वे अति संक्षिप्त बात करते थे। यहा तक कि वे कहा करते थे कि फोन पर नमस्ते-वोमस्ते क्या, सीधे काम की बात करो। इसलिए यदि कोई व्यक्ति बिना फोन किये पहुंच जाता तो या तो मिलते नहीं या मिलने पर बार-बार कहते —फोन करके आना चाहिए था। बाहर के एक वरिष्ठ प्रोफेसर से भी उन्हे यह बात बार-बार कहते सुना गया।

नगेन्द्र जी की कार्य-पद्धति मे त्वरा है। वे काम को न तो लटकाते है न उलझाते है। काम चाहे उनका हो चाहे आपका तुरन्त करते है और किसी को झूठे आश्वासन नहीं देते। वे साफ 'हां' या 'ना' कह देते है। किसी को भ्रम मे नही रखते। इसी तरह उनके दोस्त और दुश्मन भी साफ होते है। उनकी पसंद-नापसंद साफ होती है। अपनी नापसंद और दुश्मन के प्रति अपने व्यवहार को कटु से कटु रूप मे भी व्यक्त कर सकते है।

नगेन्द्र जी ने हिन्दी-विभाग को बनाया, इसके लिए उन्होंने स्थानीय शिष्यो के साथ-साथ बाहर के विश्वविद्यालयो के लोगों को भी खब नियुक्त किया। वे अपने समय के प्रति सचेत होने के कारण यह जानते थे कि कौन व्यक्ति क्या है? बाहर के अनेक नये साहित्यकारों और लेखको को उन्होने बड़े स्नेह से अपने यहा नियुक्त किया। नियुक्तियो मे बहुत बड़े-बड़े लोग जाति-पात का धंधा चला रहे थे। नगेन्द्र जी इस रोग से कभी ग्रस्त नही हुए बल्कि इसका विरोध ही किया। दूसरी बात यह भी कि जिसे ठीक समझा नियुक्त कर दिया, नियुक्त करने के बाद बार-बार उस पर अहसान जताने की या बार-बार उससे आभार की मौखिक अभिव्यक्ति कराने की प्रवृत्ति उनकी नहीं रही। हां, यह जरूर चाहते रहे कि उन्होने जिसका हित किया है वह उनको सम्मान तो दे, उनके खिलाफ तो न बोले। वैसे भी उनका इतना आतंक था कि कोई भीतर-भीतर भले ही उनके विरुद्ध बोलता रहा हो, बाहर बोलने का साहस नही करता था। सच पूछिये तो उनकी कठोर मुद्रा और डांट-फटकार वाली पद्धति प्रीतिकर नहीं लगती थी किन्तु उनके वर्चस्व को देखते हुए लोग अपने-अपने ढंग से इसे चुपचाप सह लेते थे। दिल्ली मे बाहर से आये हुए लोग उनसे उपकृत थे और दिल्ली के प्राध्यापक तो उनके छात्र ही थे जिनमे से कितनों को तो उन्होने सपरिवार लगाया था और जो निरंतर उनकी कृपा-दृष्टि का प्रसाद पा रहे थे।

मैं भी उपकृत था, गहरे उपकृत था। जब मैं अहमदाबाद से विस्थापित होने की स्थिति मे आ गया था तब नगेन्द्र जी ने अपनी सारी व्यक्तिगत नापसदगी के बावजूद मुझे डी० ए० वी० कालेज मे नियुक्त किया। मेरे प्रति व्यक्तिगत नापसदगी उन पर कुछ लोगो द्वारा थोपी गयी थी। इसके बावजूद वे यह नही सहन कर सकते थे कि साहित्य-जगत् मे उभरता हुआ एक व्यक्ति बेकारी की सजा भोगे। उनकी साहित्यधर्मिता उनके व्यक्तिगत राग-विराग से टकराकर ऊपर आ गयी और मुझे नियुक्त कर दिया और सच पूछिये तो नगेन्द्र जी के इस साहित्यकार की महत्ता के प्रति मेरे और मेरे जैसे अनेक साहित्यधर्मियो के मन मे सम्मान का भाव ज्यादा रहा है और उनकी कठोर मुद्रा के प्रति भय की अपेक्षा उनके साहित्यकार के प्रति सम्मान का भाव हमे उनके सामने विनत किये रहा है। शुरू के दिनो मे मैं बराबर इस बात के बोझ से दबा रहा कि नगेन्द्र जी दूसरो द्वारा दिये गये पूर्वग्रहवश मुझे नापसद करते है, मुझे राजनीतिज्ञ कह चुके है। मै चुपचाप अपना काम करता रहा किन्तु कुछ ही दिनो मे धीरे-धीरे उनकी बदली हुई धारणा मुझ तक आने लगी। देवीशकर अवस्थी से उनकी बातचीत होती थी। देवीशकर जी ने ही बताया कि नगेन्द्र जी मेरे बारे मे बहुत अच्छा बोलने लगे है। कहते है—"बहुत अच्छा आदमी है।" मुझे बहुत आश्वस्ति प्राप्त हुई। मेरी शैक्षिक योग्यता, मेरे लेखन-कर्म की तो वे अनुशसा पहले ही कर चुके थे, मेरे व्यक्ति के बारे मे भी वे अच्छा कहने लगे है इसमे बहुत राहत मिली। अच्छा हुआ उन्हे स्वय भान हो गया कि मैं वह नही हू जो उन्हे बताया गया है। मैं वह हू जिसे वे स्वय अपनी आखो से देख रहे है, अपने अनुभव मे जान रहे है।

मेरे लिए प्रसन्नता की बात थी कि वे थोडे ही दिनो मे मुझ पर अतिरिक्त ध्यान देने लगे। वे कभी-कभी मेरे घर भी आ जाते और घूमने के लिए साथ ले लेते। साथ-साथ गोष्ठियो और सभाओ म भी ले जाने लगे। लेखन सम्बन्धी कुछ विशिष्ट दायित्व भी मुझे सौपने लगे। उन्हे हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के तेरहवे खड के लिए छायावादोत्तर कविता पर लेख लिखना था। उन्होने मुझसे कहा, तुम लिख दो। मैंने लिखा जो बाद मे 'हिन्दी कविता : तीन दशक' और फिर 'हिन्दी कविता आधुनिक आयाम' नाम से छपा। नगेन्द्र जी को अहसास हो गया कि पी० जी० डी० ए० वी० कालेज म वेतन के मामले मे मेरे साथ अन्याय हो गया है। वह उनकी उदासीनता के कारण हुआ है। अब वे बार-बार पूछते—"तुम्हे डी० ए० वी० मे कितना कम मिला ?" मैं बताता—"मुझे सेंट जेवियर्स मे कुल छः सौ रुपये मिल रहे थे, यहा कुल पाच सौ तीस मिले।" वे अब कर क्या सकते थे बस लिखने के काम के द्वारा क्षतिपूर्ति करना चाहते थे। कुछ दिनो बाद मुझे एम० ए० के अध्यापन और पी-एच० डी० के निर्देशन का काम देकर मेरी वरिष्ठता को रेखाकित कर दिया। यानी कालेज मे तो मैं एकदम जूनियर था किन्तु उसके बावजूद समग्रत मैं सीनियर बना हुआ था।

डा० नगेन्द्र ने उन्ही दिनो डा० लक्ष्मीनारायण लाल की नियुक्ति खालसा कालेज मे की थी। नगेन्द्र जी उन्हे एक अच्छे लेखक के रूप मे जानते थे और उसी के तहत बड़े सम्मान से कई इनक्रीमेंट दिलाकर उनकी नियुक्ति की थी। डा० लाल को

भी एम० ए० कक्षाएं मिलने लगी थीं और डा० साहब कालेज की जूनियारटी के बावजूद उन्हें भी समग्रत: वरिष्ठता प्रदान कर रहे थे। डी० ए० वी० कालेज में एक वरिष्ठ व्यक्ति सांध्य कक्षाओं से सुबह की कक्षाओं में आना चाहता था। सुबह की कक्षाओं के वरिष्ठ प्रवक्ता घबराये कि उस व्यक्ति के यहां आ जाने से कहीं सुबह वालों की वरिष्ठता न प्रभावित हो जाये। किसी को नगेन्द्र जी से कहने की हिम्मत नहीं थी। उनके प्रति मेरी निकटता को देखते हुए मुझे यह बात कहने का काम सौंपा गया। मैंने फोन किया—"मिलना चाहता हूं।" "किस काम से?" मैंने बता दिया। उन्होंने कहा—"देखो, तुम और डा० लाल कालेज में जूनियर जरूर हो किन्तु तुम लोगों की वरिष्ठता कालेज से सिद्ध नहीं होगी। तुम लोग वहां लाइन में नहीं हो।" उनके इस सद्भाव ने मुझे भीतर तक प्रभावित कर दिया।

डा० नगेन्द्र अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के कारण एक ओर साहित्यिक व्यक्तियों को महत्त्व देते थे (यानी बड़े-बड़े साहित्यकारों के साथ उनका उठना-बैठना तो लगा ही रहता था, विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की भीड़ में से वे साहित्यिक प्रतिभाओं को अलगा लेते थे और उनके साथ उनके सम्बन्धों में एक अलग तरह की उष्मा होती थी।) दूसरी ओर उनका प्रोफेसर विश्वविद्यालयी और विद्यालयी वातावरण को उसके पूरे 'नार्म' के साथ स्वीकारता था। जूनियारटी-सीनियारटी का वे बहुत ध्यान रखते थे और जब कभी साहित्यिक और विश्वविद्यालयी वातावरण एक-दूसरे में धंस जाते थे यानी गोष्ठी तो साहित्यिक होती थी किन्तु वक्ता प्राध्यापकों के बीच में होते थे तो वहां साहित्यकारों का वरिष्ठता-क्रम प्राध्यापकों के वरिष्ठता-क्रम में बदल जाता था। डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व के कई रंग थे जिन्हें मैं धीरे-धीरे अनुभव करता गया।

डा० सावित्री सिनहा से मेरा नया-नया परिचय था। नाम से तो हम दोनों एक-दूसरे को जानते थे इसलिए जब हम पहली बार मिले तो एक-दूसरे के प्रति परिचय का भाव हम दोनों के मन में था। डा० सिनहा का व्यक्तित्व बहुत उन्मुक्त था जो उनकी निश्छल खुली हंसी में व्यक्त होता था। उनकी आंखों से, शिष्यों के लिए वात्सल्य रस और मित्रों के लिए सख्य रस झरता रहता था। तब वे रामकिशोर रोड पर रहती थीं। एक दिन मैंने मिलने का समय लिया। घर पहुंचा तो मंजू मिली। मंजू भी मां जैसी प्यारी और सरल। सावित्री जी कहीं गयी थीं किन्तु उन्हें याद था कि मैं अमुक समय पर उनके यहां पहुंचूंगा। वे कहीं से जल्दी-जल्दी आयीं। मंजू ने कहा—"मम्मी, यू आर लेट।" सावित्री जी भभाकर हंसीं और उस हंसी में सारा विलम्ब-बोध डूब गया। मेरी-उनकी यह पहली आत्मीय और अनौपचारिक भेंट थी। इसके बाद हमारे सम्बन्ध उत्तरोत्तर और गाढ़े तथा आत्मीय होते गये, पारिवारिक होते गये। उनका मेरे प्रति जो आत्मीय भाव था, उसी के तहत उन्होंने मंजू के शोध-कार्य के लिए मुझे निर्देशक बनाया। कुछ समय के बाद वे माडल टाउन में आ गयीं। फिर तो हम लोगों का प्रायः रोज साथ उठना-बैठना होता था। नगेन्द्र जी भी आ जाते थे। हम घूमने निकलते थे और नगेन्द्र जी तब एकदम अनौपचारिक मुद्रा में होते थे, हंसी-विनोद करते थे और तब लगता था कि ये नगेन्द्र जी कोई और नगेन्द्र जी हैं। सावित्री जी से सम्बन्धित म

जाने कितनी स्मृतियां मेरे भीतर अंटी हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक भी दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के स्तम्भों मे से है। वे इसके वरिष्ठतम सदस्य थे और अपने पांडित्य तथा लेखन द्वारा काफी यश पा चुके थे। मुझे याद है जब मैं डी० ए० वी० कालेज में नियुक्त होने के बाद पहली बार उनसे मिला तो वे बहुत सहज भाव मे मुझे बांहों मे भरकर मिले। उनकी पहली ही भेंट ने अपरिचय की दीवार गिरा दी। वास्तव में डा० स्नातक पुराने से लेकर नये तक सब कुछ पढ़ते थे और नये लेखको के बीच होने मे उन्हें सुख मिलता था। उनमे नगेन्द्र जी जैसी मुद्रा की गरिष्ठता नही थी, उनकी मुद्रा खुली हुई थी। बातें खुलकर करते थे। उनसे मिलने मे किसी को आतक अनुभव नही होता था।

अनुसधान परिषद् हिन्दी-विभाग की महत्त्वपूर्ण सस्था थी जिसे डा० नगेन्द्र के निर्देशन में डा० स्नातक और डा० रामस्वरूप सभालते थे। इस संस्था के तत्त्वावधान में न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण विचार-सगोष्ठिया हुई, कितने मूल्यवान लेख पढे गए। यह संस्था बहुत सक्रिय थी तथा इसकी गोष्ठियो म सदैव अच्छी-खासी उपस्थिति रहती थी। मुझे भी दो बार इसमे प्रपत्र पढने का काम सौंपा गया। इसकी वर्ष की पहली गोष्ठी परिचय-गोष्ठी हुआ करती थी। जिस साल आया उस साल की पहली गोष्ठी परिचय-गोष्ठी तो हुई ही, कवि-गोष्ठी भी बन गयी। यानी कुछ कवियो को कविता पढने के लिए आमंत्रित किया गया। मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता हुई कि मै यहा के लोगो के द्वारा कवि रूप मे अच्छी तरह जाना जाता हू इसलिए कविता पढने के लिए मुझसे बार-बार आग्रह किया जाने लगा। मैने प्रसन्न भाव स कविताए पढ़ी और यह देखकर बहुत सतोष हुआ कि वे कविताएं बहुत सराही गयी।

डा० ओम्प्रकाश इस विभाग मे वरिष्ठ रीडर थे और डा० नगेन्द्र के बहुत निकट थे किन्तु वे मेरे समवयस्क थे। उन्होने इस समवयस्कता के बोध को प्राथमिकता देकर मुझे स्नेह दिया। मुझे याद है दिल्ली आने के बाद जब मै पहली बार उनके आवास पर गया तो उन्होने बहुत प्रसन्नता अनुभव की और बहुत उल्लास से मुझसे मिले, खाना खिलाया और पूछा—"कालेज मे आपको कोई परेशानी तो नही है? मैंने वहा के प्राध्यापकों से कह दिया है कि इन्हे जूनियर मत समझना। किसी मजबूरीवश तुम्हारे कालेज मे चौथे स्थान पर आ गए है किन्तु हर दृष्टि स बहुत वरिष्ठ है। इस बात का ध्यान रखना।" मैं उनकी इस बात मे बहुत अभिभूत हुआ और उन्हें बताया "कि नही, वहां कोई परेशानी नही है। वहां के सारे प्राध्यापक मुझे बड़े भाई का-सा सम्मान देते है।"

डा० उदयभानु सिंह की डा० नगेन्द्र से टकराहट चल रही थी। डा० सिंह की निकटता प्राप्त नही हो पायी थी। जब मै एम० ए० क्लास लेने कला संकाय में जाने लगा तो कक्षा में आते-जाते कभी-कभी डा० सिंह से भेंट हो जाती थी। वे हालचाल पूछते थे और लिखने-पढ़ने सम्बन्धी बात चलती तो नगेन्द्र जी के प्रति उनका असंतोष और विद्रोह-भाव व्यक्त हो उठता था। डा० सिंह विभाग मे लगभग अकेले थे। यह टकराहट तो उनकी डा० नगेन्द्र से थी और उन व्यक्तियों से थी जिनके कारण नगेन्द्र जी

से उन्हे असतोष हुआ किन्तु विभाग के तमाम लोग डा० सिंह से मिलने से कतराते थे। डा० सिंह विद्वान् व्यक्ति हे और यशस्वी अध्यापक रहे है और जो अध्यापक डा० नगेन्द्र के छात्र रहे, वे उनके भी थे अतः सभी लोग भीतर-भीतर उनका सम्मान तो करते ही थे (कम से कम असम्मान करने का कोई व्यक्तिगत कारण नही था) किन्तु विभागीय वातावरण को देखते हुए लोग उनसे खुलकर मिलने से कतराते थे। किन्तु डा० सिंह अपनी अकेली यात्रा भी तनकर कर रहे थे। बाद मे तो वातावरण बहुत बदला और सम्बन्धो मे न जाने कितने परिवर्तन हो गये।

साध्य सस्थान मे डा० दशरथ ओझा प्रभारी थे। शुरू मे विशेष सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कई साल बाद मैं नियुक्त होकर साध्य सस्थान मे गया तो यह अवसर प्राप्त हुआ किन्तु आते जाते यहा-वहा मिलते-जुलते उनको कुछ जान गया था। डा० ओझा बहुत मधुर स्वभाव के व्यक्ति हैं। नये से नये आदमी से बहुत रसमय भाव से मिलते है और शहद घुले शब्दो मे उसके प्रति स्नेह झरते हुए ठहाका लगाते है। वे आपको और कुछ दे या न दे पहली ही भेंट मे एक सरस समय-खड तो दे ही देते है। उनके सदर आतिथ्य की कहानी ख्यात है। उनके व्यक्तित्व का यह जादू है कि दो विरोधी खेमो के लोग उनके यहाँ स्वागत है यानी वे दोनो के ही निकट होते है। खूब पैदल चलते है और आहार-व्यवहार मे बहुत सयत है, इसीलिए लोग उन्हे वर्षो से एक जैसा देख रहे है। डा० ओझा की रसमयी वाणी और मृदुल व्यवहार के नीचे अतर्निहित भाव-भूमि और वैचारिक यथार्थ के सबध मे लोग विभिन्न मत रखते है।

डा० सत्यदेव चौधरी से विभाग और माडल टाउन दोनो स्थानो पर भेंट होती थी। डा० चौधरी बहुत सहज और भोले व्यक्ति है। वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ है किन्तु उनके व्यवहार मे काव्यशास्त्र की गरिष्ठता नही है, कथा-साहित्य की निश्छल गति है। वे कट्टर आर्यसमाजी परिवार के है किन्तु उनमे सोच और व्यवहार की कट्टरता नही, लोच है। अपने छात्रो के साथ भी उनके सम्बन्ध बहुत अनौपचारिक किस्म के थे और मित्रो के सुख-दुःख मे वे गहरे साझीदार थे और है। एक बार मै बीमार पडा तो वे आये और मेरे मना करने पर भी पूरी देह देर तक दबाते रहे। ऐसे लोगो के सहज भोलेपन को विनोद का विषय बनाने वाले कम नहीं होते—क्लास मे भी और मित्रो के बीच भी। वैसे डा० चौधरी स्वय अपने ऊपर विनोद कर लेते है। डा० चौधरी का मुझे लम्बा साहचर्य ही नही, उनका गहरा स्नेह भी मिलता रहा।

57

दिल्ली आये हुए कई महीने हो गए किन्तु अभी राम नही आ रही थी। इसका एक कारण था, गुजरात के विपरीत यहा के लोगो का व्यवहार। गुजरात मे पड़ोसीपन की

उष्मा और मिठास के अनुभव के पश्चात् एकाएक दिल्ली के पडोसियों के ठंडे या विरोधी साहचर्य में आ जाने की पीडा पत्नी को बहुत आहत कर रही थी। अजीब-अजीब तरह के पडोसी मिले थे जो किसी के काम तो आते नही उलटे बात-बात में झगडा कर लेते हैं और बिना किसी जान-पहचान के आपकी कोई भी चीज मांगने चले आते हैं। पडोसियो का आपस मे बाधने वाली न जातीय एकता थी न प्रादेशिक एकता थी, न वैचारिक एकता थी भिन्न-भिन्न स्थानो के, भिन्न-भिन्न जातियो के, भिन्न-भिन्न पेशो के, भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार के लोग बिना किसी लय के एक भीड की तरह बसे हुए थे, मानो द्वीपो का समूह हो। छोटी-छोटी बात पर कोआगेर मच जाता था और बात की बात में हाथ उठ जाते थे। जबानी लडाइया गुजरात मे कम नहीं होती किन्तु मारपीट की नौबत वहा बहुत कम आती है। यहा तो बातचीत के साथ ही मार-पीट शुरू हो जाने के नजारे आम दीखते थे। इसलिए भय बना रहता था—विशेषतया लडको को लेकर कि पडोसियो से कोई शारीरिक टकराहट न हो जाए।

यहा के लडके भी अहमदाबाद के लडको की अपेक्षा लडाकू स्वभाव के थे अतः हमारे लडको को भी इस लडाई मे फसना पडता था और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लडना पडता था। प्रायः पीटकर या पिटकर घर आते थे। हम लोग इस परि-दृश्य से बहुत दुखी थे और चिंतित थे कि पता नही कब क्या हो जाए ?

मुझसे लडाई होने का कोई भय नही था क्योकि लडाई मेरी आदत नही। यदि देखता था कि कोई अकारण बदतमीज हुआ जा रहा है तो उससे शारीरिक रूप मे भिडने की बजाय उपेक्षा कर जाता था। यहा कौन किस बात पर आपसे बदतमीजी कर बैठेगा, पता नही चलता। एक बार मैं माडल टाउन से एस० चाद के यहा गया जो उस समय फौआरे पर था। जाते समय मैंने आजादपुर मे फुआरा जाने वाली बस को रास्ते मे देखा और मेरी बस (जो किसी और नम्बर की थी और स्टेशन तक की थी) उसे छोडकर आगे बढ गयी। मैं एस० चाद गया और चार-पाच मिनट बाद फौआरे के बस-स्टैंड पर आ गया और सोचने लगा कि पीछे छूटी हुई बस आ गई होगी या आ रही होगी। हम लोग स्टैंड पर खडे थे और बस का इतजार कर रहे थे। मेरे पास एक तदुरुस्त जवान आदमी खडा था। उसने कहा—"बस नही आ रही है।" मैंने कहा—"बस को आना चाहिए। मैंने रास्ते मे उसे छोडा है।" उसने सुन लिया। दो-तीन और व्यक्तियो ने यही कहा तो मैने उनसे भी यही बात कह दी। इस पर पहले वाला आदमी बिगड गया—"आप कोई खुदा है कि कह रहे हैं तो बस आ ही जाएगी।" मैं तो अचकचा गया। उससे बोला, "आप इस तरह क्यो बोल रहे है ? यह कौन-सा तरीका है बोलने का ?"

"और क्या, आप कब से एक ही बात दुहरा रहे हैं।"

"तो आपसे तो नही कह रहा हूं। मैंने बस को आते हुए देखा था सो कह रहा हू। आपको क्यो तीता लग रहा है ? अरे बोलने-बतियाने से समय की ऊब कम होती है।"

इस पर वह बौखला गया। बोला—"लड़ना चाहते हो तो आ जाओ।" और

वह अपनी आस्तीन चढ़ाने लगा।

"माफ कीजिए जनाब, मैं कोई पशु नही हूं कि सडको और चौराहो पर लडता चलू। आपको लडने की तडप हो तो अपने समान किसी को तलाशिए। आपको मेरी बात मे कष्ट हुआ हो तो मुझे खेद है।" वह आदमी फिर भी उत्तेजित रहा और अनाप-शनाप बोलता हुआ लडने के लिए खूद मारता रहा। एक दूसरा जवान आदमी पास मे ही खडा देख रहा था। वह पास सरक आया और उससे बोला—"ओय, तुझे लडने की हसरत हो तो मैं पूरी कर दू। ये शरीफ आदमी शराफत दिखा रहे है। तुझसे माफी भी माग ली और तू है कि सिर पर चढा जा रहा है। बोल, चढाऊ मैं भी आस्तीन ?" पहले वाले ने नये को आखो से तौला और सहमकर चुप हो गया और मुझे लगा कि अभी इसानियत मरी नही है। दूसरो की सहायता के लिए अभी भी लोग आ जाते हैं, चाहे वे अपरिचित ही क्यो न हो। दिल्ली मे अनेक बुरे अनुभवो से गुजरने के बाद एक अच्छे अनुभव मे गुजरने की स्थिति उमस के बीच हवा के एक ताजा झोके के समान राहत और शक्ति दे जाती थी।

दिल्ली के रास न आने का दूसरा कारण यहा की बेहद खराब यातायात-व्यवस्था थी। अहमदाबाद मे बस की व्यवस्था बहुत ही सुचारु थी। स्त्री, बच्चे, बूढे सभी सुरक्षापूर्वक यात्रा कर लेते है। किसी को न भागकर बस पकडनी पडती है और न किसी को हडबडी मे उतरते हुए गिरना पडता है। न यात्रियो की अराजकता होती है, न बस स्टैंड से आगे-पीछे रुकती है। न कडक्टर की बोली कान को छीलती है, न ड्राइवर की किन्तु दिल्ली मे एक तो बसें आती नही थी, आती थी तो लदी हुई और स्टैंड से आगे पीछे रुकती थी और आगे या पीछे दौडकर बस पकडनी पडती थी बल्कि लटकना पडता था और उतरते समय देह छिल जाती थी पत्नी अहमदाबाद से आयी-आयी थी। गुरुदेव हजारीप्रसाद द्विवेदी की बडी पुत्री इन्दुमती (पुतुल) और जामाता कैलाशपति ओझा श्रीराम कालेज आफ कामर्स के स्टाफ क्वार्टर मे रहते थे। मैं तो दिल्ली आने से पहले भी कई बार यहा जा चुका था किन्तु पत्नी को पहली बार जाना था। कह चुका हू कि वे पडित जी के परिवार मे बहुत ही हिली-मिली थी, एक तरह से उस परिवार का अग बन गयी थी अतः स्वाभाविक है कि दिल्ली आते ही पुतुल से मिलने का उछाह उनके मन मे होना। वैसे भी पुतुल मे एक सहज फक्कडपन है जो उसके आत्मीयो को बहुत सुखद लगता है। पुतुल में द्विवेदी की मस्ती है। उसकी बातचीत मे भी पंडित जी का फक्कडाना अदाज है। उसमे पडित जी की उदारता है और उन्ही की तरह दिखावे और व्यक्तिगत साज-सज्जा के प्रति अनाकर्षण और सहज सादगी है। कैलाश जी भी बहुत प्रिय व्यक्ति हैं। घर आये व्यक्तियों के प्रति उनका स्नेह-सद्भाव देखते ही बनता है। कुछ घरों मे जाइए तो पत्नी सत्कार करेगी, पति ठडा रहेगा और कुछ घरों में इसका उलटा होगा। कुछ ही घर ऐसे होते है जहां पति-पत्नी दोनों बल्कि बच्चे भी आने वाले के लिए अपने सद्भाव मे उष्म होते हैं। कैलाश जी का घर ऐसा ही है।

हां, तो पत्नी ने दिल्ली आते ही पुतुल के यहां चलने का प्रस्ताव रखा। हम गये।

माडल टाउन से मौरिस नगर है ही कितनी दूर, लेकिन वहा से लौटकर पत्नी ने कसम खायी थी कि अब मैं दिल्ली मे बस से नही जाऊगी।

लम्बी प्रतीक्षा के बाद भी बच्चो के साथ भागकर बस पर चढना, अनियन्त्रित भीड मे पिसना और उतरने के लिए फूहड सघर्ष मे गुजरना और फिर लौटते समय इसी क्रम से गुजरना यह पत्नी का पहला बस-अनुभव था। लौटने के बाद तो वे थकान और खीझ के बोझ मे लदी थीं और प्रतिज्ञा की थी कि बस मे नही जाऊगी। जाऊगी तो टैक्सी या स्कूटर मे। किन्तु उनकी प्रतिज्ञा कोई राजा रामचन्द्र की प्रतिज्ञा तो थी नही, मध्यवर्ग की एक सामान्य गृहिणी की थी जो आवश्यकताओ के बोझ से दबकर सौ-सौ बार टूटती है। शुरू मे ही वे घर का सारा काम देखती रही है—सारा बाजार वे ही करती हैं। यदि वे टैक्सी या स्कूटर मे बाजार करने लगी तो चल चुकी गृहस्थी। और वक्त पडने पर टैक्सी और स्कूटर कहा मिलते है ? कुछ दिनो बाद हम लोग अम्बा पिक्चर हाउस पर पिक्चर देखने गए। बच्चो के साथ बस पकडना आसान तो नही था। बसे छूटने लगी फिर टैक्सी और स्कूटर की खोज होने लगी। बस भरी-भरी आती थी। जो खाली भी दिखाई पडती थी उनके ड्राइवर सीधे तने हुए निकल जाते थे। न जाने उन्हे खाली गाडी लेकर कहा पहुचने की जल्दी थी। बच्चे गर्मी और प्यास मे बिलबिला रहे थे। फिर याद नही किस माध्यम से घर लौटे। घर लौटकर मैंने पूछा, "अब ? आज तो मैंने टैक्सी और स्कूटर मे यात्रा की तुम्हे छूट दे दी थी।"

पत्नी बडबडाई, "यह शहर भी कमबख्त कोई शहर है, जहा घर से निकलना मुश्किल है।" पर निकलना तो था ही। कुछ दिन बीते होगे। पत्नी को कुछ खरीदने के लिए लालकिला जाना पडा। मैं कही और गया था। उन दिनो कुछ जगहे ऐसी थी जहा से बस मिलना भगवान् मिलने से भी कठिन था। लालकिला उन सभी जगहो मे शीर्षस्थ था। बसो की स्थिति तो दयनीय थी ही, लालकिले पर तरह-तरह के लोगो की अपार भीड होती थी। जरायमपेशे के लोग भी इस भीड मे होते थे। सबसे अधिक जेबे यहा कटती थी। गुडई यहा होती थी, औरतो से छेड-छाड यहा होती थी। उस दिन जब देर से घर पहुचा तो पत्नी लालकिले से लौट आयी थी। मालूम पडा अभी-अभी आयी है। वे बदहवास-सी लगी। पूछा—"क्या बात है, इतनी देर से क्यो आयी ?"

"आ गयी यही गनीमत समझिए। मुझे तो लगा कि आज पहुचूगी ही नही।" देखा उनकी आखो मे दहशत की एक गहरी छाया थी और वे बहुत अव्यवस्थित-सी लग रही थी।

"क्या बात है ?"

फिर उन्होने जो किस्सा सुनाया वह वास्तव मे बहुत विचलनकारी था। उन्होने बताया।

किसी भी कदर बस नही मिली। काफी देर-देर से कुछ बसे आयी तो उनमे चढ़ पाना मेरे लिए सभव नही था। समय बीतता जा रहा था। शाम गहराती जा रही थी। स्कूटर भी खाली नही मिलते थे। जो खाली दीखते थे वे आने के मूड मे नही होते थे। मेरे पास एक बूढी औरत खड़ी थी। उसने पूछा, "कहा जाना है ?"

"माडल टाउन।"

"मुझे भी उधर ही चलना है। हम दोनों मिलकर कोई स्कूटर कर लेते है।" आखिर एक सरदार जी तैयार हो गए। मैं स्कूटर में बैठी तो वह बूढ़ी भी बगल में आकर बैठ गयी। उस बूढ़ी के लड़के ने उस बूढ़ी से कुछ खुसुर-पुसुर किया।

सरदार जी ने मुझसे पूछा—"यह औरत आपके साथ है ?"

"नही।"

सरदार जी ने बूढ़ी औरत से कहा—"आप उतरिए।"

"अरे, क्या हो गया ? ले चलिए न, बेचारी बूढ़ी औरत है। क्यों उतार रहे है ?"

"आप चुप रहिए।" उसने मुझे डाटा।

बूढ़ी का लडका भी झगडने लगा—"ले क्यों नही जाते ?"

"मैं नहीं ले जाऊंगा, आप उतरिये। नही पुलिस को बुलाऊंगा।" वह औरत उतर गयी। मैं भी उतरने लगी तो सरदार ने मेरा हाथ पकड़कर डपटकर कहा—"तुम बैठो।" उसकी आखो मे आग झर रही थी। देखकर मैं काप गयी। उसने बहुत तेजी मे स्कूटर हांका। मै तो बुरी तरह डर गयी। बैठी-बैठी कांपने लगी। धड़कन बुरी तरह बढ़ गयी। सरदार एकदम तेजी से स्कूटर भगाता हुआ जा रहा था। बीच मे कोई पुलिसवाला मिलता था तो दो-तीन सेकंड के लिए स्कूटर रोककर उससे कुछ कहता था, फिर भगा ले चलता था। बदहवासी मे मुझे तो याद ही नही रहा कि कहा जा रही हूं ?

"हा, बहन जी, अब रास्ता बताइए, किधर चलना है ?"

मैंने चौंककर देखा माडल टाउन आ गया था। थोड़ी जान मे जान आयी।

घर के सामने जब स्कूटर से उतरी तो सरदार जी बोले—"माफ करना बहन जी, मैंने आपके साथ कुछ बेअदबी की हो तो। आप मेरी छोटी बहन है। आज आप उस बूढ़ी औरत के फंदे मे फस गयी होती। वे ठग थे। रास्ते मे उनका गैंग होगा। वे उसी बूढ़ी को उतारने के बहाने आपको भी लूटते और मुझे भी। अब आप कान पकड़िए कि किसी अनजान आदमी के साथ स्कूटर या टैक्सी मे नही बैठेगी।"

वही सरदार जो मुझे डरावना लग रहा था, फरिश्ता लगने लगा। उसने पैसे भी नही लिये। मेरे बार-बार के आग्रह के बावजूद उसने पैसे नही लिए। बोला—"छोटी बहन से पैसे कैसे लेना ?"

"चलो, अंत भला सो भला। अब प्रकृतिस्थ हो जाओ।"

58

मुझे दिल्ली आये साल-भर हो गया था। अगस्त में स्मिता का जन्म हुआ।

सितम्बर का महीना आ गया। भारत पर पाकिस्तान ने आक्रमण कर दिया। अभी लोग चीनी आक्रमण के हादसे से उबरे नहीं थे कि यह पाकिस्तान का आक्रमण !

पता नही पाकिस्तान ने भारत को क्या समझा कि युद्ध घोषित कर दिया। शायद उसे चीनी हमले के समय भारत की सैन्य शक्ति की कमजोरी का पता चल गया था और उसे अमेरिका से अभेद्य समझे जाने वाले पैटन टैंक मिल जाने के कारण अपनी शक्ति पर ज्यादा विश्वास हो गया था। किन्तु उसे पता नही था कि चीनी हमले के समय भारत की पराजय भारत की पराजय नही थी, मैत्री के विश्वास की पराजय थी और विश्वास-भग के बाद शाति के कबूतरो के स्थान पर या उसके साथ-साथ शक्ति की फसल उगायी जाने लगी। नेहरू जी के लाल गुलाब मे बसी सौन्दर्य की सुगंध के स्थान पर लालबहादुर शास्त्री के किसानो और जवानो के पसीने की शक्ति की महक झर रही थी। लालबहादुर शास्त्री ने 'जय जवान जय किसान' का नारा दिया और उन्होंने समूचे देश की बुनियादी शक्तियो को सघटित कर उन्हे ठोस बना दिया। इसलिए पाकिस्तानी हमले के समय देश काफी बदल चुका था। इसका अहसास पाकिस्तान को नही था। रहा होता तो हमला करने की जुर्रत न करता।

बहरहाल हमला कर ही दिया तो युद्ध छिड गया। जाहिर है शत्रुओ के हमले का सबसे बडा निशाना राजधानी होती है। राजधानी मे भी वे जगहे जो सुरक्षा की दृष्टि मे बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। विजय किसी की हो, युद्ध की प्रक्रिया मे दोनो ओर के लोग मारे जाते हैं। माडल टाउन के पास रेडियो ट्रासमीटर के ऊचे-ऊचे खम्भे लगे हुए हैं जिन पर लाल-लाल रोशनिया चमकती रहती है। इसे लेकर हम लोगो को अतिरिक्त भय था। दूसरी बात यह थी कि माडल टाउन के पीछे दूर तक सुनसान था। ऊची-ऊची घास थी, ताल का ऊचा-नीचा स्तर था, फिर बाग था, फिर खेत थे। यह डर भी था कि पाकिस्तानी जासूस आसानी मे इस सुनसान मे छतरी से उतर सकते है, छिप सकते हैं, विचर सकते हैं और मौका देखकर कही भी बम डाल सकते है। रह-रहकर अफवाहे भी आ रही थी—यहा ऐसा जासूस पकडा गया, वहा वैसा जासूस पकडा गया, वहा बम गिराया गया है, वहा गोली चल गयी, वहा आग लग गयी। इन अफवाहो मे दहशत और बढ जाती थी।

ब्लैक आउट चल रहा था। रातो को सारी रोशनिया गुल हो जाती थी। रेडियो से घोषणा होती थी कि लोग रात को अपने घरो की रोशनिया बाहर न आने दे। खिडकियो पर प्रकाश-अवरोधक कागज चिपका दे। अच्छा हो, रोशनी न जलाए। मोहल्ले के लोग घूम-घूमकर निगरानी करते थे कि कही रोशनी बाहर तो नही आ रही है। यदि कही आती दीखती तो हल्ला करते—"रोशनी बन्द करो।" कही-कही झगडा भी हो जाता।

मोहल्ले के कई-कई लोग बारी-बारी से रातो को पहरा देते। एक दिन मेरी भी बारी आयी। निकल पडा। सितम्बर की अंधेरी रात मे निकलने का अवसर मिला था। शहर मे तो कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की रात का अन्तर मिट-सा ही गया है। देहात मे कृष्ण पक्ष की सुनसान काली रात सो भी बरसात की रात की झनझनाहट का अनुभव मेरे लिए विस्मृत-सा हो गया था। वह अनुभव फिर ताजा हो आया था। प्रकाशविहीन रात के सन्नाटे में हम सात-आठ व्यक्ति लाठी लिए घूम रहे थे, झींगुरों की झन्नाहट

रात को और भयावह बना रही थी और सबसे अधिक भयावह बना रही थी इस रात में कहीं भी कुछ घटित हो जाने की आशंका। हम लाठी पीटते पहरा दे रहे थे। घूम-घामकर खुले पार्क में बैठ जाते थे, गपशप करने लगते थे, इस बीच कहीं से कोई आवाज आती तो चौंक जाते, उठ खड़े होते, लगता कि सुनसान क्षेत्र में किसी पाकिस्तानी जासूस ने कुछ तोड़-फोड़ की है। हम वीरों की तरह छाती फुलाये हुए लाठी ठकठकाते हुए सावधान हो जाते किन्तु सच बात तो यह कि भीतर-भीतर दहल जाते। एक-दूसरे को जाग्रत् करते हुए भीतर-भीतर भयभीत रहते।

रोज सायरन बजता था। सायरन खतरे का सूचक था। सायरन बजते ही लोग अपने-अपने घरों की गैलरियों मे दुबक जाते। सांस टंग जाती। जैसे ही खतरा टलने की सूचना देने वाला सायरन बजता सांस नीचे आ जाती और प्रकृतिस्थ होकर अपने-अपने कमरों में पहुंच जाते। हम पहरा दे रहे थे कि सायरन बज उठा।

शास्त्री जी का दिया हुआ 'जय जवान जय किसान' का नारा वातावरण में व्याप्त हो रहा था और देश में नयी स्फूर्ति भर रहा था। देश की अपनी जमीन से उगने वाले छोटे शरीर के इस नेता का कद कितना बड़ा है यह देश ने उसके छोटे से प्रशासन काल में और इस सकट की घड़ी में पहचान लिया था। इस देश की शक्ति है किसान, इसे किसान-संस्कार का नेता ही अनुभव कर सकता है और वह यह भी जानता है कि सेना में भरती होने वाले ये सिपाही (जवान) किसानों के घरों से ही आते है। एक ही परिवार देश के लिए दो मोर्चों पर लड़ता है—एक खेती के मोर्चे पर, एक सीमा के मोर्चे पर। देश का यह सामान्य आदमी ही देश की ताकत है—समाज, सेना और अन्यान्य क्षेत्रो में ऊंचाई पर टंगे हुए बड़े-बड़े लोग नहीं। वे तो सामान्य जन के श्रम के उपभोक्ता है। इस सामान्य जन की अपनी देशी भाषा है —उसके खून-पसीने, सुख-दुःख, स्वप्नों और आशकाओं से सनी अपनी भाषा। वह भाषा उनकी अस्मिता है, उनकी ताकत है, उनका अतीत है—वर्तमान है, भविष्य है। लेकिन परोपजीवी वर्ग इस वर्ग के श्रम का उपभोग करते हुए उनकी भाषा का अपमान करता है। जमान से न सटने वाली अंगरेजी भाषा को मूल्यवान समझता है। यह अपमान उपभोग करने के लिए ही करता है। जिस दिन इस भाषा को सम्मान मिल जायेगा उसी दिन इस परोपजीवी वर्ग का ठाट ढह जायेगा और अगरेजी मे आरोपित मूल्यवत्ता का अता-पता नहीं चलेगा। शास्त्री जी के आने से आशा वंधी थी कि 'जय जवान जय किसान' के साथ-साथ आज नही तो कल उसकी अपनी भाषा की भी जय बोली जायेगी। यानी जयहोगी। शास्त्री जी की आम आदमी की इस पकड़ ने देश के वातावरण मे शक्ति का संचार कर दिया।

चीनी हमले ने देश की जनता को एकता के भाव से स्पंदित कर दिया था। यद्यपि उस समय उत्साहित होने के लिए हमारे पास ठोस कुछ नहीं था। सीमा पर क्या हो रहा है, हमारी सैनिक शक्ति कितनी है इसका सही भान आम जनता को नहीं था। जब नेहरू जी ने आवेश में कहा था कि सीमा पर चीनी सैनिक चढ़ आये है, मैंने अपनी सेना से कहा है कि उन्हें मार भगायें तो जनता को ठीक पता नहीं था कि हमारे

सैनिक उन्हें भगाने में सक्षम हैं कि नहीं। लोगों में एक वायवीय जोश था। जब यशवंतराव चह्वाण रक्षामंत्री बनाकर बुलाये गये तब लोगों को लगा कि बहुत बड़ी बात हो गयी। चह्वाण कोई करिश्मा कर देंगे। हमारे कवियों ने कवितायें लिखीं जिनमें पृथ्वीराज चौहान की वीर-परम्परा में इस चह्वाण को देखा गया। दिनकर ने भूषण के अंदाज में एक कविता लिखी जिसकी आखिरी पंक्ति शायद थी 'त्यों मलेच्छ चीन पर वीर चह्वाण है ।'

देशवासियों में अपूर्व जागरण था। लोग अपने राजनीतिक भेदभाव भुलाकर देश के लिए एकजुट कार्य करने लगे। किन्तु उनका वायवीय जोश शीघ्र ही टूटने लगा। अपने सैनिकों की मौतें (जिन्हें कुरबानी नाम दिया गया) और असफलतायें सामने आने लगीं। हमारे सैनिक मारे गये, खो गये, बंदी बनाये गये। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बातचीत मे बड़ी पीड़ा से कहा कि काश, हमारी सेना ने नमूने के ही तौर पर किसी चीनी सैनिक को बंदी बनाया होता। नेहरू जी भी बहुत टूटे, देश का मनोबल टूटा। हां, चीन-समर्थक हमारे एक राजनीतिक दल को कष्ट नहीं हुआ क्योंकि उसकी दृष्टि में चीन हमलावर हो ही नहीं सकता। उनके लिए वह फरिश्ता देश है। जो कुछ खोट है अपने ही देश में है।

लेकिन इस पराजय ने देश को जगा दिया और ढाई-तीन वर्षों मे ही देश की शक्ति संघटित हो गयी। हमारा देश कमजोर तो है नहीं, चीन ने तो दोस्ती के नाम पर उसकी पीठ में छुरा मारा था। विश्वासघात का छुरा खाकर देश सचेत हो गया और ठोस सैन्य शक्ति से सम्पन्न हो गया। उसकी शांति-कामना, पचशील के सिद्धान्त गुलाब, कबूतर आदि ज्यों के त्यों रहे किन्तु अब ये हवाई नहीं रहे, ठोस शक्ति से संवलित हो गये। पाकिस्तानी हमले के समय भी देश में अद्भुत जागृति थी और सारे राजनीतिक दल भेदभाव भुलाकर एक हो गये थे और जनता विभिन्न मोर्चों पर मुस्तैदी से लड़ रही थी किन्तु इस बार सबको विश्वास था कि हमारी सुरक्षा-शक्ति ठोस है, सुदृढ़ है। इस विश्वास से उनकी चेतना में एक चमक आ गयी थी।

किन्तु व्यापारियों का वर्ग ऐसा है जो किसी भी अवसर को भुनाये बिना नहीं छोड़ता। बड़े-बड़े देशों और समाजों को निगल लेने वाले बड़े व्यापारियों की माया तो अबूझ होती है। उसे समझना मेरे बूते की बात नहीं किन्तु छोटे-छोटे व्यापारियों से अपना काम पड़ता रहता है। इसलिए उनकी छोटी-छोटी अमानवीय लीलायें अनुभव मे उतरती रहती हैं। मिट्टी का तेल, चीनी, पावरोटी आदि न जाने कितनी छोटी-छोटी चीजें है जो हमारे दैनिक जीवन की गहरी जरूरतें है। ये व्यापारी इन्हे जमा करके चोर-बाजारी करने की कोशिश में जुट जाते है। इन दिनों भी जुट गये थे। कितनी वितृष्णा होती है इस वर्ग की इन हरकतों से। एक ओर तमाम लोग देश की सुरक्षा के लिए बाहरी-भीतरी मोर्चे पर डटे हुए, त्याग की भावभूमि पर उतरे हुए है, दूसरी ओर यह वर्ग देश की विपत्ति को भुनाने मे रस ले रहा है।

कहा जा चुका है कि अफवाहों का बाजार गर्म था। बार-बार रेडियो पर ऐलान होता था कि अफवाहों पर ध्यान न दें। ये अफवाहे हमें उत्तेजित भी करती थी,

आशंकित भी। कभी-कभी साम्प्रदायिक जोश भी उभारती थीं क्योंकि ये अफवाहें कुछ मुसलमानों को पाकिस्तानी समर्थक बताकर कुछ घटनाएं उछाल देती थी। इस समय दाढी रखना भी खतरनाक हो गया था। बसों मे आते-जाते लोग ऐसे लोगों को पाकिस्तानी जासूस समझ लेते थे।

युद्ध के समाचार लगातार आ रहे थे। पाकिस्तानी पैटन टैंक हौआ बना हुआ था। एक दिन एक समाचार ने पूरे देश को उल्लसित कर दिया। मालूम पडा कि एक सिपाही हमीद ने पैटन टैंक का भेदन कर दिया। लेकिन इस उल्लासमय समाचार के साथ-साथ यह दर्दनाक खबर भी आयी कि हमीद शहीद हो गया। शास्त्री जी ने जय जवान कहकर सिपाही की जिस शक्ति का सम्मान किया था, हमीद वह शक्ति साबित हुआ। उस सिपाही ने अभेद्य पैटन टैंक का नही, पूरे भारत के भय का भेदन कर दिया, पाकिस्तानी शक्ति का भ्रम तोड दिया और जब ज्ञान हो गया कि पैटन टैंक भेद्य है तब तो भारतीय सैनिकों के लिए वह खिलौना हो गया। पटापट टूटने लगा और पाकिस्तान की आयातित शक्ति छितराकर रह गयी।

उन्हीं दिनों फिर गुजरात विश्वविद्यालय से आमंत्रण आया पाठ्यपुस्तक-समिति की बैठक का। अहमदाबाद जाने का बहुत मन हो रहा था किन्तु प्रिंसिपल चोपडा वहां जाने नहीं दे रहे थे। मैंने डा० नगेन्द्र से कहा। डाक्टर साहब ने प्रिंसिपल चोपडा को फोन पर कहा —"इन्हें जाने क्यों नहीं देते? आपके कालेज में नियुक्त कर दिया है तो क्या गिरमिट लिखा दिया है। आपको गौरव का अनुभव करना चाहिए कि आपके कालेज के लोग इस तरह की समितियों के सदस्य है।"

प्रिंसिपल चोपडा नगेन्द्र जी का क्या प्रतिवाद करते? इतना ही कहा—"नहीं डाक्टर साहब और कोई बात नही, काम का हर्ज होता है।"

"यह भी काम का ही एक हिस्सा है। यदि लोग सहयोग नही करेंगे तो विश्वविद्यालयों का काम कैसे चलेगा?"

डाक्टर साहब शाम को मेरे घर आये तो इस बातचीत की सूचना दी और कहा कि अब वे मना नही करेंगे किन्तु एक बार पूछ लेना।

अब कौन पूछता है। मैंने आफिस मे आवेदनपत्र फेंका और चल पडा अहमदाबाद की ओर। अहमदाबाद मेल 10 बजे रात को छूटती है। ब्लैक आउट के दिन थे। स्टेशन पर भीतर की ओर बहुत मंद-मंद रोशनी थी। मैंने टार्च ले रखा था। किसी तरह अपनी बर्थ खोज-खाजकर उस पर अपने को जमाया।

यह अद्भुत अनुभव था। बाहर अंधेरे का सैलाब, गाडी के भीतर प्रकाश गुम और गाडी चली जा रही है जैसे अंधेरे के सागर मे अंधेरे का एक द्वीप भागा जा रहा हो। स्टेशनो पर भी भीतर भीतर हलका-हलका कामचलाऊ प्रकाश था। वैसे तो गाडी को बनी-बनाई लाइन पर चलना होता है, बिना प्रकाश के भी यानी आंख मूंदकर चल सकती है किन्तु कहीं किसी ने लाइन उखाड़ दी हो तो? कहीं और व्यवधान आ गया हो तो? यह डर बार-बार बेचैन कर देता था किन्तु कुछ देर बाद सो गया। सोने में क्या अंधकार, क्या प्रकाश?

रात बीती, दिन बीता, शाम हुई। अहमदाबाद नजदीक आने लगा लेकिन वहां पहुंचते-पहुंचते नौ बज गये थे यानी फिर अंधकार गहरा गया था। मैं उतरा। एक स्कूटर पकड़ा। स्कूटर वालों ने अपने प्रकाश को हरे-हरे कागजों से बांध रखा था। काम-चलाऊ प्रकाश तो हो किन्तु उसकी चमक ऊपर दिखाई न पड़े। सड़कों पर चलते हुए स्कूटर, टैक्सियां, कारें आदि अंधकार में जुगनू की तरह लग रहे थे और लगता था कि सड़कें जुगनुओं से भरी हुई है।

गुजरात विद्यापीठ में रघुवीर चौधरी रहते थे। उन्हीं के यहां ठहरना था। विद्यापीठ के गेट पर ही अनेक छात्र लाठी लिए पहरा दे रहे थे। मुझे देखते ही लपके, कौन हैं आप ? कौन हैं आप ? मैंने अपना परिचय दिया और गंतव्य बताया तो उनमें से एक छात्र मुझे साथ लेकर रघुवीर चौधरी के मकान के नीचे तक छोड़ आया। अंधेरे में सीढ़ियां टटोलता ऊपर पहुंचा, रघुवीर के कमरे पर दस्तक दी।

"कौन ?" आवाज आयी।

"खोलिये।" शायद उन्होंने मेरी आवाज पहचान ली और लपककर कमरा खोल दिया।

"आप सर ! आइये-आइये। बहुत अच्छा लगा, इस अंधेरे में आप आये।"

उन्होंने अपने कमरे के आगे खुली अगासी में बिस्तर लगा रखा था। वहीं बैठा। उन्होंने कहा—"न्यूज सुनते है।" और ज्यों ही रेडियो खोला, समाचार की पहली पंक्ति सुनाई पड़ी—गुजरात के मुख्यमंत्री बलवंतराय मेहता का विमान पाकिस्तानी विमानों ने मार गिराया।

"हे ईश्वर, यह क्या हुआ ?" हम दोनों के मुह से फूटा। समाचार ने विस्तार से बताया कि बलवंतराय मेहता पर्यवेक्षण के लिए गये थे। हालांकि उनका जहाज नागरिक था और अपनी सीमा में था किन्तु पाकिस्तानियों ने उसका पीछा किया, उस पर प्रहार किये। विमान चालक ने बचाने की कोशिश मे काफी पैंतरे बदले किन्तु पाकिस्तानी प्रहार की पकड़ में आ ही गया।

यह बहुत बर्बर कार्य था। अलड़ाकू विमान को मार गिराना कायरता की निशानी है। लोग क्षुब्ध थे, दुखी थे। बलवंतराय मेहता बहुत प्रिय और योग्य मुख्यमंत्री थे। उनके मरने और इस तरह से मरने के समाचार से गुजरात और पूरा देश हिल गया था और लग रहा था कि भारतीय सेना प्रतिशोध मे कुछ करेगी। अगले दो-तीन दिनों में ज्ञात हो गया कि वायुसेना के बहादुरों ने पाकिस्तान के कई सैनिक ठिकानों की अच्छी खोज-खबर ली है।

हिन्दी पाठ्यक्रम-समिति की बैठक तो अब कहां होनी थी ? पूरे राज्य में कई दिन का शोक मनाया गया। मैं दो-तीन दिन रहा। उमाशंकर जी से मिला। अब वे गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति हो गये थे। वे चाहे कुछ भी हो जायें, कवि ही रहेंगे। मैं कवि उमाशंकर से ही मिला। सेंट जेवियर्स कालेज गया, पुराने सहकर्मियो से मिला। नगर के अपने शिष्यों और मित्रों से मिला। बहुत स्फूर्ति और ताजगी मिली। लौटा तो एक गहरी तृप्ति का अनुभव कर रहा था।

59

युद्ध में अपने देश की कामना का भाव स्वाभाविक है और यह भी स्वाभाविक है कि अपने देश के पक्ष को सही समझा जाए किन्तु आज का समझदार और संवेदनशील नागरिक युद्ध के प्रसंग को इतने सरल रूप में नहीं स्वीकार पाता। देशों की राजनीति इतनी जटिल हो गयी है कि कौन देश सही है, कौन गलत, इसका सही निर्णय सरल नहीं होता। देशों के राजनेता जब आंतरिक समस्याओं को नही सुलझा पाते या अपनी अप्रक्रियाओं से बदनाम होने लगते हैं और विरोधी दलों तथा जनता से परेशान हो जाते हैं तो सबका ध्यान बंटाने के लिए बाहरी आक्रमण का भय दिखाते हैं और एक दिन टकरा जाते हैं। विरोधी दल इस बात को समझते हैं किन्तु देश के साथ हो लेने की विवशता से वे विरोध नहीं कर पाते। यह ऐसा उन्माद का क्षण होता है कि कोई भी अपने देश की हरकतों का विरोध नहीं कर पाता। विरोध करके जनता मे बदनाम होता है, राष्ट्र-विरोधी होने का लांछन सहता है। अत: समझदार लोग युद्ध की मानवीय विभीषिका का अनुभव करते हुए भी राष्ट्रवादी होने की नियति झेलते हैं। एक कवि होते हैं जो चारणों की परम्परा के होते है, जो स्थितियों को समझे बगैर हर अवसर पर सस्ते सपाट स्वर में घटिया राष्ट्रवादी कविताए लिखते है, मंचों पर गाते हैं और पैसा पाते है। इनमे किसी भी अवसर पर किसी के पक्ष में पैसा देकर गवा लीजिए। ये शब्द-व्यापारी हैं, शब्दों का आचरण नही करते, उन्हें भुनाते हैं। युद्ध के समय ऐसे कवि कुत्तों की तरह गली-गली भूंकते नजर आते हैं लेकिन कविता के लिए खतरे नही उठाते। इस प्रसंग में दो घटनाएं याद आ रही है। पहली घटना कुछ पहले की है। कुछ वीर रस के कवि ग्वालियर मे आयोजित एक वीर रस कवि-सम्मेलन में भाग लेने बस द्वारा जा रहे थे। रास्ते में डाकू मानसिंह के गिरोह ने उस बस को घेर लिया। शेष जनता तो जो थी वह थी लेकिन कवि लोग अपनी-अपनी धोतियां या पेंट गीली करते हुए घिघिया रहे थे—"अरे भाई हम तो कवि है। ग्वालियर जा रहे हैं कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए।" मानसिंह टहलता हुआ उधर आया और अपने आदमियो से पूछा—"क्या बात है ?"

"सरदार, ये सब कह रहे हैं कि ये कवी हैं।" मानसिंह ने बड़ी हिकारत से कहा—"अरे छोड़ो-छोड़ो, इन मच्छरों को कहां पकड़ लिया।" और उन्हें भगा दिया और वे राष्ट्रीय चेतना के वीर रस के कवि भाग खड़े हुए, बिना इस बात की चिंता किये हुए कि शेष लोगों का क्या होगा ?

दूसरी घटना है पाकिस्तानी आक्रमण के समय की। वीर रस का कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया। उसमें लालबहादुर शास्त्री को भी बुलाया गया। उन्होंने कवियों से हंसकर कहा—"आप वीर रस के कवि हैं तो यहां क्या कर रहे हैं ? सीमा पर जाकर अपने सिपाहियों में जोश भरिये।" उन्होंने कितनी बड़ी बात कह दी थी। जैसे उन्होंने इन भांड जैसे वीर रस के कवियों की चुटकी ली हो—हिम्मत हो तो वहां जाओ जहां जवान बिना तुम्हारी कविता के जोश में भरकर देश के लिए कुरबान हो रहे हैं। वे आचरण कर रहे हैं और तुम शब्दों की भड़ैती कर रहे हो।

सच्चे कवि के लिए युद्ध एक सार्वभौम समस्या है। उसकी यातना किसी देश की नहीं मानव-मात्र की यातना है। वह जानता है कि किसी देश का आम आदमी दूसरे देश के आम आदमी से लड़ना नहीं चाहता, वह शांत रहकर अपनी रोजी-रोटी कमाना चाहता है, संस्कृति और कला का विकास करना चाहता है। अपनी असफलताओं से ग्रस्त और महत्त्वाकांक्षाओं से पीड़ित नेता लोग आम आदमी को युद्ध में लिप्त होने के लिए अभिशप्त करते हैं। आदमी यहां मरता हो या वहां, उसकी बीवी विधवा होती है, बच्चे अनाथ होते हैं, बुजुर्ग मां-बाप निराश्रित हो जाते हैं। हर जगह आदमी के शरीर में खून ही बहता है, जिसका रंग लाल होता है। हर जगह कला, संस्कृति और मानव-मूल्य टुकड़े-टुकड़े होकर छितरा जाते हैं। सच्चे साहित्यकार की चिंता देश के साथ-साथ अखिल मानवता की होती है। उसकी संवेदना में मनुष्य मात्र का दर्द बजता है इसलिए जब युद्ध होते हैं तो वह मस्ती ललकारें नहीं उछालता, चुप होकर अपने नागरिक-कार्य करता है और एक बड़े त्रासद अनुभव से गुजरकर युद्ध के बुनियादी प्रश्न पर विचार करता है। युद्ध और शांति की पारस्परिक टकराहटों के जटिल यथार्थ को उभारता हुआ शांति के पक्ष में मनुष्य को प्रेरित करता है। हिन्दी में 'कुरुक्षेत्र', 'अंधायुग', 'उन्मुक्त' और न जाने कितने छोटे-बड़े सार्थक प्रयत्न हुए हैं किन्तु ये उत्तेजनाओं के रूप में तत्काल नहीं होते। इनके लिए लेखक न जाने अनुभव और चिन्तन की कितनी गहरी पर्तों से गुजरता है।

बहरहाल इसे मेरी समझदारी कहिए या राष्ट्रमोह, यह बात आसानी से कह सकता हूं कि भारत हमलावर देश नहीं है। सभी जानते हैं कि भारत ने चीन पर नहीं, चीन ने भारत पर धोखे से हमला किया और अब जंग का ऐलान भारत ने नहीं, पाकिस्तान ने किया।

हम जैसे लोगों की स्थिति विचित्र होती है। दुविधाग्रस्त होती है। इस या उस देश के तमाम लोग निर्द्वन्द्व भाव से अपने देश की चिंता करते हैं और उन्हें मनुष्य के मरने की चिंता नहीं होती है, केवल अपने देश के सिपाहियों के मरने की चिंता होती है। दूसरे देश का समूचा नाश हो जाये तो उनकी खुशी की पराकाष्ठा नहीं होती। किंतु मानवीय संवेदना और सोच वाले एक ओर अपने देश की चिंता करते हैं, दूसरी ओर समग्र मनुष्यता की। वे चाहते हैं युद्ध बंद हो। दोनों देशों में शांति और भाईचारापन स्थापित हो।

लालबहादुर शास्त्री नेता थे किन्तु उनकी सोच मनुष्य की थी। वे युद्ध नहीं चाहते थे। वे अभी-अभी तो प्रधानमंत्री बने थे। उन्हें अभी देश के लिए बहुत कुछ रचनात्मक कार्य करने थे और अभी तो वे जनता में लगातार उठ रहे थे अपनी असफलता छिपाकर जनता को युद्ध की ओर धकेलने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इस नये छोटे कद के नेता की शक्ति का अवमूल्यन कर पाकिस्तान ने भारत से टकराने का यह सही अवसर समझा। सच बात तो यह है कि शुरू-शुरू में अपने देश ने भी शास्त्री जी की शक्ति का अवमूल्यन किया था। नेहरू जैसे विराट् स्तम्भ के बाद लालबहादुर जैसे सामान्य व्यक्ति का प्रधानमंत्री बनना लोगों को विचित्र लगा। लोग मजाक करते थे, यह लघु मानव क्या

करेगा ? किन्तु शास्त्री जी ने शीघ्र ही लोगों की यह उपहासास्पद और संदेहास्पद मुद्रा अपने प्रति गहरे विश्वास में बदल दी। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे व्यक्ति के रूप में नेहरू जैसे विराट् तो नहीं है किन्तु नेहरू से बडी इस देश की वह मिट्टी है जहां से अनंत सामान्य जनसमुदाय अन्न, पानी, संस्कृति, सभ्यता और शक्ति का रस ग्रहण कर रहा है। शास्त्री जी देश की उसी मिट्टी के प्रतिनिधि थे। उसी मिट्टी से बने लालबहादुर ने उस मिट्टी की शक्ति को पहचाना और उसके सपूतों किसान और जवान की जय बोली।

पाकिस्तान को शीघ्र ही बोध हो गया कि यह एक बित्ते का आदमी बहुत कद्दावर है। उससे उलझकर उसने गलती की है। शास्त्री जी इस मिट्टी का प्रतिनिधि होने के कारण और स्वयं की मानवीय सोच के कारण युद्ध नहीं चाहते थे बल्कि शांति चाहते थे। उन्हें इस देश के लिए बहुत कुछ करना था किन्तु जब युद्ध लाद दिया गया तो यह छोटा-सा व्यक्ति अपनी और देश की पूरी ऊर्जा के साथ तनकर खड़ा हो गया। शान्ति कायरता से स्थापित नहीं होती। इसलिए शांतिकामी शास्त्री जी ने युद्ध का जवाब शान्ति-पाठ से नहीं, ऊर्जा से दिया और ऊर्जा से जवाब देते हुए भी शांति की कामना करते रहे। आखिर कुछ देशों के प्रयत्नों के कारण युद्धविराम लागू हुआ और ताशकंद में अयूब खां और शास्त्री जी को मिलाया गया। पाकिस्तान काफी इलाका खो चुका था, संधि में उसे वापस दिया गया। यह सब चल रहा था और लोग युद्ध से मुक्ति पाकर राहत की सांस ले रहे थे। सवेरे उठा ही था कि मकान मालिक जय भगवान गोयल ने रेडियो सुनकर कहा— 'डाक्टर साहब, शास्त्री जी का निधन हो गया।"

"क्या कह रहे है आप ?" मै चौंका।

'हां, ठीक कह रहा हूं। अभी-अभी रेडियो से खबर आयी है।"

'हे राम, यह क्या हुआ ?" कहते हुए मैं भरभराकर रो पड़ा। लगा जैसे सारा अन्तरतम पिघलकर बाहर फूट पड़ना चाहता है। रह-रहकर भीतर से हूल उठ रही थी —यह क्या हुआ ?

देखते-देखते वातावरण इसी समाचार और तज्जन्य दुःख से भर गया। लोग वास्तव में आहत थे, दर्द में छटपटा रहे थे। इस छोटे कद के बड़े आदमी के प्रति श्रद्धा से नत थे। शास्त्री जी को एकाएक क्या हो गया ? लोग विश्वास नहीं कर पा रहे थे कि उनकी सहज मृत्यु हुई है। उन पर कोई गहरा दबाव पड़ा है। समझौते में उन्हें दबाववश काफी कुछ छोड़ना पड़ा है। कुछ भी हो, शास्त्री जी मरे नहीं, मरने के लिए विवश किये गये हैं।

'सौ मुंह सौ बातें' लेकिन ये बातें चटखारे वाली गपशप की बातें नहीं थीं बल्कि इस प्रिय नेता के प्रति गहरी चिंता और वेदना से उपजी थी। इस नेता ने शांति के लिए अपना बलिदान कर दिया। देश को शांति मिली इतनी बड़ी कीमत चुकाकर।

हां, बहुत बड़ी कीमत चुकायी देश ने। बाद में आज तक लोग कहते हैं कि शास्त्री जी प्रधानमंत्री के रूप में रहे होते तो देश कुछ और बन गया होता। तब यह देश बड़े घरानों का न होकर जनसामान्य का होता। इस देश की मिट्टी को सम्मान मिला

होता। लेकिन इस देश के भाग्य में बड़े घरानों का दास होना लिखा है तो शास्त्री जी भला क्यों जीते ?

शास्त्री जी का शव देश लाया गया। उनकी शवयात्रा में मैं भी गया पूरे परिवार के साथ। यहां तक कि तीन-चार महीने की स्मिता भी मां की गोद में गयी। शव-दाह के स्थान का भूगोल ठीकठाक नहीं मालूम था। अतः हम लोग राजघाट पहुंच गये। वहां से सरकते-सरकते शवदाह के स्थान की ओर चलने लगे। सड़क के बीच में तो केवल नेता लोग चल रहे थे, जनता फुटपाथ पर चल रही थी। अपार भीड़ थी। उस भीड़ में राजघाट से लेकर शवदाह स्थल तक की अच्छी-खासी दूरी आसानी से कट गयी। अनेक देशों के वरिष्ठ राजनयिक आये थे। पुलिस यहां से वहां तक उतरायी हुई थी जो जनता की देख-रेख कम, उत्तेजित ज्यादा करती थी। वास्तव में वह तो फुटपाथ पर चल रही जनता और सड़क के बीच मे चल रहे नेताओं के बीच दूरी बनाये रखने का काम मुस्तैदी से कर रही थी। इस काम को खूबसूरत अंजाम देने के लिए कभी-कभी जनता को डंडों का प्रसाद भी खिलाती थी।

शवदाह की क्रिया सम्पन्न होते ही भीड़ लौटने के लिए उमड़ी। उस रेले में हम बुरी तरह फंस गये। साथ में बच्चे थे, बूढ़ी सास थी और पत्नी की गोद में तीन मास की स्मिता थी। मैं किस-किसकी रक्षा करता। रेला उमड़ा तो हम लोग सड़क के किनारे की ओर ठिले और किनारे पर लम्बी-चौड़ी खाई मे गिरते-गिरते बचे। मैंने स्मिता को बांह में लेकर भीड़ से ऊपर उठा दिया और किसी तरह सबको निकालकर बाहर ले आया। पछता रहा था, क्यों सबको लेकर आया। भीड़ से बचकर निकले तो सवारी की समस्या आयी। लालकिले आये। वहां की भयानक स्थिति देखकर फौआरे आये। वहां से निराश हुए तो स्टेशन आये। संयोग से एक प्राइवेट बस आजादपुर की ओर जा रही थी, उसमे बैठकर चैन की सांस ली।

60

साहित्यिक गोष्ठियों और सभाओं की गहमागहमी वातावरण मे व्याप्त थी। घरों पर तो छोटी-छोटी अनौपचारिक गोष्ठियां होती ही रहती थीं, अनेक संस्थाओं की ओर से भी आयोजन होते रहते थे। दिल्ली विश्वविद्यालय और कालेजों के हिन्दी-विभागों में कई-कई दिवसीय संगोष्ठियां होती थीं। 1965 में अनुसंधान परिषद् की ओर से द्विदिवसीय आलोचना-गोष्ठी हुई। उसमें मैंने भी पर्चा पढा। विभागीय संगोष्ठियों में विभाग के लोगों के अतिरिक्त नगर के तमाम प्रतिष्ठित साहित्यकार आते थे। उन दिनों विभाग की ओर से आयोजित लगभग सभी गोष्ठियों में डा० नगेन्द्र के कारण मुझे भाग लेना पड़ता था। हिन्दी साहित्य सभा की ओर से डा० ओमप्रकाश ने एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी

की थी, जिसमें कविता गीत, कहानी आदि पर अलग-अलग गोष्ठियां हुई थीं। उन्हीं दिनों डा० नगेन्द्र ने 'संज्ञा' नामक एक गोष्ठी की स्थापना की थी जिसमें गिने-चुने लोग ही बुलाये जाते थे। गिने-चुने लोगों में मुझे भी सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला था। पहली गोष्ठी में नामवर जी ने लेख पढ़ा था और देवीशंकर अवस्थी ने उनके विचारों का जमकर प्रतिवाद किया था और उसमें ईमानदारी का अभाव देखा था।

संगोष्ठियों के क्रम मुझे याद नहीं हैं। आज समय की इतनी दूरी पर बैठा हुआ तत्कालीन वातावरण में व्याप्त उनकी अनुगूंज अनुभव कर रहा हूं और बिना किसी क्रम के उनकी प्राणमत्ता की चर्चा कर रहा हूं।

उन्ही दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से एक संगोष्ठी हुई। स्थल याद नहीं पड़ रहा है। उन दिनों यह विशेषता थी कि संगोष्ठियां प्राणवान होती थी और सारे साहित्यकार बहुत उष्मा के साथ भाग लेते थे। याद है इस संगोष्ठी में नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के तमाम लोग उपस्थित थे। हम लोग सभा शुरू होने से पहले ही पहुच गये थे। जाड़े की धूप में लॉन में खड़े होकर बात कर रहे थे। मोहन राकेश के ठहाके लग रहे थे। कमलेश्वर अपनी फुरहरी छोड़ रहे थे। उन दिनों सचेतन आन्दोलन रहा था। इससे सबसे अधिक कमलेश्वर आहत थे। हम लोगो से थोड़ी दूर पर महीपसिंह नामवरसिंह से बात कर रहे थे। कमलेश्वर ने एक व्यंग्य किया। कमलेश्वर नामवर जी से भी रुष्ट थे क्योंकि नामवर जी नयी कहानी में इन लोगों को विशेष महत्त्व नही दे रहे थे। उनके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहानीकार थे—निर्मल वर्मा। कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव ने तिगड़ी बनाकर अपने को नयी कहानी का मसीहा सिद्ध कर लिया था। उनके हाथ मे कहानी पत्रिकायें भी आती-जाती रहीं। अब इन स्वयंसिद्ध कहानी-मसीहाओं को नामवरसिंह वह महत्त्व नहीं दे रहे थे जो वे स्वयं अपने को दे रहे थे तो नाराज होना स्वाभाविक है। कमलेश्वर कहा करते थे कि शुरू के दिनों में हम लोग प्रयाग में नामवरसिंह को कमरे में बन्द करके अपने अनुकूल समीक्षाएं लिखवाया करते थे। नामवरसिंह ने समीक्षा के ईमान को खराब किया है।

किसने किसे खराब किया यह एक अलग बहस है बहरहाल, इस धूप मे खड़े-खड़े लोग साहित्यिक विनोद में डूबे थे। बुजुर्ग साहित्यकारों की मंडली दूसरी ओर खड़ी थी और वहां अच्छी-खासी गंभीरता छायी थी। तब तक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आ गये। नये साहित्यकार शुरू में ही खड़े थे अतः पंडित जी पहले उनके बीच से गुजरे। उनके आते ही नये लेखकों मे उनके प्रति श्रद्धा और प्रीतिकर उल्लास का भाव छा गया। मोहन राकेश सहित उन अनेक लेखकों ने उनके पांव छुए जो पुराने लेखकों के विरुद्ध युद्ध छेड़े हुए थे। द्विवेदी जी वहां से सरककर पुराने लेखकों के बीच गये। जाते ही उनका ठहाका फूटा और अन्य लेखक भी हंस पड़े। नये लेखकों के बीच से किसी ने टिप्पणी जड़ी—पंडित जी के जाते ही बूढ़ों में भी हंसी फूट पड़ी।

बहस संभवतः साहित्य के सौन्दर्यबोध पर थी। द्विवेदी जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कालिदास के हवाले से सौन्दर्यबोध की जो नयी व्याख्या की वह अद्भुत थी। नये लेखक भी मंत्रमुग्ध थे और उन्हें भी अपनी सौन्दर्य-दृष्टि की नवता का अभिमान

खोखला लगने लगा। उनके व्याख्यान के बाद फिर कई नये लेखकों ने उनके पांव छूकर उनके ज्ञानदान के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

द्विवेदी जी दिल्ली में आते ही रहते थे और उन्हें बार-बार सुनने का अवसर मिलता था। उन्हें तो मैं जब एम०ए० कक्षा का छात्र था तब से सुनता आ रहा था, कक्षा में भी और कक्षा के बाहर भी। लेकिन कभी ऐसा नहीं लगा कि पंडित जी हमारे लिए बासी पड़ गये हैं। सन् '65 के आसपास की बात होगी—श्रीराम कालेज आफ कामर्स में आधुनिक बोध पर एक संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। पंडित जी उसके अध्यक्ष थे। उन दिनों आधुनिक बोध या आधुनिकता बोध की बड़ी चर्चा थी। अकविता-अकहानी आंदोलन शुरू हो गया था। आधुनिकता मूल्य है या प्रक्रिया, इस पर बहस छिड़ी थी और कुछ शहरी किस्म के बुद्धिजीवी आधुनिकता को शहर के मध्यवर्ग और उच्चवर्ग से जोड़कर उनके सम्बन्धों की टूटन, अकेलेपन, मृत्युबोध, संत्रास आदि में आधुनिकता देख रहे थे। उन्होंने अपने व्यापक भारतीय परिवेश के समकालीन जीवन में उभरने वाली नयी सामाजिक चेतना, मूल्यबोध, जीवनदृष्टि आदि के बहुआयामी और गतिशील यथार्थ में आधुनिकता को न देखकर उसे कुछ पश्चिमी फारमूलों में बांधकर एक वाद बना दिया था अर्थात् उनके लिए आधुनिक बोध आधुनिकतावाद बन गया था। वे अपने परिवेश में उसे न समझ-कर अस्तित्ववादी सूत्रों में समझने का प्रयास कर रहे थे। आधुनिकता उनके लिए परिवेशजन्य अनुभव न बनकर बहस करने के लिए मात्र पुस्तकीय ज्ञान बन गया था इसलिए उनकी बहसों और लेखों में आधुनिकता का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता था वरन् उलझता ही जाता था। उनकी कहानियों और उपन्यासों के पात्र ठोस न होकर आधुनिकता की एक अहेतुक लीला करते दिखाई पड़ते थे। अकहानी-अकविता के लेखक तो जो थे वे थे ही, नयी कविता और नयी कहानी के स्वस्थ लेखक भी इस दौर में आकर आधुनिकता के फारमूलों के शिकार हो रहे थे। राजेन्द्र यादव तो शुरू से ही आधुनिकता की यांत्रिक पकड़ में थे, कमलेश्वर जैसे कस्बे के जीवन की प्रामाणिक छवि उभारने वाले कहानीकार भी 'खोई हुई दिशाएं' जैसी अनेक परवर्ती कहानियों में यांत्रिक आधुनिकता की लपेट में आने लगे थे। 'न आने वाला कल', 'आधे अधूरे' आदि रचनाओं में मोहन राकेश अस्तित्ववादी फारमूलों में ग्रस्त होते दिखाई पड़ते हैं।

सच पूछिये तो नयी कविता और नयी कहानी के दौर में ही आधुनिकता की बहस छिड़ी थी और लटपटिया लेखन करने वाले लेखकों और कवियों का एक वर्ग था जो अस्तित्ववादी और मनोविश्लेषणवादी फारमूलों के आधार पर आधुनिकता की अरूप बहस शुरू कर चुका था। बहरहाल आधुनिकता इन तमाम लेखकों के चलते एक रहस्यवाद बन गयी थी। ज्यों-ज्यों गोष्ठियां होती थीं वह और उलझती जाती थी और हर गोष्ठी के बाद श्रोताओं को लगता था कि उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ा और आधुनिकता के सम्बन्ध में उनका अपना ज्ञान भी उलझ गया है। कुछ वर्ष बाद की बात है। आधुनिक हिन्दी और नेपाली कविता पर शोध-प्रबन्ध लिखने के लिए नेपाली छात्र रामदयाल राकेश मेरे निर्देशन में आये। पहले अध्याय में उन्होंने आधुनिकता के स्वरूप की चर्चा की। मुझे दिखाने को ले आये। मैंने देखा। मैंने कहा—"भाई, मैं तो कुछ समझ

नहीं सका। आप मुझे समझाइये।" वे बोले—"सर, समझा तो मैं भी नहीं। मैंने तो लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'नयी कविता के प्रतिमान' और डा० रमेश कुन्तल मेघ की पुस्तक 'आधुनिकता और आधुनिकीकरण' से सामग्री लेकर लिख दिया है।"

मैं क्या कहता ? आधुनिक साहित्य के दो विद्वानों की प्रसिद्ध पुस्तकों के सम्बन्ध में क्या टिप्पणी देता ? इतना ही कहा—'आपने उनके विचारों को ठीक से पकड़ा नहीं होगा, बहरहाल मैं आधुनिकता का विद्वान् तो नहीं हूं किन्तु आधुनिक लेखक होने के नाते आधुनिकता को मैंने अपने ढंग से जो समझा है उसे आपको बतला रहा हूं। दरअसल आधुनिकता मेरे और हमारे समाज की एक ठोस जरूरत है। हम उसकी माया की लपेट में पड़ने के लिए नहीं है, बल्कि अपने और समाज के लिए उसका स्वस्थ उपयोग करने के लिए है। वह यदि हमारे लिए रुग्ण चेतना है तो हमारी पुरानी परंपरा ही भली। किन्तु जानता हूं कि वह रुग्ण चेतना नहीं है, वह मध्यकालीन सामंती रुग्ण चेतना के विरुद्ध एक नयी जीवन-चेतना, एक स्वस्थ जीवनमूल्य से युक्त एक नया आचरण है जो हमारे अपने परिवेश में अपने ढंग से मूर्त होती है।

हां, तो बात कर रहा था श्रीराम कालेज आफ कामर्स की संगोष्ठी की। मैं कुछ देर से पहुंचा। वक्ताओं में गंगाप्रसाद विमल भी थे। वे मेरे जाने से पहले ही बोल चुके थे और अन्य कई लोग बोल चुके थे। मैं गया तो ओमप्रकाश दीपक बोल रहे थे। ओमप्रकाश दीपक समाजवादी नेता और लेखक थे। उनकी समझ साफ थी। वे बोले। समझ में आया। फिर पंडित जी बोले। उन्होंने आधुनिकता को आधुनिक जीवन-संदर्भों में व्याख्यायित किया। उन्होंने आधुनिकता को स्वस्थ जीवन-चेतना के रूप में ही स्वीकार किया। जब भी कोई अवधारणा हमारे परिवेश में मूर्त होती है और उसे हम वहां से समझते हैं तब हमारी सोच साफ होती है और सुनने वालों की भी समझ में आती है। द्विवेदी जी उन बड़े लेखकों में से हैं जो मानते हैं कि साहित्य जीवन के लिए होता है और जीवन के सन्दर्भ में ही उसे समझा जा सकता है। पंडित जी बोले तो सुनने वालों के दिमाग में छाया कुहासा छट गया और आधुनिकता अपने जीवन से संदर्भित होकर उनकी पकड़ में आ गयी।

सभा समाप्त होने के बाद हम लोग पंडित जी के साथ पुतुल के यहां चले। पंडित जी रास्ते में भी कहते रहे और पुतुल के यहां पहुंचकर भी ठहाका मार-मारकर कहने लगे कि और सब तो ठीक लेकिन अपना विमल क्या बोला। उसकी तो बात ही मेरी समझ में नहीं आयी। नामवर जी बोले—"पंडित जी के शिष्यों की दो परम्पराएं हैं—1 काशी की परम्परा, 2. चण्डीगढ़ की परम्परा। काशी-परम्परा के शिष्यों की बात समझ में आती है किन्तु चण्डीगढ़-परम्परा के लोगों की बात नहीं।

किसी ने टिप्पणी जड़ी—"डा० मेघ तो काशी-परम्परा के हो हैं।" फिर नामवर जी बोले—"काशी-परम्परा की भी दो शाखाएं हैं। एक शाखा उनकी है जिन्होंने बी० एच० यू० से एम० ए० किया, दूसरी शाखा उन शिष्यों की है जिन्होंने वहां से केवल पी-एच० डी० किया है। असली शाखा तो एम० ए० करने वालों की है।"

पंडित जी ठहाके लगाते रहे। उनके साथ सभी लोग हंसते रहे। पंडित जी जहां हों वहां का वातावरण जीवन्त न हो उठे, यह सभव नही था।

61

कालेज मे सुना कि देवीशंकर अवस्थी नही रहे। मै एकाएक विश्वास नही कर सका। परसों ही तो वे कलकत्ता के कथा-समारोह से लौटे थे। 'विवेक का रग' छप रहा था। आते ही वे स्कूटर से प्रकाशक के यहा चल पडे—यह देखने कि उसकी क्या स्थिति है? उनकी मा ने कहा, बेटा, खाना खाकर जाओ। वे बोले —"अभी आता हू मा। आकर खाना खाऊगा।" वे दरियागज म लौट रहे थे कि ओवरटेक करने के क्रम मे एक टैक्सी ने उनके स्कूटर को धक्का मार दिया। वे गिरकर बेहोश हो गये। स्कूटर के पीछे मुरली मनोहर प्रसाद सिह बैठे थे। उन्हें भी चोट आयी किन्तु खतरनाक चोट नहीं। वे अस्पताल ले जाये गये। सुरेश अवस्थी की जान-पहचान के कारण उन्हे अस्पताल मे ठीक-ठाक व्यवहार मिला। लेकिन मुझे अभी-अभी फोन से सूचना मिली कि वे दिवगत हो गये।

मै तो सन्न रह गया। हे भगवान्, यह क्या हो गया? मैं उठा, धीरे-धीरे अपने सहयोगियो के पास गया। हरगुलाल जी से बताया और कहा—"आज मै क्लास नहीं लूगा।" सुनकर सारे साथी दुखी हुए। हम लोग मेरी क्लास मे गये। वहा एक छोटी-सी शोक-सभा की। फिर मैं घर की ओर चल पडा।

बस मे बैठा था। मन मे देवीशकर जी भरे हुए थे। उन्होने कुछ ही दिन पहले मौत का फदा काटा था। उनके चेस्ट में कोई परेशानी थी। पटेल चेस्ट मे भरती हुए। वहा से स्वस्थ होकर निकले थे। वहा से तो निकल आए लेकिन लगता है जैसे मौत क्रुद्ध हो गयी हो और दूसरा जाल बिछाकर भीतर ही भीतर बडबडाई हो—"वहा से तो निकल आये, अब यहा से कहा निकलोगे?"

घर पहुचा। पत्नी को समाचार दिया। वे भी अवाक् रह गयी। हम देवीशकर जी के घर की ओर भागे। वहां जो करुण दृश्य था उसकी कल्पना की जा सकती है। उनकी बूढ़ी मा के सामने छाये अंधकार का अनुभव कर रहा था और कमलेश जी पर तो वज्र ही टूट पडा था। इस प्यारी भद्र महिला ने किसी का क्या बिगाडा था कि उसे इतनी बडी सजा दी गयी। कमलेश जी के सामने जाने का साहस नही हो रहा था। ऐसे में पता नही कैसे लोग विपत्तिग्रस्त को समझाने बैठ जाते हैं, तरह-तरह के उपदेश देने लगते हैं। हम तो उसके सामने होने से डरते है और यह भी जानते हैं कि वह व्यक्ति समझाने से अपनी वेदना को अच्छी तरह व्यक्त कर लेने से हलका होगा।

साहित्यकार जुटते गये। नयी और पुरानी पीढ़ी के तमाम साहित्यकार, प्रकाशक

एकत्र हो गये। एम्बुलेंस कार नहीं मिल पायी। बहुत प्रतीक्षा करने के बाद ओमप्रकाश जी (प्रकाशक) ने अपनी कार पर शव को लदवाया। शवयात्रा चल पड़ी।

देवीशंकर जी का शवदाह करके लौटे तो बहुत खालीपन महसूस होने लगा। देखते-देखते अपना एक प्रिय साथी, सुख-दुःख में शरीक होने वाला एक सहयात्री, साहित्य सहचर चला गया। उनके होने से हमारे वातावरण में एक भरापुरापन महसूस होता था, आज खाली-खाली-सा लग रहा था।

पिछले वर्ष मुक्तिबोध चले गये थे, इस वर्ष देवीशंकर जी। क्या हो गया है समय को ? मुक्तिबोध कई महीने दिल्ली में पड़े रहे बेहोश। बेहोशी में ही चले गये। वे चले गये तो लोगों को ध्यान आया कि वे एक बड़े कवि थे, बड़े आलोचक थे और बड़े कथाकार भी थे। जब तक जीते रहे उनकी प्रतिभा की पहचान नहीं हुई। उनकी बेहोशी में प्रतिभा की पहचान शुरू हुई। वह उनके किस काम की ! वह तो दूसरों के काम आयी। मुक्तिबोध पर काम कर-करके लोग नयी प्रतिभा वाले लेखक कहलाने लगे और उन्हें शिखा बनाकर हड़सा-हड़सा करते हुए विरोधी माने जाने वाले साहित्यकारों का दरवाजा तोड़ने लगे। मुक्तिबोध प्रगतिशील प्रतिभा के स्टेटस सिंबल बन गये। जो लोग आलोचक की हैसियत से कवि मुक्तिबोध के प्रति अपना दायित्व नहीं निभा सके, वे ही आज तत्कालीन आलोचना को लांछित करते हैं कि मुक्तिबोध की उपेक्षा की गयी। उनसे पूछा जा सकता है (और पूछा जाता भी है) कि आप भी तो आलोचक थे, आपने तब अपना दायित्व क्यों नहीं निभाया।

लम्बी बीमारी के बाद मुक्तिबोध चले गये। उनका जाना मेरे लिए एक सशक्त साहित्यकार का जाना था। उनसे मेरा निजी परिचय नहीं था और न मैं उनके साहित्य का ही तब तन्मय अध्येता बन पाया था किन्तु देवीशंकर का जाना मेरे एक मित्र का जाना था, जिसके साथ न जाने कितने जीते-जागते रागात्मक सन्दर्भों से मैं गुजरा था। मुक्तिबोध अपनी साहित्यिक क्षमता का लगभग उपयोग कर चुके थे, देवीशंकर जी को करना था। मुक्तिबोध का जाना अप्रत्याशित नहीं था, लोग उनके गमन का दुःख झेलने के लिए तैयार थे, देवीशंकर एकाएक चले गये।

मुक्तिबोध का जाना हम सबके लिए एक कवि का जाना था किन्तु उनके परिवारजनों के लिए उनका जाना पति का, पिता का, भाई का जाना था जो अत्यन्त दारुण था। उनकी पत्नी को प्रभाकर माचवे जी के यहां देखा था। पति के मरने की वेदना के साथ उनके पीछे छूटी हुई असहायता और अभाव का सन्नाटा उनके मुखमंडल पर व्याप्त था।

देवीशंकर जी भी अपने पीछे पत्नी और तीन छोटे बच्चे, बूढ़ी मां, एक भाई, एक बहन (रेखा) छोड़ गये थे। देवीशंकर जी के चले जाने की तकलीफ के साथ उनके छूटे हुए परिवार की वेदना मन में उमड़ रही थी। डा० नगेन्द्र सच्चे अर्थों में विश्वविद्यालयीय हिन्दी-परिवार के मुखिया थे। उन्होंने कमलेश जी से कहा था कि ईश्वर के किये पर तो अपना वश नहीं है किन्तु एक आदमी जो कर सकता है वह मैं जरूर करूंगा इस परिवार के लिए। उनकी यह सांत्वना हम सबके लिए आश्वस्तिकारी थी।

62

साहित्य के क्षेत्र मे ये आन्दोलनो के दिन थे। न जाने कितने छोटे-छोटे आन्दोलन इस शहर से उस शहर मे कुकुरमुत्तों की तरह उग आये थे। कविता के क्षेत्र मे अकविता, अनिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढी, क्रुद्ध पीढी, भूखी पीढी, श्मशानी पीढी की कविता और न जाने क्या-क्या ? लगता था साहित्य एक बडा बाजार है जिसमे तमाम दुकानदार अपना-अपना साइन बोर्ड टांगे हुए अपने माल की खपत के लिए चिल्ला रहे हैं। दरअसल देखा जाए तो साठ के बाद की इन तमाम नामों वाली कविताओं का बुनियादी स्वर एक ही था और वह था—निषेध का। सब कुछ के निषेध का। निषेध करके कवि जो देना चाहते थे वह था उनका निजी बीभत्स और अश्लील भोगभाव। अमेरिका से आया हुआ गिन्सबर्ग उनका मसीहा बन गया था। गिन्सबर्ग जैसे लोग अपने नंगेपन से थोडी देर के लिए ठहराव मे एक उत्तेजना पैदा कर सकते है, कोई मौलिक बदलाव नही। हमारे यहा के निषेधवादी कवि (और कथाकार) निषेध को ही अपने-आप मे साहित्य और जीवन का लक्ष्य मानकर यह मुगालता पाल बैठे कि वे कूडे के ढेर पर आग दे-देकर साहित्य के सिद्ध बन जाएगे। निषेध का भी एक सामाजिक लक्ष्य होता है और वह निषेध सीधे उस राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था से टकराता है जो व्यक्ति के मानवीय अधिकारों का दमन कर उसका शोषण करती है। वह निषेध पुरानी व्यवस्था की जडताओं से टकराकर एक नयी स्वस्थ व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करता है अतः उसमे व्यक्तिगत भावनाओ की अराजकता नही होती, एक सामाजिक मूल्य-चिंता का निमंत्रण होता है। साठ आते-आते देश के लोगो का सरकार से मोहभंग हो गया था। अब तक किसी न किसी प्रकार जो स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ आस्था जुडी थी वह खंडित हो गयी थी। लगने लगा कि सारे सम्बन्ध और मूल्य निरर्थक हो गये है किन्तु निषेध करके हम देश और समाज के भविष्य के बारे मे, उसकी बेहतरी के बारे मे सोचना छोड देंगे क्या ?

अकविता का नाम दिल्ली के कुछ मित्रो ने उठाया। मैं समझ नही पा रहा था कि 'अकविता' के माध्यम से ये लोग क्या कहना चाहते है। अकविता यानी कविता नही। जब कविता नही तो क्या ? और फिर उस पर कविता के नाम पर बहस क्यो हो ? मै वास्तव मे इसे समझना चाहता था। डा० श्याम परमार ने एक रेस्त्रा मे गोष्ठी की। मैं यही उत्सुकता लेकर उसमे शामिल हुआ। लेकिन उसमें उनके पेपर और कुछ और अकवितावादियो के व्याख्यानो मे यह तो स्पष्ट नही हुआ कि कविता होकर भी यह अकविता क्यो कही जाती है। इतना अवश्य स्पष्ट हुआ कि यह भी कविता ही है, बस नयी कविता। छायावादी कविता आदि की तरह इसे भी एक नाम दे दिया गया है—'अकविता'। यह कविता संवेदना, मूल्य, भाषा, हर स्तर पर परम्परा का निषेध करती है।

श्याम परमार, गंगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, मुद्राराक्षस, मणिका मोहिनी, विश्व शर्मा, मोना गुलाटी आदि दिल्ली के अकवितावादी कवि थे।

बाहर के भी तमाम कवि भी (वे कवि जो बाद मे मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े और अकविता से अपना अलगाव घोषित किया) थे जिनमे धूमिल, कुमार विकल, चंद्रकांत देवताले, सतीश जमाली, श्रीराम शुक्ल, राजकमल चौधरी और न जाने कितने छोटे-बड़े नाम थे। जगदीश चतुर्वेदी 'अकविता' नामक पत्रिका निकालते थे जो इस आन्दोलन का मुखपत्र था।

ऊपर कहा जा चुका है कि साठोत्तर काल में निषेध अपने परिवेश से फूट रहा था किन्तु अकविता का निषेध जिघांसा, अश्लीलता और निष्क्रियता मे भरा हुआ था। निषेध कवियो को बेचैन नही कर रहा था, वे उसमे रस ले रहे थे। आखिर साठ के बाद देश दो-दो युद्धों से गुजरा। माना कि भारत के साथ चीन के युद्ध ने हमे हतोत्साहित किया और गुलाबधर्मी शांति के प्रति विरक्त कर दिया किन्तु पाकिस्तान के साथ सन् '65 के युद्ध ने तो किसान और जवान का नारा दिया उसके महत्त्व को रेखांकित किया। एक छोटे से मनुष्य ने देश को विजय दिलायी और अपनी कुरबानी भी दी। देश के तमाम तबकों के लोग इस राष्ट्रीय हलचल मे शामिल हुए। आखिर यह अपना परिवेश नही था क्या? वास्तव मे अपने देश के सामान्य जन की तकलीफ और संघर्ष से कटी हुई कविता-कहानी को यौन-संदर्भों मे निषेध के सिवा क्या दिखाई पड़ता? परिवेश की ठोस वस्तु का दबाव रचना को मूर्तता प्रदान करता है—इस दबाव मे रहित होने के कारण अकविता और अकहानी अमूर्त हो गयी। अकहानी चूंकि कहानी थी और कहानी कितनी भी व्यक्तिगत हो, कथा का कोई न कोई तंतु उसमे होता है और कथा का संबंध बाहरी दुनिया से होता है इसलिए अकहानी इनके लेखकों की मानसिक और उद्देश्य-मूलक अमूर्तता और उलझन के बावजूद कुछ मूर्त है, समझ मे आती है और पाठक से थोड़ा-बहुत जुड़ती है। गंगाप्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, ममता कालिया, जगदीश चतुर्वेदी, ज्ञानरंजन, राजकमल चौधरी, प्रयाग शुक्ल, मुद्राराक्षस आदि अनेक कथाकार अकहानी रचने मे संलग्न थे और नयी कहानी की परम्परा का निषेध करने के लिए सचेत भाव से कुछ नये कारनामे दिखाये जा रहे थे।

साठोत्तर काल राष्ट्रीय सामाजिक संदर्भ मे मोहभंग का काल था और अकविता अकहानी तथा इसी परिवार की अन्य तत्कालीन धाराओ पर इसका प्रभाव पड़ा था, किन्तु उन रचनाओ मे मोहभंग का व्यक्तिवादी निषेधात्मक पक्ष ही अधिक था, सामाजिक संदर्भ मे विधेयात्मक पक्ष नही के बराबर था। इस रचना-यात्रा मे वे भी शामिल थे जो नयी कविता-कहानी मे आये थे और वे भी जो बाद मे प्रगतिशील रुझान के माने गये। 'यह दुनिया एक फिसफिसाई हुई-सी चीज हो गयी है' (रघुवीर सहाय), 'हम सब बौने है' (गिरिजाकुमार माथुर), 'हम सब गुबरैले है' (सर्वेश्वर), 'क्रांति गूंगी है' (धूमिल) आदि न जाने कितनी कविताएं इस बात का प्रमाण हैं।

ये रचनाएं आधुनिक मानी जा रही थी। आधुनिकता प्रवृत्ति के रूप मे ही नही, रचना-मूल्य के रूप में भी ग्रहण की जा रही थी। यानी आधुनिकतावादी रचना ही रचना की दृष्टि से मूल्यवान हो सकती है। और यह आधुनिकता क्या है? दो गोष्ठियों की चर्चा करना चाहूंगा। एक गोष्ठी में दो कहानियां पढ़ी गयीं, एक कहानी थी भीष्म साहनी

की जिसके केन्द्रीय पात्र के रूप मे दादी मा आयी थी। दूसरी कहानी थी उषा प्रियंवदा की जिसमे एक नयी लड़की की समस्या उठायी गयी थी। इन कहानियो पर बहस हुई। मुद्राराक्षस ने कहा—भीष्म जी की कहानी पारम्परिक है। भला दादी नानी पर भी आज कोई कहानी लिखी जा सकती है ! आज तो आज के सबसे आगे के आदमी पर कहानी लिखी जानी चाहिए, तभी वह आधुनिक और सार्थक कहानी बन सकती है। दूसरी गोष्ठी (सगोष्ठी) खालसा कालेज की है। इस सगोष्ठी मे गंगाप्रसाद विमल ने एक बात उठायी थी। मेरे चर्चा-प्रवर्तन के बाद वे बोले थे और कहा था कि बहुत दिनो बाद उन्हे डा० मिश्र से छेडछाड करने का अवसर मिला है। उन्होने एक ओर यह कहा कि हमारे साहित्य को आधुनिक होना चाहिए, दूसरी ओर कहा—"लेकिन हमारे समाज मे आधुनिकता अभी आयी कहा ?" मेरे भीतर सवाल पैदा हुआ कि हमारे समाज मे आधुनिकता नही है तो हम आधुनिकता कहा से लाये ? यानी हमे अपने परिवेश से नही (क्योकि वहा तो है नही) बाहर से आधुनिकता लाकर अपने साहित्य की रचना करनी चाहिए। इन लोगो की दृष्टि मे अपने समकालीन परिवेश के बदलाव की पहचान मे आधुनिकता नही है, बल्कि वह बाहर से प्राप्त नवीनतम अवधारणाओ मे है।

इस प्रकार के साहित्य के पोषण के लिए आलोचक भी मिल गये थे। ये रचनाकार अपने समर्थन के लिए तो स्वय आलोचक बनकर आये ही थे, आशिक या समग्र भाव से कुछ आलोचक भी इनके साथ हो गये थे। देवीशकर जी अकहानी के रचनाकारो को प्रश्रय दे रहे थे, इन्द्रनाथ मदान तो समग्र भाव से शहरी मध्यवर्गीय आधुनिकता के समर्थक थे। नामवर जी ने प्रच्छन्न रूप से कमलेश्वर, यादव, राकेश की नयी कहानी का विरोध करने की प्रक्रिया मे निर्मल वर्मा की परम्परा मे आने वाली अकहानी को हवा दे दी।

डा० महीपसिह के नेतृत्व मे सचेतन कहानी का आन्दोलन शुरू हो गया था। महीपसिह पहले बम्बई के खालसा कालेज मे थे और उनकी कुछ कहानिया मैने पढी थी जो पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुई थी। वे संभवतः मुझसे दो साल पूर्व बम्बई से दिल्ली आ गये थे। जब मैं दिल्ली आया तो सचेतन कहानी का आन्दोलन भी शुरू हो गया था। वास्तव मे बना-बनाकर चलाये जाने वाले इस या उस आन्दोलन मे मेरा प्रकृत्या विरोध रहा है। एक समय के सामाजिक दबाव से उभरने वाली चेतना यहा से लेकर वहां तक के साहित्य मे अभिव्यक्ति पाती है और उसके सामान्य स्वरूप को देखकर उसे एक नाम दे दिया जाता है या किसी बहुत बडे दार्शनिक आन्दोलन के प्रभाव मे लिखे गये साहित्य को नया नाम मिल जाता है किन्तु जब कुछ लोग मिलकर अपनी रचनाओ को उछालने के लिए आन्दोलन चलाते हैं तो पहले तो उसे हम आन्दोलन नही कह सकते, दूसरे उसके उद्देश्य की लघुता के कारण उसे व्यापक स्वीकृति नही मिल सकती।

मैं अपने ढंग से अपनी दृष्टि और संस्कार के अनुसार समकालीन चेतना को अभिव्यक्ति दे रहा था किन्तु हमारी आलोचना और साहित्येतिहास की विडम्बना यही है कि वह दलबद्ध आन्दोलनों से बाहर देखता ही नहीं। वह इन्ही दलबद्ध साहित्यकारों

और उनके साहित्य की चर्चा और उल्लेख करता है । यह सच है कि नयी कविता और कहानी के तमाम कवियों और कहानीकारों की अच्छी रचनाएं साठ के बाद आयीं किन्तु नयी कविता और नयी कहानी को साठ के बिन्दु पर समाप्त मान लिया गया । रचनाएं अच्छी आती रहीं नयी कविता और नयी कहानी के रचनाकारों की और चर्चा होती रही कुकुरमुत्ते की तरह उगे हुए तमाम साठोत्तरी वादों की । मैं स्वयं नयी कविता और नयी कहानी के आन्दोलन के बीच से उभरा हुआ रचनाकार हूं किन्तु मेरी अपनी महत्त्वपूर्ण (मेरे अपने लेखन के सन्दर्भ में) रचनाएं साठ के बाद ही आयीं जिन्हें न साठोत्तरी आन्दोलनो मे शामिल किया जा सकता था, न साठ के बिन्दु पर समाप्त घोषित नयी कविना और नयी कहानी में ।

बहरहाल इस विडम्बना की पहचान के बावजूद किसी बनाये जाते हुए दल में सम्मिलित होने की इच्छा मुझे कभी नही हुई । हां, इन दलों या सायास प्रचारित आन्दोलनों मे उभरते हुए स्वस्थ और अस्वस्थ तत्त्वों की पहचान करने का प्रयास जरूर करता रहा, उन पर लिखता भी रहा । साठोत्तरी कविता पर मेरे लम्बे-लम्बे लेख 'धर्मयुग' और 'आजकल' मे छपे और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी कई टिप्पणियां और छोटे-छोटे लेख आये । सचेतन कहानी पर भी मेरा एक लम्बा लेख 'संचेतना' में छपा ।

तो मैं सचेतन कहानी की बात कर रहा था । यह कहानी-आन्दोलन भी कुछ रचनाकार मित्रों को संगठित करके उठाया गया था किन्तु इसकी एक बात रेखांकित करने योग्य है, वह यह कि यह साठोत्तर काल के साहित्यान्दोलनों में दिखाई पड़ने वाली मूल्यहीनता, बोभत्सता, जिघांसा और यौन-संदर्भित नंगेपन की बजबजाहट और नयी कहानी की निष्क्रियता के विरोध में मूल्य-चेतना, सक्रियता और सामाजिक अर्थसत्ता का पक्ष लेकर खड़ा हुआ था । इसकी साहित्यिक उपलब्धियां जो रही हों किन्तु इस घुटनभरे माहौल मे उसने ताजा हवा का झोका देने का प्रयास किया । महीपसिंह के साथ मनहर चौहान, योगेश गुप्त, आनद प्रकाश जैन, हेतु भारद्वाज, वेद राही, नरेन्द्र कोहली, रामकुमार भ्रमर आदि इस धारा मे शामिल थे ।

63

मेरे दिल्ली आने से पूर्व दिल्ली में पहले से रहने वाले या दिल्ली मे नये-नये आने वाले अनेक साहित्यकारों से मेरा साक्षात् परिचय था । दिल्ली आने पर अनेक से मेरा सम्बन्ध ठंडा पड़ गया । कारण यह है कि मैंने अनुभव किया कि वे अपने व्यवहार में बहुत ठंडे यानी साहित्य का हिसाब-किताब लगाने वाले लोग थे । मिलने पर कोई उष्मा नहीं, कोई खुलापन नहीं, हंसी-ठहाका नहीं और यदि हंसी-ठहाका था भी तो नकली ऊपर से निकलकर ऊपर-ऊपर गुजर जाने वाला । बहुत छोटे-छोटे साहित्यिक दायरे बने हुए

थे जिनमें दीक्षित लोगों के चर्चे होते थे। अनुभव के बिना आधुनिकता का नकली फलसफा झाड़ते हुए और नकली तेवर पहने हुए लोग साहित्य का वारा-न्यारा करते हुए उतराये हुए थे। मैं अपने को इस माहौल में बहुत अजनबी पा रहा था। मैं तो साहित्य के किसी कठघरे में खड़ा होने की स्थिति में नहीं था अतः एक साहित्यकार की हैसियत से अपने को अकेला पा ही रहा था, व्यक्ति की हैसियत से भी मैं इन तमाम व्यक्तियों से जुड़ नहीं पा रहा था। उनसे मिलने पर मिनट-भर बाद ही संवाद समाप्त हो जाता था।

मेरे भीतर देहात के तमाम संस्कार अभी भी बाकी थे। ठठाकर हंसना मुझे अच्छा लगता है। मित्रों के बीच अपने मन को खोलकर रख देने में मुझे सुख मिलता है और जितना जानता और अनुभव करता हूं उससे अधिक का दिखावा करने का उत्साह नहीं होता। किन्तु साहित्य के जिस परिवेश में मैं आ गया था उसमें एक सज्जन ऐसे थे जो मिलने पर न हंसते थे, न बोलते थे। ठंडे मन से कहते थे, आइए। और चलते समय हाथ से यों हाथ मिलाते थे जैसे हाथ में हाथ नहीं छिपकली की पूंछ का गिरा आ गया हो। दिल्ली आने से पहले वे मेरे मित्र थे, दिल्ली आने के बाद उनसे मेरा मिलना ही बंद हो गया क्योंकि वे कुछ बड़े साहित्यकार भी बना दिए गये थे। एक थे जो मिलने पर एक इंच मुस्कान लाकर या बकरी की तरह हल्के से मिमियाकर गंभीर हो जाते थे जैसे गलती से मुस्करा पड़े हों। एक थे जो कभी मिलने पर हंसते थे, कभी रोते जैसे लगते थे और यह पता करना कठिन होता था कि इन्हें मुझसे मिलकर खुशी हुई है कि दुःख। कुछ लोग खाली हंसते ही रहते थे और उस हंसी के साथ पूरे हिन्दी साहित्य का मजाक बनाते रहते थे। 'टी हॉउस' या 'कॉफी हाउस' में ऐसे खाली और निंदक कहकहों का नजारा लिया जा सकता था। लगता है साहित्यकारों के सारे सम्बन्ध साहित्यिक गठजोड़ के तहत ही बन-बिगड़ रहे थे। उसी के हिसाब से सम्बन्धों में उष्मा और ठंडापन लाया जा रहा था।

इसमें कोई शक नहीं वह साहित्यिक हलचल की दृष्टि से बहुत सक्रिय काल था या यों कहें कि स्वाधीनता के बाद जो साहित्यिक हलचल शुरू हुई थी वह एक दूसरे रूप में इस काल में भी जारी थी और हलचल साहित्य के स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज है लेकिन यह हलचल हमारे सामाजिक सम्बन्धों की निर्मात्री बन जाये या हमारे सामाजिक सम्बन्ध इन हलचलों को चलाये रखने के लिए बनें, यह बहुत स्वस्थ बात तो नहीं कही जा सकती। किन्तु इस समय था कुछ ऐसा ही। मैं लिखता था और मन से लिखता था, खूब छपता था और साहित्य में माना जाता था, किन्तु मैं कहीं नहीं था। यानी साहित्यिक चर्चाओं में मेरा नाम अनुपस्थित था। इस स्थिति के बावजूद मैं अपने भीतर अपने लेखन के प्रति बहुत आश्वस्त था। चर्चित होने के लिए उन लोगों से ताल मेल बैठाना, उनके साथ उठने-बैठने की हसरत पालना मेरी रुचि में नहीं था जो आदमी कम और असली या नकली साहित्यकार ज्यादा थे, जिनके साथ बैठकर आदमी की खुली उष्मा अनुभव करने के स्थान पर एक बंद और जोगाड़ू साहित्यकार के ठंडे साहचर्य की नियति झेलनी पड़ती है। मैं अनुभव करता हूं और तब भी अनुभव करता था कि इस

नियति को झेलने से भागते रहने के कारण मुझे काफी कुछ खोना पड़ा, जिनकी चर्चाओं और आलोचनाओं का महत्त्व था उनसे तमाम लोग रिश्ता बना लेते थे और अपनी रुचि-अरुचि को गौण मानकर चर्चित हो उठने के प्रलोभनों को ही लक्ष्य बनाकर चलते रहे। मैं तो रुचि-अरुचि को प्रधान मानकर बने-बनाये साहित्यिक सम्बन्ध भी तोड़ देता रहा हूं। मैं वहां जाना, उठना-बैठना पसंद करता हूं जहां खुलापन हो, घरेलूपन हो, एक-दूसरे को समझने और प्यार देने का भाव हो। यदि वे साहित्यकार हैं तो उनसे साहित्यिक सम्बन्ध तो होगा ही किन्तु चालाकी वाला नहीं।

कह चुका हूं कि मैं आया तो उदयभानु मिश्र के ठहरा था। वे कवि थे। उनसे मेरे सम्बन्धों का राज यही था कि वे खुले मन से मेरे सम्पर्क में आये। हम खुलकर साथ घूमते थे खाते-पीते थे, हंसते-गाते थे और एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझते थे, साहित्यिक चर्चाएं भी खुलकर करते थे।

शमशेर और देवीशंकर अवस्थी की चर्चा कर चुका हूं। देवीशंकर जी के पास ही मुरली मनोहर प्रसाद सिंह रहते थे। जब वे बिहार में थे और अलंकृत भाषा में लेख लिखा करते थे तब से पत्र व्यवहार के माध्यम से उनसे परिचय था। वे तब अपने लेखों में मेरी कविताओं का जिक्र करते थे, तब वे मार्क्सवादी नहीं हुए थे। उन्होंने एक व्यक्तिगत प्रसंग में मुझे अहमदाबाद पत्र लिखा था कि आपसे भेंट तो नहीं है किन्तु न जाने मन क्यों कहता है कि आप मेरे बहुत निकट हैं और मैं यह...जिम्मेदारी आपको सौंपना चाहता हूं। उन्होंने वह जिम्मेदारी सौंपी तो नहीं किन्तु विश्वास तो सौंपा ही था। दिल्ली में मैं उनके यहां प्रायः जाया करता था और वे तथा सरिता जी हमारे यहां आया करते थे। हमारे-उनके विश्वासपूर्ण सम्बन्ध बढ़ते ही गए।

राजनीतिक दृष्टि से डा० रमानाथ त्रिपाठी और मैं अलग-अलग विचारधाराओं के व्यक्ति हैं, हमारे स्वभावों में भी काफी अन्तर है लेकिन हमारे व्यक्तिगत और घरेलू सम्बन्ध बनते गये। हम प्रायः एक-दूसरे के यहां जाते थे, साथ घूमते-घामते थे और बहुत-सी सार्थक-निरर्थक बातें, साहित्यिक-असाहित्यिक चर्चाएं करते थे। सड़कों पर भुट्टे खाते घूमते थे। खूब हंसते-बतियाते थे। एक-दूसरे के सुख-दुःख के साथ हो लेते थे। और बहुत-सी बातें थीं।

कृपाशंकर सिंह तब कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में रिसर्च करते थे और पता नहीं किस क्षण में एक दिन वे मेरे यहां आये कि हमारे परिवार के अंग बन गए। बाद में वे कुरुक्षेत्र छोड़कर दिल्ली में रिसर्च करना चाहने लगे और इस प्रक्रिया में दिल्ली में ही रहने लगे। मेरी पत्नी ने कहा— "मेरे यहां ही रहिये।" वे मेरे ही यहां ठहरे और उन्होंने मेरा और मेरे परिवार के सुख-सम्मान का पूरा ध्यान रखा। वे हर तरह से हमारे परिवार के सदस्य बन गए थे। वे खूब हंसते थे। हंसते-हंसते झुक-झुक पड़ते थे। हमारे बच्चों ने उनको 'हंसने वाला चाचा' नाम दे रखा था।

सन् 1962 की बात है। एक दिन मैं अपने ईदगाह के चौराहे से गुजर रहा था तो उधर से डा० विश्वनाथ त्रिपाठी एक व्यक्ति के साथ आते दिखाई पड़े। मैं ठहर

गया। मैंने उनके साथ वाले तेजस्वी लगने वाले श्यामवर्णी व्यक्ति को देखा। उस व्यक्ति ने मुझे देखा।

"आप लोगों का परिचय नहीं है?" विश्वनाथ जी ने पूछा।

हम दोनों नकारसूचक चुप्पी साधे रहे।

"ये हैं डा० रामदरश मिश्र और ये हैं डा० नित्यानंद तिवारी।" तिवारी जी आह्लाद से हंसे और नमस्कार किया। मैंने भी प्रसन्नता से भरकर नमस्कार किया। तिवारी जी के नये साहित्य से संबंधित कुछ लेख पढ़े थे। मैं बहुत प्रभावित था। उनके मिलन से और भी प्रभावित हुआ। दिल्ली में अनेक नये लोगों से मिला किन्तु थोड़ी-थोड़ी पूंजीवाले नये लोगों की ऐंठ और कृत्रिमता देखते बनती है। नित्यानंद जी के लेखों मे मुझे उनकी प्रतिभा की धार का आभास मिल गया था किन्तु अनेक नये लोगों के विपरीत यह व्यक्ति पहली ही भेंट में अपने व्यक्तित्व के खुलेपन और निश्छल हंसी से प्रभावित कर गया। लगा जैसे हम दोनों के भीतर के तार जुड़ गये हों और हंसी से हंसी मिल गयी हो।

उस समय वे शायद नौकरी के सिलसिले में दिल्ली आये थे। कुछ दिनो बाद राजधानी कालेज में उनकी नियुक्ति हो गयी तो हम दोनों प्रायः मिलने लगे और निकट से निकटतर होते गये।

डा० महीपसिंह मुझसे पहले दिल्ली आ गये थे और सचेतन आन्दोलन छेड़ दिया था। एक दिन डा० महीपसिंह से किसी जलसे में भेंट हुई, उनसे बातें हुईं और वे मुझे बहुत जीवंत व्यक्ति लगे और व्यक्ति के स्तर पर मुझे उनसे जुड़ाव अनुभव हुआ। उन्होंने अपने घर भी बुलाया। मैं गया। आना-जाना शुरू हुआ और हम लोग धीरे-धीरे मित्र बनते गये। महीपसिंह में एक खुलापन था, दोस्ताना उष्मा थी और दोस्तों के हित के लिए क्रियाशीलता थी। वे सद्गृहस्थ थे और साहित्य मे सहयात्री होने के साथ-साथ विश्वविद्यालयी संदर्भ में भी सहयात्री थे। इसलिए हम अपनी अलग-अलग साहित्यिक मान्यताओं और रचनात्मक प्रवृत्ति की भिन्नता के बावजूद बहुत अच्छे मित्र बन गये।

महीपसिंह बहुत कर्मठ व्यक्ति है। उनमे अद्भुत संगठन क्षमता है। कहा जा चुका है कि उन्होंने चर्चा के हाशिये पर पड़े हुए अनेक कहानीकारों को संगठित कर सचेतन आन्दोलन चलाया। इससे नये कहानीकारों के एक संगठित दल को बहुत बुरा लगा और सचेतन कहानीकारों को बदनाम करते रहे। यानी उनका संगठन तो ठीक है और साहित्यिक है किन्तु दूसरे का संगठन ठीक नहीं है और असाहित्यिक है।

सचेतन आन्दोलन से मेरा कोई सरोकार नही था किन्तु महीपसिंह से गहरे सम्बन्ध बन गये और वे आज तक चलते आ रहे हैं। जबकि उनके सचेतन आन्दोलन से जुड़े तमाम लेखक बाद में उनसे कटते गये, तब उससे न जुड़ा हुआ मैं उनसे अधिकाधिक जुड़ता गया। जहां केवल साहित्यिक समीकरण ही सम्बन्धों का एकमात्र आधार होता है वहां सम्बन्धों में न गहराई आ पाती है न स्थिरता। साहित्यिक समीकरण सम्बन्धों की निर्मिति के निमित्त बन सकते हैं किन्तु यदि वे सम्बन्धों के पर्याय बन जाएं तो यही

होता है। सम्बन्धों के सूत्र जोड़कर उन्हें नेपथ्य में चला जाना चाहिए और सम्बन्धों को अन्य अनेक मानवीय और पारिवारिक आधारों पर विकसित होने देना चाहिए।

महीप के आन्दोलन के साथ मेरा कोई सरोकार तो नहीं था किन्तु हमारी साहित्यिक यात्रा का भी परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था, ऐसा नही कह सकते। हम यह अनुभव कर रहे थे कि उस साहित्यिक परिदृश्य में चर्चा होती नहीं करायी जाती थी। तमाम लोग मिल-जुलकर विभिन्न आधारों पर कुछ नामों को उछालने में सफलता पाने का क्रम बनाये हुए थे। तब क्या हमें यह अधिकार नही है कि अपने लेखन की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए लोगों के बहरे कानों पर शोर मचाया जाये। महीप ने मुझसे पूछा —"क्या आप कवि नही है? कितने लोगों ने आपकी कविताओं का मूल्यांकन किया? क्या आप कहानीकार नही हैं? फिर क्यों नहीं लोग आपकी कहानियों की चर्चा करते? इसलिए नहीं कि आपकी कवितायें और कहानियां कमजोर हैं बल्कि इसलिए कि आप साहित्यिक जुलूसों में शामिल नहीं होते?"

महीप ने जो तर्क दिये, उनमे मैं इनकार तो नहीं कर सकता था फिर भी जुलूस में शामिल होना मेरे वश की बात नहीं थी। किन्तु कुछ मित्रों के साथ होकर साहित्यिक विचार-विमर्श तो चल ही सकता था जहां खुलकर अपनी मान्यतायें और सोच व्यक्त की जा सकती थी। महीप ने 'संचेतना' नामक एक त्रैमासिक पत्र की प्रस्तावना की और उन्होंने प्रस्ताव रखा कि हर अंक में एक कहानीकार पर एक लेख जायेगा और उसकी एक कहानी छपेगी। महीप ने पहले अंक में मुझे ही लेने का फैसला किया। मुझे अच्छा लगना ही था और यह और अच्छा लगा कि मेरी कहानियों पर लेख लिखा नित्यानंद तिवारी ने।

नित्यानंद तिवारी थोड़े ही दिनों में मेरे बहुत अच्छे मित्र बन गये थे। शादी के बाद तो पारिवारिक सम्बन्ध भी बने और बहुत गहरे सम्बन्ध बने। नित्यानंद का मेरे और मेरे साहित्य के प्रति बहुत सद्भाव रहा किन्तु एक बात मैं बहुत दावे से कह सकता हूं कि नित्यानंद की आलोचना में मैत्री दखल नहीं देती। वे मित्र हों चाहे दूसरे लोग, सबके सम्बन्ध में वही कहते और लिखते है जो ठीक समझते हैं। वैसे भी आलोचना में वे गंभीरता बरतते है। किसी भी लेखक के सम्बन्ध में हलके ढंग से रिमार्क नहीं कसते हैं। यानी वे अपनी आलोचना की विश्वसनीयता किसी भी मूल्य पर टूटने नहीं देते। हम उनसे सहमत हों या न हों, यह नहीं कह सकते कि वे किसी असाहित्यिक दबाव में आकर किसी के पक्ष या विपक्ष में आलोचना लिख रहे हैं। इसलिये अपनी कहानियों के सम्बन्ध में उनके विचार पढ़ना मेरे लिये सुखद था। अभी तक तो किसी ने मेरी कहानियों पर लिखा ही नहीं था इसलिए अपने कहानीकार रूप के प्रति लोगों की प्रतिक्रियाओं का बोध नहीं था। हां, पाठकों के पत्र जरूर आते थे और खूब आते थे किन्तु पाठकों की और आलोचकों की प्रतिक्रिया में अन्तर होता है। पाठक लेखक से अनजान होकर भी उसकी चीज पसंद कर सकता है क्योंकि वह चीज उसे अच्छी लगी है, उसकी बात उसके पास तक पहुंची है किन्तु आलोचक जान-पहचान के हिसाब से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है और अपनी आलोचकीय गरिमा की सुरक्षा

का ध्यान उसे ज्यादा रहता है, रचना की महत्ता का कम। इसलिए वह तमाम किन्तु-परन्तु लगाता हुआ अनेक भंगिमाओं के साथ रचना के महत्त्व या अमहत्त्व का उद्घाटन करता है। वह खुलकर या प्रसन्न होकर किसी रचना के बारे में कुछ कहना अपनी आलोचनात्मक गरिमा की तौहीन समझता है।

तो मैं कह रहा था कि मेरी अनेक कहानियों पर पाठकों के पत्र आते रहते थे, उन्हें मेरी कहानिया पसंद थी किन्तु किसी आलोचक की दृष्टि मे अभी वे नही उतरी थी और कहानीकार तो अपना-अपना दल बनाकर ही झंडा गाड़ने में लगे हुए थे। सन् 1963 में 'धर्मयुग' मे मेरी एक कहानी छपी थी 'खाली घर'। उसी वर्ष से भारती जी ने कहानी का एक स्तम्भ शुरू किया जिसमे बारी-बारी से हिन्दी के कई कहानीकारों की कहानियां छापी और उनके वक्तव्य भी छापे। जब यह स्तम्भ-योजना पूरी हो गयी तो भारती जी ने अंतिम किस्त के अन्त मे एक टिप्पणी छापी—"और इस वर्ष जो कहानियां छपीं उनमें 'खाली घर' पर सबसे अधिक पाठकों के पत्र आये।" मेरा खयाल है जितने पत्र 'धर्मयुग' को मिले उतने ही पत्र मुझे व्यक्तिगत रूप से मिले होंगे। किन्तु पाठक पत्र लिखते रहें आलोचकों को तो उन्ही लोगो की कहानियो की चर्चा करनी है जो उन्हें थमा दिये गये है या जिनकी बात करने मे उन्हें कोई 'रिस्क' नही है।

बहरहाल नित्यानद का लेख मेरी कहानियो पर पहला आलोचनीय लेख था यानी आलोचक के दर्पण में मुझे पहली बार अपनी कहानी का चेहरा देखने को मिला था और यह देखकर अच्छा लगा कि वह चेहरा ठीक-ठाक है बल्कि सुन्दर है। डा० तिवारी ने मित्रता के दबाव से मुक्त होकर कहानी की सीमाओं का भी खुलकर निर्देश किया था किन्तु कुल मिलाकर उन्होंने अपने मानवीय प्रगतिशील दृष्टिकोण के आलोक में कहानियों की बुनियादी शक्तियो को रेखांकित किया था जिससे अपने कहानी-लेखन के प्रति मेरी आस्था और दृढ हुई।

'संचेतना' को महीपसिंह ने एक बार निकाला तो हारे नही। अन्य अनेक छोटी पत्रिकाओं के लघु जीवन के विपरीत महीपसिंह के श्रम और संयोजन के कारण उसने दीर्घ जीवन प्राप्त किया। इससे इनकार नही किया जा सकता कि 'संचेतना' के सामान्य अंकों में महीपसिंह के मित्र परिसर को ज्यादा महत्त्व मिला किन्तु भिन्न-भिन्न कठघरों मे खड़ी अनेक पत्रिकाओ के विपरीत इसने और लोगों का भी खूब छापा और महत्त्व दिया। संचेतना ने आगे चलकर कुछ बहुत अच्छे विशेषांक दिये जिनमे 'हिन्दी कहानी', 'दो दशक की यात्रा', 'विचार कविता', 'समकालीन हिन्दी उपन्यास', 'विष्णु प्रभाकर' विशेषाक बहुत महत्त्व के है। इनमे हिन्दी के प्रायः सभी वर्गों और विचारो के लोगों का सहयोग लिया गया। इसके अतिरिक्त हिन्दी कहानियों के अगरेजी अनुवाद से संबंधित एक विशेषांक निकला जिसका अपना महत्त्व है। बहरहाल ये सब बातें बाद की हैं, अभी तो उसके पहले अंक की चर्चा हो रही थी।

कुछ आगे चलकर शायद 1967 में डा० नरेन्द्र मोहन से भेंट हुई। वे जालंधर से दिल्ली के खालसा कालेज में आये थे। कृपाशंकर जी ने उनकी चर्चा की, उनकी प्रतिभा की प्रशंसा की। हम मिले और धीरे-धीरे निकट होते गये और बहुत निकट होते

गये । कह चुका हूं कि मित्रों के साथ साहित्यिक सम्बन्ध भी बनते जाते थे, यहां भी वैसा ही हुआ । नरेन्द्र मोहन नयी समझ के आलोचक थे, (कवि तो बाद में हुए) और योजना-कर्ता भी थे । 'सचेतना' के सम्पादकीय से जुडकर उन्होने उसकी रूपरेखा को संवारने-सजाने में बहुत श्रम किया और विशेषांको में तो उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा । 'विचार कविता विशेषांक' तो मूलत: उन्हीं की योजना का फल था । वे बहुत निष्ठा-पूर्वक कोई काम करते है । वे जो लिखते रहे, उस पर काफी श्रम करते रहे ।

नरेन्द्र मोहन मे मुझे कुछ ऐसी बात दिखी जो मुझे उनकी ओर खीचती गयी । उनकी साहित्यिक समझदारी ने तो अपनी ओर खीचा ही, उनके व्यक्तित्व का खुलापन भी आकर्षक लगा । वे यार-बाश व्यक्ति है। मैने शुरू म ही उन्हें अपना दोस्त माना किन्तु उन्होंने मुझे सदा दोस्ती की ऊष्मा के साथ बड़े भाई का आदर-सम्मान दिया । हमारे-उनके बीच अवस्था की दूरियां थी भी, नही भी थी । हम सभी मित्र के रूप मे अपना सुख-दुःख, हंसी-रुदन बाटते थे और साहित्य की सहयात्रा मे खुलकर अपनी बात कहते थे, फिर भी नरेन्द्र मोहन उस भारतीय दृष्टि को नहीं छोड़ पाते थे जो अवस्था की दृष्टि मे अपने से बडे लोगो का सम्मान करती है और यह शील-विवेक रखती है कि उसके साहचर्य मे क्या किया जाये, क्या न किया जाये और उसके साथ कब कैसा व्यवहार किया जाये । उनसे मेरा गहरा पारिवारिक सम्बन्ध बन गया ।

नरेन्द्र मोहन पजाब से आये थे । उन्होंने अपने स्वभाव और साहित्यिक प्रतिभा के कारण वहां अनेक साहित्यिक और असाहित्यिक मित्र बनाये थे । दिल्ली आकर हम लोगो से जुड़े । ये उनके बनने के दिन थे । बनने का एक आसान रास्ता यह होता कि अपनी मित्र मडली की जय बोली जाय । दूसरे लोगों की एकदम बेशर्मी से उपेक्षा कर दी जाये । हिन्दी साहित्य म उस समय यह प्रक्रिया बहुत जोरो पर थी ।

यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों ने अपने को साहित्यिक 'एलीट' सिद्ध करके यह सामर्थ्य हासिल कर ली थी कि वे कहे तो अपने लोगों के बारे में और दुनिया समझे कि ये जो कह रहे है वही ठीक है, जिनके बारे में कह रहे हैं वे वास्तव मे महत्त्वपूर्ण रचनाकार या आलोचक है । इस प्रक्रिया का असर पडना स्वाभाविक था । प्रतिक्रिया मे वह असर नरेन्द्र मोहन पर भी पड़ा था किन्तु नरेन्द्र मोहन ने अपने बीच के महत्त्व-पूर्ण लेखको की बात करते हुए दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखकों को हमेशा याद किया, उन्हें यथोचित महत्त्व दिया । इसलिये औरों की देखा-देखी उनकी आलोचना संकीर्ण नहीं हुई । आगे चलकर वे कविताएं लिखने लगे ।

थोड़ा आगे चलकर एक और व्यक्ति मुझसे जुड़ा और जुड़ता ही चला गया और आज तक गहरे जुड़ा हुआ है । वह है डा० विनय । डा० विनय से मेरी भेंट तेलीवाड़ा में हुई । उस दिन हिन्दी-विभाग की अनुसंधान-परिषद् में मुझे आलोचना पर लेख पढ़ना था । पी०जी०डी०ए०वी० कालेज से विभाग आना था किन्तु एकाएक बसों की हड़ताल हो गयी । दूसरी सवारियां भी मिलना कठिन हो गया.। मैं बहुत परेशान हुआ । कैसे पहुंचू । तांगे पर हरमुलाल जी के साथ तेलीवाड़ा तक आया और किसी सवारी की तलाश में सड़क पर खड़ा था । कुछ नहीं मिल रहा था । तब तक स्कूटर पर आते एक

आदमी को हरगुलाल जी ने पुकारा और कहा,"डा० विनय कुमार, मिश्रजी को विभाग पहुंचा दो। इन्हें पेपर पढना है।" समस्या हल हुई किन्तु उस समय विनय से कुछ खास पहचान नही हुई। उस समय विनय नये साहित्य से नही जुडे थे।

न जाने कब कैसे विनय नये साहित्य की ओर उन्मुख हुए और यह उन्मुखता उन्हे हमसे जोडती गयी। वे नयी कविता की गोष्ठियो में दिखाई पडने लगे और छोटी-मोटी गोष्ठिया आयोजित करने लगे। उन गोष्ठियो मे वे मुझे प्रायः अध्यक्ष के रूप में आमन्त्रित करते थे। धीरे-धीरे मेरे-उनके साहित्यिक सम्बन्ध बनते और सघन होते गये, फिर पारिवारिक सम्बन्ध भी जुडे। पहली बार उनके घर गया तो उनकी पत्नी प्रमिल जी को दखा और लगा कि चेहरा जाना-पहचाना है। विनय ने ही बताया कि ये एम० ए० मे आपकी शिष्या है। विनय के अनुज उन दिनो 'ज्ञान भारती' नाम की प्रकाशन-संस्था भी खोले हुए थे। डा० विनय मार्ग-निर्देशन करते थे। डा० विनय को इस बात का श्रेय देना चाहता हू कि उन्होने इस प्रकाशन के माध्यम मे मेरे कहानीकार को समग्र रूप से पाठको के सामने आन दिया। मेरी कहानिया छपती थी, विशेषतया साठ के बाद मै कहानी के क्षेत्र मे अधिक सक्रिय हुआ और वे खूब छपी थी। डा० विनय ने मेरा-पहला कहानी-सग्रह 'खाली घर' छपवाया जिसकी अच्छी-बुरी चर्चा से मेरी कहानिया कुछ जानी-पहचानी गयी। यानी यहाँ से मेरे कहानीकार का एक समग्र बिम्ब साहित्यिक परिदृश्य मे उभरना शुरू हुआ। तमाम खेमेबाज आलोचको की उदासीनता के बावजूद मेरी कहानिया धीरे-धीरे अदलबद्ध पाठको और लेखको के मन मे अपनी पहचान उभारने लगी।

डा० विनय ने दूसरे वर्ष यानी 1969 मे मेरी आलोचना पुस्तक 'हिन्दी कविता : तीन दशक' छपवायी। यह पुस्तक मेरी अपनी आलोचना-पुस्तको म अच्छी पुस्तक है और पाठको ने इसे पसद किया है। इस प्रकार मेरे रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन के दो विशिष्ट बिन्दुओ को प्रकाशित कर डा० विनय ने मेरे साथ लेखकीय और पारिवारिक सम्बन्ध और मैत्री भाव मे एक नया आयाम जोड़ा।

सन् 1969 मेरे लिये बहुत महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा, लेखकीय दृष्टि मे भी और अकादमिक दृष्टि से भी। 1969 मे 'हिन्दी कविता : तीन दशक' तो छपा ही, 'जल टूटता हुआ' उपन्यास तथा 'पक गयी है धूप' कविता-सग्रह भी छपा। 'जल टूटता हुआ' की अपनी कहानी है। इसे अहमदाबाद मे ही लिखना शुरू कर दिया था और यह सन् 1965 मे पूरा हो गया था। तब नामवरसिंह राजकमल प्रकाशन मे थे। उन्होने संकेत किया था कि यह उपन्यास उन्हे दू। किन्तु एक दिन देवीशंकर जी ने कहा—"देखिये, अपने मित्र राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन खोल रहे है। उन्हे यह उपन्यास दे दीजिये।" मैंने उनकी बात मान ली और पाडुलिपि अक्षर प्रकाशन को दे दी। जवाहर चौधरी राजेन्द्र यादव के पार्टनर थे। इस प्रकाशन मे पहला सेट निकला, दूसरा निकला और किसी सेट मे मेरा उपन्यास नही आया। जब भी अक्षर प्रकाशन जाकर बात करता, जवाहर चौधरी वायदा करते कि अगले सेट मे आ रहा है। ऐसे ही जब उन्होने एक दिन कहा कि अगले सेट में आ रहा है तो मैं झल्ला पडा, "आप क्यों झूठ बोलते है

—अगले सेट की किताबों की तो घोषणा हो चुकी है।" जवाहर चौधरी ने अपने को संभाल लिया—"अरे नहीं-नहीं, राजेन्द्र ने ऐसे ही बिना मुझसे पूछे-पाछे नाम दे दिया है।" मैं जानता था कि जवाहर जी मुझे बहला रहे हैं। उनकी बात से लगा कि वे तो देना चाहते हैं किन्तु राजेन्द्र यादव के मन में ही कोई गांठ है जो इसे छपने नहीं दे रही है। देवीशंकर जी जीवित होते तो पूछता—"आपने किसे उपन्यास दिला दिया। मैंने तो आपके कहने का सम्मान किया और ये समझते है कि ये मुझे छापकर मुझे उपकृत करेंगे।" बहरहाल मैं झल्लाकर साल-भर बाद अक्षर प्रकाशन से पाडुलिपि उठा लाया। तब भी जवाहर चौधरी कहते रहे कि मैं उसे छापने वाला हूं, मत ले जाइये। बाद में अनुभव किया कि वहां से पाडुलिपि वापस लाकर अच्छा ही किया क्योंकि तमाम लेखकों को इस प्रकाशन के लेन-देन को लेकर शिकायतें करते सुना। वहां से लाकर मैंने इसे नेशनल पब्लिशिंग हाउस को दिया। उन्होंने कहा, अपने विशेषज्ञ से पढ़वाकर फैसला करूंगा। तब उनके साथ श्री राजेन्द्र काम करते थे और साहित्यकर्मी होने के कारण उनके साहित्यिक सलाहकार भी रहे होंगे। तब यह प्रकाशन बंग्लो रोड पर एक छोटी-सी जगह में था। मल्लिक साहब से मेरा कोई विशेष परिचय नहीं था। अतः दो-तीन महीने बाद उसे इस टिप्पणी के साथ वापस कर दिया कि इतना मोटा उपन्यास छापने की स्थिति में वे नहीं है। फिर मैंने दो-एक और सामान्य प्रकाशकों से सम्पर्क किया, उन्होंने भी असमर्थता प्रकट कर दी। फिर मै एक दिन वाराणसी गया और अपने उपन्यास 'पानी के प्राचीर' के प्रकाशक श्री कृष्णचन्द्र बेरी से कहा तो उन्होंने अपने सहज और परिचित मैत्री भाव से कहा— 'रख दो, छप जायेगा।"

वहां रख दिया किन्तु जानता था कि यहां देर लगेगी। इनके यहा एक तो पाठ्य-पुस्तकों और बाल-पुस्तको के प्रकाशन का अटूट क्रम लगा रहने से दूसरी पुस्तकों पर विशेष ध्यान नही जाता, दूसरे इन पुस्तकों के छपने की कोई सुनिश्चित योजना नहीं होती। पुस्तक छपते-छपते कहीं भी कितने भी दिन के लिये रुक सकती है। 'पानी के प्राचीर' के अनुभव से मैंने जाना था और हुआ भी यही। यानी सन् '66-'67 मे दिया गया उपन्यास '69 में आया। तब तक पूर्वांचल को लेकर लिखे गये कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास आ गये थे। डा० भारती ने यह उपन्यास पढ़कर लिखा कि कितना अच्छा रहा होता 1965 में पूरा हुआ यह उपन्यास अपने समय से यानी बाद मे प्रकाशित उपन्यासों से पहले आ गया होता। तब कुछ और बात बनी होती।

मुझे इस उपन्यास की रचना से बहुत संतोष मिला था किन्तु यह चिंता तो लगी ही थी कि लोगों को कैसा लगेगा? नित्यानंद जी ने इस उपन्यास को पढ़कर अपना गहरा संतोष व्यक्त किया तो मुझे बहुत अच्छा लगा, फिर तो और लोगों की अनुकूल प्रतिक्रियाएं मिलने लगीं। डा० विनय के ही घर इस पर गोष्ठी हुई जिसमें 15-20 साहित्यकार उपस्थित थे। लेख पढ़ा नित्यानंद तिवारी ने। यानी इस पुस्तक की चर्चा की शुरुआत भी विनय के यहां से हुई। फिर तो धीरे-धीरे (नामवर समीक्षकों की उदासीनता के बावजूद) यह लोगों का ध्यान आकृष्ट करता गया। इस पर पत्रिकाओं और पुस्तकों में समीक्षाएं आती गयीं। सुना था कि उस वर्ष साहित्य अकादमी पुरस्कार

की दौड मे भी था। यह पुरस्कार मिलता तो उसी को है जिसे मिलना होता है किन्तु उस समय इतना भी बहुत अच्छा लगा था कि किसी ने इसे दौड मे शामिल होने के लिए धीरे से धकेल दिया था।

इसी वर्ष 'पक गयी है धूप' भी छपी। भारतीय ज्ञानपीठ मे छपी थी और वहा से छपने का अपना सुख होता है। इसी वर्ष मै पी० जी० डी० ए० वी० कालेज से दिल्ली विश्वविद्यालय के साध्य सस्थान मे आया और उसी का परिणाम था कि बाद मे मै रीडर और प्रोफेसर हुआ। मुझे लगता रहा है कि कई बार प्रतिकूल परिस्थितिया भविष्य के लिए वरदान बन जाती है। साध्य सस्थान मे हिन्दी प्राध्यापक की जगह खाली थी किन्तु मैने इसलिए वहा आवेदन-पत्र नहीं दिया कि कालेज मे सेलेक्शन ग्रेड में आने की सभावना थी। अपने समग्र शिक्षण-अनुभव मे वरिष्ठ होने के बावजूद कालेज मे मेरा चौथा नम्बर था। मुझे आशा थी कि फिर भी कुछ होगा। लेकिन नहीं हुआ। कालेज के हिसाब से जिन्हे होना था वे हुए और मैने निराशा मे साध्य सस्थान के लिए आवेदन-पत्र दे दिया और वहा ले लिया गया। यानी विश्वविद्यालय-सेवा के क्रम मे लग गया।

64

विवेक पढने जाने लगा था। कहा जा चुका है कि वह स्वभाव से बहुत बरिवड था। ताकत भी थी। भय तो नही गया था। जिस बात पर तुल गया, तुल गया। स्कूल नही जाने का मन है तो नही जायेगा। लाख कोशिश कर लीजिए। वह पहले माडल टाउन मे ही मेरे एक मित्र सनेही जी के स्कूल 'सर्वोदय विद्या मदिर' मे जाता था। वहा से रिक्शा आता था। रिक्शेवाला चिल्लाता था—"बीबे बाबू!" बब्बे बाबू का मन होता तो जाकर रिक्शे पर बैठ जाते, नही तो कहते—"नही जायेगे।" किन्तु नही जाने से कैसे काम चलेगा। नही जाने का तो उनका मन प्रायः होता था। अतः हम लोग उन्हे पकडकर रिक्शे पर बैठा आते थे। रिक्शे पर बैठकर बब्बे बाबू तूफान मचा देते थे और पीछे की ओर से कूद पडते थे। रिक्शेवाला उन्हे पकडता था तो उससे ढुसुम-ढुसुम शुरू हो जाता था। रिक्शेवाला घबराकर छोड देता था और बब्बे बाबू विजयी की तरह तने हुए घर लौट आते थे। उनकी इस आदत से हम भी परेशान थे, स्कूल वाले भी परेशान थे, किन्तु हम समझ गये थे कि बब्बे बाबू वह चीज नही है जिसे जबरदस्ती काबू मे रखा जा सके। सनेही जी भी प्यार से ही उन्हे वश मे करना चाहते थे और हम भी किन्तु आखिर कोई कितना सहन करेगा, अतः बब्बे बाबू अपनी भयानक जिद के कारण कभी-कभी पिट भी जाते थे।

कभी-कभी वे चौराहे पर अकेले आठ-दस लड़को से ढेला-ढेलौवल करते दिखाई

पड़ते थे और वहां से लौटने के बाद उनमें कोई उत्तेजना या थकान नहीं होती थी।

कुछ दिनों बाद विवेक का स्कूल बदल गया। वे मोहल्ले के ही एक प्राइवेट माडल स्कूल में जाने लगे। स्कूल जाने की आदत में थोड़ा-सा सुधार अवश्य हुआ था किन्तु स्कूल की औपचारिकताओं ने उन्हें उद्विग्न कर दिया। बच्चों की टाई ठीक रहनी चाहिए, जूता चमकता होना चाहिए, यूनीफार्म में चुस्ती होनी चाहिए, कपड़े किसी भी कदर अस्त-व्यस्त नहीं होने चाहिए। बच्चे की बोलचाल में अंगरेजी की ऐंठ और औपचारिकता होनी चाहिए। उसकी चाल-ढाल चुस्त-दुरुस्त होनी चाहिए। बिना शिथिलता के उसके मुंह से समय से गुड मार्निंग, गुड आफ्टरनून, गुड इवनिंग, गुड नाइट फूटनी चाहिए और मां-बाप को हिदायत मिलनी चाहिए कि वे बच्चे को इस सांचे में ढालें या ढलने में सहायता दें।

विवेक इस स्कूल में गया तो विवेक और स्कूल दोनों एक-दूसरे के लिए चुनौती बन गये। स्कूल चाहता था विवेक को एक सांचे में ढालना और विवेक थे कि वे तुले थे स्कूल के उन सारे यांत्रिक नियमों को तोड़ने को जो उनके उन्मुक्त व्यक्तित्व को कसना चाहते थे। वे घर से निकलते थे तो कभी टाई पहनना भूल जाते थे, कभी जूता। टाई पहनकर निकलते भी थे तो उन्हें रास्ते में या स्कूल में तंग करती थी और उसे निकालकर बस्ते में रख लेते थे या कहीं फेंक देते थे। जूते की जगह चप्पल पहनकर निकल जाते थे। प्रायः पांव में चोट ही लगी होती थी इसलिए जूता पहना नहीं जाता था या फिर स्कूल का रिक्शा आकर दरवाजे पर रुकता था और ये तैयार नहीं होते थे और फिर इतनी जल्दी-जल्दी में तैयार होना पड़ता था कि जूता पहनने का मौका ही नहीं मिलता था या स्कूल से आकर जूता निकालकर कहीं यों फेंक देते थे कि जल्दी-जल्दी में मिलता ही नहीं था। यही हाल बस्ते का था तथा और चीजों का भी था। हम लोग हैरान थे—परंतु करते क्या?

हैरान कौन नहीं था। स्कूल वाले विवेक से हैरान थे, विवेक स्कूल वालों से हैरान थे और हम विवेक और स्कूल दोनों से हैरान थे। स्कूल विवेक की शिकायत करता था, विवेक स्कूल वालों को गाली देता था। हम जानते थे कि स्कूल वाले बच्चे को स्कूल के तौर-तरीकों और अनुशासन में ढालना पसंद करते हैं। हम जानते थे कि विवेक जैसे कुछ बच्चे एक उन्मुक्त स्वभाव लेकर पैदा होते हैं और वे किसी लीक से बंधकर नहीं, उससे हटकर विकसित होते हैं, इसलिए वे लीकों (चाहे वे किसी क्षेत्र की हों) के लिए चुनौती बन जाते हैं।

विवेक कई दिन से स्कूल नहीं जा रहा था। कई कारण संचित हो गये थे। एक तो वह यह कहता था कि प्रिंसिपल बेईमान है। दौड़ में फर्स्ट मैं आया और उसने फर्स्ट कर दिया अपनी बेटी को। मुझे ऐसे स्कूल में नहीं पढ़ना। दूसरा कारण था टाई के लिए मार खाना। वह कहता—साली टीचर ने मुझे टाई न लगाने के लिए मारा। मैं नहीं लगाता टाई-फाई। मेरा दम घुटता है। तीसरा कारण था हिन्दी माध्यम का एकदम इंगलिश माध्यम में बदल जाना। उस स्कूल में पहले शुरू की कक्षाओं में हिन्दी माध्यम थी, एकाएक इंगलिश कर दी गयी और हिन्दी की सारी किताबें बेकार हो गयीं

और स्कूल से ही इंगलिश की पुस्तकें उन्हें देकर घरवालो को देने के लिए उनके बिल थमा दिये गये। एकाएक इगलिश का भार विवेक सह नही पाया। एक तो यह अचानकता, दूसरे इस व्यवहार के प्रति प्रतिरोध का भाव, इसलिए विवेक इंगलिश माध्यम के साथ साहचर्य स्थापित नही कर पा रहा था और इसके लिए उसे दडित होना पड़ता था। यह दंडित होना उसके भीतर स्कूल के प्रति आक्रोश भर रहा था। अत: वह घर बैठ गया। बहुत कहने पर जिद कर बैठा था कि वह यहा नही पढेगा। आखिर किसी तरह मै उसे लेकर स्कूल पहुचा, प्रिंसिपल से बात की, उसकी शिकायतें सामने रखी। प्रिंसिपल ने उसके टीचर को बुलाया। वे अपने ओठो पर एक किलो लिपस्टिक लादे हुए ठसके से आयी, प्रिंसिपल ने उन्हे कुछ समझाया तो उन्होने मेरी ओर बडी हिकारत की दृष्टि से देखा, फिर बोली—"देखिए जी, आपका लडका स्कूल के कायदे के मुताबिक नही चलेगा तो उसे डाटना भी पडेगा। उसे समझाने की जगह आप शिकायत लेकर आये है।"

मुझे बहुत असभ्य और अभद्र लगी यह टीचर। मैंने प्रिंसिपल से कहा—"मिसेज प्रिंसिपल, इनसे कहिए कि इन्हें जो कुछ कहना हो आपसे कहे, मैंने इनसे कुछ नही कहा है। जो कुछ कहा है आपसे कहा है। हम शिक्षाधर्मियो को यह भी समझना चाहिए कि स्कूल बच्चों को बांधने के लिए नही होते, उन्हें खोलने के लिए होते है। जूता टाई, मोजा शिक्षा नही है, शिक्षा का उद्देश्य बच्चों के अपने स्वभाव की पहचान कर उनकी संभावनाओं को खोलना होता है, उनका जूता, मोजा ठीक करना नही होता। दुर्भाग्य से आज शिक्षा इन्ही पर ज्यादा ध्यान दे रही है और इसीलिए छोटे बच्चों की पढाई उनकी मातृभाषा में होनी चाहिए। मैंने इन बच्चो को आपके स्कूल में इसीलिए भेजा था कि आपके यहां पढाई हिन्दी में होती है और इंगलिश भी एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। अब बच्चा एकाएक आ जाने वाले इगलिश माध्यम के भार को सभाल नही पा रहा है तो इसमे उसका क्या दोष?"

"लेकिन और भी तो बच्चे है, वे तो कुछ नही कहते?" फिर वे मैडम बोली थी। मैंने उनकी ओर देखा और बोला—"प्रतिरोध केवल सजीव बच्चे ही करते है जिनमे अपनी पसद, नापसद शुरू से होती है। निर्जीव बच्चो को तो आप चाहे जिस रूप में ढाल सकते है किन्तु सजीव बच्चो को उनके स्वभाव के अनुसार ही विकसित करना होता है।"

प्रिंसिपल बोली—"आप ठीक कह रहे है, हम इस बात का ध्यान रखेंगे किन्तु इतने बच्चो में सबके अलग-अलग स्वभाव के अनुसार नियम बनाना तो संभव नही है अतः कुछ आप भी प्रयत्न कीजिए कि यह स्कूल के वातावरण मे अपने को ढाले और जहा तक हिन्दी से इगलिश माध्यम करने का सवाल है वह मैंने तमाम अभिभावको के आग्रह से किया है। वे चाहते है कि उनके बच्चे शुरू से ही अंगरेजी में बोलें। स्कूल मैंने अपने लिए तो खोला नही है। अभिभावको की जो इच्छा होगी उसी के अनुसार हमें चलना पड़ेगा। हम कोशिश करेंगे आपके बच्चे को धीरे-धीरे इस ओर आकृष्ट करने की। आप भी हमारा सहयोग कीजिए।"

"मैडम, स्कूल केवल व्यवसाय नहीं है कि बाजार की मांग को देखते हुए हम उसे ढालते चलें। वह एक सिद्धान्त भी है, जिसका निश्चय स्कूल खोलने वाले को करना पड़ता है। हिन्दी माध्यम एक बुनियादी शिक्षा-नीति का परिणाम है। केवल कुछ लोगों के चाहने, न चाहने का परिणाम नही है। बहरहाल मैं आपके फैसले को बदल तो सकता नहीं, स्कूल आपका है। हां, इतना अवश्य कहूंगा कि इंगलिश माध्यम से पढ़वाना हो तो इसका ध्यान रहे कि टीचरें योग्य हो जो उन्हें सही उच्चारण दे सकें।"

प्रिंसिपल थोड़ा मुसकराईं। मैंने कनखियो से देखा कि इंगलिश मैडम का रंगा-पुता चेहरा मेरे प्रति घृणा से काला पड गया था। विवेक को प्रिंसिपल ने बहुत प्यार किया, समझाया और मैं चला आया।

65

हेमंत, शशांक, विवेक अपने-अपने ढंग से जीवन और शिक्षा के क्षेत्र में उत्पात मचाये हुए थे। अंजू और बन्नो दोनों बेटियां बेटियों की तरह ही दोनों क्षेत्रों मे बहुत शालीनता और गम्भीरता से पग बढ़ा रही थी।

बन्नो का नाम वनश्री रखा गया था और संक्षिप्त नाम बन्नो पड गया। बाद में न जाने क्या हुआ कि उसका नाम वनश्री से स्मिता रख दिया गया किन्तु पुकारने का नाम बन्नो ही रह गया। इन दोनो बेटियों के बारे मे न कभी स्कूल से शिकायत आयी न पास-पडोस से। दोनो पढ़ने में बहुत अच्छी थीं, अच्छे अंक मिलते थे। बाद में अंजू को कुछ ऐसी मंद बुद्धि लडकियों का साथ मिल गया जिनके कारण उसकी शैक्षिक प्रगति बाधित हुई और उसके डिवीजन खराब होने लगे। बन्नो में शुरू से ही अच्छी मेधा दिखाई पडी और साथ ही लड़कों जैसी रुचि भी उसमें लक्षित होने लगी। पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदने, सांस्कृतिक क्रिया-कलापों और सामान्य ज्ञान के प्रति उसमें बहुत उत्साह और पकड़ थी। अंजू का रास्ता लडकी का था, सीधा था, इसका वर्तुल। अपने बल पर कुछ बन जाने की प्रवृत्ति उसमें शुरू से ही दिखाई पड़ने लगी थी। हमने कभी उसे लड़की की सीमा में बांधने की कोशिश नहीं की। उसे अपने मार्ग पर चलने दिया। और हमें प्रसन्नता है कि वह आज एक लडका या लडकी के रूप में नहीं, एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में सामने है, जीवन और ज्ञान के संकुल मार्ग से चलना पसंद करती है। निरंतर एक तैयारी की यात्रा से गुजर रही है।

बहरहाल तब हम दोनों बेटियों से तो निश्चिन्त थे किन्तु लड़कों की जीवन और शिक्षा-यात्रा उद्विग्न किये हुए थी। विवेक तो अभी छोटा था, अत: वह बरिबंड होकर भी सामाजिक दृष्टि से बहुत परेशानी का कारण नहीं बना था। शशांक का पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगता था, अतः स्कूल से शिकायतें तो आती थीं किन्तु लड़ाई-झगड़े

की शिकायतें बहुत कम आती थीं। शशांक का कोई दल नहीं था और तैश में आ जाता था तो यह नहीं देखता था कि वह अकेला है और विरोधी पक्ष में कई हैं। बिना सोचे-समझे पिल पड़ता था और पिट जाता था।

शशांक की चटोरपन की आदत बढ़ती ही जा रही थी। पैसा किसी काम में दिया जा रहा हो, आशंका बनी होती थी कि उसका सही उपयोग नहीं हो पायेगा। उसके स्कूल में बैंक की कोई रेकरिंग योजना शुरू हुई थी। हर महीने दस रुपये जमा किये जाते थे। कुछ महीने बाद किसी काम में वे पैसे निकालने की जरूरत पड़ गयी। शशांक से कहा गया कि निकाल लाओ। वह कई दिन तक टाल-मटोल करता रहा। मैंने जोर देकर कहा—"आज पैसे जरूर निकाल लाना।"

शाम को वह स्कूल से लौटा ही नहीं। हम लोग बहुत चिंतित हुए। दूसरे दिन स्कूल गया तो ज्ञात हुआ कि वह कल स्कूल गया ही नहीं था। मुझे लग गया कि वह जमा पैसे निकालकर खा गया होगा या कई महीने से जमा ही नहीं किया होगा, खाता रहा होगा। लेकिन अब चिंता पैसे की नहीं, शशांक की थी। अनेक संभावित जगहों में खोज कर ली गयी। कहीं नहीं मिला। हमारी पीड़ा का अंत नहीं था। श्रीमतीजी को देखकर डर लगने लगा था और हम उन लोगों की अनंत वेदना में कुछ सहभागी हो रहे थे जिनके बच्चे सदा के लिए खो जाते हैं। कैसे जीते होंगे वे लोग?

एक दिन मेरे साले दीपनारायण चुपके से मेरे यहां आये और बताया कि शशांक आया हुआ है और डर के मारे यहां नहीं आ रहा है। मैं तो अन्यत्र जाने का बहाना बनाकर यहां आया हूं। कई दिन से भूखा था, नहाये-धोये भी नहीं था। उसे देखकर दया आ रही थी। पत्नी उनके साथ गयी और शशांक उन्हें देखते ही रो पड़ा। पत्नी प्यार से समझा बुझाकर उसे ले आयी। मेरी ओर से आश्वस्त किया। वह सामने आया तो मैंने उसे छाती से लगा लिया और डांटा कि इतनी छोटी-सी बात के लिए डरकर भागने की क्या आवश्यकता थी? पैसे खा गये थे तो क्या हो गया? पैसे खाने के लिए ही होते हैं।

उसने बताया कि वह बम्बई चला गया था। वहां जाते ही किसी गलत आदमी के हाथ में पड़ गया, उससे लड़-झगड़कर फिर स्टेशन आ गया और गाड़ी में बैठ गया। उसने हाथ पर छुरे का निशान भी दिखाया। हम एक होने वाले अनिष्ट की आशंका से कांप गये किन्तु उसके आ जाने से राहत भी अनुभव कर रहे थे। शशांक को भगाने वाली बुद्धि और संकट में संभाल लेने वाली बुद्धि दोनों का साक्षात्कार कर हम दुःख और सुख का अनुभव कर रहे थे।

किंतु हेमंत का अपना दल था। मोहल्ले के तमाम शरारती लड़के उसके साथी थे—कोका, बादशाह, अशोकी, मराठी और न जाने कितने-कितने लड़के। कह चुका हूं कि बचपन में दूसरों द्वारा पिट जाने की प्रतिक्रिया में वह अपने को दूसरों को पीटने लायक बना रहा था। पहले घर रोता हुआ आता था अब पीटकर या पिटकर चुपचाप आता था, पूछने पर भी कुछ नहीं बताता था। दूसरी बात उसमें यह थी कि वह तैश में नहीं, योजना के साथ लड़ता था। घर में तो वह जरूर तैश में रहता था बल्कि तैश में ही रहता

था, किंतु बाहर अपने तैश को समय के हिसाब मे कम-ज्यादा करता रहता था। जहां देखता था कि घिर गया है वहा बुद्धि से काम लेकर निकल आता था, जहा देखता था कि तैश से काम चल जाएगा वहा तैश मे आ जाता था।

अब वह कालेज मे चला गया था और वहा भी पढने-लिखने मे कोई रुचि नही थी, बस यही सब करना था। कालेज जाने से पहले जब वह अपेक्षाकृत छोटा था तो मोहल्ले के शरारती लडको के साथ न जाने कितने क्रिया-कलाप करता था। वैसे हेमत उन शरारती लडको के साथ अवश्य था और बहुत-से खेल करता था किंतु उनसे उसकी कोई बुनियादी समानता नही थी। वह शुरू से ही मनुष्य था। उसने कभी कोई क्रूर कर्म नही किया बल्कि दूसरो की सहायता करने मे, लडकियो की इज्जत बचाने मे, पशु-पक्षियो के भी जख्म भरने मे, गरीबों और असहायो के आसू पोछने मे वह सदा तत्पर रहता था। वह अपने घर की चिंता करता हो या न करता हो (और न ही करता था) दूसरो के दु:ख दर्द मे शामिल जरूर होता था। अपनी मा के दु:ख-दर्द के बारे मे शायद ही कभी पूछा हो किंतु जानता हू कि दोस्तो की माताओ के लिए उसने बहुत कुछ किया। घर या अस्पतालो मे उनके लिए जाना था। घर से सामान ले जाकर न जाने कितने जरूरतमद दोस्तो को देता रहा। हमे यह तकलीफ तो जरूर रही कि देखो, यह लडका अपने घर का कोई मरना भी रहे तो चिंता नही करता और दोस्तो के यहा किसी को कोई तकलीफ हो तो सब कुछ छोड-छाडकर भाग खडा हुआ। मुझे याद नही कि इसने घर के लिए कभी कुछ किया हो किंतु हम लोग अपना काम कर लेने मे समर्थ थे और हमारे जीवन की गाडी बिना किसी (चाहे अपने हो या पराये) की सहायता के ठीक-ठाक चल रही थी, इसलिए हम लोग हेमत की अपने घर के प्रति घोर उदासीनता को देखते हुए भी इस बात से प्रसन्न थे कि उसका सामाजिक व्यवहार मूलत: मानवीय है। इसीलिए हम उसके साथियो से चिढते थे। हम जानते थे कि उसके साथी शरारती ही नहीं क्रूर है, अमानवीय है। उनकी शरारतों मे बाल-सुलभ क्रीडा-भाव नही है, हिंसा-भाव है। हम इसे उनके साथ होने से मना करते थे, डाटते थे और कभी कभी इस बात को लेकर बहुत अप्रिय प्रसग घटित होते थे लेकिन हेमत अपने रास्ते पर अडिग भाव से चल रहा था और इन दोस्तो के साथ न जाने कितनी शरारते करता था। कुछ की जानकारी हमे होती थी, कुछ की नही होती थी। कुछ मे ये शरीक होते थे, कुछ मे मात्र दर्शक बन रहते थे। शरारतों के केन्द्रीय चरित्र तो अशोकी, कोका, बदशाद तथा मराठी हुआ करते थे। वैसे मराठी हेमत का दोस्त तो था किंतु इसके इन दोस्तो से नही जुडा था। ये लडके खुलकर शरारतें करते थे और उपालभ लेकर जाने वालो को इनके बाप डाटकर भगा देते थे और मैं था कि उनके उपालभ को सुनता था, दुखी होता था और लडके को डाटता था। उन दिनो पूरे मोहल्ले मे एक टी० वी० सेट था मिस्टर चौधरी के यहा। 15 अगस्त, 26 जनवरी को वह टी० वी० उनके खुले ओसारे मे रखा जाता था। वहा आसपास के लोग आकर देखते थे। चौधरी इन शरारती लडकों को अंदर नही आने देते थे। बस, क्या था, ये लडके उनके गमले को गिराकर तोड देते थे, बाहर से ढेले मारते थे और चौधरी के खिलाफ हाय-हाय के नारे लगाते थे। इन लडकों का समवयस्क था

बाबूलाल, वह लाला का लड़का था। उसकी मां भी लाला की ठेठ बीवी थी। बाप दुबला-पतला लम्बा-सा। ये लडके बाबूलाल को तग करते रहते थे और एक रात कोका, अशोकी बाहर सोते हुए बाबूलाल के बाप की खाट उठाकर ले गए और एक गंदी नाली के किनारे रख आये। सुबह बाबूलाल के बाप की नीद टूटी तो वह अपने को वहा पाकर हैरान हो गया, उसे डर लगा कि कोई भूत-वूत तो यहा नही रख गया है। सुबह खाट टांगे हुए घर पहुंचा तो देखा घर मे कुहराम मचा हुआ है।

एक दिन सुबह-सुबह सामने के मकान म रहने वाले बूढ़े गुप्ता जी (जिन्हे हम लोग बिन्नी का बाबा कहते थे) आये और शिकायत कर गय कि "कल लडके जब बिन्नी सो रहा था तो हेमत ने नाली के कीचड मे झाड़ू डुबाकर उसके मुह पर दे मारा। मै पचायत बुला रहा हू।"

मैं अब ऐसी बातो से ऊब गया था और इस बात से भी चिढ हो गयी थी कि इस मोहल्ले मे न जाने किस-किसके बच्चे एक-मे-एक गदी शरारत करते रहते है। उनमे न कोई कहने जाता है न पंचायत होती है। मुझी को लोग कमजोर समझते है इन सब बातो के लिए। मेरे बच्चो की भी मेरे प्रति यही शिकायत थी कि आप सबकी बात सुन लेते हैं इसलिए सब लोग सुनाते रहते है, नही तो किसके बच्चे शरारत नही करते? बच्चे तो बच्चे, बडे लोग एक-से-एक बदतमीजिया किया करते हे। मुझे लगा कि मुझे थोडा कडा पडना चाहिए। मैंने बिन्नी के बाबा से कह दिया—"जाइए जो करना है कीजिए, मेरी जान मत खाइए।"

वे चले गए और कुछ देर बाद उनके पडोसी कौर साहब मेरे पास आए और बोले—"डाक्टर साहब, चलिए, सभी लोग बुला रहे हैं।"

"मैं नही जाता किसी अंचायत-पचायत में। जिसको जो करना हो कर ले। मुझे क्या इन लोगो ने कोई मुजरिम समझ रखा है और अपने को न्यायाधीश।"

"नही डाक्टर साहब, आप मेरे कहने मे चलिए। इस कौर के रहते आपकी प्रतिष्ठा पर कोई आच नही आयेगी।"

खैर, मैं उनके साथ चला। वहा देखा अनेक मकान-मालिक बैठे हुए है जिनमे कुछ तो शरीफ थे और मेरा सम्मान करते थे। बाकी शुरू हो गये—"साहब, आपका लड़का बहुत बिगड गया है। वह एक-से-एक खराब हरकतें करता है। अब उसकी हरकते असह्य हो गयी है। उसे सभालिए नही तो···।"

"नही तो क्या?" मैने पूछा।

"नही तो क्या? का क्या मतलब साहब आप हमसे सवाल करने के स्थान पर उससे सवाल क्यो नही करते? कल उसने गदी नाली मे डुबाकर झाड़ू मुह पर मार दिया। यह कोई बरदाश्त करने लायक चीज है?"

"देखिए श्रीमान् लोगो, पहली बात तो यह है कि मैं अपने बच्चो को हर बेजा बात पर डांटता हूं। लेकिन यह भी जानता हू कि आप लोगो मे से अधिसख्य के बच्चे घटिया शरारतें करते रहते हैं और आप उन्हें मना नही करते और नही तो शिकायत करने वालों से लड़ पड़ते हैं। कहिए तो नाम गिनाऊं?" लोग चुप रहे।

"दूसरी बात यह है कि यह बच्चो का आपसी मामला है। वे लडते है, झगड़ते हैं, प्यार करते हैं। हम लोग बिला वजह उनकी बात को मुद्दा बनाकर अपने में लडते है।"

"यह आप क्या कह रहे है !"

"ठीक कह रहा हू। आपने जिस लडके के लिए पचायत बटोरी है उससे पूछकर बटोरी है ? आपको पता है कल शाम को वह हेमत के साथ खेल रहा था ?"

"इसमे क्या होता है! इससे झाड़ू मारने का काम सही तो नही हो गया।"

"नही, डाक्टर साहब दूसरी बात कह रहे है और सही कह रहे है, लडके को जिस बात की कोई शिकायत नही, उसके लिए हम लोग लड रहे हैं और वह प्रेम से अपने अपराधी के साथ खेल रहा है।" कौर न मेरा समर्थन किया। मेरा कडा रुख देखकर पच लोग भी चुप हो गये और सभी लोग अपने घरो को खिसक गये।

66

डा० सावित्री सिनहा भी माडल टाउन मे आ गयी थी। मैं प्रायः उनके यहा जा बैठता। उनके यहा जाने में किसी प्रकार की औपचारिकता का दबाव महसूस नही होता था। वे भी कभी अकेले, कभी डा० नगेन्द्र के साथ मेरे यहा चली आती थीं। खूब खुलकर बाते होती थी, हम जी भरकर हसते थे। वे मेरी पत्नी का भी बहुत प्यार करती थी। कभी कभी मुझे कहती थी—'तुम कहा के आधुनिक लेखक हो ? न तुम शराब पीते हो न चुरुट पीते हो, न बीवी छोड़ी है, न तुम्हारी आखो में तेवर है।" फिर भभाकर हस पड़ती थी। मैं भी हस पड़ता था और कहता था—"न हो चाहिए ऐसी आधुनिकता।" वास्तव मे उनके साहचर्य मे बिताये गये आत्मीय क्षण बहुत मूल्यवान् थे। कुछ समय बाद वे प्रोफेसर क्वार्टर मे चली गयी। लेकिन हमारे आने-जाने के क्रम म ढीलापन नही आया।

एक दिन सुना कि डाक्टर नगेन्द्र ने अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया है। इस घटना की न जाने कितनी व्याख्याए की गयी और यह निष्कर्ष निकाला गया कि उन्हे त्यागपत्र देने पर विवश होना पडा। किन्तु मैं उन व्याख्याओ मे न पड़कर इतना ही कहूगा कि यह घटना बहुत अविश्वसनीय लगी। दिल्ली विश्वविद्यालय मे नगेन्द्र जी के वर्चस्व को देखते हुए यह कल्पना नही की जा सकती थी कि उन्हे त्यागपत्र देना पड़ेगा। लेकिन समय से बडा कौन है ? समय ने धीरे-धीरे विभाग मे भी उनकी आतककारी तनी मुद्रा के विरुद्ध कुछ छात्रो को खडा कर दिया और दिल्ली विश्वविद्यालय मे ऐसा प्रशासकीय दल आया जिनके कारण उनका प्रशासनिक वर्चस्व दरकने लगा और कुछ ऐसा हुआ जिसकी वजह से उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा।

सावित्री जी प्रोफेसर हो गयी थी, अब विभागाध्यक्ष हो गयी। उनके यहा जाना मैंने कम कर दिया। एक दिन बहुत अमर्ष मे बोली—"अध्यक्ष बनकर मैंने कोई अपराध कर दिया क्या कि मित्र लोगो ने मिलना बद कर दिया ?" मैं समझ गया कि वे चोट मुझ पर कर रही हैं। मैंने बहुत विनम्रता से कहा—"मिसेज सिनहा, मैंने आपके यहा आना कम किया है तो केवल इसलिए कि आपका समय नष्ट न हो। आपके पास इतना अधिक कार्य-भार आ गया है, यदि मित्र लोग समय-असमय आकर आपको घेरे रहे तो आप काम कैसे करेंगी।"

"देखो, मैने अध्यक्षता मित्रो को खोने के लिए स्वीकार नही की है। अध्यक्षता मैं विभाग म करूगी, घर पर नहीं। घर पर मै मित्रो और आत्मीयो से उसी तरह मिलते रहना चाहती हू जैसे पहले मिलती थी और आप खाली मित्र नही है, विभागीय सहकर्मी भी है। आप लोगो से सलाह-मशविरा करके ही तो मैं अपना दायित्व पूरा कर पाऊगी।"

मैं उनके स्नेह भाव के प्रति विनत था। स्वीकार करना पडा कि पहले की तरह ही आता रहूगा। थोडे ही दिनो मे ज्ञात हो गया कि सावित्री जी विभागाध्यक्ष के रूप मे अपनी अलग पहचान बनाने के लिए प्रयत्नशील है। वे बहुत शालीन थीं किन्तु अपने निर्णयो मे बहुत साहसी थी। वे विभाग के लिए कुछ नये निर्णय लेना चाहती थी। उनम से एक प्रभावशाली निर्णय था, पाठ्यक्रम म नये साहित्य का प्रवेश। जैसे वे नयी पीढी की दोस्त थी वैसे ही नये साहित्य की भी प्रशंसिका थीं। उन्होने हम लोगो स कहा—"आप लोग पुस्तको के नाम चुनिए, मै चाहती हू स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य भी पाठ्यक्रम मे आये।" हमने (यानी मैने नित्यानद तिवारी ने और कुछ और लोगो न) उनकी सहायता की और उन्होने अनेक नाराजगियो और प्रतिरोधो के बीच अडिग भाव म नये साहित्य और नयी कृतियो का प्रवेश कराया। तब से यह परम्परा आगे ही बढती रही।

डा० सिनहा विभाग के शैक्षिक माहौल मे साहित्यिक गरमी लाना चाहती थी। विभाग मे छात्रो की सस्था थी (और है) 'हिन्दी साहित्य सभा' और शिक्षको की सस्था थी (है) 'अनुसधान परिषद्'। हिन्दी साहित्य सभा के परामर्शदाता थे डा० ओम्प्रकाश। डा० सिनहा ने मुझे भी उनके साथ लगा दिया और मेरे साथ कालेज के कई साहित्यकारों (अजितकुमार, इदु जैन, मन्नू भडारी) को जोड दिया। मुझे थोडा सकोच हो रहा था क्योकि मैं साध्य सस्थान मे था और 'हिन्दी साहित्य सभा' दिन की कक्षाओ की थी। लेकिन मैने कहा न कि सावित्री जी बहुत साहसी निर्णय लेती थी। मुझे इस कार्य मे संकोच हो रहा था, उन्हे नही हुआ। मुझे यह सोचकर इस काम से झिझक हो रही थी कि डा० ओम्प्रकाश जैसे वरिष्ठ व्यक्ति को यह बात प्रिय नही लगेगी। उन्हे लगेगा कि क्या वे अकेले यह कार्य करने मे असमर्थ थे कि एक आदमी और (जो कि साध्य सस्थान मे है और लेक्चरर है) उनके साथ जोड दिया गया और उसके साथ कालेज के लोगों को भी नत्थी कर दिया गया। वास्तव मे उन्हें प्रिय नही लगा। वे कभी भी 'हिन्दी साहित्य सभा' के किसी कार्यक्रम मे नही आये और एकाध बार उन्होने व्यंग्यात्मक वार्ता

से भी अपनी अप्रियता व्यक्त कर दी।

खैर, डा० सिनहा के निर्देशन मे अनेक रचनात्मक गोष्ठिया हुई। वे हिन्दी-विभाग के शैक्षिक और शास्त्रीय वातावरण मे रचनात्मक वातावरण का प्रवेश कराना चाहती थी और अनेक तरह से इस कार्य की सिद्धि मे जुटी थी। कई अच्छी काव्य-गोष्ठिया हुई। वे बाद मे बीमार पड गयी थी और कई बार बीमारी की अवस्था मे भी कुछ देर के लिए गोष्ठियो मे आयी।

उनकी प्रेरणा मे हम लोगो ने नये कवियो की कविताओ का एक सकलन तैयार किया 'मुट्ठियो मे बद आकार'। मेरे साथ सहयोग कर रहे थे दिविक रमेश और सुरेश ऋतुपर्ण। सकलन छपा 'ऋषभचरण जैन एव सतति' प्रकाशन से।

दरअसल हिन्दी-विभाग का माहौल एक नया रूप ले रहा था। प्रोत्साहन पाकर अनेक नयी रचनात्मक प्रतिभाए सामने आ रही थी। मैं पहले भी कह चुका हू कि मैं कक्षा मे केवल शिक्षक ही नही होता बल्कि अपने छात्रो के बीच से रचनात्मक शक्तियो की पहचान करने के लिए प्रयत्नशील एक रचनाकार भी होता हू। इसलिए आज तक बनारस से लेकर अहमदाबाद तक न जाने कितने रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न छात्र मुझसे जुडे और दिल्ली मे भी जुड रहे थे। डी० ए० वी० कालेज मे मै 'अकुर' पत्रिका का सपादन करता था। उसमे बहुत-सी रचनाए छापी किन्तु प्रतापसिंह के अतिरिक्त कोई सभावनापूर्ण छात्र दिखाई नही पडा। किंतु एम० ए० की माध्य कक्षाओ मे कुछ छात्र दिखाई पडे जिनमे मैने अच्छी सभावना की पहचान कर ली। उन्हे भी मैने प्रोत्साहित किया। वे मेरे निकट आते गये और बहुत गहराई से जुड गये। प्रताप सहगल, दिविक रमेश, सुरेश डोगरा उन्ही छात्रो मे से थे। दिन मे भी कक्षाए लेता था और वहा भी अनेक रचनात्मक प्रतिभाए उभर रही थी—सुखवीरसिंह, सुरेश ऋतुपर्ण उन्ही मे से थे। इन सारी प्रतिभाओ को मेरा साहचर्य तो प्राप्त था ही, सावित्री जी इन्हे अत्यन्त वत्सलता और प्रोत्साहन दे रही थी।

सन '71 मे दक्षिण परिसर की स्थापना हुई। एक प्रोफेसर और दो रीडर-पद की माग हुई। उन पदो पर क्रमशः डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० निर्मला जैन और डा० महेन्द्रकुमार की नियुक्ति हो गयी। कुछ दिनो बाद-दो जगहे और निकली। मै एक दिन डा० सावित्री सिनहा के यहा गया तो उन्होने पूछा—"आवेदन-पत्र दे दिया?"

मैने उदासीन भाव से कहा—"नही दिया, न दूगा।"

"क्यो?"

"कोई लाभ नही, मुझे नही होना है रीडर। ऐसे ही ठीक हू।"

"नही, आवेदन-पत्र जरूर दीजिए और देखती हू इस बार कैसे नही होता है।"

मैंने उनकी ओर देखा। उनकी आखो मे विश्वास चमक रहा था। पिछले रीडर-शिप के चुनाव के पश्चात् डाक्टर साहब के साथ जब घर आयी थी तब उनकी आखो मे दर्द भरा था और वे साथ साथ चलती हुई भी मुझसे आखे चुरा रही थी। मैंने उनकी वेदना को महसूस किया था। आज लगा कि उसी की प्रतिक्रिया मे उनकी आखो मे एक दृढ निश्चय दहक रहा था।

यहां आने के बाद मैं दो बार रीडरशिप के लिए आवेदन-पत्र दे चुका था। एक बार तो इंटरव्यू में गया ही नहीं क्योंकि डा० सत्यदेव चौधरी को होना था। वे यहां बहुत वरिष्ठ प्रवक्ता थे, उन्हें होना ही चाहिए था। तब पदोन्नतियां बहुत क्रम से होती थीं। जिसे होना होता था वही आवेदन-पत्र देता था। तब नगेन्द्र जी उसे संकेत करते थे। मैंने उनकी अनुपस्थिति में आवेदन-पत्र दे दिया था। जब मुझे ज्ञात हुआ कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था, यह यहां की परिपाटी के विपरीत है और डा० नगेन्द्र इस बात का बहुत बुरा मान गये हैं तो मैं इंटरव्यू में नहीं गया। डा० नगेन्द्र के अध्यक्ष-पद से हटते ही यह परिपाटी चरमराकर टूट गयी और सभी लोग स्वतंत्र हो गए किसी भी पद के लिए संघर्ष करने को। इसलिए दक्षिण परिसर के लिए बहुत-से लोगों ने आवेदन-पत्र दिये, मैंने भी दे दिया। इस बार काफी उम्मीद से दिया था किन्तु नहीं होना था, नहीं हुआ। बहरहाल इस बार फिर विश्वास के साथ गया और हो गया। डा० तारकनाथ बाली उत्तर परिसर के लिए और मैं दक्षिण परिसर के लिए चुना गया। डा० स्वरूप-सिंह पिछली बार भी कुलपति थे, इस बार भी। पिछली बार भी उन्होंने अपनी विशेष मुद्रा में मेरा इंटरव्यू बिगाड़ने की कोशिश की थी, इस बार भी। किन्तु पिछले अनुभव के आधार पर मैं उनसे निबटने को तैयार था और ज्यों ही उन्होंने मेरे उत्तर को बिगाड़ने की कोशिश की, मैं बलपूर्वक अपने उत्तर पर अड़ गया और कहा कि मैं बिलकुल सही कह रहा हूं, इस विषय के विद्वानों के मतों के साक्ष्य दे सकता हूं। विशेषज्ञों ने भी मेरा समर्थन किया और मैं डा० स्वरूपसिंह की अटपटी लपेट में नहीं आ सका। मैं विभाग के चौथे सदस्य के रूप में दक्षिण परिसर में 1971 में दाखिल हुआ। तब दक्षिण परिसर परिसर क्या था—बस धौला कुआं पर वेंकटेश्वर कालेज के कुछ कमरों में अपराह्न में कक्षाएं चलती थीं और केवल तीन विभाग खुले थे—हिन्दी, अंगरेजी और वाणिज्य।

डा० सावित्री सिनहा ने राजधानी कालेज में सेवारत डा० नित्यानंद तिवारी को हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता के रूप में लिया। वे चाहती थीं कि नित्यानंद तिवारी जैसे मेधावी लोग हिन्दी-विभाग मे आयें। डा० सिनहा को अनेक साहित्यिक शैक्षिक मित्र और छात्र बहुत चाहते थे शायद इसीलिए ईश्वर भी उन्हें चाहने लगा। और विभागाध्यक्ष होने के कुछ ही साल बाद ज्ञात हुआ कि उन्हें चेस्ट कैंसर है। उसका आपरेशन हुआ और आपरेशन के बाद घाव की यातना उन्होंने हंसते-हंसते सही और एक दिन हंसते-हंसते लोगों को रुला गयीं। दर्द की नियति तो हर व्यक्ति को झेलनी होती है लेकिन कोई हंसकर झेलता है, कोई रोकर। वे महाजन नर्सिंग होम में दाखिल थीं। कई बार गया तो वे दर्द से तड़पती मिलीं। कोई कैपसूल लिया, राहत मिली और हंसकर बात करने लगीं—अपने बारे में नहीं, मेरे और मेरे परिवार के बारे में। उन्हें आभास हो गया था कि वे बचेंगी नहीं किन्तु वे मृत्यु की छांव से आतंकित कभी नहीं लगीं। कोई बहलाने की कोशिश करता तो कहतीं—"अरे छोड़ो भाई, मुझे क्यों फुसला रहे हो। मुझे मालूम है कि मैं कुछ दिनों की मेहमान हूं लेकिन जितने दिन जी रही हूं उतने दिन मौत से डरकर क्यों जिऊं।" और ऐसे ही एक दिन चली गयीं। उनके जाने के बाद

लगा कि कितना बडा आत्मीय परिवार था उनका। कितने-कितने लोगों की आंखो में उनका बेचैन हृदय उमडकर भर आया था। डा० नगेन्द्र को अपने बड़े से बड़े निजी और पारिवारिक दुःखों मे अपने को कसते हुए देखा था, लेकिन इस समय वे भी अपने को सभाल नही पा रहे थे और छिप-छिपकर आसू बहा रहे थे।

67

मैं गर्मी की छुट्टियो मे प्रायः गाव जाता रहता था। गोरखपुर तक तो परिवार के अन्य लोग भी रहते थे किन्तु गाव मै ही जाता था। कभी कभी बच्चे भी चले जाते थे। जब तक मा और पिताजी थे, पत्नी भी चली जाती थी किन्तु उनके दिवगत होने के बाद वे कभी नही गयीं।

दरअसल गर्मी की छुट्टियो मे गाव जाना अब प्रिय नहीं लगता था। गाव मे खुले बरामदे मे ही समय काटना होता था और खुले बरामदे मे लू के झोको मे लडने की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गयी थी। धीरे-धीरे वहा के घर गृहस्थी के कामो मे जुडने की शक्ति और उत्साह दुर्बल पड गया था। पहले जाता था तो काफी समय खेतबारी के कामो के साथ कट जाता था। कभी शादी-ब्याह की गहमागहमी मे समय बीत जाता था। कभी रिश्तेदारो के यहा घूम आता था। अब वहा जाने के बाद खलबलाती हुई गर्मी मे कहीं निकलने की हिम्मत ही नही पड़ती थी। शहर की सुविधा-दर-सुविधा मेरे भीतर समाती गयी और देहाती जिंदगी की कठिनाइयो मे लडने की शक्ति कम करती गयी।

दिल्ली आने के बाद मैं कई बार गाव गया। पहली बार साथ मे हेमत, अजू, शशि और विवेक भी थे। पत्नी गोरखपुर मे (मायके मे) ही रह गयी थी। अजू को गाव जाने का बडा उत्साह था। बहुत हसती-विहसती गाव पहुची थी। जाते ही मालूम पड़ा कि भइया खलिहान मे है। हम खलिहान पहुचे। बच्चो ने सूअर पहली बार देखा। बहुत खुश हुए और छोटा हाथी कहते-कहते उसके पीछे-पीछे दौडने लगे।

भइया ओसौनी कर रहे थे। मैं उनके पास खडा था। बच्चे सूअर के पीछे दौड-दाडकर आ गये और हाफते-हाफते खडे हो गये। फिर हम लोग खाना खाने घर पहुचे। अजू रोने लगी—"मैं यहा नही रहूगी। मुझे अम्मा के पास भेज दो।"

"अरे, अभी तो आयी हो और अभी-अभी जाने की बात करने लगी।"

"मुझे यहा अच्छा नही लग रहा है। मुझे अम्मा के पास भेज दो।"

"अच्छा भाई, अब आज तो रहो, कल सुबह चली जाना।"

"नही, नही, मुझे अभी जाना है।"

खैर, किसी तरह उसे चुप किया गया और दूसरे दिन सवेरे मझले भाई के पुत्र

जयप्रकाश उसे साइकिल पर बैठाकर गोरखपुर छोड़ आये।

शेष बच्चों का भी कोई खास मन तो लग नहीं रहा था किन्तु उन्होंने गाव के बच्चों के साथ थोडा-बहुत सम्बन्ध बना लिया और खेल-कूद से अपने को जोड़कर समय को झेल गए।

डुमरी का परिवार बडा हो गया था। बडे भाई साहब के पहले पुत्र रामनिवास से परिचित करा चुका हू। उनके दूसरे पुत्र थे श्रीनिवास और तीसरे थे प्रकाशचन्द्र। एक लडकी थी मालती। मझले भाई के चार पुत्र (श्रीप्रकाश, जयप्रकाश, अरुण, अशोक) और दो पुत्रिया (उर्मिला और उषा) थीं। श्रीनिवास शारीरिक दृष्टि से सशक्त थे किन्तु पढने-लिखने मे विशेष गति नही थी। रामनिवास तो गुजरात मे मेरे साथ रहकर बी० ए० और गुजरात विद्यापीठ मे हिन्दी का बी० एड० कर चुके थे और गुजरात मे ही बदल-बदलकर नौकरिया कर रहे थे। वे अद्भुत स्वभाव के स्वामी है, अत: किसी भी नौकरी मे उनका स्थायी मेल नही हो पा रहा था। आगे चलकर तो न वे नौकरी को रास आए और न नौकरी उन्हें रास आयी और उन्होंने अपना जीवन रास्ते पर यो डाल दिया जैसे उन्हे कही जाना ही नही है।

छोटे भाई प्रकाशचन्द्र पढ रहे थे और मेहनत के बावजूद किनारा नही पा रहे थे। किसी तरह मैट्रिक किया, फिर गिरते-पडते इण्टर और बी० ए० भी किया और फिर बेकारी के जंगल में भटकने लगे। यानी भइया के तीनो पुत्र किसी नौकरी के किनारे नही लगे। लेकिन नौकरी ही तो सब कुछ नही होती, यदि पास खेत हो तो उनमें भी बहुत कुछ किया जा सकता हे। श्रीनिवास और प्रकाशचन्द्र दोनो शरीर से मजबूत थे। उनसे उम्मीद की जा सकती थी कि यदि ये नौकरी नहीं करते तो जमकर खेती तो करा सकते हैं और अपने काम भर को आसानी से अर्जित कर सकते है। लेकिन बहुत आश्चर्य हुआ यह देखकर कि उन्हें गृहस्थी के काम मे कोई रस ही नही था। इनकी शादियां हो गयी थीं और श्रीनिवास बच्चा पैदा करने में अच्छी-खासी महारत हासिल कर रहे थे। कुछ आगे चलकर मझले भाई के परिवार ने अपने को इन लोगों से अलग कर लिया, यानी मोटे तौर पर खेतो के दो भाग हो गये। एक भाग उनके पास था, एक भाग दूसरों के पास। मेरे खेत दोनो मे बंट गये थे।

मझले भाई के बच्चे भी पढने-लिखने मे सामान्य ही थे किन्तु धीरे-धीरे वे किसी-न-किसी डाल से लगते गये। श्रीप्रकाश और जयप्रकाश बी० ए० बी० एड० करके क्रमश. अमहिया और चौरीचौरा के विद्यालयो में अध्यापक बन गए और अरुण ने काफी पापड़ बेलकर गोरखपुर,में दूकान खोल ली। फिर वहा से दूकान बढाकर अमहिया मे दूकान खोल ली। छोटे बेटे अशोक भी खूब भटके और काफी बाद में आगरा के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान में हिन्दी के शोध सहायक बन गये।

किन्तु ये सब बाद की बातें हैं, मैं जिस समय की बात कर रहा हूं उस समय सब लोग एक में ही थे और शायद कोई नौकरी में नहीं लगा था। दिल्ली आने तक मैं यथासंभव घर की आर्थिक सहायता करता रहता था। दिल्ली आने के बाद अपनी जिम्मेदारियां बहुत बढ़ गयीं और महानगर का खर्च भी बढ़ गया, अत: नियमित रूप से

सहायता करने की स्थिति में नही रहा। और यह भी कि अब बच्चे बड़े हो गये, उन्हें घर का बोझ कम करना चाहिए।

तो मैं जिस यात्रा की बात कर रहा था, उस समय तक मैं गांव जाता था। जाता था तो कुछ न कुछ करने का प्रयत्न करता था। मेरे घर की विशिष्ट पहचान रही है खेतीबारी के मामले मे पिछडा रहना। पिताजी के जमाने में तो यह विशिष्टता अपनी चरम सीमा पर थी किन्तु वे अकेले थे और सैलानी वृत्ति के थे तो पिछड़ापन समझ मे आता है किन्तु यह समझ में नही आता कि क्यो बाद मे अनेक बच्चों के होने के बावजूद यह क्रम बना रहा। लगता है यह इस घर का स्वभाव बन गया है। भइया जमींदार की नौकरी मे मुक्त होकर घर पर रहने लगे थे और वर्षों कलम घिसने वाली उनकी दुबली-पतली कोमल अगुलियां अब खेतीबारी के हथियारो को संभाल रही थी। जमीदार के यहा अपनी एक आवाज मे खेतिहर मजदूरो की भीड इकट्ठी कर लेने वाला व्यक्तित्व समय से अपना काम करा लेने के लिए गाव मे मजदूर नहीं पा रहा है और घर के लड़के भी उस तरह कर्मठ नही लक्षित हो रहे है जिस तरह गाव के और घरो के है। इसलिए खेतो की बोवाई देर से हो रही है, कटाई देर से हो रही है। भूसा खलिहान मे रखा है तो रखा हुआ है। भूसे का मदिल बनने मे देर हो रही है और जब तक भूसा ढोकर मदिल मे आता है एक-चौथाई आवारा पशुओ के पेट मे जा चुका होता है।

इस बार मैं गया तो सारे गाव का खलिहान उठ चुका था। भइया हलवाहे के साथ अकेले खलिहान मे उपस्थित थे और अनाज उगा रहे थे। भइया के मना करने पर भी मैं काम मे पिल पडा। घर के बच्चे भी साथ लग गए। कई दिन तक काम में जुटा रहा। गाव के लोग पास से गुजरते थे और देखकर थोड़ी देर ठमककर खडे हो जाते थे और टिप्पणी करते थे—"बहुत खट रहे है डाक्टर साहब।"

मैं मुस्करा-भर देता था। मझले भाई साहब ग्राम पंचायत मे सेक्रेटरी थे ब्रह्मपुर ब्लाक मे। वे भी मुझसे मिलने आ जाते थे। इस बार भी आये थे, लेकिन वे इधर-उधर घूमते रहे।

एक समस्या और उत्पन्न हो गयी थी। सारे खलिहान मे केवल अपना अनाज और भूसा बाकी था इसलिए सारे छुट्टा पशु खाने के लिए इधर ही लपकते थे। दिन-भर किसी न किसी को उन्हें हाकने का भी काम करना पड़ता था। रात को ये पशु और भी चपेट मारते थे क्योंकि उस समय उन्हे हाकने वाले सोये रहते थे। मैं बच्चों के साथ खलिहान मे सोता था और सोता कहा था, उठ-उठकर रात-भर पशुओं को हाकता था। वैसे तो कभी खलिहान मे सोने का बडा सुख होता था। बचपन में चैत-बैसाख की रातो मे खलिहान के पैरों (काटी गयी फसल का ढेर) पर सोने का अपना सुख था। रात को बहने वाली अलमस्त हवा में बहुत अच्छी नीद आती थी, रजाई ओढ़नी पड़ती थी और गाव-भर के लोगों की रौनक लगी रहती थी। कोई गाता था, कोई नाचता था। कोई कथा कहता था, कोई मजाक करता था। कोई झगडा करता था, कोई विचित्र-विचित्र तरह की बोली बोलता था और पशुओं को हाकने की हट्ट-हट्ट की आवाजो की लय बनी रहती थी। खलिहान का काम चैत मे शुरू होता था जब दोनों

पाकड़ के पेड़ (जिनके नीचे खलिहान थे) लाल-लाल नये पत्तों से भरे होते थे और उन पर बैठकर कोयल कूकती रहती थी। यह दृश्य बैसाख पूरा होते-होते उठ जाता था और प्रायः मेरा खलिहान बचा होता था—अकेलेपन की उदासी और सन्नाटा झेलता हुआ। अब तक खलिहान का जो विस्तार गीतात्मकता से भरा होता था, वह अब अपने सूनेपन में खुल जाता था और मेरे खलिहान को एक गहरे उचाट के बीच स्थित कर देता था।

इन दिनों मेरा खलिहान इसी उदासी में डूबा हुआ था और मैं इस उदासी के ठहराव को अपनी सक्रियता से तोड़ने की कोशिश कर रहा था। रात को खलिहान में एक सुनसान में सोये होने के डरावने बोध से गुजर रहा था। लगता था पास ही कहीं सांप किसी मेढक को पकड़े हुए है और मेढक के स्वर में सन्नाटा ही रिरिया रहा है। बचपन के भूतवादी संस्कार वाले मन में यह सन्नाटा कभी-कभी भूत बनकर डराने लगता था।

यों भी इस बार गांव की यात्रा न जाने क्यों बहुत उदासी से भरी थी। गांव में बहुत अकेलापन लग रहा था। कोई मिलने नहीं आया, किसी ने हालचाल नहीं पूछा। गर्मी की ऊब से निकली हुई पसीने की धार में गांव की उदासीनता की धार भी मिल गयी थी। लगता था दिन ठहर गया है, गांव ठहर गया है, सम्बन्ध ठहर गये हैं और मेरी आंखें सूने में कुछ खोजने की कोशिश कर रही हैं।

मुझे कई बार लगा है कि गांव की राजनीति में मेरा घर अकेला पड़ गया है। एक खास तरह की स्वार्थ की राजनीति में जुड़े लोग ऊपरी गहमागहमी में भरे हुए हैं। तमाम पिछलग्गू लोभ में या स्वार्थ से इस गहमागहमी में अपनी आवाजें मिला रहे हैं और मेरा घर इस गहमागहमी के प्रवाह में एक टापू की तरह अकेला पड़ा है और उसका प्रभाव मेरी यात्राओं पर भी पड़ा है। यानी गांव मेरे जाने पर मेरे साथ भी वही उदासीनता बरत रहा था जो मेरे घर वालों के साथ बरतता था। इस बार मैं इस सत्य को बहुत गहराई से अनुभव कर रहा था। इसकी शुरुआत प्रारम्भ में ही हो गयी थी। जोखू तेली मेरे सहपाठी रहे हैं। उन्होंने भइया से कहा था कि वे अपनी गाड़ी लेकर कसिहार बस स्टेशन पर आयेंगे। वे नहीं आये। मैं अपने बच्चों को लेकर पैदल ही घर पहुंचा—पांच मील पैदल चलकर। जोखू तेली गांव के बाहर ही बगीचे में काम करते हुए मिल गए। उन्होंने कहा—"मेरे दांत में दर्द था इसलिए गाड़ी लेकर नहीं आ सका। जाती बार मेरी गाड़ी अपने पांवों की धूल से पवित्र कर दीजियेगा।" मैं गांव के भी अपने सहपाठियों को सहपाठी की तरह ही देखता हूं चाहे वे प्राइमरी में साथ रहे हों चाहे मिडिल में और चाहे वे नौकरी कर रहे हों चाहे पुश्तैनी पेशे में फंस गए हों। इसलिए जोखू की यह बोली मुझे सहज नहीं लगी। वे लेने नहीं आये इसका कारण भी झूठ था और जाते समय गाड़ी को पवित्र करने के लिए आग्रह का स्वर भी झूठा था। आखिर जोखू को मुझसे इतना असहज होने की क्या आवश्यकता थी? गांव में प्रवेश किया तो कुछ लोगों ने बच्चों के साथ मुझे देखा। उस देखने में भी अजनबीपन लगा। और तब से जब तक रहा, इसी असहजता और अजनबीपन का अनुभव करता रहा।

खलिहान में काम कर रहा हूं। कोई बारात जा रही है। परिछन हो रहा है। परिछन करती औरतें पाकड़ के नीचे के ब्रह्म बाबा की परिक्रमा कर रही हैं। उत्सव की वेश-भूषा में सजी-धजी हुई गांव की तमाम बहुएं, बेटियां विवाह का गीत गाती हुई सामूहिक लय की तरह बह रही है और मैं वहीं सबसे अनदेखा-अनजाना-सा खड़ा हूं। मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि किसकी शादी है, बारात कहां जा रही है ?

इस पूरे सन्नाटे में केवल एक व्यक्ति मुझसे मिलने रोज आ जाता था। वे थे रामानुज। रामानुज से आपकी पहचान हो चुकी है। बरहज में साथ पढ़ते थे। गांव के पास के गांव रानाधार के कवि पंडित मदनेश जी के सुपुत्र हैं। वे पागल हो चुके थे। उनके एक हाथ में एक ग्लास होता था और एक हाथ में बांस की सुटुकनी। वे आते थे तो गांव के लड़के छेड़ते थे किन्तु वे उदग्र पागल नहीं थे, बहुत शांत भाव से बातचीत करते थे और खिलखिलाकर हंसते थे। मेरे पास बैठते थे, कुछ देर बतियाते थे, हंसते थे और फिर उठकर चल देते थे—यह कहते हुए "कि बहुत काम पड़ा है, कल फिर आऊंगा।" और रामानुज के आने-जाने, बोलने बतियाने से सन्नाटे में जड़ यह यात्रा कुछ स्पंदित हुई, सम्बन्धों की जीवतता का कुछ अहसास जीवित रहा। स्वार्थों से लदे-फदे इतने बुद्धिमान लोगों के मजाक का पात्र बनता एक पागल जिलाये रख सका एक मरते हुए मूल्यवान अहसास को और उसे पता नहीं कि वह कितना मूल्यवान काम कर रहा है। लौटते समय भी जोधू की गाड़ी मेरे पांवों की धूल से पवित्र नहीं हो सकी लेकिन रामानुज सिवान तक हमारे साथ आये थे विदा करने के लिए। उनकी आंखों में उमड़ आये दर्द के जल ने मुझे अवश्य पवित्र कर दिया। वे अपनी जगह पर खड़े-खड़े देर तक हमें देखते रहे और अपने मौन स्वर में पूछते रहे—"फिर कब आइयेगा ?"

68

'जल टूटता हुआ' के एकदम बाद यानी 1970 में 'बीच का समय' उपन्यास 'राधाकृष्ण प्रकाशन' से प्रकाशित हुआ। लेकिन यह 'जल टूटता हुआ' के नीचे दब गया। 'जल टूटता हुआ' की चर्चा धीरे-धीरे शुरू हो गयी थी और चर्चा धीरे-धीरे गहराती जा रही थी।

1972 में 'सूखता हुआ तालाब' उपन्यास छपा—'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' से। इस उपन्यास ने भी ध्यान आकृष्ट किया और पत्र-पत्रिकाओं में उसकी काफी समीक्षाएं आयीं और अच्छी आयीं।

इधर कहानियां भी अधिक सक्रियता से लिखने लगा था। दूसरे संग्रह के लिए कहानियां तैयार थीं। कुछ प्रकाशकों को लिखा। एक ही उत्तर आया—"अभी गुंजाइश नहीं है।" तब कहानी-संग्रह छापने में प्रकाशकों की दिलचस्पी नहीं थी या कम थी।

पाठक पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां पढ़ लेना था और पत्र-पत्रिकाएं सस्ती होती थी इसलिए कहानी-संग्रहों की बिक्री अच्छी नहीं थी। ऐसे ही नेशनल पब्लिशिंग हाउस को पत्र लिखा तो एक पत्र आया—"आपका कहानी-सग्रह यहा से जरूर छपेगा। आपसे मिलने भी आऊंगा। पद्मधर।"

पद्मधर त्रिपाठी के नाम से परिचित था। उन्हें कवि रूप में जानता था। उनका पत्र पाकर अच्छा लगा। उन्हें फोन किया। फिर भेंट हुई। वे माडल टाउन में ही रहते थे। घर भी आना-जाना शुरू हुआ। 1974 मे उनकी देख-रेख में नेशनल से मेरा 'एक वह' कहानी-संग्रह छपा। हमारे पारिवारिक सम्बन्ध बने। हमने बहुत-सा समय एकसाथ मस्ती मे बिताया और सुख-दुःख मे भागीदार बने।

बहरहाल उन्होंने बहुत उष्मा से मेरा कहानी-संग्रह 'एक वह' छापा। उन दिनो 'अपने लोग' लिख रहा था। पद्मधर जी का गहरा आग्रह था कि वह उपन्याम मैं उन्ही को यानी नेशनल पब्लिशिंग हाउम को ही दू। उपन्यास पूरा हुआ। उन्हें दिया। और 1976 में प्रकाशित हुआ।

इस उपन्यास के साथ दुर्भाग्य शुरू से ही जुड़ गया। पहला दुर्भाग्य स्वयं प्रकाशक ने पैदा किया था। वह यह कि इसकी बाइंडिंग इतनी खराब थी कि किसी प्रति मे कोई फर्मा गायब है तो किसी मे कोई। पाठकों के पत्र आने लगे मेरे पास भी और प्रकाशक के पास भी। मेरा खयाल है कि क्राउन साइज में छपना इसका दूसरा दुर्भाग्य था। मोटा उपन्यास डिमाई मे ही अपनी पूरी छवि ले पाता है। इसके साथ एक बडा दुर्भाग्य और घटित हुआ जिसकी चर्चा थोड़ी देर बाद करूंगा।

दुर्भाग्य के बावजूद इस उपन्यास ने छपते ही आलोचको और पाठको का ध्यान आकृष्ट किया। छपने के पश्चात् ही इस पर एक गोष्ठी हुई जिसकी अध्यक्षता श्री विष्णु प्रभाकर ने की और पर्चा पढ़ा—डा० विश्वनाथ त्रिपाठी और डा० विनय ने। मुझे यह देखकर अच्छा लगा कि प्रायः सभी वक्ताओ ने इस उपन्यास को महत्त्वपूर्ण माना। पत्र-पत्रिकाओ मे लगातार समीक्षाएं आने लगी। कुछ समीक्षाए कुछ उन अख्यात पत्रिकाओ में भी आयी जहां पुस्तक समीक्षार्थ नही भेजी गयी थी और लिखने वाले भी ख्यात नही थे। इससे यह ज्ञात हुआ कि उस समीक्षक ने स्वतः स्फूर्त होकर यह समीक्षा लिखी है और किसी पत्रिका या पत्र को दे दी है। गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी तुरन्त अपनी बहुत अच्छी प्रतिक्रिया भेजी और डा० नगेन्द्र ने भी (जो उपन्यास-पठन से बहुत सम्बद्ध नहीं हैं) उपन्यास पढ़ा और बहुत अच्छी प्रतिक्रिया दी।

उपन्यास मे मैंने सामाजिक विडम्बनाओं के साथ-साथ राजनीतिक विडम्बनाओ को खुले मन से उद्घाटित किया था। किन्तु जब छपने का समय आया तब आपातकाल लग गया था और लिखने-बोलने पर बहुत सारे प्रतिबंध लगा दिये गये थे। यदि मैंने उपन्यास की कथावस्तु प्रकाशक को बता दी होती तो शायद वे छापने का साहस नही करते। आपातकाल की वर्जनाओं को देखते हुए मैंने उपन्यास में कुछ आपत्तिजनक लगने वाले शब्दों में फेर-बदल कर दिया था लेकिन उससे कितना अन्तर पड़ता।

मैं आशंकित था कि कभी भी कुछ घट सकता है। एक दिन मेरे पड़ोसी (जिनके यहा फोन था) ने पुकारकर कहा—"आपका फोन है।" मैंने फोन उठाया। उधर से आवाज आयी—"पी० ए० टू० पी० एम० आपसे बात करना चाहते हैं।" मैं धक्क से रह गया। लगा कि वह क्षण आ गया जिसके आने की आशंका थी।

"हैलो, मैं बिशन टंडन, पी० ए० टू० पी० एम० बोल रहा हूं।"

"जी, कहिये।"

"मैंने आपका एक उपन्यास पढा है।"

इस वाक्य ने मेरी धडकन तेज कर दी।

" 'सूखता हुआ तालाब'। उसने मुझे बहुत प्रभावित किया।" मैंने आश्वस्ति की सांस ली।

"जी शुक्रिया।" मैंने कहा।

"मैं इस उपन्यास से इतना प्रभावित हुआ कि आपको फोन करने से अपने को नही रोक सका। मुझे गोविन्द मिश्र ने यह उपन्यास पढने को कहा था।"

"जी बहुत आभारी हूं मैं।"

"जब मैंने भगवती बाबू (भगवतीचरण वर्मा) से इस उपन्यास का जिक्र किया तो उन्होने कहा, उनका 'जल टूटता हुआ' पढो। उसे भी पढ़ूंगा। कहा से प्राप्त होगा?"

"जी, मैं भिजवा दूंगा। बहुत अच्छा लग रहा है आपसे परिचित होना। और अपनी रचना के माध्यम से परिचित हो रहा हूं, यह और भी सुखद है।"

"इधर आपने क्या लिखा है?"

मैं इस सवाल पर थोड़ा अटक गया। फिर कहा, "कुछ नही, एक उपन्यास लिख रहा हू।" मैं 'अपने लोग' को उनसे बचा गया।

फिर तो हमारा मिलना-जुलना भी हुआ। हम परस्पर आत्मीय होते गये।

लेकिन मै जिस खतरे से भाग रहा था वह आ ही गया, लेकिन दूसरे रूप में आया—बहुत कुरूप और घिनौने रूप मे।

सप्रू हाउस मे कविता की प्रेषणीयता पर बहस चल रही थी। मैं भी वक्ता था। बोलने के बाद बाहर निकला तो केदारनाथ सिंह मिल गये। उन्होने बहुत चिंतित मुद्रा में मुझसे कहा—"सुनिये, एक विकट समस्या पैदा हो गयी है।"

"क्या?"

मैं के० एन० सिंह (नेता) के यहां बैठा था। वही लखनऊ के विधायक रिजवी साहब मिल गये। उन्होने कहा—"आपके मित्र रामदरश मिश्र का उपन्यास निकला है 'अपने लोग'। उसमे साम्प्रदायिकता का स्वर भरा हुआ है।" मैंने प्रतिवाद किया—"नही, यह हो ही नही सकता। वे तो प्रगतिशील लेखक है। वे ऐसा कर ही नहीं सकते।"

"उन्होंने किया है। पृष्ठ···देख लीजियेगा। मैं विधानसभा में सवाल उठाऊंगा।"

केदार जी मुझसे बोले, "वे समझाने पर नही समझे। आप लखनऊ चले जाइये

और इसे रफा-दफा कीजिये। इमरजेंसी है। इसमें कोई तर्क काम नहीं आएगा। साम्प्रदायिकता की तोहमत तो बहुत गंदी तोहमत है। इसमें जेल हो गयी तो बहुत बडा कलंक लग जायेगा।"

मैं सभा छोडकर घर आ गया। प्रकाशक मलिक साहब को फोन से स्थिति की सूचना दी और लखनऊ एक पत्र पंडित जी (हजारीप्रसाद द्विवेदी) को लिखा, एक रिजवी साहब को। पंडित जी ने उपन्यास पढ़ा था, सराहा था, इसलिए वे उपन्यास के बारे में सब कुछ जानते हे। रिजवी साहब को पत्र लिखकर सूचित किया कि उन्हें 'अपने लोग' की एक प्रति भेजवा रहा हूं, उसे देखें। उन्हें समझा दिया कि पृष्ठ···पर एक साम्प्रदायिक मानसिकता का हिन्दू बातचीत के सिलसिले मे मुसलमानों को भला-बुरा कह रहा है। मैंने उस पात्र की मानसिकता की विकृति का उद्घाटन किया है, वह मेरी सोच का प्रतिनिधि नही है। आप बतायें कि साम्प्रदायिकता का आरोप किसने लगाया है?"

रिजवी साहब का इस आशय का पत्र आ गया—"पत्र मिला। सही स्थिति की जानकारी मिली। मै आपके साथ हू। यह आरोप दिल्ली से निकलने वाले उर्दू अखबार 'अलजमइत' मे छपा है। वास्तव मे कुछ लोग मुसलमानो को मुख्य धारा से काटने मे लगे रहते है?"

मैं रिजवी साहब की ओर से निश्चिंत हुआ और मुझे सूत्र भी मिल गया। मेरे मित्र और उर्दू विभाग में प्रवक्ता डा० अमीर आरफी मेरे यहा आये। पूछा, "किस सोच में डूबे हो?"

उन्हें बताया तो बोले—"मुझे वह डायलाग उर्दू में लिखा दो।" उन्हें लिखा दिया और उन्होंने मेरे अन्य उपन्यासो के भी वे अंश उर्दू में उतार लिए जो मुसलमानों के प्रति मेरे सद्भाव और प्रगतिशील दृष्टि के परिचायक थे।

इसी बीच डा० नगेन्द्र आये और कहा कि तुम और मलिक साहब कमलापति त्रिपाठी से मिल लो। उन्होंने बताया—"आज मैं कमलापति त्रिपाठी के यहां बैठा था तो एक सांसद ने कहा कि आज तो संसद मे आपके विभाग की खूब चर्चा हुई।"

"कैसी चर्चा?" मैंने पूछा।

"आज मौलाना हाशमी आपके विभाग के लेखक डा० रामदरश मिश्र के नये उपन्यास 'अपने लोग' को लेकर खूब गरजे-तरजे। उन्होंने कहा कि सरकार ध्यान नहीं दे रही है। आज भी मुसलमानो के विरुद्ध साम्प्रदायिकता का जहर उगला जा रहा है। 'अपने लोग' नामक उपन्यास इसका सबूत है।"

मैंने प्रतिवाद किया—"मैंने यह उपन्यास पढा है। यह तो बहुत अच्छा और प्रगतिशील उपन्यास है।"

"हा, आप तो कहेंगे ही। आपके शिष्य जो है।" कमलापति त्रिपाठी बोले।

"नही, वे मेरे नही, हजारीप्रसाद द्विवेदी के शिष्य है।" मैंने कहा।

खैर, मुझे जो कुछ कहना है कह दिया है। तुम कल शाम छः बजे मिल लो। मैंने उनसे समय ले लिया है।"

मैंने राजेन्द्र अवस्थी को फोन किया। वे कमलापति जी के निकट थे। अवस्थी जी से जब भी मैंने कोई सहायता मांगी है उन्होने दी है। उन्होने कहा—"मैं कल आऊगा।"

दूसरे दिन मलिक साहब और मै कमलापति जी के यहा पहुचे। कुछ देर की प्रतीक्षा के बाद हमे बुलाया गया। जाकर त्रिपाठी जी को नमस्कार किया। वे कुछ बोले नही। हम बैठ गये।

कुछ दूसरे लोग आये। उन्होने उनके पाव छुए। उन्होने उनसे बात की। अब मुझे अपने प्रति उदासीनता का रहस्य समझ मे आया। कोई भी हो मै पाव नही छूता। चद श्रद्धेय व्यक्तियो के ही पाव छूता रहा हू। कुछ देर बाद त्रिपाठी जी हमारी ओर मुडे। मैने आने का उद्देश्य बताया और कहा कि मुझे सबसे बडा आश्चर्य इस बात का है कि मौलाना हाशमी मेरे उपन्यास की बात कर रहे थे और किसी ने नही पूछा कि आखिर इस उपन्यास मे यह बात कौन कह रहा है। यह लेखकीय टिप्पणी है या किसी पात्र का सवाद। उसी राज्य सभा मे श्रीकान्त वर्मा जैसे साहित्यकार भी थे, क्या उन्होने भी नही जानना चाहा? मैने स्पष्ट किया कि मुसलमानो के विरुद्ध बोले गये वाक्य एक गलत सोच वाले अश्लील पात्र के है। उन्हे लेखकीय वाक्य बनाकर उछाल दिया गया है और लोग है, जो चुपचाप सुन लेते है।

"मै समझ गया। इसे गलत ढग से पेश किया गया है। और माइनारिटी का सवाल बड़ा नाज़ुक हो उठता है। लेकिन आप लोग किसी भी सवाद मे इतनी गालियां क्यो भर देते है। हम लोग भी तो लेखक थे। हमारी भाषा तो कभी इस तरह नही होती थी।" त्रिपाठी जी बोले।

मन हुआ कि कह दू कि हा, आप लोग भी भाषा लिखते थे— लच्छेदार निष्प्राण भाषा। लेकिन कैसे कह सकता था। इन्हे चिढाने तो आया नही था। बस इतना ही कहा—"पडित जी, कथा की भाषा पात्रो की सवाद-भाषा भी होती है और उसमे पात्रो के चरित्र का रग आ जाता है।"

"हा, ठीक है, मैं देखूगा अब यदि प्रश्न राज्य सभा मे उठा तो।"

हम चले आये।

दूसरे दिन डा० आरफी मुझे लेकर सी० पी० आई० के दफ्तर गये जो जामा मस्जिद के पास था। 'अलजमइत' काग्रेसी मुसलमानो का अखबार था और सी० पी० आई० इमरजेंसी मे काग्रेस के साथ थी। इसलिए आरफी साहब ने सी० पी० आई० नेता रामसागर जी से 'अलजमइत' के सम्पादक को फोन कराया। हम लोग अलजमइत पहुचे तो आरफी साहब सम्पादक से भिड गये—"य क्या बात है? बिना समझे-बूझे आप लोग किसी को मजहबी बनाये दे रहे है। आप लोग नॉवेल का मतलब नही समझते। इस नॉवेल मे एक अहमक किस्म का हिन्दू करेक्टर एक खास काटेक्स्ट मे मुसलमानो के खिलाफ कुछ बक गया है, उसे आप लोगो ने लेखक का नजरिया मानकर उसे कठघरे मे खडा कर दिया।"

सम्पादक एकाएक सिटपिटा गये। बोले—"साहब, हमे तो कुछ नही मालूम।

कालमिस्ट···साहब को किसी ने फोन पर कहा कि अमुक उपन्यास में अमुक पेज पर मुसलमानों के खिलाफ छपा है। उन्होंने उपन्यास मगाकर उस पेज को पढ़ा और छाप दिया।"

"कहा हैं वे ?"

"वे तो तभी से छुट्टी पर हैं। कुछ पैरालसिस का अटैक हो गया है।"

"तो ? अब आप क्या करेंगे ?"

"मैं भी वह उपन्यास पढूंगा तभी कुछ कह सकता हूं। लेकिन वे बता रहे थे कि उस उपन्यास में से एक फर्मा गायब है। हो सकता है उस फर्मे मे भी कुछ काबिले एतराज बात हो।"

"मुझे मालूम है इस किताब की बाइंडिंग मे गडबडी हुई है लेकिन आप विश्वास कीजिये, मुसलमानो के बारे मे और कही कुछ नही है। तो भी यह प्रति लीजिये और पढ़िये, इसमें कोई फर्मा गायब नही है।"

"ठीक है, दस-पद्रह दिन बाद आइयेगा। तब तक यह नॉवेल मैं पढ़ लूगा।"

"अच्छी बात है," कहकर हम लोग चले आये।

अब तक हमारी मित्रमडली तरह तरह के अनुमान लगाती रही कि किसने कहा से 'अलजमइन' को यह सूचना दी होगी। अभी तो उपन्यास को छपे थोडे ही दिन हुए, उर्दू वाले इतनी जल्दी यह उपन्यास क्यो पढने लगे ? अनेक लोगो पर शकाए उठती थी लेकिन सम्पादक से मिलने के बाद यह निश्चित हो गया कि किसी स्थानीय आदमी न ही फोन पर सूचना दी है। अब स्थानीय लोगो के चेहरे पढ़ने लगा कि किसने यह काम किया होगा, क्यो किया होगा ? या तो कोई शत्रुता हो या किसी स्वार्थ की टकराहट की आशंका हो, ऐसा कोई शत्रु दिखाई नही पड रहा था। स्वार्थ की टकराहट भी साफ नही दिखाई पड़ रही थी लेकिन मेरे न टकराने पर भी कोई मुझे अपने रास्ते मे यो ही बाधा तो अनुभव कर ही सकता है, लोग करते आये हैं। ऐसे चेहरे सामने आये और ऐसे चेहरो मे वे चेहरे भी जो उपन्यास पढ चुके थे। बहरहाल मैं इस ऊहापोह मे चलता रहा और मेरी समझ मे आ भी गया कि वह व्यक्ति कौन हो सकता है।

पता चला कि दिल्ली प्रशासन मे मेरे खिलाफ फाइल बन गयी है। डा० भगवान-सिंह उसी दफ्तर में काम करते थे। उनसे सम्बद्ध अधिकारी का पता कर उनके साथ ही वहा पहुचा। वे अफसर कोई मुसलमान थे। उनसे बात की तो उन्होने बताया कि मुझे तो उपन्यास के बारे में कुछ नही मालूम। 'अलजमइत' में छपी खबर और मौलाना हाशमी के भाषण के आधार पर फाइल बनायी और उसे सी० बी० आई० के पास भेज दिया है।

"ठीक है साहब, भेज दिया है तो ठीक किया है।"

वे समझाने लगे—"जिस भी करेक्टर के जरिये हो आपने मुसलमानो के खिलाफ ऐसी भाषा का इस्तेमाल क्यो किया ?"

"अब मैं आपसे उपन्यास की भाषा सीखने नही आया हूं। आपने अपना काम कर दिया है, अब यह उपदेश तो रहने दीजिये। इतनी-इतनी पत्रिकाओ मे इस उपन्यास

की प्रशंसा हो रही है, किसी ने भी इस पर साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगाया है। बस आप लोगों को ही उसमें वह दिखाई पडती है और साहब, यदि गालियों पर ही उपन्यास को खारिज करना होगा या साम्प्रदायिक ठहराना होगा तो राही मासूम रजा का 'आधा गाव' भी ठहराया जा सकता है। लेकिन किसी ने नही ठहराया और वह एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास माना गया।"

"देखिये साहब, मुझे तो लगता है कि इस उपन्यास को इस दोष से बरी करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं में जल्दी-जल्दी माकूल समीक्षाएं करायी जा रही है।" उन्होंने कहा।

मुझे बहुत क्रोध आया कि यह अपढ अफसर न जाने कितने भद्दे-भद्दे आरोप लगाये जा रहा है। आपातकाल मे इसकी बन आई है इसलिए अपने को पता नही क्या समझ रहा है। वहा से मैं चला आया।

कुछ साहित्यकार चिंतित थे, कुछ मजे ले रहे थे और कभी वे मुझसे कभी मलिक साहब से कहते थे कि इस उपन्यास के खिलाफ यह हो रहा है, वह हो रहा है। वे कहते थे हितैषी के स्वर मे लेकिन उनका मतव्य मुझसे छिपा नही रह सका। मैं एक अजीब दहशत से भरा हुआ था। उस दहशत को ये साहित्यकार छेड़ते रहते थे। दहशत जेल जाने की नही थी, दहशत थी साम्प्रदायिकता के जुर्म मे जेल जाने की। पुस्तक मे आयी राजनीतिक बहसो मे सरकार के विरुद्ध कम बातें नही थी और उस आधार पर मुझे बदी बनाया जाता तो अच्छा लगता किन्तु जिस साम्प्रदायिकता को मनुष्य के लिए सबसे कुरूप वस्तु मानकर उसका विरोध करता आया और इस उपन्यास मे भी किया उसी के जुर्म मे फसना मेरे लिए डूब मरने की बात थी। मुझे फसाने वाले मेरे मित्र ने दूर की मार की थी। मुझे एकदम अयोग्य बना डालने का षड्यन्त्र रचा था और अब ये हितैषी-नुमा मित्र मेरी इस नियति का रस ले रहे थे। मैं सोया-सोया किसी अनहोनी की आशका से जाग उठता था। रात को गेट खटकता था तो आशंका होती थी कि पुलिस आ गयी। सपने मे भी पुलिस आती थी।

एक दिन ऐसे ही हितैषीनुमा मित्र ने जब कहा कि कुछ कीजिये, बात यहा तक पहुची है, तो मैं झल्ला उठा और प्रतिक्रिया मे मेरा सत्य जाग उठा। मैं बोल पड़ा—"आपकी चिंता और सुझाव के लिए धन्यवाद, लेकिन आप मेरे लिए चिंता न किया कीजिये। मैंने वह उपन्यास लिखा है और मुझे हर प्रकार के परिणाम को भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं रहूंगा।" और इस मानसिकता के उभरते ही मैं निडर हो गया। जैसे ताल ठोंककर खडा हो गया—जिसको आना हो आये, जहा ले चलना हो ले चले, आखिर मेरी कृति है, उसके परिणाम से क्या डरना!

शायद सी० बी० आई० की जांच चल रही थी और कुछ पढ़े-लिखे अफसरों को इस काम मे लगा दिया गया था। कुछ अफसरो ने बहाने से मेरे मित्रो के माध्यम से यह उपन्यास मंगवाया।

दूसरी ओर डा० अमीर आरफी ने हस्ताक्षर अभियान शुरू कर दिया। उन्होंने विशेषतया उर्दू के लेखकों और मुसलमान लेखकों के बहुत सारे हस्ताक्षर एकत्र किए।

कुछ मित्रों ने हिन्दी लेखकों के हस्ताक्षर बटोरे। इस प्रकार काफी हस्ताक्षर एकत्र हो गये और मैंने उन हस्ताक्षरों के साथ प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को एक पत्र भेजा।

10-15 दिन बाद मैं अमीर आरफी के साथ फिर 'अलजमइत' पहुंचा और उसके सम्पादक से मिला। हमें देखते ही सम्पादक जी हतप्रभ हो गये।

"क्या विचार है आपका ?"

"पढ़ लिया है। आप चाहें तो अखबार मे छपी रिपोर्ट के खिलाफ खत भेज दें, हम छाप देगे।"

'हम क्यों भेजें ? आपने गलत इलजाम लगाया है। आप उसके लिए खेद व्यक्त कीजिये।"

"देखिये, यह तो मै नही कर सकता। यह करने के लिए हाशमी साहब से पूछना पडेगा और उस समय वे बहुत बिजी है। उनसे मिलना मुश्किल हो रहा है।"

"तो ?"

"तो क्या, आपका खत छाप दूगा।"

"नही, उससे नही बात बनेगी। उससे मुझ पर लगा इलजाम वापस कैसे होगा।"

"तो फिर कुछ दिन इतजार कीजिये। हाशमी साहब से पूछकर ही कुछ कर पाऊंगा।"

"ठीक है, हम चलते हैं।"

हम चले आये। यह राहत तो मिली कि सम्पादक अपनी गलती समझ रहे हैं किन्तु उस तोप का क्या होगा जिसे वे दाग चुके हैं और जिसके कारण फाइल बन चुकी है और ऊपर के तबके मे जांच हो रही है।

कुछ दिनों बाद ही आपातकाल उठ गया और चुनाव की घोषणा हो गयी। और उसी समय मुझे ज्ञात हुआ कि जाच करने वाले ऊपर के लोगो ने दिल्ली प्रशासन के आरोप को निरस्त कर दिया है और लिख भेजा है—इस उपन्यास में कुछ भी आपत्तिजनक नही है।

चुनाव हुआ। काग्रेस बुरी तरह हारी। एक बार मन तो हुआ कि अलजमइत और दिल्ली प्रशासन जाकर सम्बद्ध व्यक्तियो को चिढ़ा आऊं लेकिन ऐसे खयाल मेरे भीतर कुछ क्षण ही रहते हैं। सोचा, जाने दो। कुछ ने सुझाव दिया कि मैं 'अलजमइत' और दिल्ली प्रशासन पर मानहानि का दावा कर दूं, इससे उपन्यास और चर्चित हो जायेगा। मैंने कहा—"जाने दो। अब इस चक्कर में कौन पड़े और पुस्तक की ऐसी प्रसिद्धि टिकाऊ नही होती।"

सन् '76 मे ही मेरा लघु उपन्यास 'रात का सफर' छपा—राधाकृष्ण प्रकाशन से। वह 'अपने लोग' की छाह में वैसे ही दब गया जैसे 'जल टूटता हुआ' की छांह में 'बीच का समय'। वैसे 'रात का सफर' 'बीच का समय' की ही भांति सामान्य पाठको में प्रिय हुआ और खूब बिका तथा पढ़ा गया।

69

जनता पार्टी की सरकार आयी। ऐसा लगा कि देश पर से आतंक की छाया उठ गयी। आपातकाल भी क्या काल था? लगता था जैसे कोई नियम-कानून नही रह गया है। न जाने कितने शिक्षक और नेता जेलो मे ठूम दिये गये। उनका क्या अपराध था किसी को पता नही—न पकडने वाले को, न पकडे जाने वाले को। वे लोग किसी मैदान मे राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की रैली करते पाये गये जो टाग टूटने की वजह से प्लास्टर चढवाकर महीने-भर से अपने कमरे मे पडे थे या बुखार मे पडे थे या जिनके नाम कभी आर० एम० एस० स या उसके किसी नेता के यहा से पत्र आया था या जिसके यहा से सी० पी० एम० की गंध आ रही हो। तमाम लोग जेलो मे जा चुके थे और तमाम लोग अपनी-अपनी बारी की भयभीत प्रतीक्षा मे डूबे हुए थे। वे किसी भी प्रतिकूल आहट पर चौक-चौक पड़ते थे—अब कोई आया।

सरकार के विरुद्ध वाणी बद कर दी गयी थी। कोई कुछ नही बोल सकता था। एक भयभीत मौन सबके भीतर पसरा हुआ था। यदि वाणी मुखर थी तो इदिरा जी, उनकी सरकार और सजय गाधी की जयजयकार मे। अनेक चापलूस या डरे हुए नेता, अफसर और साहित्यकार जय बोलने की होड मचाए थे। सबसे बडी विडम्बना तो यह थी कि बिना किसी पद के सजय गाधी देश के सबसे बडे मालिक बने हुए थे, उनके लिए नियम-कानून की कोई पाबन्दी नही थी। वे जो चाहते थे वही कानून बन जाता था और बडे-बडे नेता उन्हो को देश का सबसे बडा मानकर उनके पीछे-पीछे उनका जूता उठाये घूमते थे और उनके इशारे पर अनेक कार्य करते थे।

हा कार्य करते थे, यह अच्छी बात थी। यानी इस समय काम हो रहा था। सजय गाधी नाम था क्रिया का। उन्होने केवल सपना नही देखा, उन्होने अपने सपने को या सरकार के कार्यक्रम को तुरत क्रिया मे उतारना चाहा। चाहे जैसे हो, काम होना चाहिए। नसबदी उनका सबसे बडा कार्य था। देश की जनसख्या के नियत्रण के लिए नसबदी जरूरी है और नसबदी के लिए जोर जबर्दस्ती जरूरी है क्योकि कब से जनसख्या के नियत्रण की बात हो रही है, कब से सरकार सतति-निग्रह के लिए दवाए और साधन बाट रही है, कब से इसका प्रचार हो रहा है लेकिन लोग है कि सुनते ही नहीं। बच्चे पर बच्चा पैदा किये चले जा रहे है और खासकर निम्न वर्ग ने तो जैसे बच्चा पैदा करने का कारखाना खोल दिया है। सजय गाधी को सतति-निग्रह का कार्यक्रम पूरा करना ही था और उसके लिए सबसे कारगर और स्थायी उपाय है नसबन्दी। सो हो गयी नसबदी-अभियान की शुरुआत। जितने भी सरकारी कर्मचारी थे, चाहे वे सरकारी स्कूल के शिक्षक ही क्यो न रहे हो उन्हें इस काम मे लगा दिया गया। प्रत्येक कर्मचारी को कुछ निश्चित मात्रा मे नसबदी के केस देने ही होते थे और यदि उन्हें तरक्की चाहिए तो योग्यता नही, नसबंदी के केसो के प्रमाण-पत्र पेश करने होगे। भगदड मची हुई थी। नसबन्दी के केस चाहिए, चाहे जैसे भी हो। चाहे अविवाहित हो, निस्सतान हो, बूढा हो, केस चाहिए। इस समय आदमी आदमी न रहकर नसबन्दी का केस बन गया था।

लोग पकड़े जा रहे हैं। रेलवे लाइन के किनारे मजदूर निबट रहे है। नसबन्दी करने वालों का दल हमला कर रहा है, वे अपना लोटा-बोतल लेकर बदहवास भागे जा रहे हैं। अजीब अफरा-तफरी मची हुई थी, अजीब डर छाया था माहौल में।

दूसरा कार्यक्रम था सफाई-अभियान का। वाजिब बात है, नगर को साफ रहना ही चाहिए। गाव साफ रहें या न रहें, नगर को साफ रहना ही चाहिए और दिल्ली नगरो की रानी है। नगर मे बड़े लोग बसते है—नेता हैं, पूजीपति है, अफसर है। यहा बडी-बडी सुकुमार गाडिया हैं। नगर गदा रहेगा तो उनकी सेहत पर असर पड़ेगा। सडक पतली रहेगी तो उनकी गाडियो को गुजरने मे असुविधा होगी। पतली सड़कों को चौडा करो गलियो को चौडा करो, सकरे मोहल्लो के मकानो को गिराकर सुदर मोहल्लो का निर्माण कराओ, झुग्गी-झोपडियो को साफ कराओ, अवध मकान अनियंत्रित भाव मे उग-कर शहर की सुदरता मे कोढ पैदा करते है, उन्हें नष्ट करो। अभियान जारी है देश के इस कोने से उस कोने तक और विशेषतया दिल्ली मे। कुरूप घर डरे हुए है, तग गलिया डरी हुई है, अवैध मकान डरे हुए है, पतली सडको के किनारे के दूकान-मकान डरे हुए है। रोलरो के धडधडाने की, मकानो के अररा-अरराकर टूटने की, बीच-बीच मे पुलिस की बदूको की गोलियो की और सबसे ऊपर सबका समेटती हुई नेता प्रवर की मडली के मुसकराने और अट्टहास की आवाजें पूरी दिल्ली मे और पूरे नागरिक माहौल मे बजबजा रही है। गौर से देखिये तो यह बुरा काम नही था। इस देश के लोग स्थानों को गदा करने मे प्रति-स्पर्धा सी करते रहते है और गलियो, सडको तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो का निजी प्रयोग करने मे होड-सी मचाये रखते हैं। वे सामाजिक हित की चिंता कम करते है, धर्म की ज्यादा। यानी किसी जगह कोई भी धार्मिक क्रियाकलाप शुरू कर दे, कोई छोटा-सा मदिर-मस्जिद आदि बनवा दे तो उसे गिरवाने या हटवाने का साहस कोई नहीं कर सकता, इससे समाज को चाहे कितनी भी हानि क्यो न होती हो, सार्वजनिक जीवन चाहे कितनी भी असुविधाओं से ग्रस्त क्यों न हो उठता हो। संजय गाधी ने यह हिम्मत दिखा दी। उन्हें लगा कि यह साफ होना चाहिए तो होना ही चाहिए। बीच में चाहे मदिर आये चाहे मस्जिद। सामाजिक जीवन की स्वच्छता के लिए गिरने दो जो गिरता हो। लोग सोचते थे और बाद मे और सोचने लगे कि इस देश को ऐसी क्रियाशीलता मिल जाए तो यहां कुछ काम हो किन्तु यह क्रियाशीलता कितनी अनियंत्रित और स्वेच्छाचारी थी और एक ऐसे आदमी की थी जो समाज-सेवक नहीं था बल्कि बिना किसी पद के देश का सर्वोच्च शासक बना हुआ था।

इस समय डर नाम हो गया था शासन का। डर केवल मां-बेटे का। मा-बेटे ने आपातकाल की कुरूपता को ढकने के लिए या आपातकाल की सार्थकता सिद्ध करने के लिए बहुत-से ऐसे काम किये जो बाहरी तौर पर अच्छे लगते थे। चोर-बाजारी, महगाई, अपव्यय, कामचोरी आदि असुंदर स्थितियों को नियन्त्रित किया गया। 'बातें कम, काम ज्यादा' नारा दिया गया, गरीबी-उन्मूलन की घोषणा की गयी और बहुत-सी सुंदर दीखने वाली बातें उछाली गयी लेकिन डराकर। और डर केवल मां-बेटे का। कांग्रेस के बड़े-बड़े महारथी इंदिरा जी के सामने कांपते थे। सुना था कि एक बड़े नेता ने

चाय पीते हुए कुछ ऐसी बात कह दी जो इंदिरा जी को प्रिय नहीं लगी। इंदिरा जी ने ठंडी निगाहों से मात्र उनकी ओर देखा और उनका प्याला प्लेट में कांपने लगा— खड खड़···खड़···। कांग्रेस के लोग इसी भय से भयभीत होने को कांग्रेसी अनुशासन का नाम देते आये है। हां, इस समय इसी भय से कांग्रेस भी अनुशासित थी और देश भी। बडे-बडे महारथी इंदिरा जी का स्तवन करने में ही अपने अस्तित्व की रक्षा समझते थे इसलिए उन्हें कोई दुर्गा कह रहा था, कोई 'इंदिरा इज इंडिया' कह रहा था।

इस घुटन के विरुद्ध साहित्य लिखा जा रहा था लेकिन उसे न तो कोई छपाता था न छापता था। सरकार इतनी भयभीत थी कि मामूली शब्द भी उसे गोली की तरह लग जाता था और उसका सेंसर विभाग (जो न साहित्य समझता है न भाषा) किसी भी शब्द का कुछ भी अर्थ निकालकर किसी को जुर्म के कठघरे मे खड़ा कर देता था। शब्द से सरकार डरी हुई थी और सरकार से शब्दकर्मी।

लागत अवध भयावन भारी
मानहु काल रात्रि अंधियारी
क्रूर जंतु सम पुर नर-नारी
डरपहिं एकहिं एक निहारी

हां, दो भय एक-दूसरे के सामने तने हुए थे और डर रहे थे, डरा रहे थे। इस माहौल मे मैंने भी कई कविताएं लिखी थीं जैसे 'बसन', 'चिडियाघर', 'पतझर की हवाएं', 'गुडिया', 'आइए कुछ नहीं सुनें बोलें' आदि। मुझे याद है मैंने बम्बई के एक कालेज में ये कविताएं सुनाई थीं। एक कविता सुनाने के बाद मैंने माहौल का जायजा लेना चाहा था तो प्रिंसिपल ने मुस्कराकर कहा—"सुनाइए-सुनाइए, कोई बात नहीं।" मैंने सारी कविताएं सुनाईं, खूब पसद की गयी और मुझे लगा कि भय का जितना गहरा तनाव दिल्ली मे है, उतना अन्यत्र नहीं।

जो भी हो आपातस्थिति ने हमें एक बडा अनुभव दिया, वह यह कि वाणी पर प्रतिबंध की यातना कितनी भयानक और उबाऊ होती है। जिन्हे खाने-पीने और मस्त रहने से मतलब है या जिनकी वाणी केवल सुविधाप्रदायक आकाओं की जय-जयकार के लिए होती है उन्हें वाणी के प्रतिबंध की यातना भला कैसे व्याप सकती है किंतु सही बात कहने के लिए बेचैन लेखनी और वाणी पर आपातकाल के दबाव ने जो कहर बरपा दिया वह बहुत भयानक था। अद्भुत बात यह भी है कि वाणी और लेखनी के दमन से उत्पन्न घुटन को उन लोगों ने भी अनुभव किया जो बाहर के कई तानाशाह देशों के वाणी-दमन के प्रशंसक है। वे उन देशों के वाणी-दमन के पीछे किसी बड़े मानवीय मूल्य को खोज निकालते हैं। ये वे लोग हैं जो सत्य पाते नहीं, दिये गये सत्य के समर्थन के लिए तर्क गढ़ते रहते हैं। वे तर्क अलग-अलग लोगों, दलों, देशों के लिए अलग-अलग होते हैं।

आपातकाल थोड़े ही दिन रहा किंतु लोगों को लगा कि कितने दिन से इस कुएं में पड़े हैं। जैसे ही इसकी समाप्ति की घोषणा की गयी, लोगों ने एक राहत की सांस ली और चुनाव में कांग्रेस के विरुद्ध जनमत की जो आंधी आयी वह बड़ी प्रचंड

थी। वह लगभग समूची कांग्रेस को बहा ले गयी, उसने इंदिरा गांधी को भी नहीं छोड़ा। देश में अपूर्व उल्लास छा गया। कई पार्टियों ने मिलकर एक जनता पार्टी बनायी और लोगों ने उसे बड़े गर्व और उत्साह के साथ देश की बागडोर सौंप दी।

जनता पार्टी मे कई दलो का विलय हुआ और काफी पढ़े-लिखे लोग चुनाव मे जीते। कांग्रेस जैसी बड़ी और सशक्त पार्टी के विकल्प मे एक बड़ी विरोधी पार्टी की कामना देश कब से कर रहा है ताकि लोकतंत्र के नाम पर चलने वाली कांग्रेस की तानाशाही समाप्त हो। इस समय ऐसा लगा कि देश को जनता पार्टी के रूप में कांग्रेस का विकल्प मिल गया लेकिन दुर्भाग्य यह कि जनता पार्टी मे जिन दलो का विलय हुआ था उनकी दलीयता भीतर से गयी नही और थोडे ही दिनो मे दलीय स्वार्थो और दलो के व्यक्तिगत स्वार्थों की टकराहट शुरू हो गयी। मोरारजी देसाई, जगजीवनराम, चरणसिंह आदि मे प्रधानमंत्रित्व के लिए तो टकराहट थी ही, राजनारायण जैसे अनेक लोगो ने अपनी ऊलजलूल टिप्पणियों और क्रियाकलापों से जनता पार्टी के लिए अनेक बाधाए खडी कर दी और डेढ साल मे ही जनता पार्टी की सरकार विघटित हो गयी।

जनता क्या करे? उसने तो एक विकल्प का आदर किया किंतु यह विकल्प तो बहुत निकम्मा निकला। अब कहा जाये? फिर उसने देश की सत्ता कांग्रेस की झोली मे डाल दी और अपनी सारी सीमाओ और गलाजत के बावजूद कांग्रेस सरकार शान से चलती रही और धर्म, जाति तथा क्षेत्र के नाम पर राजनीति पनपती रही और धर्म-निरपेक्ष कहलाती रही।

आपातकाल मे लोगो ने अलग-अलग गहरी चुप्पी साध ली थी और सबसे बडी विडम्बना तो यह थी कि वाणी-पुत्रो की वाणी भी डर से मौन हो गयी थी। इसका अनुभव सभी कर रहे थे। आपातकाल समाप्त होने के बाद इस बात पर चिंता व्यक्त की गयी और कुछ ऐसा उपाय सोचा जाने लगा कि पुनः यदि ऐसी स्थिति आये तो लेखको की वाणी मौन न हो। अलग-अलग तो कोई भी आवाज उठाने का साहस नही करेगा और यदि करेगा भी तो उसका असर नही होगा। अतः कोई ऐसी लेखकीय सस्था बनायी जाये जो न केवल लेखकीय बल्कि देश और समाज के अन्य ज्वलंत प्रश्नो पर विचार करे और आवाज भी उठाय। डा० महीपसिंह की सक्रिय पहल से 'भारतीय लेखक संगठन, की स्थापना हुई। इसमे हिन्दी के ही नही, अन्य भारतीय भाषाओ के दिल्ली स्थित लेखको को भी शामिल किया गया। वास्तव मे यह सस्था सिद्धान्ततः भारतीय लेखकों की थी किंतु व्यवहारतः इसमे हिन्दी के दिल्ली स्थित लेखक ही ज्यादा थे। यह स्वाभाविक भी था। श्री विष्णु प्रभाकर इसके अध्यक्ष बने, श्री भवानीप्रसाद मिश्र तथा मैं उपाध्यक्ष। डा० महीपसिंह महासचिव तथा डा० नरेन्द्र मोहन उपसचिव बने और अनेक साहित्यकार इसके सदस्य बने।

सगठन की गतिविधियां बहुत जोर से शुरू हुईं। गोष्ठियां होती थी, साहित्यिक और साहित्येतर विषयों पर चर्चा होती थी। एक छोटा-सा विचार-पत्र भी निकलता था। धीरे-धीरे अन्य प्रदेशो और नगरो के साहित्यकार इसके पदाधिकारी और सदस्य

होने लगे। अन्य नगरों में शाखाएं भी खुलने लगीं।

गुजराती के यशस्वी साहित्यकार डा० रघुवीर चौधरी और वसंत परिहार के प्रयत्नों से कुछ समय बाद अहमदाबाद में इसका एक त्रिदिवसीय अधिवेशन हुआ। बहुत गहमागहमी रही।

चार साल बाद नये चुनाव में पदाधिकारी बदल गये। मैं अध्यक्ष बना और नरेन्द्र मोहन महासचिव तथा डा० महीपसिंह उपाध्यक्ष। अन्य पदाधिकारी भी बदले। धीरे-धीरे भारतीय लेखक संगठन साहित्यिक गतिविधियों में सिमटता गया यद्यपि बहस के मुद्दे सामाजिक और राजनीतिक भी रखे जाते रहे। डा० महीपसिंह के महासचिव रहते समय अनेक महिलाएं संगठन से जुड़ी रहीं। अब उन्होंने आना बंद कर दिया। स्वयं महीपसिंह को भी वह उत्साह नहीं रहा। कुछ समय बाद डा० नरेन्द्र मोहन ने घरेलू कारणों से महासचिव-पद छोड़ दिया। लेकिन वे जितने दिन रहे मेरे साथ अच्छा तालमेल बना रहा और अनेक ठोस कार्य हुए। उपसचिव कई थे। नरेन्द्र मोहन जी के त्यागपत्र के पश्चात् डा० विनय को महासचिव बनाया गया। अलीगढ़ में संगठन की इकाई खुल गयी थी, धामपुर में भी खोली गयी और दोनों स्थानों पर अधिवेशन हुए।

संगठन में वैसे तो बहुत लोग थे किन्तु कुछ विशेष लोग उससे बड़ी गहराई से जुड़े रहे और उसके पदाधिकारी भी बनते रहे। गोपालकृष्ण कौल, देवेन्द्र इस्सर, जगदीश चतुर्वेदी, सुरेन्द्र तिवारी, हरदयाल, बलदेव वंशी, सुखबीर सिंह, हरिप्रकाश त्यागी, कमल किशोर गोयनका, धर्मेन्द्र गुप्त, रतनलाल शर्मा, प्रताप सहगल, अश्विनी पाराशर, मोतीलाल जोतवाणी, सुरेश ढींगरा, ज्ञानचंद गुप्त, दयानंद वर्मा आदि तो शुरू से ही थे, बाद में कमल कुमार, रमेशचंद्र मिश्र, सत्यपाल चुघ, विद्या शर्मा, गुरुचरणसिंह आदि जुड़े। बाहर के साहित्यकारों में विवेकीराय वेदप्रकाश, अमिताभ, भगवानदास वर्मा, शैलेश जैदी, यश गुलाटी, प्रेमकुमार, वसंत परिहार, महावीरसिंह चौहान आदि थे जो इसमें लगातार जुड़े रहे। 1989 में बम्बई में भी इसकी इकाई खुली। उसके संयोजक सूरज प्रकाश थे और वहां के अनेक साहित्यकार इसके सदस्य बने।

डा० विनय बहुत उत्साही व्यक्ति हैं और ऊर्जावान भी लेकिन इतने बहुधंधी हैं कि किसी भी काम को उचित समय नहीं दे पाते। उनका सारा काम भाग-दौड़ और अफरा-तफरी में होता है, उनके महासचिव काल में उनके इस स्वभाव का खमियाजा संगठन को उठाना पड़ा। समय से कोई काम नहीं हो पाता था। चिट्ठियां भी समय से नहीं भेजी जाती थीं अत: आलम यह हो गया कि कभी-कभी वार्षिक अधिवेशनों में पन्द्रह-बीस आदमी दिखाई पड़ने लगे। अध्यक्ष के रूप में मैं बहुत असुविधा और पीड़ा अनुभव कर रहा था और मित्र लोग थे कि मुझे बार-बार अध्यक्ष बना रहे थे। तीन बार मैं अध्यक्ष बना। मित्रों को चौथी बार नये अध्यक्ष की बात सोचनी ही पड़ी और कुछ मित्रों ने तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० तारकनाथ बाली से इस बारे में बातचीत की और उन्होंने अपनी अनुमति दे दी। इस समय वे ही संगठन के अध्यक्ष हैं। डा० विनय महासचिव बने हुए हैं।

इस संगठन के माध्यम से अनेक अच्छे कार्यक्रम हुए। इस क्रम में एक बहुत ठोस

कार्य हुआ—कई पुस्तकों का एक साथ प्रकाशन। बात यों हुई कि डा० महीपसिंह ने संगठन के प्रारंभ मे ही लेखक-सहयोग निधि की एक योजना बनायी थी जिसमें एक लाख रुपये एकत्र करने का उद्देश्य था। शुरू मे बहुत उत्साह के साथ काम चला। अनुदान की राशि एक रुपया थी। सोचा गया था कि इस सहयोग निधि मे सरकार या पूंजीपतियो के भारी अनुदानों के स्थान पर सामान्य जन से एक-एक रुपये का अनुदान लिया जाये ताकि उसमे तमाम सामान्य लोगों की शरीकता तो हो ही, सगठन किसी सत्ता या पूंजीपति का दबाव न अनुभव करे। किन्तु आगे चलकर लोगों का अनुदान-उगाही का उत्साह ठंडा पड गया। इसी क्रम में एक योजना बनी कि कुछ पुस्तकें तैयार कराकर किसी प्रकाशक को दे दी जायें और उसकी पूरी रायल्टी लेखक-सहयोग निधि को दे दी जाये। समकालीन कविता, कहानी, निबंध और नाटक से संबंधित चार बहुत अच्छी पुस्तकें तैयार की गयी। संगठन के लोग ही उनके सम्पादक बने और प्रभात प्रकाशन ने बहुत प्रेमपूर्वक बहुत अच्छे ढग से उन्हें प्रकाशित किया। पूरी रायल्टी सहयोग निधि मे जमा कर दी गयी। सहयोग निधि मे बहुत पैसे जमा नही हो पाये किन्तु समय-समय पर उसी मे से कुछ जरूरतमंद लेखकों को कुछ सहयोग दिये गये।

70

दिल्ली में धीरे-धीरे मेरे आत्मीय परिवेश का क्षेत्र व्यापक होता गया। धीरे-धीरे अनेक लोगों से मेरा सम्बन्ध बनता गया। उनमे से कुछ विशिष्ट सम्बन्धों की चर्चा करना चाहूंगा।

न जाने किन क्षणो में कृष्ण गोपाल वर्मा से भेंट हो गयी। वैसे तो मैं प्रायः देखता था कि तेज-तर्रार-सा लगने वाला कुर्ता-पाजामा पहने एक युवक फुर्ती से आता है, जाता है और जब बोलता है तो उसकी वाणी मे प्रतिभा और अध्ययन का ओज टपकता है किन्तु पहचान न थी। पहचान कब हुई, किसने करायी, यह ठीक से याद नही। किन्तु जब हुई तो लगा कि यह बहुत प्यारा व्यक्ति है, बहुत ही मित्र और अतिथि-वत्सल। निश्चय ही यह समय 1970 के आसपास का रहा होगा क्योंकि मुझे याद है कि वह मुझसे मांगकर 'जल टूटता हुआ' ले गया था और पढा था। 1972 में प्रकाशित होने वाले उपन्यास 'सूखता हुआ तालाब' की समीक्षा की थी। बाद मे 1976 मे प्रकाशित 'अपने लोग' की भी समीक्षा की थी।

कृष्ण गोपाल वर्मा से परिचय हो गया था और क्रमशः गहरा हो रहा था। यह और भी गहरा रहा था इसलिए कि उन्होने डा० सावित्री सिनहा की बहन की बेटी अर्चना सिनहा (अब अर्चना वर्मा) से प्रेम-विवाह किया था। अर्चना जी के पी-एच० डी० के शोध-कार्य के लिए मुझे नगेन्द्र जी के साथ सहनिर्देशक बनाया गया था। इसलिए हम

लोग प्रायः एक-दूसरे के यहां आने-जाने लगे थे। जब कभी अकेलापन अनुभव होता वे हमारे यहां चले आते या हम उनके यहां चले जाते। जाते ही वर्मा जी उल्लास से फूट पड़ते और अपनी विशिष्ट शैली में बातें तो करते ही, खिलाने-पिलाने की भी व्यवस्था करते। हम लोग न जाने कहां-कहां की बातें करते। साहित्य से लेकर जीवन के अनेक संदर्भों तक की यात्रा करते रहते। वे आग्रहपूर्वक देर तक बैठाते और उस समय को अपनी आत्मीयता से सराबोर रखते। वे हंसराज कालेज में अंगरेजी के प्राध्यापक हैं इसलिए उनका अंगरेजी का अच्छा ज्ञान तो है ही, हिन्दी-साहित्य में भी उनकी गहरी अभिरुचि और पैठ है। मैं उनके अंगरेजी ज्ञान के आगे चुप ही रहता किन्तु वे अंगरेजी ज्ञान का आतंक न मचाकर हिन्दी-साहित्य के एक छात्र के रूप में प्रस्तुत होकर मुझे बड़ा बनाये रखते। अर्चना जी भी पूरे मन से हम लोगों की चर्चा में शरीक रहतीं। वे गृहिणी धर्म भी संभालतीं और साहित्य धर्म भी। वे मिरांडा कालेज में प्राध्यापिका थीं किन्तु सामान्य प्राध्यापिकाओं से अलग साहित्य को गहरे समझने-बूझने मे सक्रिय थीं।

वर्मा जी के यहां अनेक लोग मिल जाते थे और प्रायः सीतेश जी और अरुणा सीतेश जी भी मिल जाते थे। किन्तु यह कथा थोड़े बाद की है।

जब दिल्ली में जनसंघ शासन हुआ था तब साहित्य कला परिषद् की स्थापना हुई थी। श्री दयाप्रकाश सिनहा लखनऊ से उसके सचिव होकर आये थे। श्री दयाशंकर मिश्र शिक्षा निदेशक थे। उनसे मेरे अच्छे सम्बन्ध थे और उनके आग्रह से मैं साहित्य कला परिषद् से कुछ जुड़ गया था। दयाप्रकाश जी आये तो उनसे परिचय हुआ। वे बहुत सद्भाव से मिले और धीरे-धीरे उनसे मित्रता गहराती गयी। वे स्वभाव से ही बहुत सज्जन और प्रिय व्यक्ति हैं, साथ ही अच्छे नाटककार भी। अतः स्वभावतः ही उनसे मेरा सम्बन्ध अधिकाधिक अंतरंग होता गया। हेमंत की रुचि नाटक में हो गयी थी। वह उनके नाटकों के प्रस्तुतिकरण में भाग लेने लगा था, अतः सिनहा जी तथा उनकी पत्नी उसे बहुत प्यार करने लगे थे।

एक दिन पत्नी कहीं से आ रही थीं। बस में उन्हें सिनहा जी मिल गये। उन्होंने नमस्कार किया और बगल की सीट दे दी तो सिनहा जी ने बहुत संकोच से नमस्कार किया। पत्नी उनसे हालचाल पूछने लगीं और वे संकोच से 'हूं' 'हां' करते चलते रहे। पत्नी को लगा कि वे आज कुछ सकुचा रहे हैं और उनसे बातचीत करने में असुविधा अनुभव कर रहे हैं। अंत में सिनहा जी को कहना पड़ा—"माफ कीजिए, मैं आपको पहचान नहीं रहा हूं।" पत्नी को अब काटो तो खून नहीं। वे सिनहा जी के इस व्यवहार पर चकित थीं। अब तक उन्होंने दयाप्रकाश जी को तीन-चार बार ही देखा था। अब उन्हें कुछ शक हुआ। पूछा—"आप दयाप्रकाश सिनहा जी नहीं हैं ?"

"नहीं, मैं उनका छोटा भाई सीतेश सिनहा हूं।"

दोनों को पता चल गया कि गलती कहां हो रही है। पत्नी इतनी सकुचायीं कि स्टैंड पर उतरते ही पानी में भीगती हुई घर की ओर चल दीं। सीतेश जी से एक दिन के० जी० वर्मा के यहां भेंट हुई तो यह किस्सा छिड़ गया। उन्होंने कहा—"मैं तो परेशान था अपने भाग्य पर कि कैसे आज अनाहूत रूप से एक भद्र महिला मुझसे बात करने का

सौभाग्य प्रदान कर रही हैं। लेकिन आज पहली बार नहीं हुआ है। प्रायः लोग हम दोनों भाइयों में घालमेल कर देते हैं और मैंने बचपन में इसका अच्छा-खासा लाभ उठाया है। भाई साहब को मेरे कारण बहुत परेशानियां झेलनी पड़ी हैं। वे बचपन से ही शरीफ थे और मैं शरारती। आप समझ सकते हैं कि उन पर क्या बीतती रही होगी।"

सीतेश जी बहुत मस्त और विनोदी व्यक्ति हैं। इनके साथ इनकी पत्नी अरुणा जी होती थीं। वे आई० पी० कालेज में अंगरेजी की प्राध्यापिका हैं और हिन्दी की कहानी-लेखिका। अरुणा जी जितनी ही सुन्दर हैं उतनी ही शालीन। उनकी शालीनता उनकी उपस्थिति मात्र से बरसती रहती है और उनकी हंसी में अद्भुत स्निग्धता है। अरुणा जी और सीतेश जी दोनों अपने स्वभावों से स्थूल रूप से प्रतिकूल होते हुए भी मूल रूप से एक ही हैं—भद्र सुसंस्कृत और मित्र-वत्सल। के० जी० के यहां जब ये दोनों होते तो बैठक में और भी रौनक आ जाती। बाद में तो हम लोग सीतेश जी के यहां आने-जाने लगे थे और उनके पारिवारिक स्नेह की उष्मा अनुभव करने लगे थे। पत्नी के दिवंगत होने पर जब दयाप्रकाश जी फीजी से लौटे थे तो लखनऊ जाने तक सीतेश जी के यहां ही रहने लगे थे और हम लोगों का आना-जाना और भी बढ़ गया था।

एक दिन मेरे यहां एक सज्जन सपत्नीक आये। उन्होंने अपना परिचय दिया—"मैं संतोष शुक्ल हूं। दिल्ली कालेज में इतिहास पढ़ाता हूं और ये हैं मेरी पत्नी मंजुला शुक्ल। इन्होंने उज्जैन विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया है।"

"जी आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। मेरे योग्य सेवा बतायें।"

"जी सेवा नहीं, मैं तो मात्र दर्शनार्थ आया हूं।"

"अरे नहीं, ऐसा मत कहें। मेरे दर्शन में क्या रखा है? दर्शन तो बड़े लोगों का होता है।"

"मेरे लिए तो आप बड़े ही हैं। मैं तो कब से आपको पढ़ता आ रहा हूं। आपसे मिलने की इच्छा तो बहुत पहले से थी किन्तु जब विशाल त्रिपाठी से ज्ञात हुआ कि आप यहीं हैं तो बहुत प्रसन्नता हुई और मिलने की तड़प मन में भर गयी। किन्तु देखिए, बगल में रहकर भी आपसे मिलने का संयोग नहीं बन सका। 'मिलूंगा, मिलूंगा' सोचते-सोचते कई महीने बीत गये।"

"ऐसा ही होता है महानगरों में।"

"नहीं, महानगर का सवाल नहीं है। सवाल था अपनी झिझक का। आप जैसे प्रख्यात साहित्यकार से मिलने में डर लगता था।"

"डर किस बात का?"

"मुझे कुछ साहित्यकारों से मिलने का अनुभव प्रीतिकर नहीं रहा। उन्होंने अजीब यांत्रिकता, अहंकार और ठंडापन दिखाया। इसलिए आपसे भी डरते-डरते मिला। हालांकि विशाल जी ने आश्वस्त कर दिया था फिर भी।"

"अरे भाई, मैं तो बहुत छोटा साहित्य-सेवी हूं, मुझमें ऐसा क्या है कि अहंकार करूंगा।"

"अहंकार तो छोटे लोग ही करते हैं। कहते हैं न कि अधजल गगरी छलकत

जाए। आपमें अहंकार नहीं है और वह इसीलिए कि आप बड़े हैं।"

"धन्यवाद आपके इस सम्मान-प्रदर्शन के लिए। चलिये, शायद आप जैसे मित्रों के सद्भाव से ही कभी कुछ ठीक-ठाक बन जाऊं।"

उनसे देर तक बात होती रही और वे उठकर गये तो बहुत प्रसन्न और तृप्त लग रहे थे और धीरे-धीरे मेरे परम अंतरंग और मेरे परिवार के अभिन्न अंग बन गये। सुख-दुःख में साथ खड़े मिले। मुझे याद आ रहा है सितम्बर का महीना-जब मेरा पूरा घर एक साथ मलेरिया में पड़ा हुआ था। हम किसी के लिए कुछ कर न पाने की लाचारी झेलते हुए एक दूसरे को निरीह नेत्रों से देख लेते थे और अपनी-अपनी पीड़ा के समुद्र में उतर आते थे, हम सभी आसपास पड़े हुए अपने में स्थित द्वीपों से लग रहे थे, जो इतने पास होकर भी न जाने कितनी दूर थे। अजनबीपन का यह कितना जीवित संदर्भ था। अजनबी भीड़ में मानसिक अकेलापन अनुभव करना एक बात है और आत्मीयता से सराबोर अपने लोगों के बीच में अजनबीपन की नियति झेलने की विवशता दूसरी बात है। हम इसी नियति को झेल रहे थे। एक-दूसरे के लिए कितना कुछ करने की चाह लिए हुए अपने-अपने में बंधे थे। इस समय एकमात्र सहारा थे संतोष और मंजुला शुक्ल। सतोष आते थे, दवायें लाते थे, समय-समय पर हमें खिला जाते थे, खाने-पीने की व्यवस्था करते थे और इस तरह वे अपनी जिन्दगी जीते हुए हमारी भी जिन्दगी जी रहे थे। उन्हें राहत तभी मिली जब हम सभी स्वस्थ हो गये।

बेटी की शादी में और न जाने कितने घरेलू प्रसंगों में वे हमारे साथ सक्रिय रहे, बल्कि वे और उनके जैसे मित्र मेरी अपेक्षा अधिक सक्रिय रहे।

डा० अवनीन्द्र कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक होकर आये थे। वे पहले दमण में थे, जहां मेरे एक मित्र रामलखन शुक्ल हिन्दी पढ़ाते थे। ये शुक्ल जी के अच्छे मित्र थे। शुक्ल जी के यहां मेरी चर्चा चलती रही होगी, इसलिए जब ये दिल्ली आये तो मुझसे मिले और प्रायः मिलते रहते थे। इस प्रायः भेंट ने मेरे-उनके बीच परिचय गाढ़ा होने लगा। मेरी पत्नी बहुत दिनों बाद मेरठ से बी० ए० कर रही थी। उनका एक विषय था संस्कृत। संस्कृत के कई प्राध्यापक मेरे मित्र थे और वे माडल टाउन में ही रहते थे। सबने आश्वस्त किया था कि वे संस्कृत पढ़ा देंगे लेकिन सभी ने अपने व्यवहार से बेहद निराश किया। एक सज्जन बुलाते थे, ड्राइंगरूम में बैठवाते थे और अन्दर बैठकर कुछ और काम करते थे।

एक दिन डा० अवनीन्द्र भारतीय स्टेट बैंक में मिल गये। संस्कृत की कोई बात चली तो मेरे मुंह से सहजभाव से निकल पड़ा कि संस्कृत वाले तो बहुत गैर-जिम्मेवार होते हैं। न जाने कितने मित्रों ने बहुत फूले हुए शब्दों में पत्नी को पढ़ाने का आश्वासन दिया किन्तु उन्हें बुला-बुलाकर उनका काफी समय खराब कर-करके कुछ नहीं पढ़ाया और अपने प्रति बहुत विचित्र धारणा को जन्म दिया।

अवनीन्द्र जी ने बहुत ठोस शब्दों में कहा—"आपने मुझे आजमाये बिना संस्कृत वालों पर यह सामान्य टिप्पणी कैसे जड़ दी ?" उनके स्वर में दूसरे लोगों जैसी प्रीति-प्रदर्शक स्फीति नहीं थी बल्कि व्यावहारिक संक्षिप्ति थी जो वास्तव में मेरी टिप्पणी

को चुनौती देती लग रही थी और विश्वसनीय लग रही थी। मैंने कहा—"चलिये, आपको भी आजमा लेते है।" और अवनीन्द्र जी ने मेरी टिप्पणी को खारिज ही नही किया बल्कि वे परम अतरग और विश्वसनीय मित्र बन गये। मित्रो के बीच उनकी विश्वसनीयता की साख था। जो कहते थे उसे करते ही थे। मेरे अनेक कार्यों मे उनका गहरा सहयोग उनकी मित्र वत्सलता का परिचायक है। अजू के लिए वर खोजने के क्रम मे वे न जाने कहा-कहा मेरे साथ गये और सद्परामर्श देते रहे। अंजू के विवाह मे उन्हे बुखार था किन्तु टैबलेट ले-लेकर उसे दबाते रहे और अनेक व्यवस्थाओ मे अपने को जोते रहे। उसका विवाह होते ही अपने को ढील दिया और बुखार की गोद में गिर पड़े और कई दिन तक पडे रहे। उनके माध्यम से जिन मित्रो से जुडा, वे भी काफी प्रामाणिक निकले।

एक विशेष सन्दर्भ में मेरे दो मित्र याद आ रहे हैं। डा० ब्रजनाथ गर्ग और डा० बी० के० सिंह। डा० सतीश गर्ग पी० जी० डी० ए० वी० कालेज मे प्राध्यापक होकर आ गये थे। तब मैं उसी कालेज मे था। डा० सतीश गर्ग हेली-मेली आदमी है। हेलमेल से उनके परिचय और प्रभाव की दुनिया काफी बडी हो गयी है। मेरे भी सम्पर्क मे आये और आते ही गये। फिर हमारे गहरे पारिवारिक सम्बन्ध बन गये। उन्हे कोई भी काम सौंपता, बहुत उत्साह से पूरा करते, आवश्यकता पडने पर मेरे साथ हो लेते। व्यावहारिक सुझाव देते। मेरी पत्नी मेरठ यूनिवर्सिटी से बी० ए० की परीक्षा दे रही थी। केन्द्र गाजियाबाद था। सतीश गर्ग ने गाजियाबाद के अपने मित्र डा० ब्रजनाथ गर्ग से हमारा परिचय करा दिया था। ब्रजनाथ गर्ग का बहुत आत्मीय आग्रह था कि मेरी पत्नी परीक्षा देने के समय उनके यहा ठहरे। वे ठहरी। ब्रजनाथ गर्ग बहुत मस्तमौला और साफदिल आदमी है। उन्होने इम्तहान-भर पत्नी को जिस आदर-भाव से अपने यहा रखा, वह अनुपम है। वे ही नही, उनके पिताजी, बडे भाई साहब, उनकी श्रीमती जी सबने पत्नी की ऐसी देखभाल की मानो उनके द्वारा पत्नी नही, पत्नी द्वारा वे ही उपकृत हुए हो। अपने सगे-सम्बन्धी तो दो-चार दिन मे ही आतिथ्य से ऊबने लगते हैं किन्तु इस परिवार ने बिना किसी सम्बन्ध के या स्वार्थ के या गहरे पूर्व परिचय के पत्नी को इतने दिन तक जो उष्म आत्मीयता प्रदान की, वह विरल है।

पत्नी और बेटी अंजू दोनो आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा दे रही थी। डा० अवनीन्द्र कुमार के माध्यम से उनके मित्र डा० बी० के० सिंह स मेरा परिचय हो चुका था। डा० बी० के० सिंह आर० बी० एस० कालेज मे हिन्दी-विभाग मे थे और अपनी ईमानदार तेज-तर्रारी और सहयोगी प्रवृत्ति के कारण वहा बहुत प्रभावशाली थे। आगरा जाता तो उन्ही के यहा ठहरना पडता। जब पत्नी अंजू के साथ परीक्षा देने आगरा गयी तो डा० बी० के० सिंह के आग्रह के कारण उन्हे उन्ही क यहां ठहरना पडा। उनके पास दो ही कमरे थे और वे, उनकी पत्नी, तीन बच्चे तो थे ही, आने-जाने वालो का भी क्रम बना ही रहना था। फिर भी मेरी पत्नी और बेटी को अपने यहां इम्तहान-भर (यानी महीना-भर) ठहराने में उन्हें अपार सुख का अनुभव

हुआ। उनकी पत्नी भी सहज भाव से इन्हें अपने घर का ही आदरणीय और प्रिय सदस्य मान बैठीं और पति-पत्नी ने (तथा बच्चों ने भी) इनकी जो देखभाल की वह अनुपम है। खुदाई खिदमतगारी में घर से बाहर-बाहर रहने वाले बी० के० सिंह को अब घर की चिंता भी सताती थी और उन्हें इस बात का ध्यान घर खींच लाता था कि भाभी जी और बिटिया को कोई परेशानी तो नहीं, कुछ चाहिए तो नहीं। और डा० बी० के० सिंह के साथ मेरा मैत्री भाव दिन-दिन गहराता ही गया। वे अपनी निःस्वार्थ सेवाओं और ईमानदार सक्रियता के कारण आगरा विश्वविद्यालय के शिक्षक संघ के अपरिहार्य महासचिव बने हुए हैं।

71

दिल्ली में आकर दिल्ली के साहित्यकारों से प्रीतिकर और अप्रीतिकर परिचय तो हुआ ही, बाहर के भी कई छोटे-बड़े साहित्यकारों से जुड़ा। कौन साहित्यकार कितना बड़ा है, कितना छोटा, किससे जुड़ना मेरे साहित्यिक स्वार्थ के लिए लाभदायी रहेगा, किससे जुड़ना नहीं, मेरे संबंध-निर्माण के पीछे यह सोच सक्रिय नहीं रही है। जिस साहित्यकार (छोटा रहा हो या बड़ा) से सहज क्रम में जुड़ना संभव हुआ, मैं जुड़ा। जहां मुझे अपने प्रति सहजता दिखी, उधर हो लिया। दिल्ली में आने से पूर्व अज्ञेय जी के ठंडे व्यवहार के बारे में काफी सुन रखा था और एकाध बार अनुभव भी किया था। यहां आने के पश्चात् उदयभान मिश्र के साथ उनसे मिलने गया। वे अपनी नियंत्रित मुद्रा के बावजूद बहुत प्रेम से मिले। उसका एक कारण यह भी था कि अहमदाबाद में उनके अनुज श्री भानोट जी (जो उस समय गुजरात में उप शिक्षा निदेशक थे) से मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया था। वे बहुत सुपठ व्यक्ति हैं। वे मुझे बहुत मानते थे और घर जाने पर बड़ी उष्मा के साथ मिलते थे, खिलाते-पिलाते थे। देर तक साहित्य-चर्चा होती थी। उन्होंने अपने अग्रज अज्ञेय जी से मेरी चर्चा की होगी। अतः मेरे जाने पर अज्ञेय जी के बंद चेहरे पर मुसकान की मुखरता छा गयी थी और अपनी शैली में ठहर-ठहरकर हमसे बातें भी करते रहे। संयोग से वहां माचवे जी भी थे। माचवे जी की मुखरता के बहाव में तो न जाने कितने-कितने मौन बह जायें। हम चारों के बीच एक सुखद संवाद-सा बन गया था। फिर किसी दिन अज्ञेय जी के यहां काव्यगोष्ठी हुई, उन्होंने मुझे भी बुलाया था। वहां गया। बहुत आत्मीय वातावरण में काव्य गोष्ठी सम्पन्न हुई। कपिला जी स्वयं चाय लाती रहीं, नाश्ता लाती रहीं, परोसती रहीं और गोष्ठी को पारिवारिक उष्मा प्रदान करती रहीं। उस गोष्ठी में नयी कविता के दिल्ली स्थित प्रायः सारे कवि थे। उसमें वात्स्यायन जी ने अपने गीत गाये भी। पता नहीं क्यों गाये? ताल-स्वर के तो वे ज्ञाता जरूर रहे होंगे किन्तु उनके स्वर में गीतात्मक माधुर्य कतई नहीं था। उनके

गद्यात्मक गायन को सुनकर तरह-तरह की प्रतिक्रियायें हो रही थीं। श्रीकांत वर्मा को मैंने कभी ठठाकर हंसते नहीं देखा किन्तु उस दिन देखा कि वे अपनी हंसी बरबस दबाये जा रहे हैं। लगता था कि यदि गोष्ठी के शिष्टाचार का दबाव न होता तो वे हंसी में फूट पड़े होते। वे एक किनारे बैठे थे। उन पर औरों की नजर नहीं थी किन्तु मैं उन्हें देख रहा था और मुझे यह जानकर अच्छा लगा कि श्रीकांत वर्मा के भीतर हंसी का जखीरा भरा है, भले ही वे आधुनिकतावादी दबाव में मुसकराकर रह जाते हों। बहरहाल, वह बहुत आत्मीय और जीवंत गोष्ठी थी।

अज्ञेय जी से फिर भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भेंट होती रही। वे देखकर बहुत प्रीतिकर ढंग से मुसकराते, दो-चार औपचारिक बातें होतीं और बस। यानी उनसे मेरा कोई गहरा सम्बन्ध नहीं बन सका। इसका जिम्मेवार मैं ही हूं। मैं जब ऐसे लोगों के यहां उठूंगा-बैठूंगा नहीं तो सम्बन्ध कैसे गहरायेंगे? और मित्रों को छोड़कर किसी के यहां उठने-बैठने की मेरी आदत नहीं है। साहित्यिक रिश्ता भी नहीं बन पाया। मैंने अज्ञेय जी को अपने साहित्य की ओर उन्मुख होते कभी नहीं पाया और मुझे भी उनके साहित्य में ठेठ अपनापन नहीं मिला।

मैं और उदयभान मिश्र 'नयी कविता के गीत' नाम से एक गीत संकलन निकाल रहे थे। इस संदर्भ में अज्ञेय जी से साक्षात्कार लिया। उन्होंने बहुत मन से साक्षात्कार दिया। वह संकलन तो नहीं निकल सका किन्तु अज्ञेय जी ने अपने उत्तर अपनी एक पुस्तक में प्रकाशित किये। उन्होंने प्रश्न तो लिए किन्तु इस बात का उल्लेख करना उनके अहम को गवारा नहीं हुआ कि ये रामदरश मिश्र और उदयभान मिश्र द्वारा एक साक्षात्कार के समय पूछे गये प्रश्नों के उत्तर हैं।

अहमदाबाद में नक्षत्र संस्था के द्वारा आयोजित एक समारोह में उनका सहभागी होने का अवसर मिला। रघुवीर चौधरी और वसंत परिवार के प्रयत्नों से अहमदाबाद में एक साहित्यिक-संस्था 'नक्षत्र' की स्थापना की गयी जिसमें देश की सभी भाषाओं के दो-दो साहित्यकारों को प्रतिवर्ष बुलाने की योजना बनायी गयी। पहले वर्ष हिन्दी के दो साहित्यकारों—अज्ञय और मुझे बुलाया गया। सुबह को एक ही मंच से हम दोनों बोले थे और शाम को एक काव्य-समारोह हुआ था जिसमें हम दोनों के अतिरिक्त गुजराती के कुछ विशिष्ट कवियों ने कविता-पाठ किया था। हमारे चुने गीतों का गायन भी हुआ था। अज्ञेय और मैं दोनों साथ ही रेडियो पर भी बोले थे। यह सब होते हुए भी अज्ञेय जी अपने अहम के कवच से बाहर नहीं आये। कभी हलका-सा मुसकरा दिया और कभी कुछ बोल दिया। गुजराती के आधुनिकतावादी कवियों और लेखकों पर अज्ञेय के इस व्यक्तित्व का तो मानो जादू छा गया। वे लोग अभिभूत थे, मुग्ध थे।

बच्चन जी से मेरा परिचय पहले ही हो चुका था। मुझे उनका स्नेह प्राप्त था। दिल्ली आने पर उनके यहां प्राय: सपरिवार जाने लगा। तब वे विलिंगटन क्रीसेंट में थे। जाने पर उनके प्रीतिकर साहचर्य का रस प्राप्त होना था। वे मेरे परिवार से लेकर साहित्य तक सबके प्रति अपना निश्छल लगाव व्यक्त करते थे। वे रचनायें पढ़ते थे और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। जब मैंने 'लोकायतन' की समीक्षा लिखी थी तो

उन्होंने कहा था—"इस पुस्तक पर मैं भी वही लिखता जो तुमने लिखा है, इसलिए मैं उस पर लिख नहीं रहा हूं। हां, मेरी भाषा तुम्हारी भाषा जैसी निर्मम नहीं होती।" लिख चुका हूं उन्होंने मुझे पत्र लिखकर मेरा काव्य-संग्रह 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' अहमदाबाद से मंगाया था। दिल्ली के महानगरी माहौल में बच्चन जी जैसे वरिष्ठ और प्रभावशाली साहित्यकार का स्नेह निश्चय ही एक आश्वस्ति प्रदान करता है। वैसे तो उनसे भेंट होती ही रहती थी किन्तु हम (पति-पत्नी) होली के दिन अपराह्न में उनके यहां अवश्य जाते थे किन्तु एक बार कुछ ऐसा घटित हुआ कि हमने जाना छोड़ दिया। हुआ यों कि हम पहुंचे तो तेजी जी कॉलबेल की आवाज सुनकर निकलीं। उन्होंने कमरे का आधा फाटक खोला और उसमें आने को अड़ाकर कहा—"बच्चन सो रहा है, क्या काम है ?"

'कह दीजियेगा उनसे कोई काम नहीं है, केवल होली मिलने चला आया था।"

हम लोग कुछ सेकंड इस आशा में खड़े रहे कि शायद वे अन्दर बुलाकर दो-चार मिनट के लिए बैठने को कहें। जब हम लोगों को लौटा देने की मुद्रा में वे खड़ी ही रहीं तो हम लोग झटके से मुड़े और माडल टाउन लौट आये। हमने अपने को बेहद अपमानित अनुभव किया। उसके बाद हम फिर एक बार वहां गये, जब बच्चन जी ने अपनी एक वर्षगांठ पर अपने कुछ अंतरंग लोगों को बुलाया—अपने हाथ से चिट्ठी लिखकर। मैं भी उन अंतरंगों में शामिल था।

दिनकर जी से मेरी हल्की-सी पूर्व पहचान थी। दिल्ली आने पर पहचान गहरी हुई। वे जब भी मिलते बड़े प्रेम से मिलते और हर बार दो बातें जरूर कहते—

(1) रामदरश, तुमने अच्छा किया कि गद्य साहित्य में आ गये। वास्तव में यह युग गद्य का ही है।

(2) रामदरश, तुम अपने बाल काले क्यों नहीं कर लेते, अभी से बुजुर्गियत ओढ़े क्यों घूम रहे हो ?

मैं केवल मुस्करा देता।

जैनेन्द्र जी से तो मेरा परिचय दिल्ली में ही हुआ। गोष्ठियों में बार-बार उनसे भेंट होती। हम साथ बोलते। मेरा खयाल है कि उन्होंने मेरा कुछ पढ़ा नहीं था, वे मुझे केवल एक प्राध्यापक आलोचक के रूप में जानते थे। हां, जब मेरी साठवीं वर्षगांठ पर मेरी पुस्तक 'इकसठ कहानियां' का उन्हें विमोचन करना हुआ तो कुछ कहानियां पढ़ीं और उन्होंने उनके सम्बन्ध में अपनी अच्छी राय जाहिर की। मुझे लग गया कि उन्होंने शायद पहली बार पढ़ा है। इसमें उनका दोष नहीं है, मेरा ही दोष है कि मैंने उन्हें अपने को पढ़वाया नहीं और बड़े लोग नये लोगों के बारे में पढ़वाने से ही पढ़ते हैं। बार-बार उनसे भेंट होती रही और उनके व्यक्तित्व के रंग खुलते रहे। यह बात मुझे अच्छी लगी कि वे अपने विरोध में कही जाने वाली बात भी ध्यान से और निरुत्तेजित होकर सुनते थे।

डा० रामविलास शर्मा से कई बार आगरा में भेंट हुई थी और उनके निश्छल और अनौपचारिक व्यवहार का क्या कहना ? जब भी उनसे मिला उन्होंने बहुत स्नेह से

अपनाया। पता नहीं उन्होंने मेरा कुछ पढ़ा है कि नहीं किन्तु ऐसे लोगों से सम्बन्ध इस आधार पर नहीं बनता-बिगड़ता कि उन्होंने मेरा कुछ पढ़ा है कि नहीं। ये लोग साहित्य के सच्चे आराधक हैं और उनसे मिलकर मन समृद्ध अनुभव करने लगता है। रामविलास जी तो मिलने पर अपने स्नेह से और ज्ञान से भी भर देते हैं। हम पड़ोसी मोहल्लों में रहते हैं किन्तु मेरा अपना आलस कि उनसे मिल नहीं पाता, घर में बैठा-बैठा ही उनके साहचर्य की खुशबू अनुभव करता रहता हूं। लोग दूर-दूर से उनसे मिलने आते हैं (और मेरे यहां आकर यह सूचना देते हैं) तो मेरा आलस मुझे और सालने लगता है।

श्री बालकृष्ण राव के साथ अपने सम्बन्ध की शुरुआत की चर्चा कर चुका हूं। आगरा वाले साक्षात्कार के बाद उन्होंने मुझे बहुत स्नेह दिया। तभी 'माध्यम' पत्रिका की शुरुआत हुई। उन्होंने पहले या दूसरे अंक में 'आधुनिक बोध और साहित्य' मेरा लेख छापा और फिर मेरी अनेक रचनायें और समीक्षायें वहां छपीं। 'समय देवता' एक लम्बी कविता वहीं छपी थी और उस पर पाठकों के बहुत पत्र आये थे। राव साहब गोरखपुर विश्वविद्यालय में कुलपति हुए, फिर आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति हुए। जहां कहीं भेंट होती थी, वे बहुत प्यार से मिलते थे बल्कि अपनी ओर से सम्मान देते थे। उदाहरण के लिए दो छोटे-छोटे प्रसंगों का उल्लेख करूंगा। जब वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में थे तो मेरे मझले भाई रामनवल मिश्र अपने एक मित्र के साथ उनसे मिलने गये। उनके मित्र को अपने स्कूल के किसी साहित्यिक समारोह में राव साहब को आमंत्रित करना था। चपरासी अन्दर जाने ही न दे। वह कहता रहा कि शहर के बड़े-बड़े लोगों के साथ मीटिंग चल रही है। मैं नहीं जाने दूंगा।

भाई साहब ने कहा—"उनसे एक मिनट का काम है। जाकर कह दो कि डा० रामदरश मिश्र के भाई साहब आये हैं, मिलना चाहते हैं।"

"नहीं साहब, आप किसी के भाई हों, मैं इस समय कुछ नहीं कर सकता।"

"रामदरश मिश्र के भाई साहब को मैं नमस्कार करता हूं। आइये, अन्दर आइये।"

इन लोगों ने देखा स्वयं राव साहब बाहर आकर इन्हें बुला रहे थे। उन्होंने मीटिंग में बैठे-बैठे भाई साहब की बात सुन ली थी और उठकर चले आये थे।

उन्होंने बड़े-बड़े अधिकारियों से कहा—"आप लोग थोड़ी देर के लिए क्षमा करेंगे। एक बहुत आत्मीय व्यक्ति के भाई साहब आ गये हैं।"

उन्होंने समारोह में जाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की किन्तु कहा—"मेरे लिए यह कम नहीं कि इसी बहाने रामदरश मिश्र के भाई साहब के दर्शन हुए।" भाई साहब और उनके मित्र अभिभूत थे व्यक्तित्व के इस बड़प्पन से।

जब वे आगरा विश्वविद्यालय में आ गये थे तो मैं जब भी वहां जाता उनसे मिलता। हम लोगों से मिलने के लिए उनके पास समय की कमी नहीं थी। जाने पर उठ खड़े होते थे। एक दिन मैं गया तो ज्ञात हुआ क्रिकेट मैदान में छात्रों और शिक्षकों के बीच नुमाइशी क्रिकेट मैच हो रहा है। मैं उनसे मिलना चाहता था। वे अनेक उच्च-पदाधिकारियों के साथ मैदान के किनारे बैठे थे। डा० वागीशदत्त पाण्डेय ने उनके कान

में कहा—रामदरश मिश्र आये हैं। वे एकदम खड़े हो गये और तब अनेक पदाधिकारियों को खड़ा होना ही था। मैं बहुत सकुचाया। "आया जाय, आया जाय।" अपने खास लहजे में राव साहब ने कहा और अपने पास ही एक कुर्सी डलवाकर बैठा लिया।

वे आई० सी० एस० थे। वे बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। कई भाषाओं के मर्मज्ञ थे, कवि थे। उनमें एक ओर एक आई० सी० एस० का शिष्ट आभिजात्य था, दूसरी ओर देशी भाषा और जमीन से गहरे लगाव से उत्पन्न खुलापन। कुलपति के रूप में जिस विश्वविद्यालय में रहे, वहां हिन्दी के विकास के सराहनीय प्रयत्न किये। उन्होंने कोशिश की कि सारा कामकाज हिंदी मे हो।

अजमेर की एक संस्था ने अपने त्रिदिवसीय साहित्यिक समारोह मे हम दोनों को बुलाया। हम दोनों आसपास के कमरे मे ही ठहरे। वहां उनको और भी नजदीक से देखने का मौका मिला और जब उन्होंने नयी कविता के विरोध में बार-बार बेवकूफी-भरा सवाल करने वाले संस्कृत के एक प्राध्यापक से कहा—"कहिये, बहस हिंदी में हो कि संस्कृत मे," तो मैं चकित रह गया। यानी राव साहब संस्कृत भी इतनी जानते है कि उसमे बहस कर सकें। राव साहब उन लोगो में थे जो अपने नये से नये साहित्यकार साथी को भी भान नही होने देते थे कि वे उससे बड़े है और समानता के स्तर पर उससे बातचीत करते थे। याद है वह दिन भी जब वे माडल टाउन मे श्री वियोगी हरि के यहां किसी बैठक मे आये थे। माडल टाउन के हम कई साहित्यकार उनसे मिलने ही वियोगी जी के यहां पहुंचे थे। बैठक समाप्त होने पर उन्होंने कहा—"हां भाई, अब कहां चलना है? जो सबसे नजदीक घर हो वहां चला जाय।"

इसका लाभ उठाते हुए मैंने कहा, "सबसे नजदीक तो मेरा ही घर है।"

"एवमस्तु! चलिए आप ही के यहां चलने है।"

सभी लोग हमारे यहां आये। नामवरसिंह, देवीशंकर अवस्थी, अजितकुमार, रमेश गौड आदि तो याद आ रहे है, शायद कुछ और लोग भी थे। वहां दो घंटे तक गपशप चलती रही। वह एक स्मरणीय बैठक थी। राव साहब के साथ न जाने कितने और प्रसंग हैं जो मेरी यादों में सुरक्षित हैं। एक दिन एकाएक उनके दिवगत होने की सूचना मिली तो विश्वास ही नहीं हुआ कि वे इस दुनिया में नही हैं।

भवानी भाई (भवानीप्रसाद मिश्र) से दिल्ली के बाहर कई बार भेंट हो चुकी थी। वे काफी पहले दिल्ली आ गये थे और जब मैं दिल्ली आया तो उनसे यहां-वहां भेंट हो जाती थी। भवानी भाई से मिलना वास्तव में एक आध्यात्मिक अनुभव जैसा लगता था। मस्त फक्कड़ कवि और व्यक्ति। जो सच लगा कह दिया, किसी का डर नही, कोई बनावट नहीं, कोई छल नहीं। दिल्ली के तमाम असहज दम्भी और छद्म आधुनिकतावादी रचनाकारों की ठस भीड़ में वे सहजता की आंधी से उड़ते ज्ञात होते थे। करो तुम लोग साज-शृंगार, मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है। वैसे भवानी भाई के यहां मेरा उठना-बैठना नहीं था किन्तु मेरे प्रति उनके गाढ़े स्नेह और उनके प्रति मेरे गहरे सम्मान-भाव का सहज ही संवाद होता रहता था। वे 'गगनांचल' के सम्पादक हो गये थे। कोई रचना उन्हें भेजता था तो लिखते थे—"पसंद आयी और आपकी रचनायें

मुझे पसंद आती ही हैं।" 'अपने लोग' उन्हें बहुत पसंद आया था। एक दिन उन्होंने बताया—"भाई, यह उपन्यास मुझे बहुत पसन्द आया। साहित्य अकादमी वालों से कहा—इस पर पुरस्कार दे दो लेकिन वे सब कुछ समझते ही नहीं।" उनकी सहजता और मस्ती उनके हर कार्य में थी और सारे कार्यों के बीच एक लय थी। मैंने अपना गीत-संग्रह 'मेरे प्रिय गीत' उन्हें समर्पित किया था। किन्तु इस बात की कसक मन में रह गयी कि वे पुस्तक तैयार होने से पहले ही चले गये। उनका जाना वास्तव में एक खालीपन छोड़ गया।

सहजता के क्रम में एक दूसरा नाम है विष्णु प्रभाकर। इनसे भी मेरी जान-पहचान दिल्ली में ही हुई। विष्णु जी के सामने तमाम पीढियों का अंतराल गलकर बह जाता है और इसीलिए वे सभी पीढियों और विचारधाराओं के साहित्यकारों से आदर पाते हैं। भारतीय लेखक संगठन के वे अध्यक्ष थे और मैं उपाध्यक्ष। इस क्रम में भी उन्हें जानने का अच्छा अवसर मिला और अनुभव किया कि वे अपने मानवीय आदर्शों और मान्यताओं पर अडिग रहते हुए अन्य विचारों के लोगों को भी सम्मान देते हैं और उनका सहज व्यक्तित्व दूसरों को गहरी आत्मीयता प्रदान करता है। मुझे उनका बहुत स्नेह मिला है। मेरे साहित्य से भी उनका लगाव रहा है। 'कितने बजे हैं' और 'अपने लोग' की उन्होंने जो समीक्षाएं की थी। इस मेरे साहित्य के प्रति उनके अपनत्व का परिचय मिलता है। वास्तव में भवानी भाई हों या विष्णु प्रभाकर ये लोग अपना साहित्य जीते भी हैं। ये लोग आदमियत को साहित्य से बड़ा मानते हैं इसलिए लोगों से मिलने-जुलने के क्रम में उन्हें अपने साहित्य की अपेक्षा अपना इमानी प्यार अधिक बाटते हैं। मुझे तो इनके साहित्य और व्यक्तित्व दोनों का रस मिला है।

डा० प्रभाकर माचवे से मैं दिल्ली में अनेक बार मिला। कई बार गोष्ठियों में और अन्य प्रसगों में उनके घर गया। उनका घर ठेठ भारतीय परिवार का घर लगा। वे स्वयं बहुत खुले हुए व्यक्ति हैं। बातें करते हैं। नये लोगों की अकुण्ठ भाव से प्रशंसा करते हैं। उनके साथ रहते हैं तो घुल-मिल जाते हैं। मैंने उन्हें एक दिन अपने घर बुलाया—खाने पर। चले आये सहज भाव से। घंटों बैठे बतियाते रहे। अजितकुमार को भी खाने पर आना था। वे कहीं फस गये थे। डा० माचवे मेरी प्रतीक्षा की उद्विग्नता को समझते हुए स्वयं प्रतीक्षा कर रहे थे और 'कोई बात नहीं, कोई बात नहीं' कहते हुए प्रतीक्षा का समय लम्बा करते जा रहे थे। खाना ठंडा हो रहा था। आखिर हमें प्रतीक्षा छोड़कर खाना पड़ा और माचवे जी ने ठंडा खाना बड़ी रुचि से खाया। एक बार हरिद्वार की एक साहित्यिक संस्था ने हम दोनों को साथ बुलाया। वहां हम लोग साथ ठहरे और वहां उनके खुले साहचर्य की गहरी उष्मा और आत्मीयता के रस का मैंने अनुभव किया।

डा० भारतभूषण अग्रवाल से भी यहां-वहां भेंट होती रहती थी। वे विनोदी व्यक्ति थे और उनमें भी एक सहज खुलापन था। उनके यहां जाकर उनके साथ भोजन किया। मेरे निमंत्रण पर वे मेरे यहां आये। स्थान की दूरियां थीं किन्तु तब वे साहित्य-कारों की सम्बन्धगत गहराइयों में डूब जाती थीं। तब साहित्यकारों में एक-दूसरे से

मिलने की अद्भुत उमंग थी।

गिरिजाकुमार माथुर से भी मेरी जान-पहचान दिल्ली में ही हुई लेकिन उनसे मेरी निकटता नही रही। अपनी ओर से तो मै किसी से योजनाबद्ध रूप से यो ही नहीं मिलता और माथुर साहब से तो मिलने का कोई प्रसंग ही नही था। वे रेडियो और दूर-दर्शन के बड़े पदो पर रहे, मेरा उनके वहां होने से कोई सरोकार नही था। उन्होंने भी सम्भवतः मेरा साहित्य ठीक से नही पढा था, इसलिए साहित्यिक सम्बन्ध भी उष्म नहीं हुए। जब वे सेवामुक्त होकर जनकपुरी अपने मकान मे आये और मै वाणी विहार मे आ गया तो हमारा पड़ोसी सम्बन्ध बना और धीरे-धीरे हमारे व्यक्तिगत और साहित्यिक सबंध बने। मैं तो उन्हे पढता-पढाता आ ही रहा था, उन्होने भी मुझे पढा और प्रभावित हुए। मेरी अनेक कथाकृतियो और काव्यकृतियो से गुजरने के बाद (हलके-हलके पहले भी गुजरे होगे) उन्हें साहित्यिक परिदृश्य में मेरी स्थिति का बोध हुआ और 'गगनाचल' में मुझे बार बार बड़ी उष्मा मे छापा। माथुर साहब में अपने आत्मीयो मे गहरा लगाव है। वे उनसे मिलना, बातचीत करना, हसी-ठहाका करना खूब पसंद करते है लेकिन उनमे सहजता नही है। उन्होने जो अफसरी जिन्दगी जी है उससे उनका साहित्यकार मुक्त नही हो पाता। वे वरिष्ठता-क्रम का बहुत ध्यान रखते है, प्रायः हर जगह रखते है। एक बात वे कई-कई बार कहते है और प्रायः कहते है। बात आमने-सामने हो रही हो या टेलीफोन पर, समय की लम्बाई मे कोई फर्क नही पडता। वे अधिक से अधिक सान्निध्य चाहते है आपका।

हिमांशु जोशी अच्छे कथाकार तो है ही, बहुत प्यारे आदमी भी है। वे अच्छे मित्र है। मिलने पर उनकी गहरी आत्मीयता का साक्षात्कार करता हूं। उनकी सहजता उनके गंवई संस्कार की देन है। गंवई जीवन के यथार्थ से निर्मित उनके कथा-साहित्य मे भी यही सहजता दिखाई पड़ती है। इस सहजता के कारण ही शायद मै उनसे और उनके साहित्य से उतना लगाव अनुभव करता हू। वे काफी दिनों से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादकीय विभाग मे है और मैं जब कभी 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के दफ्तर जाता हू तो उन्ही के कारण जाता हू।

डा० हरदयाल अपनी पीढ़ी के बहुत साफ-सुथरे समीक्षक है और उसी तरह साफ-सुथरे मित्र भी। भारतीय लेखक संगठन के पदाधिकारी और सदस्य के रूप में तो मुझसे जुड़े ही रहे है, स्वतन्त्र रूप से भी हमारा परस्पर बहुत लगाव रहा है। साहित्यिक परिवेश में भी हम अच्छे सहयात्री रहे है। दृष्टियों और पसन्द के अलग होने के बावजूद हम साहित्य के कठघरावाद और छद्म के विरोध के मामले में साथ रहे हैं।

दिल्ली आया तो बलदेव वंशी कवि के रूप में अंकुरित हो रहे थे और बहुत उत्साह से साहित्यिक गोष्ठियो मे आते-जाते थे। उनसे जान-पहचान हो गयी थी और धीरे-धीरे सघन हो रही थी। 'भारतीय लेखक संगठन' में वे भी सदस्य और पदाधिकारी हुए। इस प्रक्रिया में हमारी भेंट होती रहती थी। संगठन के रचनात्मक कार्यों में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वे अनेक साहित्यिक योजनाओं मे जुड़े रहे हैं और उन्हें अपनी अच्छी रचनात्मक प्रतिभा तथा सक्रियता से सफल बनाया है।

दिल्ली आने पर दिल्ली के बाहर के कई नामों से मैं बहुत आत्मीय स्तर पर जुड़ा। मुझे ठीक याद नहीं कि विवेकीराय का पहला पत्र मुझे कब मिला लेकिन सत्तर के आसपास का कोई वर्ष रहा होगा। उनके नाम से मैं परिचित था। वे समीक्षाएं लिख रहे थे और 'अलग-अलग वैतरणी' की एक बहुत लम्बी समीक्षा उन्होंने लिखी थी। उनका 'बबूल' उपन्यास भी आ चुका था। बहरहाल उन्होंने किसी संदर्भ में मुझे पत्र लिखा और पत्रों से शीघ्र ही हमारे बीच आत्मीय संबंध बन गये। गांव की जमीन ने दोनों को अप्रयास शीघ्र ही जोड़ दिया। वे 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में ग्राम जीवन' विषय पर शोध कर रहे थे। इस प्रक्रिया में वे मेरी तमाम रचनाओं से जुड़े और जब उनका शोध-प्रबध छपकर आया तो मैं उसमे अनत बार अपना और अपनी रचनाओं का उल्लेख देखकर चकित रह गया। आज तक किसी शोध-प्रबन्ध मे मेरी इतनी तो क्या, आवश्यक चर्चा भी नही हुई थी। मैने उन्हें धन्यवाद दिया तो उन्होंने लिखा कि "मुझे आपकी रचनाएं बहुत अच्छी लगती हैं। उनमे अपनापन पाता हूं और अपने समाज और देश को पाता हूं।"

अभी तक उनसे भेंट नहीं हुई थी। एक बार जब मैं बनारस गया तो वे मुझसे मिलने आये किंतु जब वे मिलने आये तब मैं स्टेशन आकर गाड़ी में बैठ चुका था। गाड़ी वहीं से बनकर चलती थी और उसे छूटने मे अभी आधा घटे की देर थी। वे स्टेशन आये और हर डिब्बे की जांच-पड़ताल करते हुए मेरे डिब्बे मे आये और मेरे सामने खड़े हो गये। नमस्कार किया। मैं अपरिचय के भाव से उन्हें देखता रहा। वे बोले—"मैं विवेकीराय हूं।"

"अरे!" मैं खुशी से उछल पडा—आप मुझे कैसे पहचान गये?"

"आपको पहचानने में भूल कर सकता हूं क्या? आपको इतना पढ़ा है, उसमें से आपका व्यक्तित्व बना लिया है और पत्रिकाओं में आपके छपे चित्र भी तो देखे है।"

"क्या बात है?"

"जा पर जा कर सत्य सनेहू। कितना खोजा आपको। वहां जाता था तो मालूम पड़ता आप वहा गये, वहां जाता था तो वहां गये। अंत में शंभूनाथ जी के यहा आया तो ज्ञात हुआ कि आप स्टेशन चले गए। मैं भागा-भागा यहां आ रहा हूं।"

"अपने प्रति आपके इस स्नेह के लिए आभारी हूं मित्र। आज के जमाने मे कौन किसे खोजता है और वह भी इस तरह?"

"अरे, तो इस खोज में तो मुझी को सुख मिलता था, इसमें आप पर कोई एहसान थोड़े ही किया।"

"आपकी यह सरलता तो मुझे और भी आभारी बना रही है।"

हम लोग बात तो कर रहे थे किंतु भीतर-भीतर यह अतृप्ति हूल मार रही थी कि अभी गाड़ी छूट जाएगी। मैंने कहा—"हम लोग पहली बार मिले भी तो इस अफरा-तफरी में। पत्र-व्यवहार के पश्चात् मन में एक इच्छा बस गयी थी कि हम लोग मिलेंगे तो घंटों बात करेंगे, घूमेंगे-फिरेंगे, चाय पियेंगे, मूंगफली खायेंगे, बरसात का मौसम हुआ तो साथ-साथ भुट्टे खायेंगे। यदि देहात में मिले तो खेतों में भटकेंगे। अब तो मन हो

रहा है कि या तो मैं गाड़ी छोड़ दूं या आप मेरे साथ गोरखपुर चलें।"

वे हंसे। जानते थे कि दोनों में से एक भी संभव नहीं है।

गाड़ी ने सीटी दी।

"अच्छा, फिर मिलेंगे, मिलते ही रहेंगे। मेरी तो इच्छा है कि कभी आपको गाजीपुर ले चलूं, वहां से अपने गांव ले चलूं।"

"मुझे बहुत सुख मिलेगा।"

गाड़ी सरक उठी। विवेकीराय हाथ हिलाते रहे।

तब से हमारे संबंध गहराते ही चले गये। उन्होंने लगभग मेरे सारे गद्य-साहित्य पर समीक्षाएं लिखी और उन्हें मेरे लेखन में बहुत गहरी आश्वस्ति प्राप्त होती रही। मैंने भी उनके कुछ उपन्यासो पर लिखा। इस तरह लेखन तो हमें जोड़ता ही गया, हम बराबर मिलते भी रहे। इस मिलन का सारा श्रेय उन्ही को है। जब कभी मैं वाराणसी गया वे मिलने आये। यहां तक कि वे गोरखपुर भी मिलने आये। मेरे बेटे की शादी में बड़हलगंज आये। दो बार दिल्ली आये और मेरे साथ रहे। और मैं उनकी इच्छा के अनुसार गाजीपुर नहीं जा सका। वहां जाने की इच्छा मन के भीतर महकती ही रह गयी। लगता है पूर्वांचल की मिट्टी के लगाव ने हम दोनों को सहज ही बहुत गहराई मे परस्पर जोड दिया।

विवेकीराय देहाती धरती की उष्मा से बने एक सीधे-सच्चे कर्मठ इंसान हैं। उन्होंने अपनी कडी मेहनत मे अपने को कहां से कहां तक उठाया। वे गांव की खेती-बारी भी देखते हैं और गाजीपुर में अध्यापन तथा साहित्य-सेवा में भी लीन रहे। गांव के उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह करते हुए भी उन्होंने बहुत लगन से विपुल साहित्य पढ़ा और लिखा। वे अपने मित्रों और परिचितों में तथा पाठकों में भी बहुत प्यार से जाने जाते हैं।

1972 में कन्हैयालाल नंदन 'पराग' के संपादक होकर दिल्ली आ गये। नंदन दिल्ली आ रहे है यह सुखद बात थी। वे आये। वे महीप के भी बहुत अच्छे मित्र थे और मेरे भी। इसलिए प्रायः मैं, महीप और वे साथ होते थे और गपशप, हंसी-ठहाका चलता रहता था क्योंकि हम तीनों खुलकर हंसने-बतियाने वाले लोग हैं। मिलते हैं तो समय को कुछ दूर पर, कुछ देर तक ठहर जाने के लिए कह देते हैं और जीवन की सारी औपचारिकताओं से मुक्त होकर मिलते हैं। बाद में नंदन जी क्रमशः 'सारिका' और 'दिनमान' के संपादक हुए। जाहिर है कि अपने आफिस में कोई भी अच्छा संपादक खाली तो नहीं बैठेगा। उसे कुछ तात्कालिक कार्य निबटाने पड़ते हैं, कभी सहयोगियों के साथ औपचारिक बैठक चल रही होती है, कभी 'संपादकीय' का डिक्टेशन दिया जा रहा होता है। ऐसी स्थिति मे चाहे कोई कितना भी निकट का मित्र हो, उसे अपनी मैत्री का अधिकार दिखाते हुए सीधे संपादक के कमरे में तो नहीं न घुस जाना होता है। आफिस जाने पर नंदन पहले मेरे लिए संपादक होते थे, अतः पहले मैं बाहर बैठे सहायक से मिलता था। संपादक जी की व्यस्तता का पता करता था। कभी-कभी बाहर बैठकर कुछ देर इंतजार करता था। चिट भिजवा देता था। वैसे प्रायः काम कुछ भी नहीं होता था।

उधर से गुजर रहा होता था तो सोचता था मिलता चलूं। अतः अपने और मित्र नंदनजी के बीच संपादक नंदन को पार करने में कुछ समय लग जाता था। कभी-कभी उनकी अधिक व्यस्तता जानकर बिना मिले भी लौट आता था। कुछ लोग इस प्रक्रिया से गुजरने में बुरा भी मान जाते है। सोचते है कि मित्र से मिलने के लिए औपचारिकता से क्यों गुजरा जाए। मित्र का काम होता है कि उसका आना सुनकर कृष्ण की तरह जिस किसी हालत मे हो उसके स्वागत के लिए दौड पडे। न दौड़ पड़े तो तुरत बुला ले, किंतु मुझे अपने मित्रो से उनके आफिस या कार्य-स्थल पर मिलते समय इस औपचारिकता की अनिवार्यता का पूरा बोध रहता है।

नंदन जी फुरसत पाकर बुला लेते थे और उठकर स्वागत करते हुए कहते थे—"माफ करना रामदरश भाई, आपको इनजार करना पडा।"

"कोई बात नही भाई। मैं समझता हू।"

"भाई, बहुत-से लोग नाराज हो जाते है।"

"होने दो।"

कुछ देर बाद काम निबटाकर नदन जी अपने आफिस कक्ष को निजी कक्ष मे बदल देते थे—कुछ देर के लिए। चपरासी से कह देते थे—"कुछ देर के लिए और किसी का आना बंद और कोई भी काम मत लाना।"

फिर साहित्यिक प्रसगो से लेकर निजी प्रसगो तक की चर्चा की यात्रा शुरू हो जाती थी। वे अपने नवलिखित गीत गाकर सुनाने लगते थे। अनर्गल हंसी-मजाक और गपशप भी चल पडती थी। मैं समय की मर्यादा का ध्यान रखकर उनसे विदा लेता था और वे फिर झटके से अपने सपादकीय कक्ष मे लौट जाते थे।

उन्हे जो काम सौपा गया उसे अथक परिश्रम से सपादित किया। 'पराग', 'सारिका' और 'दिनमान' पत्रिकाओ का सपादित करने की प्रक्रिया मे वे कितना श्रम करते थे और अपनी सूझ-बूझ से कैसे उन्हे नयापन प्रदान करते थे इसका अनुभव मैने किया है। सबसे बड़ी बात उनमें यह थी कि वे जिस पत्रिका मे गये उसे सबके लिए खोला। जिन पत्रिकाओ मे कुछ ही लोग छपते थे, उनमे वे सबको छापने लगे और इसके लिए वे लेखको को ससम्मान आमत्रित करने लगे। नदन जी बहुत यार-बाश व्यक्ति है। वे बहुत उष्मा के साथ मित्रता निभाते है। मैने जब भी किसी की सहायता के लिए उनसे कहा, उन्होने मेरी बात को बहुत आदर दिया, लेकिन कोई यह नही कह सकता कि उन्होने संपादन में मित्रता निभाई बल्कि वे इस बात के लिए सावधान रहे है कि किसी योजना में पहले दूसरो की चीजें छप जाएं तब मित्रता की परिधि मे आने वाले साहित्यकारो की छपे।

यह तो कोई बात नहीं हुई कि महत्त्वपूर्ण साहित्यकार उनके मित्र है, इसलिए उनकी पत्रिका मे छपे ही नही। 'दिनमान', 'सारिका' की यात्रा देख जाइए। लगता है कि उनके आने से पहले ये पत्रिकाएं कुछ खास लोगों के लिए थी और दूसरे स्वाभिमानी साहित्यकार यह सोचते थे कि ये सपादक यदि नही मांगते तो हम क्यो रचना भेजें?

नंदन जी की बड़ी भारी उपलब्धि है कि उन्होंने इन पत्रिकाओं का संसार बड़ा किया।

यों तो महावीरसिंह चौहान मेरे प्रिय शिष्य रहे और जब अहमदाबाद में था तो मेरे निकट सम्पर्क में थे ही किंतु मेरे दिल्ली आने के पश्चात् ही उनकी आलोचनात्मक मेधा प्रस्फुटित हुई और दिन-दिन सघन होती गयी। उनकी इस आलोचनात्मक मेधा ने मुझे अतिरिक्त रूप से अपनी ओर आकृष्ट किया। वैसे छात्र-जीवन से ही उनके भीतर साहित्य के प्रति गहरी जिज्ञासा थी। वे प्रायः नये-नये साहित्यिक प्रश्नों के साथ मेरे तथा अन्य गुरुओं के पास आते थे और कविताएं भी लिखते थे, किंतु उनकी जिज्ञासा आलोचनात्मक मेधा के रूप में मेरे आने के बाद ही विकसित हुई। उन्होंने मेरी भी अनेक कृतियों की समीक्षाएं लिखी और हर कृति को किसी एक केन्द्रीय मुद्दे पर पकड़कर बहुत नयी और सश्लिष्ट विवेचना की। महावीर गाव की शक्ति लिए हुए गांव से आये है इसलिए उनकी संवेदना मानवीय और दृष्टि प्रगतिशील है। इसी संवेदना और दृष्टि के साथ वे रचनाओं की समीक्षात्मक यात्रा करते हैं और उसकी तमाम जटिलताओं के साथ न्याय करते हुए भी अपने निष्कर्षों में काफी खुले हुए है। यानी उनकी समीक्षाएं पाठक को कहीं पहुंचाती है, आधुनिकतावादी असमंजस में नही छोड़ देतीं। मैं ज्यों-ज्यों उनकी समीक्षात्मक शक्ति से परिचित होता गया, त्यों-त्यों उनमें और-और उतरता गया। बडा आनंद भी आता है यह देखकर कि मेरा एक प्रिय शिष्य इतना अच्छा समीक्षक है और तकलीफ भी होती है कि इतने अच्छे समीक्षक की ओर हिन्दी-साहित्य की दृष्टि क्यो नहीं गयी।

भोला भाई पटेल अहमदाबाद में मेरे प्रिय और प्रबुद्ध छात्र थे। अब वे गुजरात विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के आचार्य अध्यक्ष है और गुजराती के प्रख्यात समीक्षक हैं, किंतु जब पढ़ते थे तब भी उनमें गहरा विद्या- व्यसन था। साहित्य के बुनियादी सरोकारों के प्रति उनकी जागरूकता मुझे उनके प्रति आकृष्ट कर रही थी और धीरे-धीरे वे मेरे आत्मीय परिवृत्त में धंसते जा रहे थे। उनकी निश्छल और लययुक्त खिलखिलाहट और चेहरे की प्रसन्न दीप्ति उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती है।

अहमदाबाद में था तो डा० रामलखन शुक्ल से मेरा सहज परिचय था। वे हंसते-मुसकराते मिलते थे, कम बोलते थे और किसी बात पर खिलखिला पड़ते थे। किंतु दिल्ली आने के पश्चात् उनसे सबंध लगातार गहराते गये। वे अहमदाबाद से दमण के एक कालेज में जा चुके थे। वहां से प्रायः दिल्ली आते थे और अवनीन्द्रकुमार के यहां ठहरते थे। मेरे यहां भी आते थे और अनेक प्रसंगों पर बातें होती थीं। वे बड़ोदा रीडर बनकर गये। वे अकेले रहते थे, विधुर थे और बहुत मर्यादावादी थे। जीवन, साहित्य और शिक्षण-कार्य के प्रति उनकी दृष्टि बहुत नैतिक थी और अपने माहौल की व्यावसायिक असुंदरता से ऊबे रहते थे। वे उपन्यासकार थे। सौंदर्यशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखी। वे एकाएक चले गये मानो उनकी नैतिकता माहौल की बदसूरती को बर्दाश्त नहीं कर सकी।

दिल्ली आया ही आया था कि पटना के एक सज्जन मिलने घर आये। मैं उन्हें

जानता नहीं था। शायद अभी उन्हें जानने का कोई कारण भी नही था। लेकिन प्रथम भेंट मे ही हम दोनो एक-दूसरे से जुड गये। वे थे डा० गोपाल राय। फिर हम एक-दूसरे के निकट होते गये। डा० गोपाल राय ने समीक्षा-पत्रिका निकाली और अनेक बाधाओ के बावजूद उसे अभी तक निकाल रहे है। मैं भी समय-समय पर समीक्षाए लिखता रहा। गोपाल राय धीरे-धीरे कथा-समीक्षक के रूप मे विकसित हुए। हम दोनो ने एक-दूसरे की खट्टी-मीठी समीक्षाए की, सुखी-दुखी हुए। वैचारिक टकराव से भी गुजरे लेकिन यह सब कुछ एक सौमनस्यपूर्ण वातावरण मे हुआ।

वेदप्रकाश अमिताभ से मेरी जान-पहचान मेरे शिष्य प्रेमकुमार के माध्यम से हुई। वैसे उनकी कुछ चीजे मै पहले देख चुका था। अमिताभ अलीगढ के डी०एस० कालेज मे पढाते है कवि भी है। कहानीकार भी है किन्तु सर्वप्रथम उनकी आलोचनाओ के माध्यम से उनसे मेरा साहित्यिक परिचय हुआ। अमिताभ बहुत श्रमशील, अध्ययन-शील, नवदृष्टि सम्पन्न और खुले मन वाले आलोचक है और साथ ही बहुत ही भद्र व्यक्ति है। वे अपने मित्रो और शिष्यो मे बहुत प्रिय है और मुझे तो उनका अतिरिक्त सम्मान-भाव मिला है। वे अकारण ही मुझे गुरुवत् मानते है। मुझे उनके साथ होने, साहित्य-चर्चा करने, बोलने-बतियाने घूमने-फिरने में बहुत अच्छा लगता है। उनके साथ एक पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष' का सम्पादन करने का भी सुख मिला है। उन्होने मेरे प्रति अपने सहज सद्भाव की अभिव्यक्ति के लिए श्री प्रेमकुमार के साथ 'उपन्यासकार रामदरश मिश्र' पुस्तक का सम्पादन किया। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हू कि अमिताभ नयी हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे अच्छे स्थान के हकदार है लेकिन हक मिलने और हकदार होने मे फर्क होता है न। हिन्दी आलोचना तो तेज-तर्रार दो-चार व्यक्तियो का पर्याय बनकर रह गयी है। कविता और कहानी के क्षेत्र मे भी वे चुपचाप अपनी शक्ति के प्रमाण दे रहे है। 'दूसरी शहादत' कहानी-सग्रह ने अपनी सहजता से मुझे काफी प्रभावित किया।

आगरा जाते रहने के क्रम मे क० मु० विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय के प्राध्यापक (अब रीडर) डा० गोविन्द रजनीश से भेट होती रहती थी और धीरे-धीरे मेरे मित्र बन गये। वे बहुत मित्र-वत्सल है। रजनीश जी साहित्यिक और अकादमिक जोड-तोड से बचकर चुपचाप अपना कार्य करते है और उन्होने बहुत काम किया है। अच्छे शिक्षक के साथ-साथ अच्छे आलोचक है। उनसे मिलना मुझे बहुत प्रीतिकर लगता है।

हि० प्र० यू० की परीक्षा के क्रम मे मैं सपत्नीक शिमला गया हुआ था। अतिथि भवन मे ठहरा था। सुबह एक सज्जन दिखाई पडे। उन्होने नमस्कार किया और बताया, "मेरा नाम शशिभूषण सीताशु है। गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय में रीडर हू।" 'अच्छा-अच्छा, आपसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। डा० मेघ आपकी चर्चा बल्कि प्रशसा कर रहे थे। मैं आपके लेखन से गुजरा हू और प्रभावित हू।"

वैसे तो बहुतो से भेट होती है, बातचीत होती है, साथ-साथ बहुत प्यार से कुछ समय भी बीतता है। पर अलग होने पर कुछ खोने का बोध नही होता। जीवन-भर ऐसे

ही चलता रहता है। किन्तु कुछ लोगों से पहली ही भेंट भीतर कुछ ऐसी धंस जाती है कि वह धीरे-धीरे अपनी जड़ें फैलाने लगती है। अनजाने ही दोनों ओर से एक ही साथ एक-दूसरे से जुड़ने का स्वाभाविक उत्साह सक्रिय हो उठता है। कुछ ऐसा ही यहां भी हुआ और हम दोनों शिमला-निवास के चार दिनों में काफी निकट आ गये। वे मेरे ही नहीं, पत्नी के भी स्नेह-भाजन हो गये। फिर तो हमारे सम्बन्ध लगातार गहराते गये। घर आना-जाना शुरू हुआ। वे विभागाध्यक्ष बने तो विभाग के काम से अनेक बार अमृतसर जाना पड़ा। तब भी गया, जब बाहर के लोगों का जलते हुए पंजाब में प्रवेश करने का उत्साह मर गया बल्कि उनमें डर समा गया।

विजेन्द्र मेरे शुरू के प्रिय शिष्यों में रहे। उनकी साहित्य-प्रगति के साथ मेरे प्रति उनके सम्मान-भाव की उष्मा बढ़ती ही गयी। वे भरतपुर के राजकीय कालेज में अंगरेजी के प्राध्यापक हो गये थे और कवि के रूप में जाने जाने लगे थे। मैं गुजरात में था और उनसे पत्र-व्यवहार होता रहता था। उन्होंने मेरे शब्द-संग्रह 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' पर एक बहुत अच्छी समीक्षा लिखी थी। अहमदाबाद से आगरा जा रहा था तो उन्होंने भरतपुर में मुझे खींच लिया। कालेज में व्याख्यान कराया, साथ आगरा गये। जब मैं दिल्ली आया तो उन्होंने भरतपुर बुलाया। कृपाशंकर जी के साथ गया। घाना पक्षी विहार भी देखा। दो-तीन दिन तक विजेन्द्र के साथ रहा। काफी गहमागहमी रही। फिर एक काव्य-प्रसंग में उन्होंने मुझे बुलाया। वे स्वयं भी दिल्ली आते रहे, मेरे साथ रहते रहे। विजेन्द्र काफी उग्र प्रगतिवादी थे और मैं उस तरह का प्रगतिवादी कभी नहीं हो पाया किन्तु इससे विजेन्द्र का मुझसे और मेरे साहित्य से लगाव कभी कम नहीं हुआ। और सच पूछिये तो उनकी उग्र प्रगतिवादिता अच्छे साहित्य की पहचान के रास्ते में नहीं आयी। उनका प्रगतिवाद फारमूलों में नहीं, उनकी कविताओं में परिवेश की संवेदना और उसके शब्दों के रचनात्मक प्रयोग के रूप में दिखाई पड़ता है।

विजेन्द्र के माध्यम से भरतपुर के चन्द्रभानु भारद्वाज से जान-पहचान हुई। वे 'संप्रेषण' पत्रिका निकालते थे। मुझे उसमें सलाहकार संपादक के रूप में रखा। चन्द्रभानु धीरे-धीरे मेरे आत्मीय परिवृत्त में आ गये। चन्द्रभानु भी प्रगतिशील थे किन्तु मेरी ही तरह खुले हुए। इसलिए उनकी पत्रिका भी बंधी नहीं। चन्द्रभानु नौकरी के सिलसिले में जयपुर चले गये थे। वहीं रहते थे। उनके माध्यम से मेरा परिचय हुआ कवि और प्रशासक ताराप्रकाश जोशी से 'जल टूटता हुआ' पर इन दोनों ने एक विचारगोष्ठी जयपुर में ताराप्रकाश जोशी के घर पर ही आयोजित की। उसमें मुझे बुलाया गया। ताराप्रकाश ने ही लेख पढ़ा। उनके साथ जयपुर घूमा-घामा और तभी से वे मेरे स्नेही मित्र बने हुए हैं।

जगदीश चतुर्वेदी अच्छे साहित्य-योजना-कल्पी और अकविता के चर्चित कवि हैं। अकविता से मेरा प्रिय संबंध नहीं बन पाया इसलिए मैं जगदीश की कविताओं के साथ कभी गहरा लगाव नहीं अनुभव कर सका। उनकी जीवन-पद्धति भी मेरी जीवन-पद्धति से काफी अलग है, विरोध की स्थिति तक अलग है किन्तु यह सब होते हुए भी

जगदीश मुझे प्रिय लगते रहे। उनमें मित्रों के प्रति खुला अनुराग है, निश्छलता है। वे अपना विरोध सुनकर भी बुरा नहीं मानते यानी विरोध उनकी मित्रता के ताप को कम नहीं करता। यही कारण है कि जगदीश मुझ जैसे अपने काव्य के अप्रशंसक को भी प्यार-सद्भाव देते रहे।

गंगाप्रसाद विमल से मेरा परिचय दिल्ली आने से पहले ही हो चुका था। तब मैं अहमदाबाद में था और वे चंडीगढ़ में। चंडीगढ़ में उनसे भेंट भी हो चुकी थी। वे साहित्य के क्षेत्र में बहुत उत्साह से उभर रहे थे। हम दोनों ने एक-दूसरे की साहित्यिक योजनाओं में सहयोग भी दिया। विमल बहुत प्रीतिकर व्यक्तित्व के व्यक्ति हैं। दिल्ली आने पर उनमें अकविता और आधुनिकतावाद का ऐसा रंग चढ़ा कि उनके लेखन में से उनका जिया हुआ ठोस पहाड़ी परिवेश गायब होने लगा। अच्छा है अब फिर उनका अपना पहाड़ी परिवेश उनके लेखन में उतर रहा है। साहित्य के जगत् में तमाम उतार-चढ़ावों से गुजरने के बावजूद विमल मेरे प्रति अपना लगाव बनाये रहे।

प्रख्यात प्रगतिशील समीक्षक डा० शिवकुमार मिश्र से मेरी यहां-वहां भेंट होती रहती थी किन्तु गुजरात की भूमि ने हम दोनों को बहुत करीब ला दिया। मैं वहां से आकर भी वहां था, मिश्र जी लगातार यह बात दुहराते रहे और मुझे अपने पास अनुभव करते रहे। सभाओं में, संगोष्ठियों में उनसे वहां भेंट होती रहती थी। वे विद्वान् व्यक्ति हैं और व्यक्तित्व में खुले हुए अतः उनकी प्रगतिशीलता काफी आग्रही होकर भी अप्रिय नहीं लगती। और बुनियादी तौर पर एक ही दर्शन से जुड़े होने के कारण हम दोनों साहित्य की समझदारी में विरोधी नहीं लगते। काफी हद तक साथ चलते हुए दिखाई पड़ते हैं लेकिन अंततोगत्वा आग्रही और आग्रही न होने का फर्क तो बीच में आ ही जाता है पर मिश्र जी का विद्वान् और भद्र व्यक्तित्व इन फासलों को बहा ले जाता है। मैं उम्र में उनसे बड़ा हूं और मुझे इस बात का बहुत सुख है कि उन्होंने मुझे बड़े भाई का सा आदर दिया है। प्रगतिशील आलोचकों में शायद उन्होंने ही मुझे कुछ ढंग से पढ़ा भी है।

दिल्ली के और कई नये-पुराने साहित्यकारों और प्राध्यापक साहित्यकारों से मेरी प्रीतिकर निकटता स्थापित हुई, उनमें कुछ नाम हैं—डा० रतनलाल शर्मा (कथा समीक्षक और व्यंग्य लेखक), डा० नरेन्द्र कोहली (कथाकार), अश्विनी पाराशर (कवि, आलोचक), सुरेन्द्र तिवारी (कथाकार), अमरेन्द्र मिश्र (कथाकार, संपादक गगनांचल), कमल किशोर गोयनका (प्रेमचंद के साहित्य के प्रख्यात शोधक), धर्मेन्द्र गुप्त (कथाकार)।

दिल्ली आने पर अहमदाबाद के रामकुमार यादव (नवोदित कवि और प्रबुद्ध पाठक) मेरे निकट संपर्क में आये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका, प्रतिभाशाली नयी कवयित्री और आलोचक डा० चन्द्रकला त्रिपाठी और उनके पतिदेव डा० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी से मेरी घरेलू और साहित्यिक निकटता बनी। कलकत्ता के डा० कृष्णबिहारी मिश्र तथा चंडीगढ़ के यश गुलाटी की आत्मीयता प्राप्त हुई। मद्रास के आर० शौरिराजन, पी० बाल सुब्रह्मण्यम और डा० सुंदरम तथा तिरुपति के डा० शिवराम रेड्डी का आत्मीय लगाव मिला।

72

सन् '78 का सितम्बर मास। चार तारीख। उस रात दो बजे मेरी छोटी बच्ची स्मिता चिल्लायी कि सड़क पर पानी आ गया और हम लोग उठकर सड़क पर आ गये। स्मिता एक दिन पहले से ही अपना बस्ता-बोस्ता सहेज रही थी। वह आतंकित थी और घर के सभी लोग उसका मजाक उड़ा रहे थे। दरअसल हमें यह कतई अहसास नहीं था कि हम लोग खाई-खंदक में बसे हुए हैं। रेडियो से खबरें जरूर आती रहीं किन्तु सब लोग यही सोचते रहे कि सरकारी प्रचार-साधनों के जैसे सारे शब्द अर्थहीन होते हैं वैसे ये शब्द भी होंगे। इन प्रचारों में असली चित्र भी तो नहीं था कि पानी कितना आयेगा। इसलिए सड़क पर पानी आने के बावजूद हम लोग बहुत सावधान या आतंकित नहीं हुए—सोचते रहे कि अब इससे ज्यादा पानी नहीं चढ़ेगा; किन्तु पानी चढ़ने लगा। फिर मैं तो अपनी किताबें नीचे के शेल्फ से उठाकर ऊपर के शेल्फ में रखने लगा। कुछ किताबें तीन फुट की ऊंचाई वाले जगहों पर रख दी, कुछ को खाट के ऊपर खाट बिछाकर डाल दिया, कुछ को चार फुट ऊंचे अपने मजबूत डायनिंग-टेबुल पर डाल दिया। पत्नी और बच्चे कुछ जरूरी सामान ऊपर ले जाने के लिये सीढ़ियों पर रखने लगे। तब तक तो यह भी निश्चित नहीं था कि हम कहां जाएं।

पानी गैलरी में तेजी से भर रहा था और हम लोग अब कुछ बेचैन-से हो रहे थे। इतने में हमारी मकान मालकिन आईं और बोलीं "जल्दी कीजिये, आपके लिए मियानी खाली कर दी है।" दरअसल पानी का बढ़ाव देखकर वे लोग भी सावधान हुए थे और जल्दी-जल्दी मियानी खाली करने में जुट गये थे। तब तक पानी कमरे में प्रवेश कर गया। पानी इतनी तेजी से बढ़ रहा था कि उसने कुछ सोचने-समझने या निर्णय लेने की शक्ति को अस्त-व्यस्त कर दिया था। कमरे में पानी बढ़ता गया और हम लोग खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने के सामान यथासंभव ऊपर पहुंचाने लगे थे। मैं अपने कुछ कागज-पत्र समेटकर ऊपर छोड़ आया। पानी बढ़ने लगा। एकाएक मेरा छोटा लड़का विवेक चिल्लाया—"भागिये-भागिये, पानी में अब करेंट आने वाला है।" इतनी निर्णय बुद्धि नहीं जागी कि मेन-स्विच ऑफ कर दिया जाय, और हम लोग दरवाजे-खिड़कियां बंद करके ऊपर चले गये—इस आश्वस्ति के साथ कि जो सामान बचे हैं, वे इतनी ऊंचाई पर हैं कि पानी वहां तक नहीं पहुंचेगा। कुछ यह भाव भी था कि सामानों को जाना हो तो जाएं, कौन अपनी जान मुसीबत में डाले।

लेकिन सचमुच ही हमें नहीं मालूम था कि हम खाई-खंदक में बसे हुए हैं। अभी भी विश्वास नहीं होता कि माडल टाउन जैसी अभिजात कालोनी में इतना पानी आ सकता है, लेकिन जो सच है—वह है। और सुबह होते-होते हमने देखा कि चारों ओर समुद्र लहरा रहा है। धीरे-धीरे जंगले, दीवारें, चहारदीवारियां डूबती चली जा रही हैं। पानी बढ़ने के साथ यह आश्वस्ति टूट गयी कि यह पानी ज्यादा नहीं बढ़ेगा—और अब यह लगने लगा कि यह पानी किसी भी ऊंचाई तक बढ़ सकता है। पानी बढ़ने के साथ-साथ भय और घबराहट बढ़ने लगी। जिस मियानी में हम थे, उसकी ओर बड़ी तेजी से पानी बढ़ रहा था—जीने पर होता हुआ। बस, तीन सीढ़ियां बच गई थीं और

स्मिता फिर शोर करने लगी कि सामान छत पर ले चलो—जल्दी ही मियानी में भी पानी भर आयेगा। इस बार किसी ने उसके भय का मजाक नहीं उड़ाया। हर आदमी सोचता था कि हां, पानी आ सकता है ! लेकिन हम सामान ढोते-ढोते इतने थक गये थे कि अब सामानों को ऊपर चढ़ाने की हिम्मत नहीं हो रही थी। पानी आयेगा तो देखा जायेगा !

आसपास और सामने के लोग, जहां तक संभव हुआ, पानी में जा-जाकर सामान निकालते रहे और दोपहर होते-होते सारी गतिविधियां ठहर गयी। अब किसी के पास कोई काम नहीं रहा। लोग छतों पर से एक-दूसरे को देखने लगे—नीचे डूबते अपने-अपने सामानों की चिंता छोड़कर हंसी-मजाक का आदान-प्रदान करने लगे। हमारे साथ डा० राजकुमार शर्मा का भी परिवार था। हंसी-मजाक में हमने समय को हल्का करने का प्रयत्न किया। राजकुमार जी ने कहा, "डाक्टर साहब, आपके 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' के तो दर्शन कर लिए, अब 'सूखता हुआ तालाब' देखने की इच्छा है।"

हमारे मकान मालिक का स्नेह, श्रीमती सरला गुप्ता का मानवीय सहयोग, राजकुमार जी का साहित्यिक संसर्ग, ये हमारे इन दिनों के सबल थे। परेशानियां थीं—खास तौर पर उन लोगों को, जो छतों पर ठहरे थे—जिनके पास ऊपर की मंजिल नहीं थी। उन्हें खास परेशानी पानी और शौचालय की थी, किन्तु लोग परेशानियों को भूलने के लिए अपनी जिजीविषा को पहचान रहे थे। यह माडल टाउन है, जहां खाते-पीते और अमीर लोग बसते हैं; इसलिए खाने-पीने की वह समस्या यहां नहीं आयी, जो गरीब बस्तियों में आती है और न घर उजड़ने, पेड़ों पर लटकने, पानी पर बहने, डूब जाने का सन्त्रास ही यहां था, लेकिन यह तय था कि इस बाढ़ के लिए कोई तैयार नहीं था। इसलिए किसी का आटा खत्म हो गया था, किसी का तेल, किसी का चावल, किसी की दाल। दूध-सब्जी आदि रोज आने वाली चीजों की समस्या तो थी ही। दूध की समस्या बडों के जीवन-मरण का प्रश्न तो नहीं बन सकती, किन्तु बच्चों के लिए बन सकती है। मेरे सामने की छत पर, चार महीने का बच्चा बिना दूध के डेढ़ दिन तक रहा। हम उसे अपनी छत से देखते रहे। वह हमारे घर आता-जाता है, इसलिए उसकी पीड़ा हमें और सालती रही। वह चुपचाप मां या बाप की गोदी से चिपटा हुआ दहशत अनुभव कर रहा था। न जाने कितने ऐसे शिशु बिलखते रहे होंगे। हम आमने-सामने एक-दूसरे को देखते थे, किन्तु कुछ कर नहीं सकते थे। हम सब नदी के द्वीप बने हुए थे।

हम सोचते थे कि जब सरकार ने लोगों को इतना सावधान किया है, तो उसके लोग हमारी खोज-खबर लेने आते होंगे। सरकार को तो अपनी बात पर विश्वास होना चाहिए था—लोग करें या न करें ! लेकिन कहीं कोई नहीं आया। दिन-भर हम लोग कभी आसमान में देखते थे कि शायद कोई हेलीकाप्टर ही दिखाई दे जाये, कभी गली के छोर पर देखते—शायद कोई नाव ही दिखाई दे जाये, जो कम-से-कम बच्चों के लिए दूध तो दे जाये। लेकिन दो दिन तक कोई नाव नहीं आयी। दूसरे दिन रात को

दस बजे एक नाव आयी, जिस पर से आवाज आ रही थी—"किसी ने बाहर जाना है ?"

"कहां ले जाओगे भाई ?"

"आजादपुर ले जाकर छोड़ देंगे।"

"उसके बाद इस अंधेरे में कहां मरेंगे ?" कुछ लोगों ने आक्रोश से पूछा। लेकिन नाव बिना कोई जवाब दिये आगे निकल गयी। उसने खानापूर्ति कर दी थी।

"अरे भाई, पता नहीं ये कौन है ? ले जाकर रास्ते में लूट लें और पानी में ढकेल दें···क्या पता ?" एक ने मजाक किया।

हां, बाद में पुलिस वालों की तथा छिपे स्वर से फौजियों की जो कहानियां सुनीं, उनमें यह मजाक मजाक नहीं रह गया। पुलिस ही क्यों, जनता के अनेक वर्गों के लोग भी लूट-मार मचाने में पीछे नहीं रहे। आदमी की मजबूरियों का कसकर फायदा उठाया गया। एक ओर जनसेवी संस्थाएं थीं, दूसरी ओर जनशोषी लोग और तंत्र थे। दूसरे दिन एक खाट की एक नाव पर चढ़कर मेरा लड़का शशांक बाहर गया और मोरी गेट से बड़ी मुश्किल से 23-23 रुपये वाले 'अमूल' दूध के डिब्बे 30-30 रुपये में ले आया। बाहर तो चला गया, लेकिन लौटना इतना आसान था क्या ? किसी प्रकार एक मित्र की नाव मिल गयी, तो शाम तक लौट पाया।

तीसरे दिन से सरकारी नावें दिखाई पड़ने लगीं, लेकिन उन पर थके-हारे चेहरे वाले आठ-दस फौजी सिपाही बैठे रहते। उनके चेहरों पर रक्षा या सहायता का कोई भाव ही दिखाई नहीं देता था। लोग अपने-अपने छज्जों पर खड़े होकर पुकारते रहते और नाव अन्यमनस्क भाव से आगे सरक जाती। मैं नहीं समझ पाता कि इन नावों पर कौन लोग बैठे हैं, क्योंकि जरूरतमंद लोग तो बैठने ही नहीं पा रहे थे।

दो दिन तक हम लोग भयानक सन्नाटे में डूबे रहे और दूसरे दिन तिजहर को एक हेलीकाप्टर की आवाज आयी तो रोमांच हो आया। लगा कि कोई खोज-खबर लेने वाला आकाश से हमें देख रहा है। इतना काफी था। हेलीकाप्टर बिना कुछ गिराये चला गया। इसके बाद कई हेलीकाप्टर आये और आकाश में घूम-घामकर चले गये, नीचे भी नहीं झुके ताकि हमें यह राहत मिले कि वे हमसे मौन संवाद करना चाहते हैं। कोई मंत्री होगा—बाढ़ का मुजरा ले रहा है, जले पर नमक छिड़क रहा है ! दो दिनों तक छिटपुट प्राइवेट छोटी-छोटी नावें भी आयीं और किसी की पुकार सुने बिना—सैर करके चली गयीं। इस लीला और विहार ने मन में कई बार ऐसा क्रोध उत्पन्न किया कि ऊपर से पत्थर या ईंट खींचकर दे मारूं।

हम प्रायः छत पर ही रहे, लेकिन यह कहना भी पूरा सही नहीं है। सामने छत पर से एक आदमी ने इशारा किया कि पुस्तकें तैर रही हैं। मैं इसे भूलना चाहता रहा, लेकिन भूलकर भी भूल नहीं पाया और पहली रात जिन परेशानियों में बीती, उनमें एक परेशानी इन पुस्तकों की भी थी। वैसे पहले दिन दो बजे के बाद पानी धीरे-धीरे कम होने लगा था। हम लोगों को यह जानकर राहत मिली कि अब पानी मियानी तक नहीं आयेगा, किन्तु शाम को रेडियो में समाचार आया कि सबसे खराब समय

अब आने वाला है। 6 बजे शाम से 6 बजे सुबह तक पानी और बढ़ेगा। हमारे तो होश उड गये। हे भगवान्, रात को फिर कैसे-क्या करेंगे ? सभी लोग थककर चूर थे, फिर भी सबने हौसला बांधा कि उठ-उठकर, छत पर से बारी-बारी, सामने की दीवार के पानी को देखेंगे। यदि पानी बढेगा तो उठकर सामान मियानी मे से छत पर लायेंगे। टार्च नही थी, सबको एक-एक दियासलाई दी गयी। सबके हौसले पस्त थे, मै जरूर उठ-उठकर दीवार को देखता रहा और पानी बढ़ने की आशका के साथ-साथ, पानी में तैरती पुस्तको की पीडा मुझे बराबर कोचती रही। खैर, सुबह हुई और पानी बढने के बजाय थोडा नीचे सरक आया था।

दूसरे दिन डरते-डरते पानी मे उतरा। डर सापों का ज्यादा था, क्योंकि दिन-भर सडक और गैलरी के पानी मे छोटे-बडे सांप तैरते रहे और शहरी लोग उन्हे देख-देख चिल्लाते रहे—साप-साप ! मुझे छोटे-छोटे साप, साप लगते ही नही रहे। मैं देहात का आदमी, बडे-बडे गेहुंवन और करैत सापो को देखने का अभ्यासी रहा हू। लेकिन पानी में सांप तो क्या, जोक भी टकरा जाये तो बडा गिलगिलापन लगता है। किवाड खोलकर अंदर पहुचा। छाती-भर पानी मे कमरो की हर चीज उलटी होकर तैर रही थी। किताबें ही किताबें, पत्रिकाए ही पत्रिकाएं ! तैरता हुआ सोफा, तैरती हुई खाटे, तैरता हुआ डाइनिग-टेबुल, खामोश डूबा हुआ फ्रिज, भीगकर फूला हुआ गेहू का ड्रम, भीगी हुई रजाइया-गद्दे, और क्या-क्या गिनाऊ ! बच्चो की सहायता से घंटा-भर तैरती किताबो और पत्रिकाओ को छानता रहा। और भी जो चीजें बाहर निकाली जा सकती थी निकाली। चीजे भीग-भीगकर इतनी बोझिल हो गयी थीं कि उठती ही नही थी। किसी कदर इन चीजों को अपनी छत पर, लगी हुई दूसरी छत पर, छजली पर यानी जहां-जहां जगह मिली, वहा-वहा पसार दिया। आश्वस्त हुआ कि चलो, सूख-साखकर किताबे, पत्रिकाए कुछ काम की रह जायेगी, लेकिन दूसरे दिन रात का बादल घिरे तो लगा कि अब सर्वनाश हो गया ! किताबों के बच पाने की आशा एकदम छोड दी। मियानी में आकर यह भूल जाना चाहा कि पानी कितनी जोर से बरस रहा है। सबेरे उठने पर मालूम हुआ कि बादल बूदाबांदी करके चले गये थे—जी बहुत हल्का हो गया। किताबें कितने ही दिनो तक सूखवन की तरह छतों-छजलियो पर सूखती रही, कुछ उड-उड़कर इधर-उधर गिरती रही। उन्हें हम उलट-पुलटकर सुखाते रहे। लेकिन कल उन्हें नजदीक से देखा—सभी की जिल्दें उजड चुकी थी। सभी विकृत और आंशिक रूप से नष्ट हो चुकी थी।

ये विभीषिकाएं जहा आदमी को अमानवीय बनाती है, वहां आदमी को आदमी के करीब भी लाती हैं—आदमी को नये सिरे से पहचानने में मदद करती हैं, उसके भीतर सुप्त सामाजिक भाव को जगाती है। मैंने इस विभीषिका में, अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित, अपने मे सिकुडते भद्र चेहरो को भी देखा और अपना सब कुछ औरों के लिए खोलकर रख देने के लिए बेचैन, आम मे दिखने वाले मानवीय चेहरों को भी देखा। मोहल्ले में बदनाम लडकों को घूम-घूमकर, तैर-तैरकर लोगों की मदद करते भी देखा, और संभ्रांतता तथा शालीनता का प्रभा-मंडल लगाये लोगों की कायरता और

आत्महीनता भी देखी। शहर और गांव की शक्ति का अन्तर भी देखा। पहले दिन एक भैंस हमारी सड़क पर चार-पांच घंटे तैरती रही, कभी इधर जाती, कभी उधर जाती। पेट फूल गया था, आंखों में असीम भटकाव और भय उभर आया था। सभी लोग देख रहे थे—कुछ करुणा से, कुछ तमाशे के भाव से। मैं सोचता रहा कि अगर यह गांव होता तो क्या यह भैंस पांच घंटे तक पानी में यों भटकने पाती! लेकिन सवाल यह भी तो था, इस भैंस को शरण भी कोई कहां देता? एक कुतिया के दो बच्चे बिछड़ गये थे। वह पीछे के ताल में बहते हुए—धोबी के झोपड़े पर चुपचाप बैठी हुई थी। कभी वहां से तैरकर सामने सड़क पर आती, फिर लौटकर वहीं पहुंच जाती—क्योंकि उसके दोनों बच्चे वहीं से गायब हुए थे। उसकी बेचैनी बड़ी दर्दनाक थी। उसके सामने अनेक बार खाने के सामान फेंके गये, मगर उसने छुआ तक नहीं। दूसरे दिन रात को वह हमारे दरवाजे पर की दीवार पर आकर बैठ गई और रात-भर इतने करुण स्वर में रोती रही कि मैं सो नहीं सका। लगा, जैसे वह नहीं, रात ही रो रही है!

चारों ओर अथाह जल। अपनी-अपनी छतों से एक-दूसरे को देखते हुए हम लोग। ऐसे में कोई अपना आ जाये तो कैसा लगेगा? दूसरे दिन पानी में तैरते हुए हमारे पास दो व्यक्ति आये, दोनों ही माडल टाउन के। एक श्री एस० पी० शुक्ल (शिवाजी कालेज में इंगलिश के प्रवक्ता), दूसरे रणवीर चौधरी (अरविंद कालेज में हिन्दी के प्रवक्ता) और हमारी जरूरत की चीजें पहुंचाने के लिए दोबारा तैरकर आये। तीसरे दिन नाव पर डा० महीपसिंह और डा० नरेन्द्र मोहन आये और मुझे खींचकर माडल टाउन से बाहर ले गये। कितना अच्छा लगा था—पानी से बाहर की धरती को छूकर! मित्रों से बातचीत ने मेरे सीलन-भरे मन में एक गुनगुनी धूप भर दी। वहीं मेरा शिष्य देवदत्त मिल गया, जो दो दिन से मुझ तक आने के लिए भटक रहा था और पुलिस आने नहीं दे रही थी। ऐसे ही कितने लोग—कितने लोगों से मिलने और उनकी सहायता करने को बेचैन थे, लेकिन वे आने नहीं पा रहे थे। फिर भी नावें भरी रहती थीं। पता नहीं ये कौन लोग थे, कैसे नावों पर चढ़ जाते थे—यह तो अधिकारी ही जानें!

पानी घटने लगा था। चौथे दिन सुबह झांककर नीचे देखा—फर्श पर से पानी हट गया था। मैं नीचे को भागा और फर्श को पांवों से छूकर कैसा अनुभव किया, इसे कह नहीं सकता। यह एक नयी सुबह थी, नयी धरती थी और नया मैं था।

73

दिल्ली में आकर भी अपने भावी जीवन के बारे में कुछ सोचता नहीं था। मेरे आलसी स्वभाव ने जैसे सब कुछ समय के भरोसे छोड़ दिया कि जो होगा सो होगा। दिल्ली में

आकर लोग प्राय: मकान बनवाने के बारे में सोचने लगते हैं। मैं सोचता ही नहीं था। आज यह सोचकर हैरानी होती है कि आखिर क्यों नही सोचता था। यह तो कभी कल्पना भी नही की होगी कि सेवामुक्त होने के बाद गाव मे जाकर खेती-बारी कराऊंगा, यदि मैं जाना भी चाहूगा तो बच्चे जायेंगे नही। फिर मै मकान के बारे मे क्यो नही सोचता था ? क्या जन्म-जन्मातर तक किराये के मकान मे ही रहूंगा—इस मकान से उस मकान मे और उस मकान से इस मकान मे—मकान मालिक के बढ़ते हुए किराये और अपमानजनक व्यवहार का गदा बोझ झेलना हुआ। नही, ऐमा भी नही। तो फिर मकान के बारे मे क्यो नही सोचता था ? शायद पैसे के अभाव के कारण। इतने पैसे कहा से लाऊंगा ? शायद अपने स्वभाव के कारण—अरे कौन पडे इम झंझट मे !

फिर भी लोनी गाव मे तमाम मित्रो के साथ '66-'67 मे जमीन का एक टुकडा ले ही लिया था। ले तो लिया था किन्तु आखिर उतनी दूर मकान बनवाने कौन जाता। प्लाट पडा है, देखा जाएगा। प्रस्तावित वैशाली के लिए सदस्य बनाये जा रहे थे। डा० रमानाथ त्रिपाठी के साथ सचिव के पास गया। रमानाथ जी सदस्य बन गये। मैं नही बना। त्रिपाठी जी ने कहा भी कि पैसे मैं दे रहा हूं, आप भी बन जाइये लेकिन नही बना। 1970-71 की बात होगी, मेरे मित्र और राजधानी कालेज मे प्रवक्ता सुधाकर शुक्ल ने एक कालोनाइजर मे मिलकर उत्तमनगर मे एक कालोनी बसाने की योजना बनाई। उनकी कोशिश थी कि यह कालोनी प्राध्यापको की हो। अतः अपने अनेक प्राध्यापक मित्रो के यहा घूमते फिरे। मेरे यहा भी आये और मैं एकदम अनिच्छा व्यक्त करता हुआ उनके पास से उठ गया। किन्तु मेरे अनजान उन्होने पत्नी की रजामदी से हमारे नाम प्लाट बुक करा दिया। जब उसकी रजिस्ट्री कराने के सिलसिले मे पैसे लेने की बात आयी तो मुझे बताया गया। झख मारकर मुझे पैसे की व्यवस्था करनी ही पडी। प्लाट तो हो गया किन्तु मकान ? उसकी तो कल्पना ही नही हो पा रही थी। एक तो उजाड स्थान (जहा रहने की कोई सुविधा नही), दूसरे इतने पैसे कहा से आये ? इसलिए जमीन लेने के बाद भी मै उसी तरह निश्चित था जसे जमीन ली ही नही थी।

सुना गया कि कुछ लोगो ने मकान बनवा लिए है। राजधानी कालेज के रामसुरेश पांडे, रमाकात शुक्ल, रमाशकर श्रीवास्तव, गोविन्द चातक और सुरेन्द्र नारायण त्रिपाठी ने मकान बनवा लिए थे। इन लोगो ने वास्तव मे जंगल मे अलख जगाया था। तब बिजली नही थी, बाजार नही था। पानी तो खैर बहुत बाद मे आया। तमाम असुविधाओ के बीच रहकर इन आदिवासियो ने इस मोहल्ले का भाग्य जगाया। इसका नाम भी रख दिया वाणी विहार। लोग धीरे-धीरे खिचते गये। एक-एक मकान बनता गया मानो अधकार-भरे आकाश मे एक-एक तारा उग रहा हो और आज यह मोहल्ला आकाश की तरह काफी तारो से भर गया है।

सन् 1979 मे मेरे घर मे मकान बनाने की कुछ सुगबुगाहट होने लगी। थोड़े पैसे का भी जुगाड सभव दीखने लगा था। हेमत की शादी भी होने वाली थी, अतः बड़े मकान की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। पत्नी ने अपने भाई दीपनारायण

से बात चलायी तो वे एक दिन अपने मोहल्ले के अपने परिचित आर्किटेक्टनुमा व्यक्ति रामनिवास को लेकर आ पहुंचे और मेरी सारी उदासीनता के बावजूद यह तय हो गया कि अमुक दिन को नींव खोदी जायेगी और काम चालू हो जायेगा। मैं तो जैसे फंस गया। साइत निकाली गयी। उस दिन हम लोग पहुंच गए मुहूर्त करने के लिए। वहां दूसरी बार पहुंच रहा था। एक बार जमीन देखने गया था, दूसरी बार अब आया था। उत्तमनगर के स्टैण्ड से वाणी विहार की ओर चला तो कुछ दूर चलने के बाद लगा कि लौट जाऊं। सौ दो सौ गज तक तो ठीक-ठाक कच्ची सड़क थी, उसके बाद सड़क टूटी-फूटी थी, गड्ढे थे, गड्ढों में पानी भरा था और दोनों ओर उजाड़ लोट रहा था और उसमे असुरक्षा और गंदगी का साम्राज्य था। खैर, आ गए थे तो क्या लौटते ? इतने मित्रों ने यहा इतनी कड़ी तपस्या करके इस भूमि को जगाया। अब तो बिजली (जो बहुत जरूरी चीज है) भी आ गयी है। तो साहब, हमारे साले साहब दीपनारायण शाहदरा की फौज लेकर पहुंच गए मकान बनवाने के लिए। हमे तो कुछ पता नही था कि मकान बनवाने में किन-किन लोगों की आवश्यकता होती है किन्तु दीपनारायण जी ने जो गोल साजी थी उसमें बाकायदा भवन-निर्माण के लिए आवश्यक पलटन के सारे पदाधिकारी मौजूद थे—आर्किटेक्ट रामनिवास जी, ठेकेदार गुप्ता जी और फिर तमाम मजदूर। काम चालू हो गया। जब काम चालू हुआ तो मैं बम्बई में था। वहा से कई दिन बाद लौटा तो प्लाट पर गया और देखा कि डी० पी० सी० हो गयी है। मकान कैसे बना और कैसे बिगडा, यह सब पत्नी जानती है। उन्ही की साधना थी कि मकान बन सका। मैं तो मुश्किल से दस-पांच दिन प्लाट पर गया हूंगा।

वैसे भी पूरा मकान एक साथ बनवाने की अपनी औकात नही थी किन्तु जितना बनवा सका उतना भी सही-सलामत कहा बन सका। बीच में ही आर्किटेक्ट नामधारी महोदय गायब हो गए। उनसे पैसे का हिसाब मांगा तो थोड़े परेशान हुए और फिर लुप्त हो गये। ठेकेदार भी पैसे के लिए उन्हें ढूढता फिरा, मिस्त्री भी वे जो लाए थे वह नमूना था। उनके और ठेकेदार के अभाव में हम लोगों ने खुद मिस्त्रियों से अपनी अक्ल के अनुसार मकान बनवाना शुरू किया किन्तु कहा न मिस्त्री भी आला छाटकर लाये गए थे, उन्होंने जो सामान बरबाद किया वह तो किया ही, कोई चीज सही-सलामत नही बनायी। कभी कोई दीवार गिर रही है, कभी छत टेढ़ी हो रही है, कभी कुछ, कभी कुछ। फर्श बनाया, उसकी भी शोभा घिसाई के बाद दिखाई पड़ी और जी रो पड़ा। अब अपने पर कोफ्त हुई कि मकान बनवाना ही था तो अपने मन से उत्तम-नगर या जनकपुरी में ही मिस्त्री और ठेकेदार क्यो नहीं ढूढ़े, क्यों दीपनारायण के जिम्मे लगा दिया। वे न जाने कहां-कहां से नमून छाटकर लाए जिनके कारण पैसों की बरबादी तो हुई ही, मकान भी वांछित रूप नही ले सका। फिर भी उनको यह श्रेय तो देना ही पड़ेगा कि वे यदि अपने आला आर्किटेक्ट को लेकर मेरे घर न आये होते और उत्साह न दिलाया होता तो मकान तब शुरू न हुआ होता।

मकान में व्यवधान पड़ने का एक और कारण था—वह था सीमेंट का संकट। सीमेंट कंट्रोल पर मिलता था और अनधिकृत कालोनी में बन रहे मकान को भला सीमेंट

कहां से मिलता। न जाने कैसे-कैसे कहां-कहां से जोगाड़ करना पड़ा। फिर भी संकट कहां हल होने वाला था। बाजार में सीमेंट का भाई-बंधु सीगोल आ गया था। कई जगह उसका इस्तेमाल करना पड़ा और जहां-जहां उसका इस्तेमाल हुआ, काम खराब हुआ।

अनधिकृत कालोनी में मकान बनवाने का एक बड़ा संकट है नगर निगम या डी० डी० ए० का ओवरसियर। वह मोटर साइकिल या स्कूटर पर घूमता-फिरता है और उसे सूचित करने वाले कुछ दलाल भी होते हैं। पहले तो वह दीवार को उठने देगा। इधर से उधर निकलता हुआ देखता रहेगा। ज्यों ही छत पड़ने का समय आयेगा चालान लेकर हाजिर हो जाएगा। वह पैसा तो लेता ही है और लोग जानते हैं कि पैसे देने पड़ेंगे किन्तु जिस नाटकीय पद्धति से पैसा वसूलता है वह बड़ी त्रासद और अपमान-जनक होती है। सहज और सम्मानजनक व्यवहार करना न तो उसके संस्कार में होता है न उसके पेशे में। उसकी मोटर साइकिल की आवाज बड़ी भयावह लगती है। जब मेरा मकान बना या मुझसे पहले औरों का बना तब इस मोहल्ले में मोटर साइकिल या स्कूटर आने का प्रश्न ही नहीं था क्योंकि बहुत थोड़े लोग बसे थे और जो बसे थे उनके पास केवल साइकिलें थीं। अतः जब मोटर साइकिल की आवाज सुनाई पड़ती थी तो लोग दहल जाते थे, जान जाते थे कि आ गया ओवरसियर।

मेरी पत्नी ही मकान बनवा रही थीं। दीवार काफी उठ गयी थी। दो-चार दिन बाद छत पड़ने वाली थी। एक मोटा-सा ओवरसियर आया (और हर ओवरसियर को मैंने मोटा ही देखा। मुफ्त माल आखिर चर्बी नहीं बनेगा तो क्या बनेगा), उसने गुस्सा-भरी नजरों से इधर-उधर देखा फिर बोला—"किसका मकान है।"

"कहिए, क्या बात है ? मेरा मकान है ?"

"मकान क्यों बनवा रही हैं ?"

"बहुतों ने बनवाया है, मैं भी बनवा रही हूं।"

"दीवार गिरवा दीजिए, मैं नहीं बनने दूंगा।"

"आप गिरवा दीजिए, मैं तो बनवा रही हूं।"

उसने कुछ देर तक लटकाऊ शैली में बात की। फिर देखा कि कोई अनुकूल बात नहीं बन रही है तो चालान बुक निकाली। उसने हिकारत बरसाते हुए कहा—"हिमाकत तो देखिए अनअथॉराइज्ड कालोनी में महल बनवा रहे हैं—आगे कनोपी, बगल में कनोपी। वाह भाई वाह।"

पत्नी कुछ समझ नहीं पा रही थीं तो आर्किटेक्ट ने कहा— "बहन जी, इसे कुछ दे-दिलाकर छुट्टी कीजिए !"

"अरे तो साफ-साफ कहता क्यों नहीं ?"

"अरे यह साफ-साफ कैसे कहेगा ?"

"तो आप बात कीजिए।"

वह उससे बात करके आया। बोला, "कह रहा है—मैं औरत से बात नहीं करता। मकान मालिक को भेजिए।"

"मकान मालिकन तो ये ही हैं। मकान इन्हीं के नाम पर है।" मैंने कहा।

"फिर भी इनके पति को भेजो।"

"अरे साहब, वे प्रोफेसर है। उनको समय नहीं मिलता है। देखते नहीं कि ये ही मकान बनवा रही हैं।"

"कुछ भी हो, कल उन्ही को भेजिए दफ्तर में।" उसने चालान काटकर दे दिया।

मैं दूसरे या तीसरे दिन आर्किटेक्ट के साथ आफिस पहुंचा तो वह बड़े रुआब और बेरुखी से मेरे सामने आया। बोला—"अब कुछ नहीं हो सकता, चालान कट गया है, आप लोग पहले नहीं चेतते है।"

मैं अपमान पीकर बैठा रहा और आर्किटेक्ट खुशामद के स्वर मे उनसे बात करता रहा। वह झटके पर झटका देता रहा।

मैंने कहा—"मिस्टर···जी आपको यह काम करना तो है ही, चाहे जैसे करें।"

वह समझ गया और मुझे बाहर की ओर ले गया। मैंने उसे हजार रुपये दिये। उसने चुपचाप ले लिया और हमें पास के रेस्त्रां में ले गया और कोका कोला पिलाया। उसका तना हुआ चेहरा हंसने लगा था और वह अब ओवरसियर से आदमी में बदल गया था।

ओवरसियर दूसरे दिन मकान पर आया और राय दी कि शीघ्र ही इसकी पुताई करवा दीजिए ताकि मकान पुराना लगे। उसने हमारे आर्किटेक्ट को डांटते हुए कहा, "क्या खि-खि-खि-खि लगाये हुए हो, जल्दी से काम करो।" बहरहाल वह आदमी अब आदमी-सा दीखने लगा और एक दिन जब मैं मकान के पास बैठा था तो वह आकर ठहर गया। बोला—"आप कहां पढ़ाते है?"

"मैं दिल्ली यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हू।"

"क्या बताऊ प्रोफेसर साहब, बहुत परेशान हूं।"

"क्या बात है?"

"मेरी दो संतानें है। एक लड़का एक लड़की। दोनों ही नही पढ़ते हैं। लड़की तो खैर अपने घर चली जायेगी और वह किसी और परेशानी का कारण भी नही है किन्तु लड़का तो पढ़ना भी नही है और बिगड़ता भी जा रहा है?"

"क्या करता है?"

"क्या बताऊं साहब, दिन-रात पैसे मांगता है, न जाने कहां-कहां उड़ाता है। नहीं देने पर गाली-गलौज करता है और मारने की धमकी देता है।"

"ओ हो हो, यह तो बुरी बात है।"

इस ओवरसियर से सताया गया मेरा मन उसकी यातना का मजा लेने लगा था।

"कोई उपाय है प्रोफेसर साहब, जिसमे वह पढ़ सके और उसका व्यवहार ठीक हो सके?" ओवरसियर के स्वर में दीनता उभर आयी थी।

"देखिये, इसके लिए कोई बना-बनाया नुस्खा नहीं बता सकता। बात यह है कि

जब वह देखता है कि बापजान पैसे खूब ला रहे हैं तो वह उसमें हिस्सेदार बनना चाहता है। उसके साथी-वाथी भी उसी तरह के होंगे और पैसे से मौज-मस्ती करने की लत पड़ जाये तो पढ़ाई मे कहा मन लगता है। पढाई तो एक साधना है।"

"हां प्रोफेसर साहब।" वे कुछ कह नही सके और चले गए।

मेरे आर्किटेक्ट ने छूटते ही कहा—"बाबूजी, देखा इस हरामखोर के साथ ईश्वरीय न्याय। अरे हराम की कमायेगा तो बेटा हरामपनी करेगा ही। विद्या तो बड़ी पवित्र चीज होती है बाबूजी। हराम की कमाई मे कही विद्या आती है?"

मकान बनता रहा, बिगडता रहा। मेरे मना करने पर भी पत्नी ने इन आला कारीगरो की राय और सहायता मे छत के ऊपर भी दीवार खिचवा दी यानी दुमंजिला मकान बनवाने लगी। दीवारे उठ गयी थी। आंधी-पानी आया और सारी दीवारे छत पर भहरा पडी। छत मजबूत थी, नही तो नीचे आ गयी होती। खैर, कुछ पिचक तो गयी ही। मैंने पत्नी स कहा, और बनवाओ दुमंजिला मकान। और वह भी इन बेवकूफो मे। आर्किटेक्ट साहब तो पैसे लेकर पलायन कर गये। मिस्त्री भी कई आये और चले गये, अंत मे बचा खुमान नाम का एक मिस्त्री जो मिस्त्री कम मजदूर ज्यादा था। किन्तु वह ईमानदार था। हम लोगो ने अब अपने इस मिस्त्री मे निर्माण-कार्य जारी रखा और उसने अपनी अक्ल के अनुसार ही मकान को अपरूपता प्रदान करनी शुरू की। चलिए अपरूपता ही सही, वह डटा तो रहा और उस समय हम जितना बनवा सकते थे उसने बनाया।

मकान 1979 मे शुरू हुआ था। सितम्बर तक कुछ कमरे तैयार हो गए थे। हालांकि अभी न किचेन बना था, न फर्श की घिसाई हुई थी, न छत पर टाइल्स बिछे थे, न स्लाइडिंग डोर मे शीशे थे। पत्नी को लगातार कई महीनो माडल टाउन से स आ-आकर बनवाना पडता था और अनेक शारीरिक-मानसिक यातना मे गुजरना पड रहा था अतः निश्चय किया गया कि हम लोग नये मकान में चले जाए। वह जैसा भी है अपना तो है और बडा है। इसी जुलाई मे हेमंत की शादी हो गयी थी और किराये का मकान छोटा पड रहा था। अतः हम लोग 20 सितम्बर को इस नये मकान मे आ गए। स्थानान्तरण मे सबसे बडी मुसीबत पुस्तकें रही हैं। एक ट्रक तो वे ही थी। उन्हे लाकर बरामदे मे पटक दिया गया और न जाने कितने दिन तक वही पडी रही।

आने से पहले बिजली लगवा ली थी। यानी एक बडी समस्या हल हो गयी थी। हम मकान के ढांचे के नीचे विराजमान थे। मेरी पुत्री अंजू को बच्ची पैदा हुई थी। आंधी-पानी आया और शीशाविहीन स्लाइडिंग डोर के रास्ते उसका सारा वेग पूरे घर म फैल गया। छत जगह-जगह स चूने लगी। छत के ऊपर पानी भर गया। बिजली के मीटर के बोर्ड के पीछे की अनसीमेंटेड दीवार से आकर पानी मीटर मे प्रवेश करने लगा। मकान मे रहकर भी हमे लगा कि हम खुली छत के नीचे खडे है। हमें बडी पीडा हुई कि इतना पैसा खर्च करने पर भी हमे नंगा मकान ही मिला। किन्तु अनुभव ने हमे बता दिया कि इस मकान मे कहा क्या कमी है। उसी रोज शीशे वाले के पास गया और स्लाइडिंग डोर मे शीशा लगवाया। मीटर बोर्ड के पीछे की दीवार

सीमेंटेड करायी और कुछ दिनों में छत पर टाइल्स लगवा लीं। अब जाकर मकान रहने लायक हुआ।

आला आर्किटेक्ट ने बिना किसी सहारे के आगे एक लम्बी कनोपी निकलवा दी थी। वह हिलती थी। हमें पता नहीं चलता था कि यह क्या है? एक दिन देखा कि छत झुक रही है। काम करता हुआ मिस्त्री खुमान बोला—"बाबू जी, वह बेवकूफ रामनिवास काम बिगाड़ गया। वो साला मुझी को डांटता था लेकिन देख रहे हैं न, सारा काम खराब कर दिया। उस मूरख ने बिना किसी खंभे के इतनी बड़ी कनोपी खड़ी कर दी, उसे झुकना ही था।" उसने चलता हुआ काम छोड़कर जल्दी-जल्दी में कनोपी के नीचे दो पिलर खड़े किये। अब जाकर कनोपी का स्पंदन रुका लेकिन छत जितनी टेढ़ी हो गयी थी—हो गयी थी। उसका कोई क्या करता? तब से आज तक यह घर बन रहा है। अभी भी अनेक चीजें छूटी हुई हैं। वे भी बन जाएंगी। जल्दी क्या है? हां, जल्दी तो मेरे जीवन मे कभी रही ही नही। सब धीरे-धीरे ही चलता रहा है।

"बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे
खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे।"

मेरी और मेरे आगे की लाइन में कोई मकान नहीं था। पीछे की लाइनों में कुछ मकान बने थे, कुछ बन रहे थे। यानी आसपास एक विराट् सन्नाटा फैला हुआ था कुछ प्लाटों में छोटी छोटी गुमठिया बनी हुई थी और जंगली झाडियां तथा पेड़-पौधे उगे थे। इस नाते असुरक्षा और भी बढ़ गयी थी और गंदगी का साम्राज्य फैल रहा था। इधर-उधर के तमाम लोग और खासकर मजदूर इधर ही आते थे और नित्य-कर्म से निवृत्त होने के लिए जहां चाहे बैठ जाते थे। हमारी यह भी ड्यूटी हो गई थी सुबह-शाम निगरानी रखें कि कोई हमारे मकान के पास बैठकर तो यह पवित्र कार्य नही कर रहा है। इस व्यापक सन्नाटे के बावजूद कभी कोई अप्रिय घटना नही घटी। कभी कोई हमारी चहारदीवारी लांघकर अन्दर नही आया। कोई चीज गायब नहीं हुई। यानी कभी कोई डर नही लगा। हां, लगता है सन्नाटे की अपेक्षा आबादी ज्यादा भयावह होती है। उत्तमनगर की आबादी ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, अप्रिय घटनाएं घटती गयी। सामने की सड़क काफी चौड़ी थी, लेकिन कच्ची थी, ऊबड़-खाबड़, ऊंची-नीची। पानी बरसने ही पानी और कीचड से भर आती थी। यह बात दूसरी है कि यह मिट्टी अभी तक गांव की मिट्टी बनी हुई थी और वह शीघ्र ही पानी को अपने में जज्ब कर लेती थी। इस तरह पानी बरसने और सूखने का क्रम चलता ही रहता था। पहली बरसात पड़ते ही न जाने कहां से बड़े-बड़े पीले-पीले मेढक निकल आते थे और अपने संगीत से मेरा घर भर देते थे। पानी को रौंदते हुए ट्रकें गुजरती थीं और पानी के हिलकोरे मेरी आगे की दीवार से टकराते थे। हम बार-बार अपने आगे मिट्टी डलवाकर ऊंची करते थे और ट्रकें इसे कुचलकर फिर नीची कर देती थीं और सूखता हुआ पानी एक दलदल छोड़ जाता था। कितनी बार इन ट्रकों को रोकने के तरह-तरह के उपाय किये गये किन्तु ट्रकें कहां रुकती थीं। वे न जाने कितने लोगों का जीवन हैं और जीवन कहीं रोकने से रुकता है, चाहे कैसा भी मार्ग हो?

मेरे मकान के अन्दर-बाहर चारो ओर मकान बनाने के उपकरण बिखरे थे। खाली प्लाट तो बिखरे ही थे। इन खाली प्लाटो के बाद कुछ मकान थे, फिर उन मकानो के बाद गाव के खेत शुरू होते थे जो अनत विस्तार मे व्याप्त थे। यानी मैं अपने मकान मे रहता हुआ भी धूल-मिट्टी से सने गाव मे ही रह रहा था। अब तो मेरा मकान काफी बन गया है फिर भी उसे शहरी मकान नही कहा जा सकता। पत्नी की कृपा से कुछ लकड़िया, कोयले, कुछ कबाड़ के सामान, मिट्टी के चूल्हे मकान मे अपनी-अपनी जगह बनाये दिखाई पड़ेगे। ये मकान के शहरी विन्यास को चिढ़ाते से लगते है। वैसे ये न भी हो तो शहरी विन्यास भग होता है। मेरे घर मे किसी को भी चीजे बहुत करीने से सजाकर रखने की आदत नही है। यदि किसी दिन सावधानीपूर्वक विन्यास किया भी गया तो दो-चार दिन बाद फिर घर अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाता है। सबसे बड़ी समस्या तो पुस्तके और पत्रिकाये है चूकि लोग उन्हे पढ़ते है इसलिए वे रोज उलट पलट होती रहती है, पढ़कर कोई कही रख देता है, कोई कही। इतनी पत्रिकाए, कागज, चिट्ठिया, आखिर कहा तक और कहा सजाकर रखी जाये। अतः बेतरतीबी ही मेरे घर की तरतीब बनी हुई है और उसी से लगता है कि घर सभ्यता मे स्तब्ध नही है बल्कि खुरदरेपन से स्पदित है, चल रहा है और दरअसल यही स्पदन और जीवन की गतिशीलता हमारे परिवार की कहानी है, इसीलिए मेरा घर, मेरा परिवार मुझे अच्छा लगता है—भरा-पुरा और जीवत लगता है।

पूरे उत्तमनगर की तरह उसका यह मोहल्ला वाणी विहार भी अधबना ही था लेकिन निर्माण का कार्य लगातार चल रहा है, कभी यह मकान बन रहा है कभी वह। सारी असुविधाओ के बीच भी निर्माण का अनवरत क्रम कितना अच्छा लगता है, उसमे जीवन की गति मालूम पड़ती है। सो वाणी विहार मे सतत् ईंट-लोहे का सगीत बज रहा था। रेत, स्टोन डस्ट, सीमेट की सरसराहट हवा मे गूजती रहती थी, ट्रको का डरावना स्वर भी निर्माण की क्रिया से जुड़कर प्रीतिकर हो उठता था।

हम असुविधाओ के बीच अवश्य थे किन्तु जीने के लिए मूलभूत वस्तुओ का अभाव नही था। निर्माण की गति के साथ सुविधाओ का भी विस्तार हो रहा था। पहले कुछ ही वस्तुओ की कुछ ही दूकाने थी, बाद मे दूकाने ही दूकाने हो गयी और हर चीज यहा मिलने लगी। पहले उत्तमनगर मे एक डाक्टर था, बाद मे डाक्टर ही डाक्टर होने चले गये। दवा की दूकानो के सम्बन्ध मे भी यही स्थिति हुई। सबसे बड़ी समस्या पीने के पानी की थी। कुछ लोग तो घर मे गड़े हुए पम्प के पानी से ही काम चला लेते थे किन्तु वह सबके वश का नही था। पानी के मुख्य पाइप से निकालकर एक पतली पाइप वाणी विहार मे लाई गयी थी और दो-तीन स्थानो पर नलके लगा दिये गये थे। जनता विशेषतया औरतें वहीं लाइन लगाती थी और बाल्टी आगे-पीछे करने के क्रम में कोआरोर मचाती थी। कभी-कभी मुहल्ले के शुरू मे रहने वाला कोई व्यक्ति पाइप काटकर पानी भरता था और पानी बाहर बह चलता था तथा नलके सूने उदास खड़े रहते थे, कभी-कभी आसू की तरह दो-चार बूदे चू पड़ती थी टप ''टप'' टप ''। पत्नी इससे ऊबकर एक मजदूर के द्वारा मुख्य सड़क से पानी मगाने लगी थी। खैर, कई वर्षों

बाद पानी की समस्या हल हुई। बाद में नालिया भी बनीं लेकिन अभी तक नालियों के पानी की निकासी की व्यवस्था नही हो पायी। अतः नालियो मे गदा पानी ठहरा रहता है और बजबजाया करता है। अभी तक सीवर का प्रबन्ध नही हुआ, किन्तु फिलहाल उसकी कोई परेशानी नही है क्योकि लोगो ने सेफ्टी टैंक बनवा रखे है। असुविधाएं अभी भी अनेक है लेकिन अविकसित और शुरू मे अनधिकृत कालोनी मे मकान बनवाने का खतरा उठाने वाले व्यक्ति को इन असुविधाओ का बोध पहले से ही होता है। वे उन्हें दूर करने का प्रयास तो करते रहते है, उनमे घबराते नही।

इन असुविधाओ से लड़ने के लिए ही वाणी विहार मे 'वाणी विहार-विकास-समिति' का गठन हुआ था। जब मै आया तो डा० रामसुरेश पाण्डेय इसके अध्यक्ष थे और श्री वी० एल० जैन महासचिव। मेरे आने से पूर्व अन्य कई लोग इसके पदाधिकारी रह चुके थे। समिति ने वाणी विहार के विकास के लिए काफी सघर्ष किया। पाडेय जी बहुत दबग और जुझारू व्यक्ति है इसलिए अनेक खतरो को झेलते हुए वे अध्यक्ष के अधिकारो और दायित्वो का निर्वाह करते रहे। वे साफ दिल के आदमी है। जो मुह मे आता है कह देते है। इस मोहल्ले मे तरह-तरह के स्वभावो और पेशो के लोग थे। अनेक को लगने लगा कि पाडेय जी प्रोफेसर होने के कारण औरो को छोटा समझते है और उनके प्रति रूखा व्यवहार करते है।

मुझे आये कई वर्ष हो गये थे और अध्यक्ष पद के लिए लोगो की निगाह मुझ पर टिकी हुई थी और मैं इस झझट मे पड़ना नही चाहता था। आखिर अगले चुनाव में लोगो ने मुझे घेर लिया। काफी लोग पाडेय जी को अध्यक्ष के रूप मे अब देखना नहीं चाहते थे। दो दल हो गये और लोग मेरे पास यह कहने आये कि "इस तनाव से आप ही बचा सकते हैं। यदि आप अध्यक्ष होना स्वीकार कर ले तो यह सघर्ष टल सकता है। दोनो पक्ष आपके नाम पर सहमत है।" बहुत बबसी मे मैंने हामी भर दी किन्तु न जाने कहा क्या गलतफहमी हुई कि पाडेय जी भी उठ गये। चुनाव हुआ और चुनावी हथकडों का साक्षात्कार किया। मैं अध्यक्ष बना और के० के० तिवारी महासचिव किन्तु महासचिव के चुनाव मे कोई झझट पैदा हो गयी और काफी दिनो तक तनाव चलता रहा। कुछ दिनों बाद फिर चुनाव हुआ और फिर दोनो पक्षो मे सेतु बनने के लिए मुझे अध्यक्ष पद के लिए उठना पडा और फिर कोई गलतफहमी पैदा हुई कि पाडेय जी फिर मेरे विरोध में खड़े हो गये और फिर मैं अध्यक्ष तथा के० के० तिवारी महासचिव चुन गये तथा मुझे उठाने वालो मे से अनेक सदस्य चुने गये और फिर मैंने कुरूप चुनावी हथकडो का अनुभव किया। पांडेय जी मेरे बहुत अच्छे मित्र है। बहुत गहरे और खुले हुए घरेलू सम्बन्ध हैं किन्तु उनमे बुनियादी तौर पर नेतृत्व की कामना है इसलिए किसी-न-किसी बहाने उन्हें मेरे विरुद्ध उठने का अवसर मिल जाता था और मै इस पथ और कार्य से भागता हुआ भी उनसे लड़ने के लिए अभिशप्त हो उठता था। वे जब लड़ते थे तो सारे चुनावी हथकंडे भी अपनाते थे यानी लगता है कि ये सब चीजें चुनाव के साथ जुड़ ही गयी है। चुनाव के बाद हमारे सम्बन्ध उसी तरह सहज हो जाते थे। इसे मैं अपना सौभाग्य कहूंगा कि वाणी विहार के लोगो ने मुझे बहुत स्नेह दिया—चाहे वे वाणी विहार-समिति के सदस्य

हों, चाहे चुनाव हारने वाले लोग, चाहे अन्य लोग। सबके सहयोग से मेरे अध्यक्ष काल में वाणी विहार के लिए कई विकास-कार्य हुए। इन कार्यों की सम्पन्नता में महापौर महेन्द्रसिंह साथी जी के निजी सहायक श्री जी० एस० बेदी की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मेरे कार्यकाल के अंतिम दिनों में तो बड़ी सक्रियता रही। नये चुनाव का समय आ गया। मेरी इच्छा थी कि चुनाव समय से हो जाये किन्तु वाणी विहार में उन दिनों इतने कार्य सम्पन्न हो र` थे कि अनेक लोग इन कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर ही चुनाव कराना चाहते थे। बहरहाल चुनाव तो होना ही था। विलम्ब से ही सही, चुनाव हुआ और इस बार मैंने तय कर लिया था कि मुझे अब अध्यक्ष नहीं होना है। चुनाव हुआ, बहुत सरगर्मी रही। खेमाबंदी तो थी ही। फिर डा० रामसुरेश पांडेय अध्यक्ष बने किन्तु उनकी पूरी कार्यकारिणी में विरोधी खेमे के लोग आये।

'वाणी विहार' अपनी सारी असुविधाओं के साथ मुझे अच्छा लगा। इसका एक कारण तो यह है कि इसमें गांव जैसी इकाई है। हम सभी एक-दूसरे को नाम से जानते हैं और पर्व-त्योहार, सुख-दुःख के समय बड़ी आसानी से साथ हो लेते हैं। यानी यहां हमारी पहचान सुरक्षित है। दूसरी बात यह है कि यहां अभिजात मोहल्लों की तरह भव्य सन्नाटा नहीं है, बल्कि सामान्य लोगों की निरंतर चहल-पहल है। लोगों में अभी एक दूसरे के प्रति घोर निर्लिप्तता नहीं व्यापी है और निर्माण का संगीत भी निरंतर बजता रहता है। सामान्य समस्याएं हमें सामाजिक रूप से चिंतित और सक्रिय किये रहती हैं। तीसरी बात यह है कि यहां सारे सामान आस-पास ही उपलब्ध हो जाते हैं। चारों ओर बाजार-ही-बाजार हैं।

वैसे तो इस मोहल्ले के निर्माण के समय सुधाकर शुक्ल की इच्छा यही थी कि यह प्राध्यापकों का मोहल्ला हो किन्तु यह नहीं हो पाया। वैसे काफी प्राध्यापकों ने प्लाट लिए पर कुछ ने बाद में बेच दिये। अन्य अनेक प्लाटों का भी कई-कई बार पुनर्विक्रय होने लगा और इस क्रम में प्लाट महंगे अतः खंडित होते चले गये। फिर भी प्राध्यापकों की अच्छी-खासी संख्या यहां है। डा० रामसुरेश पांडेय, डा० ललित शुक्ल, डा० गोविन्द उपाध्याय, डा० रमाकांत शुक्ल, डा० रमाशंकर श्रीवास्तव, डा० गोविन्द चातक, डा० शोमनाथसिंह, श्री के० के० तिवारी, डा० जाफर मेहदी, श्री एन० जी० गायन, डा० सुरेन्द्रनारायण त्रिपाठी, डा० टी० एन० चौधरी, डा० सुधाकर शुक्ल विभिन्न कालेजों में पढ़ाते हैं। डा० राज, श्री के० के० धवन, एम० डी० खन्ना, आर० डी० व्यास, दीपराज त्रिपाठी, कीमतीलाल आदि भी शिक्षा जगत् से जुड़े हुए हैं। इनके अतिरिक्त बी० एल० जैन, पी० पी० गोयल, सुखवीर त्यागी, अनिल माथुर, जी० एस० बेदी, एन० डी० शर्मा, आर० पी० श्रीवास्तव, सूर्यदीन गुप्त, नागपाल आदि छोटे-बड़े सरकारी-गैरसरकारी पदों पर कार्य करते हैं। नवीन मेहता, पी० एल० भाटिया का अपना व्यापार है। यशपाल बाली, जयकिशन गर्ग और अरोड़ा प्रापर्टी डीलर हैं।

मैं उन लोगों की बात कर रहा हूं जो वाणी विहार में बहुत पहले से हैं यानी जिन्होंने इस मोहल्ले के विकास के लिए संघर्ष किया और जिनके कारण इस मोहल्ले की प्राथमिक पहचान बनी। इनमें काशीराम त्यागी और सरदार सूरतसिंह का

नाम भी महत्त्वपूर्ण है। सरदार सूरतसिंह तो 1984 के दंगे के बाद मकान बेचकर चले गये। त्यागी जी रिटायर थे किन्तु सक्रिय थे।

होली-दीवाली को हम सभी लोग एक-दूसरे के यहां जाते थे, अब भी जाते हैं किंतु अब वाणी विहार का इतना विस्तार हो गया है कि सबका सबके यहां जाना संभव नहीं हो पाता किन्तु तब के लोग अभी भी एक-दूसरे के यहां आते-जाते है। होली सार्वजनिक मनती है। हम लोग एकत्र होकर होली जलाते है और दूसरे दिन पूरे मोहल्ले में घूमते हैं और रंग खेलते है—गाव जैसा ही।

हर आदमी की दुनिया में एक और दुनिया होती है। वाणी विहार की दुनिया मे भी हम शिक्षकों की एक दुनिया है और इस दुनिया की चर्चा कर चुका हूं। किन्तु मैं शिक्षक के साथ साहित्यकार भी हूं बल्कि प्रथम वही हूं अत: शिक्षको की दुनिया मे भी साहित्यकारो की एक दुनिया पाने की इच्छा होती है। वाणी विहार मे भी साहित्यकारों की एक दुनिया है। डा० ललित शुक्ल मोतीलाल नेहरू कालेज में प्राध्यापक है। वे मुझसे कई वर्ष पहले वाणी विहार मे आ चुके थे। उनसे मेरी भेंट '68-'69 मे ही कभी हुई थी। तब मैं माडल टाउन मे था। वह उनसे मेरी पहली भेंट भी थी और पहला परिचय भी। वे कवि और समीक्षक के रूप मे उभर रहे थे। बाद मे कथाकार और रिपोर्ताजकार के रूप मे भी जाने गये। पहले परिचय मे ही मुझे ज्ञात हो गया कि शुक्ल जी साहित्य के परिदृश्य मे गहरे जुडे हुए है। साहित्य उनका शौक नहीं, प्रतिबद्धता है। वाणी विहार मे आया तो हम पडोसी हो गये और हमारी लेखकीय सहधर्मिता ने हम एक-दूसरे का अन्तरग बना दिया। कभी मै उनके यहा बैठ जाता, कभी वे मेरे यहां बैठ जाते और अनेक तरह की गपशप होती रहती। ललित जी अच्छे अध्येता है और बहुश्रुत भी है। अत: उनके साथ बैठने पर बहुत-सी नयी बातें उभरती हैं। वे 'लेखनी' नामक सस्था भी चलाते है।

डा० गोविन्द उपाध्याय राजधानी कालेज मे इतिहास के प्राध्यापक हैं। वे कवि भी है। तमाम साहित्यिक और सामाजिक बातों पर बहस कर सकते है। वे प्राय: मिल जाते हैं या कभी-कभी मेरे यहा चले आते है। वह समय उनकी वाणी से भर जाता है।

डा० रमाकान्त शुक्ल इस मोहल्ले की रौनक है। संस्कृत के विद्वान् और कवि शुक्ल जी राजधानी कालेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक हैं। वक्ता है, पहलवान हैं, रसिया हैं, विनोदी हैं, देववाणी परिषद् के संचालक हैं और न जाने क्या-क्या हैं। अपनी अनेक गतिविधियों से वे बाहर जाने जाते है और वाणी विहार का नाम रोशन किये रहते हैं। उनके साथ मेरा कोई खास उठना-बैठना तो नहीं हो पाता किन्तु मुझे उनका भरपूर स्नेह प्राप्त है।

डा० रमाशंकर श्रीवास्तव भी राजधानी कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। इनसे भी जान-पहचान पहले हो चुकी थी किन्तु वाणी विहार में आने पर इनसे बहुत गहरा साहचर्य स्थापित हुआ। ये अच्छे उपन्यासकार हैं, व्यंग्यकार और नाटककार भी है, सद्-गृहस्थ हैं, अच्छे मित्र और शिष्यवत्सल हैं। इनके यहां भी मेरा उठना-बैठना होता है। साहित्य और साहित्येतर विषयों पर हम घंटों बतियाते हैं। हम दोनों अपने पारिवारिक

सुख-दुःख खोलते हैं। इनके यहां बैठने पर बहुत पारिवारिक सहजता का अनुभव होता है यानी ललित शुक्ल और रमाशंकर श्रीवास्तव दो व्यक्ति ऐसे हैं जिनके यहां मैं प्राय: जाकर बैठकी करता हूं। वे 'आस्वाद' नामक एक संस्था के संयोजक हैं और मैं उसका परामर्शदाता। रमाशंकर जी होली से पूर्व इस संस्था के माध्यम से बहुत उत्साह से मूर्ख सम्मेलन करते है।

डा० गोविन्द चातक भी राजधानी कालेज मे हिन्दी विभाग मे है। वे अच्छे नाटककार और नाट्य समीक्षक है किन्तु इतने अंतर्मुखी व्यक्ति है कि न किसी के यहा जाते है न किसी को अपने यहा आने के लिए उत्साहित करते है। अत: उनके सत्संग का लाभ नहीं मिल पाता। कभी-कभी यहां-वहा दिखाई पड जाते है तो दुआ-सलाम हो जाता है, बस।

इस साहित्यिक दुनिया से जुडी हुई दुनिया है शिक्षको की। डा० रामसुरेश पांडेय की बात कर चुका हूं। उन्ही के कालेज में पढाते है डा० सुधाकर शुक्ल। सुधाकर शुक्ल से मेरे बहुत अच्छे घरेलू सम्बन्ध है। वे माडल टाउन भी खूब आते थे और मेरी घरेलू समस्याओ को सुलझाने मे मदद करते थ। यहा तो एकदम निकट के पडोसी है किन्तु वर्षों से वे दिल्ली विश्वविद्यालय के विरुद्ध मुकदमा लडते-लडते मुकदमामय हो गये है। उनके साथ बैठने का मतलब होता है उनके मुकदमे की बात सुनना जिसे वे बहुत रसमग्न होकर सुनाते है। मुझमे यह धैर्य नही है।

डा० सुरेन्द्रनारायण त्रिपाठी राजधानी कालेज मे सस्कृत के प्राध्यापक है, बड़े विद्वान् व्यक्ति है। बातो की जानने की उनमे बालसुलभ जिज्ञासा है और जानी हुई बात को अपनी पूजी बनाकर नही रखते, तुरंत बाट देते है। वे वृद्धावस्था मे भी बहुत सक्रिय हैं। यह सक्रियता तन-मन दोनो की है। वे मेरे अग्रज है। मुझे बहुत स्नेह देते है और कभी-कभी मेरे यहा आकर अपने बहुआयामी सत्सग से लाभान्वित करते है।

स्व० श्री के०के०तिवारी मोतीलाल नेहरू कालेज मे राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक थे। वे मेरे साथ वाणी विहार-विकास-समिति के महासचिव थे। बी० एच० यू० मे वे मेरे छात्र रह चुके थे और उस छात्र-धर्म को अभी तक निभाते चले आ रहे थे। उन्हे मेरे यहां आने मे सकोच होता था किन्तु मैं कभी-कभी उनके यहा जाकर बैठता था और इधर-उधर की खूब सारी बाते होती थी। वे अपने ड्राइंगरूम मे सोफे पर ही तकिया लगाये लेटे रहते थे, कई-कई अखबार सामने फैले होते थे, पास में फोन रखा रहता था, लोग आते थे, जाते थे, बतियाते थे, फोन करते थे, कराते थे। लगता है जैसे तिवारी जी का दरबार लगा हुआ है। कोई भी काम हो तिवारी जी छाती ठोककर जिम्मा ले लेते थे किन्तु···हां, चाहे जो हो, वे वाणी विहार के उत्सव थे।

डा० राज मेरे शिष्य रह चुके है और वे भी आज तक इस सम्बन्ध को निभाते हैं। डा० राज अपनी योग्यता के बावजूद प्राध्यापक नही हो पाये किन्तु स्कूल मे ही सही उन्होने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी है। वे कई विषयो मे दखल रखते है और अनेक कमेटियों और संस्थाओ से सम्बद्ध है। वे बहुत व्यस्त जीव है। उन्हें हमेशा भागते हुए स्कूल जाते देखा है किन्तु हमारे लिए समय निकाल लेते है और हमारा कोई भी

काम बहुत उत्साह से करना चाहते हैं।

मोतीलाल नेहरू कालेज मे अंग्रेजी के प्राध्यापक श्री एम० जी० गायन से हम लोग आते-जाते कभी-कभी उनके दरवाजे पर ही मिल लेते है। अपने लोहे के फाटक के उस पार वे खडे होते है, इस पार हम और इसी आसन मे न जाने कितनी बातें हो जाती है।

राजधानी कालेज मे अंगरेजी के प्रवक्ता जाफर मेहदी का मकान मेरे मकान के एकदम पीछे है। मृदु स्वभाव वाले शिष्ट मेहदी साहब और उनके परिवार के साथ हमारे बहुत स्नेहपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध हैं।

डा०टी०एन० चौधरी पूसा इन्स्टीट्यूट के प्रोफेसर है। वे अपने विषय के जागरूक चिंतक और विद्वान् है। वे हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमो मे बहुत उष्मा के साथ भाग लेते है। वे शिष्ट और तेजस्वी व्यक्ति है।

श्री मुरलीधर खन्ना राजधानी कालेज मे जुडे है और अपना एक बाल-विद्यालय चलाते है। वे हमारे हर काम मे साथ हो लेते है।

धवन साहब, एन० जी० शर्मा, सुखवीर त्यागी, रामअजोर मिश्र, बी० एल० जैन, अनिल माथुर, जी०एन० बेदी, पी० एस० भाटिया आदि अनेक लोगो का प्यार और सहयोग मुझे मिला है। इसलिए वाणी विहार अपनी अनेक असुविधाओ के बीच मुझे प्रिय लगता है। यहा वैभव का बीभत्स विस्तार नही है। अतः लगता है यहा अपनी तरह के अनेक लोगो के बीच हमारी पहचान बनी हुई है। एक बडी अच्छी बात यह है कि इस मोहल्ले के सारे लोगो का अपना चरित्र है, कोई किसी का पर्याय नही है। हर व्यक्ति की अपनी विशेषता है जैसे गाव के लोगो की होती है। इससे वाणी विहार मे रौनक तो रहती ही है मेरे लेखक को विविध चरित्रो की विशेषताओ का अनुभव होता है, यानी चरित्र सम्बन्धी मेरे लेखकीय अनुभवो का विस्तार होता है।

वाणी विहार मे कभी 'आस्वाद', कभी 'लेखनी', कभी 'मीमासा' (डा० रामसुरेश पाडेय जिसके महासचिव है और मैं अध्यक्ष), कभी 'भारतीय लेखक सगठन' के माध्यम मे साहित्यिक गोष्ठिया होती रहती है। इन गोष्ठियो मे पडोसी या लगभग पडोसी मोहल्लों के कई साहित्यकार जैसे डा० रमेशचन्द्र मिश्र, डा० नरेन्द्र मोहन, प्रताप सहगल, विद्या शर्मा, गुरुचरण सिंह, नरेन्द्र सिन्हा, भगवती पडित आते है। विशिष्ट गोष्ठियों मे दूर-दूर से भी लोग आते है या आये है जैसे श्री गिरिजाकुमार माथुर, राजीव सक्सेना, डा० विनय, डा० नित्यानद तिवारी, डा० ज्ञानचन्द गुप्त, डा० अश्विनी पाराशर, डा०रत्नलाल शर्मा, जगदीश चतुर्वेदी, डा०नरेन्द्र कोहली, डा०बलदेव वशी, प्रमोद सिन्हा, डा० सुखबीरसिह, श्रवणकुमार, प्रेम जनमेजय, डा० कृष्णबिहारी मिश्र कई बार यहा की गोष्ठियो मे आ चुके है। रामलाल कालेज में हिन्दी के प्रवक्ता और कवि-नाटककार-शोधक रमेशचन्द्र मिश्र तो हमे वाणी विहार के ही लगते है। वे साहित्यिक और सामाजिक सभी सन्दर्भों मे हमारे साथ यों दिखाई पडते है कि लगता है हमारे मोहल्ले के है बल्कि मुझे लगता है कि मेरे घर के हैं।

वाणी विहार का प्रसंग (और वह भी विशेषतया मेरे सन्दर्भ मे) पूरा नही होगा

जब तक एक व्यक्ति की चर्चा न की जाये। वह व्यक्ति हैं डा० विजय रावत। वे डाक्टर हैं, आर्यसमाज रोड पर उनका क्लीनिक है किन्तु स्वभाव से साहित्यिक होने के कारण वे वाणी विहार के शिक्षकों और साहित्यकारों से विशेष रूप से जुड़े हुए हैं। एक योग्य और ईमानदार डाक्टर तो वे हैं ही, बहुत मानवीय भी हैं, इसलिए अपने मरीजों से बहुत कम फीस लेते हैं और असमर्थों का तो मुफ्त इलाज कर देते हैं। ईमानदार इतने कि जो रोग उनके वश के बाहर होता है, उसके लिए रोगी को विशेषज्ञों के पास भेज देते हैं, पैसे उगाहने के लिए स्वयं लटकाए नहीं रखते। मुझे हर शहर में कोई-न-कोई अच्छा और ईमानदार डाक्टर मिला है, यहां दिल्ली में भी मिला। माडल टाउन में रमेशचन्द्र गुप्त मिले और वाणी विहार में डा० रावत। वे एक तरह से मेरे परिवार के सदस्य हो गये हैं। वे हमारे लिए एक आश्वासन हैं। वे बहुत अच्छे साहित्य-पाठक हैं। उन्होंने मेरा काफी साहित्य पढ़ रखा है। जब उनसे पहली भेंट हुई, उससे पहले काफी कुछ उन्होंने पढ़ रखा था। मैं उन्हें अपनी हर पुस्तक देता हूं बल्कि वे मेरी हर नयी कृति की प्रतीक्षा करते रहते हैं और अपनी राय देते हैं। वाणी विहार की गोष्ठियों में वे आयें, हम सभी चाहते हैं लेकिन चाहते हुए भी उन्हें आने की फुरसत कहां?

74

जब कभी मैं दिल्ली में अपने शिष्यों के बारे में सोचता हूं तो एक तुलना सहज भाव से उपस्थित हो जाती है, वह यह कि गुजरात के आठ वर्षों की अवधि मे मेरे जितने अच्छे शिष्य वहां बने, उस अनुपात में दिल्ली की 25 वर्षों की अवधि में नहीं बन सके। यहां तक कि हिन्दू विश्वविद्यालय के तीन वर्षों की अवधि मे (जब मैं रिसर्च स्कालर के रूप में कक्षाएं लेता था) भी मैंने समय के अनुपात में काफी अच्छे शिष्य पा लिये थे। कभी-कभी सोचता हूं दिल्ली में अच्छे अंतरंग शिष्य क्यो नही मिल सके? ऐसा नहीं है कि यहां शिष्य नही मिलते है। आखिर जितने छात्र पढ़ते है शिष्य ही तो होते है और उनमें से अनेक मेरे अन्य सहकर्मियों के अतरंग शिष्य भी कहे जा सकते है और वे कुछ न कुछ सीमा तक मेरे भी शिष्य कहे जा सकते है किन्तु मै अपने उन शिष्यों की बात करता हूं जो मेरे निहायत अपने शिष्य लगते हों। लगता हो कि उनके साथ मेरा विशेष जुड़ाव है, लगता हो कि उनके बनने में मेरा भी कोई योगदान है, लगता हो कि वे मेरे साथ हमेशा के लिए जुड़ गये हैं।

ऐसी स्थिति दो ही संदर्भों में पैदा होती है—1. वह शिष्य सबका शिष्य होकर भी शोध-कार्य की प्रक्रिया मे मुझसे जुड़ गया हो, 2. उसमें रचनात्मक प्रतिभा हो और अपने सर्जनात्मक लेखन के सदर्भ मे मुझसे जुड़ गया हो। बाकी तो बस दुआ-सलाम के लिए होते हैं। दिल्ली महानगर मे एक तो दूरियां इतनी हैं कि क्लास के बाहर कोई किसी

से मिल नहीं पाता, दूसरे हिन्दी विभाग में लड़कियां ही ज्यादा होती हैं। पढ़ाई के बाद पता नहीं कौन कहां चली जाती है। तीसरे दिल्ली का आधुनिक निर्लिप्त स्वभाव जो लोगों को जुड़ने नहीं देता। इसलिए मैं कक्षा में पढ़ने वाले सामान्य शिष्यों की बात नहीं कर रहा, विशेष शिष्यों की ही बात कर रहा हूं।

पी० जी० डी० ए० वी० कालेज में रचनात्मक लेखन के माध्यम से प्रतापसिंह को पाया था जो अब जनसत्ता में हैं और वर्षों तक भेंट न हो पाने के बावजूद वे मेरे शिष्य हैं। जब मैं एम० ए० कक्षाएं लेने लगा तो कुछ रचनात्मक प्रतिभाओं की विशेष पहचान से गुजरा। सुरेश ऋतुपर्ण, हरीश नवल, दिविक रमेश, प्रताप सहगल, सुखबीर सिंह, किरणचन्द्र शर्मा, सुरेश ढींगरा, प्रेम जनमेजय आदि अनेक छात्रों की मैंने उनके सर्जनात्मक लेखन के कारण विशेष पहचान की और वे भी अपने इसी स्वभाव के कारण मुझसे विशेष रूप से जुड़े। इन सबके सम्मान और प्यार की उष्मा मुझे प्राप्त है। प्रताप सहगल और सुखबीर सिंह को इसलिए रेखांकित करना चाहूंगा कि वे लगातार लिख रहे है, लगातार इनसे गहरा व्यक्तिगत और साहित्यिक साहचर्य बना हुआ है और ये मेरे सुख-दुःख में मुझसे जुड़े हैं।

मेरे निर्देशन से अनेक छात्रों ने एम० ए०, एम० फिल० और पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध लिखे। मुझे याद नही कि इस प्रक्रिया में कभी कोई अशोभन घटना घटी हो, अतः सभी शोध छात्रों का आदर-सद्भाव मुझे प्राप्त होता रहा। मिलने पर सभी का सद्भाव झलक आता है। यानी यह व्यक्त होता है कि दिल्ली में मिलना नहीं हो पाता अन्यथा उनके भाव में कोई अन्तर नहीं आया है। एक शोध छात्रा ऐसी भी याद आ रही है जो शोध-कार्य करते समय बहुत आदरभाव समर्पित करती थी, किन्तु नौकरी लगने के बाद कभी दिखाई नहीं पड़ी। यहां तक कि उसने अपनी शादी में भी नहीं बुलाया। पता नहीं ऐसा क्यों हुआ? यह जैसे भी हुआ हो लेकिन किसी दुर्भाव के तहत नही हुआ होगा। लेकिन यह अपवाद ही है। अपने आत्मीय शोध छात्रों में जो नाम याद रहे हैं वे हैं—इब्राहीम शरीफ, मंजु सिनहा, वीणा बंसल, आदर्श खेतरपाल, देवदत्त, वीणा अग्रवाल, कमलकुमार, ज्ञानचंद गुप्त, नीलम ऋषि, अरुणा गुप्ता, गोविन्द व्यास, रत्ना व्यास, कंचन मेहता सुषमा, वीरेन्द्रकुमार, शारदा वर्मा, विनय नंदा, रवीन्द्र त्रिपाठी, श्रीप्रकाश, मुकुल शर्मा, प्रेमकुमार, निर्मल बख्शी, हरजेन्द्र चौधरी, राजकुमारी पाण्डेय।

मैं अपने कुछ उन छात्रों का विशेष उल्लेख करना चाहूंगा, जिनसे मेरे ज्यादा ही घरेलू सम्बन्ध बने।

मंजु सावित्री जी की पुत्री हैं और संभवतः पी-एच० डी० की मेरी पहली छात्रा रहीं। मंजु अपनी मां की तरह ही सादगी और प्रीतिकर स्वभाव की प्रतिमूर्ति हैं। इनमें अच्छी रचनात्मक क्षमता थी। काश, उसका विकास हुआ होता।

मैं डी० ए० वी० कालेज से 1969 में सांध्य संस्थान में आया था। जाहिर था कि सांध्य संस्थान में तब प्रायः वे ही लोग पढ़ने आते थे जो कहीं सेवारत होते थे। वे एक तो अपेक्षाकृत प्रौढ़ होते थे दूसरे दिन-भर के कार्य की थकान से लदे होते थे। इसीलिए

उनमें से कुछ अपनी प्रौढ़ता के प्रदर्शन के लिए कभी-कभी मूर्खतापूर्ण ढंग से शिक्षक से उलझ जाते थे और काफी छात्र थके-थके दीखते थे। लगता था कि व्याख्यान में ध्यानस्थ होने के स्थान पर जंभाई ले रहे हैं किन्तु उत्तरार्ध की कक्षा में एक स्थूल से छात्र पर मेरी निगाह प्रायः टिक जाती थी। वह आंख मूदकर मेरा व्याख्यान सुनता था। भ्रम हो सकता था कि यह सो रहा है किन्तु वह सो नही रहा होता था बल्कि ध्यानस्थ होकर मेरी बात सुनता था। इसका प्रमाण यह था कि वह मेरे व्याख्यान के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर सिर हिलाता था और मौन भाव से अपनी सहमति और प्रसन्नता व्यक्त करता था। मैं भीतर-भीतर इस छात्र से एक मौन प्रीतिकर भाव जोड बैठा था। एक दिन उससे पूछा—"आपका नाम क्या है ?"

"ज्ञानचंद गुप्त।"

"क्या करते है ?"

"दिल्ली विश्वविद्यालय मे कर्मचारी हूं।"

"अच्छी बात है।"

इसके बाद एक दिन उन्हें ज्ञात हुआ कि साध्य संस्थान के बाबू लोग मेरा एक काम अटकाये हुए है। उन्होंने मुझसे कहा—"चलिए मेरे साथ।"

उनके साथ आफिस मे गया और ज्ञानचद ने बात की बात मे वह काम करा दिया। इसके बाद तो जब भी मेरा कोई काम विश्वविद्यालय के किसी आफिस में अटकता तो ज्ञानचद गुप्त हाजिर हो जाते और प्यार से या लड़-झगडकर वह काम करवा लाते। वे धीरे-धीरे मेरे परिवार से भी जुडने लगे थे। लेकिन इन सबके बावजूद अभी वह समीपता नही आयी थी जिसके लिए मै इन्हें याद कर रहा हूं।

वे एम० ए० कर चुके थे। एक दिन मिल गये तो पूछा, "क्या कर रहे हो ?"

"पी-एच०डी०करना चाहता हूं मेरठ से। डा०भोलानाथ तिवारी ने भाषा विज्ञान का एक विषय दिया है, वह मुझसे चल ही नही रहा है। आप कुछ सहायता कीजिये।"

मैने कहा—"भाई, भाषा-विज्ञान मे मेरी भी गति नही है। हा, तुम साहित्य का कोई विषय क्यो नही लेते ? उसमे मै तुम्हारी भरपूर मदद कर सकता हूं।"

वे प्रसन्न हो आये। मैंने ग्रामचेतना के उपन्यासों पर काम करने को कहा। खुर्जा में प्राध्यापक अपने मित्र डा० सुधेश को गाइड बनाने के लिए कहा और यह सारी व्यवस्था हो गयी। ज्ञानचंद को मनपसद विषय मिल गया था और अनौपचारिक रूप से मै निर्देशन कर रहा था। उनका काम चल निकला। वे जल्द से जल्द यह काम पूरा कर लेना चाहते थे। मैंने ज्ञानचंद का परिश्रम देखा। दिन-भर आफिस में होते थे, फिर मेरे यहां आते थे, विषय पर विचार-विनिमय करते थे, घर जाकर लिखते थे, फिर सवेरे मेरे यहा आ जाते थे और वहा से आफिस पहुंच जाते थे। उनके चेहरे पर न कोई थकान दिखाई पड़ती थी, न खिन्नता। उनके पास साइकिल थी। उसी से घोंडा से माडल टाउन और दिल्ली यूनिवर्सिटी तक की यात्रा धुनते रहते थे। उन्हें हार मानते तो कभी देखा नहीं। कठिन से कठिन काम के सामने खड़े होकर घबराते नही थे, यही कहते थे, "हो जायेगा डाक्टर साहब।" वे मेरे यहां सुबह सात-आठ बजे पहुंच जाते तो

कुछ खाने-पीने का आग्रह करने पर कहते, "मैं तो खा-पीकर ही निकला हूं।" दोपहर को खाने के वक्त खाने का आग्रह करने पर भी यही कहते, "खा-पीकर निकला हूं।"

'अरे भाई, तुम छः बजे सुबह के निकले हुए हो, कब खाना खा लिया ?"

"छः बजे ही खा लिया था।" आखिर वे खाते और जितना खाना होता है उतना ही खाते लेकिन न भी खाते तो उन्हे कोई फर्क नही पडता क्योंकि छः बजे सुबह ही वे खा-पीकर निकले होते थे।

उनका शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हो रहा था और मैं उसमे सहयोग दे रहा था किन्तु वे अन्तिम दिनो मे भूत की तरह काम मे लग गये थे और बिना छुट्टी लिए उसे पूरा कर ही दिया समय मे उन्हे पी-एच० डी० की उपाधि भी मिल गयी और कुछ दिनो बाद वे आफिस से निकलकर रामजस कालेज में आ गये।

ज्ञानचद बहुत जुझारू व्यक्तित्व वाले व्यक्ति है, सामान्य व्यवहार से लेकर का [illegible] की गतिविधियो तक सबमे उनका जुझारूपन दिखाई पडता है। वे अघोषित प्रगतिशील व्यक्ति है जो जाति और धर्म की गलाजत के खिलाफ सही बात के लिए लडते हुए दिखाई पडते है। इस प्रक्रिया मे वे बहुत उदग्र भी हो उठते है। वे किसी से भी टकरा सकते है किन्तु मेरे सामने आज भी विनयावनत रहते है। मैं डाटू तब भी उनका साहस नही है कि वे कुछ उग्र बोल सके। उनकी जैसी गुरु-श्रद्धा आज सामान्य नही रह गयी है वह भी महानगरो मे।

देवदत्त ने मेरे निर्देशन मे 'आचलिक उपन्यासो मे व्यक्तिवाद और प्रगतिवाद' पर काम किया। उसमे देहात की सादगी, निश्छलता और कर्मठता भरी हुई थी। वह भी मेरे सुख-दुःख का सहचर बन गया था। पी-एच० डी० कर लेने के बाद नौकरी के लिये बहुत भटका लेकिन कही कुछ दिखाई नही पड रहा था। अन्त मे हरियाणा सरकार ने उन्हे प्राध्यापक नियुक्त कर लिया। अब देवदत्त से कम भेट होती है किन्तु इससे मन की उष्मा म कोई अतर नही आया है।

प्रेमकुमार ने अलीगढ के धर्म समाज कालेज से एम० ए० किया। मैंने उनकी एम० ए० की मौखिकी ली थी। मौखिकी तो मैने लगभग सौ छात्रो की ली थी किन्तु दो छात्रो को न जाने मुझमे क्या दिखा कि वे मुझसे जुडने को उत्सुक हो उठे। प्रेमकुमार मेरे पास आये और याद दिलाया कि मैंने उनकी मौखिकी ली थी।

"तो ?"

"मैं आपके निर्देशन मे दिल्ली विश्वविद्यालय मे शोध करना चाहता हू।" अपने प्रति उनका यह अहेतुक लगाव देखकर स्वीकृति दे दी। समय पर उनका विषय स्वीकृत हो गया। वे अपने विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए अलीगढ से दिल्ली आते रहे और गहरे और गहरे जुडते चले गये।

उनका शोध-कार्य पूरा हो गया और कालातर मे गहरे सघर्ष के बाद धर्म समाज कालेज, अलीगढ़ मे नौकरी भी लग गयी। प्रेमकुमार मेरे आत्मीय शिष्य है, मेरे लिये सतोष का विषय इतना ही नही है, वे अच्छे आदमी भी हैं, छल-कपट से दूर, सच्चे इसान—जो सीधा होकर भी इंसानी हकों की लड़ाई लड़ता है। उनमे एक तेजी है

जिसके तहत वे अन्याय के खिलाफ उग्र हो उठते हैं। मेरे सतोष की बात यह भी है कि प्रेमकुमार में आलोचना और सर्जना की अच्छी प्रतिभा है। पी-एच० डी० करने के बाद वे बैठ नही गये है बल्कि कहानिया लिखते हैं, आलोचनायें लिखते हैं और अन्य साहित्यिक गतिविधियो मे जुडे रहते हैं।

उनके साथी हरिमोहन मेरे शिष्य न होकर भी शिष्यवत बने हुए है। वे अच्छे कवि-आलोचक है और साहित्य के माध्यम से मेरे समीप आते गये।

वीरेन्द्रकुमार ने मेरे निर्देशन मे एम० फिल० भी किया और पी-एच० डी० भी। मादीपुर गाव से आने वाले वीरेन्द्र मे गाव की सरलता, जीवट और बडो के प्रति आदर-भाव है। सामान्य परिवार से आने वाला यह छात्र बहुत परिश्रमी है। पी-एच० डी० कर लेने के बाद भी प्रथम श्रेणी का यह छात्र बहुत दिन तक नौकरी के लिए भटका। असफलताओ का बोझ लादे वीरेन्द्र जब भी मिलता बहुत उत्साह से मिलता और उसकी यह सहज आनदप्रद इच्छा थी कि वह मेरे लिखे हुए की प्रतिलिपि करे। मेरे मना करने पर भी वह यह काम करता रहा और इधर की दो-तीन पुस्तको की पाडुलिपि की साफ प्रतिलिपि उसी ने की। काफी प्रतीक्षा और सघर्ष के बाद राजधानी कालेज मे उसकी नियुक्ति हुई तो हम सबने एक निश्चितता की सास ली।

वीणा अग्रवाल वैसे तो एम०फिल० मे मेरी छात्रा रह चुकी थी, किन्तु पी-एच० डी० मे जब मेरे निर्देशन मे काम करने लगी तो वे और बृजपाल जी निरतर मेरे निकट होते गये। बृजपाल जी एक कम्पनी मे अच्छे पद पर है किन्तु पति-पत्नी दोनो मे अद्भुत विनयशीलता है। दोनो ही किसी का (विशेषतया गुरुओ का) काम करके प्रसन्न होते हैं। वीणा बहुत परिश्रमी, समझदार और जीवट वाली महिला है। वे जिस काम को ठान लेगी करके ही रहेगी। मैं जानता हू कि कैसे उन्होने भयकर सिरदर्द के बीच पी-एच० डी० का शोध-कार्य सम्पन्न किया और साथ ही घर-परिवार के तो काम निबटाती ही रही। बृजपाल जी हमेशा उनके साथ आते थे और साहित्यिक चर्चाओ मे रस-मग्न होकर बैठे रहते थे।

इब्राहीम शरीफ ने मेरे निर्देशन मे एम०ए० का लघु शोध-प्रबध लिखा और शुरू से ही वे हमारे परिवार के साथ जुड गये। इस प्रतिभाशाली और नेक-दिल छात्र मे रचनात्मक प्रतिभा और मस्ती थी। शोध का काम नही किया तो नही किया और जोश आया तो कई अध्याय एक साथ लाकर डाल गये। उनकी रचनात्मक प्रतिभा कहानी के रूप मे फूटी और वे नयी पीढी के प्रमुख कथाकार बन गए। उनकी अकाल मौत ने मेरा एक आत्मीय ही नही छीना, साहित्य से उसका एक प्रमुख हस्ताक्षर भी छीन लिया।

डा० कमलकुमार ने जब मेरे निर्देशन मे पी-एच० डी० किया तब उनकी रुझान रचनात्मक साहित्य की ओर दिखायी नही पडी थी लेकिन बाद मे धीरे-धीरे वे कविता और कथा-लेखन के क्षेत्र मे बहुत तत्परता से प्रवृत्त हुई और मैं उनका विकास देखकर बहुत प्रसन्नता अनुभव करने लगा। कमलकुमार को भी मेरे साहित्यिक और पारिवारिक योग-क्षेम के साथ बहुत अपनापन अनुभव होता है।

हरजेन्द्र चौधरी ने मेरे निर्देशन मे पी-एच० डी० किया। हरजेन्द्र में सीधी समझ

है, सीधा व्यवहार है और हमारे प्रति सीधा आदर-भाव है। वे चर्चित तो नहीं हुए किन्तु सहज और सीधे-सच्चे अनुभवों के सीधे-सच्चे कवि हैं। आलोचना की पकड़ भी उनकी बहुत अच्छी है। उनके जुझारू ग्रामीण व्यक्तित्व में ऊर्जा और प्यार का अच्छा समन्वय है।

श्रीप्रकाश ने मेरे निर्देशन में एम० फिल० और पी-एच० डी० के शोध-प्रबंध लिखे। श्रीप्रकाश में पुस्तकें खरीदने और पढ़ने की गहरी रुचि थी। वास्तव में वे स्कालर के रूप में अध्यापन को क्षेत्र बनाना चाहते थे लेकिन गुरुओं की कृपा से इस क्षेत्र में नहीं जा पाये और अब एलाइड सर्विस में हैं।

मुकुल शर्मा ने भी मेरे निर्देशन में एम० फिल० का लघु शोध-प्रबंध लिखा और अब मेरे ही निर्देशन में पी-एच० डी० कर रहे हैं। वे प्रबुद्ध छात्र रहे हैं, कवितायें भी लिखते हैं। आवश्यकता से अधिक भावुक हैं। साहित्य और साहित्येतर दोनों क्षेत्रों में ज्यादा ही जिज्ञासु हैं, जिसका सामना मुझे करना पड़ता है। वे गुरु-शिष्य की मूल्यवान परंपरा को जीना चाहते हैं, इसलिए चाहते है कि अधिक से अधिक मेरे साथ रहें, घूमें और गोष्ठियों-सभाओं आदि में जायें।

और अंत म दक्षिण कोरिया से आये हुए हिन्दी छात्र उनगू ली का जिक्र करना चाहूंगा। ये हमारे एम० ए० के छात्र रहे हैं। अब आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० कर रहे है। ली मेरे परिवार के अंग से बन गये है। घर के सारे बच्चे उन्हें बहुत प्यार करते है और वे भी मेरे घर मे एक बच्चे की तरह ही लगते हैं।

75

दक्षिण परिसर पहले वेंकटेश्वर कालेज में शुरू हुआ था, फिर मुख्य परिसर में ही विलीन हो गया था। दो साल बाद फिर उसकी सत्ता अस्तित्व में आयी और साउथ एक्सटेंशन में किराये के मकान में कक्षायें चलने लगी। कुछ दूर पर एक मकान मे आफिस चल रहा था और एक अलग मकान में पुस्तकालय था। इस प्रकार अलग-अलग मकानों में चलने वाले दक्षिण परिसर में परिसर का कोई माहौल तो नहीं था, मुख्य परिसर की गहमागहमी यहां कैसे हो सकती थी किन्तु लगता था कि जो छात्र आते थे, वे पढ़ने आते थे और कोई आकर्षण तो यहां था नही। मुख्य परिसर के समान न यहां घूमने-फिरने की खुली और खुशनुमा जगहें थीं, न प्रेमालाप के लिए प्रकृति की एकांत गोद थी, न इसके चारों ओर बिखरे हुए कालेज थे। फिर यहां कोई क्यों आएगा पढ़ने के सिवा। इसलिए यहां के छात्र अपेक्षाकृत कक्षा में ही होते थे। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग कक्षा में होकर भी कक्षा में न रहें।

कक्षायें मैं मुख्य परिसर में भी लेता था, अत: दोनों परिसरों की कक्षाओं के माहौल का अन्तर अच्छी तरह अनुभव कर रहा था। मुख्य परिसर में सप्ताह में केवल

एक दिन क्लास लेता था, यहां तीन दिन। क्योंकि मैं दक्षिण परिसर में ही नियुक्त हुआ था। मुख्य परिसर में कक्षायें बड़ी-बड़ी होती थीं और उन छात्रों से सम्पर्क का कोई अन्य साधन नहीं था। अतः लगता था कि मैं एक बड़ी कक्षा की अजनबी भीड़ में अपना भाषण फेंककर चला आ रहा हूं। ऐसा नहीं है कि मैं वहां बेमन से पढ़ाता था। मुख्य परिसर और दक्षिण परिसर की कक्षायें मैं समान रुचि से लेता था किन्तु लगता था कि मेरे भाषण अलग-अलग ढंग से ग्रहण किये जा रहे हैं। दक्षिण परिसर की पूरी कक्षा जैसे मेरी आंख में होती थी और मैं पूरी कक्षा की आंख में होता था और मेरा भाषण आंखों का संवाद बन जाता था। यह बात मैं केवल अपने लिए ही नहीं कह रहा हूं, मेरे अन्य सहकर्मियों का भी अपने बारे में यही अनुभव था। दक्षिण परिसर की कक्षायें अपने छोटे आकार, बाहरी आकर्षण के अभाव तथा शिक्षकों के प्रति अपनेपन के कारण भीड़ नहीं होती थीं बल्कि परिवार-सी लगती थीं। छात्र-छात्रायें हमारे प्रेम के अनुशासन में दीखते थे, इसलिए यहां की कक्षाओं में पढ़ाकर निकलने पर यह नहीं लगता था कि मैं भीड़ में भाषण फेंककर आ रहा हूं बल्कि लगता था कि अपनों के बीच अपना अनुभव और ज्ञान पूरी आत्मीयता से उतारकर आ रहा हूं।

दक्षिण परिसर के हिन्दी विभाग में हम चार व्यक्ति थे—डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० निर्मला जैन, डा० महेन्द्रकुमार और मैं।

हम लोगों के बीच अच्छा सामंजस्य था। हम एक-दूसरे की बात सुनते-समझते थे और परस्पर सहयोग करते थे। मेरी तो वैसे भी लोगों से टकराते चलने की आदत नहीं है और कैरियर के प्रति महत्त्वाकांक्षी न होने के कारण अपनी ओर से मैंने कभी कोई टकराहट नहीं पैदा की। विभागीय मित्रों के साथ हो लेता रहा हूं इसलिए डा० स्नातक, डा० निर्मला जैन, डा० महेन्द्रकुमार सभी मेरे प्रति प्रीतिकर भाव रखते थे।

मैं हिन्दी-साहित्य-सभा का परामर्शदाता बना दिया गया था अतः छात्रों के साथ जुड़ने का एक और माध्यम मिल गया था। हिन्दी-साहित्य-सभा की सभायें और गोष्ठियां होती रहती थीं। इस बहाने मैं कक्षा की रचनात्मक प्रतिभाओं के अधिक निकट सम्पर्क में आ जाता था। इन अनेक वर्षों में सभा के अनेक अध्यक्ष और सचिव बने और उन्होंने मेरे परामर्श से अनेक आयोजन किये। उनमें से कुछ तो मेरी स्मृतियों में बचे रह गये और उनसे अभी भी सम्पर्क है। बाकी तो एम० ए० करने आये थे। उन्हें साहित्य से कोई गहरा सरोकार नहीं था। एम० ए० किया और अपने धंधे में लग गये। जो छात्र मुझे याद रह गये वे हैं वेद प्रकाश दूबे और वसंत पांडेय। वेद प्रकाश बैंक अधिकारी हैं और अब बैंक सम्बन्धी लेखन करते हैं। वसंत पांडेय पींग में सम्पादकीय विभाग में हैं और अच्छी कवितायें लिखते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक छात्र मेरे निकट सम्पर्क में आये और वे मेरी स्मृतियों में बसे हैं। कभी-कभी भेंट भी हो जाती है।

कक्षा में और कक्षा के बाहर ये छात्र निरंतर अपनी जागरूकता और आत्मीय भाव से मुझे भरते रहे हैं। सबके नाम तो याद नहीं हैं हां, चेहरे जरूर मेरी स्मृतियों में उभर रहे हैं। जिनके नाम याद हैं और जो किसी न किसी रूप में अपनी छोटी-बड़ी पहचान बना सके हैं और बना रहे हैं, वे हैं अचला शर्मा, चंचल चौहान, सुषमा भटनागर

(ये पहले बैच के छात्र रहे), गीता शर्मा, अर्चना विद्यालंकार, नीराजना गौतम, श्याम सुशील, अनामिका त्रिपाठी, अमित जोशी। गीता शर्मा ने तो मेरे निर्देशन में पी-एच० डी० का शोध-प्रबंध भी लिखा।

कक्षा मे पाठ्यक्रम सम्बन्धी व्याख्यान तो चलते ही थे, कभी-कभी कुछ प्रबुद्ध छात्र विषयांतर कर साहित्य-चर्चा के लिए आग्रह कर बैठते थे। मुझे यह व्यतिक्रम अच्छा लगता था। वास्तव मे कभी-कभी यह होना भी चाहिए कि पाठ्यक्रम की बधी-बधाई लीक से हटकर छात्र साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे परिचित होने के लिए शिक्षक से संवाद की स्थिति बनाये। मै यह व्यतिक्रम चाहते हुए भी अपनी ओर से पहल इसलिए नही करता था कि सामान्य छात्र यह सोचने लगेगा कि ये विषयांतर करते है और उसका समय खराब करते है क्योंकि वह तो पाठ्यपुस्तकों की बधी लीक पर सीधा चलकर परीक्षा के लक्ष्य तक पहुचना चाहता है और विषयांतर को समय खराब करना मान बैठता है किन्तु दक्षिण परिसर मे कई वर्ष ऐसे छात्र आये जो कक्षा मे कभी-कभी लीक से हटकर चलने वाली चर्चा मे रस लेना चाहते थे। और जब उनकी ओर से पहल होती थी तब मुझे संकोच करने का कोई कारण नही होता था। मैं स्वयं भी लीक पर चलते-चलते ऊब जाता था। मुझे याद है कि जिस वर्ष गीता शर्मा, अर्चना विद्यालंकार आदि छात्राये थी उस वर्ष की वैकल्पिक विषय की कक्षा अधिक अनौपचारिक हो गयी थी। कभी-कभी तो गीता और अर्चना विकल्प की कक्षा मे कोई कविता सुनाने का आग्रह कर बैठती थी और कविता मे आये नये शब्दो को वे जानना चाहती थी और इस तरह कविता के बहाने साहित्य के अनेक बिन्दुओं को हम छू जाते थे। श्याम सुशील अच्छे कवि है, तब भी कवितायें लिखते थे।

हिन्दी-साहित्य-सभा के तत्त्वावधान मे उस मकाननुमा परिसर मे न जाने कितने महत्त्वपूर्ण लोगो के व्याख्यान हुए कविता-पाठ हुए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और न जाने कितने नये-पुराने लोग आये और अपने व्याख्यान और कविता-पाठ से छात्रों को प्रेरित किया। बाद मे जब बेनितो हुरेज मार्ग पर दक्षिण परिसर का अपना भवन बन गया तो साहित्यिक कार्यक्रमो के लिए अधिक उपयुक्त स्थान मिला और साहित्यकारो के आने का क्रम बना रहा बल्कि तीव्र हुआ। रामविलास शर्मा, शिवमंगलसिंह सुमन, नामवरसिंह आदि साहित्यकार भी आये।

यद्यपि मैं हिन्दी-साहित्य-सभा का परामर्शदाता था किन्तु इसके कार्यक्रमो का निश्चय मैं छात्रों के साथ-साथ अपने वरिष्ठ सहयोगियो डा० विजयेन्द्र स्नातक और डा० निर्मला जैन से परामर्श लेकर करता था। डा० महेन्द्रकुमार को इन साहित्यिक कार्यक्रमों से कोई सरोकार नही था। निर्मला जी मुझे परामर्श के साथ व्यावहारिक सहयोग भी देती थी बल्कि यो कहिये कि उनके सहयोग के बिना साहित्य सभा के कार्यक्रमों की सफलता ही संभव नही थी।

डा० निर्मला जैन ने साउथ एक्सटेंशन वाले परिसर से लेकर वर्तमान परिसर में अनेक महत्त्वपूर्ण सेमिनार आयोजित किये। इनमें भाग लेने के लिए देश-विदेश के अनेक

महत्त्वपूर्ण साहित्यकार और प्राध्यापक आये। कई-कई दिन तक चलने वाले इन सेमिनारों में निर्मला जी के अथक परिश्रम और सूझ-बूझ के कारण बहस, व्यवस्था और उपस्थिति की लय बनी हुई होती थी। उन्हें उनके सहयोगियों और शिष्यों का भरपूर सहयोग मिलता रहा।

दक्षिण परिसर का अपना भवन हो यह हम लोगों के लिए कितनी सुखद कल्पना थी। न जाने कितने दिनों से सुन रहे थे कि उसके लिए जमीन मिलने वाली है लेकिन कही कुछ नही। आखिर आबाद साहब ने जमीन पाने मे सफलता पा ली। हम लोग जगह देखने के लिए ले जाये गये। पहाड़ी जमीन—ऊबड-खाबड़। लेकिन इसे लेकर कितनी सुंदर कल्पना मन में उपजने लगी थी—चारो ओर प्रशस्त पहाड़ी वातावरण, ऊंची-नीची सडकें, पेड-पौधे, विषम धरातलों पर उठे हुए भिन्न-भिन्न भवन। कितना अच्छा लगेगा परिसर। भवन बनना शुरू हो गया था। फिलहाल एक ही भवन यानी कला संकाय बन रहा था। उम्मीद थी कि अगले सत्र के आरंभ में हम नये भवन में चले जायेंगे। किंतु नये सत्र मे नहीं जा सके। ज्ञात हुआ कि दशहरे की छुट्टियों के बाद जाना संभव हो पायेगा। दशहरे की छुट्टियों से पहले ही आफिस और लाइब्रेरी के सामान वहां जाने शुरू हो गये थे। बडा उल्लास था कि दशहरे की छुट्टियो के बाद हम नये भवन में जायेंगे और उस खुले वातावरण में जाने और अध्यापन करने का नया सुख पायेंगे। दशहरे की छुट्टियों में मैं गाव गया। बहुत दिनो बाद दशहरे मे गांव जाने का अवसर मिला था, अतः मन एक नयी पुलक से भरा हुआ था। इच्छा थी—फिर गांव की रामलीला देखूगा और बचपन की स्मृतियां ताजा कर लूगा।

गोरखपुर से मझले भाई साहब के साथ गाव की ओर चला। उन दिनो बाढ आयी हुई थी। बाढ तो हर साल इस इलाके मे आती है, किंतु दशहरे मे पहले वह कब की लौट चुकी होती है और दशहरे के समय धरती धुली हुई प्रसन्न दीखती है। वह अपनी फसलों के लुट जाने का दर्द भूलकर नयी फसल के लिए तैयार होने की प्रसन्नता प्राप्त कर लेती है और लोग भी रामलीला की चहल-पहल से गुजरते हुए, गाते-बजाते हुए अतीत को भूलकर भविष्य के सपने देखने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। दशहरे के मेले में महिलाओं की रंग-बिरंगी साडियां उतरा जाती हैं, बच्चे भी रंग-बिरंगे कपड़ों में घर से मेले तक फैल जाते हैं और मिठाई खरीदकर मिट्टी का धुधुका बजाते हुए घर लौटते है। वह शाम उनके धुधुकों के स्वरों से भर जाती है।

लेकिन इस बार बाढ़ देर से आयी और चूंकि इस बार गांव जाने का मेरा कार्यक्रम बन गया था, अतः बाढ़ की आंशिक उपस्थिति के बावजूद गाव जा रहा था। हां, आंशिक उपस्थिति इसलिए कि वह आकर हट रही थी। मटियरा घाट पहुचा तो देखा गोर्रा नदी उफनायी हुई है। यद्यपि वह अपने को समेटने की प्रक्रिया में है किंतु अभी भी दूर-दूर तक फैली हुई है। नाव से नदी पार की किंतु अभी नदी पार कहां हुई? नदी के बाद भी हम पानी के विस्तार में थे, अतः नाव नदी के बाद भी चली जा रही थी। नदी के पास का गांव टापू बना हुआ था और पास के जल में गांव के लोग नहा रहे थे। नाव चली जा रही थी और कुछ दूर स्थित बांध के पास रुकी। इसके

पास सूखी जमीन थी। पैदल चलने के बाद बिशुनपुरा के पहले पानी का विस्तार मिला। किंतु यह गहरा नहीं था, हलकर जाया जा सकता था, लोग हलकर ही जा रहे थे। बहुत दिनों बाद पानी में लहलहाते धान के खेत देखने को मिल रहे थे। हरे-भरे धानों के खेत बालियों से लदे थे। कभी-कभी पुरवा के झोंके लहरा जाते थे तो पूरा खेत उनकी लय पर धीरे-धीरे नाच उठता था। उनकी हरीतिमा आंखों को सुख दे रही थी। उनमें से फूटती हुई कच्ची गंध घ्राण और प्राण में समा रही थी।

बाढ़ के पानी में एक हल्की उष्मा रहती है। बहुत दिनों बाद पानी की इस उष्म छुवन का अनुभव कर रहा था। धीरे-धीरे पग बढाते हुए गहराई के अनुसार धोती ऊपर-नीचे करते हुए चले जा रहे थे और हमारे तथा अन्य राहियो के पगों की गति से पानी मे आवाज की जो हिलकोरें उठ रही थी उनमे दूर-दूर तक का वातावरण बज रहा था।

बिशुनपुरा गाव मे पैठते ही क्वार की गंध बहुआयामी हो उठी। बात यह है कि बाढ तो आयी थी किंतु केवल नालो और उनके आसपास के नीचे खेतों में फैल गयी थी। ऊंचे के खेतो मे फसल बची रह गयी थी। जबसे राप्ती का बाध बंधा है बाढ़ का प्रकोप इधर कम हो गया है। अत: गांव में पैठते ही एक बडे से दरवाजे पर कोदों का डांठ दिखाई पडा जिस पर बैल चल रहे थे। कोदों के डाठ से एक अलग तरह की गंध उठ रही थी। मक्के की बालिया इस-उस दरवाजे पर रस्सियो पर टंगी हुई सूख रही थी उनकी अपनी गध थी और सबको मिलाकर बनती हुई गांव की अपनी गंध थी। इस गध से होता हुआ मैं अपने गाव पहुचा और यह गंध वहा और भी घनीभूत हो गयी क्योंकि मौसम की इस गध के साथ अपनी जन्मभूमि की गध भी मिल गयी थी और इसमें बचपन की स्मृतिया भी समा रही थी।

लेकिन इसके बावजूद क्वार की वह गध कहा थी जिसके लिए मैं गया था। बरसाती मौसम के दबाव के कारण क्वार का अपनापन आहत था। न यह क्वार था, न सावन-भादो। बरसात में पुरवा बहती है तो उसकी छुवन से पत्थर भी रोमाचित हो उठता है और जब गुमसुम होती है तो लगता है सांस का आना-जाना ही बंद हो गया है। क्वार आते ही बरसात का यह खेल बंद हो जाता है, दिशाएं खुल जाती है, हवा भी समभाव से बहने लगती है और दिन की चिनचिनाती धूप के बावजूद रातों में एक सुखद आर्द्रता धीरे-धीरे झरने लगती है। लेकिन इस बार तो क्वार एकदम बद था। हवा गुमसुम थी। ऐसे मौसम को भी मैंने गाव में सहज भाव से जिया है। कमरों के अन्दर सोया हूं। न कभी मच्छर की शिकायत रही, न उमस की। याद नही कभी इससे शिकायत की हो किंतु नगर की सुविधाए भोगने के बाद तो ऐसा मौसम नही सहा जाता। अत: मुझे लग रहा था सांस बद हो जायेगी। गांव के तमाम लोग सहज भाव से इस बंद मौसम में काम कर रहे थे, सो रहे थे, जाग रहे थे, गा रहे थे, बजा रहे थे किंतु मुझे लग रहा था कि मैं प्रत्येक पल छाती पर इस बंद मौसम के लदाव का ही अनुभव कर रहा हूं, उसी के बारे में सोच रहा हूं और गिन रहा हूं कि कब ये दिन बीतें कि मैं यहां से भागूं।

रात को छत पर सोता था। जानता हूं कि क्वार की रात में खुले में नहीं सोना चाहिए किंतु इस गुमसुम मौसम मे नीचे बरामदे में सोना कठिन था। छत पर ही भतीजे लोग खाट मे डडे लगाकर उन पर चादर तान देते थे ताकि ऊपर से शीत न गिरे। मैं सोता था तो नीचे मकान की बगल मे पडी बद झोंपडी से भाई साहब के मस्ती मे भजन करने की आवाजें आती थी। भतीजे अपनी पत्नियों के साथ कमरो मे सोते थे और उन्हें मौसम से कोई शिकायत नही थी।

दशहरा, जिसके लिए आया था, अभी दूर था और इस बद मौसम मे ठहरना कठिन हो रहा था अत: तीन-चार दिन बाद ही गोरखपुर को लौट पडा। फिर वहा से दिल्ली आ गया और छुट्टिया बीतने-बीतते मैं बीमार पड गया। वाइरल फ्लू था। छुट्टियां खत्म हो गयी थीं। मै कल्पना कर रहा था कि नये भवन मे शिक्षण-कार्य प्रारभ हो गया होगा। कितना अच्छा लगता होगा नया परिवेश। उन्ही दिनो विश्व-हिन्दी-सम्मेलन का आयोजन हुआ था। मै अपने दुर्भाग्य पर पछता रहा था कि इस शहर मे देश-विदेश से कितने-कितने साहित्यकार, हिन्दी-सेवी और हिन्दी-समर्थक नेता लोग आये होगे और मैं यहा बिस्तर पर पडा हू। टी० वी० से कभी-कभी एक झलक देख लेता था। बहरहाल फ्लू की गहरी चपेट मे था। यो भी मुझसे बुखार बर्दाश्त नही होता। यह फ्लू तो कुछ ज्यादा ही भयावह होकर आया था। कभी-कभी सास अफनाने लगती थी। कई बार पत्नी डा० रावत को बुलाकर लायी। उन्होंने सुई दी तो चैन पडा। बुखार उतर गया था। लेकिन दो दिन बाद फिर डायरिया हो गया। गुजरात से कई लोग विश्व-हिन्दी-सम्मेलन मे आये थे। वे मुझसे मिलने आये। एक सज्जन मिठाई का डिब्बा भी लाये। मैने एक टुकडा चखा। अनुमान लगाया गया कि शायद उसी से फूड प्वाइजन हो गया। मरे को मारे शाहमदार। कमजोरी तो वैसे ही थी, इस भयानक खूनी पेचिश ने तो निचोड ही डाला। डाक्टर भी परेशान। उन्होने भरसक कोशिश की कि मुझे नर्सिंग होम न जाना पड़े। वे चाहते थे कि यथासभव मेरा पैसा खर्च न हो। आखिर एक शाम को उन्होने अपनी घबराहट न छिपाकर पत्नी से कह दिया कि कल सुबह इन्हे नर्सिंग होम मे दाखिल करा दीजिए। लेकिन सुबह होते-होते पेचिश का प्रकोप कम हो गया। डाक्टर आए तो प्रसन्न हुए और कहा—"नियत्रण मे आ गया है, अब नर्सिंग होम जाने की आवश्यकता नही।"

ताबड़तोड दो-दो बीमारियो ने मुझे तोड दिया था। ठीक होने मे महीना-भर लग गया लेकिन अभी ठीक-ठाक ताकत कहा आयी थी। फिर भी दक्षिण परिसर का नया भवन देखने का उल्लास था—एक दिन निकल गया। स्कूटर से डगमगाता हुआ उतरा और पूछता-पूछता विभागीय कक्ष मे दाखिल हुआ।

मुझे लोगो ने देखा और देखकर हैरान हुए कि मै इतना बीमार था। दरअसल बीमारी के बीच विभाग के किसी व्यक्ति से भेंट नही हुई थी। शायद किसी को पता भी नहीं रहा कि मैं इतना अधिक बीमार रहा। विभाग मे कई लोग बैठे थे। एक ने कहा—"अरे, हम लोगो को पता ही नही चला।"

"अच्छा है, बीमारी का विज्ञापन न हो तो।" मैंने कहा।

"वैसे मैंने औपचारिक रूप में ए० आर० को सूचित कर दिया था।"

खैर, जो हो इस परिसर में पहली बार आकर मैं बहुत अच्छा अनुभव कर रहा था। एक तो यो भी बीमारी के बाद पहली बार बाहर निकलना ताजगी दे जाता है, दूसरे यह निकलना दक्षिण परिसर मे था। खुले-खुले मे परिसर का भवन बहुत अच्छा और अपना लग रहा था। दोनो ओर फूल उगाये गये थे। चारो ओर ऊबड़-खाबड़ पथरीला विस्तार था जिसमें जगल-झाडिया फैली हुई थी। मुख्य द्वार से अदर घुसिये। धीरे-धीरे हलकी-हलकी ऊचाई-भरी सडक मे आगे बढिए, फिर अपना कला सकाय।

पहले दिन से इस भवन के प्रति जो आकर्षण मन मे समाया, वह लगातार गहरा ही होता गया। परिसर मे नित नये निर्माण होते गये और मेरे केंद्रीय आकर्षण मे नये-नये आयाम जुडते गये। कितना अपना लगता है यह परिसर। इस परिसर का प्राकृतिक परिवेश तो सुदर था ही, इसका सामाजिक परिवेश भी कम सुदर नही था। कह चुका हू कि इस परिसर मे एक पारिवारिक माहौल का अनुभव होता था। विभागों के बढने से और नये-नये भवन बनने चले जाने से यह समार बडा तो हो रहा था और अपनेपन का घनत्व भी कम हो रहा था फिर भी अभी बहुत कुछ बाकी था। अभी भी छात्रो और शिक्षको के बीच अपनेपन का तार जुडा था। शिक्षको के बीच भी परिचय की उष्मा थी और पुस्तकालय तथा आफिसो के अधिकारियो तथा कर्मचारियो के साथ भी हमारे निकट के सम्बन्ध थे। जो काम उत्तर परिसर के आफिसो के जगल मे महीनों भटकना रह सकता था, वह यहा बात की बात मे हो जाता था। इस परिसर के केन्द्रीय आकर्षण थे इसके निदेशक डा० आबाद अहमद। आबाद साहब बाहर से लेकर भीतर तक बहुत 'प्लेजेंट' व्यक्ति कहे जा सकते है—सौम्य, शात, मुसकान। वे बहुत सुलझे हुए दिमाग के सक्रिय निदेशक है। वे अपने सारे अध्यापको को नाम से जानते हैं। बैठकें बहुत सनुलित ढग से करते है, बहुत सलीके से सुसस्कृत रूप मे वे अपनी बात प्रस्तुत करते है और सबको सम्मान देते हुए उनकी बातें सुनते है। उसमे समस्या की सही पकड दिखाई पडती है और बिना किसी बडबोलेपन के उससे निबटने का प्रयत्न करते है, और निबटते हैं। मै लिख चुका हू कि मेरा स्वभाव रहा है कि मैं कालेज और विश्वविद्यालय के बडे अधिकारियो से नही मिलता और वे भला मुझसे क्यो मिलने लगे। अत: वे मुझे नही जानते। दक्षिण परिसर के पिछले दोनो निदेशको से जब किसी सभा में भेंट होती तो हर बार मैं उन्हें अपना परिचय देता और वे अच्छा-अच्छा कहकर रह जाते। इससे अधिक मुझे उनसे चाहिए भी क्या था? किंतु आबाद साहब व्यक्तिगत भेंट न होने के बावजूद मुझे जानते थे—नाम से जानते थे—अच्छी तरह जानते थे। अपने अवकाशप्राप्ति के दिन जब मैंने यह बात कही तो वे जोर से हंसे थे।

76

इण्टरव्यू मेरे लिए बहुत अप्रिय प्रसंग रहा है। किंतु इससे बचना भी कहां संभव था? दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बनने से पूर्व न जाने कहां-कहां प्राध्यापक रहा और

न जाने कितने सफल-असफल साक्षात्कारों से गुजरा। दिल्ली विश्वविद्यालय से भी सम्बन्धित कई साक्षात्कारों से गुजर चुका था। जब सांध्य संस्थान में प्राध्यापक हो गया तो सोचा ठीक है, अब यही ठीक है। लेकिन दो साल बाद दक्षिण परिसर खुला और रीडर की दो जगहें हुईं। फिर उद्वेग। आवेदन-पत्र दूं कि न दूं। दूं तो फिर वही नकारा। साक्षात्कार न दूं तो क्यों न दूं? लोग सोचेंगे कि यह अपने को योग्य ही नहीं समझता और आखिर इस क्षेत्र में रहना है तो रीडर बनने की कामना से मुक्ति भी कैसे मिल सकती है। आवेदन-पत्र दिया, असफल रहा। फिर जगह हुई, दिया, इस बार सफल हो ही गया।

फिर लगा कि ठीक है। दिल्ली विश्वविद्यालय का रीडर बन गया हूं, यह बहुत है, आगे चैन से रहूंगा किंतु दो ही साल बाद फिर उद्वेग। एक पद खाली हुआ। डा० उदयभानु सिंह जैसे विद्वान् और वरिष्ठ शिक्षक अभी तक रीडर बने हुए थे (रीडर भी वे कुछ ही साल पहले हुए थे)। उन्हें प्रोफेसर होना ही चाहिए। इस पद के लिए बाहर से बड़े-बड़े प्रतिस्पर्धी आये। वे आये तो आये, अपने पूरे विभाग के प्रायः सारे रीडरो ने आवेदन-पत्र दे दिया। हम कई लोग नहीं चाहते थे आवेदन-पत्र देना किंतु एक रीडर अड़े हुए थे कि वे तो देंगे ही। इसलिए मन मारकर हम लोगो ने भी आवेदन-पत्र दे दिया। इंटरव्यू के दिन भी मैंने और निर्मला जी ने चाहा कि हम लोग इंटरव्यू न दें और अपने अन्य साथियो से बात भी की किंतु वही सज्जन अड़े हुए थे—'मै तो इंटरव्यू दूंगा ही।" उनके नाते हम लोग भी मैदान नही छोड़ सके। हम जानते थे कि हमें नही आना चाहिए था और हम नही ही होंगे और डा० उदयभानु सिंह को होना ही चाहिए किंतु हम अभिशप्त हो गये थे बेमन से इंटरव्यू देने के लिए। नामवर जी भी उम्मीदवार थे। हम लोग देख रहे थे कि कहां है, दिखाई नही पड़ रहे थे। बाद मे ज्ञात हुआ कि वे कही और बैठे थे और वही से इंटरव्यू देने आये और निकल गये। खैर साहब, जैसे-तैसे इंटरव्यू हुआ। एक्सपर्ट के रूप मे महादेवी वर्मा भी थीं। डा० उदय भानुसिंह ले लिए गये। इस इंटरव्यू को लेकर न जाने कितने किस्से उड़े—किसने किसके खिलाफ किसको पटाया और क्या हुआ।

कुछ साल बाद प्रोफेसरशिप के दो पदों पर इंटरव्यू हुए। काफी उथल-पुथल थी इन पदों को लेकर। काफी सरगर्मियों के बाद प्रोफेसरशिप का इंटरव्यू हुआ। डा० निर्मला जैन और डा० ओम्प्रकाश लिए गये। इसके कुछ दिनों के बाद डा० नगेन्द्र की जगह खाली हुई। फिर सरगर्मी शुरू हुई। इस बार मेरा नाम हवा में उछल रहा था। मैं तो कभी भी अपने भाग्य के प्रति आश्वस्त नही हुआ, इसलिए उछल रहा है तो उछल रहा है यह मानने के सिवा क्या करता? कुलपति जी से स्वभावतः मेरा कोई भला-बुरा परिचय नही था। एक विश्वस्त स्रोत से ज्ञात हुआ कि वे मेरे बारे में कह रहे थे कि मैं कम्युनिस्ट हूं। मुझसे यह भी कहा गया कि मैं किसी मंत्री से कुलपति को कहलाऊं और इस धारणा की काट कराऊं।

मुझे यह अजीब लगा। ये सज्जन कांग्रेस की कृपा से कुलपति हुए थे और अपनी सारी कमजोरियों के बाद कांग्रेस की बैकिंग से पांच साल खे गये थे। उनकी कांग्रेस-

भक्ति तो समझ में आती है किंतु किसी को कम्युनिस्ट कहकर शैक्षिक उन्नति से वंचित करने का औचित्य क्या है ? क्या यह देश कांग्रेसियों का है ? क्या यह विश्वविद्यालय उनकी पैतृक सम्पत्ति है ? क्या कम्युनिस्ट पार्टी बैन पार्टी है ? क्या वह राष्ट्रीय पार्टी नहीं है ? यदि है तो क्या किसी कम्युनिस्ट को प्रोफेसर होने का अधिकार नहीं है ? फिर विश्वविद्यालय के सर्वोच्च पद पर बैठें हुए ये महानुभाव ऐसी बात क्यों कह रहे हैं ? क्या यह इसे अपनी या कांग्रेसियों की मिल्कियत समझ रहा है ?

और किसी का कम्युनिस्ट होना गाली है क्या ? वैसे मैं उस अर्थ में कम्युनिस्ट हूं भी नही जिस अर्थ मे पार्टी कार्डधारी लोग होते है। मैं इसी अर्थ में कम्युनिस्ट हूं कि मेरा विश्वास मार्क्सवादी दर्शन में रहा है। एक ओर कम्युनिस्ट पार्टी मे अनुशासित और एक खास मार्क्सवादी फ्रेम मे अपने लेखन को जडकर चलने वाले लेखक मुझे मार्क्सवादी नही मानते, दूसरी ओर प्रोफेसरशिप की राजनीति से प्रेरित होकर कुछ लोग गाली के तौर पर मुझे कम्युनिस्ट करार दे रहे हैं। तीसरी ओर मुझसे कहा जा रहा है कि मैं इस गाली का मंत्रियो द्वारा प्रतिवाद कराऊं। चूंकि कम्युनिज्म मेरे लिए गाली नही है और मैने अपने ऊपर उसका लेबल नही चिपकाया है और सिद्धान्ततः मैं एक कम्युनिस्ट को विश्वविद्यालय में तरक्की पाने का वैसा ही हकदार मानता हूं जैसा किसी अन्य पार्टी के व्यक्ति को। अत. मै कुलपति के सामने यह सफाई क्यों पेश करूं या कराऊं कि मैं कम्युनिस्ट नही हू। 'अपने लोग' उपन्यास निकला था तो किसी ने मुझे साम्प्रदायिक बना डालने की कोशिश की थी। उसे पता था कि कुछ साल बाद प्रोफेसरशिप का संघर्ष होने वाला है। इन्हें साम्प्रदायिकता की सनद दिला दो, हमारे काम आयेगी। उस बार भी काग्रेसी राज्य था, इस बार भी था। बहरहाल तमाम आरोपों-प्रत्यारोपो के बीच इंटरव्यू दिया। इंटरव्यू ठीक ही हुआ था और सुना था कि एक्सपर्ट लोग मेरे नाम से सहमत थे किंतु कुलपति जी को किसी कम्युनिस्ट को नही लेना था तो नही लेना था। तमाम बहाने बनाकर मेरे नाम से अपनी असहमति व्यक्त कर दी और दूसरे नामो पर विशेषज्ञो की सहमति नही हो सकी, अतः कोई नही लिया जा सका।

वैसे भी प्रोफेसरशिप मेरे लिए जीवन-मरण का प्रश्न नही था। प्रोफेसर होता हूं तो ठीक, नही होता तो क्या छिन जाएगा ? अपने को सार्थक करने के लिए मेरे पास काफी कुछ है। नही होने को तो दुनिया में बहुत-सी चीजें है। किस-किसके लिए आदमी रोये और उसने जो कुछ स्वयं अर्जित किया है उसके ही सुख में मस्त क्यों न रहे ? अनुपस्थित और दूसरों द्वारा प्रदान की जाने वाली चीजों के लिए उपस्थित और अपने द्वारा अर्जित चीजो के होने का सुख कम क्यो किया जाये ? इसलिए मैं बिल्कुल ठीक-ठाक था। चूंकि मेरे अवकाश ग्रहण का समय पास आ रहा था, अतः कभी भी प्रोफेसर न हो पाने की वास्तविकता को भी आत्मसात कर लिया था। उसके बारे में सुख-दुःख के साथ सोचता ही नही था। संयोग था कि प्रोन्नति योजना लागू हो गयी और हम कई लोग एक साथ 1984 में प्रोफेसर हो गये। यानी मैं अपने अवकाश ग्रहण से साल-भर पूर्व प्रोफेसर हो गया। चूंकि यह तिथि साल-भर पहले से लागू होती थी अतः '83 से ही हम प्रोफेसर मान लिए गए। तब जाकर निश्चित हुआ कि अब किसी इंटरव्यू में

नहीं आना पड़ेगा। 31 जनवरी, सन् 1985 में रिटायर हो गया। फिर पांच वर्ष पुनर्नियुक्ति योजना के अन्तर्गत सेवारत रहा। अंत में 31 जनवरी, 1990 को अवकाश ग्रहण किया।

77

सबसे पहली संतान हेमंत थे, उनके बाद अंजू (अंजलि) थी। जाहिर है मां-बाप को लड़की की शादी की चिन्ता पहले होती है अत: अंजू के एम० ए० होते ही हम लोग इस चिंता से सक्रिय भाव से जुड गए। कितने-कितने कैसे-कैसे अनुभव होते हैं लडकी के लिए वर ढूंढने में। कितना अपमान अनुभव होता है। अब तो शादी तय होने तक न जाने कितनी-कितनी दीवारें पार करनी होती है। पहले बाप की हैसियत या रुचि के अनुसार कहीं कोई वर पसंद कर लेते थे, लेन-देन तय होता था और शादी हो जाती थी। लडकी की शादी तो करनी ही है, यदि बाप की औकात बहुत कमजोर हुई तो भी किसी तरह और कही भी लडकी देनी ही होती थी। लडकी दे दी जाती थी, उसकी अपनी कोई इच्छा-अनिच्छा नही होती थी।

अब पहली पसंद लडकी की होती है। होनी ही चाहिए। उसे आई० ए० एस०, इंजीनियर, प्राध्यापक, डाक्टर आदि में से कौन-सा वर चाहिए। फिर बाप को देखना होता है कि किस वर की बोली कितनी है यानी कौन कितने में नीलाम हो रहा है। फिर लडके की पसंद आती है—लडकी कानवेंट मे पढी है कि नहीं? यानी वह फर्राटे-दार अंगरेजी मे प्यार कर सकती है कि नही? फर्राटेदार अंगरेजी मे प्यार का स्वाद ही और होता है। चटक लिपस्टिक में डूबे ओठों (मोटे हो या पतले, भद्दे हों या सुदर) को वक्र बना-बनाकर बोली जाती लपलपाती अंगरेजी में प्रेम का जो स्वाद होता है वह देशीय भाषाओं में कहां होता है? फिर साहब लोगों को अपने दोस्तों और पार्टियो में बीवियों की नुमाइश भी तो करनी होती है। यदि इस नुमाइश मे उनकी बीवी की अंग-रेजियत कुछ कमजोर पड गयी तो उनकी नाक ही कट जायेगी न। यानी बीवी भी उनके लिए सुन्दर कीमती विदेशी सामानों की तरह एक अदद सामान होती है जिसके साथ होने से पतिदेव का रुतबा बढ जाता है। इसलिए इधर पढ़े-लिखे समाज में कानवेंटी बीवियों की मांग बढ़ गयी है और लड़की के बाप से पहला सवाल होता है—"क्या लड़की की शिक्षा कानवेंट में हुई है?"

फिर लड़की के नाक-नक्श, रंग, लम्बाई-चौडाई का पूरा नक्शा मांगा जाता है जिसके आधार पर तय किया जाये कि लडकी को देखना है कि नहीं?

फिर लड़की के बाप के बाप, भाई, ताऊ, चाचा, मामा आदि की हैसियत की फेहरिस्त मांगी जाती है।

फिर लेन-देन तय होता है। यानी कानवेंट से बात शुरू करने वाले आधुनिक

लोग परम्परा की भी कोई ऐसी गलाजत छोड़ना नहीं चाहते जो उनके हित में हो। लड़की के बाप को चारों ओर से बांधकर आधुनिक लड़के वाले शादी करते हैं लेकिन माग का सिलसिला बना रहता है। कानवेंटी लड़की तेज हुई और वर महोदय के संस्कार ठेठ मध्यवर्गीय रहे तो टकराहट शुरू हो जाती है। आधुनिकता का नकली आवरण फटने लगता है। लडकी की स्वच्छंदता उनके दिल में उसके प्रति शक पैदा करने लगती है। फिर या तो थोड़े ही दिनो में तलाक हो जाता है या वे टकराते हुए चलते रहते हैं या लडकी जला दी जाती है।

मै संस्कार से भी और दृष्टिकोण मे भी देशी हूं और अपनी बेटी को इस प्रकार के नकली आधुनिकता वाले परिवार मे नही देना चाहता। हमारे बच्चो की शिक्षा-दीक्षा भी देशी स्कूलों मे हुई है और परिवार का संस्कार भी देशी है। हम घर मे एक-दूसरे से बहुत अनौपचारिक है। देशी खाना पसद करते है। नीचे बैठकर खाना अच्छा लगता है। अपनी भाषा में बोलने-बतियाने मे सुख और गौरव दोना अनुभव करते है, भोजपुरी भी बोलते है। हम जानते है कि हमारी बेटी अंगरेजी भाषा और उसके संस्कार से कसे हुए नकली वातावरण मे सहज नही रह पायेगी, उसका दम घुटेगा, अतः मैं स्वय ऐसे घरो और उनके परिवारो मे बेटी देना नही चाहता। लडकी की शादी का विज्ञापन दिया था। फोन पर एक से मेरी बातचीत हुई। कई बार तो बहुत हंसी आती है जब किसी परिवार मे लडके तो कानवेंटी होते है किन्तु मा-बाप ठेठ गाव मे आये हुए। अफसर की गाव से आयी बीवी पूछती है—

"आपकी लडकिया अगरेजी इसकूल म पढी है ना? खूब हाली हाली अंगरेजी बोल लेती है न? अरे हमारा लडिकवा बहुत अगरेजी बोलता है न। ऊ साहब है, ओ के अगरेजी बोले वाली लडकी नही मिलगी त उसकी नकिये कट जाएगो न।"

"अरे छोडिये जब आपके पति की नाक नही कटी तो आपके लडके की क्यों कटेगी। मेरी लडकी तो एम० ए० पी-एच० डी० है और अगरेजी भी जानती है।"

"अरे हमार जमाना तो और था न।"

"सही है। सही कह रही है आप। आपके जमाने मे लड़के-लड़की की शादी होती थी। अब पद की, भाषा की, रुपये-पैसे की शादी होती है।"

"आप लडकी के बारे मे सारी जानकारी भेज दीजिए, ये लोग विचार करके आपको बता देंगे।"

"लेकिन मैंने तो विचार कर लिया है बहन जी, मुझे ऐसे नकली घर में लड़की नही देनी है।" और मैंने फोन बंद कर दिया।

एक इंजीनियर साहब के पिता का पत्र आया। उसमे अपने पुत्र के व्यक्तित्व और योग्यता का दिव्य वर्णन किया था और उसने भी कानवेंटी लडकी की मांग की थी। मैं बाहर गया था। पत्नी मेरे एक शिष्य के साथ मिलने गयी। देखा एक देहाती औरत उपले पर रोटी थोप रही थी। उन्होंने अनुमान लगाया कि यह लडके की मा है। लड़के का बाप एकाएक पत्नी को देखकर चौंक गया और अस्त-व्यस्त मामूली घरेलू परिवेश के कारण परेशान-सा हो गया। उसने कुछ देर बाद अपने इंजीनियर पुत्र को

बुलाया । एक ठिगने कद का मामूली-सा लड़का हाजिर हुआ । उसकी बड़ी-बडी मूंछें थी मानो उसने अपने व्यक्तित्व की दरिद्रता की क्षतिपूर्ति के लिए मूछें बढ़ा ली थी । बाप ने कहा—"अभी-अभी ये भोपाल मे आये है, थके हैं, अस्त-व्यस्त है ।" और दो-चार मिनट बाद ही उसे अन्दर जाने को कह दिया ।

"कैसे लगे हम लोग आपको ?"

"बहुत अच्छे ।"

"तो हम लोग कब आये लडकी देखने ?"

"मैं घर जाकर अपने पतिदेव से सलाह कर आपको सूचित कर दूगी ।"

"वैसे आप लोग क्या खर्च करना चाहेगे ?"

"यही सत्तर-अस्सी हजार ।"

"ठीक है, बहुत है हमारे लिए ।"

रास्ते मे शिष्य ने साश्चर्य पूछा—"भाभी जी, क्या सचमुच आपको यह रिश्ता अच्छा लगा ?"

"अरे पागल हो गये हो । मैंने उस आदमी की आत्ममुग्धता को थोडी और हवा दे दी है । वह कुछ दिन तक सपना देखेगा तो देखने दो ।"

ऐसे अनक अनुभवो मे हम गुजरे । हमारे लिए वर का उच्चपदस्थ होना जरूरी नही था और अंगरेजी वाला माहौल तो हम चाहते ही नही थे । हमारी प्रथम पसंद थी लडका । यानी लडका व्यक्तित्वशाली हो, अच्छे चरित्र का हो, उसमे देशी सहजता हो, परिवार मे सहजता हो । लडका यदि योग्य है और कही लगा हुआ है तो आज नही तो कल उच्चपदस्थ हो ही जायेगा ।

और जब हमे एक स्रोत से ज्ञात हुआ कि आगरा मे एक लडका है और आगरा कालेज मे दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष और जबलपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व रीडर ब्रजगोपाल तिवारी का सुपुत्र है तो मन मे सहज आकर्षण भर आया और जब हम उसे देखने गये तो देखते ही लगा कि यह वही लडका है जिसे हम पाना चाहते रहे । पत्नी और मैने एक-दूसरे की ओर देखा और सकेतो से ही अपनी स्वीकृति का विनिमय कर लिया । वह लडके थे—अश्विनी तिवारी यानी हमारे वर्तमान जामाता । वे तब एफ० सी० आई० मे एक छोटे पद पर काम कर रहे थे किन्तु हमे इसकी चिता नही हुई । विश्वास बना कि आज नही तो कल कुछ बडी हैसियत पा जायेगे ।

बहरहाल आवश्यक औपचारिकताओ के बाद शादी तय हो गयी । काफी दिनो से अनुकूल जामाता की खोज मे असफल हो रहे थे और कई बार मन बहुत उदास और खिन्न हो उठता था । अब छाती पर से यह भार हटा तो पहली बार लगा कि बेटी पराई हो रही है । एक दर्द के बाद दूसरा दर्द उभर आया । हंसती-गाती अंजू एकाएक स्तब्ध हो गयी । उसकी आखो मे एक अवाकपन भर गया । खोई-खोई-सी देखती थी । बेटी के बाप और मा का हृदय भी कितना विचित्र होता है । जवान बेटी घर मे अनब्याही रहती है तो दिन-रात नीद नही आती । यही सोचता रहता है कि बेटी कब अपने घर जाएगी और जब बेटी का अपने घर जाना तय हो जाता है तो वह चिल्लाता है—'बेटी

पराई हो रही है।' बचपन से लेकर अब तक उसके साथ जुड़े सुख-दुःख, प्यार और दर्द के अनन आत्मीय प्रसंग भरभराकर फूट पड़ते हैं और थरथराने लगते हैं। अपनी सक्रिय आत्मीयता से घर के वातावरण को उष्म रखने वाली बेटी धूप-सी चुपचाप सरक जायेगी और छोड़ जायेगी एक सूनापन। घर-आंगन, बरतन, कपड़े से लेकर मां-बाप के सिर तक व्याप्त बेटी की अंगुलियों का स्पर्श प्राणों में बजने लगता है, आंखों में उमड़ने लगता है। चली जाएगी बेटी—एकाएक चली जायेगी और पता नहीं कहां जायेगी और बाप की आंखों की छांह, मां की छाती की ममता, भाई की बांहों का भरोसा, सखियों के साहचर्य की ऊष्मा छोड़कर जहां जायेगी, वहां क्या पायेगी, कौन जानता है?

घर में विवाह का गीत होने लगा था। वह गीत अपनी गहरी आर्द्रता के साथ मेरे भीतर पैठ जाता था और मैं भीतर-भीतर समग्र भाव से दर्द से बज उठता था। आंखें भर-भर आती थीं और मैं अपने को इधर-उधर छिपाता फिरता था।

मेरे मित्रों ने शादी का सारा प्रबन्ध सभाल लिया था। डा० अवनींद्रकुमार, डा० सतोष शुक्ल, डा० ज्ञानचंद गुप्त, डा० अमीर आरफी, डा० राजपाल, डा० अवध नारायण त्रिपाठी, देवदत्त आदि कितने ही मित्रों और शिष्यों ने अलग-अलग काम बांट लिए थे और पता भी नहीं चलने दिया कि कहां क्या हो रहा है? डा० महीपसिंह आये बोले—"तुम तो बहुत रिलैक्स्ड हो। लगता ही नहीं है कि बेटी की शादी है।" बेटी की शादी में बाप निर्जल व्रत रखता है। यह न मेरे वश का था न इसमें मेरा विश्वास था। बीच का रास्ता निकाला गया कि फल और रस पर आधारित व्रत रखा जाय। मैंने नहीं किया। बेटी की शादी के बाद जब पत्नी ने कहा कि चलिए, खाना खा लीजिए, तो मैं बोला कि खाना तो खा लिया है।

"कब?"

"अरे, मित्रों ने कहा तो खा लिया।"

पत्नी हंसी। बोलीं—"तब व्रत रखने की क्या आवश्यकता थी?"

"यह तो मैं भी नहीं जानता।"

विवाह ठीक-ठाक सम्पन्न हो गया।

शादी सम्पन्न हो गयी। मेरे अनेक मित्र सपरिवार रुक गये थे। उनके रुकने से अच्छा तो लग ही रहा था, शक्ति भी प्राप्त हो रही थी।

विदाई का अवसर आया। घर से धर्मशाले तक बेटी को कार से जाना था। धर्मशाले पर उनकी बस खड़ी थी, वहां से बस से जाना था। अंजू घर से विदा हो रही थी तो मैं कहीं छिपकर रोने लगा। मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी उसे विदा करने की। लोगों ने कहा—"कार के साथ धर्मशाले तक चलिए।" मैंने मना कर दिया—"मैं नहीं जाऊंगा, मेरी हिम्मत नहीं हो रही है।"

बेटी कार से धर्मशाले पर गयी। हेमन्त उसे कुछ समझाते हुए साथ-साथ चलने लगे। मैंने अपने को संभाला और एक मित्र के साथ धर्मशाले पर पहुंचा। वह बस में बैठ चुकी थी। उसे देखा, उसने मुझे देखा। उसकी आंखों में स्तब्धता भरी थी। मैंने आंखें हटा लीं। वह भारी जड़ाऊ चादर ओढ़े हुए थी। उसके पास उसकी बड़ी ननद

जो कानपुर के किसी कालेज में प्रिंसिपल हैं बैठी हुई थीं। उन्होंने बड़े प्यार से कहा—"इतनी भारी गर्मी और इतनी भारी चादर !" और बड़े प्यार से चादर उतार दी। मुझे उनका यह सुसंस्कृत और खुला व्यवहार बहुत अच्छा लगा।

बस स्टार्ट हुई तो मैं लौटा। मेरे सामने माडल टाउन का सब कुछ वही था लेकिन लगता था जैसे किसी ने उसके प्राण सोख लिये हों। मेरी आंखों के आगे गहरा सूनापन बिछा था। पांवों में मन-मन भर के पत्थर कूट दिये गये थे। घर आया। पत्नी से आंखें मिलीं। हम दोनों ने झटके से आंखें फेर लीं और मैं अपने तख्ते पर गिरकर हुबकने लगा। पत्नी को अनेक काम निबटाने थे इसलिए वे उन कामों में अपने को खोकर अपना दर्द समेटती रहीं।

शशांक चटाई बिछाकर पड़ा तो दिन-भर पड़ा ही रहा और कई दिन तक किसी से बोला नहीं। लगता था जैसे सुन्न हो गया हो। खाना-पीना भी छोड़ दिया था। हम सोचते रहे, मनुष्य का स्वभाव कितना जटिल होता है। प्रायः शशांक और अंजू में लड़ाई हो जाती थी। एक बार तो शशांक ऐसा बिदका कि अंजू से राखी बंधवाना ही छोड़ दिया और शादी के समय तक नहीं बंधवायी। जब अंजू की शादी तय हुई तो सबसे अधिक भाग-दौड़ उसी ने की। उसने और उसके मित्रों ने अथक परिश्रम किया और जब अंजू चली गयी तो वही राखी न बंधवाने वाला भाई कटे पेड़ की तरह गिरा और सुन्न हो गया। उसे देखकर डर लगने लगा। वह कुछ कहता भी नहीं था, केवल हमें देखता था और इधर-उधर चला जाता था। कई दिनों के बाद जब अंजू लौटकर आयी तो वह प्रकृतिस्थ हुआ और बहन की खुशी में बह चला।

हेमंत 27-28 साल के हो गए थे। उनकी शादी भी होनी ही चाहिए थी किन्तु सबसे बड़ी परेशानी यह थी कि उनकी नौकरी नहीं थी। समस्या यह थी कि नौकरी तो कभी भी नहीं होगी। उन्हें तो नाटक के क्षेत्र में फ्री-लांसिंग करनी है, कर रहे हैं किन्तु अभी तो कुछ भी स्थिति नहीं बनी है। नौकरी या अर्जन की स्थिति न होने पर भी उम्र का तकाजा तो था कि शादी कर दी जाए। हमने यही निर्णय लिया। गोरखपुर से आये हुए सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया।

शादी की तिथि निश्चित हो गयी। लौटने के बाद होने वाले स्वागत-समारोह की भी तिथि निश्चित हो गयी। निमंत्रण-पत्र छप और बंट गये। पैसे देकर धर्मशाले में स्थान आरक्षित करा दिया गया किन्तु तभी सूचना आयी कि लड़की वाले के यहां ताबड़तोड़ दो-दो मौतें हो गयीं। सब कुछ स्थगित हो गया। मौत के बावजूद लड़की की शादी कहां रुकती है, उसे होना ही होता है अतः महीने-भर बाद की तिथि निश्चित की गयी। हां, अब उल्लास नहीं रहा। स्वागत-समारोह वाला कार्यक्रम हमने रद्द ही कर दिया।

तब दिल्ली और गोरखपुर के बीच सीधी गाड़ी नहीं थी। दिल्ली से लखनऊ बड़ी लाइन से, वहां से गोरखपुर छोटी लाइन से। इससे बहुत समय लगता था और बहुत दिक्कत होती थी। सीधे आरक्षण नहीं मिलता था, अतः लखनऊ में टीटियों की

चांदी थी, खुले आम लूटते थे, उनकी जेबें नोटों से भरी होती थीं और कोई नहीं था पूछने वाला और अभी कौन है पूछने वाला। यदि आपके पास सामान है तो कुली लूटते थे। दोनों प्लेटफार्मों के बीच की दूरी पार कराने के लिए कुली जी कुछ भी मांग सकते थे और झख मारकर देना पड़ता था। उन पर भी रेलवे का कोई नियंत्रण नहीं था और सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि आते या जाते समय मुख्यतया गोरखपुर से आते समय कनेक्टिंग गाडी यदि छूट गयी तो भुगतिये। यदि लखनऊ से दिल्ली तक आरक्षण करा रखा है तो फिर दूसरी गाड़ी मे आरक्षण मिलने से रहा।

एक बार मैं एक शादी के सिलसिले में सपरिवार गोरखपुर गया था। वहां से अलख सुबह की गाडी मे लौट रहा था और लखनऊ मे सबसे अंत मे छूटने वाली गाडी से आरक्षण करा या, लेकिन वह गाडी उस दिन कांखती-कूखती लखनऊ पहुंची तो अंतिम गाड़ी भी छूट चुकी थी। हमारे पास सामान था। किस तरह उन सामानों के साथ हम प्रतीक्षालय मे पहुंचे, फिर चार बजे सुबह की गाडी में सामान चढाने के लिए कुली न मिलने पर बच्चे बारी-बारी मे ढो-ढोकर ले गये और फिर कानपुर मे उतरे-चढे, इस की स्मृति भी हिला देती है। पूरे दो दिन लग गये थे। बहरहाल हमें आसाम मेल से कानपुर पहुंचना था और वहा से कटिहार एक्सप्रेस मे गोरखपुर। कई मित्र बारात में चलने वाले थे। सबके टिकट खरीद लिए गये थे। जब हम स्टेशन पहुचे तो ज्ञात हुआ कि आधे लोग नही आये और समय से सूचना न मिलने पर हम टिकट भी वापस नही कर सकते थे। बारात म कुछ मेरे मित्र थे (डा० महीपसिंह, डा० विनय, डा० सुधाकर शुक्ल, डा० ज्ञानचद गुप्त) कुछ हेमंत के मित्र थे, कुछ शशांक के। हेमत के मित्रों की अपेक्षा शशांक के मित्र अधिक सक्रिय थे। वे ही काम करते थे। अत तक उनके कारण ही यात्रा की कठिनाइया आसान होती रही। मेरे जामाता अश्विनी तिवारी और पुत्र विवेक भी साथ थे। मित्रों के साथ यात्रा बहुत आनंदमयी रही। हम दूसरे दिन सुबह गोरखपुर पहुचे। हेमत के श्वसुर श्री श्रीभागवत तिवारी का मकान और दूकान गोरखपुर शहर मे है किन्तु शादी गोरखपुर से 36 मील दूर स्थित उनके गांव महुलिया मे हो रही थी। अतः हमे गोरखपुर के एक होटल में चार-पांच घटे ठहरकर बस से महुलिया पहुचना था। गोरखपुर से अनेक साहित्यकार मित्र डा० रामचद्र तिवारी, डा० भगवतीसिंह, डा० रामदेव शुक्ल, डा० परमानद श्रीवास्तव साथ हो गये। रास्ते मे गांव वालो के साथ मेरे बड़े भाई साहब मिल गये। महुलिया पहुचने पर डा० विवेकराय और जगदीशनारायण श्रीवास्तव मिल गये।

यद्यपि बरसाती मौसम होने के कारण दिन कभी सुहाना हो उठता था, कभी उमस मे लद जाता था लेकिन इतने साहित्यकार मित्रों के कारण मरजाद का दिन आनंद से बीत गया। मझले भाई के भी कुछ कवि मित्र आ गये थे और सुबह 10 बजे जमकर कविता-पाठ हुआ, शाम को महफिल के समय भी हुआ। एक बहुत मजेदार घटना घटी। मैं तो सुबह उठकर बड़हलगंज कस्बे मे स्थित लड़की वालो के सिनेमाघर चला गया। वहां अतिथिगृह में नित्यकर्म सम्पन्न कर रहा था कि भागे-भागे महीपसिंह आ

गये। आते ही बोले—"अरे यार, तुम यहा आकर छिपे हो और वहां मेरी हालत खराब हो रही थी।"

बात यो हुई कि मरजाद के दिन सुबह-सुबह नेटुआइनें (नटों की औरतें) आ गयी। वे आती ही है, गाती हैं, अश्लील मजाक करती है और समधी से पैसे वसूलती है। मैं तो सुबह-सुबह सिनेमा चला आया था। वे आयी तो पूछा—समधी बाबू कहा है ? कुछ लोगो ने शरारतवश महीपसिह की ओर इशारा कर दिया। फिर क्या था, वे महीपसिह को लेकर शुरू हो गयी। लोग आनद लेते रहे और महीपसिह के लिए अच्छी-खासी मुसीबत पैदा हो गयी। वे किसी तरह जान छुडाकर वहा से भागे और नहाने-धोने के लिए सिनेमाघर मे आ गये। मैं जब नहा-धोकर पहुचा तो तेलवान आ चुका था। यानी समधी की अनुपस्थिति मे समधी से सम्बन्धित कई कार्य सम्पन्न हो चुके थे। वास्तव मे मैं कोई औपचारिकता पाल नही पाता। समधी होकर भी मैं समधी के रूप मे अनुपस्थित था। जैसे और लोग थे, वैसे ही मैं भी था।

देहाती बारात के ये सब लुत्फ है, इनके बिना यहा की बारात क्या ? मेरे मित्रो ने शायद बहुत दिनो बाद देहाती बारात का लुत्फ उठाया होगा। विवाह सम्बन्धी ठेठ देहाती गीत, औरतो की गाली आदि देहाती रस पैदा कर रहे थे। इनका अपना आनद होता है। यह आनद वही ले सकते है जो उस परिवेश मे जुडे हुए हो या गुजरे हो। डिस्का और गुरुकुली सस्कृति वाले भिन्न-भिन्न कारणो से इसमे नाक-भौं सिकोडते है यानी एक के लिए यह गवारू और पिछडा है तो दूसरे के लिए यह फूहड और अनैतिक है। वास्तव मे ये गीत परम सास्कृतिक है। विवाह सम्बन्धी गीतो म विवाह स जुडी न जाने कितनी गतिविधिया, सम्बन्ध, सामाजिक-आर्थिक स्थितियां और दर्द उभर आते है। यानी ये गीत बाहरी-भीतरी यथार्थ के दस्तावेज है। औरतो की मीठी गालिया वातावरण मे रस तो घोलती ही हैं इस बात का भी द्योतन करती हैं कि इस पुरुष-प्रधान समाज मे कुछ पर्व-त्योहार दमित स्त्रियो के हृदय को खुलने का अवसर देते है। इससे वे चहारदीवारी और रूढ नैतिकता के कठोर अनुशासन मे घुटकर जीने के बावजूद स्वस्थ हो लेती है। गा-बजाकर, शृगारिक भावनाओ की अभिव्यक्ति कर, हसी-मजाक कर हल्की हो लेती है और घुटन मे भी जीने की शक्ति पा लेती है।

तीसरे दिन बारात विदा हुई। उसी दिन दोपहर को हमे गोरखपुर से लखनऊ के लिए गाडी पकडनी थी और शाम को लखनऊ मे दिल्ली के लिए गाडी पकडनी थी। हेमन, माया (उनकी पत्नी) और मेरे जामाता अश्विनी तिवारी, शशाक और विवेक को महुलिया से कार से लखनऊ पहुचना था। हेमत और माया लखनऊ से प्लेन पकडने वाले थे और शशाक, विवेक तथा अश्विनी जी सामान लेकर गाडी पर मिलने वाले थे। हम गोरखपुर पहुच गये। गाड़ी कुछ लेट आयी और हमारा डिब्बा गोरखपुर मे ही लगा था—ट्रेन के एकदम पीछे। ट्रेन लेट तो थी और लेट होती गयी। घबराहट के मारे बुरा हाल था लगता है। हम लखनऊ वाली गाडी छूटने के बाद पहुचेगे। अश्विनी, शशांक और विवेक गाड़ी में सामान रखकर इंतजार करते होगे और वे अलग परेशान हो रहे होगे।

लखनऊ वाली गाड़ी छूटने में 15 मिनट बाकी थे तो हमारी गाड़ी लखनऊ पहुंची। हमारा डिब्बा पीछे था। वह छोटी लाइन के प्लेटफार्म के बाहर अंधेरे में लगा था। वहां कोई कुली ही नही। फिर हम सब मिलकर सामान प्लेटफार्म पर ले आये—यानी उजाले में। फिर कुलियों से बकझक। आखिर किसी तरह सामान लदवाये, हांफते-डांफते बड़ी लाइन के प्लेटफार्म पर खड़ी गाड़ी में पहुचे। गाड़ी छूटने ही वाली थी। अश्विनी, शशांक और विवेक बेसब्री से हमारा इंतजार कर रहे थे। अब वे सामान उतारने की सोच रहे थे। हम पहुंचे तो उन्होंने भी और हमने भी राहत की एक लम्बी सांस ली।

तीसरी शादी शशांक की हुई। शशांक पढ़ाई-लिखाई से भागते रहे, किसी तरह पास होते गये और एक्सटर्नल छात्र के रूप में उन्होने बी० काम० कर लिया। बी० काम० हो गये तो निश्चितता हुई कि चलो नौकरी की निम्नतम अर्हता तो प्राप्त कर ली। थर्ड क्लास बी० काम० को कौन-सी नौकरी मिलती ? लेकिन शशांक बहुत मेहनती और स्वाभिमानी लडका है। स्वाभिमान इतना कि मां-बाप से पैसा मागने में संकोच। वह इस बात का अनुभव करता था कि वह जवान हो गया है, उसे अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। पढने मे वह मेहनत से बचता था, व्यावहारिक जीवन मे उतना ही मेहनती था। साल-भर विद्या विहार कालोनी के सन्दर्भ मे सुधाकर शुक्ल का सहायक बनकर अथक दौड-धूप करता रहा। यह दूसरी बात कि उसकी सारी दौड़-धूप निरर्थक गयी। कुछ दिन तक बुकसेलिंग का काम किया। आस्था प्रकाशन नाम से एक प्रकाशन चलाने का इरादा था। मुझे उम्मीद थी कि लोग उसकी मदद करेंगे। किन्तु साल-भर बाद मुझे बिना बताये वह बैठ गया। मैंने पूछा तो झल्लाकर बोला—"मै नहीं करता यह घटिया काम।"

"घटिया ?"

"हां, घटिया।"

फिर उसने अपने अनुभव सुनाये। हिन्दी विभागों के जो लोग पुस्तक-क्रय के समय पुस्तक-विक्रेता या प्रकाशक से कमीशन खाते है वे यह जानकर कि मेरा पुत्र है कमीशन नही मांगते थे और नहीं मागते थे तो पुस्तक क्यो खरीदें—बहाने बना देते थे। कुछ लोग उसे मेरा पुत्र जानकर अतिरिक्त उत्साह दिखाते थे, पुस्तक खरीदते थे और प्रस्ताव रखते थे कि प्रकाशन खोलते ही मेरी पुस्तक छापना। और भी न जाने कितनी बातें थी। दिन-रात दौड़ना सो अलग। व्यवसाय उसकी रुचि नही मजबूरी थी। इसी व्यवसाय में वणिक वृत्ति के लोग न जाने कितना कुछ अशोभन झेलकर अपना कारोबार खूब बढ़ा लेते हैं किन्तु मेरे परिवार मे व्यावसायिक वृत्ति का संस्कार पैदा ही नही हुआ इसलिए व्यापार में किसी बच्चे की रुचि ही नहीं हुई। लेन-देन, सौदेबाजी और उससे जुड़ी मानसिकता तथा अनेक गतिविधियों से गुजरना मेरे घर मे किसी को रास नहीं आता।

डा० नगेन्द्र के कहने से श्री रामनिवास आजू ने उसे बिड़ला की बल्ब कम्पनी ई० सी० ई० में लगा दिया। उसकी नियुक्ति सोनीपत में हुई। वह रोज उत्तम नगर

से सोनीपत जाता था और आता था। इतना होता तो भी कोई बात नही, वह तो 24 घंटे का नौकर बना दिया गया था। उसके बॉस अग्रवाल उसे इकहा घोडे की तरह वक्त-बेवक्त दौडाया ही करते थे। उसे शाम को गुड़गाव भेज देते थे और वह वहा से 12-1 बजे रात को घर लौटता था। उनके शोषण के दबाव से एक दिन वह आफिस मे ही बेहोश हो गया। फिर अग्रवाल ही अपनी गाडी में लादकर घर छोड गये। मैं था नही। पत्नी ने गुस्से मे कहा, "अग्रवाल कम्बख्त मेरे लडके का खून पी गया।"

"बदा ही अग्रवाल है।" अग्रवाल ने कहा। पत्नी कुछ बोली नही, उन्हे इस नजर से देखती रही, 'अच्छा तू ही अग्रवाल है।'

एक दिन मैं डा० दशरथ ओझा के साथ श्री रामनिवास जाजू स मिला। हालाकि लडके ने मना किया और कहा कि वे लोग सम्बन्धी है और सारी बाते जाजू जी की जानकारी मे होगी तो भी जी नही माना। जाजू जी कवि है और साहित्यकार के नाते ही उनसे परिचय था और इसी अधिकार से उनके पास गया था। उनसे अपने बेटे की व्यथा सुनाई। उन्होने मुझे कर्मठता का उपदेश देना शुरू किया और अपनी कथा सुनाई कि उन्होने कितने परिश्रम से गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। उनके तिक्त स्वर से लगा कि उन्हे फर्म के किसी अधिकारी (और वह भी सम्बन्धी) की शिकायत अच्छी नही लगी बल्कि खराब लगी। मै उन्हे अपने ढग से मेहनत और शोषण का अन्तर समझाता रहा और यह बताने की कोशिश करता रहा कि मेरे लडके से जो दिन-रात काम लिया जा रहा है वह महनत नही शोषण है। लकिन जाजू जी को यह अतर समझा नही सका। कवि होने के बावजूद वे मूलतः उद्योगपति परिवेश के हैं और उद्योगपति यदि श्रम और शोषण का अन्तर समझ ल तो समाज की विषमताए काफी कम हो जाये। नयी नौकरी के लिए बहरहाल शशाक का प्रयत्न जारी रहा। जब तक उसे ठीक-ठाक नौकरी नही मिल जाती वह चैन नही लगा। कुछ दिनो बाद आई० एस० आई० (मानक भवन) मे उसकी नौकरी लग गई और उसने ई० सी० ई० कम्पनी को सूचित किये बिना ज्वाइन कर लिया। जाजू जी न जो व्यवहार किया था उसे देखते हुए सूचित करने की 'कर्टसी' की कोई आवश्यकता नही समझी गयी।

यह नौकरी ठीक थी किन्तु शशाक का मन अभी ठहरा नही था। वह लगातार बैंक की नौकरी के लिए प्रयत्न कर रहा था और एक दिन सफल हो ही गया। दिल्ली जोन के भारतीय स्टेट बैंक मे उसकी नियुक्ति हो गयी। और अब समझा गया कि शादी का उपयुक्त अवसर आ गया है। लडकी वाले आने लगे। शशाक की शर्त थी कि लडकी नौकरी मे हो और हमारी शर्त थी कि लडकी सुन्दर हो और कद ठीक-ठाक हो। हमने अनुभव किया कि मनपसद लडकी खोजना ज्यादा कठिन काम होता है। लडकी वाला तो लडके की खोज मे यहाँ-वहा जा सकता है और आसानी से नापसद कर सकता है यानी नापसद होने पर वहा नही जाएगा किन्तु यदि लडके वाला लडकी खोजता है तो लडकी वाले सोचते है कि लडके मे कोई खोट होगी तभी यह स्वय लडकी खोज रहा है यानी लडके वाले इसके यहा नही जा रहे है।

हमारी पसद की लड़की नही मिल रही थी। यदि नौकरी वाली मिलती थी तो

शक्ल-सूरत से माशाअल्लाह होती थी और शक्ल-सूरत से ठीक होती थी तो नौकरी में नहीं, या नौकरी वाली योग्यता नहीं। हमने शशांक को राजी कर लिया कि नौकरी पर जोर न दे। नौकरी वाली अर्हता भी फिलहाल काफी है। लडकी वालों से हमने कह रखा था कि भाई हमे कुछ नही चाहिए, बस हमारी पसद की लडकी हो। पढे-लिखे लोग भी यदि इतनी सीधी-सच्ची बात नही समझ पाते तो क्या किया जाये ? कई लोगों ने बहुत प्रशसा कर-करके अपनी पुत्रिया दिखाईं और हम दुखी हो गये। पहली लडकी को देखने शशांक गये थे। वहा से लौटकर बहुत झल्लाये और कहा—"आप लोग पसद कर लीजिए, मुझे साथ ले चलेगे तो जो भी कानी-कूबडी मिलेगी, 'हा' कह दूगा। मुझसे न लडकी देखी जाती है न ना करते बनता है। आप लोग जो पसद करेगे मुझे स्वीकार्य होगा।" इससे हम लोगो की कठिनाई बढ गयी। हेमन्त अपनी शादी से पहले गोरखपुर जाकर अपनी पत्नी देख आये थे और हरी झडी दिखा दी थी इसलिए इस सम्बन्ध मे हमे कुछ करना ही नही था किन्तु यहा तो लडके ने सारा भार हमारे ऊपर ही डाल दिया। लडकी को अस्वीकार करने की पीडा उसी की नही थी, हमारी भी थी। हम नही चाहते कि किसी लडकी को देखकर ना कहे। लडकी वैसे ही इस पुरुष-प्रधान समाज मे उपेक्षित अनुभव करती है और विवाह को लेकर न जाने कितने सपने उसके मन मे उगते रहते है और लडके वाले झटके से तोडते रहते है और ऊबकर मा-बाप भी उसे कोसने लगते है, अभागिनी-कुलच्छिनी समझने लगते है इसलिए इस अर्थ मे हम बहुत सवेदनशील है। हम लडके के वे मा-बाप नही है जो अपने थोथे अहम की तृप्ति के लिए लडकियो को बाजार मे बिकने वाले गाय-बैल की तरह देखते है और बडी आसानी से 'ना' बोल देते है। लडकी देखकर अस्वीकार करने मे अपने को न जाने कितना मारना पडता है इसलिए हम लडकी वालो से जोर देकर कहते थे, हमे कुछ नही चाहिए, बस हमारी पसद की लडकी चाहिए और लडकी वाले हमे पूरा आश्वस्त करके चल जाते थे और लडकी देखते ही हमारी परेशानी बढ जाती थी। लडकी ठीक हमारी पसद के विपरीत होती थी : एक बार तो अपना बुरा हाल हो गया। एक मित्र के साथ भी यही बात घटी। लौटकर हम लोग सोचने लगे कि उनसे क्या कहे ? इसी सोच मे हम पति-पत्नी बीमार पड गये। वे घर आये। पत्नी बडी हिम्मत करके नापसदगी की बात कह सकी। परेशानी यह थी कि लडकी देखे बिना कोई निर्णय भी नही लिया जा सकता था। फिर हम लोगो ने लडकी इस शर्त पर देखनी शुरू की कि आप मुझसे पूछेंगे नही, लडकी हमे पसद होगी तो हम स्वय सूचित कर देगे। इस शर्त को मानने के बावजूद लोग पूछते थे। उनका पूछना भी स्वाभाविक था और हमारा परेशान होना भी। आखिर इस परेशानी का अन्त हुआ और शशांक की शादी दिल्ली के बिहारीपुरा कालोनी में श्रीकृष्ण देव त्रिपाठी के यहां हो गयी।

पहली बहू माया जब घर आयी थी तो मैंने आते ही कह दिया था कि इस घर में बहू-ससुर-सास की औपचारिकता नही चलेगी। तुम इस घर की बेटी की तरह रहोगी। इससे मुझे भी सुख मिलेगा और तुम्हें भी। औपचारिकता मेरे और तुम्हारी सास के स्वभाव मे ही नही है और यदि हम चाहें तो भी दो कमरो के मकान मे वह निभ

नही सकती। माया मेरी बात समझ गयी इसलिए खान-पान, रहन-सहन, उठने-बैठने में कहीं कोई वर्जना नही रही। यही बात मैंने दूसरी बहू रीता से भी कही और वह भी समझ गयी और वह भी घर की लडकी जैसे सहज आचरण से गुजरने लगी। हम इस अर्थ में सौभाग्यशाली है कि दोनो बहुएं पढ़ी-लिखी होकर भी सीधी-सादी और घरेलू हैं, सुसंस्कृत और सभ्य है।

विवेक भी शादी के योग्य हो गये है किन्तु अभी तो पढ रहे है। बी० काम० करने के बाद कम्पनी सेक्रेटरीशिप का कोर्स शुरू किया। साल-भर बाद उसके साथ ला शुरू किया लेकिन लगता था कि उनका मन नही लग रहा है। कालेज के दिनो मे भी वे कई बार पटरी से उतरे थे और हमे चिंतित किया था इसलिए अपनी प्रतिभा के अनुकूल वे डिवीजन नही पा सके। अब लगा था कि कम्पनी सेक्रेटरीशिप का कोर्स करके कही लग जायेगे, आर्थिक दृष्टि से स्वयं तो निश्चित होगे ही, मुझे भी निश्चित करेंगे, लेकिन उनकी भटकन दूर नही हुई और बडे भाई साहब के प्रभाव से नाटक की ओर झुकने लगे। बडे भाई साहब की आर्थिक स्थिति का हस्र देख चुका था और देख रहा था। मैं नही चाहता था कि एक बेटा और जीवन-भर आर्थिक अनिश्चितता का शिकार बने किंतु मैं कर क्या सकता था? राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर उनके चरण बढ रहे थे। एक बार असफल हुए, दूसरी बार सहज ही अपनी प्रतिभा के बल पर प्रवेश पा गये। लगता है यही इनका सही रास्ता था क्योकि इस रास्ते पर एक बार चले तो पूरी तन्मयता से चलते गये। यह क्षेत्र उन्हें इतना अधिक रास आया कि उसकी गहराई मे डूबते चले गये और शिक्षा तथा अभिनय दोनो ही क्षेत्रो मे अपनी उत्कृष्टता सिद्ध कर दी। यह उनका तीसरा वर्ष है। यहां से निकलने के बाद वे क्या बनते है यह तो भविष्य ही बताएगा। फिलहाल तो हम अच्छी सभावना से आश्वस्त है। पाचवी सतान बेटी स्मिता अपने पथ पर ठीक ही चलती रही। इसे लडको के विपरीत सदा अपने सही पथ पर ही पाया। यह नही है कि वह आख मूदकर एक ही रास्ते पर चलती रही। अपने मुख्य मार्ग पर तन्मयता से चलते हुए भी उसने दूसरे रास्तो की उपेक्षा नही की। वह बास्कट बाल की खिलाडी भी रही और दिल्ली राज्य के दल का कई बार प्रतिनिधित्व किया। विविध प्रकार के ज्ञान के प्रति भी जागरूक रही। एक ओर साहित्य के प्रति गहरा समर्पण है तो दूसरी ओर राजनीति, फिल्म आदि के सामान्य ज्ञान के प्रति सचेत रही। खेल-कूद की दुनिया से तो उसका सरोकार गहराता ही गया। वह अब खेलती तो नही किंतु खेल की पत्रकारिता जरूर करती है।

मार्ग छोडते रहने और अपने मुख्य मार्ग पर चलते हुए अन्य मार्गों से भी जुड़ा रहने की कोशिश करते रहने मे अंतर होता है। हेमंत और विवेक मार्ग छोड़ते चलते रहे और अंत मे उन्हें अपना मार्ग मिला। स्मिता शुरू से ही लिखाई-पढ़ाई और बाद में हिन्दी साहित्य की लिखाई-पढ़ाई के मार्ग पर चली और अब तक चल रही है किन्तु उसने साहित्य के अध्ययन के साथ अनुवाद कोर्स भी किया और हिन्दी साहित्य के अनेक छात्रों की तरह उसने साहित्य की घोट नही लगायी, उसे समझने की चेष्टा की। उसने पुस्तकालय की अनेक उच्चस्तरीय पुस्तकों का सहारा लेकर अपने नोट तैयार

किये और अपना सारा समय साहित्याध्ययन को ही न देकर अन्य प्रकार के ज्ञानार्जन को भी दिया। इस प्रक्रिया में वह परीक्षाओं में अंकों की अपेक्षित ऊंचाई नहीं छू सकी। मैट्रिक, बी० ए० और एम० फिल० में उसने प्रथम श्रेणी प्राप्त की, यू० जी० सी० की जूनियर स्कालरशिप भी उसे मिली किन्तु एम० ए० में हम सबकी आशा के विपरीत 58½% पर अटक गयी लेकिन इस बात से हमें संतोष है कि उसके व्यक्तित्व का ठीक विकास हुआ। उसका ज्ञान-क्षेत्र सरल-सपाट नहीं, वर्तुल बना। उसमें आत्मविश्वास है, अपने भविष्य के प्रति विश्वास है, गहरी मानवीय संवेदना और करुणा भाव से युक्त इस लडकी मे अन्याय के प्रति रोष है, नारीसुलभ गहरी सौन्दर्य-रुचि के साथ-साथ पुरुषसुलभ लापरवाही भी है और संभवतः इसीलिए उसने एम० फिल० में भवानी-प्रसाद मिश्र के काव्य-संग्रह गीत फरोश पर लघु-प्रबन्ध लिखा और पी-एच० डी० के लिए आंचलिक उपन्यास को चुना।

और शादी ? उसे अपनी शादी की अपेक्षा अभी कुछ बनने की चिंता है किन्तु हम तो मां-बाप है न, हमें तो उसकी शादी की भी चिंता होगी ही।

78

गोरखपुर मेरा अपना गृह नगर है। इस नगर से मेरा कोई विशेष सम्बन्ध नही रहा। मेरी सारी पढाई या तो गांव में हुई या ढरमी में या बरहज मे या वाराणसी में। गोरखपुर मे मेरा कोई वास्ता बना नही, फिर भी यहां-वहां मिलते-मिलाते और कभी आते-जाते वहां के नये साहित्यकारों से सम्बन्ध बन गया था जिनकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूं। वैसे यह शहर साहित्यिक दृष्टि से इस मायने में बड़े महत्त्व का रहा कि यहां से दशरथप्रसाद द्विवेदी ने 'स्वदेश' पत्रिका निकाली थी, प्रेमचंद यहां नार्मल स्कूल में अध्यापक रहे थे और अपना काफी महत्त्वपूर्ण लेखन यहां किया था। फिराक साहब भी यहां के थे। उर्दू के आलोचक मजनू गोरखपुरी भी यहीं के थे। गणाधार त्रिपाठी 'जीवन' भी इस शहर में थे किन्तु कुल मिलाकर यह शहर नये साहित्य के क्षेत्र में चर्चित नहीं रहा। यानी नये लोगों मे ऐसी कोई प्रतिभा नही उभर रही थी जिसकी ओर ध्यान जाता। पंडित विद्यानिवास मिश्र के कुछ निबंध छप रहे थे किन्तु यशस्वी तो वे आगे चलकर हुए।

शादी के बाद इस शहर में मेरा आना-जाना शुरू हुआ और यहां के साहित्य-कारों के साथ उठना-बैठना होने लगा। विद्याधर द्विवेदी विज्ञ तो मेरे मित्र ही थे और उनकी चर्चा भी कर ही चुका हूं। नयी पीढ़ी में कुछ लोग उभरने लगे थे। रामसेवक श्रीवास्तव, भगवानसिंह और परमानंद श्रीवास्तव ये तीन छात्र साहित्यकार साथ रहते थे और हम तीन मित्र के तर्ज पर विकास का सामूहिक संघर्ष कर रहे थे। रचना-कर्म

के साथ परमानंद श्रीवास्तव पत्रिकाओं मे लगातार चिट्ठियां लिख रहे थे और स्थापित लेखकों की प्रशंसाएं कर-करके उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। गोरखपुर आने पर इन लोगो से भेंट होती थी और इनकी कविताए भी सुनने का अवसर मिलता था। उसी समय या कुछ आगे-पीछे और कई साहित्यकार उभरे और उनसे मेरा परिचय हुआ। वे थे हरिहरसिंह, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, देवेन्द्रकुमार, श्यामकिशोर मिश्र, माधव मधुकर आदि। गोरखपुर जाने पर इनसे अवश्य भेंट होती थी—कभी अलग-अलग, कभी गोष्ठियो मे। जगदीश और गिरीश जी को तो मेरे साहित्य से बहुत लगाव था। वे मेरी जो रचनाए पसद करते थे उनकी अकुंठ भाव मे चर्चा करते थे। मेरी रचनाओ के प्रति उनकी यह अकुंठ आत्मीयता व्यक्तिगत सम्बन्धो में बदलती गयी और वे दोनो आज मुझे और मेरी रचनाओ को बेहद प्यार करते है। इन लोगो ने मेरी रचनाओ पर काफी कुछ लिखा भी।

गोरखपुर मे विश्वविद्यालय बन गया था जिसमे शुरू मे कालेजो के प्राध्यापको की ही भर्ती हुई थी किन्तु बाद मे धीरे धीरे बाहर से भी लोग आने लगे थे। इसी प्रक्रिया में डा० रामदेव शुक्ल और विश्वनाथप्रसाद तिवारी आये थे। विश्वनाथप्रसाद तिवारी से परिचय पहले हुआ, रामदेव शुक्ल से बाद मे। विश्वनाथ जी से कभी-कभी भेंट हो जाती थी और यह मालूम पड गया था कि वे कविताए लिखते है किन्तु कोई विशेष बात नही हुई। काफी दिनो बाद जब वे बेतियाहाता मे मकान बनवाकर आ गये तो इनसे भेंट होने लगी। विश्वनाथ जी कविता और आलोचना के क्षेत्र मे धीरे-धीरे उभरते गये। वे परमानद जी से काफी जुड़े हुए थे किन्तु अच्छा हुआ कि वे शुरू से ही अपने मार्ग पर चले और उनकी अपनी पहचान बनती गयी।

रामदेव शुक्ल की कुछ कथा-रचनाए पत्रिकाओ मे पढी थी किन्तु उनसे कभी भेंट नही थी। तब वे देवरिया मे थे। गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बालकृष्ण राव ने एक दिन मुझसे कहा कि मैने हिन्दी विभाग मे रामदेव शुक्ल नाम के एक बहुत प्रतिभाशाली युवक की नियुक्ति की है। वह पहले देवरिया के किसी कालेज मे था। तभी से मुझे रामदेव से मिलने की इच्छा थी और जब मैंने अपने भतीजे के द्वारा सुना कि रामदेव जी मुझसे मिलना चाहते है और वे मेरे साहित्य के अच्छे पाठक है और उसे पसंद करते है तो उनसे मिलने की इच्छा प्रबल हो गयी। उनसे भेंट हुई और एक ही भेंट मे हमारे देहाती सस्कारों ने हमे एक-दूसरे का बना दिया। धीरे-धीरे हमारे सम्बन्ध गहराते गये। रामदेव जी अनेक उपन्यासों के प्रणेता, रचनाकार है, आलोचक हैं, विद्वान् हैं लेकिन देहात उनके व्यक्तित्व और रचना की टेक है। देहात के सम्बन्ध से ही शायद वे मुझे और मेरी रचना को प्यार करते है।

वैसे तो हिन्दी विभाग के सभी लोगों से मेरा अच्छा-खासा परिचय था, किंतु डा० रामचन्द्र तिवारी के साथ उठने-बैठने मे मुझे ज्यादा अपनापन महसूस होता था। वे बेतियाहाता में ही रहते है, मेरी ससुराल से थोडी ही दूर पर। उनके यहां आसानी से पहुंच जाता था और उनसे सहज संवाद बन जाता था। तिवारी जी विद्वान् हैं, नये-पुराने सभी का उन्हें अच्छा ज्ञान है और उनमें अपने ज्ञान के प्रति न तो दंभ है, न

दिखावा। जो जानते हैं, जो सही मन से अनुभव करते है और सोचते-विचारते हैं उसे ही वे प्रस्तुत करते हैं। वे विनयशील है और बहुत आदर-भाव से अपने अग्रजों के अनुदान को स्वीकार करते है। सबको नकारकर अपनी लघुता मे ऐंठे चलने वाले तमाम नये लोगो का छिछोरापन उनमे नही है। उनकी निश्छलता और सादगी मेरे लिए आकर्षण का विषय रही है।

गोरखपुर मे मैं नही रहा किंतु गोरखपुर सदा मेरे साथ रहा। गाव की जमीन तो मेरे साथ ही चलती रही, गोरखपुर शहर भी किसी-न-किसी रूप मे मुझसे जुडा रहा। यदि गाव की जमीन मेरे कई उपन्यास, कविताएं, निबन्ध और कहानिया बनकर मेरे भीतर से फूटी तो गोरखपुर शहर 'अपने लोग' उपन्यास मे रूपातरित हुआ। अहमदाबाद मे काफी दिनो तक रहा तो वहा की जमीन भी मुझसे जुडी और उसने 'दूसरा घर' का रूप धारण कर लिया। मुझे हमेशा लगता रहा कि अपनी जमीन और मूर्त परिवेश को छोडकर रचना बन ही नही पाती। उनके बिना मेरी रचना की पहचान ही नही बन पाती। लेकिन मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस गोरखपुर शहर मे चर्चित हो जाने के प्रयत्न मे सफलता प्राप्त कर लेने वाले कई चालाक रचनाकारों (जो किसी गाव या कस्बे से आये है) की रचनाओ मे कही यह शहर या गाव या कस्बा दिखाई ही नही पडता। इसके दो ही कारण हो सकते है—1. आधुनिकतावाद के फैशन मे पडकर इन्होने किसी आधार पर न ठहरे हुए अरूप सार्वभौम सत्य की अभिव्यक्ति करनी चाही जिसे उन्होने अपने अनुभव से नही, पश्चिमी साहित्य और उससे प्रभावित अपने यहा का साहित्य पढ-पढाकर प्राप्त किया। 2. इनकी अपनी कोई जमीन बनी ही नही। ये जिस किसी परिवेश मे जिये उससे असम्पृक्त होकर अपने लिए जिये। इसलिए जब उसे छोडकर दूसरी जगह गये तो उसका कोई भी सस्कार या प्रभाव अपने साथ नही ला सके। अपनी आलोचनाओ मे भी ये लोग जमीन वाली और बेजमीन वाली रचनाओ मे फर्क नही कर सके और आलोचना के नाम पर मोहक शब्दो का जाल फैलाते रहे।

लेकिन गोरखपुर मे नयी पीढ़ी के अनेक रचनाकार ऐसे थे जो भले ही चर्चा के केन्द्र मे आने के कौशल से वचित होने के कारण अचर्चित रह गये किंतु उनकी रचनाओं मे गोरखपुर है। उनके अपने गाव-गिरांव या कस्बे है और उनके माध्यम से वे बृहत्तर मानवीय सत्य तक पहुचना चाहते है। रचना का सही मार्ग यही है, वह आपको कहां तक पहुचाता है यह आपकी प्रतिभा और साधना पर निर्भर करता है। अपनी जमीन छोड़कर मानवीय सत्यों को पाया ही नही जा सकता और जमीन छोड़कर मानवीय सत्यो को पाने के लिए बौद्धिक फितरत करने वाले लोग रचना के रास्ते पर ही नहीं होते, वे एक बिंदु पर खड़ा होकर कुछ देर के लिए शब्दों के कौशल से रचना का एक विभ्रम पैदा कर सकते है।

रामदेव शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, जगदीशनारायण श्रीवास्तव, हरिहर सिंह, देवेन्द्रकुमार और कई लोग अपनी-अपनी प्रतिभा और साधना के बल पर उपलब्धि के भिन्न-भिन्न पड़ावों तक पहुंचे और पहुंचेंगे लेकिन

उपलब्धि के वैषम्य के बावजूद इनमें एक समता है कि ये अपनी जमीन से जुड़े रचनाकार हैं। डा० रामचन्द्र तिवारी अपनी जमीन और विरासत से जुड़े आलोचक हैं।

यशस्वी निबन्धकार और पंडित विद्यानिवास मिश्र न जाने कब से बाहर हैं लेकिन पकड़डीहा उनसे नही छूटा, गोरखपुर नही छूटा, अपनी समृद्ध विरासत उनसे नही छूटी। वे गोरखपुर मे न रहकर भी सही अर्थों मे गोरखपुर के हैं, इसी अर्थ मे मैं भी गोरखपुर का हूं। विद्यानिवास जी और मेरी जमीन भी एक ही है। हमारे गांव सटे हुए हैं। एक गांव, जिला और उससे जुडाव की प्रवृत्ति के कारण हम भौगोलिक रूप से दूर-दूर रहते हुए भी समीपता अनुभव करते रहे। पंडित जी का सबध-संसार बहुत बड़ा और बहुआयामी है। उस संसार मे मैं भी कही हूं लेकिन ठेठ उनके गांव के आदमी की तरह, उनके गंवई महपाठी की तरह और एक जमीन से जुडे लेखक की तरह। इसी धरातल पर मुझे उनका स्नेह और आत्मीयता प्राप्त है।

जमीन का जुड़ाव एक गहरे सम्बन्ध-सूत्र की रचना करता है इसलिए गोरखपुर मे मेरा साहित्य उनके द्वारा बडी उष्मा के साथ अपनाया गया जो गोरखपुर की जमीन से जुडे हैं किंतु दूसरी तरह के लोगो के लिए मैं साहित्य के परिदृश्य से अनुपस्थित ही नजर आया।

जो भी हो, अब गोरखपुर नये साहित्य की दृष्टि से चर्चा के भीतर आ गया है। इसका कारण साहित्यिक प्रतिभाएं तो है ही, पत्रिकाए भी है। कुछ साल पहले काफी दिन तक लालबहादुर वर्मा द्वारा सम्पादित 'भंगिमा' पत्रिका निकली जिसने विशेषतया देश-भर के जनवादियों का ध्यान आकृष्ट किया। अब कई वर्षों से डा० विश्वनाथप्रसाद तिवारी के सम्पादन मे 'दस्तावेज' निकल रहा है जिसने दलमुक्त होकर रचना और आलोचना प्रकाशित की और उपलब्धि की स्तरीयता प्राप्त की। मदनमोहन 'नयी रचनाएं' निकाल रहे हैं जो नवोदित प्रतिभाओं के आकर्षण का केन्द्र है। देवरिया से 'अंचल भारती' का प्रकाशन भी एक सुखद घटना है। इस पत्रिका के प्रकाशन के क्रम मे श्री जयनाथ मणि त्रिपाठी मुझसे मिले और मुझे सलाहकार सम्पादक बनाया। यह पत्रिका अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद इस मायने में महत्त्वपूर्ण है कि वह खुली हुई है, उसमें पूर्वांचल की गंध भी सुरक्षित है और धीरे-धीरे वह देश के साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट करने लगी है। इस पत्रिका के माध्यम से जयनाथ मणि और देवरिया के साथ मेरे बहुत आत्मीय सम्बन्ध बने।

79

30 अक्टूबर, 1984। साहित्य अकादमी की ओर से त्रिवेणी सभागार में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का शताब्दी वर्ष समारोह मनाया जा रहा था। दोपहर का भोजन चल

रहा था तभी ज्ञात हुआ कि इंदिरा जी को उनके अंगरक्षकों ने गोली मार दी है। वे अस्पताल में हैं। धीरे-धीरे यह आवाज भी उठ रही है कि वे दिवंगत हो चुकी हैं लेकिन अभी घोषित नहीं किया जा रहा है। त्रिवेणी सभागार से यूनिवर्सिटी जाकर मुझे क्लास लेनी थी और लेकर फिर आना था। मैं क्लास लेने गया किन्तु वातावरण बेचैन-सा लग रहा था। मैं वहां से त्रिवेणी सभागार न जाकर घर को लौट पड़ा। रास्ते में स्थिति की गंभीरता पर विचार करने लगा और डरने लगा—पता नहीं यह घटना क्या-क्या गुल खिलायेगी।

शाम को इंदिरा जी के देहावसान की घोषणा हो गयी और वातावरण में एक गहरी उद्विग्नता छा गयी। तरह-तरह की बातें होने लगीं। इंदिरा जी के अंगरक्षक सिख थे और चर्चा यही थी कि उन्होंने ही गोली चलायी है। इस बात की भर्त्सना होने लगी कि अंगरक्षक ही भक्षक बन गये। कितना घृणित और मूल्यहीन काम है यह। चूंकि दोनों अंगरक्षक सिख थे इसलिए लोगों ने बडी आसानी से सारी सिख कौम को अपनी भर्त्सना की लपेट मे ले लिया। इसके साथ पिछली कई बातें जुड गयीं। आतंकवादी सिख हैं जो खालिस्तान चाहते है और निरीह लोगों की हत्यायें कर रहे हैं। वे भिंडरावाला के नेतृत्व मे पवित्र स्वर्ण मंदिर को हथियारों का जखीरा बना रहे हैं। सरकार की मजबूरी यह थी कि वह स्वर्ण मंदिर मे पुलिस या सेना नही भेज सकती थी। स्वर्ण मंदिर के धर्माधिकारी इन गतिविधियों को रोक नही पा रहे थे। अंत में इंदिरा जी को स्वर्ण मंदिर में सेना भेजनी पडी। भिंडरावाला मारे गये और वहां से आतंकवादियों को निकाला गया।

पवित्र स्वर्ण मंदिर में सेना के प्रवेश से सिखों की आत्मा को चोट पहुंची। कुछ सिख सैनिक सेना छोडकर चले आये। यहां-वहां कई शहरों मे थोड़ी अशान्ति उत्पन्न हुई। इंदिरा गांधी के अंगरक्षकों ने अवसर पाकर इसी गुस्से के फलस्वरूप उन्हें गोली से भून दिया और एकाएक पूरी सिख कौम लाछन की गिरफ्त में आ गयी। मुझे लगातार कुछ घटित होने का डर सता रहा था। दूसरे दिन सुबह 9-10 बजे के आसपास हम लोग अपनी छत पर खड़े थे कि देखा आर्यसमाज रोड से शोर करती हुई भीड़ चली आ रही थी। तब मकान बहुत थोड़े बने थे इसलिए अपनी छत पर से हम दूर-दूर के भी दृश्य देख लेते थे। देखा कि गुरुद्वारे में कई लोग ईंट-पत्थर लिए खडे हैं। दो-एक व्यक्ति तलवार लिए पैंतरे बदल रहे हैं। जाहिर था कि ये लोग भी आशंकित होकर अपनी सुरक्षा के लिए तैयार थे। देखते-देखते दोनों पक्षों में भिड़न्त हो गयी। गुरुद्वारे में कम ही लोग थे इसलिए देर तक प्रतिरोध नहीं चल सकता था। भीड़ ने ईंट, पत्थरों तथा लाठियों से गुरुद्वारे का बोर्ड तोड़ दिया, अंदर घुसकर पंखे तोड़ दिये। अब हमें लग गया कि दंगा शुरू हो गया। वाणी विहार में कई सिख परिवार थे। हमें उनकी चिंता सताने लगी। हम (पति-पत्नी) दरवाजे पर आकर खड़े हो गये। हमारे दरवाजे से होकर भीड़ एक सिख परिवार की ओर बढ़ने लगी। भीड़ मे बच्चे, किशोर और युवक ही ज्यादा थे बल्कि वही थे। पत्नी ने उन्हें प्यार से रोका, "बेटा, उधर कहां जा रहे हो? बहुत हो गया' अब लौट जाओ।"

"नहीं, आंटी जी, आप नही जानती ये लोग बहुत मनबढ़ हो गये है। हमारे प्रधानमन्त्री तक को नही छोडा।"

"नहीं बेटे, ऐसा नही सोचना चाहिए। दो-चार लोगों के कारण पूरी कौम पर तोहमत नही लगानी चाहिए। अब बताओ यहां जो सिख रह रहे हैं उन्होंने क्या अपराध किया है जो तुम लोग उनके जान-माल के पीछे पड़े हो। करे कोई मरे कोई।" मैने कहा।

भीड कहा कोई तर्क सुनती है लेकिन पत्नी के बार-बार समझाने पर कुछ युवकों ने कहा—"अच्छा आंटी जी, बहुत प्यास लगी है, पानी पिलाइये।"

"बेटे, पानी तो सबको पिलाऊंगी, तुम्हारी आंटी जो हू लेकिन आंटी की बात मानकर तुम लोगो को यही से लौट जाना पड़ेगा।"

"ठीक है आंटी जी।"

और वे सचमुच पानी पीकर लौट गये। यह तात्कालिक रेला तो लौट गया लेकिन विपत्ति तो नही लौटी। हमे लग गया कि अब अधिक सुनियोजित ढग से कुछ होगा। अभी तक तो कुछ लडको का स्वाभाविक रोष था। समय बीतने के साथ अफवाहें गरम होती गयी और चारो तरफ से कुछ अघटित होने के समाचार आने लगे। टी० वी० इंदिरा गाधी के शव के आसपास उठते दु:ख और क्षोभ के वातावरण को उभार रहा था। नेता लोग उसी परिवेश मे डूबे हुए थे और इधर शहर मे (और लगभग पूरे देश में) अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। यह भी सुनने मे आ रहा था कि अमुक-अमुक नेता ने इस अराजकता को हवा दी है, पुलिस भी निष्क्रिय है।

हम लोगो ने वाणी विहार-विकास-समिति की बैठक बुलायी। मै समिति का अध्यक्ष था, अत: मेरा दायित्व था कि इस स्थिति से निबटने के लिए लोगो से सलाह-मशविरा करूं। तय हुआ कि रात को पहरा दिया जाये। पहरेदार तो था ही किन्तु उससे क्या होता? आठ-आठ, दस-दस आदमी बारी-बारी से रात-भर पहरा दें। श्री के० के० तिवारी प्रधान सचिव थे। उनके यहा लोग जमा होते थे। नवम्बर शुरू हो गया था, ठंडक पडने लगी थी। लोग सडक पर अलाव जलाते थे। चाय बनती रहती थी, रेवड़िया भी रखी रहती थी। थोडा गरम होकर लाठी लिए हुए चक्कर काट आते थे। हमारे मोहल्ले मे और आसपास कई सिख परिवार थे। हममें तो बेहद भाईचारापन था किन्तु दंगों मे मोहल्ले के लोग आपस में थोडे मार-काट करते है। वे तो एक-दूसरे के सम्बन्धो के रस मे भीगे रहते है और वे नजदीक से अनुभव करते है कि जाति या सम्प्रदाय कोई हो, सभी लोग मनुष्य ही होते है। उनके दु:ख-दर्द, हर्ष-उल्लास समान ही होते है, सबकी रगो मे एक ही रक्त बहता है। जाति या सम्प्रदाय कोई हो, कोई मरता है तो पत्नी विधवा होती है, बच्चे अनाथ होते है, बूढ़े मा-बाप की आखों मे अफाट अंधकार पहाड की तरह जम जाता है। परिवार के लोगों के सामने ही परिवार के लोगों का बारी-बारी कत्ल होता है, औरतो के साथ व्यभिचार होता है और लोग तड़पते हुए असहाय से खड़े रहते है या अपनी बारी का इंतजार करते है। क्या यह यातना किसी एक जाति, सम्प्रदाय या वर्ग की यातना है? नहीं, सबकी है किन्तु जब हम पर पडती है तो वह यातना यातना लगती है। जब हम दूसरों पर यह यातना ढाते है तब हमारे लिए वह

मनोरंजन बन जाती है। मानवीय यातना का यह सूत्र कम-से-कम पड़ोसियों को बांधे रहता है क्योंकि हम एक-दूसरे को मनुष्य के रूप में भली-भांति पहचानते हैं किंतु अनजान लोग हमारे लिए कुछ और हो जाते हैं इसलिए बलवाई प्रायः अपने मोहल्लों में नहीं दूसरे मोहल्लों में दंगा करते हैं, वहां पहचान से उत्पन्न मुरौवत नहीं होती। वहां कोई आदमी आदमी नहीं केवल हिन्दू या मुसलमान या सिख या और कोई कौम होता है। इसलिए किसी एक घटना से उस काम के प्रति उनकी बद्धमूल असली-नकली खीझ नफरत की आग बनकर फैल जाती है और सम्प्रदायों की भीड को निगलने लगती है।

हम लोगों को अपने पड़ोसी सिख परिवारों के प्रति बेहद चिंता थी। डर था कि दूसरे मोहल्लों के लोग रात-बिरात हल्ला बोलकर इन्हें खत्म न कर दें। हम लोग संगठित तो थे फिर भी डरे हुए थे—कहीं हजारों की भीड एक साथ टूट पड़ी तो?

पहला दिन खूब अराजकता मे बीता। आश्चर्य तो यह था कि इतना उत्पात होने के बावजूद न पुलिस थी न सेना। राजीव गांधी के प्रधानमंत्री होने की घोषणा हो गयी थी। लगता था सारा मंत्रिमंडल और सत्ता इंदिरा जी की मृत्यु के दुःख में ही सिमट गयी थी। शहर में और देश में अनत निरपराधों की जानें जा रही हैं, इसकी चिंता किसी को नहीं थी। हम लोग बार-बार अधिकारियों को फोन कर रहे थे। उधर से या तो कोई जवाब नहीं मिलता था या उत्तर मिलता था—हम कुछ नहीं कर सकते। हम विस्मित थे कि आखिर सरकार इस नगर और पूरे देश में घटित हो रहे अमानवीय तांडव के प्रति बेखबर क्यों हैं? इंदिरा जी की हत्या होते ही उसे इन घटनाओं की सम्भावना को पहचान लेना चाहिए था और तुरंत पुलिस तथा सेना को सावधान कर देना चाहिए था और कम-से-कम पहले दिन की शाम तक कर्फ्यू लगा देना चाहिए था। बाहर से दंगाइयों के समूह आते थे और सिख परिवारों के घरों के चक्कर लगाते थे—शायद उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं चल पाता था कि सिखों के घर कौन-कौन से हैं? वाणी विहार के लोगों की सतर्कता का ही परिणाम था कि बाहरी लोगों को सिख परिवारों का पता नहीं चल पाता था। वे अंदाज से इधर-उधर मंडराते थे। उत्तम नगर के कई मोहल्लों से उनके मरने और जलने की खबरें आती थीं तो हम बेहद परेशान हो जाते थे। कुछ मित्रों ने कुछ सिख परिवारों को अपने-अपने यहां छिपा रखा था। इसकी भनक उपद्रवियों को मिल गयी थी और वे बार-बार उन्हीं के घरों को फूंक देने की धमकी दे रहे थे।

अराजकता में पहला दिन बीता, दूसरा दिन बीता, सारे सिख परिवार कैसे रहे, कहां रहे इसका एक नमूना देना चाहूंगा। तीसरे दिन कर्फ्यू लगा। हमारे मोहल्ले में भी सेना आ गयी थी।

हमारे घर से दूर पर एक सिख परिवार था—सूरतसिंह जी का। पत्नी ने कहा—"सुनिये, सुना है सूरतसिंह का परिवार अपने पड़ोसी मित्र धवन साहब के यहां था लेकिन लोगों को यह बात ज्ञात हो गयी। इसलिए फिर चुपके से वे लोग अपने घर में चले आये। उनकी छोटी जवान बेटी है। कहिये तो उसे अपने घर में रख लिया जाए।"

मैंने तुरन्त स्वीकृति दे दी और तय हुआ कि रात के अंधेरे में उसे बुला लिया

आयेगा। तब तक सड़क पर फौजी गाड़ियों की हलचल दिखाई पड़ी। मैं छत पर से नीचे उतरा और फौजियों से कहने गया कि फंसे हुए सिख-परिवारों को निकालकर सुरक्षित जगहों पर ले जाइये। मेरे साथ मोहल्ले के दो-एक व्यक्ति और थे। हम फौज की गाड़ी की ओर बढ़ रहे थे कि फौजी चिल्लाये—"खबरदार, कोई आगे न बढ़े, गोली मार दी जायेगी। सभी लोग अपने-अपने घरों में लौट जायें।" हम आगे नहीं बढ़ सके और निराश होकर लौट आये। पत्नी से बताया तो वे बोलीं—"मैं जा रही हूं।" मैंने कहा—"जाओ, शायद औरत का लिहाज करें।"

वे गयीं तो लोग चिल्ला उठे—"मत जाइए मिसेज मिश्रा। फौज गोली मार देगी" किंतु वे बढ़ती ही गयीं। फौजी चिल्लाये—"रुक जाइये।" वे दोनों हाथ उठाये हुए फौजियों की तनी हुई बंदूकों के सामने बढ़ती ही गयीं। फौजी भी चकित थे। इनके पास पहुंचने पर आफिसर ने कहा—"कहिये मैडम, क्या बात है?"

"बात यह है कि कई सिख परिवार अपने घरों में फंसे हुए हैं। उन्हें निकालकर सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाइये।"

"चलिये, हम लोग तो इसीलिए आये हैं किंतु खबरदार, और कोई साथ नहीं आयेगा। आप हमें ले चलिये।"

पत्नी आगे-आगे और फौजी जीप पीछे-पीछे। पत्नी थोड़ी देर के लिए घर आयी थीं। फौजी जीप ज्यों ही वाणी विहार के अंदर सड़क पर आयी फौजियों ने देखा कुछ लोग घूम रहे हैं। आफिसर चिल्लाया—"खबरदार, गोली मार दूंगा।" भगदड़ मच गयी। पत्नी घर के पिछले दरवाजे से निकलीं तो देखा डा० रमाशंकर श्रीवास्तव गली में भागे आ रहे हैं हांफते-हांफते।

"अरे, इस तरह घबराये हुए से भाग क्यों रहे हैं?"

"अरे भाभी! मैं तो घूम रहा था कि एकाएक फौज की गाड़ी आ गयी और वे चिल्लाये कि भागो नहीं तो शूट करते हैं।"

बाद में पत्नी ने इस बात को लेकर डा० रमाशंकर जी का मजाक उड़ाया—"कैसे मर्द हैं आप लोग कि फौज की एक झिड़की पर गली-गली भागने लगे।"

"भाभी! आप मेरा ही मजाक उड़ायेंगी, गायन साहब को कुछ नहीं कहेंगी जो डपट सुनते ही पास के एक छोटे से गड्ढे में दुबककर लेट गये।"

हम लोग इस दृश्य की कल्पना करके खूब हंसे। वास्तव में गायन साहब की काया ऐसी है जो छोटे से छोटे गड्ढे में समा सकती है।

बहरहाल पत्नी घर से निकलकर फौज की गाड़ी के पास गयीं और आगे-आगे वे और पीछे-पीछे फौज की गाड़ी—यह कहती हुई कि खबरदार, मैडम के अलावा कोई सामने नहीं आयेगा।

पत्नी सरदार सूरतसिंह के यहां गयीं। दरवाजा खटखटाया। कोई आहट नहीं। उन्हें लगा कि भीतर भय की एक गहरी सरसराहट रेंग रही है। पत्नी ने आवाज दी—"खोलिये-खोलिये, मैं मिसेज मिश्रा हूं। फौज के अफसर मेरे साथ हैं।"

लगा अंदर थोड़ी आश्वस्ति की सांस उठी। किसी लड़की ने कहा, "यह तो

मिश्रा आंटी हैं।" उन लोगों ने दरवाजे के छेद से बाहर झांककर निश्चित कर लेना चाहा कि जो कुछ कहा जा रहा है सही तो है न।

दरवाजा खुला। लोगों के चेहरे भय से स्तब्ध थे। सूरतसिंह और अन्य कई लोग खाट के नीचे दुबके पड़े थे, वहां से निकले। पत्नी का हृदय दहल गया और जब मैंने सुना तो कांप गया। दूसरों के किये की सजा दूसरे क्यों पाते हैं ?

पत्नी इस परिवार को निकालने के बाद बारी-बारी से सारे सिख-परिवारों के यहां गाड़ी ले गयी और सबको फौज की छाया मे सुरक्षित स्थानों को भिजवाया। मैं अपनी छत पर से ही लोगों को जाते हुए देख रहा था। लगता था जैसे लोग मौत के कुए में से निकलकर खुली हवा में आ गये हों किन्तु भय की स्तब्धता अभी भी चेहरों पर जमी हुई है।

मै बड़ी शर्मिन्दगी महसूस कर रहा था कि वाणी विहार-विकास-समिति का अध्यक्ष होकर मैं वह नहीं कर सका जो पत्नी ने कर दिया किन्तु साथ ही पत्नी के इस साहस और मानवीय प्रयासों के लिए गहरा गौरव-बोध अनुभव कर रहा था। शायद मेरे हीनता-बोध को देखकर ही पत्नी ने कहा—"मैंने जो कुछ किया वह आपका ही किया हुआ है। आप मुझे न जाने देते तो मैं कैसे जाती ? आप जब असफल होकर लौटे थे तो आपके चेहरे पर गहरी पीड़ा थी। उसी को देखकर तो मैंने साहस किया। दरअसल आपकी बेचैनी ने मेरी बेचैनी को सक्रियता दी।"

मैं केवल मुसकराया था। यह चर्चा जोरो पर थी कि इस दंगे में कुछ कांग्रेसी नेताओं का हाथ था। पत्नी के प्रयत्नों के दो-चार दिन बाद मालूम पड़ा कि एक छुटभइया नेता किसी से कह रहा था—"सुना है वाणी विहार में मिसेज मिश्रा ने सिखों के बचाव में बहुत पुरुषार्थ दिखाया है। उन्हें :सका फल भोगना पड़ेगा।"

हमने उस मित्र से कह दिया—"जाकर उससे कह दीजिये जो करना हो कर ले। ऐसे-वैसे सड़क छाप नेता हमने बहुत देखे है। फल हमें नहीं उसे और उस जैसे अनेक छोटे-बड़े नेताओं को भोगने पड़ेंगे।"

हर दंगे की तरह यह दंगा भी बीत गया किन्तु अपना बदनुमा दाग छोड़ गया और छोड़ गया तमाम असहाय लोगों को बेघर-बेसहारा तड़पते रहने के लिये। हर दंगे की तरह यह दंगा भी अपनी अमानवीय हरकतों के बीच कुछ अद्भुत मूल्यवान मानवीय सम्बन्धों की घटनाएं दे गया। इन घटनाओं के साक्षात्कार से मन में यह विश्वास बना रह जाता है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच का इंसानी रिश्ता अभी बचा हुआ है और बचा रहेगा और जब तक बचा रहेगा, दुनिया बची रहेगी।

80

दक्षिण परिसर के हिन्दी विभाग मे डा० विजयेन्द्र स्नातक सेवामुक्त हो चुके थे और डा० महेन्द्रकुमार उत्तर परिसर चले गये थे। डा० विश्वनाथ त्रिपाठी रीडर होकर

यहां आ गये थे। डा० नित्यानंद तिवारी भी कक्षा लेने दक्षिण परिसर आते थे और चूंकि वे हम सभी के अच्छे मित्र है इसलिए लगता था कि वे भी दक्षिण परिसर के ही हैं। कुछ दिनों बाद जब महेन्द्र जी ने यहा की जगह खाली की तो नित्यानद जी की नियुक्ति दक्षिण परिसर मे हो गयी।

दक्षिण परिसर का हिन्दी विभाग छोटा है और कहा जा सकता है कि उसमे एक लय है। सभी लोग साथ ही बैठते है, दोपहर का खाना खाते हैं, चाय पीते रहते हैं, समस्याओ पर बात करते रहते हैं, हंसी-मजाक करते है तथा खुलकर हंसते है। मुझे भी एक दिन इनके साथ बैठकर भोजन करने का अवसर मिलता था क्योकि सोमवार को जब इन लोगो की क्लास शुरू होती थी तब मेरी खत्म हो चुकी होती थी। बुधवार को मै उत्तर परिसर जाना था, बृहस्पतिवार को इन तीनो की कक्षाए उत्तर परिसर में होती थी। बस, शुक्रवार ऐसा दिन होता था जब हम सभी साथ होते थे। वैसे भी प्रबन्ध-व्यवस्था से मेरा कोई सम्बन्ध नही बना। उसमे कभी मेरी रुचि भी नही रही। बस, क्लास लेता था, विभाग जहा शरीक करता था शरीक हो जाता था। हेड और इचार्ज होने की यातना से बच गया। एक बार साठ वर्ष का होने से पूर्व महीने-भर के लिए इचार्ज होने की नौबत आ गयी थी। दो-चार कागजों पर हस्ताक्षर किये थे बस। कभी साहित्य सभा का परामर्शदाता था, उमसे भी मुक्ति मिल गयी थी। पुस्तकालय-समिति मे सदस्य था। कभी कोई प्रकाशक पुस्तके लाया, कुछ छाट-छूट ली बस। प्रशासनिक और व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों मे कम मे कम लगाव के कारण मैं बहुत हलका-हलका महसूस करता था। दिमाग पर कोई आवश्यक बोझ नही होता था। मेरे इस सुख का श्रेय विभाग के अन्य मित्रो को है, विशेषतया डा० निर्मला जैन को। क्योकि ये प्रशासनिक या व्यवस्था सम्बन्धी कार्य शैक्षिक कार्यों के साथ अपरिहार्य भाव से जुडे हुए है, किसी न किसी को तो करना ही पडेगा। अपने शैक्षिक कार्यों के साथ इन कार्यों को भी निर्मला जी बडी कुशलता और रुचि से सम्पादित करती थी, अतः उसका बोझ दूसरो के कंधो पर कम से कम पडता था। वैसे अन्य दोनो मित्र भी उन्हें भरपूर सहयोग देते रहे है और उन्होने जब जहा चाहा मै भी उनके साथ खडा रहा।

मित्र तो हम सभी है और एक-दूसरे की बातो का सम्मान करते है किन्तु विभाग मे मेरी सबसे अधिक समीपता रही डा० नित्यानद तिवारी से। इसका कारण विभाग नही है वरन् विभाग के बाहर की दुनिया है। हम विभाग मे न होते तो भी शायद यह अंतरगता होती। शुरू मे वे राजधानी कालेज मे थे और मैं डी० ए० वी० कालेज मे और हम दोनो एक-दूसरे के निकट आये तो आते ही चले गये। हां, दक्षिण परिसर मे हम दोनो साथ हो गये तो इतना ही हुआ कि हम सप्ताह में तीन-चार बार अनायास ही मिल जाते रहे। नित्यानंद मे कई ऐसी बातें है जिनके कारण मैं एक बार जुडा तो उनसे जुडता ही चला गया। सबसे बडी बात यह है कि वे निश्छल व्यक्ति हैं, जो कहेंगे उस पर भरोसा किया जा सकता है। चाहे जीवन-व्यापार हो चाहे साहित्यालोचन, नित्यानद मे गहरी विश्वसनीयता है। दूसरी बात यह है कि वे

स्वयं बहुत प्रखर आलोचक और मेधावी होने के बावजूद दूसरों का सम्मान करते हैं। दूसरे उन्हें यदि अच्छे लगते हैं तो खुले मन से उन्हें अच्छा कहते हैं। अपने प्रति तो वे बहुत निस्पृह हैं जैसे कुछ पाने की इच्छा ही न हो। जब तमाम छोटी-छोटी प्रतिभाएं लेखक या आलोचक के रूप में अपने को जनवाने के लिए लगातार हाथ-पांव मार रही हैं और आत्म-प्रचार में लीन हैं तब नित्यानंद अपनी प्रखर समीक्षात्मक प्रतिभा को लिए-दिए चुप हैं। मस्ती में कभी कुछ लिख देते हैं या कोई लिखवा लेता है तो लिख देते हैं फिर उसके बारे में डंका नहीं पीटते। बस पढ़ना, मित्रों और शिष्यों के लिये हमेशा कुछ करने के लिये उत्सुक रहना, उनके साथ चाय पीना, पान खाना और अनेक साहित्यिक और सामाजिक सवालों पर बातचीत करना और मन से अपनी कक्षाएं पढ़ाना उनका सुख है। जहां वे अपनी पसंद के साथ जुड़े व्यक्तियों और सन्दर्भों के प्रति अपने को खोल देते हैं वहीं नापसंदों के प्रति तुर्श भी हो उठते हैं। उनसे खूब जूझते भी हैं। वे जनवादियों से जुड़े हैं, मैं भी जुड़ा हूं लेकिन न वे कभी किसी वाद के कठघरे में बंद हुए न मैं। हमने एक व्यापक और कलात्मक रूप में ही साहित्य में जनवाद या प्रगतिवाद की उपस्थिति स्वीकार की है।

नित्यानंद के साथ मेरी मैत्री का कारण व्यक्तिगत पसंद तो है ही, साहित्यिक पसंद भी है। मैंने कभी यह भ्रम नहीं पाला कि मैं महान् साहित्यकार हूं किन्तु यह हीनताबोध भी नहीं है कि मैं कुछ हूं ही नहीं। मुझे इतना विश्वास है कि मैंने हर विधा में अच्छा और सार्थक लेखन किया है, जिसे उसके बारे में बोलना है बोले, चुप रहना है चुप रहे। नित्यानंद मेरे साहित्य के बारे में बोलते हैं, बोलते रहे हैं और जो बोलना होता है खुले मन से बोलते हैं—पक्ष में भी, विपक्ष में भी। उन्होंने मेरी अनेक कृतियों पर बहुत महत्त्वपूर्ण समीक्षाएं भी लिखी हैं। वे मेरी अच्छी रचनाओं को देखकर उसी प्रकार खुश होते हैं जैसे उन्होंने स्वयं लिखी हो। नित्यानंद जी मुझे भी निश्छल अपनापन देते हैं और मेरे साहित्य को भी। विभाग में एक साथ बैठने वाले रामदरश मिश्र और नित्यानंद तिवारी इन तमाम सन्दर्भों से जुड़े रामदरश मिश्र और नित्यानंद तिवारी होते हैं, अतः वहां भी मैं इनसे सर्वाधिक समीपता अनुभव करता हूं।

मेरी सेवा-मुक्ति के वर्ष में नित्यानंद तिवारी तथा ज्ञानचंद गुप्त ने 'रचनाकार रामदरश मिश्र' नाम की पुस्तक सम्पादित कर मेरे समग्र साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। मुझे अच्छा बल्कि बहुत अच्छा लगना ही था। विभाग से इसका कोई सरोकार नहीं था किन्तु नित्यानंद जी इसे विभाग से जोड़ना चाहते थे। इसलिए उन्होंने डा० निर्मला जैन और डा० विश्वनाथ त्रिपाठी की प्रसन्न सहमति से विदाई-समारोह के अवसर पर उसे समकुलपति के हाथों मुझे भेंट करवाया। मैं इसीलिए कह रहा था कि विभाग में मेरे और नित्यानंद की मैत्री का आधार विभाग में नहीं, कहीं विभाग से बाहर था जो यहां भी अपनी भूमिका अदा करता था।

बहरहाल विदाई-समारोह मेरे लिये चिरस्मरणीय प्रसंग है। कुछ दिन पहले एम० ए० के छात्रों ने मुझ पर अपने सद्भावों की वर्षा की थी। उस दिन विभाग के साथियों ने मुझ पर अपनी आत्मीयता का आशीष ढरकाया था। डा० नगेन्द्र,

डा० आबाद अहमद, डा० गंगराडे, डा० नामवरसिंह, डा० तारकनाथ बाली, डा० निर्मला जैन ने अपने-अपने शब्दों से और विभाग तथा कालेज के अनेक मित्रों ने अपनी उल्लासपूर्ण उपस्थिति से मुझे जो अपनापन दिया उससे मुझे तथा मेरे साहित्य को और जीवन-शक्ति प्राप्त हुई।

इसी क्रम मे यानी मेरे पैंसठ वर्ष पूरा करने के उपलक्ष्य में भारतीय लेखक संगठन ने एक साहित्यिक आयोजन किया। मेरी साठवी वर्ष गांठ पर भी प्रभात प्रकाशन के सहयोग से वह एक आयोजन कर चुका था। प्रभात प्रकाशन के श्यामसुंदर जी ने इस अवसर पर बड़े उत्साह के साथ मेरी 61 कहानियों का एक संग्रह 'इकसठ कहानियां' नाम से प्रकाशित किया था। जैनेन्द्र जी ने उस अवसर पर उसका लोकार्पण किया था। अध्यक्षता की थी नगेन्द्र जी ने। इस आयोजन मे संगठन के मेरे मित्रों के प्रयास से शहर के अनेक गण्यमान्य साहित्यकार आये। डा० स्नातक ने अध्यक्षता की। कमलेश्वर मुख्य अतिथि थे। लेखक-संगठन के अध्यक्ष डा० तारकनाथ बाली, उपाध्यक्ष डा० नरेन्द्र मोहन, महासचिव विनय, सचिव डा० रत्नलाल शर्मा आदि ने इस आयोजन को सफल बनाने के लिए बहुत श्रम किया और इन लोगो ने तथा कन्हैयालाल नदन, हरदयाल, महीपसिंह, प्रताप सहगल, के० जी० वर्मा, धर्मेन्द्र गुप्त, गोपालकृष्ण कौल ने मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा उससे मुझे बहुत बल मिला। मैंने उसे फूल की तरह अपने भीतर धारण कर लिया है जिसकी खुशबू आती रहती है। मित्रों, पाठकों, छात्रो और अनेक लोगों के अपनेपन की खुशबू मेरे भीतर बनी रहे, जीवन की इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है—

"मिला क्या न मुझको ऐ दुनिया तुम्हारी
मुहब्बत मिली है मगर धीरे-धीरे।"

81

मेरा स्वभाव घरेलू है। इसका कारण मेरा स्वभाव तो है ही, मेरा पारिवारिक परिवेश भी है। मेरा पारिवारिक परिवेश सदा मेरे अनुकूल रहा। पत्नी का साहचर्य मेरे लिए इतना प्रसन्न रहा कि घर मेरे लिए आश्वस्ति का नाम बन गया। बस, मैं अपने काम से बाहर निकलता था और लौटकर घर आ जाता था। घर के लोगों के बीच मुझे अच्छा लगता था। दिन-भर भटकना, सबंधों की तलाश करना और विशेष अभिप्राय से संबंध जोड़ते चलना और समय आने पर उन संबंधों का उपभोग करना मेरे स्वभाव में भी नही रहा और ऐसा करने के लिए अलगाव की जो स्थिति होती है वह भी मेरे साथ नहीं थी। घर का गहरा लगाव मुझे भटकने से रोकता था और अपने पास खींच लाता था। यह अच्छा है या बुरा, इससे मैंने भौतिक दृष्टि से क्या खोया क्या पाया, यह अलग सवाल है। जो स्थिति है मैं उसकी बात कर रहा हूं और जहां तक पाने का सवाल है

मैंने बहुत पाया। आत्मीयता के ठोस परिवेश में जीकर मैं भीतर से बहुत भरापुरा अनुभव करता रहा। आत्मीयता का यही ठोस परिवेश मित्रों के साथ भी रहा। मैंने बहुत सम्बन्ध नहीं बनाये, लेकिन जो बने वे बहुत मूर्त हैं।

लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति के साथ मुझमें घरेलूपन रहा है। गांव में था तो घर-गृहस्थी के काम करता था, मां के साथ कभी-कभी चक्की पर बैठ जाता था और उसके मना करने पर भी थोड़ी देर तक उसके साथ चक्की चलाता था। मां का अकेलापन मुझे उसके साथ काम करने के लिए प्रेरित करता था। वह बहुत कर्मठ थी और बिना किसी दीन भाव के बहुत जीवट के साथ अनेक काम सम्पन्न करती थी, उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नही थी किन्तु मुझे लगता था कि इसके काम में थोड़ा-थोड़ा हाथ बंटाऊं। मैं बंटा क्या सकता था लेकिन इससे मेरे घरेलूपन की प्रवृत्ति का एक अंदाज मिलता है।

बाहर पढाई के क्रम में अपने हाथ से खाना बनाने और अपने अन्य सारे कार्य करने का अभ्यास बना। यद्यपि मैं निपुण किसी मे नही हुआ पर निपुणता के लिए नहीं, काम चलाने के लिए मैं ये सारे काम करता था। शादी के बाद पत्नी के साथ जीवन-यात्रा शुरू हुई। बनारस, बडौदा, अहमदाबाद, नवसारी, दिल्ली इस जीवन-यात्रा के पड़ाव है। पत्नी भी मा की तरह बहुत कर्मठ हैं। शादी के समय के नववय से लेकर आज तक वे जीवन-कर्म से साहस और उत्साह के साथ जूझती रही। कोई भी साथ नही था। जब वे बीमार पड़ती थी या मां बनती थी तब भी मेरे सिवा उनकी देखभाल करने वाला कौन था? मैं चाय बनाता था, दूध गरम करता था, जैसा भी बना सकता था खाना बनाता था, घर के और सारे काम करता था, उनकी प्रसूति के समय पुष्टई-वुष्टई बना देता था, उनके साथ बैठकर सब्जी काट देना, आलू या मटर छील देना, गेहू चिनवा देना, उनके बीमार पड़ने पर अंगीठी जला देना आदि कार्यों से कभी-कभी मैं सहज भाव से गुजरता रहा हू। इसमें मुझे सुख मिलता है, ठोस पारिवारिक आत्मीयता मिलती है। मेरे मन मे सैद्धान्तिक रूप से स्त्री-पुरुष के कार्यों के सख्त विभाजन का आग्रह कभी नहीं रहा। यह बात दूसरी है कि व्यावहारिक रूप मे हम अलग-अलग काम करते हैं किन्तु आवश्यकतावश हम दोनो एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करते रहते हैं। मैंने कम ही प्रवेश किया किन्तु पत्नी ने अपना सारा काम करते हुए भी अनेक ऐसे कामों का जिम्मा अपने ऊपर उठा लिया जो मुझे करने चाहिए थे। यानी जो काम पुरुषों के होते हैं उन्हें अपना बनाकर वे करती रही।

बहुत-से पुरुष ऐसे हैं जो वैसे तो बहुत आधुनिक बनते है किंतु पुरुष संस्कारवश या आलस्यवश वे छोटे-छोटे कामों के लिए भी पत्नी को आदेश देते रहते हैं। पत्नी उनके समान ही नौकरी करती है और वैसी ही व्यस्त रहती है तो भी वे पानी भी पत्नी से मांगेंगे, चाय पत्नी से मांगेंगे। यह बात तो समझ में आती है कि कुछ मित्र आ गए हों और पत्नी फुरसत में हो तो वह चाय-नाश्ता बनाकर लाये। लेकिन यह कहां का पुरुषार्थ है कि आप खाली बैठे हैं और पत्नी आटा गूंध रही है और आप चिल्ला रहे हैं कि एक कप चाय दे जाओ और तुर्रा यह कि हाथ धोने में उस बेचारी को थोड़ा विलम्ब

हो गया है तो आपका खोखला पुरुषोचित दम्भ डाट-फटकार मे बदल रहा है। पत्नी थकी-हारी आफिस से आ रही है और आप पहले के आये हुए हैं या छुट्टी पर हैं या यों ही खाली बैठे है और आते ही आदेश शुरू कि चाय पिलाओ। होना तो यह चाहिए था कि आप अपने लिए खुद चाय बना लेते और पत्नी के आने पर चाय बनाकर उसे पेश करते, फिर देखते सम्बन्धो मे कितनी मिठास आ जाती। आपका दम्भ भले ही तृप्त न होता, आपको गहरा आतरिक सतोष मिलता, आप सही अर्थों मे अपने सहचर होने को प्रमाणित कर पाते। आप अपनी उस मनुष्यता की एक छोटी-सी ही सही, ठोस पहचान प्रस्तुत कर पाते जिसे अपनी रचनाओ और भाषणो मे उगलते रहते है।

मैंने कहा न घर से निकलकर दिन-भर यहां-वहा भटकना मुझे रास नही आता। मेरा स्वभाव भी नही है और स्थितिया भी नही। मैंने कई लोगों को देखा है कि वे सुबह घर मे निकलते है तो तब तक घर नहीं लौटते जब तक कि लौटना जरूरी न हो जाए। इसका एक कारण तो समझ मे आता रहा कि वे लोग सम्बन्धों की खोज करते रहते है, सम्पर्क बनाते रहते है, पता नही कौन सम्पर्क और सम्बन्ध कब उनके काम आ जाए। लेकिन गहराई मे जाने पर ज्ञात होता है कि उनके घर मे ऐसा कुछ है ही नही जो उन्हें अपनी ओर खीचे बल्कि उलटा उन्हे अपने से दूर धकेलता रहता है। जो भी हो घर से यह अलगाव उनकी सासारिक उपलब्धियों का कारण बनता है। प्राप्ति के लिए बाहर सारा जोड-तोड करने का उन्हें अवसर प्रदान करता है। और यह भी विचित्र ही है कि भावात्मक स्तर पर घर से अलगाव झेलते हुए ये महापुरुष स्वार्थ के स्तर पर अपने घर के लिए कितना गहरा लगाव अनुभव करते है। दरअसल बाहर-बाहर वे जो सबध निर्मित करते है उसका लाभ केवल उन्हीं को थोडे ही होता है, उनके पूरे परिवार को बल्कि परिवार दर परिवार को होता है। सारे मूल्यो को ताक पर रखकर अपने उन परिवारजनो के लिए कुछ भी कर सकते है जिनके अलगाव के कारण वे बाहर-बाहर भटकने के लिए अभिशप्त होते है। वैसे अपने परिवार के हित के लिए किसे चिंता नही होती और कौन चाहता है कि उसके परिवार के लिए कुछ न किया जाए? यह बडा स्वाभाविक है और यह स्वाभाविकता की सीमा तक तो ठीक लगता है किन्तु कुछ लोग इसे वीभत्स व्यावसायिक स्तर तक खीच ले जाते है। किसी प्रकार उनके परिवार का काम होना ही चाहिए। साम, दाम, दड, भेद किसी का भी इस्तेमाल करना हो ये करेंगे और अपने अयोग्य पुत्र-पुत्रियो को योग्य छात्रो की उपेक्षा करवाकर दाखिला दिलायेंगे, प्रथम श्रेणी दिलायेंगे बल्कि टॉप करायेंगे, पहले उन्हें ही नौकरी दिलायेंगे, तरक्की दिलायेंगे, पत्नी को लेक्चरर, रीडर, प्रिंसिपल, प्रोफेसर बनवायेंगे और यह सब करने मे उन्हे कही सकोच नही होगा, कही भी उनकी आत्मा चरमरायेगी नही।

सोचता हू अच्छा ही हुआ कि मेरे स्वभाव और पारिवारिक स्थितियो ने मुझे घरेलू बना दिया। इससे परिवार के लोगों को जो मिला या नही मिला उसके लिए प्रायः वे स्वय जिम्मेवार है, मेरी शरीकता कम से कम रही। न मुझमे दाता का अहकार जागा, न उनमे परावलम्बिता और दीनता का बोध। वे जो कुछ है वे स्वयं हैं, आरोपित नही हैं। इससे परिवार में एक सहजता बनी रही और इस सहजता में मैं लगातार

भरापूरापन अनुभव करता गया।

बच्चे हुए। देशी स्कूलों में पढ़े और वे देशी आचरण ही करते रहे। परिवार विदेशी कृत्रिमता से विकृत नहीं हुआ। मैं इनके सुख-दुःख के साथ जुड़ा हुआ चलता रहा। बहुएं आयीं। उनमें भी पारिवारिक सहजता मिली और गृहता का रस और गाढ़ा हो गया। यह भी सुखद संयोग है कि परिवार बिखरा नहीं। हेमंत धारावाहिकों और सिनेमा के क्षेत्र में ज्यादा चमकने के लिए बम्बई जा सकते थे, नहीं गये। दिल्ली में घर का लगाव छोड़कर कैरियर के लिए बम्बई में भटकने की उन्हें कभी इच्छा ही नहीं हुई। अतः वे, उनकी पत्नी माया और तीनों बच्चे वर्षा, स्वाती और शुभ्रा मेरे साथ ही है। शशांक की नियुक्ति भारतीय स्टेट बैंक के दिल्ली जोन में ही हुई। अतः फिलहाल वे भी अपनी पत्नी रीता तथा पुत्र उत्सव के साथ मेरे साथ ही है। सौभाग्य से मेरे जामाता अश्विनी तिवारी भी दिल्ली आ गये और पास के मोहल्ले विकासपुरी में रहने लगे और इस प्रकार वे तथा बेटी अंजु और धेवतिया मेहा और आशी भी इस परिवार के सदस्य बने हुए है। छोटी बेटी स्मिता तो अभी साथ है ही।

वैसे तो बुढापे में अकेलेपन के तमाम किस्से सुने है, पढ़े है, फिल्मो मे देखे हैं किन्तु अपने अनेक मित्रों को इस अकेलेपन को झेलते हुए साक्षात् देखा है, अनुभव किया है। लड़के विदेश चले गये या अपने ही देश में यायावरी नौकरी के प्रवाह में बह रहे है। लड़कियां शादी के बाद अपनी-अपनी ससुराल चली गयी। बाप ने अपनी नौकरी के दौरान पैसे बचा-बचाकर अपने परिवार के लिए जो मकान बनवाया, उसमे रहने के लिए वही बच गया—पत्नी के साथ या अकेले। ये बच्चों के साथ रह नही सकते क्योंकि कई बच्चे हुए तो वे बारी-बारी मे सामान की तरह मां-बाप को या मां और बाप को अलग-अलग कुछ दिनों के लिए अपने-अपने घर ले जाते हैं और वहां प्रायः वे गृहता की उष्मा पाने के स्थान पर ठंडी उपेक्षा ही पाते है। इसलिए स्वाभिमानी और आर्थिक दृष्टि मे स्वावलम्बी मां-बाप प्रायः अकेले ही अपने घर मे रहना पसंद करते हैं। उस अकेलेपन का अपना भयानक दंश झेलते है किन्तु उसमे वे अपने मन के अनुसार रह तो सकते है, बात-बात में बेटे या बहू की चुभती हुई मौन या मुखर नजर तो नही झेलनी पड़ती। सबसे अधिक पीड़ा होती है औरत को। पुरुष तो लोगों से मिलने-जुलने का रास्ता निकालकर अपने अकेलेपन को कम कर लेता है किन्तु औरत कहां जाए? दो आदमियो का खाना बनाना है, बना लिया, चाय-नाश्ता तैयार करना है, कर लिया। फिर क्या करे? यदि पढ़ी-लिखी नही है और पढ़ी-लिखी होने पर भी पढ़ने में रुचि नहीं बन पायी है तो क्या करे? घर की भनभनाती उदासी के बीच बैठी हुई बेटों और पोतों को याद करती रहती है। कभी पास-पड़ोस में चली जाती है या पास-पड़ोस से कोई चली आती है तो कुछ देर के लिए अकेलेपन की भनभनाहट में कोई और राग उभर जाता है।

सबसे भयानक स्थिति तब होती है जब इन साथियों में से कोई एक साथ छोड़कर चला जाता है। साथ-साथ लम्बी दूरी पार करते हुए चलने वाले दो सहयात्रियों में से एक एकाएक किसी मोड़ पर रुक जाये तो कैसा लगता होगा? आगे का रास्ता कितना वीरान और थकाऊ लगता होगा और पीछे के रास्ते की सहयात्रा की अनेक

स्मृतियां इस वीरानगी और थकान को कितना भारी बना जाती होंगी ? विवश होकर बचा हुआ यात्री अपने बच्चों के साथ रहने की नियति झेलता है, अच्छी भी, बुरी भी। प्रायः बुरी ही। किसी भी स्थिति में इसे झेलने के लिए अभिशप्त हो जाता है और झेलता हुआ अपनी बूढ़ी आंखों में अपने सहयात्री का बिम्ब बार-बार भर लेता है और छिपकर आंसुओं में बहा देता है।

मैं सौभाग्यशाली हूं कि एक बड़े परिवार की गहरी उष्मा के बीच रह रहा हूं। पत्नी अभी पूरे परिवार के लिए उसी तरह सक्रिय हैं जैसे पहले थी। उनकी सक्रियता किसी मजबूरी के तहत नहीं, उनके स्वभाव के तहत है। सेवामुक्त होने के बाद मेरी दुनिया कहीं से भी सूनी नहीं हुई है, वह बाहर और भीतर से वैसी ही भरी हुई है बल्कि प्रसन्नता का एक नया आयाम जुड़ गया है कि अब यह समय मेरा निहायत अपना है, इसे नियोजित करके नहीं, इसमें अपने को खुला छोड़कर जीऊंगा। मेरी सक्रियता मेरी अपनी है, किसी के द्वारा दी गयी नहीं है और वह निजी सक्रियता भी इतनी है कि वह कहीं से मुझे खाली होने नहीं देगी।

मैंने कहा न कि मैं इस समय में अपने को खुला छोड़कर जीना चाहता हूं इसलिए यह दबाव मन पर नहीं पाल रहा हूं कि इस बचे समय में मुझे कुछ महान् कार्य करने हैं, कुछ महान् लेखन करना है, नियमित रूप से कुछ लिखते-पढ़ते रहना ही है बल्कि अपने को मुक्त छोड़कर सोचता हूं—जो लिखने का मन होगा लिखूंगा, जो पढ़ने का मन होगा पढ़ूंगा, नहीं तो बैठा रहूंगा, मित्रों से गपशप करूंगा या कहीं घूमने निकल जाऊंगा, टी० वी० देखूंगा और सबसे बड़ी बात यह है कि घरवालों के साथ बैठकर कहकहे लगाऊंगा और बच्चों के साथ खेलूंगा।

हां, बच्चों के साथ खेलूंगा। दो छोटे बच्चे उत्तू (उत्सव) और चुक्कू (शुभ्रा) दिन को भरे रहने के लिए पर्याप्त है। उत्सव साढ़े तीन साल का है और चुक्कू तीन साल की। यह जोड़ी अद्भुत है। दोनों एक-दूसरे के बिना रह भी नहीं सकते और जब भिड़ेंगे तो छुड़ाना कठिन हो जाएगा। दोनों समान शब्दों और क्रियाओं को सीखते हैं। एक कुछ कहेगा तो दूसरा वही कहेगा। एक को कुछ कीजिये तो दूसरा भी सामने आकर खड़ा हो जाएगा कि उसके साथ भी वही किया जाये। यहां तक कि यदि एक को खेल-खेल में थप्पड़ मार दिया जाये तो दूसरा हंसता हुआ आगे आ जायेगा थप्पड़ खाने के लिए। एक हंसेगा तो दूसरा भी हंसेगा। एक के रोने पर दूसरा तो नहीं रोयेगा किंतु आपस में टकराने के बाद दोनों को साथ रोना ही पड़ता है। उत्सव यानी उत्तू बहुत खुशदिल है। वह हंसता रहता है। उसे कहता हूं कि उत्तू हंसता रहता है तो वह देर तक बनावटी हंसी हंसता रहता है। बनावटी डकार मारता है, बन्दूक चलाता है तो मुंह से देर तक गोली चलने की आवाज निकालता है। मैं लिखता रहूंगा तो पास आकर बैठ जायेगा और कहेगा लिखूंगा। फिर मेरी तख्ती और पेन लेकर देर तक कुछ गोंजता रहेगा या फिर मेरे नाम की मुहर लेकर कागज पर मारता रहेगा और जब थक जायेगा तो कहेगा, "बस, बहुत लिख दिया, अब कल।"

वह खूब नाचता है। टी० वी० या रेडियो के गीतों की धुन पर मस्त होकर

नाचता है और गीतों की लय के अनुसार नृत्य की गति पेश करता है। चुक्कू भी उसका साथ देती है। उसे घूमने का बड़ा शौक है। खासकर जब उसके पिता शशांक या दादी कहीं बाहर निकलती हैं तो वह साथ जाने की बेहद जिद करता है इसलिए इन लोगों को छिपकर निकलना पड़ता है। ताऊ हेमंत से भी खूब घुला-मिला है। वे तो बाजार जाते हैं तो सभी बच्चों को बटोरकर ले जाते हैं। अपने छोटे चाचा विवेक से भी उसकी खूब पटती है और गहरी छनती है। वह मेरी बड़ी धेवती मेहा से भी बहुत घुला-मिला है। मेहा भी उसे बहुत प्यार करती है। वास्तव में दो धेवतियों और तीन पोतियों के बीच यह अकेला लड़का है इसलिए इसे सभी बच्चियां चाहती हैं यानी यह सबका लाड़ला है किन्तु मेहा की बात ही और है। जब वह आयेगी तो इससे चिपक जायेगी और यह भी उससे चिपक जायेगा।

उत्तू को फोन करने का बड़ा शौक है। जब विवेक का या ननिहाल से नाना, मामा या मौसियों का फोन आयेगा तो जरूर बात करेगा। एक दिन उत्तू कमरे में अकेला था। मैं गया तो देखा फोन उठाये था और किसी से बात कर रहा था। मैंने समझा कि किसी का फोन आया होगा और इसने उठा लिया होगा। मैंने उससे फोन ले लिया और पूछा, "किससे बात करनी है?" जवाब आया—"मुझे नहीं बात करनी है। आपके यहां से ही किसी ने फोन किया था और देर से एक लड़का बोल रहा है।" मैं हंसा और फोन रख दिया और उत्तू महाराज हंसे जा रहे थे।

उत्तू जी बडों से जो बात सुनते हैं उसका प्रयोग करते रहते हैं और बड़ा सटीक प्रयोग करते हैं। किसी से नाक कट जायेगी का मुहावरा सुन लिया था। दादी के साथ बाजार जा रहे थे। दादी ने रास्ते में कहा, "बेटे, मेरी उंगली पकड़ लो।" उत्तू जी बोले, "नहीं अम्मा (वे दादी को अम्मा बोलते हैं), मेरी नाक कट जायेगी।" उत्तू न जाने कितनी-कितनी लीलाएं करते रहते हैं और चुक्कू उनका साथ देती रहती है। चुक्कू जब तक खुश रहेगी, रहेगी, नहीं तो मामूली-सी बात में खड़े गिर पड़ेगी और वहीं हाथ-पांव मारती हुई चिल्लाती रहेगी, किसी की क्या मजाल कि उसे वहां से उठा ले। चुक्कूजी की भी बुद्धि कम प्रखर नहीं है। वे भी एक-एक हीरक वाक्य बोलती रहेंगी और अपनी प्रतिभा के चमत्कार पर नाक सिकोड़कर देर तक नकली हंसी हंसती रहेंगी। अब बताइये जहां ऐसे बच्चे हों वहां अकेलेपन का सवाल कहां उठता है? यों तो ये दोनों बच्चे अकेले ही काफी हैं घर की रौनक और चहल-पहल बढ़ाने के लिए किन्तु इनके अतिरिक्त वर्षा, स्वाती भी तो हैं और दोनों धेवतिया (मेहा और आशी) भी तो हैं। इन चारों का अपना-अपना रंग है। वर्षा, स्वाती से बड़ी है और बड़ी होने का उसका स्वभाव भी है। शांत, गम्भीर, पढ़ने-लिखने तथा अन्य कार्यों में दत्तचित्त रहने वाली। पुकारो तो बहुत अदब से बोलेगी—"जी दादा जी, जी दादी जी।" और कोई काम कहो तो तत्परता से कर देगी। तन्मय होकर पढ़ती भी है और कलात्मक रुचि भी रखती है। अच्छा नृत्य करती है, चित्र बनाती है, बड़े ध्यान से मेरी कविताएं सुनती है। स्वाती वर्षा की अपेक्षा शरीर से स्वस्थ है। वह लापरवाह है। डांटो तो हंसती रहेगी, अनेक नाटकीय मुद्राएं बनायेगी, उत्पात करेगी, बहाने बनायेगी लेकिन इन सारी

क्रियाओं के बीच उसका व्यक्तित्व बहुत प्यारा लगता है—गदबदे शरीर में एक गदबदा मन। मन लगाकर कोई काम करे तो उसे पकडने मे उसे देर नही लगेगी। विनोदी अभिनय भी बहुत कुशलता से करती है।

धेवतियो मे मेहा बडी है। इन दोनो बहनो मे प्राय: वही समीकरण है जो दोनो पोतियो मे है। मेहा, वर्षा की तरह गम्भीर स्वभाव की है। वह पढाई से लेकर अन्य कार्यों के प्रति ज्यादा सजीदा है, उसकी भी रुचि कलात्मक है।

पढाई के साथ-साथ उसका भी प्रवेश चित्र और नृत्य मे है। उसे भी कविता से लगाव है और आशी शरारती है। उसकी वाणी, आखो और क्रिया-कलापो म शरारत बरसती है। हाजिरजवाब है। किसी भी बात का फटाक से सटीक उत्तर देती है। लापरवाह है लेकिन मेधा प्रखर है इसलिए जिस काम मे ध्यान केन्द्रित करती है उसे शीघ्र ही कुशलता से सम्पन्न कर लेती है। कलात्मक रुचि इसकी भी है।

जब ये चारो हमारे यहा एकत्र हो जाती है तब आसमान सिर पर उठा लेती है। मेहा और वर्षा की एक जोडी बन जाती है, स्वाती और आशी की दूसरी जोडी। मेहा और वर्षा मे जैसे काफी समानताए है वैसे ही स्वाती और आशी मे। स्वाती-आशी मे एक असमानता यह है कि स्वाती गदबदी है और आशी दुबली-पतली और लम्बी। उसकी आखें भूरी है और बहुत जल्दी-जल्दी बोलती है यानी मेहा, वर्षा मुझसे कोई शिकायत करती है तो स्वाती, आशी मिलकर उसका प्रतिवाद करती है या इसके उलटा होता है। मेरे लाख मना करने पर भी घर खेल-खिलौनो से भर जायेगा। इनकी सम्मिलित आवाजे आगे से पीछे, पीछे से आगे, नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे भागती फिरेंगी। डाटने पर थोडी देर के लिए चुप्पा रहेगी। चारो चुप होकर आखो-आखो मे मुसकरायेगी फिर थोडा हटकर शुरू हो जायेगी।

उत्तू-चुक्कू सुविधानुसार कभी इस दल के साथ, कभी उस दल के साथ हलचल मचाते भागते रहेगे। वैसे उत्तू का गहरा सम्बन्ध मेहा से ही है। मेहा आती है तो उसका अधिक समय उत्तू के साथ ही बीतता है अत. उत्तू प्राय· मेहा की टीम के साथ रहता है। इस हलचल और चहल-पहल-भरे परिवार मे अकेलेपन के फटकने का सवाल ही नही पैदा होता। कब दिन बीत जाता है ज्ञात ही नही होता। अनेक सासारिक अनुपलब्धियो के बावजूद परिवार का यह जो भरापूरापन हमे मिला है, उससे हम बहुत प्यार करते है। जिस किसी शक्ति के कारण हमे यह वरदान मिला है उसके प्रति हम गहरा आभार व्यक्त करते है और उसके प्रति प्रार्थना मे झुके है कि हमारा यह पारिवारिक सुख बना रहे।

□

